ज्ञानेश्वर कृत

श्रीमद्भगवद्गीता

ज्ञानेश्वर गीता

संत ज्ञानेश्वर



गीता सार

क्यों व्यर्थ की चिन्ता करते हो? किससे व्यर्थ डरते हो? कौन तुम्हें मार सकता है? आत्मा न पैदा होती है, न मरती है। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा पुराने शरीर को त्याग कर नये शरीर में प्रवेश करती है।

* जो हुआ, वह अच्छा हुआ। जो हो रहा है, वह अच्छा ही हो रहा है। जो होगा, वह भी अच्छा ही होगा। तुम बीती बातों का अनावश्यक पश्चात्ताप न करो। भविष्य की भी चिन्ता छोड़ो। वर्तमान चल रहा है।

* तुम्हारा क्या गया, जो तुम रोते हो? तुम क्या लाये थे, जो तुमने खो दिया? तुमने क्या पैदा किया, जो मिट गया? तुम कुछ लेकर नहीं आये, जो लिया यहीं से लिया, जो दिया यहीं पर दिया। जो लिया, इसी भगवान से लिया। जो दिया, इसी को दिया। खाली हाथ आये, खाली हाथ चले। जो आज तुम्हारा है, कल किसी और का था, परसों किसी और का होगा। तुम इसे अपना समझकर मग्न हो रहे हो। बस यह प्रसन्नता ही तुम्हारे दुःखों का कारण है।

* परिवर्तन ही संसार का नियम है। जिसे तुम मृत्यु समझते हो, वही तो जीवन है। एक क्षण में तुम करोड़ों के स्वामी बन जाते हो, दूसरे ही क्षण में तुम दरिद्र हो जाते हो। मेरा-तेरा, छोटा-बड़ा, अपना-पराया मन से मिटा दो, विचार से हटा दो, फिर सब तुम्हारा है, तुम सबके हो।

* न यह शरीर तुम्हारा है, न तुम शरीर के हो। यह अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी, आकाश से बना है और इसी में मिल जायेगा। परन्तु आत्मा स्थिर है, फिर तुम क्या हो? तुम अपने आपको भगवान के अर्पित करो। यह सबसे उत्तम सहारा है।

ज्ञानेश्वर कृत

श्रीमद्भगवद्गीता
ज्ञानेश्वर
गीता



प्रधान सपादक
संजीव प्रसाद 'परमहंस'

सहायक संपादक :
गुरबचन सिंह
सुदर्शन भटिया
डॉ. सत्यपाल शर्मा

कार्यकारी प्रमुख सलाहकार समिति :
मनीष पाराशर, राजेश ग्रोवर,
इलहाम, श्याम जगोता,

पुस्तक का आवरण प्रसिद्ध चित्रकार इलहामुद्दीन
के द्वारा तथा आन्तरिक साज-सज्जा
विवेक श्रीहरि कौशिक के द्वारा की गई है।
उनके इस सहयोग के लिए 'दिल्ली पुस्तक सदन'
संस्था का प्रधान सम्पादकीय कार्यालय विशेष
रूप से आभारी है।



दिल्ली पुस्तक सदन
शाहदरा, दिल्ली-110032

आमुख

सन्त ज्ञानेश्वर कृत इस महान् ग्रन्थ 'श्रीमद्भगवद्गीता' को हम आपके सम्मुख प्रस्तुत करने जा रहे हैं। इसको मूल रूप से मराठी भाषा में आज से कोई 700 वर्ष पूर्व लिखा गया था। इस महान् ग्रन्थ के रचनाकार की आयु उस समय मात्र 15 वर्ष की थी। इतनी छोटी आयु में, इतना बड़ा ज्ञान, ईश्वर द्वारा सौंपा गया कार्य तथा उस द्वारा प्रदत्त चमत्कार ही थे। इस ग्रन्थ के मूल सृजनकार मात्र 21 वर्ष की आयु में इस दुनिया से विदा हो, परम परमेश्वर की ज्योति में समा गए। उन्होंने इतनी अल्पायु में, कुछ ही समय में जो ग्रन्थ पूर्ण किया, उसके समान्तर या उससे बेहतर और कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं।

यह ग्रन्थ 'श्रीमद्भगवद्गीता' की टीका है। उनसे पहले तथा बाद में अनेक विद्वानों ने, शिक्षाविदों ने श्री गीता पर टीकाएं लिखीं। जिन महान् विद्वानों तथा वन्दनीय लोगों ने गीता पर टीका के रूप में अपने अनुभव तथा विचार प्रकाशित किए उनमें जगद्गुरु शंकराचार्य, डॉ. राधाकृष्णन, लोकमान्य तिलक तथा कुछ विदेशी लेखकों का जिक्र करना अनिवार्य है। शिक्षाविदों व श्रीगीता के उपासकों व साधकों का मानना है कि इतनी अल्पायु में जो गीता पर विस्तृत टीका संत शिरोमणि श्री ज्ञानेश्वर जी महाराज ने लिखी, उतनी मान्यता प्राप्त तथा सम्पूर्ण टीका अन्यत्र उपलब्ध नहीं।

चूंकि हमने इस महान् ग्रन्थ को आपके सम्मुख रखने का पुनीत कार्य अपने हाथों में लिया है, हम इस ग्रन्थ के सृजनकार श्री ज्ञानेश्वर जी के पूर्वजों, परिवार, चमत्कारों व कार्यों को भी संक्षेप में अगले पृष्ठों पर प्रस्तुत कर रहे हैं। मूल मराठी ग्रन्थ के हिन्दी में अनुवादक पद्मश्री बाबू रामचन्द्र वर्मा जी का भी आभार प्रकट करते हैं, जिनके श्रमसाध्य कार्य की पुनःप्रस्तुति तथा सम्पादन करने का अवसर हमें उपलब्ध हुआ है।

चूंकि मूल ग्रन्थ मराठी में तो लिखा गया था, मगर इसमें अन्य 56 भाषाओं के शब्द भी यत्र-तत्र मिलते हे, इसीलिए विद्वान् अनुवादक से कुछ अर्थ-भेद होने की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता। इस ज्ञान के भण्डार की साभार प्रस्तुति मेरे लिए तथा प्रकाशक के लिए हर्षपूर्ण विषय है। महान् संत ज्ञानेश्वर के इस कार्य को हमारा नमन तथा साधुवाद।

पढ़ने को मिलता है कि 'भारत' या 'जय भारत' अथवा 'महाभारत' के रचनाकार महर्षि वेद व्यास ने ग्रन्थ को लिपिबद्ध करने के लिए 'श्री गणेश जी' को आमन्त्रित किया और उन्होंने बिना रुके, बिना प्रश्न किए, बिना कोई विराम लिये उस ग्रन्थ को लेखनीबद्ध किया। आज से कोई 700 वर्ष पूर्व, मात्र पन्द्रह वर्ष की आयु में सत शिरोमणि ज्ञानेश्वर जी ने इसे लेखनीबद्ध कराने के लिए सच्चिदानन्द बाबा की सेवा व सहायता ली। उन्होंने इस महान् कार्य को नेवासे में महालया देवी के मन्दिर में बैठकर विक्रमी संवत् 1347 को पूर्ण किया। रचनाकार तथा लिपिक, दोनों को हमारा शत्-शत् प्रणाम।

ईसा की तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध चल रहा था। काशी के विख्यात सन्त स्वामी रामानन्द अपने कुछ शिष्यों के साथ धर्म प्रचार के लिए दक्षिण भारत की यात्रा पर थे। जिस समय वे महाराष्ट्र के आलन्दी नामक गांव

म ठहरे हुए थे, रुक्मिणी नामक एक युवती ने आकर उन्हें प्रणाम किया स्वामीजी ने सहज भाव से आशीर्वा के रूप में कह दिया—"पुत्रवती भव !"

साधारणतः स्त्रियां इस आशीर्वाद से प्रसन्न होती हैं, पर वह युवती स्वामीजी का वचन सुनते ही सिसक-सिसककर रोने लगी।

"अरे ! यह क्या ? रोती क्यों है, पुत्री !" स्वामीजी ने चिन्ता और आश्चर्य से उसकी ओर देखा।

"महाराज !" युवती ने किसी तरह अपने को स्थिर करके कहा—"आपका आशीर्वाद सफल नहीं हो सकता। मैं बड़ी अभागिनी हूं।"

"क्यों, क्या हुआ ? तुम्हारे पति कहां हैं ?" स्वामीजी का अचरज और बढ़ा।

"महाराज ! वे विवाह के थोड़े दिन बाद ही घर-गृहस्थी त्याग कर काशी चले गए थे। अब सुनने में आया है कि वह वहां संन्यासी हो गए हैं।"

"अच्छा !" कहकर स्वामी रामानन्द क्षण-भर को मौन हो गए, फिर आस-पास के लोगों से उस स्त्री के विषय मे पूछा, तो पता चला कि इसके पति का नाम विट्ठल पन्त है। वह पैष्ण गांव का निवासी है। यहां आलन्दी में यह युवती अपने पिता के घर रह रही है। विट्ठल बचपन से ही धार्मिक विचारों का और हरि भक्त था। वह काशी में संन्यासी होकर अब पता नहीं, कहां है।

स्वामी रामानन्द की स्मृति में कौंध गया—एक विट्ठल पन्त ने अभी कुछ दिन पहले अपने को निरा अकेला बताकर मुझसे संन्यास की दीक्षा ली थी। तो क्या, वही इस युवती का पति है ?

लोगों से पूछताछ करने पर निश्चित हो गया कि हां, वही विट्ठल पन्त इसका पति है। स्वामीजी ने आगे की यात्रा स्थगित कर दी और युवती, उसके माता-पिता तथा दो-तीन अन्य सम्बन्धियों को लेकर वहीं से वापस लौट पडे। काशी पहुंचकर उन्होंने विट्ठल को समझा-बुझाकर फिर से गृहस्थी में जाने की आज्ञा दी। विट्ठल का हठ दूर हो गया। उसने स्वामीजी के निर्देशानुसार प्रसन्न मन से परिवार में प्रवेश किया और अपने गांव वापस लौट आया।

गांव लौटने पर विट्ठल को लोगों ने धिक्कारना प्रारम्भ कर दिया—"तू बड़ा पाखण्डी है। झूठा है। ईश्वर को भी ठगता है ! कभी साधु बनता है, कभी संन्यासी, कभी गृहस्थ और कभी वैरागी। तू चोर है, पापी है; तू धर्म भ्रष्ट है। समाज में तेरे लिए स्थान नहीं है। जा, गांव से बाहर रहकर अछूतों की तरह मेहनत-मजदूरी कर। हम लोगों के बीच तुझ जैसे ढोंगी और पापी के लिए स्थान नहीं है...।"

विट्ठल ने किसी प्रकार 6 वर्ष गांव में बहिष्कृत रहते हुए बिताए। इस बीच उन्हें चार सन्तानें हुई—निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपानदेव और मुक्ताबाई। चारों बच्चे बड़े तेजस्वी, सभ्य, शालीन और भक्त थे। छोटेपन से ही वे अपने अलौकिक ज्ञान और व्यवहार से सबको चकित करने लगे थे। फिर भी गांव के लोगों ने विट्ठल और उसकी सन्तानों पर दया नहीं की। उन्हें उसी तरह अनादर, उपेक्षा, धिक्कार और निन्दा के प्रहार सहने पड़ते थे।

किसी भांति कुछ दिन बीते। अब तक गांव वालों का, समाज के धर्म धुरन्धरों का व्यवहार विट्ठल के प्रति और भी उग्र कटु हो गया था। मानसिक सन्ताप और परिवार की दुर्दशा से विचलित होकर एक दिन विट्ठल ने गांव के प्रमुख व्यक्तियों से पूछा—"मैंने अपने गुरु की आज्ञा से संन्यास छोड़कर गृहस्थी में प्रवेश किया था। फिर भी यदि यह अपराध है, तो इससे मुक्ति का उपाय बताइए। क्योंकि इस तरह अपमान और घृणा का भार उठाते हुए जीवन निर्वाह बहुत कठिन हो गया है। मेरे साथ चार बच्चे हैं। वे निर्दोष होकर भी मेरे साथ रहने के नाते कष्ट भोग रहे हैं। मैं किस प्रकार अपने अपराध से मुक्त हो सकता हूं।"

समाज के सिरधरों ने कहा—"इसका एक ही उपाय है—तुम दोनों—पति-पत्नी—अपना जीवन समाप्त कर

दा। इस शरीर और जीवन में तुम शुद्ध नहीं हो सकते। प्राण त्याग करके, नये शरीर में जाने पर ही तुम्हें इस कलक से मुक्ति मिल पाएगी।''

विट्ठल ने सिर झुकाकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली और दूसरे दिन, चारों बच्चों को वहीं छोड़कर पत्नी को साथ लिये हुए उत्तर की ओर चल पड़े।

भारत में प्रयाग सर्वश्रेष्ठ तीर्थ माना जाता है। उसे तीर्थराज कहते हैं। विट्ठल ने वहीं पहुंचकर गंगा-जमुना के पवित्र संगम में पत्नी सहित जल समाधि ले ली। धर्म धुरन्धरों की आज्ञानुसार उन्होंने अपने को समाप्त करके अपराध और कलंक से मुक्ति पा ली।

अब वे चारों बच्चे अनाथ और निराश्रित थे। उनके प्रति किसी में दया, मोह, कृपा अथवा क्षमा का भाव नहीं उपजा। माता-पिता से वंचित होकर ये घोर संकट में पड़ गए। भोजन, वस्त्र की समस्या तो थी ही, गांव वाले उन पर अत्याचार भी करने लगे। छुआछूत और धार्मिक पाखण्डों ने उन बच्चों का जीवन बहुत ही दुःखमय बना दिया। अन्त में उनके प्रार्थना करने पर पण्डितों ने उपाय बताया—''तुम लोग अच्छे-बुरे, ऊंच-नीच और अपने-पराये का भेद-भाव भूलकर सच्चे मन से निरन्तर ईश्वर की पूजा करो, भक्ति करो, प्रार्थना करो और अपने पापों की क्षमा मांगो, तो गांव के बाहर एक किनारे रह सकते हो। या फिर यह गांव और प्रदेश छोड़कर कहीं दूर चले जाओ।''

चारों बच्चों ने भक्ति वाली बात स्वीकार कर ली। वे जन्मजात भक्त तो थे ही। उनके हृदय में ईश्वर के प्रति प्रेम और ज्ञान की प्रबलता थी। वे वहीं रहकर भजन-कीर्तन और पूजा-पाठ में दिन बिताने लगे।

❑

वैसे तो चारों बालक ही बड़े तेजवन्त थे, किन्तु ज्ञानदेव की रूपरेखा, बुद्धि और तेजस्विता अलौकिक थी। वे किसी देव कुमार की भांति प्रतीत होते थे।

एक दिन ज्ञानदेव से एक दुष्ट पण्डित ने चिढ़ाने के लिए कहा—''ज्ञानदेव ! तुम चारों भाई-बहन अपने को अपने नाम के अनुसार गुणी बताते हो, यह भला कैसे हो सकता है ? क्या तुम सचमुच ज्ञान के देवता हो ?''

''मैं अहंकार तो नहीं करता, पर इतना अवश्य कहूंगा कि हम चारों में अपने नाम के अनुसार गुण भी हैं।''

पण्डित चुप रह गया, फिर एकाएक बोल उठा—''और, तुम कहते हो कि सब जीवों की आत्मा एक है। तो क्या वह सामने जा रहा भिश्ती का भैंसा भी तुम्हारी जैसी आत्मा रखता है ?''

''हां, आत्मा ईश्वर का अंश है। वह किसी भी जीव की हो, मनुष्य की भांति सुख-दुःख उसे भी होता है। यही नहीं, एक आत्मा का सुख-दुःख दूसरी को भी अनुभव होता है।'' ज्ञानदेव ने कहा और भैंसे की ओर देखने लगे।

अब तक कई तमाशबीन भी आ गए थे।

पण्डित बड़े कुटिल स्वभाव का था। उसने भिश्ती से कहा—''तनिक अपने भैंसे को दो कोड़े मारो तो ! देखें ज्ञानदेव की आत्मा क्या कहती है ?''

भिश्ती ने सड़ाक-सड़ाक दो कोड़े भैंसे की पीठ पर जमा दिए।

लोगों के अचरज का ठिकाना न रहा—ठीक उसी क्षण ज्ञानदेव की पीठ पर कोड़े के दो निशान उभर आए। पण्डित भी दंग रह गया—''अरे !'' लेकिन उसका काइयापन फिर कसमसाया। उसने कहा—''यह तो आत्मा की बात हुई, अब नाम का प्रभाव भी दिखाओ ! इस भैंसे का नाम 'ज्ञाना' है, तो क्या यह भी ज्ञानी है ? यदि है, तो तुम्हारी तरह वेद मन्त्र क्यों नहीं पढ़ता ?''

ज्ञानदेव ने आगे बढ़कर भैंसे की पीठ, मुंह, माथे पर हाथ फेरा और कहने लगे—''बाबा ! ईश्वर का वही अंश जो मुझमें है, यदि तुममें भी है, तो मेरी तरह वेद मन्त्र का पाठ करके इन लोगों को सुनाओ !''

अगले क्षण वह असम्भव भी सम्भव हो गया। भैंसा बड़े मन्द मधुर स्वर में, पारंगत विद्वानों की भांति वेद मन्त्र पढ़ने लगा।

इस घटना ने उन बच्चों के प्रति लोगों की भावना बदल दी। सब उन्हें अलौकिक पुरुष और महान् सन्त मानकर आदर करने लगे। ज्ञानदेव को ज्ञानेश्वर कहा जाने लगा और थोड़े ही दिनों में उनके ज्ञान, तेज और प्रभाव की धूम मच गई। चारों ओर सन्त ज्ञानेश्वर का नाम गूंजने लगा।

❑

जिन दिनों सन्त ज्ञानेश्वर नेवास नामक स्थान पर रह रहे थे, एक व्यक्ति की मृत्यु हो गई। उसके परिवार वालों का दारुण चीत्कार सुनकर उन्होंने भक्तों से पूछा—"यह कैसा कोलाहल है ? लोग क्यों रो रहे हैं ?"

"महाराज !" एक भक्त ने बताया—"गांव में एक युवक सच्चिदानन्द की मृत्यु हो गई है। उसी के शोक में परिवार के लोग रो रहे हैं और स्त्रियां विलाप कर रही हैं।"

ज्ञानेश्वरजी ने कहा—"सच्चिदानन्द ! अरे, यह तो साक्षात् ईश्वर का नाम है। भला जिसकी आत्मा और नाम दोनों में ईश्वर का वास हो, उसकी मृत्यु इस तरह असमय कैसे हो सकती है ?" और तुरन्त मृतक के घर की ओर चल पड़े।

सच्चिदानन्द का शव दरवाजे पर रखा हुआ था। उसे अर्थी में बांधने की तैयारी हो रही थी। घर-पड़ोस के लोग 'हाय-हाय' कर रहे थे। महाराज को देखकर वे और भी करुण स्वर में विलाप करने लगे। महाराज ने उन्हें समझाया—"धीरज रखो। ईश्वर सबकी ओर देखता है।" और आगे बढ़कर शव पर हाथ फेरने लगे। कुछ ही क्षणों में शव चैतन्य होकर उठ बैठा, जैसे सोकर जागा हो। महाराज की योग शक्ति का यह अद्भुत चमत्कार देखकर लोग उनके पैरों पर गिर पड़े। सच्चिदानन्द तो इतना भावाकुल हुआ कि उसी समय से उनका भक्त बनकर साथ रहने लगा।

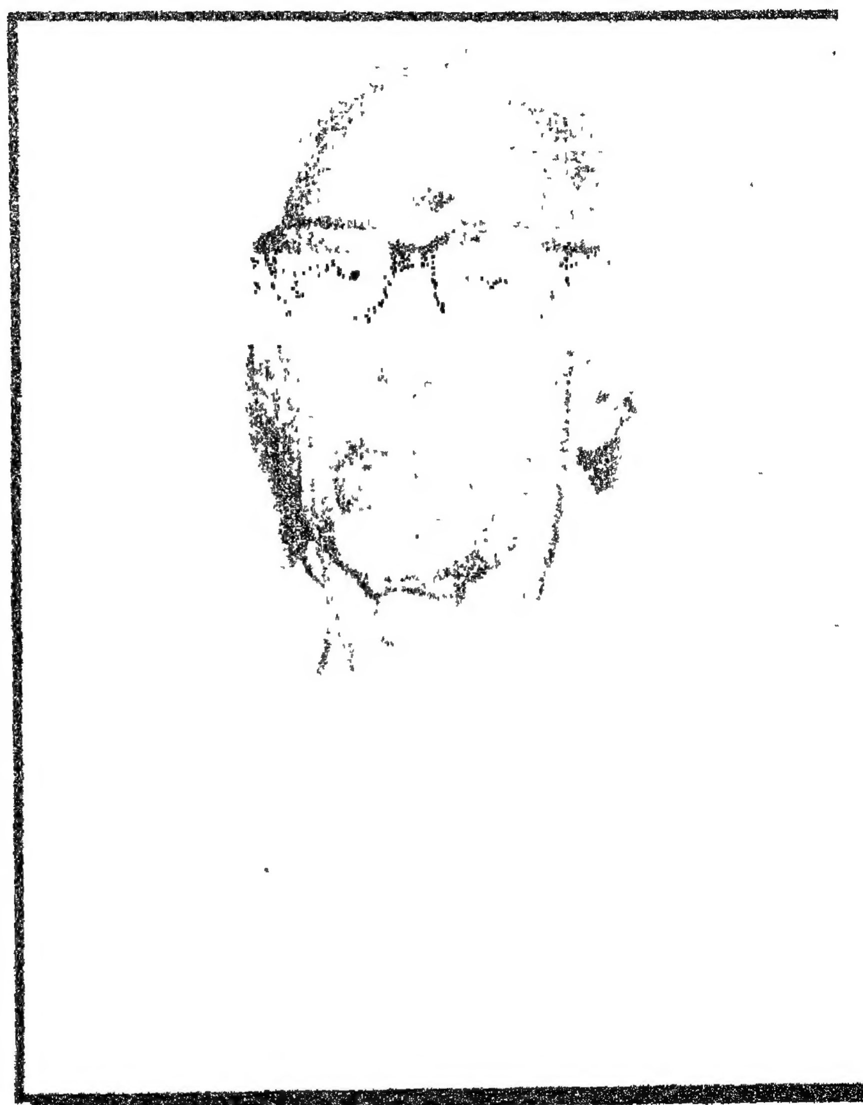
आगे चलकर जब सन्त ज्ञानेश्वर ने गीता को मराठी भाषा में रूपान्तरित किया, तो वही सच्चिदानन्द उनका लिपिक बना। महाराज बोलते जाते थे और वह लिखता जाता था। उस ग्रन्थ का नाम है 'ज्ञानेश्वरी'। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में बालक सन्त ज्ञानेश्वर ने यह अद्भुत पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ रचकर विद्वानों को अचरज में डाल दिया था। आज भी 'ज्ञानेश्वरी' का महत्त्व धर्म, ज्ञान और भक्ति के क्षेत्र में वेदों की तरह माना जाता है।

❑

कुल इक्कीस वर्षों के जीवन में ही ज्ञानेश्वरजी ने अनेक अलौकिक कार्य कर दिखाए। वे सारे भारत में अवतारी पुरुष और महान् सन्त योगी के रूप में पूजे जाने लगे थे। इक्कीसवां वर्ष पूरा होते-होते उन्होंने एक स्वप्न की प्रेरणा से भगवान् की आज्ञानुसार, आलन्दी में इन्द्रायणी नदी के तट पर एक गुफा में प्रवेश करके, जीवित समाधि ले ली। अगले वर्ष उनके दोनों भाई और बहन भी समाधिलीन हो गए।

—संजीव प्रसाद 'परमहंस'

होना यों चाहिए, संयमी बनो, दयालु
दानी बनो, तत्पश्चात् श्री कृष्ण करे सो



प्रेमनाथ शर्मा
(संस्थापक : सन्मार्ग प्रकाशन)

परमपूज्य दादा बाबू प्रेमनाथ शर्मा
की पावन स्मृति में समर्पित

अगले क्षण वह असम्भव भी सम्भव हो गया। भैंसा बड़े मन्द मधुर स्वर में, पारंगत विद्वानों की भांति वेद मन्त्र पढ़ने लगा।

इस घटना ने उन बच्चों के प्रति लोगों की भावना बदल दी। सब उन्हें अलौकिक पुरुष और महान् सन्त मानकर आदर करने लगे। ज्ञानदेव को ज्ञानेश्वर कहा जाने लगा और थोड़े ही दिनों में उनके ज्ञान, तेज और प्रभाव की धूम मच गई। चारों ओर सन्त ज्ञानेश्वर का नाम गूंजने लगा।

❑

जिन दिनों सन्त ज्ञानेश्वर नेवास नामक स्थान पर रह रहे थे, एक व्यक्ति की मृत्यु हो गई। उसके परिवार वालों का दारुण चीत्कार सुनकर उन्होंने भक्तों से पूछा—"यह कैसा कोलाहल है ? लोग क्यों रो रहे हैं ?"

"महाराज !" एक भक्त ने बताया—"गांव में एक युवक सच्चिदानन्द की मृत्यु हो गई है। उसी के शोक में परिवार के लोग रो रहे हैं और स्त्रियां विलाप कर रही हैं।"

ज्ञानेश्वरजी ने कहा—"सच्चिदानन्द ! अरे, यह तो साक्षात् ईश्वर का नाम है। भला जिसकी आत्मा और नाम दोनों में ईश्वर का वास हो, उसकी मृत्यु इस तरह असमय कैसे हो सकती है ?" और तुरन्त मृतक के घर की ओर चल पड़े।

सच्चिदानन्द का शव दरवाजे पर रखा हुआ था। उसे अर्थी में बांधने की तैयारी हो रही थी। घर-पड़ोस के लोग 'हाय-हाय' कर रहे थे। महाराज को देखकर वे और भी करुण स्वर में विलाप करने लगे। महाराज ने उन्हें समझाया—"धीरज रखो। ईश्वर सबकी ओर देखता है।" और आगे बढ़कर शव पर हाथ फेरने लगे। कुछ ही क्षणों में शव चैतन्य होकर उठ बैठा, जैसे सोकर जागा हो। महाराज की योग शक्ति का यह अद्भुत चमत्कार देखकर लोग उनके पैरों पर गिर पड़े। सच्चिदानन्द तो इतना भावाकुल हुआ कि उसी समय से उनका भक्त बनकर साथ रहने लगा।

आगे चलकर जब सन्त ज्ञानेश्वर ने गीता को मराठी भाषा में रूपान्तरित किया, तो वही सच्चिदानन्द उनका लिपिक बना। महाराज बोलते जाते थे और वह लिखता जाता था। उस ग्रन्थ का नाम है 'ज्ञानेश्वरी'। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में बालक सन्त ज्ञानेश्वर ने वह अद्भुत पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ रचकर विद्वानों को अचरज में डाल दिया था। आज भी 'ज्ञानेश्वरी' का महत्त्व धर्म, ज्ञान और भक्ति के क्षेत्र में वेदों की तरह माना जाता है।

❑

कुल इक्कीस वर्षों के जीवन में ही ज्ञानेश्वरजी ने अनेक अलौकिक कार्य कर दिखाए। वे सारे भारत में अवतारी पुरुष और महान् सन्त योगी के रूप में पूजे जाने लगे थे। इक्कीसवां वर्ष पूरा होते-होते उन्होंने एक स्वप्न की प्रेरणा से भगवान् की आज्ञानुसार, आलन्दी में इन्द्रायणी नदी के तट पर एक गुफा में प्रवेश करके, जीवित समाधि ले ली। अगले वर्ष उनके दोनों भाई और बहन भी समाधिलीन हो गए।

—संजीव प्रसाद 'परमहंस'

यों चाहिए, संयमी बनो, दयालु
बनो, तत्पश्चात् श्री कृष्ण करे सो



प्रेमनाथ शर्मा
(संस्थापक : सन्मार्ग प्रकाशन)

परमपूज्य दादा बाबू प्रेमनाथ शर्मा
की पावन स्मृति में समर्पित

विषय-सूची



पहला अध्याय



अर्जुन-विषादयोग

हे ओंकार-स्वरूप परमात्मा, वेद ही तुम्हारा प्रतिपादन कर सकते हैं। मैं तुम्हें नमस्कार करता हूं। तुम ऐसे आत्मस्वरूप हो जिसका ज्ञान केवल स्वानुभव से हो सकता है। मैं तुम्हारा जय-जयकार करता हूं। श्री निवृत्तिनाथ का यह नम्र शिष्य कहता है कि सबके अर्थ-ग्रहण की शक्ति का प्रकाश जो गणेश कहलाते हैं, वह तुम्हीं हो। यह बात सब लोग सावधान होकर सुनें। यह सम्पूर्ण साहित्य तुम्हारी मनोहर मूर्ति है और उसका अक्षर-रूपी शरीर निर्दोष भाव से झलक रहा है। स्मृति ही इस मूर्ति का अवयव है, काव्य की पंक्तियां उन अवयवों के हाव-भाव हैं और अर्थ-सौन्दर्य ही उसका लावण्य है। अठारह पुराण रत्नों से जड़े हुए अलंकार हैं, तत्त्व-सिद्धान्त उन अलंकारों मे के रत्न हैं और शब्दों की जड़ाई उन रत्नों पर का कुन्दन हो गई है। सभ्य और सुन्दर काव्य-प्रबन्ध मानों रंग-बिरंगे वस्त्र हैं और इन वस्त्रों में का साहित्यरूपी ताना-बाना खूब बढ़िया और चमकीला है। और यह देखिए कि यदि इन नाटकों की रसिकता से योजना की जाय तो उसमें जो घुंघरू होते हैं, वे अर्थ रूपी ध्वनि की रुन-झुन आरम्भ करते हैं। यदि इन काव्य-नाटकों के तत्त्व-सिद्धान्तों की खूब दक्षतापूर्वक छानबीन की जाय तो उनमें जो मार्मिक पद दिखाई देते हैं, वही घुंघरुओं में के रत्न हैं। और व्यास आदि कवियों का जो प्रतिभा रूपी गुण है, वही जरीदार पटका या कमरबन्द है और इस पटके के पल्ले पर की इन घुंघरुओं की झालर ऊपर की तरफ झलकती है। जिन भिन्न-भिन्न छः तत्त्व-सम्प्रदायों को षड्-दर्शन कहते हैं, वही इस गणेश-मूर्ति के छः हाथ हैं; इसीलिए इन सम्प्रदायों के मत-भेदानुसार इन छः हाथों के आयुध भी आपस में विसंवादी हैं। आयुधों में तर्क-शास्त्र परशु है, न्याय-शास्त्र अंकुश है और वेदान्त-शास्त्र मीठे रस से भरा हुआ मोदक है। न्यायसूत्र पर वृत्ति करने वालों के द्वारा निर्दिष्ट किया हुआ, पर आपसे आप टूटा हुआ, वही खंडित दांत, जो बौद्ध मत का संकेत है, एक हाथ में है।

सतर्कवाद ही आपका कमल के समान वरद हस्त है और धर्म-प्रतिष्ठा ही आपका अभय देने वाला हाथ है। महासुख के परमानन्द की प्राप्ति कराने वाला निर्मल सुविचार ही आपका सरल शुंड-दंड है। मतभेदों का परिहार करने वाला जो संवाद है, वह आपका अखंडित और शुभ्र वर्ण वाला दांत है। उन्मेष या ज्ञान-तेज का स्फुरण विघ्न-राज गणेशजी के चमकते हुए सूक्ष्म नेत्र हैं। इसी प्रकार मुझे ऐसा जान पड़ता है कि पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा इनके दोनों कान हैं और इन्हीं दोनों कानों पर मुनिरूपी भ्रमर गंड-स्थल से बहने वाले बोध-रूपी मद-रस का सेवन या पान करते हैं। तत्त्वार्थ रूपी प्रवाल-से चमकने वाले द्वैत और अद्वैत दोनों गंड-स्थल हैं और ये दोनों गणेशजी के मस्तक पर बहुत ही पास-पास होने के कारण मिलकर प्रायः एक-से हो गये हैं। ज्ञान-रूपी मकरन्द से ओत-प्रोत भरे हुए दसों उपनिषद् ही मधुर सुगन्धि वाले फूलों के मुकुट के समान मस्तक पर सुशोभित हे। इन गणेशजी में दोनों चरण अकार हैं, विशाल उदर उकार है और मस्तक का महामंडल मकार है। अकार, उकार और मकार इन तीनों के योग से ॐकार होता है जिसमें सारा साहित्य-संसार समाविष्ट होता है। इसीलिए मै सद्गुरु की कृपा से उस अखिल विश्व के मूल बीज को नमस्कार करता हूं। अब मैं उस विश्व-मोहिनी शारदा की वन्दना करता हूं जो वाणी के नित्य नये-नये विलास प्रकट करती है और जो चातुर्य तथा कलाओं में विशेष प्रवीण है। जिन सद्गुरु ने मुझे इस संसार-रूपी सागर से पार उतारा है, वे सद्गुरु मेरे अन्तःकरण में पूरी तरह से बैठे हुए हैं, इसी से विवेक के लिए मेरे मन में विशेष आदर है। जिस प्रकार आंखों में दिव्य अंजन लगाने से दृष्टि को अपूर्व बल प्राप्त होता है और तब आदमी जहां देखता है वहीं उसे भूमि के अन्दर गड़े हुए द्रव्यों की बड़ी-बडी राशियां दिखाई पड़ने लगती हैं अथवा जिस प्रकार हाथ में चिन्तामणि आने पर सब प्रकार के मनोरथ सिद्ध हो जाते है, उसी प्रकार मैं ज्ञानदेव कहता हूं कि श्रीनिवृत्तिनाथजी की कृपा से मैं पूर्ण काम हो गया हूं। इसीलिए बुद्धिमान् पुरुषों को गुरु की भक्ति करनी चाहिए और उसके द्वारा कृतकार्य होना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार वृक्ष की जड मे पानी सींचने से आपसे आप सब शाखाएं और पल्लव हरे-भरे हो जाते हैं; अथवा जिस प्रकार सागर में स्नान करने से त्रिभुवन के समस्त तीर्थों में स्नान करने का फल होता है; अथवा जिस प्रकार अमृत-रस का पान करने से समस्त रसों का आनन्द मिल जाता है, उसी प्रकार जिनके द्वारा मेरे समस्त इष्ट-मनोरथ सिद्ध होते हैं, उन श्री गुरुदेव की मैं बार-बार वन्दना करता हूं। अब आप लोग एक प्रौढ़ और गम्भीर कथा सुनें। यह कथा समस्त कला-विलासों की जन्मभूमि अथवा विवेक-वृक्षों का अपूर्व उपवन है। यह कथा सब सुखों के मूल-स्थान महा-सिद्धान्त की नींव है अथवा नौ रसों के अमृत का सागर है। अथवा यह कथा स्वयं परम-गति का आश्रय-स्थल, समस्त विद्याओं का आदिपीठ और समस्त शास्त्रों का निवास-स्थान है। अथवा यह कथा धार्मिक विचारों का मायका (जन्मभूमि), सज्जनों का जीवन और सरस्वती देवी के सौन्दर्य रूपी सम्पत्ति का भांडार है। अथवा व्यासदेव की विशाल मति को स्फुरित करके स्वयं वाणी देवी इस कथा के रूप में त्रिभुवन में प्रकट हुई है। इसीलिए यह कथा समस्त महाकाव्यों की महारानी और सब ग्रन्थों के गौरव का मूल है और इसी से शृंगार आदि नौ रसों को सरसता प्राप्त हुई है। अब इस कथा का एक और लक्षण सुनिये। इसी कथा से शब्द-वैभव शास्त्र-शुद्ध हुआ है और आत्मज्ञान की कोमलता इसी से दूनी हुई है। चातुर्य को इसी कथा से चतुराई प्राप्त हुई है, भक्ति-रस इसी से स्वादिष्ट हुआ है और सुख का सौभाग्य इसी से पुष्ट हुआ है। इसी से माधुर्य को मधुरता, शृंगार को सुन्दरता और अच्छी बातों को लोकप्रियता प्राप्त हुई है और उनकी शोभा हुई है। इसी कथा से कलाओं का कलाज्ञान प्राप्त हुआ है, पुण्य को अपूर्व वैभव मिला है और इसीलिए इससे राजा जनमेजय के पाप-कर्मो के दोषों का सहज में प्रक्षालन हुआ है। यदि इसके सम्बन्ध में कुछ और विचार किया जाय तो यह निश्चित होता है कि इसी ने रंगों को सुरंगता की विपुल सामर्थ्य और गुणों को सद्गुणता का तेज प्रदान किया है। तात्पर्य यह कि जिस

प्रकार सूर्य के तेज से त्रिभुवन उज्ज्वल होता है, उसी प्रकार व्यासदेव की बुद्धि से व्याप्त होने के कारण यह विश्व प्रकाशित हुआ है। अथवा जिस प्रकार अच्छी और उपजाऊ भूमि में बीज बोने से वे आपसे आप बढ़ते और फैलते है, उसी प्रकार इस भारत ग्रन्थ में सब विषय बहुत अच्छी तरह सुशोभित हुए हैं। अथवा जिस प्रकार नगर में निवास करने के कारण मनुष्य सहज में बहुश्रुत और सभ्य हो जाता है, उसी प्रकार सारा जगत् व्यासदेव की वाणी से उज्ज्वल और स्पष्ट हो गया है। अथवा जिस प्रकार युवावस्था के आरम्भ में स्त्री के अंगों में लावण्य की नई और अपूर्व शोभा प्रकट होती है। अथवा जिस प्रकार वसन्त-ऋतु का आगमन होने पर उपवन की भूमि के छोटे-बडे सभी वृक्षों और पौधों पर वन-श्री का भांडार आपसे आप आकर एकत्र हो जाता है, अथवा जिस प्रकार सोने का डला देखने से उसमें आकार की कोई विशेषता नहीं दिखाई देती, परन्तु जब उसके अलंकार बन जाते हैं तब उसकी सच्ची शोभा दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार व्यासदेव की वाणी अलंकारों से सुशोभित होने के कारण इसे अपूर्व सोन्दर्य प्राप्त हुआ है। और कदाचित् इसी बात का विचार अपने मन में करके इतिहास ने इस कथा का आश्रय लिया है। और समस्त पुराणों ने अपने लिए उपयुक्त मान प्राप्त करने के विचार से संसार में अपनी लघुता स्वीकृत करके इस भारत ग्रन्थ में आख्यानों का रूप ग्रहण किया है। इसीलिए लोग यह कहने लग गये हैं कि जो बात भारत मे नहीं है, वह तीनों लोकों में कहीं नहीं है—और संसार में इस लोकोक्ति का प्रचार हो गया है कि—'व्यासोच्छिष्ट जगत्त्रयं'। इस प्रकार जो यह रसपूर्ण कथा संसार में परमार्थ का मूल-स्थान बन गई है, वह कथा वैशम्पायन मुनि ने राजा जनमेजय से निवेदन की है। इसलिए आप लोग यह कथा सावधान होकर सुनें, जो अद्वितीय, श्रेष्ठ, परम पुण्यशील, अप्रतिम और परम शुभ-गति का निवास-स्थान है। अब इस भारत ग्रन्थ रूपी कमल में गीता नाम का वह प्रकरण पराग ही है जिसका उपदेश श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया था। अथवा समस्त साहित्य का मन्थन करके व्यासदेव की बुद्धि ने यह गीता रूपी अवर्णनीय अमृत निकाला है। फिर यह नवनीत ज्ञान की अग्नि पर विवेकपूर्वक तपाया गया है और उसके अच्छी तरह पक जाने के कारण बढ़िया सुगन्धित घी तैयार हुआ है। विरागी जिसकी इच्छा करते हैं, सन्त जिसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं और पूर्ण ब्रह्मज्ञानी जिसमें 'अहमेव ब्रह्मास्मि' की भावना रखकर रमण करते हैं, भक्त जिसका श्रवण करते हैं, जिसकी त्रिभुवन में सबसे पहले वन्दना होती है और जो भीष्म पर्व में कथा के रूप में कही गई है, जिसे लोग श्रीमद्भगवद्गीता कहते हैं, ब्रह्मा और शंकर जिसकी स्तुति करते हे ओर सनकादिक जिसका आदरपूर्वक सेवन करते हैं, उस कथा के माधुर्य का श्रोताओं को अपना मन कोमल करके उसी प्रकार अनुभव करना चाहिए (उसी प्रकार सुनना चाहिए), जिस प्रकार चकोर के बच्चे मनोयोगपूर्वक शरद् ऋतु की कोमल चन्द्र-कलाओं के कोमल सुधा-कण चुगते हैं। वह कथा वास्तव में बिना शब्दों की सहायता के ही कही जाती है, इन्द्रियों के बिना पता लगे ही इसका अनुभव होता है और कानों तक शब्दों के पहुंचने के पहले ही इसके तत्त्व-सिद्धान्त का आकलन किया जाता है। भ्रमर जिस प्रकार कमलों में का पराग ले जाता है और कमल-दलों को इस बात का पता भी नहीं लगने पाता, उसी प्रकार इस ग्रन्थ को श्रवण करने वाले लोग भी इसका तत्त्व ग्रहण करते हैं। केवल कुमुदिनी ही यह बात जानती है कि किस प्रकार बिना अपना स्थान छोड़े, उदित होते हुए चन्द्रमा का आलिंगन किया जाता है और किस प्रकार उसके प्रेम का अनुभव किया जाता है। इसीलिए जिसका अन्तःकरण इस प्रकार की गम्भीर वृत्ति से निश्चल हो गया हो, वही गीता का प्रकरण जान सकता है। गीता सुनने के लिए जो लोग अर्जुन की पंक्ति में बैठने के योग्य हों, उन्हीं सन्तों को कृपा कर इस कथा की ओर ध्यान देना चाहिए। कुछ लोगों को ऐसा जान पड़ेगा कि मैंने कुछ अधिक धृष्टता की है; पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। हे श्रोतागण, आप लोग गम्भीर और उदार अन्तःकरण के हैं, इसीलिए मैंने आपके चरणों में नम्र होकर यह प्रार्थना की है। माता-पिता का यह स्वभाव ही होता है कि लड़का यदि तोतली बोली में कोई बात कहे तो वे प्रसन्न और सन्तुष्ट

हा हान हैं। इसी प्रकार जब आप लोगों ने मेरा [illegible]
बात की प्रार्थना करने की क्या आवश्यकता है कि यदि मुझसे [illegible]
मुझसे एक और भी अपराध हो गया है; और वह यह [illegible]
और मेरी प्रार्थना है कि आप लोग वह स्पष्टीकरण भाव [illegible]
विचार न करके मेरे मन ने अवश्य ही ढिठाई की है, [illegible]
है। मुझ सरीखे अज्ञान का इस कार्य में प्रवृत्त होना [illegible]
से समुद्र को नापने का प्रयत्न। यदि कोई आकाश का [illegible]
लिए आकाश से भी बड़े होने की आवश्यकता होती है। [illegible]
जान पड़ता है कि मैंने जो यह काम अपने हाथ में लिया [illegible]
शंकरजी गीता के अर्थ की महत्ता या गम्भीरता का वर्णन [illegible]
उन्होंने पूछा था। उस पर शंकरजी ने कहा था—"[illegible]
नित्य नवीन है"। जिन सर्वेश्वर आदि-नारायण को [illegible]
गीता का रहस्य भी बतलाया था। अतः जो कार्य [illegible]
हो, उसमें मुझ सरीखे अल्प और अत्यन्त मन्द बुद्धि [illegible]
असीम गीता-तत्त्व का आकलन भला कैसे किया जा सकता [illegible]
उज्ज्वल कर सकता है? एक मच्छर अपनी मुट्ठी में [illegible]
एक ऐसा आधार है जिसकी सहायता से मैं अपने [illegible]
आधार यही है कि श्री गुरु निवृत्तिनाथ मेरे अनुकूल [illegible]
भी सन्त-कृपा का दीपक तेजस्वी और स्पष्ट है। केवल [illegible]
सके और केवल अमृत ही मृतक को फिर से जीवित कर [illegible]
में भी बोलने की शक्ति आ जाती है। और कुछ [illegible]
शक्ति के अनुसार परिणाम या कार्य भी होता है। [illegible]
कामधेनु के समान हो, उसे भला किस बात की कमी [illegible]
उद्यत हुआ हूं। इसीलिए मैं आप लोगों से प्रार्थना [illegible]
कर लें; और यदि इसमें कोई बात अधिक हो तो [illegible]
दें, क्योंकि जब आप लोग मुझे बोलने में प्रवृत्त करेंगे, [illegible]
कठपुतलियों का चलना-फिरना और नाचना [illegible]
साधु-सन्तों का अनुगृहीत और उन्हीं की कृपा पर आश्रित [illegible]
चलने वाला हूं। इसलिए जिस प्रकार आप लोगों [illegible]
करें। इतने में श्री गुरुजी ने कहा—"बस करो, [illegible]
जल्दी से अपना ध्यान ग्रन्थ की ओर लगाओ"। [illegible]
हुए और वह कहने लगा—"अब सब लोग शान्त चित्त [illegible]

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

पुत्र प्रेम के कारण मोह में पड़े हुए धृतराष्ट्र पूछने लगे—"हे संजय, कुरुक्षेत्र की बातें मुझे बतलाओ। जिस क्षेत्र को लोग धर्म-क्षेत्र अर्थात् धर्म का स्थान कहते हैं, युद्ध की इच्छा वाले मेरे और पांडु के पुत्र एकत्रित हुए है। अतः अब तुम मुझे जल्दी यह बताओ कि इतने समय में उन लोगों ने आपस में क्या-क्या किया"।

सञ्जय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

इस पर संजय ने कहा—विश्व-प्रलय के समय जिस प्रकार काल अपना मुंह फैलाता है, उसी प्रकार पांडवों की सेना क्षुब्ध हो गई। जिस प्रकार कालकूट क्रुद्ध होकर चारों ओर फैल जाता है, उसी प्रकार वह बहुत बड़ी सेना एक साथ ही क्रुद्ध और क्षुब्ध हो गई। फिर भला उसे कौन रोक सकता था। अथवा जिस प्रकार प्रलय की वायु से बलवान होकर बड़वानल क्षुब्ध होकर और समुद्र को सोखकर आकाश तक फैलने लगता है, उसी प्रकार अनेक पंक्तियों की व्यूह-रचना से सुघटित वह दुर्दमनीय सेना उस समय बहुत ही भीषण जान पड़ने लगी। परन्तु जिस प्रकार हाथी के बच्चे को सिंह कोई चीज नहीं समझता, उसी प्रकार दुर्योधन ने उस सेना को देखकर तुच्छ समझा। इसके उपरान्त वह द्रोण के पास आकर कहने लगा—"आपने देखा कि पांडवों की सेना कैसे आवेश में आई हुई है ? उस सेना के भिन्न-भिन्न व्यूह मानों चलते-फिरते पहाड़ी किले ही जान पड़ते हैं। ये व्यूह उस द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न के रचे हुए हैं, हे आचार्य, जिसे आपने शिक्षा दी और जिसे आपने युद्ध-विद्या से मंडित किया। देखिये उसी धृष्टद्युम्न ने पांडवों के सेना-सागर का कैसा विस्तार किया है।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

इस सेना में और भी ऐसे अलौकिक वीर हैं जो शस्त्रास्त्र की विद्या में पारंगत हैं और क्षात्र-धर्म में भी पूरे है। अब प्रसंग आ गया है, इसलिए मैं आपको उन लोगों के नाम बतलाता हूं जो बल में, अभिमान में और पराक्रम में बिलकुल भीम और अर्जुन की बराबरी के ही हैं। इस सेना मे महायोद्धा युयुधान और विराट तथा महारथी वीरश्रेष्ठ द्रुपद भी आये हैं।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशीराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

देखिये चेकितान, धृष्टकेतु, पराक्रमी वीर काशीराज, उत्तमौजा और नृप-श्रेष्ठ शैब्य भी यहां उपस्थित हैं। और देखिये, वह कुन्तिभोज है और वह युधामन्यु है और ये इधर पुरुजित आदि दूसरे राजा लोग हैं। दुर्योधन ने द्रोण से कहा—यह देखिये, सुभद्रा के हृदय को आनन्द देने वाला और देखने में दूसरे तरुण अर्जुन के समान जान पड़ने वाला अभिमन्यु है। और इनके सिवा द्रौपदी के पुत्र तथा दूसरे ऐसे बहुत-से वीर महारथी यहां एकत्र हैं जिनकी संख्या का अन्त ही नहीं है।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

सतकर महासु करने विघ्न- उत्तर-न मद-रस ये दोन मकरन हैं। इ उकार में सद् की व प्रवीण बैठे हु को उ राशिर हैं, उर पुरुषो में पा करने से स गुरुदे कला महा- आश्र विचा अथव इसी नौ र हुआ इसी सुन्द कला का र इसी

ही होते हैं। इसी प्रकार जब आप लोगों ने मेरा अंगीकार [illegible] इस बात की प्रार्थना करने की क्या आवश्यकता है कि यदि [illegible] परन्तु मुझसे एक और भी अपराध हो गया है, और वह यह कि [illegible] हूं। और मेरी प्रार्थना है कि आप लोग वह स्पष्टीकरण सावधान [illegible] इसका विचार न करके मेरे मन ने अवश्य ही ढिठाई की है [illegible] निमग्न है ! मुझ सरीखे अज्ञान का इस कार्य में प्रवृत्त होना [illegible] सीता से समुद्र को नापने का प्रयत्न। यदि कोई आकाश को [illegible] मन के लिए आकाश से भी बड़े होने की आवश्यकता होती है [illegible] मुझे जान पड़ता है कि मैंने जो यह काम अपने हाथ में लिया [illegible] स्वयं शंकरजी गीता के अर्थ की महत्ता या गम्भीरता का वर्णन कर [illegible] आप उन्होंने पूछा था। उस पर शंकरजी ने कहा था—"हे भवानी, [illegible] और नित्य नवीन है"। जिन सर्वेश्वर आदि-नारायण की [illegible] इस गीता का रहस्य भी बतलाया था। अतः जो कार्य उनका [illegible] हो, उसमें मुझ सरीखे अल्प और अत्यन्त मन्द बुद्धि वाले [illegible] असीम गीता-तत्त्व का आकलन भला कैसे किया जा सकता [illegible] उज्ज्वल कर सकता है ? एक मच्छर अपनी मुट्ठी में [illegible] एक ऐसा आधार है जिसकी सहायता से मैं अपने [illegible] आधार यही है कि श्री गुरु निवृत्तिनाथ मेरे अनुकूल [illegible] भी सन्त-कृपा का दीपक तेजस्वी और स्पष्ट है। [illegible] सके और केवल अमृत ही मृतक को फिर से जीवित [illegible] गूंगे में भी बोलने की शक्ति आ जाती है। और [illegible] शक्ति के अनुसार परिणाम या कार्य भी होता [illegible] कामधेनु के समान हो, उसे भला किस बात [illegible] उद्यत हुआ हूं। इसीलिए मैं आप लोगों से प्रार्थना [illegible] कर लें; और यदि इसमें कोई बात अधिक हो [illegible] दें, क्योंकि जब आप लोग मुझे बोलने में प्रवृत्त [illegible] कठपुतलियों का चलना-फिरना और नाचना उसके [illegible] भी साधु-सन्तों का अनुगृहीत और उन्हीं की कृपा पर [illegible] चलने वाला हूं। इसलिए जिस प्रकार आप लोगों [illegible] करें। इतने में श्री गुरुजी ने कहा—"बस करो, [illegible] जल्दी से अपना ध्यान ग्रन्थ की ओर लगाओ"। [illegible] हुए और वह कहने लगा—"अब सब लोग शान्त [illegible]

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता [illegible]।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत [illegible]॥

पुत्र प्रेम के कारण मोह में पड़े हुए धृतराष्ट्र पूछने लगे—"हे संजय, कुरुक्षेत्र की बातें मुझे बतलाओ। जिस क्षेत्र को लोग धर्म-क्षेत्र अर्थात् धर्म का स्थान कहते हैं, युद्ध की इच्छा वाले मेरे और पांडु के पुत्र एकत्रित हुए हैं। अतः अब तुम मुझे जल्दी यह बताओ कि इतने समय में उन लोगों ने आपस में क्या-क्या किया"।

सञ्जय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

इस पर संजय ने कहा—विश्व-प्रलय के समय जिस प्रकार काल अपना मुंह फैलाता है, उसी प्रकार पांडवों की सेना क्षुब्ध हो गई। जिस प्रकार कालकूट क्रुद्ध होकर चारों ओर फैल जाता है, उसी प्रकार वह बहुत बड़ी सेना एक साथ ही क्रुद्ध और क्षुब्ध हो गई। फिर भला उसे कौन रोक सकता था ! अथवा जिस प्रकार प्रलय की वायु से बलवान होकर बड़वानल क्षुब्ध होकर और समुद्र को सोखकर आकाश तक फैलने लगता है, उसी प्रकार अनेक पंक्तियों की व्यूह-रचना से सुघटित वह दुर्दमनीय सेना उस समय बहुत ही भीषण जान पड़ने लगी। परन्तु जिस प्रकार हाथी के बच्चे को सिंह कोई चीज नहीं समझता, उसी प्रकार दुर्योधन ने उस सेना को देखकर तुच्छ समझा। इसके उपरान्त वह द्रोण के पास आकर कहने लगा—"आपने देखा कि पांडवों की सेना कैसे आवेश में आई हुई है ? उस सेना के भिन्न-भिन्न व्यूह मानों चलते-फिरते पहाड़ी किले ही जान पड़ते हैं। ये व्यूह उस द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न के रचे हुए हैं, हे आचार्य, जिसे आपने शिक्षा दी और जिसे आपने युद्ध-विद्या से मंडित किया। देखिये उसी धृष्टद्युम्न ने पांडवों के सेना-सागर का कैसा विस्तार किया है।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

इस सेना में और भी ऐसे अलौकिक वीर हैं जो शस्त्रास्त्र की विद्या में पारंगत हैं और क्षात्र-धर्म में भी पूरे हैं। अब प्रसंग आ गया है, इसलिए मैं आपको उन लोगों के नाम बतलाता हूं जो बल में, अभिमान में और पराक्रम में बिलकुल भीम और अर्जुन की बराबरी के ही हैं। इस सेना में महायोद्धा युयुधान और विराट तथा महारथी वीरश्रेष्ठ द्रुपद भी आये हैं।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशीराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

देखिये चेकितान, धृष्टकेतु, पराक्रमी वीर काशीराज, उत्तमौजा और नृप-श्रेष्ठ शैब्य भी यहां उपस्थित हैं। और देखिये, वह कुन्तिभोज है और वह युधामन्यु है और ये इधर पुरुजित आदि दूसरे राजा लोग हैं। दुर्योधन ने द्रोण से कहा—यह देखिये, सुभद्रा के हृदय को आनन्द देने वाला और देखने में दूसरे तरुण अर्जुन के समान जान पड़ने वाला अभिमन्यु है। और इनके सिवा द्रौपदी के पुत्र तथा दूसरे ऐसे बहुत-से वीर महारथी यहां एकत्र हैं जिनकी संख्या का अन्त ही नहीं है।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

अब प्रसंगवश मैं अपनी सेनाओं के नेताओं और प्रमुख तथा प्रसिद्ध शूर-वीरों के नाम भी बतलाता हूं, सुनिये। आपके सरीखे जो प्रथम श्रेणी के मुख्य वीर हैं, उनमें से दिग्दर्शन मात्र के लिए केवल एक-दो वीर के नाम बतलाता हूं। ये गंगापुत्र भीष्म पितामह हैं जिनके प्रताप का तेज सूर्य के तेज के समान है। और यह वीर कर्ण तो शत्रु रूपी हाथियों का संहार करने वाला सिंह ही है। इनमें से प्रत्येक ऐसा है कि यदि वह चाहे तो अकेला ही सारे विश्व का संहार कर सकता है। क्या ये कृपाचार्य अकेले ही सारे विश्व का संहार नहीं कर सकते ? और देखिये, यह वीर विकर्ण है और वह उधर अश्वत्थामा हैं जिनकी धाक स्वयं सर्व-विध्वंसक काल भी मानता है। और समितिजय तथा सौमदत्ति आदि बहुत से वीर हैं जिनकी सामर्थ्य की माप स्वयं ब्रह्मा भी नहीं कर सकते।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

जो शस्त्र-विद्या में निष्णात हैं, जो मन्त्र-विद्या में स्वयं अवतार ही जान पड़ते हैं, जिन्होंने समस्त अस्त्र-समूहों को संसार में प्रचलित किया है, और जिनके अङ्गों में पूरा-पूरा प्रताप छाया हुआ है, वे सब अप्रतिम वीर जी-जान से मेरे अनुयायी हुए हैं। जिस प्रकार पतिव्रता का हृदय अपने पति को छोड़कर औरों को कभी स्पर्श भी नहीं करता, उसी प्रकार इन महायोद्धाओं के लिए मैं ही भक्ति-सर्वस्व हो गया हूं। मेरे कार्य के आगे ये लोग अपने प्राणों को भी कोई चीज नहीं समझते और इस प्रकार ये लोग स्वामिनिष्ठा में निःसीम और निर्दोष हैं। ये लोग युद्ध-कौशल जानते हैं और युद्ध-कला की कीर्ति को इन्हीं लोगों ने जीवित रखा है। यहां तक कि क्षत्रियों के बाने का उद्गम इन्हीं लोगों से हुआ है। और हमारी सेना में जो ऐसे सर्वोपरि वीर हैं, उनकी गिनती कहां तक की जाय ! बस समझ लीजिये कि वे असंख्य ही हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

समस्त क्षत्रियों में जो श्रेष्ठ और संसार में महावीर पितामह भीष्म हैं, उन्हें सेनापति बनाया गया है। इन्हीं भीष्म के बल से आच्छादित यह सेना एक किले की तरह बनी हुई दिखाई देती है और इसके सामने यह त्रिभुवन भी तुच्छ जान पड़ता है। एक तो समुद्र यों ही सब लोगों को अलंघ्य जान पड़ता है; तिस पर जैसे उसे बड़वानल की सहायता मिल जाय, अथवा जिस प्रकार प्रलय की अग्नि और अत्यन्त प्रबल वायु का संयोग हो जाय, उसी प्रकार की अवस्था इन गंगा-पुत्र भीष्म के सेनापति होने से हो गई है। फिर भला हमारी सेना के साथ कौन लड सकता है ? और फिर पांडवों की यह सेना तो बहुत ही थोड़ी है। पर यह छोटी-सी सेना भी मुझे अपरम्पार दिखाई देती है। और इस सेना का नायक वह प्रबल और उद्दंड भीमसेन बना है।" इतना कहकर दुर्योधन ने अपनी बात समाप्त की।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

इसके उपरान्त उसने फिर समस्त सैनिकों से कहा—"अब तुम लोग अपना-अपना दल व्यवस्थित करो। जिन-जिन लोगों को सेना की जितनी-जितनी अक्षौहिणियां दी गई हैं और उनकी रक्षा के लिए जिस प्रकार महारथियों का विभाग किया गया है, उसी के अनुसार सब लोग अपनी-अपनी सेना की व्यवस्था करें और सब लोग भीष्म की आज्ञा मानें।" इसके उपरान्त दुर्योधन ने द्रोणाचार्य की ओर घूमकर कहा—"सुनो, तुम सब लोग केवल इन भीष्म की रक्षा करो। जिस प्रकार मैं इनका सम्मान करता हूं, उसी प्रकार तुम सब लोग भी इनका सम्मान करो;

क्योंकि हमारी इतनी बड़ी सेना की शक्ति केवल इन्हीं पर निर्भर है।''

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

दुर्योधन की ये बातें सुनकर सेनापति भीष्म बहुत सन्तुष्ट हुए और उन्होंने प्रबल रण-घोष किया। उस विलक्षण घोष ने दोनों ही सेनाओं में ऐसा शब्द किया कि उसकी प्रतिध्वनि कहीं समाती ही नहीं थी। उस प्रतिध्वनि के समान ही श्रीमान् भीष्म ने अपनी वीर्य-स्फूर्ति के बल से अपना अलौकिक शंख भी फूंका। जब उस रणघोष में यह शंख-घोष मिल गया, तब मानो त्रैलोक्य के कान बहरे हो गये और ऐसा जान पड़ा कि आकाश ही फटकर जमीन पर आ गिरा हो। उस समय आकाश गरज उठा, समुद्र ऊपर उछलने लगा और सारे विश्व के स्थावर और जंगम त्रस्त होकर कांपने लगे। इस महाघोष के गर्जन से पर्वतों की गुफाएं तक गूंजने लगीं और उसके साथ ही सेनाओं में रण-वाद्य खूब जोरों से बजने लगे।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

असंख्य भयानक और कर्कश बाजे बजने लगे जिनके शब्द सुनकर बड़े-बड़े वीरों को भी ऐसा जान पड़ने लगा कि प्रलय का काल आ गया। फिर भला कायरों की तो बात ही न पूछिए ! जो लोग कच्चे जी के और कम साहस वाले थे, वे सूक्ष्म कणों की तरह उड़ गये। यहां तक कि स्वयं काल भी ऐसा भयभीत हो गया कि उसे सामने आने का साहस ही नहीं होता था। नौबतें, नगाड़े, मृदङ्ग, शंख, झांझें और तुरहियां जोर-जोर से बजने लगीं और उनके शोर में पराक्रमी वीरों का रण-घोष मिलने लगा। कोई अपने भुज-दंडों पर ताल ठोंकने लगा और कोई युद्ध के लिए ललकारने लगा। जिस स्थान पर मदोन्मत्त हाथी छूटकर आ पहुंचे थे, उस स्थान पर बहुत-से लोगों के खड़े-खड़े ही प्राण निकल गये। अच्छे-अच्छे शूरों के दांत बैठ गये और उनके मुंह से आवाज तक न निकली; और जो लोग बड़ी-बड़ी प्रतिज्ञाएं करके आये थे, वे भी ठंडे पड़ गये। रण-वाद्यों का ऐसा विलक्षण और भयानक शब्द सुनकर ब्रह्मा भी भयभीत हो गये और देवता लोग कहने लगे—''आज तो कदाचित् प्रलयकाल ही आ पहुंचा।''

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

उधर तो वह भयंकर रण-कोलाहल सुनकर स्वर्ग में इस प्रकार की बातें हो रही थीं, पर इधर पांडवों की सेना में क्या हो रहा था वह भी सुनिये। जो रथ रण-विजय का मानों सार-सर्वस्व था अथवा जो महातेज का भांडार ही था, जिसमें वेगवत्ता में गरुड के सगे भाइयों के-से चार घोड़े जुते हुए थे, अथवा जो उड़ते हुए मेरु पर्वत के समान जान पड़ता था, जिसके तेज से दसों दिशाएं भर गई थीं और जिस पर वैकुण्ठ के स्वामी स्वयं नारायण ही अश्व-वाहक बनकर बैठे हुए थे, उस रथ के गुणों का वर्णन भला कहां तक हो सकता है ! उसकी पताका पर जो वानर था, वह तो प्रत्यक्ष शंकर ही था और अर्जुन के पास बैठे हुए शार्ङ्गधर श्रीकृष्ण ही सारथी का काम कर रहे थे। देखिये, यह भी कैसे आश्चर्य की बात है ! उन प्रभु का अपने भक्तों के प्रति इतना अद्भुत प्रेम है कि उसी प्रेम से बद्ध होकर वे अपने भक्त अर्जुन का स्वयं ही सारथ्य कर रहे हैं। कृष्ण ने अपने दास अर्जुन को तो अपने

सतक्वाद ही आपका कमल के समान वरद हस्त है और धर्म प्रतिष्ठा ही आपका अभय देने वाला हाथ है महासुख के परमानन्द की प्राप्ति कराने वाला निर्मल सुविचार ही आपका सरल शुड-दड है। मतभेदो का परिहार करने वाला जो संवाद है, वह आपका अखंडित और शुभ्र वर्ण वाला दांत है। उन्मेष या ज्ञान-तेज का स्फुरण विघ्न-राज गणेशजी के चमकते हुए सूक्ष्म नेत्र हैं। इसी प्रकार मुझे ऐसा जान पड़ता है कि पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा इनके दोनों कान हैं और इन्हीं दोनों कानों पर मुनिरूपी भ्रमर गंड-स्थल से बहने वाले बोध-रूपी मद-रस का सेवन या पान करते हैं। तत्त्वार्थ रूपी प्रवाल-से चमकने वाले द्वैत और अद्वैत दोनों गंड-स्थल हैं और ये दोनों गणेशजी के मस्तक पर बहुत ही पास-पास होने के कारण मिलकर प्रायः एक-से हो गये हैं। ज्ञान-रूपी मकरन्द से ओत-प्रोत भरे हुए दसों उपनिषद् ही मधुर सुगन्धि वाले फूलों के मुकुट के समान मस्तक पर सुशोभित है। इन गणेशजी में दोनों चरण अकार हैं, विशाल उदर उकार है और मस्तक का महामंडल मकार है। अकार, उकार और मकार इन तीनों के योग से ॐकार होता है जिसमें सारा साहित्य-संसार समाविष्ट होता है। इसीलिए मै सद्गुरु की कृपा से उस अखिल विश्व के मूल बीज को नमस्कार करता हूं। अब मैं उस विश्व-मोहिनी शारदा की वन्दना करता हूं जो वाणी के नित्य नये-नये विलास प्रकट करती है और जो चातुर्य तथा कलाओं में विशेष प्रवीण है। जिन सद्गुरु ने मुझे इस संसार-रूपी सागर से पार उतारा है, वे सद्गुरु मेरे अन्तःकरण में पूरी तरह से बैठे हुए हैं, इसी से विवेक के लिए मेरे मन में विशेष आदर है। जिस प्रकार आंखों में दिव्य अंजन लगाने से दृष्टि को अपूर्व बल प्राप्त होता है और तब आदमी जहां देखता है वहीं उसे भूमि के अन्दर गड़े हुए द्रव्यों की बड़ी-बडी राशियां दिखाई पड़ने लगती हैं अथवा जिस प्रकार हाथ में चिन्तामणि आने पर सब प्रकार के मनोरथ सिद्ध हो जाते है, उसी प्रकार मैं ज्ञानदेव कहता हूं कि श्रीनिवृत्तिनाथजी की कृपा से मैं पूर्ण काम हो गया हूं। इसीलिए बुद्धिमान् पुरुषों को गुरु की भक्ति करनी चाहिए और उसके द्वारा कृतकार्य होना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार वृक्ष की जड मे पानी सींचने से आपसे आप सब शाखाएं और पल्लव हरे-भरे हो जाते हैं; अथवा जिस प्रकार सागर में स्नान करने से त्रिभुवन के समस्त तीर्थों में स्नान करने का फल होता है; अथवा जिस प्रकार अमृत-रस का पान करने से समस्त रसों का आनन्द मिल जाता है, उसी प्रकार जिनके द्वारा मेरे समस्त इष्ट-मनोरथ सिद्ध होते हैं, उन श्री गुरुदेव की मैं बार-बार वन्दना करता हूं। अब आप लोग एक प्रौढ़ और गम्भीर कथा सुनें। यह कथा समस्त कला-विलासों की जन्मभूमि अथवा विवेक-वृक्षों का अपूर्व उपवन है। यह कथा सब सुखों के मूल-स्थान महा-सिद्धान्त की नींव है अथवा नौ रसों के अमृत का सागर है। अथवा यह कथा स्वयं परम-गति का आश्रय-स्थल, समस्त विद्याओं का आदिपीठ और समस्त शास्त्रों का निवास-स्थान है। अथवा यह कथा धार्मिक विचारों का मायका (जन्मभूमि), सज्जनों का जीवन और सरस्वती देवी के सौन्दर्य रूपी सम्पत्ति का भांडार है। अथवा व्यासदेव की विशाल मति को स्फुरित करके स्वयं वाणी देवी इस कथा के रूप में त्रिभुवन में प्रकट हुई है। इसीलिए यह कथा समस्त महाकाव्यों की महारानी और सब ग्रन्थों के गौरव का मूल है और इसी से शृंगार आदि नौ रसों को सरसता प्राप्त हुई है। अब इस कथा का एक और लक्षण सुनिये। इसी कथा से शब्द-वैभव शास्त्र-शुद्ध हुआ है और आत्मज्ञान की कोमलता इसी से दूनी हुई है। चातुर्य को इसी कथा से चतुराई प्राप्त हुई है, भक्ति-रस इसी से स्वादिष्ट हुआ है और सुख का सौभाग्य इसी से पुष्ट हुआ है। इसी से माधुर्य को मधुरता, शृंगार को सुन्दरता और अच्छी बातों को लोकप्रियता प्राप्त हुई है और उनकी शोभा हुई है। इसी कथा से कलाओं का कलाज्ञान प्राप्त हुआ है, पुण्य को अपूर्व वैभव मिला है और इसीलिए इससे राजा जनमेजय के पाप-कर्मो के दोषों का सहज में प्रक्षालन हुआ है। यदि इसके सम्बन्ध में कुछ और विचार किया जाय तो यह निश्चित होता है कि इसी ने रंगों को सुरंगता की विपुल सामर्थ्य और गुणों को सद्गुणता का तेज प्रदान किया है। तात्पर्य यह कि जिस

प्रकार सूर्य के तेज से त्रिभुवन उज्ज्वल होता है, उसी प्रकार व्यासदेव की बुद्धि से व्याप्त होने के कारण यह विश्व प्रकाशित हुआ है। अथवा जिस प्रकार अच्छी और उपजाऊ भूमि में बीज बोने से वे आपसे आप बढ़ते और फैलते हे, उसी प्रकार इस भारत ग्रन्थ में सब विषय बहुत अच्छी तरह सुशोभित हुए हैं। अथवा जिस प्रकार नगर मे निवास करने के कारण मनुष्य सहज में बहुश्रुत और सभ्य हो जाता है, उसी प्रकार सारा जगत् व्यासदेव की वाणी से उज्ज्वल और स्पष्ट हो गया है। अथवा जिस प्रकार युवावस्था के आरम्भ में स्त्री के अंगों में लावण्य की नई ओर अपूर्व शोभा प्रकट होती है। अथवा जिस प्रकार वसन्त-ऋतु का आगमन होने पर उपवन की भूमि के छोटे-बडे सभी वृक्षों और पौधों पर वन-श्री का भांडार आपसे आप आकर एकत्र हो जाता है, अथवा जिस प्रकार सोने का डला देखने से उसमें आकार की कोई विशेषता नहीं दिखाई देती, परन्तु जब उसके अलंकार बन जाते हैं तब उसकी सच्ची शोभा दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार व्यासदेव की वाणी अलंकारों से सुशोभित होने के कारण इसे अपूर्व सौन्दर्य प्राप्त हुआ है। और कदाचित् इसी बात का विचार अपने मन में करके इतिहास ने इस कथा का आश्रय लिया है। और समस्त पुराणों ने अपने लिए उपयुक्त मान प्राप्त करने के विचार से संसार में अपनी लघुता स्वीकृत करके इस भारत ग्रन्थ में आख्यानों का रूप ग्रहण किया है। इसीलिए लोग यह कहने लग गये हैं कि जो बात भारत मे नहीं है, वह तीनों लोकों में कहीं नहीं है—और संसार में इस लोकोक्ति का प्रचार हो गया है कि—'व्यासोच्छिष्ट जगत्त्रयं'। इस प्रकार जो यह रसपूर्ण कथा संसार में परमार्थ का मूल-स्थान बन गई है, वह कथा वैशम्पायन मुनि ने राजा जनमेजय से निवेदन की है। इसलिए आप लोग यह कथा सावधान होकर सुनें, जो अद्वितीय, श्रेष्ठ, परम पुण्यशील, अप्रतिम और परम शुभ-गति का निवास-स्थान है। अब इस भारत ग्रन्थ रूपी कमल में गीता नाम का वह प्रकरण पराग ही है जिसका उपदेश श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया था। अथवा समस्त साहित्य का मन्थन करके व्यासदेव की बुद्धि ने यह गीता रूपी अवर्णनीय अमृत निकाला है। फिर यह नवनीत ज्ञान की अग्नि पर विवेकपूर्वक तपाया गया है और उसके अच्छी तरह पक जाने के कारण बढ़िया सुगन्धित घी तैयार हुआ है। विरागी जिसकी इच्छा करते हैं, सन्त जिसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं और पूर्ण ब्रह्मज्ञानी जिसमें 'अहमेव ब्रह्मास्मि' की भावना रखकर रमण करते हैं, भक्त जिसका श्रवण करते हैं, जिसकी त्रिभुवन में सबसे पहले वन्दना होती है और जो भीष्म पर्व में कथा के रूप में कही गई है, जिसे लोग श्रीमद्भगवद्गीता कहते हैं, ब्रह्मा और शंकर जिसकी स्तुति करते हे और सनकादिक जिसका आदरपूर्वक सेवन करते हैं, उस कथा के माधुर्य का श्रोताओं को अपना मन कोमल करके उसी प्रकार अनुभव करना चाहिए (उसी प्रकार सुनना चाहिए), जिस प्रकार चकोर के बच्चे मनोयोगपूर्वक शरद् ऋतु की कोमल चन्द्र-कलाओं के कोमल सुधा-कण चुगते हैं। वह कथा वास्तव में बिना शब्दों की सहायता के ही कही जाती है, इन्द्रियों के बिना पता लगे ही इसका अनुभव होता है और कानों तक शब्दों के पहुंचने के पहले ही इसके तत्त्व-सिद्धान्त का आकलन किया जाता है। भ्रमर जिस प्रकार कमलों में का पराग ले जाता है और कमल-दलो को इस बात का पता भी नहीं लगने पाता, उसी प्रकार इस ग्रन्थ को श्रवण करने वाले लोग भी इसका तत्त्व ग्रहण करते हैं। केवल कुमुदिनी ही यह बात जानती है कि किस प्रकार बिना अपना स्थान छोड़े, उदित होते हुए चन्द्रमा का आलिंगन किया जाता है और किस प्रकार उसके प्रेम का अनुभव किया जाता है। इसीलिए जिसका अन्तःकरण इस प्रकार की गम्भीर वृत्ति से निश्चल हो गया हो, वही गीता का प्रकरण जान सकता है। गीता सुनने के लिए जो लोग अर्जुन की पंक्ति में बैठने के योग्य हों, उन्हीं सन्तों को कृपा कर इस कथा की ओर ध्यान देना चाहिए। कुछ लोगों को ऐसा जान पड़ेगा कि मैंने कुछ अधिक धृष्टता की है; पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। हे श्रोतागण, आप लोग गम्भीर और उदार अन्तःकरण के हैं, इसीलिए मैंने आपके चरणों में नम्र होकर यह प्रार्थना की हे। माता-पिता का यह स्वभाव ही होता है कि लड़का यदि तोतली बोली में कोई बात कहे तो वे प्रसन्न और सन्तुष्ट

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

अब प्रसंगवश मैं अपनी सेनाओं के नेताओं और प्रमुख तथा प्रसिद्ध शूर-वीरों के नाम भी बतलाता हूं, सुनिये। आपके सरीखे जो प्रथम श्रेणी के मुख्य वीर हैं, उनमें से दिग्दर्शन मात्र के लिए केवल एक-दो वीर के नाम बतलाता हूं। ये गंगापुत्र भीष्म पितामह हैं जिनके प्रताप का तेज सूर्य के तेज के समान है। और यह वीर कर्ण ता शत्रु रूपी हाथियों का संहार करने वाला सिंह ही है। इनमें से प्रत्येक ऐसा है कि यदि वह चाहे तो अकेला ही सारे विश्व का सहार कर सकता है। क्या ये कृपाचार्य अकेले ही सारे विश्व का संहार नहीं कर सकते ? और देखिये, यह वीर विकर्ण है और वह उधर अश्वत्थामा हैं जिनकी धाक स्वयं सर्व-विध्वंसक काल भी मानता है। और समितिजय तथा सौमदत्ति आदि बहुत से वीर हैं जिनकी सामर्थ्य की माप स्वयं ब्रह्मा भी नहीं कर सकते।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

जो शस्त्र-विद्या में निष्णात हैं, जो मन्त्र-विद्या में स्वयं अवतार ही जान पड़ते हैं, जिन्होंने समस्त अस्त्र-समूहों को संसार में प्रचलित किया है, और जिनके अङ्गों में पूरा-पूरा प्रताप छाया हुआ है, वे सब अप्रतिम वीर जी-जान से मेरे अनुयायी हुए हैं। जिस प्रकार पतिव्रता का हृदय अपने पति को छोड़कर औरों को कभी स्पर्श भी नहीं करता, उसी प्रकार इन महायोद्धाओं के लिए मैं ही भक्ति-सर्वस्व हो गया हूं। मेरे कार्य के आगे ये लोग अपने प्राणों को भी कोई चीज नहीं समझते और इस प्रकार ये लोग स्वामिनिष्ठा में निःसीम और निर्दोष हैं। ये लोग युद्ध-कौशल जानते हैं और युद्ध-कला की कीर्ति को इन्हीं लोगों ने जीवित रखा है। यहां तक कि क्षत्रियों के बाने का उद्गम इन्हीं लोगों से हुआ है। और हमारी सेना में जो ऐसे सर्वोपरि वीर हैं, उनकी गिनती कहां तक की जाय ! बस समझ लीजिये कि वे असंख्य ही हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

समस्त क्षत्रियों में जो श्रेष्ठ और संसार में महावीर पितामह भीष्म हैं, उन्हें सेनापति बनाया गया है। इन्हीं भीष्म के बल से आच्छादित यह सेना एक किले की तरह बनी हुई दिखाई देती है और इसके सामने यह त्रिभुवन भी तुच्छ जान पड़ता है। एक तो समुद्र यों ही सब लोगों को अलंघ्य जान पड़ता है; तिस पर जैसे उसे वड़वानल की सहायता मिल जाय, अथवा जिस प्रकार प्रलय की अग्नि और अत्यन्त प्रबल वायु का संयोग हो जाय, उसी प्रकार की अवस्था इन गंगा-पुत्र भीष्म के सेनापति होने से हो गई है। फिर भला हमारी सेना के साथ कौन लड़ सकता है ? और फिर पांडवों की यह सेना तो बहुत ही थोड़ी है। पर यह छोटी-सी सेना भी मुझे अपरम्पार दिखाई देती है। और इस सेना का नायक वह प्रबल और उद्दंड भीमसेन बना है।" इतना कहकर दुर्योधन ने अपनी बात समाप्त की।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

इसके उपरान्त उसने फिर समस्त सैनिकों से कहा--"अब तुम लोग अपना-अपना दल व्यवस्थित करो। जिन-जिन लोगों को सेना की जितनी-जितनी अक्षौहिणियां दी गई हैं और उनकी रक्षा के लिए जिस प्रकार महारथियों का विभाग किया गया है, उसी के अनुसार सब लोग अपनी-अपनी सेना की व्यवस्था करें और सब लोग भीष्म की आज्ञा मानें।" इसके उपरान्त दुर्योधन ने द्रोणाचार्य की ओर घूमकर कहा--"सुनो, तुम सब लोग केवल इन भीष्म की रक्षा करो। जिस प्रकार मैं इनका सम्मान करता हूं, उसी प्रकार तुम सब लोग भी इनका सम्मान करो;

क्योंकि हमारी इतनी बड़ी सेना की शक्ति केवल इन्हीं पर निर्भर है।''

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

दुर्योधन की ये बातें सुनकर सेनापति भीष्म बहुत सन्तुष्ट हुए और उन्होंने प्रबल रण-घोष किया। उस विलक्षण घोष ने दोनों ही सेनाओं में ऐसा शब्द किया कि उसकी प्रतिध्वनि कहीं समाती ही नहीं थी। उस प्रतिध्वनि के समान ही श्रीमान् भीष्म ने अपनी वीर्य-स्फूर्ति के बल से अपना अलौकिक शंख भी फूंका। जब उस रणघोष में यह शंख-घोष मिल गया, तब मानो त्रैलोक्य के कान बहरे हो गये और ऐसा जान पड़ा कि आकाश ही फटकर जमीन पर आ गिरा हो। उस समय आकाश गरज उठा, समुद्र ऊपर उछलने लगा और सारे विश्व के स्थावर और जंगम त्रस्त होकर कांपने लगे। इस महाघोष के गर्जन से पर्वतों की गुफाएं तक गूंजने लगीं और उसके साथ ही सेनाओं में रण-वाद्य खूब जोरों से बजने लगे।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

असंख्य भयानक और कर्कश बाजे बजने लगे जिनके शब्द सुनकर बड़े-बड़े वीरों को भी ऐसा जान पड़ने लगा कि प्रलय का काल आ गया। फिर भला कायरों की तो बात ही न पूछिए ! जो लोग कच्चे जी के और कम साहस वाले थे, वे सूक्ष्म कणों की तरह उड़ गये। यहां तक कि स्वयं काल भी ऐसा भयभीत हो गया कि उसे सामने आने का साहस ही नहीं होता था। नौबतें, नगाड़े, मृदङ्ग, शंख, झांझें और तुरहियां जोर-जोर से बजने लगीं और उनके शोर में पराक्रमी वीरों का रण-घोष मिलने लगा। कोई अपने भुज-दंडों पर ताल ठोंकने लगा और कोई युद्ध के लिए ललकारने लगा। जिस स्थान पर मदोन्मत्त हाथी छूटकर आ पहुंचे थे, उस स्थान पर बहुत-से लोगों के खड़े-खड़े ही प्राण निकल गये। अच्छे-अच्छे शूरों के दांत बैठ गये और उनके मुंह से आवाज तक न निकली; और जो लोग बड़ी-बड़ी प्रतिज्ञाएं करके आये थे, वे भी ठंडे पड़ गये। रण-वाद्यों का ऐसा विलक्षण और भयानक शब्द सुनकर ब्रह्मा भी भयभीत हो गये और देवता लोग कहने लगे—''आज तो कदाचित् प्रलयकाल ही आ पहुंचा।''

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

उधर तो वह भयंकर रण-कोलाहल सुनकर स्वर्ग में इस प्रकार की बातें हो रही थीं, पर इधर पांडवों की सेना में क्या हो रहा था वह भी सुनिये। जो रथ रण-विजय का मानों सार-सर्वस्व था अथवा जो महातेज का भांडार ही था, जिसमें वेगवत्ता में गरुड़ के सगे भाइयों के-से चार घोड़े जुते हुए थे, अथवा जो उड़ते हुए मेरु पर्वत के समान जान पड़ता था, जिसके तेज से दसों दिशाएं भर गई थीं और जिस पर वैकुण्ठ के स्वामी स्वयं नारायण ही अश्व-वाहक बनकर बैठे हुए थे, उस रथ के गुणों का वर्णन भला कहां तक हो सकता है ! उसकी पताका पर जो वानर था, वह तो प्रत्यक्ष शंकर ही था और अर्जुन के पास बैठे हुए शार्ङ्गधर श्रीकृष्ण ही सारथी का काम कर रहे थे। देखिये, यह भी कैसे आश्चर्य की बात है ! उन प्रभु का अपने भक्तों के प्रति इतना अद्भुत प्रेम है कि उसी प्रेम से बद्ध होकर वे अपने भक्त अर्जुन का स्वयं ही सारथ्य कर रहे हैं। कृष्ण ने अपने दास अर्जुन को तो अपने

पीछे रख लिया और आप उसके आगे हो गये और तब सहज लीला से अपना पांचजन्य नामक शंख फूंका। पर सहज भाव से फूंके हुए शंख का महाघोष भी बहुत ही गम्भीरतापूर्वक गरजा और जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही सब नक्षत्र लुप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार रण-वाद्यों का वह सब कोलाहल, जो कौरवों की सेना में हो रहा था, न जाने कहां छिपकर बन्द हो गया। इसी प्रकार धनुर्धर अर्जुन ने भी अत्यन्त गम्भीर शब्द वाला अपना देवदत्त नामक शंख बजाया। जिस समय ये दोनों भयंकर शखनाद मिलकर एक हुए, तब ऐसा जान पड़ने लगा कि कहीं इस ब्रह्मांड के सैकड़ों-हजारों टुकड़े तो नहीं हो जायंगे। इतने में भीमसेन को भी आवेश हो आया और उसने महाकाल के समान क्षुब्ध होकर अपना पौंड्र नामक महाशंख बजाया। वह शंखनाद प्रलयकाल के मेघों के समान गम्भीरतापूर्वक गरजा। बस उसी समय राजा युधिष्ठिर ने भी अपना अनन्त विजय नामक शंख बजाया। इसी प्रकार नकुल ने अपना सुघोष नामक शंख और सहदेव ने अपना मणिपुष्पक नामक शंख भी बजाया और इन दोनों शंखो के नाद से स्वयं यम भी घबरा गया।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

उस समय वहां द्रुपद, द्रौपदेय, महाबाहु, काशिराज, अर्जुन-पुत्र अजेय सात्यकी, धृष्टद्युम्न आदि अनेक राजा उपस्थित थे। शिखंडी भी था और विराट आदि दूसरे बहुत-से राजा भी थे। उनमें जो मुख्य-मुख्य शूर सेनापति थे, उन सबने एक साथ ही अपना-अपना शंख बजाया। उन सबका भयंकर नाद सुनकर पृथ्वी को धारण करने वाले शेषनाग और महाकूर्म भी इतने घबरा गये कि वे अपने सिर से पृथ्वी का भार फेकने के लिए उद्यत हो गये। उस समय तीनों भुवन डगमगाने लगे, मेरु और मन्दर आदि पर्वत हिलने लगे और समुद्र तो कैलास के बराबर ऊंचा उछलने लगा। पृथ्वीतल मानो उलटने लगा और आकाश की तो ऐसी बुरी दशा हो गई कि मानो उसमें स्थित नक्षत्र नीचे गिरने लगे। उस समय सत्यलोक में यह कोलाहल मचा—"अब यह सारी सृष्टि डूब गई और देवताओं का आश्रय जाता रहा।" दिन होते हुए भी ऐसा जान पड़ता था कि मानो सूर्य है ही नहीं; और त्रिभुवन में इस प्रकार का हाहाकार मच गया कि मानो प्रलयकाल सामने आ उपस्थित हुआ हो। उस समय आदिपुरुष श्रीकृष्ण को भी यह आशंका होने लगी कि अब सचमुच इस विश्व का कहीं अन्त न हो जाय; इसलिए उन्होंने वह क्षोभ शान्त किया, जिससे यह विश्व बच गया। नहीं तो कृष्ण आदि के शंखों का नाद होते ही सचमुच युगान्त हो गया होता। यद्यपि यह नाद तो शान्त हो गया था, परन्तु फिर भी उसकी प्रतिध्वनि अभी तक हो ही रही थी और उस प्रतिध्वनि ने ही मानो कौरवों की सेना का नाश कर डाला। जिस प्रकार हाथियों के झुंड में सिंह बहुत ही सहज में संचार करता है और जिधर जिस हाथी को चाहता है, उधर उसी को मार डालता है, उसी प्रकार वह प्रतिध्वनि भी वीरों का हृदय फाड़ती हुई चारों तरफ फैलने लगी। उस प्रतिध्वनि की गर्जना सुनकर खड़े-खड़े ही उन लोगों के धैर्य छूट गये और वे एक-दूसरे से कहने लगे—"अरे सावधान हो। अरे सावधान हो।"

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

परन्तु उनमें जो महारथी वीर अपने बल और पराक्रम में पक्के थे, उन्होंने सैनिकों को फिर जेसे-तैसे संभाला।

वे सब लोग मिलकर आगे बढ़े और उन्होंने दून आवेश से आक्रमण किया। इन सेनाओं के कारण तीनों भुवन त्रस्त होने लगे। धनुर्धारियों ने प्रलयकाल के मेघों की तरह बाणों की निरन्तर वृष्टि आरम्भ की। यह देखकर अर्जुन को बहुत सन्तोष हुआ और तब उसने बहुत उत्सुकतापूर्वक उस सेना पर दृष्टि डाली। तब उसे युद्ध के लिए सजे-सजाये सब कौरव दिखाई पड़े और तब उस पांडु-कुमार अर्जुन ने भी सहज में अपना धनुष उठा लिया।

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

उस समय अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा—"देव, अब आप रथ को जल्दी ले चलकर दोनों सेनाओं के मध्य में पहुंचा दें। और यह इसलिए कि यहां युद्ध-क्षेत्र में डटे हुए युद्ध के अभिलाषी इन विपक्षी योद्धाओं को भली प्रकार देख लूं। यहां आये तो सभी लोग हैं। पर पहले यह देख लेना चाहिए कि इस युद्ध में स्वयं किसके साथ लड़ूं। प्रायः ये कौरव बड़े मूर्ख और दुष्ट स्वभाव के हैं, इसलिए सम्भव है कि पराक्रम न होने पर भी ये लोग यहां युद्ध करने के लिए चले आये हों। इन लोगों को युद्ध करने का चाव तो बहुत है, पर युद्ध के लिए जिस धैर्य की आवश्यकता होती है, वह इन लोगों में नहीं है।" अर्जुन की यह बात धृतराष्ट्र को सुनाकर संजय ने कहा—

सञ्जय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

"महाराज, सुनिये, ज्यों ही अर्जुन ने यह बात कही, त्यों ही श्रीकृष्ण ने रथ हांक दिया, और ले जाकर दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दिया। वहां पास में भीष्म, द्रोण आदि दूसरे बहुत-से राजा भी थे। उसी स्थान पर रथ रुकवाकर अर्जुन बड़ी उत्सुकता से वह सारी सेना देखने लगा। इसके उपरान्त उसने भगवान् से कहा—"हे देव, देखिये, ये सब तो मेरे ही गोत्रज और गुरु हैं"। अर्जुन के ये शब्द सुनकर श्रीकृष्ण को क्षण-भर के लिए कुछ आश्चर्य हुआ। भगवान् ने अपने मन में सोचा—"न जाने इस समय इसके मन में क्या बात आई है। पर कोई बात आई अवश्य है।" वे अपने मन में भविष्य के सम्बन्ध की सब बातों का विचार करने लगे। उसी समय उन सर्वान्तर्यामी भगवान् को सब बातें विदित हो गईं। पर उस समय वे चुपचाप रहे। उधर अर्जुन को अपने सामने अपने सब गुरुजन, पितामह, आचार्य, गोत्रज और मामे आदि दिखाई पड़े। उसने वहां अपने अनेक इष्ट-मित्र और

साथ ही अपने कुल के अनेक युवक भी देखे। उन लोगों में उसके ससुराल वाले भी आये हुए थे। अर्जुन को उस समूह में अपने परम प्रिय, स्नेही, ससुराल वाले, दूसरे सगे-सम्बन्धी, भतीजे और नाती-पोते आदि भी दिखाई दिये। केवल ऐसे ही लोग नहीं थे जिन पर उसने उपकार किये थे अथवा जिन्होंने उसे समय-समय पर अनेक संकटों से बचाया था, बल्कि बड़े और छोटे सभी सम्बन्धी वहां उपस्थित थे। इस प्रकार दोनों सेनाओं में उसे युद्ध के लिए सजे-सजाये अपने गोत्र वाले ही दिखाई पड़े। इससे अर्जुन बहुत घबराया और उसके मन में दया का आविर्भाव हुआ। अर्जुन के मन की वीर-वृत्ति ने कदाचित् यह सोचा होगा कि मन में दया का आविर्भाव होना ही मानो मेरा अपमान है और यह सोचकर वह वीर-वृत्ति अर्जुन के अन्तःकरण को छोड़कर चली गई। कारण यह कि जो उत्तम कुल की और गुण-लावण्य आदि से युक्त स्त्रियां होती हैं, वे अपने घर में पराई स्त्रियों का डेरा जमना सहन नहीं कर सकतीं। जिस प्रकार किसी नई स्त्री के फेर में पड़कर कामी पुरुष अपनी धर्मपत्नी को भूल जाता है और तब भ्रमिष्ठों की तरह बिना समझे-बूझे अनुचित कार्य करने लगता है, अथवा जिस प्रकार तपोबल से यथेष्ट वैभव हो जाने पर बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और तब मनुष्य को वैराग्य के साधन का ध्यान नहीं रह जाता, ठीक उसी प्रकार की अवस्था उस समय अर्जुन की भी हुई। और इसका कारण यह था कि उस समय जो वीरता उसके मन में निवास कर रही थी, उसे उसने निकाल दिया था और अपना अन्तःकरण करुणा के अधीन कर दिया था। जिस प्रकार किसी मान्त्रिक के मन्त्रों के उच्चारण करने में प्रमाद कर बैठने से उलटे उसी पर भूत सवार हो जाता है, ठीक उसी प्रकार इस समय अर्जुन पर महामोह सवार हो गया था। इसीलिए अर्जुन का स्वाभाविक धैर्य नष्ट हो गया और उसका अन्तःकरण द्रवित होने लगा। जिस प्रकार चन्द्र-कला के स्पर्श से चन्द्रकान्त मणि द्रवित होने लगती है, उसी प्रकार दया के स्पर्श से अर्जुन भी द्रवित होकर खेदयुक्त वाणी से भगवान् से कहने लगा—

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

"हे देव, सुनिये। यहां जो लोग एकत्र हुए हैं, उन सबको मैंने देख लिया। ये सब लोग तो मेरे ही गोत्र के दिखाई पड़ते हैं। यह ठीक है कि ये सब लोग युद्ध करने के लिए प्रस्तुत हैं; पर मेरे लिए भी युद्ध करने को प्रस्तुत होना कहां तक उचित होगा ? मैं तो युद्ध का नाम लेते ही बिलकुल घबरा जाता हूं। मेरी अपनी ही सुध-बुध बिलकुल जाती रहती है। मन और बुद्धि दोनों चकराने लगते हैं। देखिये, मेरा शरीर थरथर कांप रहा है, मुंह सूखने लग गया है और सारा शरीर मानो गला जा रहा है। मेरे सारे शरीर में रोमांच हो आया है, मेरे अन्तःकरण में अत्यन्त व्यथा हो रही है और इससे गांडीव धनुष धारण करने वाला मेरा यह हाथ ढीला पड़ रहा है। मेरा मन इस समय मोह से इतना अधिक ग्रस्त हो गया है कि मुझे इस बात का भी पता नहीं चला कि यह गांडीव केवल ढीला ही नहीं हो गया बल्कि मेरे हाथ से छूट भी गया।" वह गांडीव वज्र से भी बढ़कर कठोर, असह्य और भयंकर था; परन्तु इस स्नेह-जनित मोह की अद्भुत शक्ति उस गांडीव की शक्ति से भी बढ़कर सिद्ध हुई। जिस अर्जुन ने युद्ध में शंकर को भी परास्त किया था और जिसने निवात-कवच नामक असुर को भी नष्ट कर डाला था, उसी अर्जुन को इस मोह ने क्षण-भर में पूर्ण रूप से व्याप्त कर लिया। भ्रमर कड़ी-से-कड़ी लकड़ी को भी सहज में छेद डालता है, परन्तु कोमल कमल की कली में वह फंस जाता है। फिर चाहे उसके प्राण निकलने की ही नौबत क्यों न आ

जाय पर वह उस कमल के दलो को नहीं भेद सकता। ठीक उसी प्रकार स्नेह-वृत्ति की कोमलता में भी कठोरता आ जाती है। संजय ने कहा—"हे राजा धृतराष्ट्र, यह वृत्ति आदिनारायण की माया है, इसलिए स्वयं ब्रह्मा भी इसे अपने वश में नहीं कर सकते। इसीलिए उस वृत्ति ने अर्जुन को भी भ्रम में डाल दिया।" आगे संजय कहते हैं—"हे महाराज, सुनिये, इसके उपरान्त अर्जुन ने वहां अपने गोत्र के सब लोगों को देखकर युद्ध के सम्बन्ध में अपना विचार बिलकुल छोड़ दिया। यह नहीं कहा जा सकता कि उसके मन में दया का वह संचार किस प्रकार हुआ। इसके उपरान्त उसने श्रीकृष्ण से कहा—"अब हम लोगों का यहां ठहरना ठीक नहीं है। मेरा मन बहुत व्याकुल हो गया है। जब मैं इस बात की कल्पना करता हूं कि मैं इन सब लोगों का वध करूं, तो फिर मेरे मुंह से शब्द भी नहीं निकलता।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

यदि मैं कौरवों को मारूं तो धर्मराज युधिष्ठिर आदि को भी क्यों न मारूं ? क्या ये दोनों ही मेरे गोत्रज नहीं हैं ? इसलिए भाड़ में जाय यह युद्ध। मेरी तो समझ में ही नहीं आता कि यह भयंकर पाप किये बिना मेरा कौन-सा काम रुकता है। हे देव, अनेक प्रकार से विचार करने पर मुझे तो यही जान पड़ता है कि यहा युद्ध करना ही अनुचित होगा। बल्कि यदि यह युद्ध न किया जाय, तभी कुछ हितसाधन हो सकता है।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥

इसलिए लाभ की आशा मुझे कुछ भी नहीं करनी चाहिए। यह सब अवस्था देखकर तो मैं सोचता हूं कि राज्य करने से ही क्या लाभ है ! इन सब लोगों की हत्या करके जो सुख भोगने को मिले, उन सब सुखों में आग लगे !" आगे अर्जुन ने कहा—"यदि वे सुख भोगने को न मिलें तो उस अवस्था में चाहे जो कुछ हो, वह सब सहन किया जा सकता है। बल्कि इसके लिए तो यदि प्राण भी देने पड़ें तो वह भी मुझे स्वीकार है। परन्तु यह बात तो मुझे स्वप्न में भी अच्छी न लगेगी कि पहले तो मैं इन सब लोगों की हत्या करूं और तब स्वयं राज्य के सुख भोगूं। यदि मैं अपने मन में इन गुरुजनों का अनिष्ट करने का विचार करूं तो फिर जन्म लेना वृथा है। और फिर उसके बाद यदि मैं जीवित भी रहूं तो किन लोगों के लिए ? प्रत्येक व्यक्ति जो इच्छा करता है कि मेरे आगे सन्तान हो, क्या उसका फल यही है कि हम अपने गोत्र वालों का समूल नाश कर डालें ? भला यह बात मन में लाई ही कैसे जा सकती है कि हम इन लोगों के प्रति वज्र के समान कठोर हों ? उलटे, जहां तक हो सके, हमें इन लोगों का हित ही करते रहना चाहिए। होना तो यह चाहिए कि हम जो कुछ सम्पादन करें, उन सबका सुख यही लोग भोगें। बल्कि इन लोगों के कार्य के लिए तो हमें अपना जीवन भी उत्सर्ग कर देना चाहिए। उचित तो यह है कि हम दसों दिशाओं के राजाओं को जीतकर अपने गोत्र वालों को ही सन्तुष्ट करें। इस समय हमारे वही सब गोत्र वाले यहां एकत्र हैं। परन्तु दैवयोग कुछ ऐसा उलटा आ पड़ा है कि ये लोग स्त्री-बच्चों और धन-सम्पत्ति सबको छोड़कर और अपना जीवन शस्त्रों की नोक पर लटकाकर यहां आपस में लड़-मरने के लिए उद्यत हुए हैं। फिर ऐसे लोगों का मैं कैसे वध करूं ? मैं किन लोगों पर शस्त्र उठाऊं ? अपने ही लोगों के हृदय का मैं कैसे घात करूं ? शायद आपके ध्यान में यह न आया हो कि ये लोग

कौन है, पर जिन्होंने मुझ पर बहुत-से उपकार किये हैं, वही प्रत्यक्ष भीष्म और द्रोण यहां उपस्थित हैं। सब साले, ससुर मामे और ये सब भाई, लड़के, नाती-पोते आदि हमारे अपने और सम्बन्धी ही यहां एकत्र हैं। हे देव, आप दृष्टि डाले तो यहां सब लोग बहुत पास के नाते-रिश्ते के लोग ही उपस्थित हैं। इसलिए इन सब लोगों के सम्बन्ध में मुंह से कुछ अनिष्ट बात निकालना भी मानो अपनी जिह्वा को कलंकित करना है।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

इसकी अपेक्षा तो कहीं अच्छा यह है कि ये लोग जो कुछ चाहें, वही कर लें, अथवा ये मुझको ही मार डाले, पर मैं इन लोगों की हत्या करने का विचार भी अपने मन में न लाऊं। चाहे मुझे त्रिभुवन का अखंड राज्य भी क्यों न मिले, तो भी मैं कभी ऐसा अनुचित कर्म करने के लिए उद्यत नहीं हो सकता। यदि मैं आज यहां यह काम कर डालूंगा तो फिर मेरे लिए किसके मन में आदर रह जायगा ? और हे श्रीकृष्ण, फिर क्या उस समय मैं सिर उठाकर और निर्भय होकर आपके मुख की ओर देख सकूंगा ?

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

यदि मैं अपने ही कुल के लोगों का संहार करूंगा तो मैं पापों का घर बन जाऊंगा, और यहां तक कि आप भी मेरे हाथ से निकल जायंगे और मुझे अपने पास से हटा देंगे। गोत्र-घात के सब पाप आकर मुझसे चिमट जायेंगे। फिर ऐसी अवस्था में भला आप किसे और कहां दिखाई देंगे ? जिस प्रकार वन में खूब तेज आग लगी हुई देखकर कोयल वहां क्षण-भर भी नहीं ठहरती, अथवा कीचड़ से भरा हुआ सरोवर देखकर चकोर उसको स्वीकार नहीं करता, बल्कि उपेक्षापूर्वक उसका परित्याग करके वहां से चलता बनता है, ठीक उसी प्रकार, हे देव, जब आप देखेंगे कि मेरे पुण्य का सरोवर बिलकुल सूख गया, तो फिर आप भी मुझ पर अपनी कृपा की छाया करने नहीं आवेंगे।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

इसलिए मैं यह युद्ध नहीं करूंगा, यहां तक कि इस युद्ध में अपने हाथ में शस्त्र भी धारण नहीं करूंगा, क्योंकि ऐसा करना मुझे अनेक प्रकार से दूषित जान पड़ता है। हे देव, यदि आप ही मुझसे बिछुड़ जायंगे तो फिर मेरे पास रह ही क्या जायगा ? भइया कृष्ण, उस दुःखपूर्ण समय में आपके वियोग के कारण मेरा कलेजा फट जायगा। इसलिए यह बात बिलकुल असम्भव है कि ये कौरव तो मारे जायं और मैं सब सुखों का उपभोग करूं।''

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

अर्जुन ने कहा—''यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए ये लोग मद से अन्धे होकर युद्ध करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं। परन्तु फिर मुझे अपने हित का ध्यान रखना चाहिए। भला मैं यह कैसे कर सकता हूं कि अपने हाथों से ही अपने गोत्र वालों की हत्या करूं ? क्या मैं जान-बूझकर और आंखें खोलकर यह कालकूट विष पी जाऊं ? यदि रास्ते में चलते समय कहीं कोई सिंह सामने आ पड़े तो एक ओर हटकर उसे बचा जाना ही अच्छा है। हे देव, भला आप ही बतलाइये कि बढ़िया प्रकाश छोड़कर अंधेरे कुएं में घुसने में कौन-सा लाभ है। अगर सामने आग दिखाई पड़ती हो तब यदि हम उससे बचकर न निकलें तो वह क्षण-भर में हमें जला डालेगी। इसी प्रकार यह प्रत्यक्ष दोष

मुझ पर आकर पड़ना चाहता है . फिर यह बात जानते हुए भी मैं किस प्रकार इस कृत्य के लिए प्रस्तुत होऊं ?'' ये सब बातें कहकर अर्जुन ने यह भी कहा—''हे देव, आप जरा मेरी बातों की ओर ध्यान दें। अब मैं आपको यह बतलाता हूं कि यह पाप कितना भयंकर है।''

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

''जैसे यदि लकड़ी को लकड़ी पर घिसा जाय तो उससे थोड़ी-सी आग निकलती है, वह बढ़कर सारी लकड़ी को जला डालती है। उसी प्रकार जब एक ही गोत्र में उत्पन्न लोग दुष्टतापूर्वक एक दूसरे का घात करने लगते हैं तब उस भयंकर महापातक के कारण सारे कुल का नाश हो जाता है। इसीलिए इस पाप-कृत्य से सारा कुलधर्म नष्ट हो जायगा और तब कुल में अधर्म-ही-अधर्म रह जायगा।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

''जब ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है, तब भले और बुरे का विचार करना सम्भव ही नहीं रह जाता। सब लोग सभी कुछ करने लग जाते हैं और इसलिए विधि और निषेध सब नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार हाथ का दीपक गंवाकर अंधेरे में इधर-उधर भटकना पड़ता है और सीधी-सादी भूमि पर भी लड़खड़ाकर गिरना पड़ता है, उसी प्रकार जिस समय किसी कुल में कुल-क्षय होता है, उस समय मुख्य सनातन धर्माचार छूट जाता है। फिर ऐसी अवस्था में पाप को छोड़कर दूसरी और कौन-सी बात फूल-फल सकती है ? जिस समय आचार और इन्द्रिय-निग्रह का विनाश होता है, उस समय इन्द्रियां स्वच्छन्दतापूर्वक इधर-उधर दौड़ने लगती हैं जिससे कुलीन स्त्रियां भी भ्रष्ट हो जाती हैं। श्रेष्ठ लोग जाकर निकृष्टों में मिल जाते हैं और उच्च तथा नीच वर्ण आपस में मिलकर एकाकार हो जाते हैं जिससे जाति-धर्म की जड़ ही उखड़ जाती है। ऐसे कुलों में महापातकों का उसी प्रकार संचार होने लगता है, जिस प्रकार चौमुहानी पर रखी हुई बलि पर कौओं के झुंड चारों ओर से आकर एकत्र होते हैं।''

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

''इसके उपरान्त उस कुल को भी और उसका घात करने वाले दोनों को भी नरक में जाकर निवास करना पड़ता है। और फिर यह भी देखिए कि जब इस प्रकार सारा वंश पापों से भ्रष्ट हो जाता है, तब उस कुल के स्वर्गवासी पितरों को भी स्वर्गलोक से नीचे गिरना पड़ता है। क्योंकि जहां नित्य और नैमित्तिक दोनों ही धार्मिक कृत्यों का विनाश हो जाता है, वहां श्राद्ध-कर्म करके किसे किसी को तिलोदक देने की चिन्ता रह सकती है ? ऐसी अवस्था में पितर लोग क्या करें ? वे स्वर्गलोक में कैसे ठहर सकें ? इसलिए वे बेचारे भी अपने कुल के लोगों के पास नरक में पहुंच जाते हैं। जिस प्रकार नाखून के सिरे पर लगा हुआ सर्प का दंश विष के वेग से मस्तक तक जा पहुंचता है, उसी प्रकार इस पाप के दोष से मूल पुरुषों तक सारा कुल ही व्याप्त हो जाता है।''

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥
अहो वत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

"हे देव, इसमें एक और भी महापातक होता है, वह सुनिये। जब इस प्रकार एक कुल पतित हो जाता है, तब उसके दुष्ट संसर्ग से और लोग भी आचार-भ्रष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार हमारे घर में अचानक लगी हुई आग दूसरों के घरों में भी लगकर और उन्हें जलाकर राख कर देती है, उसी प्रकार इस कुल का संसर्ग जिन लोगों के साथ होता है, वे सब लोग भी इस कुल के कारण पातकी हो जाते हैं। इस प्रकार अनेक दोषों से ग्रस्त वह कुल फिर केवल भयंकर नरकवास का ही पात्र होता है।" अर्जुन ने आगे यह भी कहा—"जब इस प्रकार एक बार वह कुल नरक में चला जाता है, तब कल्पान्त तक भी वहां से उसका छुटकारा नहीं होता। बस, कुल का घात करने से इसी प्रकार की अधोगति होती है जिसका कहीं अन्त नहीं होता। हे देव, आपने मेरी ये अनेक प्रकार की बातें सुनीं; पर मैं देखता हूं कि आपकी वृत्ति में अभी तक कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा। क्या आपने अपना हृदय वज्र का कर लिया है ? आप फिर ध्यान देकर सुनें। जिस शरीर के लिए इस राज्य-सुख की इच्छा की जाती है, वह शरीर आदि सभी क्षण-भंगुर हैं। तो फिर इस दोष को जानते हुए भी क्या हमें उसका परित्याग नहीं करना चाहिए ? मैंने जो इन सब बड़े लोगों का विचार अपने मन में रखकर इन लोगों पर दृष्टि डाली है, वही क्या मुझसे कोई छोटा अपराध हुआ है ?"

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

"मैं तो समझता हूं कि अब इसके बाद जीवित रहने की अपेक्षा अधिक उत्तम यही है कि मैं अपने शस्त्र फेंक दूं और इन लोगों के बाणों का प्रहार सहर्ष सहन करूं। यदि ऐसा करने में मेरी मृत्यु भी आ जाय तो वह भी अच्छी है। पर मैं यह महापातक नहीं करना चाहता।"

संजय उवाच—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—"हे राजन्, उस समय युद्ध-भूमि में अर्जुन ने ये बातें कहीं। अब इसके बाद जो कुछ हुआ, वह भी सुनिये। इसके उपरान्त रणभूमि में शोक से उद्विग्न मन वाले अर्जुन को अत्यन्त खेद हुआ और उसकी ऐसी अवस्था हो गई जिसे वह सहन न कर सका। उसी दुःख के आवेश में वह रथ पर से नीचे कूद पड़ा। जिस प्रकार अपने पद से च्युत किया हुआ राजपुत्र सब प्रकार से निस्तेज हो जाता है, अथवा राहु से ग्रस्त होने के कारण सूर्य प्रभाहीन हो जाता है अथवा महासिद्धि के लोभ में पड़ा हुआ तपस्वी भ्रमिष्ट होकर फिर विषय-वासना के जाल में फंस जाता है और दुर्बल हो जाता है, उसी प्रकार रथ से नीचे उतरकर आया हुआ वह अर्जुन मारे दुःख के अत्यन्त जर्जर-सा दिखाई देने लगा। इसके उपरान्त उसने धनुष-बाण रख दिया। उसकी आंखों से निरन्तर जल बहने लगा। हे राजन्, बस इस प्रकार की उसकी अवस्था हो गई।" अर्जुन को दुःख से व्याप्त देखकर वैकुण्ठाधिपति श्रीकृष्ण ने उसे किस प्रकार परमार्थ का ज्ञान कराया, श्रीनिवृत्तिनाथ का दास ज्ञानदेव कहता है कि इसका सविस्तार वर्णन अगले अध्याय में होगा, जो सुनने में बहुत ही अद्भुत होगा।





सांख्ययोग

ञय उवाच—

त तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

रान्त संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—"हे राजन्, सुनिये, उस युद्धभूमि में वह
ने लग गया। अपने कुल के सब लोगों को वहां देखकर अर्जुन के मन मे द
प्रकार जल के योग से नमक गल जाता है अथवा वायु चलने से बादल
का हृदय भी द्रवित हो गया। इसलिए करुणा से व्याप्त शोकयुक्त अर्जुन क
दिखाई पडता था। पांडु-पुत्र अर्जुन को ऐसे विलक्षण भ्रम में फंसा हुआ
कार कहना आरम्भ किया।

भगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

र्जुन, तुम पहले इस बात का विचार करो कि क्या इस युद्ध-भूमि पर तुम्हार
। यह भी सोचो कि तुम कौन हो और क्या कर रहे हो। आज तुम्हें क्या
कमी हो गई है ? अथवा तुम्हारा कोई आरम्भ किया हुआ कार्य विनष्ट
हे हो ? तुम तो कभी ऐसी-वैसी बातों पर ध्यान नहीं देते। तुम कभी धै

तुम्हारे तो नाम का उच्चारण करते ही अपयश भागकर दिगन्त में चला जाता है। तुम शौर्य का भण्डार और क्षत्रियों में अग्रगण्य हो। तुम्हारे पराक्रम की व्याप्ति त्रिभुवन में है। तुमने युद्ध में शंकर को हराया है और निवातकवच का नाम-निशान तक मिटा दिया है। तुमने गन्धर्वों तक को अपने यश का गान करने में प्रवृत्त किया है। तुम्हारे उत्तम कार्यों के विस्तार के विचार से त्रैलोक्य भी छोटा दिखाई पड़ता है। हे अर्जुन, तुम्हारा पराक्रम ऐसा खरा और निर्दोष है। पर तुम वही शुद्ध पराक्रमी आज समरांगण में वीरों की भावना छोड़कर और सिर नीचे करके इस प्रकार बालकों की तरह से रो रहे हो। भाई अर्जुन, तुम्हीं अपने मन में विचार करो कि क्या तुम्हें इस प्रकार ऐसे दव्यूपन के फेर में पड़ना चाहिए। क्या सूर्य कभी अन्धकार से ग्रस्त होता है ? अथवा पवन कभी मेघों से डरता है या अमृत को मरण कभी दबा सकता है या लकड़ी कभी आग को निगल सकती है ? अथवा नमक कभी पानी को गला सकता है अथवा दूसरे विष के स्पर्श से कालकूट विष मर जाता है अथवा महासर्प कभी किसी मेंढक से निगला जाता है ? कभी ऐसी विलक्षण बात भी हुई है कि सिंह के साथ गीदड़ लड़े ? पर आज तुमने वही विलक्षण बात यहां कर दिखलाई है। देखो अर्जुन, कहीं तुम्हारा मन इस दीनता के वश में न हो जाय, इसलिए अब भी तुम अपने मन में धैर्य धारण करो और शीघ्र सावधान हो जाओ। यह मूर्खता छोड़ दो, उठकर खड़े हो और धनुष-बाण अपने हाथों में लो। तुम्हारे मन पर जो करुणा इस समय आकर छाई है, वह इस युद्ध में भला किस काम की है ? अर्जुन, तुम तो सब कुछ जानते-बूझते हो। फिर तुम अच्छी तरह विचार क्यों नहीं करते ? भला तुम्हीं बतलाओ कि जब युद्ध की इस प्रकार तैयारियां हो चुकी हों, तब यह दीनता शोभा देती है ? अब तक तुमने जो कीर्ति प्राप्त की है, उसका इससे नाश हो जायगा और यह परमार्थ को भी बिगाड़ देगी।''

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥३॥

श्रीकृष्ण फिर कहने लगे—''इसलिए तुम शोक न करो और धैर्य धारण करो। भाई अर्जुन, अपना यह दुःख दूर करो। यह बात तुम्हारे लिए उचित नहीं है। आज तक तुमने जो कीर्ति सम्पादित की है, इससे उसका नाश हो जायगा। भइया, अब भी तो तुम अपने हित का विचार करो। इस युद्ध के समय इस दयालुता से काम नहीं चलेगा। क्या ये सब लोग इसी समय तुम्हें अपने सगे-सम्बन्धी मालूम होने लगे हैं ? क्या तुम इन लोगों को पहले से नहीं जानते थे ? क्या तुम अपने गोत्र के इन लोगों को पहले नहीं पहचानते थे ? फिर आज यह व्यर्थ का अकांड तांडव क्यों करने लगे ? क्या आज का यह युद्ध तुम्हारे जीवन में कोई नई बात है ? यह तो तुम लोगों का नित्य का आपस का लड़ाई-झगड़ा है। मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि आज ही क्या हो गया और तुम्हारे मन में दया क्यों उत्पन्न हुई। परन्तु अर्जुन, इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह तुमने बहुत बुरा किया। तुम्हारे इस मोह का यही परिणाम होगा कि आज तक की सम्पादित की हुई सारी प्रतिष्ठा नष्ट हो जायगी और तुम्हारे इस लोक के साथ-साथ परमार्थ भी हाथ से निकल जायगा। सच्चे वीरों को तो रणांगण में हृदय की दुर्बलता के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं रखना चाहिए। इस प्रकार का सम्बन्ध रखना तो रण में क्षत्रिय का अधःपात ही समझना चाहिए।'' ये कृपालु भगवान् इस प्रकार अर्जुन को तरह-तरह से समझाने लगे। अब यह सुनिये कि उनकी ये बातें सुनकर अर्जुन ने क्या कहा।

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

अर्जुन ने कहा—''हे देव, ये सब बातें तो यहां कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। पहले आप ही देखिये और इस संग्राम के स्वरूप का विचार कीजिये। यह केवल युद्ध ही नहीं है, बल्कि शुद्ध पाप है। और यदि मैं युद्ध

करूंगा तो मुझे बहुत बड़ा दोष लगेगा। इसमें मुझे अपने बड़ों की हत्या का महापातक स्पष्ट रूप से करना पड़ेगा। हे देव, आप ही विचार करें कि जब मैं यह नीति जानता हूं कि माता-पिता को पूज्य समझना चाहिए और सब प्रकार से उन्हें सन्तुष्ट रखना चाहिए, तब उन्हीं माता-पिता का वध मैं अपने हाथों से कैसे कर सकता हूं ? हे देव, सन्तों का वन्दन करना चाहिए और हो सके तो उनकी पूजा-अर्चना भी करनी चाहिए। परन्तु यह सब कुछ भी न करके उलटे क्या अपने मुंह से उनकी निन्दा की जाय ? उसी प्रकार ये हमारे गोत्र-गुरु तो हमारे लिए सदा पूज्य हैं। इन भीष्म और द्रोण से मुझे बहुत अधिक लाभ पहुंचा है। जिनके विरुद्ध मैं स्वप्न में भी वैर का भाव धारण नहीं कर सकता, उन्हीं का यहां प्रत्यक्ष वध कैसे किया जाय ? अब आगे जीवित रहने में नाम को भी शोभा नहीं है। आखिर आज इन सब लोगों को हो क्या गया है कि इन्हीं गुरुजनों से हम लोगों ने शस्त्रविद्या सीखी है, उसका अभ्यास आज हम लोग इन्हीं की हत्या करने में किया चाहते हैं। मुझमें जो कुछ गुण हैं, उन सबका श्रेय इन्हीं द्रोणाचार्य को है। इन्हीं ने मुझे धनुर्विद्या सिखाई है। अब क्या उस उपकार का भार अपने सिर पर रखते हुए मैं इन्हीं की हत्या करूं ? जिनकी कृपा के प्रसाद का वर मुझे प्राप्त करना चाहिए, मैं उन्हीं का अनिष्ट सोचूं ? क्या मैं ऐसा ही भस्मासुर हो गया हूं ?"

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

अर्जुन ने फिर कहना आरम्भ किया—"हे देव, सुना जाता है कि समुद्र बहुत गंभीर है। परन्तु उसकी यह गम्भीरता भी देखने भर की ही होती है। परन्तु इन द्रोणाचार्य के मन की गम्भीरता ऐसी विलक्षण है कि उसमें कभी क्षोभ होता ही नहीं। यह आकाश अनन्त अवश्य है, परन्तु फिर भी उसकी नाप हो सकती है। परन्तु इन द्रोणाचार्य के अगाध हृदय का अन्त नहीं जाना जा सकता। किसी समय अमृत का स्वाद भी फीका हो सकता है अथवा काल की गति से वज्र भी कभी टूट सकता है। परन्तु द्रोणाचार्य का मानसिक शान्ति-धर्म कभी विकृत नहीं किया जा सकता। प्रेम-भाव का विचार करते समय माता का नाम मुख्य रूप से सामने आना उचित ही है। परन्तु द्रोणाचार्य तो प्रत्यक्ष और मूर्तिमान् प्रेम ही हैं। करुणा का जन्म ही इन्हीं से हुआ है। ये समस्त सद्गुणों के आगार हैं। इन्हें विद्या का असीम समुद्र ही कहना चाहिए।" इसके बाद अर्जुन ने यह भी कहा—"इन आचार्य का इतना अधिक महत्त्व है और इसके सिवा हम लोगों पर उनकी विशेष कृपा भी है। अब आप ही बतलाइये कि क्या हम लोग कभी इनकी हत्या करने का अपने मन में विचार भी कर सकते हैं ? मेरे तो यदि प्राण भी चले जायं तो भी यह विचार मुझे कभी अच्छा नहीं लग सकता कि पहले तो मैं युद्ध में ऐसे लोगों की हत्या करूं और तब उसके उपरान्त राज्य-सुखों का उपभोग करूं। यदि मैं यह समझूं कि भोगों का महत्त्व इन आचार्यों से भी बढ़कर है, तो यह विचार इतना भयकर है कि मुझसे तो ये सुख-भोग दूर ही रहें। इसकी अपेक्षा यहां भीख मांगकर निर्वाह कर लेना अवश्य ही कहीं अच्छा है। बल्कि देश छोड़कर कहीं चले जाना या पर्वतों की गुफाओं में रहकर वनवास करना भी अच्छा है, परन्तु इनके ऊपर शस्त्र उठाने का दुष्कर्म नहीं होना चाहिए। हे देव, जिन बाणों पर अभी हाल में पानी चढ़ा है, उन बाणों से इन लोगों के हृदयों पर प्रहार करना और तब उनके रक्त में डूबा हुआ भोग प्राप्त करना। भला ऐसे भोग को लेकर कोई क्या करे ! जिस भोग पर ऐसा रक्त लगा हो, वह भोग भला क्या आनन्द देगा ! बस, इसलिए यह विचार मुझे अच्छा नहीं लगता।" अर्जुन ने उस समय ये सब बातें कहकर श्रीकृष्ण से पूछा—"ये सब बातें आपकी समझ में आ गई न ?" परन्तु उसे अपने मन में इस बात का भी विश्वास नहीं होता था कि श्रीकृष्ण ने मेरी ये सब बातें ध्यानपूर्वक सुनी हैं। इस बात का ध्यान होते ही अर्जुन अपने मन में बहुत घबराया और उसने फिर पूछा—"भगवान् श्रीकृष्ण मेरी बातों पर बिलकुल ध्यान ही नहीं देते, इसका कारण क्या है ?"

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

"हे देव, मेरे मन में जो बातें थीं, वे सब मैंने स्पष्ट रूप से विचारपूर्वक कह दीं। अब यदि वास्तविक तत्त्व इससे कुछ भिन्न हो तो उसे आप ही जानें। यहां युद्ध करने के लिए हमारे सामने वही लोग खड़े हैं जिनके सम्बन्ध में हमें यदि कहीं यह सुनाई भी पड़ जाय कि इनके साथ हमारा वैर है, तो हमें वास्तव में उसी समय प्राण त्याग देने चाहिए। ऐसी अवस्था मे मेरी समझ में यही नहीं आता कि अब ऐसे लोगों की हत्या करना अच्छा है या इनसे युद्ध बचा जाना अच्छा है।"

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

"बहुत कुछ विचार करने पर भी यह बात समझ में नहीं आती कि हमारे लिए इनमें कौन-सा काम करना उपयुक्त है और इसका कारण यह है कि मोह ने मेरे मन को ग्रस लिया है। जिस प्रकार अन्धकार से ग्रस्त दृष्टि का तेज नष्ट हो जाता है और तब पास की वस्तु भी नहीं दिखाई पड़ती, हे देव, उसी प्रकार की अवस्था इस समय मेरी भी हुई है। बात यह है कि मेरा मन भ्रम के भंवर में पड़ गया है और अब उसे इस बात का भी पता नहीं चलता कि मेरा हित किस बात में है। इसीलिए हे श्रीकृष्ण, आप ही इन सब बातो को समझें और मुझे बतलावें कि इनमें अच्छी बात कौन-सी है, क्योंकि मेरे सखा और मेरे सर्वस्व आप ही हैं। आप ही मेरे गुरु, बन्धु, पिता, इष्ट देवता और संकट से रक्षा करने वाले हैं। गुरु कभी अपने शिष्य की उपेक्षा नहीं करता। क्या समुद्र ने कभी नदी का त्याग किया है ? अथवा माता यदि अपने लड़के को अपने पास से हटा दे तो वह लड़का कैसे जीवित रह सकता है ? हे श्रीकृष्ण, आप सावधान होकर सुनें। हे देव, इन उदाहरणों की तरह केवल आप ही सब प्रकार से मेरा संगोपन करते हैं। अतः मैंने जो ये बातें अभी कही हैं, वे सब आपको ठीक न जान पड़ती हों तो हे पुरुषोत्तम, आप शीघ्र ही मुझे वह तत्त्व बतलावें जो मेरे लिए उचित हो और जिससे धर्म की मर्यादा का नाश न हो।"

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

"अपने गोत्र के सब लोगो को यहां देखकर मेरे मन में जो शोक उत्पन्न हुआ है, उसे आपके वचनों के सिवा और कोई दूर नहीं कर सकता। अब चाहे मुझे सारी पृथ्वी का स्वामित्व ही क्यों न मिल जाय अथवा प्रत्यक्ष स्वर्ग का इन्द्र-पद ही क्यों न प्राप्त हो जाय, परन्तु फिर भी मेरे मन का दुःख कम नहीं हो सकता। जिस प्रकार भुने हुए बीज खूब उपजाऊ जमीन में भी बोये जायं और उन्हें यथेष्ट जल से सींचा जाय, परन्तु फिर भी उनमें अंकुर नहीं लग सकते, अथवा जिस प्रकार आयुष्य का अन्त हो जाने पर किसी औषध का कोई उपयोग नहीं हो सकता और केवल अमृत-वल्ली ही अपना गुण दिखला सकती है, उसी प्रकार राज्य-भोग की समृद्धि से मेरी बुद्धि का फिर से संजीवन नहीं हो सकता। हे कृपासागर, उसे फिर से जीवित करने के लिए केवल आपकी करुणा की ही आवश्यकता है।" क्षण-भर के लिए भ्रान्ति के जाल से छूटे हुए अर्जुन ने एक बार ये बातें कह तो डालीं, परन्तु फिर तुरन्त ही उसे पहले वाली लहर ने आकर दबा लिया। बल्कि थोड़ा विचार करने पर तो मुझे ऐसा जान पड़ता है कि यह केवल भ्रान्ति की लहर नहीं थी, बल्कि उससे अलग कुछ और ही बात थी। वह प्रत्यक्ष महामोह रूपी काल-सर्प से ही ग्रस्त हो गया था। और उसका अत्यन्त कोमल हृदय-कमल जिस समय करुण रस से ओतप्रोत भरा हुआ था, उसी समय उस काल-सर्प का यह दंश लगा था जिसके कारण इस विष की लहरें रुकती ही न थीं। उसकी यह अवस्था देखकर वे श्रीकृष्ण रूपी गारुड़ी, जो केवल दृष्टिपात करके ही यह विष उतार सकते थे, तुरन्त

उसकी रक्षा के लिए दौड़े हुए आ पहुचे जो अर्जुन इस प्रकार व्याकुल हो गया था, उसके पास ही श्रीकृष्ण सुशोभित थे ओर वे अपनी कृपा के योग से सहज में ही उसकी रक्षा करेंगे। बस, इन्हीं सब बातों का ध्यान रखकर मैंने यह कहा है कि वह अर्जुन महामोह रूपी काल-सर्प से ग्रस्त हो गया था। फिर उस समय वह अर्जुन उसी प्रकार भ्रम से ग्रस्त हुआ था, जिस प्रकार मेघों के आ जाने से सूर्य ढंक जाता है। अथवा अर्जुन दुःख से उसी प्रकार जर्जर हो गया था, जिस प्रकार गरमी के दिनों में कोई पर्वत आग लगने से बिलकुल झुलस जाता है। इसीलिए उसे शान्त करने के उद्देश्य से वे श्री गोपालकृष्ण-रूपी मेघ, जो सहज ही श्याम हैं और कृपा-रूपी अमृत से भरे हुए हैं उसकी ओर बढ़े। इस मेघ में दांतों की जो प्रभा सुशोभित थी, वही मानो उस मेघ की चमकने वाली बिजली थी और उनकी गम्भीर वाणी ही उस मेघ की गर्जना के समान जान पड़ती थी। अब उस करुणा के मेघ ने किस प्रकार उदारतापूर्वक अपनी करुणा की वर्षा की और उस वर्षा से अर्जुन-रूपी दग्ध पर्वत किस प्रकार शान्त हुआ और उसमें किस प्रकार ज्ञान का अंकुर फिर से उत्पन्न हुआ, इसकी कथा आप लोग स्वस्थ-चित्त होकर सुनें, यही श्रीनिवृत्तिनाथ का दास यह ज्ञानदेव कहता है।

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

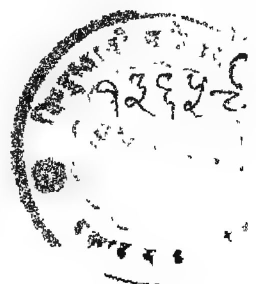
संजय ने धृतराष्ट्र से कहा कि वह अर्जुन फिर शोक से विह्वल होकर कहने लगा—"हे श्रीकृष्ण, आप फिर एक बार मेरी बातें सुनें। आप मुझे फिर समझाने-बुझाने के फेर में न पड़ें, क्योंकि मैं निस्सन्देह होकर कहता हूं कि चाहे कुछ भी हो जाय, परन्तु मैं युद्ध नहीं करूंगा।" इतनी बात वह एक बार जल्दी से कह गया और तब फिर बिलकुल चुप हो गया। उसकी अवस्था देखकर श्रीकृष्ण आश्चर्य से चकित हो गये।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

भगवान् अपने मन में कहने लगे—"इस पागल अर्जुन ने इस समय यह क्या बखेड़ा कर दिया है ! इसे इस समय कुछ भी समझ में नहीं आता कि क्या करना चाहिए। अब इसे किस प्रकार समझाया जाय ? इसका जो धैर्य छूट गया है, वह यह फिर किस प्रकार धारण करेगा ?" श्रीकृष्ण ने अपने मन में ये बातें ठीक उसी प्रकार कहीं, जिस प्रकार कोई पंचाक्षरी मान्त्रिक पीड़ित करने वाले भूत को दूर करने के विषय में अपने मन में कहता है। अथवा जिस प्रकार रोग को असाध्य समझकर किसी बहुत ही विकट अवसर पर कोई वैद्य चटपट अमृत समान किसी अलौकिक गुणकारी औषध की योजना करता है, ठीक उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच में खड़े होकर मन-ही-मन यह विचार किया कि इस अवसर पर क्या करना चाहिए; और तब वे यह सोचने लगे कि ऐसी कौन-सी योजना की जाय जिससे अर्जुन का यह मोह दूर हो। यह सोचकर श्रीकृष्ण ने कुछ क्रोधपूर्वक कहना आरम्भ किया। जिस प्रकार माता के क्रोध में भी वात्सल्य छिपा रहता है अर्थात् जिस प्रकार औषध के कड़ुएपन में अमृत छिपा रहता है—क्योंकि वह अमृत ऊपर से तो दिखाई नहीं पड़ता, परन्तु अन्त में उसका अनुभव होता है—उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने भी ऐसी बातें कहना आरम्भ किया जो ऊपर से देखने में तो कुछ अपमान करने वाली जान पड़ती थीं, परन्तु अन्दर से अत्यन्त मधुर रस से भरी हुई थीं।

श्री भगवानुवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥



फिर उन्होंने अर्जुन से कहा–"आज जो तुमने बीच में ही यह झगड़ा खडा कर दिया है, उससे सचमुच मुझे आश्चर्य ही हो रहा है। तुम यह तो कहते हो कि मैं अपने को जानता हूं, परन्तु फिर भी तुम अज्ञान को नहीं छोड़ते। और जब मै तुम्हें कुछ सिखाने या बतलाने लगता हूं, तब तुम नीति की बड़ी-बडी बातें कहने लगते हो। जैसे कोई जन्म से ही अन्धा हो और फिर तिस पर से पागल हो जाय और इधर-उधर बहकने लगे, बस ठीक उसी तरह तुम्हारी बुद्धि भी मुझे इधर-उधर बहकती हुई दिखाई देती है। मुझे रह-रहकर यही आश्चर्य होता है कि तुम्हें स्वयं अपने आपका तो कुछ ज्ञान होता ही नहीं और तुम कौरवों के सम्बन्ध में शोक करना चाहते हो। पर भइया अर्जुन, पहले तुम मुझे यह बतलाओ कि यदि यह त्रिभुवन तुम्हारे ही कारण स्थिर-स्थावर हो तो लोग जो यह कहते है कि विश्व की रचना अनादि है, वह क्या बिलकुल झूठ ही है ? संसार में सब लोग जो यह कहते हैं कि यहा कोई एक सर्व-समर्थ है और उसी से इन सब भूतों की उत्पत्ति होती है, सो क्या सब व्यर्थ ही कहते हैं ? क्या आज यह अवस्था हो गई है कि यह विश्व तभी जन्म धारण कर सकता है, जब तुम इसे उत्पन्न करो और यदि तुम इसका नाश करोगे, तभी इसका नाश होगा ? भाई, अब जरा तुम इस बात पर विचार करो। तुम भ्रम के कारण अहंकारी हो गये हो और इसीलिए इन लोगों का घात करना तुम्हें अच्छा नहीं लगता। परन्तु तुम मुझे एक बात का उत्तर दो। यदि तुम इन लोगो का घात नहीं करोगे, तभी ये लोग चिरंजीव होंगे ? अथवा क्या तुमने अपने मन में यह भ्रामक कल्पना कर ली है कि एक अकेले तुम्हीं मारने वाले हो और सब लोग मरने वाले है ? यह विश्व तो अनादि-सिद्ध है। यह सृष्टि के नियम से ही उत्पन्न होता है और उन्हीं नियमों से इसका लय होता है। फिर तुम मुझे यह बतलाओ कि तुम इसके लिए शोक क्यों करते हो। परन्तु मूर्खता के कारण स्वयं तुम्हारी समझ में भी कोई बात नहीं आती, तुम व्यर्थ की चिन्ता करने लगते हो और उलटे मुझको ही नीति का पाठ पढ़ाते हो। हे अर्जुन, तुम इस बात का ध्यान रखो कि जो लोग सचमुच विवेकशील होते हैं, वे समझ लेते हैं कि जन्म लेना और मरना केवल भ्रान्ति ही है; और इसीलिए वे इन दोनों में से एक का भी शोक नहीं करते।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

हे अर्जुन, जो कुछ मैं कहता हूं, वह अच्छी तरह सुनो। यदि हम यह कल्पना कर लें कि तुम, मैं और यहां जो सब राजा आदि उपस्थित हैं, वे सब इस समय जैसे हैं, वैसे ही सदा रहेंगे, अथवा हम यह कल्पना कर लें कि हम सब लोग निश्चय ही नष्ट हो जायंगे, तो ये दोनों ही कल्पनाएं भ्रमपूर्ण हैं, और यदि इस प्रकार के विचार छोड़ दिये जायं तो फिर जीवित रहना और नष्ट होना ये दोनों ही बातें मिथ्या ठहरती हैं। यह जो भावना होती है कि ये लोग उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, वह केवल माया के कारण होती है। और नहीं तो वास्तविक दृष्टि से देखने पर यही पता चलता है कि जो मूलभूत वस्तु है वह अविनश्वर है। देखो, जब हवा चलने के कारण पानी हिलने लगता है और उसमें तरंगें उठने लगती हैं तब वहां वास्तव में कौन उत्पन्न होता है, और जब वही हवा मन्द हो जाती है और वह जल फिर शान्त और समतल हो जाता है, तब वहां किसका नाश होता है ? बस उन्हीं बातों का विचार तुम इस समय करो।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

हां, और एक बात सुनो। शरीर तो सदा एक ही रहता है, परन्तु भिन्न-भिन्न वय या अवस्था के कारण उसमें अनेक भेद उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रत्यक्ष उदाहरण को तुम अपने ध्यान में रखो। पहले इस शरीर में बाल्यावस्था दिखाई पड़ती है फिर जब युवावस्था आती है, तब वह बाल्यावस्था नष्ट हो जाती है। परन्तु न तो बाल्यावस्था के

विनाश के साथ ही शरीर का विनाश होता है और न युवावस्था का अन्त होने पर ही शरीर का अन्त हो जाता है, ठीक इसी प्रकार चैतन्य वस्तु में भी शरीरान्तर या शरीरों का परिवर्तन होता है और इसीलिए एक देह का नाश होता है और दूसरे देह की प्राप्ति होती है। और जो आदमी यह तत्त्व समझ लेता है, न तो उसे मोह ही होता है और न दुःख ही।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

अब यदि यह पूछो कि यह तत्त्व समझ में क्यों नहीं आता, तो इसका कारण यह है कि मनुष्य इन्द्रियों के अधीन होता है; और जब अन्तःकरण इन्द्रियों के फेर में पड़ जाता है, तब मनुष्य भ्रम का आखेट हो जाता है। इन्द्रियां विषयों का सेवन करती हैं और इसी से हर्ष और शोक आदि विकार उत्पन्न होते हैं और तब अन्तःकरण पर उनकी छाप बैठती है। इसीलिए ये विषय कभी निश्चित या एक-से नहीं रहते। वे कभी दुःखमय जान पड़ते हैं, तो कभी सुखमय। यह देखो कि निन्दा और स्तुति दोनों ही शब्द-स्वरूप हैं। परन्तु जब कान इनका सेवन करते हैं, तब एक से द्वेष और दूसरी से समाधान, इस प्रकार दो भिन्न विकार उत्पन्न होते हैं। कोमल और कठोर ये दोनों कल्पनाएं वास्तव में स्पर्श-रूप ही हैं। परन्तु जब त्वचा के द्वारा उनका ज्ञान होता है, तब वे सुख और दुःख उत्पन्न करने का कारण होती हैं। रूप चाहे भयंकर हो और चाहे सुन्दर हो, पर होते हैं दोनों रूप ही। पर जब नेत्रों के द्वारा उनका अनुभव किया जाता है, तब दुःखमय किंवा सुखमय संवेदन का अनुभव होता है। सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों का मूल रूप गन्ध ही है, परन्तु नाक से संसर्ग होने पर ये सुख और दुःख उत्पन्न करती हैं। इसी प्रकार जब रस के विषय का भी रसनेन्द्रिय संसर्ग होता है, तब उसके दो भेद होते हैं, जो रुचि और अरुचि के कारण होते हैं। और विषयों का सेवन करने से ही मूल स्वरूप से भ्रष्ट होने की नौबत आती है। अर्जुन, देखो जब हम इन्द्रियों के वश में होते हैं और शीत तथा उष्णता आदि का अनुभव करते हैं, तब मानो हम स्वयं ही सुख-दुःख के झमेले में फंसते हैं। इन इन्द्रियों का यह स्वाभाविक धर्म ही है कि उन्हें इन विषयों के अतिरिक्त और कोई चीज अच्छी ही नहीं लगती। यदि तुम यह पूछो कि ये विषय कैसे होते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि ये विषय मृग-जल के समान अथवा स्वप्न में दिखाई पड़ने वाले हाथी के समान अनित्य हैं। इसीलिए, हे धनुर्धर पार्थ, तुम इन विषयों को दूर हटा दो और तिल भर भी इनका संग मत करो।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

जिस पर इन विषयों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उन्हें सुख-दुःख छूते भी नहीं और न उसे गर्भवास के ही कष्ट भोगने पड़ते हैं। हे अर्जुन, जिस धीर पुरुष को इन इन्द्रिय और विषयों के संयोग व्याकुल नहीं करते, वह मोक्ष के योग्य होता है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

हे अर्जुन, अब मैं तुम्हें एक और ऐसी बात बतलाता हूं जिसका अनुभव विचारी लोगों को स्पष्ट रूप से होता है। इस मायामय विश्व में एक सर्वान्तर्यामी गूढ़ तत्त्व है जो चैतन्य है, और और सभी तत्त्ववेत्ता सज्जन यह मानते हैं कि वह चैतन्य सद्वस्तु है। दूध में पानी पूरी तरह से मिल जाता है। परन्तु जिस प्रकार राजहंस पानी से दूध को अलग कर लेता है, अथवा जिस प्रकार होशियार कारीगर सोने को आग में तपाकर उसका निष्कृट अंश जला डालते हैं और उसमें से खरा सोना निकाल लेते हैं, अथवा जिस प्रकार ज्ञान की शक्ति से दूध को मथने पर अन्त

म मक्खन दिखाई देने लगता है, अथवा जिस प्रकार एक में मिले हुए अनाज और भूसे को बरसाने से अनाज त दब रहता है और जो कुछ उसमें से उड़कर निकल जाता है, वह निरर्थक अंश रहता है, उसी प्रकार विचा करते-करते प्रपंच का नाश हो जाता है और वह आपसे आप नहीं रह जाता; और तब ज्ञानवान् के लिए तत्त्व क छोड़कर और कुछ भी नहीं बच रहता। और इसीलिए वह अनित्य वस्तुओं के सम्बन्ध में कभी आस्तिक बुद्धि नहं रखता, क्योंकि वह इस प्रकार का दोहरा निर्णय कर चुका होता है कि जो कुछ 'नित्य' है; वही 'सत्' है, और ज कुछ 'अनित्य' है, वही 'असत्' है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

और फिर यह भी देखो कि जब मनुष्य सारासार का विचार करने लगता है, तब यह निश्चय होता है कि जो कुछ 'अस्थिर' है, वही 'असार' है जो कुछ 'सार' है, वह स्वभावतः 'नित्य' होता है। जिससे इन तीनों लोकों के दृश्य आकार का विस्तार हुआ है, उसका नाम, रंग, रूप या इस प्रकार का और कोई एक लक्षण नहीं है। वह सदा सर्वव्यापी और जन्म-मरण से रहित रहता है। इस अविनाशी का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

और ये सब शरीर स्वभावतः नाशवान् हैं, इसलिए हे पांडुपुत्र पार्थ, तुम निःशंक होकर युद्ध करो। तुम केवल इस शरीर का अभिमान करके और इस शरीर पर ही दृष्टि रखकर यह कहते हो कि मैं मारने वाला हूँ और ये लोग मरने वाले हैं। परन्तु हे भरतवंशी अर्जुन, अभी तक यह बात तुम्हारी समझ में नहीं आई कि यदि सत्यासत्य का विचार किया जाय तो न तो तुम लोगों को मारने वाले ही हो और न ये लोग मारे जाने वाले ही हैं।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

जो कुछ स्वप्न में देखा जाता है, वह केवल स्वप्न में ही सच्चा और ठीक माना जाता है। पर जब आदमी जागकर देखता है, तब स्वप्न में देखी हुई चीजों का कहीं नाम-निशान भी नहीं रह जाता। इसी प्रकार तुम इस माया को भी समझो। और इसलिए तुम केवल भ्रम में पड़े हो। जिस प्रकार किसी की परछांई पर चलाया हुआ अस्त्र उसके मूल अंग पर प्रहार नहीं करता, अथवा जिस प्रकार पानी से भरे हुए घड़े के उलट जाने पर उसके साथ-ही-साथ पानी में पड़ने वाला प्रतिबिम्ब भी नष्ट हो जाता है, पर उस प्रतिबिम्ब के साथ-साथ मूल सूर्य का नाश नहीं हो जाता, अथवा जिस प्रकार झोंपड़ी के अन्दर का आकाश झोंपड़ी के आकार का ही होता है, परन्तु यदि वह झोंपड़ी गिरा दी जाय, तो भी आकाश का मूल स्वरूप ज्यों-का-त्यों और अविकृत रहता है, ठीक उसी प्रकार शरीर का नाश हो जाने पर भी स्वरूप का नाश नहीं होता। इसलिए भाई अर्जुन, तुम इस नाश की मिथ्या कल्पना का आरोप मूल स्वरूप पर मत करो।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

जिस प्रकार लोग पुराने वस्त्र उतारकर दूसर नये वस्त्र पहनते हैं, उसी प्रकार यह चैतन्याधिपति जीवात्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

यह आत्मा अनादि, निरन्तर, स्वतःसिद्ध, उपाधिहीन और अत्यन्त निर्दोष है, इसीलिए शस्त्रों आदि से इसका छेद नहीं हो सकता। कल्पान्त वाले जल-प्लावन से भी यह भीग नहीं सकता और आग से भी यह जलाया नहीं जा सकता। पवन की शोषक-शक्ति का प्रभाव भी इस पर नहीं पड़ता। हे अर्जुन, यह आत्मा अविनाशी, विकारहीन, शाश्वत और सर्वव्यापी है और इसलिए यह स्वयं ही परिपूर्ण रहता है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

यह तार्किक की दृष्टि को बिलकुल दिखाई नहीं देता, पर ध्यान और धारणा आदि करने वाले योगियों को सदा इसी के दर्शनों की उत्कंठा बनी रहती है। यह मन और दूसरे समस्त साधनों की पहुंच के बाहर है। हे अर्जुन, यह आत्मा केवल असीम पुराण-पुरुष ही है। यह तीनों ही गुणों से निर्लिप्त या अलग और आकार तथा रूप आदि की सीमा के बाहर है। यह अव्यक्त, अचिन्त्य और विकाररहित है। भाई अर्जुन, इस आत्मा को इसी प्रकार समझना चाहिए और यह अनुभव करना चाहिए कि यह सबके अन्तर्गत है। बस फिर तुम्हारे शोक के लिए सहज में ही तिल-भर भी स्थान न रह जायगा।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्य से मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

अथवा यदि तुम इस आत्मा को इस प्रकार न समझकर इसे नाशवान् ही मानते हो, तो भी, भाई, पार्थ, तुम्हारे लिए शोक करने का कोई कारण नहीं है। और इसका हेतु यह है कि उत्पत्ति, स्थिति और नाश का प्रवाह अस्खलित, अखंड और शाश्वत रूप से चलता रहता है। जैसे गंगा में पानी का स्रोत बराबर प्रवाहित होता रहता है, अपने उद्‌गम स्थान में वह अखंडित रहता है और अन्त में समुद्र में जाकर सम-रस हो जाता है और इस प्रकार वह पानी यद्यपि निरंतर बहता रहता है, परन्तु फिर भी जिस प्रकार बीच-बीच में सब जगह उसका अस्तित्व दिखाई देता है, उसी प्रकार यह समझ रखना चाहिए कि उत्पत्ति, स्थिति और लय ये तीनों अवस्थाएं सदा एक-दूसरी से मिली रहती हैं। काल या समय का कोई ऐसा अंश नहीं है जिसमें ये तीनों अवस्थाएं भूत मात्र के साथ लगी न रहती हों। इसीलिए इन सब बातों के विषय में तुम्हारे दुःख करने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि यह स्थिति स्वभावतः ऐसी ही अनादि है। अथवा हे अर्जुन, यदि यह बात तुम्हें ठीक न जान पड़ती हो कि सब लोग बराबर उत्पन्न होते और मरते रहते हैं, तो भी तुम्हारे लिए इस विषय में दुःख करने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि यह उत्पत्ति और लय दोनों अपरिहार्य हैं—इन्हें कभी कोई रोक नहीं सकता।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

जो उत्पन्न होता है, उसका नाश भी होता है और जो नष्ट होता है, वह फिर से उत्पन्न भी होता है; और यह चक्र पानी के रहट की तरह बराबर चलता रहता है। अथवा जिस प्रकार सूर्य का उदय और अस्त बराबर आपसे

आप बना ही रहता है और उसमें कभी बाधा या अन्तर नहीं पड़ सकता, उसी प्रकार यह जन्म और मरण भी अनिवार्य है। जब महाप्रलय का समय आता है, तब यह त्रैलोक्य ही नष्ट हो जाता है; पर फिर भी उससे यह आदि और अन्त टल नहीं सकता। यदि यह बात तुम्हारे मन में ठीक जंचती हो, तब फिर तुम यह दुःख क्यों करते हो भाई धनुर्धर पार्थ, तुम जान-बूझकर अज्ञान में क्यों पड़ते हो ? इसके सिवा, हे अर्जुन, यदि तुम इस बात पर और भी अनेक रूपों से विचार करोगे तो तुम्हारी समझ में यह बात आ जायगी कि इसमें दुःख करने की कोई बात ही नहीं है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

जो ये सब भूत जन्म से पहले अप्रकट थे और जन्म के उपरान्त जिन्होंने आकार धारण किया, वही भूत मरने के बाद अप्रकट हो जाने वाले हैं, केवल बीच में प्रकट हैं, फिर ऐसी स्थिति में क्या शोक करना है ? होता केवल यही है कि ये सब भूत फिर अपनी पूर्व वाली स्थिति में पहुंच जाते हैं। परन्तु जन्म और लय के मध्य में जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह सोये हुए आदमी के स्वप्न की भांति माया के प्रभाव से सत्स्वरूप आत्म-तत्त्व में भासित होने वाला आकार ही है। अथवा जिस प्रकार हवा के चलने से जल, तरंगों के रूप में दिखाई देता है अथवा दूसरे लोगों की इच्छा से जिस प्रकार सोना अलंकारों का रूप धारण करता है, उसी प्रकार शरीरधारी भूत मात्र ने माया के बल से आकार प्राप्त किया है और यही बात तुम अच्छी तरह समझ लो। आकाश में छाये हुए बादल जिस प्रकार वास्तव में कुछ भी नहीं होते, उसी प्रकार जब ये जन्म और लय के झगड़े वास्तव में हो ही नहीं सकते, तब फिर उनके लिए तुम्हारा यह रोना-कलपना क्यों हो रहा है ? तुम यह बात निश्चित रूप से समझ लो कि यह एक-रूप चैतन्य कभी नष्ट नहीं होता है और सदा अविकृत रहता है। जब इस चैतन्य तत्त्व की बात मन में जम जाती है तब विषय-वासनाएं सन्तों को छोड़कर चली जाती हैं। इसी चैतन्य के लिए विरक्त लोग वनवास तक स्वीकार करते हैं; और इसी पर दृष्टि जमाकर बड़े-बड़े मुनि ब्रह्मचर्य आदि व्रत और तप करते हैं।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

कितने ही लोग इस केवल तत्त्व को स्तब्ध अन्तःकरण से देखते-देखते संसार का सारा विस्तार ही भूल गये। और भी कितने ही लोग अपनी वाचा से इस चैतन्य तत्त्व के गुणों का वर्णन करते करते निमग्न हो गये और उन्होंने पूर्ण तथा शाश्वत तल्लीनता प्राप्त कर ली। बहुत-से लोगों का समाधान इस चैतन्य के विषय में श्रवण करने से ही हो गया और उनकी देह बुद्धि का नाश हो गया। और कुछ लोग स्वयं अपने अनुभव से इस तत्त्व को जानकर इसके साथ सम-रस हो गये। जिस प्रकार समस्त नदियों का प्रवाह जाकर समुद्र में मिलता है, और यद्यपि वह समुद्र में मिलकर समा नहीं जाता, परन्तु फिर भी वह प्रवाह कभी लौटकर पीछे नहीं जाता, उसी प्रकार श्रेष्ठ योगियों की बुद्धि चैतन्य में मिलते ही उसके साथ सम-रस हो जाती है। परन्तु यदि उस चैतन्य का साक्षात्कार होने पर भी वे उसमें सम-रस नहीं होते तो भी वे इस चैतन्य तत्त्व से कभी पराङ्मुख नहीं होते।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

तुम यह बात समझ लो कि जो सभी स्थानों पर और सभी शरीरों में रहता है और मन में जिसके घात का विचार करने पर भी जिसका घात नहीं हो सकता, वह एक-रूप चैतन्य ही इस विश्व की आत्मा है। इसी के स्वाभाविक धर्म से ये भूत मात्र उत्पन्न होते हैं और फिर लय को प्राप्त होते हैं। तो फिर ऐसी अवस्था में तुम किस

बात के लिए शोक करते हो ? हे अर्जुन, ये सब बातें तो बिना कहे ही तुम्हें ठीक जंचनी चाहिए। फिर मेरी समझ में नहीं आता कि इन सब बातों का ज्ञान तुम्हें क्यों नहीं होता। परन्तु तुम्हारा यह शोक करना अनेक प्रकार से दोषमय है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

तुम अब भी अच्छी तरह विचार क्यों नहीं करते ? तुम क्या सोच रहे हो ? जिस स्वधर्म से तुम्हारा तारण होने को है, तुम उसी स्वधर्म को भूल गये। यदि यहां इन कौरवों का अथवा तुम्हारा ही कुछ अनिष्ट हो जाय अथवा यहां स्वयं कल्पान्त ही क्यों न हो जाय, परन्तु फिर भी हमारा जो स्वधर्म है, उसका त्याग करना किसी प्रकार उचित नहीं है। यदि तुम स्वधर्म का त्याग कर दोगे तो क्या तुम्हारी इस समय की कृपालुता तुम्हें तार देगी ? हे अर्जुन, यदि तुम्हारा अन्तःकरण इस समय दया से द्रवित हो गया हो तो ऐसा होना ही इस युद्ध के अवसर पर नितान्त अनुचित है। गौ का दूध बहुत अच्छा होता है। पर फिर भी यह नहीं कहा गया है कि जिसे ज्वर आता हो, उसे दूध का पथ्य दो। यदि वह नये ज्वर के किसी रोगी को दिया जाय तो वह विष ही हो जाता है। इसी प्रकार यदि प्रसंग का ध्यान न रखकर जब जो जी में आवे, तब वह कर डाला जाय तो उससे कल्याण का नाश ही होता है। इसलिए, हे अर्जुन, अब तुम होश में आओ। तुम व्यर्थ क्यों दुःख करते हो और क्यों कष्ट उठाते हो ? जिस स्वधर्म के अनुसार आचरण करने पर त्रिकाल में भी कोई दोष नहीं होता, उसी स्वधर्म को तुम देखो। जिस प्रकार बनाए हुए रास्ते पर चलने से कभी कोई अपाय नहीं होता अथवा जिस प्रकार दीप के प्रकाश के सहारे चलने में कभी कहीं लड़खड़ाना नहीं पड़ता, उसी प्रकार हे अर्जुन, स्वधर्म के अनुसार आचरण करने से समस्त कामनाएं सहज में सिद्ध होती हैं। इसलिए तुम यह बात समझ लो कि तुम क्षत्रियों के लिए संग्राम छोड़कर और कुछ करना कभी उचित नहीं हो सकता। तुम निःशंक होकर और खूब अच्छी तरह जमकर लड़ो। बहुत बातें हो चुकीं, जो बात बिलकुल स्पष्ट दिखाई पड़ती हो, उसका व्यर्थ बहुत-सा विस्तार क्यों किया जाय ?

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

हे अर्जुन, तुम यह समझ रखो कि इस समय जो युद्ध तुम्हारे सामने उपस्थित है, उससे मानो तुम्हारे सौभाग्य या सब प्रकार के धर्माचारों का भंडार ही खुल गया है। इसे तो 'संग्राम' कहना ही ठीक नहीं है। संग्राम के रूप में तो तुम्हें यह प्रत्यक्ष स्वर्ग ही प्राप्त हुआ है। अथवा इसे मूर्तिमन्त प्रताप का उदय ही कहना चाहिए। अथवा तुम्हारे गुणों का आदर करने के कारण और तुम्हारे प्रेम से भरकर स्वयंवर की विधि के अनुसार तुम्हारा वरण करने के लिए मूर्तिमती कीर्ति ही यहां आकर खड़ी है। जब क्षत्रिय लोग विपुल पुण्यों का संग्रह करते हैं, तब कहीं जाकर उन्हें इस प्रकार के संग्राम का अवसर मिलता है। जिस प्रकार रास्ते में चलते समय कोई सहज में ठोकर खाकर चिन्तामणि पर गिर पड़ता है अथवा जंभाई लेने के लिए मुंह खोलने पर उसमें अकस्मात् आपसे आप आकर अमृत पड़ जाता है, ठीक उसी प्रकार आज तुम्हारे लिए यह युद्ध का प्रसंग उपस्थित हुआ है।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अब ऐसे संग्राम को छोड़ देना और व्यर्थ की बात के लिए रोना मानो स्वयं ही अपना घात करना है। यदि आज इस युद्ध में तुम शस्त्र रख दोगे तो तुम अपना वह यश खो बैठोगे जो तुम्हारे पूर्वजों ने सम्पादित किया था और अब जो तुम्हारे हिस्से पड़ा है। सम्पादित की हुई कीर्ति नष्ट हो जायगी, संसार तुम्हें दुर्वचन कहेगा और शाप

देगा, और महापातक तुम्हें ग्रस्त करेंगे। जैसे बिना पति की स्त्री सब प्रकार से अपमानित होती है, उसी प्रकार स्वधर्म का आचरण न करने पर जीवित अवस्था में ही तुम्हारी भी दशा होगी। जिस प्रकार जंगल में फेंके हुए शव को चारों ओर से गीदड़ आकर नोचने और खाने लगते हैं, उसी प्रकार स्वधर्म का पालन न करने वाले मनुष्य को चारों ओर से महापातक आकर घेर लेते हैं और उसे नोच डालते हैं।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

इसीलिए मैं कहता हूं कि यदि तुम स्वधर्म छोड़ दोगे तो पापों में फंस जाओगे और तुम्हारी अपकीर्ति कल्पान्त तक भी नष्ट न हो सकेगी। जानकारों या ज्ञानियों को तभी तक जीवित रहना चाहिए, जब तक उन्हें अपयश का कलंक न लगे। और फिर भला यह तो बतलाओ कि तुम यहां से निकलकर जा ही कैसे सकते हो ? तुम तो सब प्रकार के वैर छोड़कर और अत्यन्त कृपालु अन्तःकरण से यहां से निकलकर पीछे हट जाओगे। परन्तु तुम्हारे मन की इस स्थिति का इन सब लोगों को कैसे पता चलेगा ? ये लोग चारों ओर से तुम्हें घेर लेंगे, तुम पर बाणों की वर्षा करने लगेंगे और उस दशा में तुम्हारी यह कृपालुता किसी तरह तुम्हें बचा नहीं सकेगी। और फिर यदि इतने पर भी अनेक प्रकार के संकट सहकर तुम किसी तरह यहां से निकल जाओगे, तो फिर उसके बाद तुम्हारा जीवित रहना भी मर जाने से कहीं बढ़कर दुष्कर होगा।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

इसके सिवा, हे अर्जुन, एक और बात पर भी तुमने विचार नहीं किया। तुम यहां बड़ी शान से लड़ने के लिए आये हो। अब यदि तुम यहां से कोमल हृदय से वापस चले जाओगे, तो ये महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से हटा हुआ मानेंगे।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

ये सब लोग तो यही कहेंगे कि अर्जुन हम लोगों से डरकर भाग गया। अब बतलाओ कि लोगों का इस तरह की बातें कहना कुछ अच्छा होगा ? यदि तुम कहो कि हां, यह भी अच्छी ही बात होगी, तो फिर भाई पार्थ, सब लोग जो इतना परिश्रम और प्रयत्न करके और अपने प्राण तक गंवाकर अपनी कीर्ति बढ़ाते हैं, वह क्यों ? वही कीर्ति बिना कोई परिश्रम या प्रयत्न किये सहज में ही तुम्हें मिली है। जिस प्रकार यह आकाश अपने विस्तार के कारण निरुपम है, उसी प्रकार तुम्हारी कीर्ति भी असीम और उपमा-रहित है। तीनों लोकों में तुम्हारे गुण श्रेष्ठ हैं। दूर-दूर के राजा भी तुम्हारी कीर्ति का वर्णन भाटों की तरह करते हैं और वह वर्णन सुनकर यम आदि भी डर जाते हैं। गंगा के प्रवाह की तरह तुम्हारी महिमा निर्मल और पूर्ण है और उस महिमा ने संसार के बड़े-बड़े वीरों को क्षात्र-धर्म की शिक्षा देकर जानकार बनाया है। तुम्हारा अद्भुत पराक्रम सुनकर शत्रुपक्ष के ये सब योद्धा लोग अपने जीवन से निराश हो गये हैं। जिस प्रकार सिंह की गरज सुनकर मदोन्मत्त हाथी यह समझते हैं कि यह प्रलयकाल का गर्जन है, ठीक उसी तरह इन सब कौरवों पर तुम्हारी धाक जमी हुई है। जिस प्रकार पर्वत वज्र को अथवा सर्प गरुड़ को अपना काल समझते हैं, उसी प्रकार ये कौरव भी तुम्हें अपना काल ही समझते हैं। परन्तु यदि आज तुम युद्ध न करोगे और पीछे हट जाओगे, तो तुम्हारा सारा दबदबा जाता रहेगा और ऊपर से हेठी होगी। और फिर जब तुम भागने लगोगे, तब ये शत्रु तुम्हें भागने भी नहीं देंगे और तुम्हें रोककर तुम्हारा अपमान करने लगेंगे, और तुम्हारे मुंह पर ही जो अनेक उलटी-सीधी बातें सुनावेंगे, उनकी कोई गिनती भी न कर सकेगा। बस उस समय

तुम्हारा हृदय ही फट जायगा . तब इसी समय तुम पराक्रमपूर्वक युद्ध क्यों न करो ? यदि इन शत्रुओं को तुमने जीत लिया, तो फिर तुम आनन्द से पृथ्वी का राज्य भोगना।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

और यदि तुम लड़ते-लड़ते अपने प्राण दे दोगे तो अनायास ही तुम्हें स्वर्ग के सुख प्राप्त हो जायंगे। इसीलिए, हे अर्जुन, अब तुम और सब बातों का विचार छोड़ दो और धनुष उठाकर चटपट युद्ध आरम्भ कर दो। देखो, स्वधर्म का आचरण करने से किये हुए पाप भी नष्ट हो जाते हैं। फिर भला यह भ्रमपूर्ण कल्पना तुम्हारे मन में उत्पन्न ही कैसे हुई कि इस कृत्य में पाप और दोष हैं ? अच्छा पार्थ, तुम्हीं बतलाओ कि क्या नाव का आश्रय लेने से भी मनुष्य कभी डूबता है ? अथवा ठीक तरह बनाये हुए रास्ते पर चलने से आदमी कभी ठोकर खाता है ? पर जिसे अच्छी तरह चलना भी न आता हो, वह ठीक रास्ते पर चलकर भी लड़खड़ाएगा। जिस प्रकार विष के साथ अमृत मिलाकर खाने से भी उस अमृत से मनुष्य मर ही जाता है, उसी प्रकार यदि स-काम बुद्धि से स्वधर्म का आचरण किया जाय तो वह भी दोष का ही कारण होता है। इसीलिए, हे अर्जुन, तुम सब प्रकार की वासनाओं को छोड़कर यदि क्षत्रिय-धर्म का आचरण करोगे तो उसमें कुछ भी पाप न होगा।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

सुख में आदमी को फूल नहीं जाना चाहिए, दुःख में विकल नहीं होना चाहिए और स्वधर्म का आचरण करते समय लाभ और हानि की कल्पना भी मन में नहीं आने देनी चाहिए। इस बात की मन में चिन्ता ही क्यों की जाय कि आज के इस प्रसंग में हमें विजय प्राप्त होगी अथवा हमारा शरीर पूर्णरूप से नष्ट हो जायगा ? हम अपने इस उचित स्वधर्म का आचरण करते हैं और इसमें जो कुछ होगा, वह सब हम शान्त चित्त से सहन कर लेंगे। जब इस प्रकार विचार करने के लिए मन तैयार हो जायगा, तब स्वभावतः मनुष्य से पाप का आचरण नहीं होगा। बस अब मुझे यही कहना है कि तुम सब प्रकार के संशय छोड़ दो और लड़ने के लिए प्रस्तुत हो जाओ।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

मैंने सांख्य का यह ज्ञानयोग तुम्हें थोड़े में बतला दिया है। अब कर्मयोगियों का बुद्धि-योग विस्तारपूर्वक बतलाता हूं, वह सुनो। जब बुद्धियोग सिद्ध हो जाता है, तब कर्म कभी मनुष्य के लिए बन्धक नहीं होते।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

जिस प्रकार वज्र का जिरह-बक्तर पहन लेने पर शस्त्रों की चाहे कैसी वर्षा क्यों न सहनी पड़े, पर फिर भी विजय अबाधित ही रहती है, उसी प्रकार इस बुद्धियोग की साधना हो जाने पर ऐहिक सुखों का तो कभी नाश होता ही नहीं, पर साथ ही मोक्ष भी अपने ही हिस्से में रखा रहता है। इस बुद्धियोग में पहले बतलाये हुए सांख्ययोग का भी अन्तर्भाव होता है; क्योंकि इस बुद्धियोग का भी तत्त्व यह है कि कर्म तो बराबर करते रहना चाहिए, परन्तु उन कर्मों के फल पर कभी आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। जिस प्रकार मान्त्रिक को भूत-बाधा नहीं होती, उसी प्रकार बुद्धियोग पूरी तरह से सिद्ध हो जाने पर किसी प्रकार की उपाधि या कष्ट मनुष्य को बाधा नहीं पहुंचा सकता। जिस बुद्धियोग में पाप और पुण्य का प्रवेश नहीं है, जो अति सूक्ष्म और अटल है, जो सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से दूषित नहीं होता, यदि पूर्वजन्म के पुण्यों के फल से मनुष्य के अन्तःकरण को उस बुद्धियोग

का प्रकाश प्राप्त हो तो, भाई अर्जुन, उसके संसार-भय का समूल नाश हो जाता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

जिस प्रकार दीपक की ज्योति छोटी होने पर भी बहुत-सा प्रकाश प्रकट करती है, उसी प्रकार सद्बुद्धि यदि अल्प भी हो तो भी उसे छोटी या कम नहीं समझना चाहिए, क्योंकि उसका प्रभाव बहुत बड़ा होता है। हे पार्थ श्रेष्ठ विचारशील लोग अनेक प्रकार के उपायों से इसकी साधना का उद्योग करते हैं, क्योंकि यह सद्वासना इस चराचर विश्व में बहुत ही दुर्लभ है। जिस प्रकार दूसरे पत्थरों की तरह पारस ढेर-सा नहीं मिलता अथवा दैवयोग से ही अमृत का एक कण प्राप्त होता है, उसी प्रकार यह सुबुद्धि भी, जिसका पर्यवसान परमात्मा की प्राप्ति में होता है, बहुत ही दुर्लभ है। जिस प्रकार नदी का बहाव और रुख सदा समुद्र की ही ओर होता है, उसी प्रकार संसार मे केवल यह सुबुद्धि ही ऐसी है जिसका एक ईश्वर को छोडकर और कोई साध्य विषय नहीं है। इस सुबुद्धि के अतिरिक्त और जो बुद्धियां हों, उन्हें दुर्बुद्धि ही समझना चाहिए; उनसे विकारों की बाधा होती है और अविवेकी पुरुष उन्हीं बुद्धियों में सदा रमते रहते हैं। इसीलिए, हे पार्थ, उन अविवेकियों को स्वर्गवास, संसारवास और नरकवास प्राप्त होते हैं और आत्म-सुख उन्हें नाम को दर्शन भी नहीं होते।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

वे लोग वेद का आधार लेकर केवल कर्मकांड का ही प्रतिपादन करते है। परन्तु कर्म-फल पर दृष्टि रखकर कहते हैं—"हम संसार में जन्म लें, यज्ञ की क्रियाएं करें और तब मधुर स्वर्ग-सुख भोगें। इसके सिवा और कोई सुख नहीं है।" इसी प्रकार की बातें वे अविवेकी और दुर्बुद्धि लोग कहा करते है। हे अर्जुन, वे लोग स-काम होकर और केवल भोग पर दृष्टि रखकर सब कर्मो का आचरण करते है। नाना प्रकार के कर्म करते समय वे लोग विधि-भंग नहीं होने देते और अत्यन्त प्रवीणता से धर्मानुष्ठान करते है। परन्तु वे एक ही बात अनुचित करते हैं। वह यह कि वे अपने मन में स्वर्ग-भोग का स्वार्थ रखकर उस पुराण-पुरुष को भूल जाते हैं जो यज्ञ का भोक्ता है। जैसे पहले कपूर का ढेर लगाकर फिर उसमें आग लगा दी जाय अथवा मधुर अन्न में कालकूट विष मिला दिया जाय, अथवा संयोग से मिला हुआ अमृत का घड़ा लात मारकर लुढ़का दिया जाय, उसी प्रकार अविवेकी कर्मकांडी लोग स-हेतुक कर्मो का आचरण करके हाथ में आये हुए धर्म का नाश करते हैं। जब कष्ट भोगकर और परिश्रम करके पुण्य का सम्पादन किया जाय, तब फिर संसार की ही याचना क्यों की जाय? परन्तु इन अविवेकियों की समझ में यह नहीं आता कि ऐसी किस वस्तु का सम्पादन करना चाहिए जो हमें अभी प्राप्त नहीं है। जिस प्रकार अच्छी तरह पकाकर स्वादिष्ट भोजन प्राप्त किया जाय और तब उसे मूल्य लेकर बेच दिया जाय, बस ठीक उसी प्रकार ये लोग सुख-भोग रूपी मूल्य के लिए अपना धर्म बेच डालते हैं। इसलिए हे अर्जुन, मैं कहता हूं कि जो लोग वेदो के अर्थवाद में ही सदा फंसे रहते हैं, उनके मन में दुर्बुद्धि डेरा जमाये रहती है।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

ये वद नि सशय सत्त्व रज और तम इन तीना गुणो स भरे हुए है आर इसीलिए उपनिषदो आदि का सात्त्विक समझना चाहिए। उनके सिवा स्वर्गसुख आदि का लोभ दिखलाने वाले जो दूसरे यज्ञ आदि कर्म हैं, वे सब रज और तम गुणों से व्याप्त रहते हैं। इसलिए तुम यह समझ रखो कि ये सब कर्म सुख-दुःखों को उत्पन्न करने वाले होते है। इसलिए तुम अपने अन्तःकरण को इन सब कर्मो के फेर में मत पड़ने दो। तुम इन तीनों गुणों को दूर कर दो, 'मे' 'मेरा' आदि कहना छोड़ दो और शीघ्र ही केवल आत्मसुख पर अपने अन्तःकरण का सारा भार रखो।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

वेदों ने चाहे बहुत-सी बातें क्यों न कही हों और अनेक प्रकार के विधि-भेद क्यों न बतलाये हों, पर उनमे से केवल वही बातें हमें ग्रहण करनी चाहिए जो हमारे लिए हितकारी हों। जब सूर्य प्रकट होता है, तब सभी मार्गो मे प्रकाश फैल जाता है। परन्तु हम उन सभी रास्तों पर क्यों चलने लगें ? चारों तरफ से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त हो जाने पर छोटे जलाशय में मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है, उतना ही प्रयोजन ब्रह्म को तत्त्व से जानने वाले ब्राह्मण का समस्त वेदों में रह जाता है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

इसलिए, हे अर्जुन, यदि इस सिद्धान्त के अनुसार विचार किया जाय तो यह स्वकर्म का आचरण करना तुम्हारे लिए बिलकुल उचित ही है। मैंने जब अपने मन में अच्छी तरह विचार किया, तब मुझे यही बात ठीक जान पडी कि तुम अपना शास्त्र-सिद्ध कर्म मत छोड़ो। परन्तु ऐसा करते समय तुम कर्म-फल पर अपनी आसक्ति मत रखो और उसके साथ दुष्कर्म का सम्पर्क भी न होने दो। तुम निष्काम मन से स्वधर्म क्रिया का आचरण करो।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

तुम योगयुक्त हो जाओ और फल का विचार छोड़ दो और तब मनोयोगपूर्वक स्वकर्म का आचरण करो। पर जो काम तुम हाथ में लो, वह यदि दैवयोग से पूरा हो जाय तो मारे आनन्द के फूल भी मत जाओ। इसी प्रकार यदि किसी कारण से वह काम बिगड़ जाय तो तुम खेद से विकल भी मत हो। कर्म का आचरण करने पर यदि वह पूरा हो जाय तो समझ लो कि ठीक ही हुआ; परन्तु यदि वह काम बिगड़ भी जाय तो भी यही समझो कि अच्छा ही हुआ। जो-जो काम होते चले, यह सब आदिपुरुप परमेश्वर को अर्पण करते चलो। बस फिर वे सब काम सहज में ही पूरे हो जायंगे। हे पार्थ, स्वकर्म चाहे सन्तोषदायक हों और चाहे कष्टकारक, परन्तु उनका आचरण करते समय मन की वृत्ति को शान्त और सम रखने को ही उत्तम ज्ञाता लोग योग-स्थिति कहते हैं। भाई अर्जुन, चित्त को सदा सम रखना ही योग का सार है और इसी समता में मन तथा बुद्धि की पूर्ण रूप से एकता होती है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

हे अर्जुन, जब उस बुद्धि-योग का विचार किया जाता है, तब यह दिखाई पड़ने लगता है कि यह सब कर्मकाड का प्रकरण उससे बहुत इधर का या बहुत छोटे दरजे का है। परन्तु फिर भी यह कर्मकांड ही बुद्धियोग का साधन

है, क्योंकि इस निष्काम रीति से कार्य का सिद्ध होना ही मानो योग-स्थिति का सम्पादन करना है। इसलिए बुद्धियोग वास्तव में बहुत बलवान् आधार है। तुम इसी योग में स्थिर हो जाओ और मन मे फल की वासना का त्याग कर दो। जो लोग इस बुद्धियोग में लग जाते हैं, वही इस संसार के उस पार पहुंचते हैं; और न तो उन्हें पाप के बन्धन ही छू सकते हैं और न पुण्य के बन्धन ही।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

ऐसे लोग यदि कर्मो का आचरण भी करते हैं तो भी वे कर्मफल मे लिप्त नहीं होते; इसीलिए, हे अर्जुन, जन्म और मरण के झगड़े भी उन्हें स्पर्श नहीं करते। इसके उपरान्त, हे धनुर्धर पार्थ, बुद्धियोग के सिद्ध होते ही वे लोग निर्विकार परम पद प्राप्त कर लेते हैं।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

जब तुम यह मोह छोड़ दोगे और जब तुम्हारी वासनाओं का क्षय हो जायगा, तब तुम भी इसी प्रकार के हो जाओगे। फिर तुम्हें अत्यन्त शुद्ध और गहन आत्मज्ञान प्राप्त हो जायगा और तुम्हारा मन आपसे आप वासनाओं से रहित हो जायगा। उस अवस्था में तू सुने हुए और सुनने में आने वाले इस लोक और परलोक सम्बन्धी सभी भोगों से वैराग्गय को प्राप्त हो जाएगा।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

इन्द्रियों के सहवास से जिस मति में चंचलता के अंकुर उत्पन्न होते हैं, आत्मस्वरूप लाभ होने पर यह मति फिर शान्त हो जाती है। इस प्रकार जब आत्मसमाधि के आनन्द से तुम्हारी बुद्धि शान्त और स्थिर हो जायगी, तभी तुम्हें सच्ची योगावस्था प्राप्त होगी।

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

श्रीकृष्ण की ये सब बातें सुनकर अर्जुन ने कहा—"हे देव, अब इन सब विषयों पे में कुछ पूछना चाहता हूं। आप कृपा कर मुझे उत्तर दें।" श्रीकृष्ण ने कहा—"भाई अर्जुन, तुम्हारे मन में जो प्रश्न उचित जान पड़े, वह तुम प्रसन्नतापूर्वक करो।" कृष्ण की यह बात सुनकर अर्जुन ने कहा—"स्थित-प्रज्ञ किसे कहते हैं ? उसे किस प्रकार पहचानना चाहिए ? बस यही आप मुझे बतला दें। और जिसे लोग स्थिरबुद्धि कहते है, उसके लक्षण क्या हैं ? इसी प्रकार जो अखंड समाधि का सुख भोगता है, वह किस स्थिति में रहता है ? उसका स्वरूप कैसा होता है ? हे देव लक्ष्मीनाथ, आप ये सब बातें मुझे बतला दें।" इस पर परब्रह्म के अवतार और षड्गुणों के ऐश्वर्य से सम्पन्न श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा, वह सुनिये।

श्रीभगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

श्रीकृष्ण ने कहा—"अर्जुन, सुनो। आत्मसुख के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने वाली वह प्रबल विषय-वासना है जो मन में निवास करती है। जो सदा और सब अवसरों पर सन्तुष्ट रहता है, जिसका अन्तःकरण समाधान से

ओत पात भग रहता हे ओर सुख की जिन दुप्ट अभिलाषाओ के समर्ग से मनुष्य विषय पकज मे फसता हे जिसकी व अभिलापाए पूर्ण रूप से नष्ट हा चुकी होती है, ओर जिसका मन आत्मसुख मे सदा मगन रहता हे, वही पुरुष स्थितप्रज्ञ है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

"अनेक प्रकार के दुःख आने पर भी जिसके मन में उद्वेग नहीं होता और जो सुख के लोभ में नहीं पडता, हे अर्जुन, ऐसे पुरुष में काम और क्रोध स्वभावतः ही नहीं होता और उसका अन्तःकरण आत्मानन्द से सदा पूर्ण रहता है, इसलिए उसे भय की गन्ध भी नहीं होती। जो सदा ऐसी ही स्थिति में रहे, उसी को स्थिरबुद्धि समझना चाहिए। ऐसा विचारी पुरुप संसार के वन्धनों का परिहार करके केवल भेद-रहित रहता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

"वह सदा सब लोगों के साथ समान व्यवहार करता है। जिस प्रकार पूर्णिमा का चन्द्रमा अपना प्रकाश देते समय इस बात का विचार नहीं करता कि यह अच्छा आदमी है, इसे प्रकाश दो, यह बुरा आदमी है, इसे अधेरे मे रखो; उसी प्रकार उसकी समवृत्ति भी सदा भेद-रहित है। वह भूत मात्र पर समान रूप से सदय रहता है और किसी समय उसके चित्त में भेद नहीं होता। कोई अच्छी वस्तु प्राप्त होने पर भी जो मारे आनन्द के पागल नही हो जाता और कोई बुरी बात होने पर भी जो दुःख के फेर में नहीं पड़ता, जो हर्ष और शोक दोनों से रहित और आत्मज्ञान के आनन्द से ओत-प्रोत भरा रहता है, हे अर्जुन, उसी को स्थितप्रज्ञ समझना चाहिए।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

"हे अर्जुन, जरा कछुए का ढंग देखो। वह जब प्रसन्न रहता है, तब अपने अवयव बाहर निकालकर फैला देता है। परन्तु फिर जब चाहता है, तब उन सबको अपने अन्दर खींच लेता है। इसी प्रकार जब पुरुप इन्द्रियों के विषयो से इन्द्रियों को सब प्रकार से हटा लेता है, तब समझ लेना चाहिए कि उसकी बुद्धि स्थिर है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५६॥

"हे अर्जुन, अब मैं तुम्हें एक और मजे की बात बतलाता हूं। वह यह कि यद्यपि इस योग की साधना करने वाले लोग विपयों का त्याग वहुत ही निश्चयपूर्वक करते हैं, तथापि, कान, आंख आदि इन्द्रियों का दमन हो जाने पर भी यदि रसनेन्द्रिय का दमन न हो तो उस साधक को ये विपय इस संसार में हजारों तरह से अपने जाल मे फसाते हैं। पर तुम्हीं सोचो कि यदि किसी पौधे के पत्ते और शाखाएं आदि तो ऊपर से काट ली जायं, पर उसकी जड में बराबर पानी सींचा जाय तो वह पौधा भला कैसे नष्ट हो सकता है ? जिस प्रकार पानी के बल से वह पौधा ओर भी अधिक आड़ी-तिरछी शाखाएं आदि निकालता है, उसी प्रकार रसना की साधना से मनुष्य के मन मे विषयों की पुष्टि होती है। दूसरी इन्द्रियों के विपय तो छोड़े जा सकते हैं, परन्तु उतनी दृढ़ता से रसनेन्द्रियक नियमन नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस इन्द्रिय के बिना मनुष्य कभी जीवित ही नहीं रह सकता। हे अर्जुन, फिर जव स्वानुभव से परब्रह्म का साक्षात्कार होता है, तव इस रसना पर भी विजय प्राप्त होती है। जब मनुष्य को इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि "मैं ही ब्रह्म हूं" तब देह-धर्म का लोप होता है और इन्द्रियां भी विषयो को भूल जाती हैं।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरंति प्रसभं मनः ॥६०॥

"नहीं तो इसके सिवा और किसी उपाय से ये इन्द्रियां वश में नहीं आतीं। जो लोग इनका दमन करने के लिए सचेष्ट होकर प्रयत्न करते हैं, जिनका योगाभ्यास का क्रम बराबर जारी रहता है, जो लोग अपने चारों ओर यम-नियमों आदि की बाड़ या घेरा लगाये रहते हैं और जो मन को निरन्तर अपनी मुट्ठी में रखते हैं, उन्हें भी ये इन्द्रियां परेशान रखती हैं। इन इन्द्रियों का पराक्रम इतना गहन है। जिस प्रकार यक्षिणी मान्त्रिक को भ्रम में डाल देती है, उसी प्रकार ये विषय भी ऋद्धि-सिद्धि के रूप धारण करके आते हैं और इन्द्रियों का स्पर्श करके मनुष्यों को भ्रम में डाल देते हैं। उस समय मन पर अधिकार नहीं रह जाता और मनुष्य अभ्यास छोड़कर और निश्चिन्त होकर बैठ जाता है। इन्द्रियो का बल ऐसा विचित्र होता है।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

"इसीलिए हे अर्जुन, जो पुरुष विषयों का लोभ पूरी तरह से छोड़कर इन्द्रियो को अपने वश में किये रहता है, वही योगनिष्ठा या बुद्धि स्थैर्य में समर्थ होता है। विषय-सुख जिस पुरुष के अन्तःकरण को भ्रम में नहीं डाल सकते, वही निरंतर आत्मबोध से सज्जित होकर रहता है। और नहीं तो यदि ऊपर से देखने में विषयों का कुछ भी संग न हो, पर मन में विषयों का थोड़ा-बहुत भी लेश रह जाय तो आदि से अन्त तक सारा सांसारिक प्रपंच ही बचा हुआ समझना चाहिए। जिस प्रकार विष की एक बूंद भी पी ली जाय तो वह विष बराबर बढ़ता जाता है और तब अन्त में वह निःशंक होकर प्राणों का घात करता है, उसी प्रकार यदि मन में इन विषयों की थोड़ी-बहुत शंका रह जाय तो वह सारे विवेक का सत्यानाश कर डालती है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

यदि अन्तःकरण में विषयों की कुछ भी स्मृति बची रह जाय, तो वह संगरहित से भी विषयों का संसर्ग करा देती है। इसी संगति से मूर्तिमती विषय-वासना प्रकट होती है। और काम या वासना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। और जहां क्रोध आया, वहां सम्मोह या अविचार भी रखा ही रहता है। जब अविचार उत्पन्न हुआ, तब स्मृति उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस प्रकार प्रचंड वायु के झोंके से दीपक की ज्योति बुझ जाती है अथवा स्मृति-नाश से प्राणी की वैसी ही दशा होती है, जैसी सूर्य अस्त होने पर रात्रि के कारण सूर्य-तेज की होती है और रात्रि उस सूर्य-तेज को निगल जाती है। फिर जब अज्ञान के अन्धकार से सब कुछ व्याप्त हो जाता है, तब बुद्धि अन्दर-ही-अन्दर घबरा जाती है। फिर हे अर्जुन, जिस प्रकार जन्मान्ध को दौड़ना पड़ता है, और वह दीन होकर इधर-उधर भटकता फिरता है, उसी प्रकार बुद्धि भी भ्रमिष्ट होकर भटकने लगती है। जब इस प्रकार स्मृति-भ्रंश होने पर बुद्धि की विकट अवस्था हो जाती है, तब विवेक शक्ति का भी पूरी तरह से नाश हो जाता है। चैतन्य का नाश होने पर जो दशा शरीर की होती है, ठीक वही दशा बुद्धि के नाश होने पर मनुष्य की हो जाती है। हे अर्जुन, बस तुम यही समझ लो कि जिस प्रकार जलने वाली लकड़ी में एक चिनगारी भी पड़ जाय तो उसकी आग फैलकर सारे त्रिभुवन को जला देने के लिए यथेष्ट होती है, उसी प्रकार यदि कभी सहज में भी मन में विषयों का चिन्तन हो जाय तो उससे भी मनुष्य का बहुत बड़ा अधःपात हो जाता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

"इसलिए इन सब विषयों का मनोयोगपूर्वक परित्याग कर देना चाहिए। इससे राग-द्वेष आपसे आप नष्ट हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, हे पार्थ, एक महत्त्व की बात यह है कि राग-द्वेष नष्ट हो जाने पर इन्द्रियां यदि विषय-सेवन करें तो भी वे कोई उपद्रव नहीं कर सकतीं। जिस प्रकार आकाश का सूर्य अपने किरण-जाल से संसार को स्पर्श करता है, पर फिर भी उसके साथ संसार के संग-दोष का संपर्क नहीं होता, उसी प्रकार जो पुरुष इन्द्रियों के विषयों के प्रलोभनों में नहीं पड़ता और काम, क्रोध आदि को छोड़कर सदा आत्मानन्द से परिपूर्ण रहता है, उसे उपभोग के विषयों में भी आत्मता के अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई नहीं देता। अब तुम्हीं बतलाओ कि ऐसी अवस्था में कौन-से विषय किसके लिए बाधक हों ? यदि पानी से पानी को डुबाया जा सकता हो अथवा आग से आग को जलाया जा सकता हो; तभी ऐसे परिपूर्ण व्यक्ति को विषय भी अपने जाल में फंसाकर विकल कर सकते हैं। इस प्रकार जो व्यक्ति अभेदपूर्वक केवल आत्म-स्वरूप में ही रहता है, उसे निस्सन्देह स्थितप्रज्ञ समझना चाहिए।

प्रशादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

"जिस अन्तःकरण में अखंड आनन्द का निवास रहता है, उसमें सांसारिक दुःखों का प्रवेश हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार उस व्यक्ति को भूख-प्यास का कुछ भी डर नहीं रहता, जिसके जठर में स्वयं अमृत का स्रोत उत्पन्न होता है, उसी प्रकार जिसके अन्तःकरण में अखंड आनन्द भरा होता है, उसे भला दुःख कैसे हो सकता है ? उसकी बुद्धि तो आपसे आप परमात्म-स्वरूप में बसी रहती है। जिस प्रकार वातहीन स्थान का दीपक कभी हिलता-डुलता नहीं और सदा समान रूप से जलता रहता है, उसी प्रकार योगयुक्त पुरुष की बुद्धि भी शीघ्र ही सब ओर से हटकर एक परमात्मा में ही भलीभांति स्थिर हो जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

"जिसके अन्तःकरण में स्थिर बुद्धि का यह बल नहीं होता, उसी पर त्रिगुणों की सहायता से विषयों का जाल फैलता है। हे अर्जुन, ऐसे मनुष्य की बुद्धि स्थिर नहीं रहती, और उसके अन्तःकरण में इस प्रकार की कल्पना का भी उदय नहीं होता कि यह बुद्धि स्थिर हो। और हे पार्थ, जब मन में उस स्थिरता की कल्पना भी न हो, तब भला शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? जिस प्रकार पापी के पास मोक्ष कभी नहीं रहता, उसी प्रकार जहां शान्ति का उद्गम नहीं होता, वहां सुख भूलकर भी प्रवेश नहीं करता। अशान्त को तो तभी सुख प्राप्त हो सकता है, जब आग पर भूने हुए बीजों में से अंकुर निकल सकते हों (अर्थात् ये दोनों ही बातें समान रूप से असम्भव हैं)। तात्पर्य यह कि मन की अस्थिरता ही दुःखों का मूल कारण है। इसलिए इन्द्रियों को अपने वश में रखना ही अच्छा है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

"इसलिए जो पुरुष इन्द्रियों के कहने के अनुसार ही सब काम करता हो, वह यदि इस संसार में तरता हुआ भी दिखाई दे, तो भी वास्तव में कदापि उसका तारण नहीं होता। जिस प्रकार किनारे पर पहुंची हुई नाव भी यदि आंधी-पानी और तूफान में पड़ जाय तो पहले नदी के बीच में रहने की दशा में उस पर जो प्राणघातक संकट आकर

टल गया था, वह संकट फिर से आ पड़ता है, उसी प्रकार यदि स्वरूप-स्थिति में पहुंचा हुआ मनुष्य भी विनोद या कुतूहल से इन्द्रियों का फिर से लालन-पालन करना आरम्भ कर दे तो समझना चाहिए कि अब भी वह सांसारिक दुःखों से व्याप्त ही है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

"इसलिए, हे महाबाहो, जिस पुरुष की इन्द्रियां इन्द्रियों के विषयों से सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसी की बुद्धि स्थिर है। देखो, जिस प्रकार कछुआ शान्त भाव से अपने अवयवों का प्रसार करता है, परन्तु इच्छा होते ही फिर उन्हें खींचकर अन्दर कर लेता है, उसी प्रकार जिसकी इन्द्रियां उसके वश में होती हैं और उसके कहने के अनुसार आचरण करती हैं, उसी को स्थितप्रज्ञ समझना चाहिए। अब पूर्णता को प्राप्त पुरुष का एक और गूढ़ लक्षण बतलाता हूं। वह भी सुनो।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

"जिस ब्रह्म-वस्तु के सम्बन्ध में समस्त भूत निःशंक रूप से मानों सोए हुए रहते हैं, उस ब्रह्म-वस्तु के सम्बन्ध में जो निरन्तर जाग्रत रहता है और जिन विषयों के लिए जीव मात्र जाग्रत रहकर प्रयत्न करते रहते हैं, उन विषयों की ओर से जो पूरी तरह से अपनी आंखें बन्द कर लेता है, वही वास्तव में सब उपाधियों से मुक्त रहता है, वही सच्चा स्थितप्रज्ञ होता है और वह पूर्ण रूप से श्रेष्ठ मुनि सिद्ध होता है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

"हे पार्थ, ऐसे पुरुष को पहचानने का एक और लक्षण है। समुद्र की गम्भीरता सदा अबाधित रहती है। यद्यपि समस्त नदियों का प्रवाह अपने दोनों किनारों पर भरकर समुद्र में आ मिलता है, तो भी वह समुद्र नाम को भी नहीं बढ़ता और अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। अथवा जब गरमी के दिनों में सब नदियां सूख जाती हैं, तब भी समुद्र में रत्ती भर की भी कमी नहीं दिखाई देती। इस प्रकार यदि स्थितप्रज्ञ को समस्त ऋद्धि-सिद्धियां प्राप्त हो जायं तो भी उसकी बुद्धि चल-विचल नहीं होती। अथवा यदि उसे वे ऋद्धि-सिद्धियां न भी प्राप्त हों तो भी उसका धैर्य नष्ट नहीं होता। क्या सूर्य के घर में कभी दीपक की बत्ती से उजाला होता है? और यदि बत्ती न जलाई जाय तो सूर्य को अंधेरे में बैठे रहना पड़े? इसी प्रकार चाहे ऋद्धि-सिद्धियां आ जायं और चाहे चली जायं, पर स्थितप्रज्ञ को उनका ध्यान भी नहीं रहता। वह अपने आत्मानन्द से ही परम सुख में मग्न रहता है। जो अपने घर की शोभा देखकर इन्द्र के निवास-स्थान को कुछ भी तुच्छ समझता है, वह भला किसी भील की पत्तों से सजाई हुई झोंपड़ी को देखकर कैसे भूल सकता है? जो इतना पवित्र हो कि अमृत में भी कोई दोष बतला सकता हो, वह जिस प्रकार दलिया खाना कभी स्वीकार नहीं करता, उसी प्रकार जिसे आत्मसुख का अनुभव हो जाता है, वह लौकिक वैभव के उपभोग का कुछ भी मूल्य नहीं समझता। हे अर्जुन, जहां स्वयं स्वर्ग-सुख की भी परवाह न हो, वहां इन छुद्र लौकिक ऋद्धि-सिद्धियों को कौन पूछता है।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

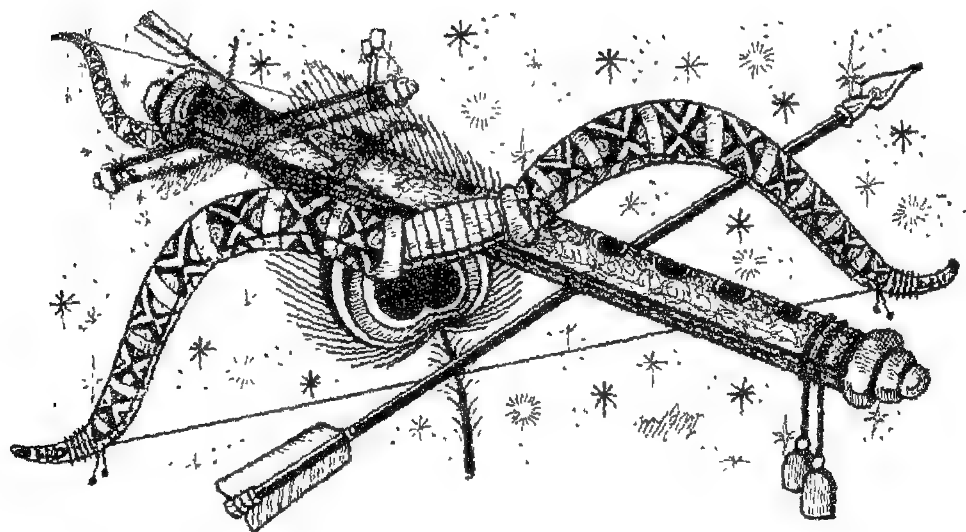
"जिसे इस प्रकार का आत्मज्ञान प्राप्त हो गया हो और जो आत्मस्वरूप के अखंड आनन्द से पुष्ट रहता हो उसी को तुम सच्चा स्थितप्रज्ञ समझो। वह अहंकार का मद दूर कर देता है, सब प्रकार की कामनाओं का परित्याग

र देता है और स्वयं ही विश्वरूप होकर विश्व में परमानन्द से रहता है।''

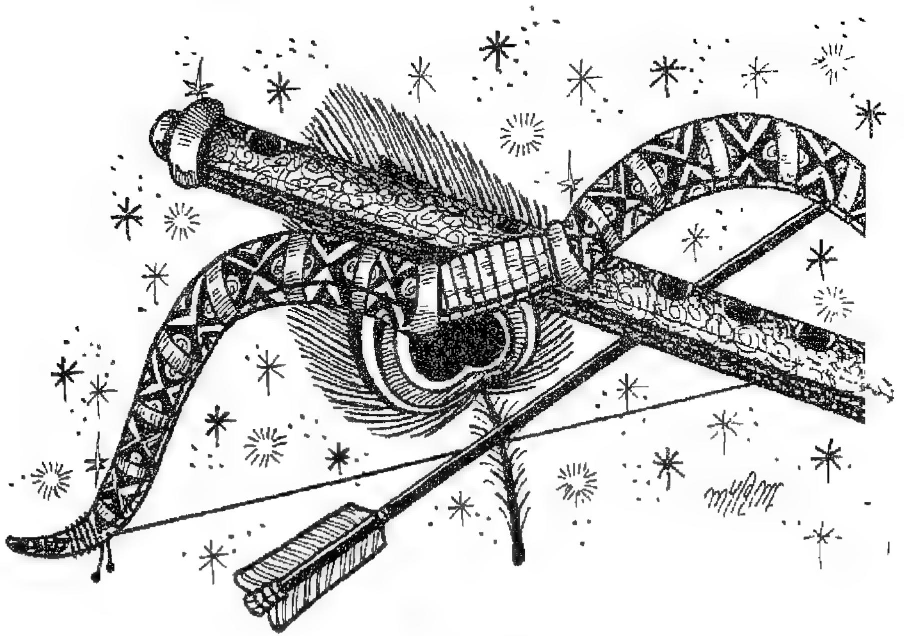
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

''इसी को अप्रतिम और असीम ब्राह्मी स्थिति समझना चाहिए। इसका अनुभव करने वाले निष्काम ना किसी प्रकार के कष्ट के परब्रह्म को प्राप्त करते हैं।'' संजय ने कहा—''चैतन्य रूप के साथ मिलकर एक समय (मृत्यु के समय) होने वाली अन्तःकरण की विचलता जिसके कारण स्थितप्रज्ञ के लिए बाधक न होती, वही यह ब्राह्मी स्थिति श्रीकृष्ण ने अर्जुन को स्वयं बतलाई थी।'' श्रीकृष्ण की ये सब बातें सुनकर अपने मन में कहा—'श्रीकृष्ण के ये विचार मेरे लिए हितकारक ही हुए हैं। क्योंकि जब श्रीकृष्ण ने सभी निषेध कर दिया है, तो फिर मेरे युद्ध करने की बात टल गई।' इस प्रकार श्रीकृष्ण की बातों से अर्जुन में प्रसन्न हुआ और अब वह कुछ शंकाएं उठाकर श्रीकृष्ण से कुछ प्रश्न करेगा। वह प्रसंग बहुत ही सुन्द समस्त धर्मों का जन्म-स्थान अथवा विवेक रूपी अमृत का अगाध और अनन्त समुद्र ही जान पड़ता है का निरूपण स्वयं सर्वज्ञ-श्रेष्ठ श्रीकृष्ण करेंगे, वह संवाद श्रीनिवृत्तिनाथ का दास ज्ञानदेव बतलावेगा।





तीसरा अध्याय



कर्मयोग

अर्जुन उवाच—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

अर्जुन ने कहा—"हे लक्ष्मीपति, आपने जो कुछ कहा, वह सब मैंने बहुत ध्यानपूर्व
निश्चित मत यही है कि अच्छी तरह विचार करने पर कर्म और कर्ता रह ही नहीं जाते; तो फि
कहते हैं कि 'पार्थ, तुम युद्ध करो' ? इस भयंकर काम में मुझे ढकेलते हुए क्यों आपको सका
जब आप ही सब कर्मों का पूर्ण रूप से निषेध करते हैं, तो फिर आप मेरे हाथों मार-काट क
कराते हैं ? हे हृषीकेश, इसीलिए मेरा यह प्रश्न है कि जब कर्म की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ मान्य
मेरे हाथों इतनी बड़ी हिंसा कराना चाहते हैं, वह क्यों ? और आपकी बातों में इतनी असम्ब

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

"हे देव, जब आप ही इस प्रकार गड़बड में डालने वाली बातें कहेंगे, तो फिर हमारे स
करेंगे ? क्या अब विवेक पूर्ण रूप से डूब ही गया ? यदि इस प्रकार की बातों को सदुपदे
भ्रष्टता इससे कोई अलग चीज होगी ? मुझमें आत्मबोध की जो आकांक्षा थी वह आज खूब
तो बतला दिया, पर वही यदि रोगी के औषध में विष डाल दे तो फिर रोगी कैसे जी सकत
कोई टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर लगा दे या बन्दर को कोई नशे की चीज पिला दे ! मैं तो समझता

का खूब सुन्दर उपदेश मुझे मिला है। एक तो पहले से ही मेरी समझ में कुछ नहीं आता था; ऊपर से यह मोह की बाधा हो गई थी; इसलिए हे श्रीकृष्ण, मैंने आपसे पूछा था कि इस विषय में अच्छा विचार या सिद्धान्त क्या है ? पर आपका मैं कुछ निराला ही ढंग देखता हूं। आपके उपदेश में और यह गड़बड़ी ! फिर उसका अनुसरण करने से कौन-सा हित होगा ? मैंने बहुत ही आशापूर्वक सच्चे हृदय से आपके वचनों पर भरोसा किया था। पर आप ही जब ऐसा करने लगे, तब तो यही कहना चाहिए कि सभी बातों का अन्त हो गया। आपने यदि ऐसा किया तो मेरी खूब भलाई की ? ऐसी अवस्था में मैं ज्ञान की आशा ही क्यों रखूं ?" फिर अर्जुन ने यह भी कहा—"ज्ञान की तो यह अवस्था हो गई। पर साथ ही एक और बुरी बात यह हो गई कि पहले जो मेरा मन शान्त था, वह अब और भी सन्देह में पड़ गया। हे देव, आपका चरित्र अगम्य है। अब यदि आप इसी बहाने मेरी परीक्षा करना चाहते हों, तो मुझे इस बात का कुछ भी पता नहीं चलता कि आप मुझे चकमा देकर धोखे में डाल रहे हैं या इस गूढ प्रकार से सचमुच मुझे महत्त्व का कोई तत्त्व या सिद्धान्त बतला रहे हैं। इसलिए, हे देव, मेरी प्रार्थना है कि आप अपनी इस गूढ़ भाषा का अन्त करें और सीधी-सादी तथा सरल भाषा में अपने विचार मुझे बतलावें। मैं बहुत ही मन्द बुद्धि का आदमी हूं, इसलिए आप ऐसी सरल और निश्चित बातें कहें जो मुझ सरीखे मन्द बुद्धि वाले व्यक्ति की समझ में भी अच्छी तरह आ जायं। जब कोई रोगी का रोग दूर करने का विचार कर लेता है, तब उसे औषध तो देनी ही पड़ती है। परन्तु जिस प्रकार उस औषध का रुचिकर और मधुर होना अच्छा होता है, उसी प्रकार गूढ़ अर्थो से परिपूर्ण तत्त्व-बोध की बातें तो आप बतलावें, परन्तु वे बातें इस तरह हों जो अच्छी तरह मेरी समझ में आ सकें। हे देव, आप सरीखे वास्तविक आत्मबोध का उपदेश देने वाले गुरु हों, तो फिर मैं भी अपना हौसला क्यों न अच्छी तरह पूरा कर लूं ? हे देव, जब आप ही मेरी माता के समान हैं, तो फिर ऐसे अवसर पर सकोच करने की क्या आवश्यकता है ? जब दूध देने वाली कामधेनु ही मिल जाय, तो फिर केवल इच्छा करने मे कौन कमी करेगा ? जब चिन्तामणि ही मिल जाय, तो फिर इच्छा करना क्या कठिन है ? फिर जो-जो मन में आवे, उन सबकी अच्छी तरह इच्छा क्यों न की जाय, क्योंकि वे सभी इच्छाएं तो तुरन्त ही पूरी हो जायंगी। यदि अमृत के समुद्र के पास पहुंचकर भी मारे प्यास के छटपटाना ही हो तो फिर अमृत-सागर तक जाने का पहले परिश्रम ही क्यों किया जाय ? उसी प्रकार, हे देव लक्ष्मीपति, अनेक जन्मों तक आराधना करने के उपरान्त जब आप संयोग से इस समय मुझे मिल गये हैं, तो हे परमेश्वर, आपसे मन-मानी वस्तु क्यों न मांग लूं ? हे देव, यह मुझे बहुत ही उत्तम और सुभीते का अवसर प्राप्त हुआ है। आज मेरी समस्त इच्छाओं को नवीन चैतन्य प्राप्त हुआ है, मेरे पुण्य फलीभूत हुए हैं और मेरे मनोरथों की आज पूर्ण विजय प्राप्त हुई है। क्योंकि आज आप मेरे लिए पूर्ण रूप से अनुकूल हुए हैं। हे परम मंगलमय देवेश्वर, मैं आपका जय-जयकार करता हूं। जैसे माता के सम्बन्ध में बच्चे को समय और अवसर का ध्यान रखने की आवश्यकता नहीं होती और वह जब चाहता है, तभी उसका स्तनपान कर सकता है, उसी प्रकार, हे कृपासागर देव, जो कुछ मेरे मन में आता है, उसी के अनुसार मैं बड़े उत्साह से आपसे प्रश्न करता हूं। इसलिए आप मुझे निश्चयपूर्वक कोई ऐसी बात बतलावें जिससे मेरा पारलौकिक हित भी हो और इहलौकिक हित भी हो।"

श्रीभगवानुवाच—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥३॥

यह सुनकर श्रीकृष्ण ने आश्चर्य से चकित होकर कहा—"हे अर्जुन, मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि मैं तुम्हे बुद्धियोग का तत्त्व स्पष्ट रूप से बतलाना चाहता था; और उसी स्पष्टीकरण के लिए मैंने तुम्हें सांख्य ज्ञानयोग भी

बतला दिया। परन्तु उसमें जो हेतु था, वह तुम्हारी समझ में बिलकुल नहीं आया, इसलिए तुम्हें व्यर्थ इतनी परेशानी हुई। पर अब तुम यह बात ध्यान में रखो कि ये दोनों सम्प्रदाय या सिद्धान्त मैंने ही बतलाये हैं। हे महावीर, ये दोनों सम्प्रदाय अनादिकाल से मैंने ही प्रकट किये हैं। इनमें से एक तो वह है, जिसे लोग ज्ञानयोग कहते हैं और उसका अनुसरण सांख्यवादी लोग करते हैं। जब मनुष्य की समझ में यह ज्ञानयोग अच्छी तरह आ जाता है, तब जीवात्मा उस परमात्मा के साथ मिलकर एक हो जाता है। दूसरे को कर्मयोग कहते है। जिन्हें यह कर्मयोग सिद्ध हो जाता है, वे उचित आचार करने वाले साधक पुरुष उपयुक्त समय आने पर मोक्ष प्राप्त करते हैं। पहले तो ये दोनों मार्ग अलग अलग जान पड़ते हैं, परन्तु यदि परिणाम का विचार किया जाय तो अन्त में दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। एक तो पककर तैयार भोजन रहता है और एक बिना पका हुआ और कच्चा अन्न रहता है। परन्तु जिस प्रकार इन दोनों का अन्तिम कार्य क्षुधा की शान्ति करना है, अथवा जिस प्रकार पूर्व-वाहिनी और पश्चिमी-वाहिनी दो नदियां अलग-अलग दिखाई पड़ती हैं, पर फिर भी समुद्र में मिलने पर वे दोनों जिस प्रकार अन्त में एक ही स्वरूप प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार ज्ञानयोग और कर्मयोग ये दोनो सम्प्रदाय एक ही परमार्थ का साधन कराने वाले हैं, और केवल अधिकारी के विचार से उनका उपासना-प्रकार अलग-अलग है। देखो, पक्षी तो उड़कर चट फल के पास पहुंच जाता है, पर क्या मनुष्य भी उसी प्रकार उड़कर फल तक पहुंच सकता है ? वह तो धीरे-धीरे एक-एक डाल के सहारे से, अपने दृढ़ निश्चय की सामर्थ्य से, कुछ समय में मार्ग का अतिक्रमण करके ही अन्त में फल प्राप्त करता है ? बस उसी पक्षी वाली प्रणाली से सांख्य तो ज्ञान के बल से तत्काल मोक्ष दिलवाता है, पर कर्मयोगी ऐसे कर्मों का आचरण करता है जो उसके स्वधर्म के लिए उचित और उपयुक्त होते है; और तब सुभीते से उचित समय आने पर अर्थात् ज्ञानोत्तर काल में वह मोक्ष प्राप्त करता है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यासनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

"आरम्भ में जिन उचित और विहित कर्मों का आचरण करना आवश्यक होता है, यदि उन कर्मों को बिना किए ही कोई यह कहे कि सिद्धों की तरह कर्म छोड़ दूंगा, तो उस कर्महीन के किये वह निष्कर्मता कभी हो ही नहीं सकेगी, क्योंकि जो कर्तव्य प्राप्त हो चुके हैं, उन्हीं को छोडकर बैठना और तब यह समझ लेना कि इतने से ही निष्कर्मता सिद्ध हो गई, बड़ी मूर्खता है। देखो, जहां नदी के प्रवल प्रवाह के कारण उस पार जाना संकटपूर्ण हो, वहां नाव को छोड़ देना क्या कोई बुद्धिमत्ता का काम होगा ? अथवा मान लो कि क्षुधा शान्त करने की इच्छा है। उस समय रसोई क्यों न पकाई जाय ? अथवा यदि रसोई पकाकर तैयार हो तो वह खाई क्यों न जाय ? जब तक वासना नष्ट नहीं होती, तब तक कर्म सदा साथ ही लगे रहते हैं। हां, जब मनुष्य को अन्तिम सन्तोष प्राप्त होता है, तब सब कर्म आपसे आप ही बन्द हो जाते हैं। इसलिए, हे अर्जुन, तुम यह समझ रखो कि जो हृदय से निष्कर्मता का साधन करने की इच्छा रखता हो, उसे उन कर्मों का परित्याग नहीं करना चाहिए जो उसके स्वधर्म के लिए विहित हैं। और फिर एक बात यह है कि कुछ लोग यह भी कहते हैं कि यदि अपनी इच्छा के अनुसार कर्म किये जायं तो वे सिद्ध हो जाते हैं; और यदि उनका परित्याग कर दिया जाय तो फिर वे कर्म रह ही नहीं जाते, उनका नाश हो जाता है। परन्तु ऐसी बातें कहना व्यर्थ और पागलपन का काम है। यदि तुम चाहो तो इस बात पर अच्छी तरह विचार करके इसे समझ सकते हो। पर यह बात निःसन्देह अपने ध्यान में रखो कि कर्म का केवल त्याग कर देने से ही मनुष्य का वास्तव में उससे छुटकारा नहीं हो जाता।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

जब तक गुणा की जननी माया का आधार बना हुआ है, तब तक हम लोग अपने अज्ञान के कारण जो काम करते हैं, वे सब आपसे आप गुणों पर अवलम्बित रहते हैं। फिर यह देखो कि हमारे जो विहित कर्म हैं, उन्हे यदि हम अपने मन के किसी आवेश के कारण छोड़ भी दें तो भी क्या इन्द्रियों के स्वाभाविक धर्म मर जाते हैं ? कान क्या कभी सुनने का काम छोड़ देते हैं ? या आंखों का तेज नष्ट हो जाता है ? या नाक के छेद बन्द हो जाते हैं और वे सूंघना छोड़ देते हैं ? अथवा क्या मानसिक आवेश के कारण प्राणवायु और अपान वायु की गति खंडित होती है या चित्त निर्विकल्प हो जाता है या भूख-प्यास आदि इच्छाओं का अन्त हो जाता है ? अथवा जागृति और स्वप्न की अवस्थाएं नष्ट हो जाती हैं अथवा पैर चलना भूल जाते हैं ? पर इन सब बातों को जाने दो। क्या जन्म और मृत्यु भी कभी टल सकती है ? यदि इनमें से एक भी बात नहीं हो सकती, तो फिर कर्मों को छोड़ देने से ही क्या होगा ? तात्पर्य यह कि जब तक माया का आधार बना हुआ है, तब तक कर्मो का त्याग हो ही नहीं सकता। माया के स्वभाव-बल से ही सब कर्म आपसे आप होते रहते हैं। इसलिए जब तक माया का अस्तित्व बना है, तब तक चाहे किसी प्रकार के निग्रह में अंतःकरण को जकड़कर बंद कर दिया जाय, पर वे सब कृत्य निष्फल ही होते हैं। देखो, जब हम रथ पर बैठते हैं; तब चाहे हम कितने ही निश्चल होकर क्यों न बैठें, पर फिर भी परतन्त्रता के कारण हम हिलते-डुलते रहते ही हैं। सूखे हुए पत्ते आप तो हिलते-डुलते नहीं, पर जब जोर की हवा या आंधी चलती है, तब वे भी आकाश में इधर-उधर उड़ने लगते हैं। इसी प्रकार माया के आधार से कर्मेन्द्रियां विचलित होती हैं, जिसके कारण उस पुरुष के हाथ से भी आपसे आप कर्म होते रहते हैं जो अपने निग्रह के कारण निरन्तर निष्कर्म रहना चाहता है। इसीलिए जब तक माया का सहवास बना हुआ है, तब तक कर्मो का कभी त्याग हो नहीं सकता। ऐसी अवस्था में जो लोग यह कहते हैं कि हम कर्मो का त्याग करेंगे, वे अपना हठ दिखलाने के सिवा और कुछ भी नहीं कर सकते।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

''जो लोग विहित कर्मो का परित्याग कर देते हैं और केवल कर्मेन्द्रियों की गति को रोककर निष्कर्म होने का रूपक बनाते हैं, उनसे कर्मो का त्याग नहीं होता, क्योंकि उनके मन में कर्मो का विचार बना ही रहता है। जिस प्रकार कोई दरिद्र पुरुष अपना ऊपरी या बाहरी ठाट-बाट बनाये रहता है, उसी प्रकार ऐसा पुरुष निष्कर्मता का खाली ढोंग बनाये फिरता है। हे अर्जुन, इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे लोगों को भी विषय-वासना में फंसे हुए ही समझना चाहिए। अब मैं तुम्हें प्रसंगवश ऐसे व्यक्ति के लक्षण बतलाता हूं जो सब प्रकार की आशाओं और इच्छाओं से मुक्त रहते हैं। वह सुनो।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

''जो पुरुष अपने अन्तःकरण में निग्रही होता है, जो परमात्म-स्वरूप में मिलकर एक हो जाता है, परन्तु फिर भी जो सामान्य संसारी मनुष्यों की भांति ऊपरी सब व्यवहार करता है, जो अपनी इंद्रियों को तो विषयों का सेवन करने की स्वतन्त्रता दे देता है, परन्तु जिसके मन में विषयों का भय नहीं होता और जो वे सब विहित कर्म करता चलता है जो उसके सामने उपस्थित होते हैं, वह कर्मेन्द्रियों के सब कर्म करते रहने पर भी उनका नियमन करता है, पर उन कर्मो के द्वारा होने वाले विकारों से व्याप्त नहीं होता। वह कभी किसी कामना के वश में नहीं होता और मोह का मल उसे नहीं लगता। जिस प्रकार पानी में तैरता रहने वाला कमल का पत्ता पानी से नहीं भीगता, उसी प्रकार वह भी निर्लिप्त रहकर सब प्रकार के लौकिक व्यवहार करता रहता है और देखने में सामान्य लोगों के

बतला दिया परन्तु उसमे जो हेतु था वह तुम्हारी समझ मे बिलकुल नहीं आया इसलिए तुम्हे व्यर्थ इतनी परेशानी हुई। पर अब तुम यह बात ध्यान में रखो कि ये दोनों सम्प्रदाय या सिद्धान्त मैंने ही बतलाये हैं। हे महावीर, ये दोनों सम्प्रदाय अनादिकाल से मैंने ही प्रकट किये हैं। इनमें से एक तो वह है, जिसे लोग ज्ञानयोग कहते हैं और उसका अनुसरण सांख्यवादी लोग करते हैं। जब मनुष्य की समझ में यह ज्ञानयोग अच्छी तरह आ जाता है, तब जीवात्मा उस परमात्मा के साथ मिलकर एक हो जाता है। दूसरे को कर्मयोग कहते हैं। जिन्हें यह कर्मयोग सिद्ध हो जाता है, वे उचित आचार करने वाले साधक पुरुष उपयुक्त समय आने पर मोक्ष प्राप्त करते हैं। पहले तो ये दोनों मार्ग अलग अलग जान पड़ते हैं, परन्तु यदि परिणाम का विचार किया जाय तो अन्त में दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। एक तो पककर तैयार भोजन रहता है और एक बिना पका हुआ और कच्चा अन्न रहता है। परन्तु जिस प्रकार इन दोनों का अन्तिम कार्य क्षुधा की शान्ति करना है, अथवा जिस प्रकार पूर्व-वाहिनी और पश्चिमी-वाहिनी दो नदियां अलग-अलग दिखाई पड़ती है, पर फिर भी समुद्र में मिलने पर वे दोनों जिस प्रकार अन्त मे एक ही स्वरूप प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार ज्ञानयोग और कर्मयोग ये दोनों सम्प्रदाय एक ही परमार्थ का साधन कराने वाले हैं, और केवल अधिकारी के विचार से उनका उपासना-प्रकार अलग-अलग है। देखो, पक्षी तो उड़कर चट फल के पास पहुंच जाता है, पर क्या मनुष्य भी उसी प्रकार उड़कर फल तक पहुंच सकता है ? वह तो धीरे-धीरे एक-एक डाल के सहारे से, अपने दृढ़ निश्चय की सामर्थ्य से, कुछ समय में मार्ग का अतिक्रमण करके ही अन्त मे फल प्राप्त करता है ? बस उसी पक्षी वाली प्रणाली से सांख्य तो ज्ञान के बल से तत्काल मोक्ष दिलवाता है, पर कर्मयोगी ऐसे कर्मों का आचरण करता है जो उसके स्वधर्म के लिए उचित और उपयुक्त होते है; और तब सुभीते से उचित समय आने पर अर्थात् ज्ञानोत्तर काल में वह मोक्ष प्राप्त करता है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यासनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

"आरम्भ में जिन उचित और विहित कर्मों का आचरण करना आवश्यक होता है, यदि उन कर्मों को बिना किए ही कोई यह कहे कि सिद्धों की तरह कर्म छोड़ दूंगा, तो उस कर्महीन के किये वह निष्कर्मता कभी हो ही नहीं सकेगी, क्योंकि जो कर्तव्य प्राप्त हो चुके हैं, उन्हीं को छोड़कर बैठना और तब यह समझ लेना कि इतने में ही निष्कर्मता सिद्ध हो गई, बड़ी मूर्खता है। देखो, जहां नदी के प्रबल प्रवाह के कारण उस पार जाना संकटपूर्ण हो, वहां नाव को छोड़ देना क्या कोई बुद्धिमत्ता का काम होगा ? अथवा मान लो कि क्षुधा शान्त करने की इच्छा है। उस समय रसोई क्यों न पकाई जाय ? अथवा यदि रसोई पकाकर तैयार हो तो वह खाई क्यों न जाय ? जब तक वासना नष्ट नहीं होती, तब तक कर्म सदा साथ ही लगे रहते है। हां, जब मनुष्य को आत्म सन्तोष प्राप्त होता है, तब सब कर्म आपसे आप ही बन्द हो जाते हैं। इसलिए, हे अर्जुन, तुम यह समझ रखो कि जो हृदय से निष्कर्मता का साधन करने की इच्छा रखता हो, उसे उन कर्मों का परित्याग नहीं करना चाहिए जो उसके स्वधर्म के लिए विहित हैं। और फिर एक बात यह है कि कुछ लोग यह भी कहते हैं कि यदि अपनी इच्छा के अनुसार कर्म किये जायं तो वे सिद्ध हो जाते हैं; और यदि उनका परित्याग कर दिया जाय तो फिर वे कर्म रह भी नहीं जाते, उनका नाश हो जाता है। परन्तु ऐसी बातें कहना व्यर्थ और पागलपन का काम है। यदि तुम चाहो तो इस बात पर अच्छी तरह विचार करके इसे समझ सकते हो। पर यह बात निःसन्देह अपने ध्यान मे रखो कि कर्म का केवल त्याग कर देने से ही मनुष्य का वास्तव में उससे छुटकारा नहीं हो जाता।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

"जब तक गुणों की जननी माया का आधार बना हुआ है, तब तक हम लोग अपने अज्ञान के कारण जो काम करते हैं, वे सब आपसे आप गुणों पर अवलम्बित रहते हैं। फिर यह देखो कि हमारे जो विहित कर्म हैं, उन्हे यदि हम अपने मन के किसी आवेश के कारण छोड़ भी दें तो भी क्या इन्द्रियों के स्वाभाविक धर्म मर जाते हैं ? कान क्या कभी सुनने का काम छोड़ देते हैं ? या आंखों का तेज नष्ट हो जाता है ? या नाक के छेद बन्द हो जाते है और वे सूंघना छोड़ देते हैं ? अथवा क्या मानसिक आवेश के कारण प्राणवायु और अपान वायु की गति खंडित होती है या चित्त निर्विकल्प हो जाता है या भूख-प्यास आदि इच्छाओं का अन्त हो जाता है ? अथवा जागृति और स्वप्न की अवस्थाएं नष्ट हो जाती हैं अथवा पैर चलना भूल जाते हैं ? पर इन सब बातों को जाने दो। क्या जन्म और मृत्यु भी कभी टल सकती है ? यदि इनमें से एक भी बात नहीं हो सकती, तो फिर कर्मो को छोड़ देने से ही क्या होगा ? तात्पर्य यह कि जब तक माया का आधार बना हुआ है, तब तक कर्मो का त्याग हो ही नही सकता। माया के स्वभाव-बल से ही सब कर्म आपसे आप होते रहते हैं। इसलिए जब तक माया का अस्तित्व बना है, तब तक चाहे किसी प्रकार के निग्रह में अंतःकरण को जकड़कर बंद कर दिया जाय, पर वे सब कृत्य निष्फल ही होते हैं। देखो, जब हम रथ पर बैठते हैं; तब चाहे हम कितने ही निश्चल होकर क्यों न बैठें, पर फिर भी परतन्त्रता के कारण हम हिलते-डुलते रहते ही हैं। सूखे हुए पत्ते आप तो हिलते-डुलते नहीं, पर जब जोर की हवा या आंधी चलती है, तब वे भी आकाश में इधर-उधर उड़ने लगते हैं। इसी प्रकार माया के आधार से कर्मेन्द्रिया विचलित होती हैं, जिसके कारण उस पुरुष के हाथ से भी आपसे आप कर्म होते रहते हैं जो अपने निग्रह के कारण निरन्तर निष्कर्म रहना चाहता है। इसीलिए जब तक माया का सहवास बना हुआ है, तब तक कर्मो का कभी त्याग हो नहीं सकता। ऐसी अवस्था में जो लोग यह कहते हैं कि हम कर्मो का त्याग करेंगे, वे अपना हठ दिखलाने के सिवा और कुछ भी नहीं कर सकते।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

"जो लोग विहित कर्मो का परित्याग कर देते हैं और केवल कर्मेन्द्रियों की गति को रोककर निष्कर्म होने का रूपक बनाते हैं, उनसे कर्मो का त्याग नहीं होता, क्योंकि उनके मन में कर्मो का विचार बना ही रहता है। जिस प्रकार कोई दरिद्र पुरुष अपना ऊपरी या बाहरी ठाट-बाट बनाये रहता है, उसी प्रकार ऐसा पुरुष निष्कर्मता का खाली ढोंग बनाये फिरता है। हे अर्जुन, इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे लोगों को भी विषय-वासना में फंसे हुए ही समझना चाहिए। अब मैं तुम्हें प्रसंगवश ऐसे व्यक्ति के लक्षण बतलाता हूं जो सब प्रकार की आशाओं और इच्छाओं से मुक्त रहते हैं। वह सुनो।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

"जो पुरुष अपने अन्तःकरण में निग्रही होता है, जो परमात्म-स्वरूप में मिलकर एक हो जाता है, परन्तु फिर भी जो सामान्य संसारी मनुष्यों की भांति ऊपरी सब व्यवहार करता है, जो अपनी इंद्रियों को तो विषयों का सेवन करने की स्वतन्त्रता दे देता है, परन्तु जिसके मन में विषयों का भय नहीं होता और जो वे सब विहित कर्म करता चलता है जो उसके सामने उपस्थित होते हैं, वह कर्मेन्द्रियों के सब कर्म करते रहने पर भी उनका नियमन करता है, पर उन कर्मो के द्वारा होने वाले विकारों से व्याप्त नही होता। वह कभी किसी कामना के वश में नहीं होता और मोह का मल उसे नहीं लगता। जिस प्रकार पानी में तैरता रहने वाला कमल का पत्ता पानी से नहीं भीगता, उसी प्रकार वह भी निर्लिप्त रहकर सब प्रकार के लौकिक व्यवहार करता रहता है और देखने में सामान्य लोगों के

ही समान जान पड़ता है और जिस प्रकार पानी के सयाने में सूर्य का बिम्ब पृथ्वी पर [illegible] दिखाई देता है, उसी प्रकार सामान्य दृष्टि से देखने पर वह भी साधारण मनुष्यों के ही समान जान पड़ता है। पर यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो उसकी सच्ची स्थिति की पूरी-पूरी थाह ही नहीं लगती। जो पुरुष इस प्रकार के लक्षणों से युक्त दिखाई दे, उसी को सब प्रकार की आशाओं और इच्छाओं के पाश से मुक्त समझना चाहिए। हे अर्जुन, इसी प्रकार के मुक्त पुरुष को 'योगी' की विशिष्ट संज्ञा देनी चाहिए। इसीलिए मैं तुमको कहता हूं कि तुम भी इसी प्रकार के योगी बनो। तुम अपने मन का नियमन करो और अपने अन्तःकरण को शान्त और स्वच्छ होने दो, और तब कर्मेन्द्रियों को भले ही आनन्दपूर्वक विषयों में विचरण करने दो। (फिर तुम्हें उनके द्वारा बाधा होने का कुछ भी डर न रह जायगा।)

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥८॥

यदि कोई निष्कर्मता का साधन करना चाहे तो वह इस संसार में संभव ही नहीं है। अब इस बात का विचार तुम आप ही कर लो कि निषिद्ध कर्म करने चाहिए या विहित कर्म। इसीलिए जो-जो कर्म उचित हों और सामने आ पड़ें, वे सब निष्काम मन से करने चाहिए। हे अर्जुन, इस सम्बन्ध में एक और विलक्षण बात है जो अभी तक तुम्हारे ध्यान में नहीं आई है। वह यह कि इस प्रकार आपसे आप जिन कर्मों का आचरण किया जाता है, वे मोक्षदायक होते हैं। तुम इस बात का ध्यान रखो कि जो व्यक्ति शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार और स्वधर्म के अनुरूप सब कर्म करता है, निश्चयपूर्वक वह उन्हीं कर्मों की सहायता से मोक्ष भी प्राप्त करता है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥९॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥१०॥

"भाई अर्जुन, अपना जो स्वधर्म होता है, उसी का नाम 'नित्य यज्ञ' है और उसका पालन करने में पाप का लेश मात्र भी नहीं होता। जब यह स्वधर्म छूट जाता है और मन में किसी ऐसे-वैसे परधर्म के प्रति [illegible] रुचि उत्पन्न होती है; तभी मनुष्य संसार अर्थात् जन्म और मरण के बन्धन में पड़ता है। इसीलिए जो पुरुष सदा स्वधर्म के अनुसार कर्मों का आचरण करता है, उसके द्वारा उन कर्मों के आचरण में ही निरन्तर [illegible] है, और इसीलिए जो ऐसे कर्म करता है, उसे संसार के झमेले बन्धन में नहीं डाल सकते। यह जो सारा लोक है, वह माया के कारण ही मोह में फंसा हुआ है और उससे स्वधर्माचरण रूपी नित्य यज्ञ नहीं होता, और इसीलिए वह कर्म के बन्धनों में जकड़ा हुआ है। हे अर्जुन, अब मैं इसी विषय की एक कथा तुम्हें सुनाता हूं। जिस समय ब्रह्मा ने इस सृष्टि और सब पदार्थों की रचना की थी, उस समय उसने समस्त मनुष्यों का इसी नित्य यज्ञ के साथ अर्थात् विहिताचार के धर्म के साथ निर्माण किया था। परन्तु यह नित्याचार का धर्म गहन था और इसीलिए वह अज्ञान प्राणियों की समझ में नहीं आता था। उस समय सब मनुष्यों ने मिलकर ब्रह्मा से प्रार्थना की कि हे देव, वह कौन सा ऐसा आधार है, जिससे हमारा जीवन सार्थक हो और सब काम ठीक तरह से चलें? उस समय ब्रह्मा ने मनुष्यों से कहा था—'तुम लोगों के लिए तुम्हारे अलग-अलग वर्णों के अनुसार स्वधर्म नामक यज्ञ की व्यवस्था की गई है। तुम लोग इसी की उपासना या आचरण करो। बस इसी से तुम्हारी सब इच्छाएं आपसे आप पूरी होती रहेंगी। तुम लोगों को व्रतों और नियमों के फेर में पड़ने की आवश्यकता नहीं, तपस्या करके शरीर-दंड का सुखाने की भी आवश्यकता नहीं, और दूर-दूर के तीर्थों की यात्रा करने की भी आवश्यकता नहीं। मोक्ष के योग आदि उपायों,

अनेक प्रकार की कामिक उपासनाओं और मन्त्र-यन्त्र के प्रयोगों के फेर में भले ही कोई पड़ जाय, पर तुम लोग अनेक प्रकार के देवताओं का भजन भी बिलकुल मत करो। केवल स्वधर्म का आचरण करो और उनके कारण आपसे आप होने वाला यज्ञ करते चलो। तुम अपने मन में किसी प्रकार का स्वार्थ मत रखो और केवल स्वधर्म का अनुष्ठान करो। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री एकनिष्ठ होकर और निष्काम बुद्धि से अपने पति की आराधना करती है, उसी प्रकार इस यज्ञ की आराधना करना ही तुम लोगों का एकमात्र कर्तव्य है।' सत्यलोक के अधिपति ब्रह्मा ने यह भी कहा था—'हे मनुष्यो, यदि तुम लोग भक्तिपूर्वक इस स्वधर्म का सेवन करोगे, तो यह कामधेनु के समान तुम्हारी सभी इच्छाएं पूरी करेगा। और तब यह कभी तुम लोगों को निराधार नहीं छोड़ेगा।'

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

"जब तुम इस स्वधर्माचरण रूपी यज्ञ से समस्त देवताओं को सन्तुष्ट करोगे, तब वे देवता तुम्हें सभी इच्छित वस्तुएं प्रदान करेंगे। जब इस स्वधर्माचरण रूपी पूजा से तुम देवताओं का पूजन करोगे, तब वे देवता निश्चय ही तुम्हारा योगक्षेम करेंगे, तुम्हें किसी प्रकार की त्रुटि का अनुभव नहीं करने देंगे। जब तुम इस प्रकार देवताओं का भजन करोगे, तब वे देवता तुम पर सन्तुष्ट होंगे और इस प्रकार तुम दोनों में प्रेमभाव उत्पन्न होगा। फिर तुम जो काम करना चाहोगे वही सिद्ध हो जायगा और तुम्हारे मन की सभी कामनाएं पूरी होंगी। तुम्हारी बात कभी खाली नहीं जायगी। तुममें आज्ञा करने की शक्ति आ जायगी और सब प्रकार की सिद्धि तुम्हारी आज्ञा की याचना करने लगेंगी। जिस प्रकार ऋतुश्रेष्ठ वसन्त के द्वार पर वन-शोभा सदा फल-भार का सौन्दर्य धारण करके उपस्थित रहती है, उसी प्रकार स्वयं दैव सब प्रकार की सुख-समृद्धि अपने साथ लेकर आप ही तुम्हें ढूंढ़ता हुआ आवेगा। भइया, जब तुम स्वधर्म पर निष्ठा रखकर इस प्रकार आचरण करोगे, तब सब प्रकार से सुखी और क्लेशहीन हो जाओगे। परन्तु सब प्रकार की सम्पदाएं हाथ आ जाने पर जो विषयों के माधुर्य प्रलोभन में पड़कर इन्द्रियों के वश में हो जायगा, और स्वधर्म-यज्ञ से प्रसन्न होने वाले देवताओ की दी हुई भरपूर सम्पत्ति को जो उचित मार्ग में न लगावेगा और विश्व के प्रभु का भजन न करेगा, जो अग्नि को आहुति न देगा, देवताओं की पूजा न करेगा, ब्राह्मणों को यथा-समय भोजन न करावेगा, जो गुरु की भक्ति न करेगा, अतिथियों और अभ्यागतों का सत्कार न करेगा, अपनी जाति और गोत्र के लोगों को सन्तुष्ट न रखेगा, और इस प्रकार जो स्वधर्म के आचरण से पराङ्मुख होगा और मिली हुई सम्पत्ति के कारण अभिमान में अंधा होकर केवल सुखों के उपभोग में ही फंसा रहेगा, उसका बहुत बड़ा घात होगा, जिससे हाथ में आया हुआ सारा वैभव नष्ट हो जायगा, और जो सुखोपभोग उसे प्राप्त होंगे, उन्हें भी वह न भोग सकेगा। जिस प्रकार आयुष्य समाप्त हो जाने पर शरीर में चेतना-शक्ति नहीं रह जाती अथवा अभागे पुरुष के घर में लक्ष्मी नहीं ठहरती, उसी प्रकार यदि स्वधर्माचरण का लोप हो जाय तो समझ लेना चाहिए कि समस्त सुखों का आधार की टूट गया। जिस प्रकार दीपक के बुझ जाने पर उसके साथ-ही-साथ प्रकाश का भी नाश हो जाता है, उसी प्रकार जहां स्वधर्म का उच्छेद हुआ वहां स्वतन्त्रता का भी ठिकाना नहीं रह जाता।" ब्रह्मा ने यह भी कहा—'इसलिए, हे प्रजा-जन, जो स्वधर्म का परित्याग करेगा, उसे काल दंड देगा और उसे चोर ठहराकर उसका सर्वस्व हरण कर लेगा। फिर अब दोष चारों ओर से आकर उसी के गले पड़ जायंगे, और जिस प्रकार रात के समय श्मशान में भूत-प्रेत आदि प्रकट होते हैं, उसी प्रकार त्रैलोक्य के सारे दुःख, अनेक प्रकार के पातक और सब प्रकार की दीनताएं आकर उस पुरुष में निवास करने लगेंगी। जो पुरुष वैभव के मद से अन्धा हो जाता है

ही समान जान पड़ता है। और जिस प्रकार पानी के संयोग से सूर्य का बिम्ब पृथ्वी पर की वस्तुओं के समान दिखाई देता है, उसी प्रकार सामान्य दृष्टि से देखने पर वह भी साधारण मनुष्यों के ही समान जान पड़ता है। पर यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो उसकी सच्ची स्थिति की पूरी-पूरी थाह ही नहीं लगती। जो पुरुष इस प्रकार के लक्षणों से युक्त दिखाई दे, उसी को सब प्रकार की आशाओं और इच्छाओं के पाश से मुक्त समझना चाहिए। हे अर्जुन, इसी प्रकार के मुक्त पुरुष को 'योगी' की विशिष्ट संज्ञा देनी चाहिए। इसीलिए मैं तुमको कहता हूँ कि तुम भी इसी प्रकार के योगी बनो। तुम अपने मन का नियमन करो और अपने अन्तःकरण को शान्त और स्वच्छ बना दो, और तब कर्मेन्द्रियों को भले ही आनन्दपूर्वक विषयों में विचरण करने दो। (फिर तुम्हें उनके द्वारा बाधा होने का कुछ भी डर न रह जायगा।)

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

यदि कोई निष्कर्मता का साधन करना चाहे तो वह इस संसार में संभव ही नहीं है। अब इस बात का विचार तुम आप ही कर लो कि निषिद्ध कर्म करने चाहिए या विहित कर्म। इसीलिए जो-जो कर्म उचित हों और सामने आ पड़ें, वे सब निष्काम मन से करने चाहिए। हे अर्जुन, इस सम्बन्ध में एक और विलक्षण बात है जो अभी तक तुम्हारे ध्यान में नहीं आई है। वह यह कि इस प्रकार आपसे आप जिन कर्मों का आचरण किया जाता है, वे मोक्षदायक होते हैं। तुम इस बात का ध्यान रखो कि जो व्यक्ति शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार और स्वधर्म के अनुरूप सब कर्म करता है, निश्चयपूर्वक वह उन्हीं कर्मों की सहायता से मोक्ष भी प्राप्त करता है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

"भाई अर्जुन, अपना जो स्वधर्म होता है, उसी का नाम 'नित्य यज्ञ' है और उसका पालन करने में पाप का लेश मात्र भी नहीं होता। जब यह स्वधर्म छूट जाता है और मन में किसी ऐसे-वैसे परधर्म के प्रति प्रीति या भाव उत्पन्न होता है; तभी मनुष्य संसार अर्थात् जन्म और मरण के बन्धन में पड़ता है। इसीलिए जो पुरुष सदा स्वधर्म के अनुसार कर्मों का आचरण करता है, उसके द्वारा उन कर्मों के आचरण में ही निरन्तर यज्ञ-कर्म होते रहते हैं, और इसीलिए जो ऐसे कर्म करता है, उसे संसार के अगले बन्धन में नहीं डाल सकते। यह जो सारा लोक है, वह माया के कारण ही मोह में फंसा हुआ है और उससे स्वधर्माचरण रूपी नित्य यज्ञ नहीं होता, और इसीलिए वह कर्म के बन्धनों में जकड़ा हुआ है। हे अर्जुन, अब मैं इसी विषय की एक कथा तुम्हें सुनाता हूँ। जिस समय ब्रह्मा ने इस सृष्टि और सब पदार्थों की रचना की थी, उस समय उसने समस्त मनुष्यों का इसी नित्य यज्ञ के साथ अर्थात् विहिताचार के धर्म के साथ निर्माण किया था। परन्तु यह नित्याचार का धर्म गहन था और इसीलिए सब अज्ञान प्राणियों की समझ में नहीं आता था। उस समय सब मनुष्यों ने मिलकर ब्रह्मा से प्रार्थना की कि हे देव, यह कौन सा ऐसा आधार है, जिससे हमारा जीवन सार्थक हो और सब काम ठीक तरह से चले? उस समय ब्रह्मा ने मनुष्यों से कहा था—'तुम लोगों के लिए तुम्हारे अलग-अलग वर्णों के अनुसार स्वधर्म नामक यज्ञ की व्यवस्था की गई है। तुम लोग इसी की उपासना या आचरण करो। बस इसी से तुम्हारी सब इच्छाएं आपसे आप पूरी होती रहेंगी। तुम लोगों को व्रतों और नियमों के फेर में पड़ने की आवश्यकता नहीं, तपस्या करके शरीर देह को सुखाने की भी आवश्यकता नहीं, और दूर-दूर के तीर्थों की यात्रा करने की भी आवश्यकता नहीं। मोक्ष के योग आदि उपायों,

अनेक प्रकार की कामिक उपासनाओं और मन्त्र-यन्त्र के प्रयोगों के फेर में भले ही कोई पड़ जाय, पर तुम लोग अनेक प्रकार के देवताओं का भजन भी बिलकुल मत करो। केवल स्वधर्म का आचरण करो और उनके कारण आपसे आप होने वाला यज्ञ करते चलो। तुम अपने मन में किसी प्रकार का स्वार्थ मत रखो और केवल स्वधर्म का अनुष्ठान करो। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री एकनिष्ठ होकर और निष्काम बुद्धि से अपने पति की आराधना करती है, उसी प्रकार इस यज्ञ की आराधना करना ही तुम लोगों का एकमात्र कर्तव्य है।' सत्यलोक के अधिपति ब्रह्मा ने यह भी कहा था—'हे मनुष्यो, यदि तुम लोग भक्तिपूर्वक इस स्वधर्म का सेवन करोगे, तो यह कामधेनु के समान तुम्हारी सभी इच्छाएं पूरी करेगा। और तब यह कभी तुम लोगों को निराधार नहीं छोड़ेगा।'

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

"जब तुम इस स्वधर्माचरण रूपी यज्ञ से समस्त देवताओं को सन्तुष्ट करोगे, तब वे देवता तुम्हें सभी इच्छित वस्तुएं प्रदान करेंगे। जब इस स्वधर्माचरण रूपी पूजा से तुम देवताओं का पूजन करोगे, तब वे देवता निश्चय ही तुम्हारा योगक्षेम करेंगे, तुम्हें किसी प्रकार की त्रुटि का अनुभव नहीं करने देंगे। जब तुम इस प्रकार देवताओं का भजन करोगे, तब वे देवता तुम पर सन्तुष्ट होंगे और इस प्रकार तुम दोनों में प्रेमभाव उत्पन्न होगा। फिर तुम जो काम करना चाहोगे वही सिद्ध हो जायगा और तुम्हारे मन की सभी कामनाएं पूरी होंगी। तुम्हारी बात कभी खाली नहीं जायगी। तुममें आज्ञा करने की शक्ति आ जायगी और सब प्रकार की सिद्धि तुम्हारी आज्ञा की याचना करने लगेंगी। जिस प्रकार ऋतुश्रेष्ठ वसन्त के द्वार पर वन-शोभा सदा फल-भार का सौन्दर्य धारण करके उपस्थित रहती है, उसी प्रकार स्वयं दैव सब प्रकार की सुख-समृद्धि अपने साथ लेकर आप ही तुम्हें ढूंढ़ता हुआ आवेगा। भइया, जब तुम स्वधर्म पर निष्ठा रखकर इस प्रकार आचरण करोगे, तब सब प्रकार से सुखी और क्लेशहीन हो जाओगे। परन्तु सब प्रकार की सम्पदाएं हाथ आ जाने पर जो विषयों के माधुर्य प्रलोभन में पड़कर इन्द्रियों के वश मे हो जायगा, और स्वधर्म-यज्ञ से प्रसन्न होने वाले देवताओं की दी हुई भरपूर सम्पत्ति को जो उचित मार्ग में न लगावेगा और विश्व के प्रभु का भजन न करेगा, जो अग्नि को आहुति न देगा, देवताओं की पूजा न करेगा, ब्राह्मणों को यथा-समय भोजन न करावेगा, जो गुरु की भक्ति न करेगा, अतिथियों और अभ्यागतों का सत्कार न करेगा, अपनी जाति और गोत्र के लोगों को सन्तुष्ट न रखेगा, और इस प्रकार जो स्वधर्म के आचरण से पराङ्मुख होगा और मिली हुई सम्पत्ति के कारण अभिमान में अंधा होकर केवल सुखों के उपभोग में ही फंसा रहेगा, उसका बहुत बड़ा घात होगा, जिससे हाथ में आया हुआ सारा वैभव नष्ट हो जायगा, और जो सुखोपभोग उसे प्राप्त होंगे, उन्हें भी वह न भोग सकेगा। जिस प्रकार आयुष्य समाप्त हो जाने पर शरीर मे चेतना-शक्ति नहीं रह जाती अथवा अभागे पुरुष के घर में लक्ष्मी नहीं ठहरती, उसी प्रकार यदि स्वधर्माचरण का लोप हो जाय तो समझ लेना चाहिए कि समस्त सुखों का आधार की टूट गया। जिस प्रकार दीपक के बुझ जाने पर उसके साथ-ही-साथ प्रकाश का भी नाश हो जाता है, उसी प्रकार जहां स्वधर्म का उच्छेद हुआ वहा स्वतन्त्रता का भी ठिकाना नहीं रह जाता।" ब्रह्मा ने यह भी कहा—'इसलिए, हे प्रजा-जन, जो स्वधर्म का परित्याग करेगा, उसे काल दंड देगा और उसे चोर ठहराकर उसका सर्वस्व हरण कर लेगा। फिर अब दोष चारों ओर से आकर उसी के गले पड़ जायंगे, और जिस प्रकार रात के समय श्मशान में भूत-प्रेत आदि प्रकट होते हैं, उसी प्रकार त्रैलोक्य के सारे दुःख, अनेक प्रकार के पातक और सब प्रकार की दीनताएं आकर उस पुरुष में निवास करने लगेंगी। जो पुरुष वैभव के मद से अन्धा हो जाता है

उसकी ऐसी ही दशा होती है। और फिर चाहे वह कितना ही रोए और कितना ही कलपे, परन्तु कल्पान्त में भी उसका छुटकारा नहीं होता। इसलिए तुम लोग स्वधर्म कभी मत छोड़ो और इन्द्रियों को इधर-उधर मत भटकने दो।' बस यही उपदेश ब्रह्मा ने मानवी जीवों को दिया था। ब्रह्मा ने यह भी कहा था कि जलचर प्राणी ज्यों ही जल के बाहर निकले, त्यों ही समझ लेना चाहिए कि उसकी मृत्यु आ गई। इसी प्रकार स्वधर्म का भी कभी किसी को परित्याग नहीं करना चाहिए, नहीं तो सर्वस्व नष्ट हो जायगा। इसलिए मैं बार-बार तुम लोगों से यही कहता हूं कि तुम लोग सदा अपने-अपने उचित कर्मों के आचरण में ही लगे रहो।"

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

"जो पुरुष निष्काम बुद्धि से स्वधर्म के अनुसार उचित कार्यों में अपनी सम्पत्ति का व्यय करता है, गुरु, गौ और अग्नि की पूजा करता है, यथा-समय ब्राह्मणों की सेवा करता है और पितरों की तृप्ति के लिए श्राद्ध आदि कर्म करता है, और इस प्रकार स्वधर्म का आचरण करके यज्ञों का सम्पादन करता है, जो पंचमहायज्ञ आदि करके अग्नि में आहुति समर्पित करता है और तब सहज में जो कुछ बच रहता है, वही भाग यह समझकर अपने कुटुम्ब के लोगों के साथ सुखपूर्वक सेवन करता है कि यही भाग पापों का नाश करने वाला है और यही भक्षण करने के योग्य है, जो पुरुष इस प्रकार यज्ञों के हुत-शेष भाग का उपभोग करता है, उसे सब पातक उसी प्रकार छोड़ जाते हैं, जिस प्रकार अमृत के प्राप्त होने पर महारोग मनुष्य को छोड़ जाते हैं। अथवा जिसे निश्चित रूप से तत्त्व-ज्ञान हो जाता है, वह जैसे नाम मात्र को भी भ्रान्ति में नहीं पड़ता, उसी प्रकार यह शेष-भोगी भी पापों के जाल में नहीं पड़ता। इसलिए स्वधर्म का आचरण करके जो कुछ सम्पादित किया जाय, उसका व्यय भी स्वधर्म के आचरण में ही होना चाहिए; और तब जो भाग बच रहे, उसी से सन्तोषपूर्वक निर्वाह करना चाहिए।" इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यह प्राचीन कथा सुनाई थी और कहा था—"हे अर्जुन, तुम यह स्वधर्म यज्ञ अवश्य करो; इसे बिना किए मत रहो। जो लोग इस शरीर को ही आत्मा मानते हैं और कहते हैं कि विषयों का स्वार्थ-बुद्धि से उपभोग करना चाहिए और इस उपभोग के पीछे जिन्हें और किसी बात का ध्यान ही नहीं रह जाता, उन बहके हुए मूर्खों को इस नित्य-यज्ञ के साधन का रहस्य मालूम नहीं होता और वे केवल अहंकारपूर्वक सुखोपभोग भोगने की ही इच्छा करते हैं। जो लोग केवल ऐसे ही अन्न पकाते हैं जो उनकी इन्द्रियों को रुचिकर होते हैं, उनके सम्बन्ध में यही समझना चाहिए कि वे पापी पुरुष पातकों का ही सेवन कर रहे हैं। यह सम्पत्ति-संग्रह स्वधर्म यज्ञ में आहुति देने का ही द्रव्य है, और यह द्रव्य इस यज्ञ में परम पुरुष को समर्पित करने के ही लिए है। लोग इस तत्त्व का तो परित्याग कर देते हैं और केवल अपनी इच्छा या रुचि के अनुसार अनेक प्रकार के भोजन प्रस्तुत करते हैं। जिन खाद्य-पदार्थों के योग से यह यज्ञ सिद्ध होता है और आदिपुरुष सन्तुष्ट होता है, वे खाद्य-पदार्थ कुछ ऐसे-वैसे नहीं समझे जा सकते। अन्न को कभी सामान्य या तुच्छ मत समझो और इसे प्रत्यक्ष ब्रह्म-रूप ही मानो, क्योंकि यही सारे विश्व के जीवन का साधन है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

"अन्न की सहायता से समस्त भूत बढ़ते हैं और अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है। इस पर्जन्य को उत्पन्न करने वाला यज्ञ है और कर्म की सहायता से यज्ञ सिद्ध होते हैं, और कर्म वेद-रूपी ब्रह्मा से उत्पन्न होते हैं। इस

वेद-ब्रह्म की उत्पत्ति अक्षर तथा परात्पर ब्रह्म-तत्त्व से होती है। इसलिए यह स्थावर और जंगम विश्व मूलतः अक्षर परब्रह्म से ओत-प्रोत भरा हुआ है। तो भी, हे अर्जुन, तुम यह बात समझ लो कि कर्म रूप से अवतरित होने वाले इन यज्ञों में वेदरूपी ब्रह्म अक्षर रहता है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

"हे पार्थ, इस प्रकार मैंने तुम्हें स्वधर्म यज्ञ की यह मूल पीठिका संक्षेप में बतला दी है। इसीलिए यह स्वधर्माचरण रूपी यज्ञ ही वास्तव में उचित और कर्तव्य है। भ्रम में पड़ा हुआ जो मनुष्य इस लोक में आकर यह यज्ञ नहीं करता, उसके सम्बन्ध में तुम यह समझ लो कि वह केवल अपनी इन्द्रियों की लालसाएं पूरी करने के लिए ही इस लोक में आया है; और इसलिए वह पाप की राशि बनकर इस पृथ्वी पर का भार ही हुआ है। जिस प्रकार असमय में आकाश में फैला हुआ मेघ व्यर्थ होता है, उसी प्रकार ऐसे पुरुष का सारा जीवन भी व्यर्थ ही होता है। जिस मनुष्य से स्वधर्म का साधन न होता हो, उसे बकरी के गले में लटके हुए स्तन की तरह नितान्त निरुपयोगी समझना चाहिए। इसलिए, हे अर्जुन, तुम यह बात ध्यान में रखो कि कभी किसी को स्वधर्म नहीं छोड़ना चाहिए। केवल स्वधर्म का ही अनुष्ठान पूरी तरह से मन लगाकर करना चाहिए। जब हम लोग शरीरधारी हैं, तब कर्तव्य कर्म भी इस शरीर के साथ स्वभावतः लगा हुआ है। फिर हम अपना विहित कर्म क्यों छोड़ें ? हे अर्जुन, शरीर प्राप्त होने पर भी जो स्वकर्म की उपेक्षा करता है, उसे केवल मूर्ख ही समझना चाहिए।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

"जो सदा आत्मस्वरूप में आनन्दपूर्वक मग्न रहता है, वह देह धर्म के चलते रहने पर भी कभी कर्म-फल से लिप्त नहीं होता। क्योंकि वह आत्मज्ञान से सन्तुष्ट रहता है जिससे उसके जीवन का कर्तव्य समाप्त हो जाता है और उसके लिए कर्म का संग स्वयं ही नहीं होता।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

"जिस प्रकार एक बार तृप्ति हो जाने पर उसके समस्त साधन आपसे आप नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मानन्द की प्राप्ति होते ही सब कर्मों का नाश हो जाता है। पर हे अर्जुन, जब तक मन में आत्मबोध का उदय नहीं होता, तब तक स्वधर्माचरण के साधनों का भजन या पालन आवश्यक होता है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

"इसलिए तुम इन्द्रियों का निग्रह करके और स्वार्थ सम्बन्धी सभी इच्छाओं को छोड़कर विहित स्वधर्म का आचरण करो। हे पार्थ, जो निष्काम बुद्धि से स्वधर्म का अनुसरण या पालन करता है, वही वास्तव में इस संसार में ब्रह्मस्थिति में पहुंचता है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

"उदाहरण के लिए जनक आदि राजर्षियों को देखो, जिन्होंने एक भी विहित कर्म का अनुष्ठान नहीं छोड़ा और फिर भी मोक्ष प्राप्त किया। इसलिए हे अर्जुन, स्वकर्म की ओर सदा पूरा ध्यान रखना चाहिए। स्वकर्म का अनुष्ठान करने से एक और बात का भी अच्छा साधन होगा। जब हम स्वकर्म का आचरण करेंगे, तब और लोगों

का भी उचित आचार की शिक्षा मिलेगी और उसकी ओर उनकी प्रवृत्ति होगी, जिससे संसार की आपत्तियाँ और कष्ट आपसे आप दूर होंगे। देखो, जो लोग ब्रह्म-स्वरूप में पहुंचकर धन्य हुए हैं और जो पूर्ण रूप से निष्काम हो गये हैं, वही दूसरे लोगों को भी उचित मार्ग पर लगाते हैं और इस प्रकार उस ज्ञानोत्तर काल में भी उन्हें कर्म करना पड़ता है। जिस प्रकार अन्धे को अपने साथ लेकर सुझाखा पुरुष आगे-आगे चलता है, उसी प्रकार ज्ञानी लोगों को अपने साथ अज्ञानियों को लेकर चलना चाहिए और उन अज्ञानियों को स्वधर्म का ज्ञान कराना चाहिए। यदि ज्ञानी लोग ऐसा न करेंगे, तो अज्ञानियों को क्या पता चलेगा और कर्तव्य-मार्ग का उन्हें किस प्रकार ज्ञान हो सकेगा ?

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

"इस संसार की प्रथा ही यह है कि बड़े लोग जो कुछ करते हैं, लोक में उसी का नाम 'धर्म' पड़ जाता है, और दूसरे साधारण लोग उसी का अनुकरण करते हैं। यह बात नितान्त स्वाभाविक रूप से होती रहती है। इसलिए स्वकर्म का अनुष्ठान कभी छोड़ना नहीं चाहिए। फिर उनमें भी जो लोग सन्त कहलाते हों, उन्हें तो स्वकर्म अनुष्ठान कदापि न छोड़ना चाहिए।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

"हे अर्जुन, मैं औरों की बात तुमसे क्या कहूं ! मैं स्वयं भी स्वकर्मानुष्ठान के मार्ग से चलता हूं। शायद तुम यह कहोगे कि मुझ पर कोई संकट आकर पड़ता है अथवा मुझे कोई अपना हेतु सिद्ध करना पड़ता है, इसलिए मैं कर्म का आचरण करता हूं। पर तुम यह बात तो अच्छी तरह जानते ही हो कि इस संसार में और कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो मेरे समान पूर्णता को पहुंचा हुआ हो अथवा जिसमें मेरे समान सामर्थ्य हो। सान्दीपनि गुरु के मरे हुए लड़के को मैं यमलोक से लौटा लाया था और मेरा यह अलौकिक पराक्रम तुमने स्वयं अपनी आंखों से देखा है। तो भी मैं शान्त भाव से सब विहित कर्मों का बराबर आचरण करता ही रहता हूं।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

"और मैं इन सब कर्मों का आचरण इस प्रकार करता हूं कि देखने वाले समझें कि मैं अभी तक स-काम ही हूं। परन्तु ऐसा करने में मेरा एक ही उद्देश्य है। वह यह कि ये जो सब जीव मेरे ही सहारे चलने वाले हैं, वे कहीं बहक न जायं।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

"पूर्णता प्राप्त कर चुकने पर यदि आत्म-स्थिति में बिना कोई कर्म किये यों ही रहा करूं तो फिर इस प्रजा का काम कैसे चलेगा ? इस समय सामाजिक व्यवस्था में सब लोग यही देखते हैं कि मैं किस रास्ते से चलता हूं, और उसी से वे लोग सदाचार की प्रणाली का ज्ञान प्राप्त करते हैं। पर यदि मैं कर्म करना छोड़ दूं तो समाज की वह सारी व्यवस्था ही बिगड़ जायगी। इसीलिए मैं कहता हूं कि जिन सामर्थ्यवान् पुरुषों ने इस संसार में पूर्ण रूप से सर्वज्ञता प्राप्त कर ली हो, विशेषतः उन लोगों को तो कर्मों का कभी परित्याग नहीं करना चाहिए।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

"जिस प्रकार स-काम पुरुष मन में फल की इच्छा रखकर कर्म करता है, ठीक उसी प्रकार ध्यानपूर्वक

निष्काम पुरुष को भी कर्म का ही आचरण करना चाहिए। क्योंकि, हे अर्जुन, मैं तुमको बार-बार यही बतलाता हूं कि समाज की संस्था को सब प्रकार से शुद्ध और स्वच्छ रखना कर्तव्य है। शास्त्रों में बतलाए हुए मार्ग से चलना चाहिए, सब लोगों को अच्छे रास्ते पर लगाना चाहिए। और किसी प्रकार उन पर यह प्रकट नहीं होने देना चाहिए कि हम समाज से अलग हैं।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

"जो बच्चा स्तनपान भी बहुत कष्ट से कर सकता हो, उसे पकवान कैसे खिलाए जा सकते हैं ? इसीलिए हे अर्जुन, जिस प्रकार उस बच्चे को पकवान नहीं देना चाहिए, उसी प्रकार जिन लोगों में केवल कर्म करने की योग्यता हो, उन्हें कभी हंसी या विनोद में भी कर्म-त्याग का उपदेश नहीं करना चाहिए। निष्काम ज्ञानवानों को भी यही उचित है कि वे ऐसे लोगों को सत्कर्म का मार्ग दिखलावें, उनके सामने सत्कर्मों की प्रशंसा करें और स्वयं भी उसी प्रकार का आचरण करके सामने सुन्दर आदर्श उपस्थित करें। इस प्रकार लोकसंग्रह करने के लिए अर्थात् समाज-संस्था की अच्छी स्थिति में रखने के लिए यदि कर्मों का स्वीकार किया जाय तो वे कर्म अपने कर्ता के लिए कभी बन्धक नहीं होते। बहुरूपिये राजाओं और रानियों का स्वांग बनाते हैं; और यद्यपि उनके मन में वास्तव में स्त्री या पुरुष का भाव नहीं होता, परन्तु फिर भी जिस प्रकार उन्हें अपना स्वांग ठीक तरह से दिखलाने के लिए स्त्री या पुरुष के से सब भाव व्यक्त करके लोगों को संतुष्ट करना पड़ता है, उसी प्रकार ज्ञानवान् पुरुष भी सब प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर चुकने के बाद अर्थात् ज्ञानोत्तर काल में भी केवल लोक-सम्पादन के विचार से निष्काम और निर्विकार वृत्ति से सत्कर्मों का आचरण करते हैं।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

"हे अर्जुन, फिर इस बात का भी विचार करो कि यदि दूसरों का बोझ अपने सिर पर लिया जाय तो उसके नीचे क्यों न दबेंगे ? बस इसी न्याय से माया के गुण से उत्पन्न होने वाले अच्छे और बुरे सभी कर्म मूर्ख मनुष्य बुद्धिभ्रम के कारण अपने आपको उनका कर्ता समझकर स्वयं अपने ऊपर लाद लेता है। जो ऐसा अहंकारी, स्वार्थी, संकुचित दृष्टि वाला और मूर्ख हो, उसे परमार्थ की इस गूढ़ता का उपदेश नहीं करना चाहिए। पर अब इन सब बातों को जाने दो। अब मैं तुम्हें यह बतलाता हूं कि इस समय किस बात में तुम्हारा हित है। हे अर्जुन, तुम ध्यान से सुनो।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

"जिन लोगों को आत्मतत्त्व का बोध हो जाता है, उनमें उस माया का अभाव रहता है जिससे समस्त कर्म उत्पन्न होते हैं, वे लोग देह का अभिमान छोड़ देते हैं, गुण और कर्म का अन्योन्य सम्बन्ध समझते हैं और केवल तटस्थ वृत्ति से, तिसरैत की तरह, शरीर में रहते हैं। इसलिए जिस प्रकार पृथ्वी पर के प्राणियों की क्रियाएं सूर्य को नहीं लगतीं, उसी प्रकार ऐसे पुरुष शरीर में रहते हुए भी कर्म के बन्धनों से नहीं बंधते—कर्म के बन्धन उन्हें स्पर्श नहीं करते।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

"इस संसार में कर्म की बाधा उन्हीं लोगों के लिए होती है, जिन पर गुणों की छाप पूरी तरह से बैठी होती

है और जो अपने सब काम माया के तन्त्र के अनुसार करते हैं, क्योंकि गुणों के आश्रय से इन्द्रियां अपने स्वाभाविक धर्म के कारण जो व्यवहार करती हैं, उन पराये व्यवहारों को ऐसा पुरुष बलपूर्वक अपने ऊपर लाद लेता है।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

"इसलिए तुम सब प्रकार के विहित कर्म करके मुझे अर्पित करो परन्तु अपनी चित्त-वृत्ति को बराबर आत्मस्वरूप पर जमाये रहो। और इस प्रकार का अभिमान कभी अपने मन में मत आने दो कि 'यह कर्म है', 'मैं कर्ता हूं' 'इन कर्मों का करने वाला मैं हूं'। बस इतने से ही सब काम हो जायगा। तुम इस शरीर के फेर में मत पड़ो, सब प्रकार की स्वार्थपूर्ण कामनाएं छोड़ दो और फिर जिस समय जो भोग उपस्थित हों, उन सबका निःशंक होकर उपभोग करो। अब तुम हाथ में धनुष उठाओ, इस रथ पर चढ़ आओ और शान्त तथा प्रसन्न चित्त से क्षात्रवृत्ति का अंगीकार करो। संसार में अपनी कीर्ति का विस्तार करो, स्वधर्म का सिर ऊंचा करो और पृथ्वी का यह भार उतार दो। हे अर्जुन, अब तुम सब शंकाएं छोड दो और इस युद्ध में मन लगाओ। यहां तक कि युद्ध के सिवा और किसी विषय की चर्चा भी मत करो।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

जो कोई मनुष्य दोषदृष्टि से रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मत का सदा अनुसरण करेंगे, वे सब कर्मों का आचरण करते रहने पर भी कर्म-बन्धन से अलिप्त रहेंगे। इसलिए यह मत निस्सन्देह आचरण करने के योग्य ही है।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

"परन्तु जो लोग माया के फेर में फंसे रहेंगे और इन्द्रियों की आज्ञा के अनुसार चलते हुए मेरे इस मत का धिक्कार या तिरस्कार करेंगे, जो इस मत को सामान्य समझेंगे अथवा इसकी ओर तुच्छ दृष्टि से देखेंगे अथवा उद्दंडतापूर्वक यह कहेंगे कि यह कोरी बकवाद है, उनके सम्बन्ध में तुम निस्सन्देह यह समझ लो कि वे मोह के मद से मत्त हैं, विषयों के विषय से भरे हुए हैं और अज्ञान के कीचड़ में डूबे हुए हैं। जिस प्रकार प्रेत के हाथ में दिया हुआ रत्न व्यर्थ जाता है अथवा जन्मान्ध को प्रभात होने का विश्वास नहीं होता, अथवा जिस प्रकार चन्द्रोदय का कौए के लिए कोई उपयोग नहीं होता, उसी प्रकार कर्मयोग का यह उपदेश भी मूर्ख को अच्छा नहीं लगता। इसीलिए वे लोग इस मत का आदर नहीं करते, बल्कि उल्टे इसकी निन्दा करने लगते हैं। और ऐसा होना बिलकुल स्वाभाविक ही है, क्योंकि पतंगा कभी दीपक का प्रकाश सहन नहीं कर सकता। यह तुम्हीं बतलाओ कि वह सहन कर सकता है ? जिस प्रकार पतंगा दीपक को आलिंगन करने जाता है और सदा उसी में जल मरता है, उसी प्रकार विषयों का सेवन करने वाले ऐसे मूर्ख भी आत्मघातक ही होते हैं। इसी प्रकार, भाई अर्जुन, जो लोग परमार्थ सम्बन्धी इन बातों से घबराते हों, उनसे कभी इस विषय में बात न करनी चाहिए।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

"इसलिए कभी किसी ज्ञानी पुरुष को यह उचित नहीं है कि वह मन की उमंग, मौज या रंजन के लिए इन इन्द्रियों का लालन-पालन करे और इनका हौसला बढ़ावे। भला तुम्हीं बतलाओ कि क्या कभी सर्प के साथ खेला जा सकता है ? अथवा बाघ के साथ उठना-बैठना हो सकता है ? या हलाहल विष पीकर कोई जीता रहकर उसे

पचा सकता है ? देखो, पहले यदि विनोद में कहीं आग लगा दी जाय तो फिर जब वह भड़क उठती है, तब उसका नियंत्रण नहीं हो सकता। इसी प्रकार इन्द्रियों का लालन-पालन करने और सदा उनके फेर में पड़े रहने से बहुत बड़ा संकट आ उपस्थित होता है। हे अर्जुन, यदि सचमुच यह शरीर पराधीन है तो फिर हम इसके लिए अनेक प्रकार के भोगों का क्यों संग्रह करें ? हम क्यों अनेक प्रकार के कष्ट सहकर नाना प्रकार के विषयों का सम्पादन करें और क्यों उन विषयों से दिन-रात इस शरीर का पालन करते रहें ? सब तरह से कष्ट भोगकर और अनेक प्रकार की सम्पत्तियां प्राप्त करके और इस सम्पत्ति के सम्पादन के लिए स्वधर्म को भी भूलकर किसलिए इस शरीर को पुष्ट करें ? यह शरीर तो पांचभौतिक है और अन्त में यह पंचभूतों में ही जाकर मिल जायगा। जब वह इस प्रकार पंचत्व को प्राप्त हो जायगा, तो फिर हमें अपने इन सब परिश्रमों का फल कहां मिलेगा ? इसलिए केवल शरीर का पोषण करना तो स्पष्ट रूप से आत्मघात करना ही है। इसलिए, हे अर्जुन, केवल पिंडपोषण में तुम कभी मन मत लगाओ।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

"यदि साधारण दृष्टि से देखा जाय तो यदि हम इन्द्रियों को उनकी रुचि के अनुसार सब विषय देते चलें तो मन को सुख होता है। पर देखो, जब कोई यात्री किसी नगर से चलता है और रास्ते में उसे भले मानस के वेष में कोई ठग मिल जाता है, तब कुछ देर के लिए—जब तक यात्री सुरक्षित मार्ग पर रहता है, तब तक—उस चोर का साथ भी सुखद जान पड़ता है। अथवा किसी अवसर पर कदाचित् भूल से विष की मधुरता भी आदमी को अच्छी लग सकती है। उस समय यदि परिणाम का विचार न किया जाय तो जिस प्रकार उस भूल से मनुष्य के प्राण चले जाते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों में जो विषय-वासना होती है, वह सहज में मनुष्य को सुख का चस्का लगा देती है। जिस प्रकार मांस की सहायता से बंसी मछली को भ्रम में डाल देती है, परन्तु उस मछली को यह पता नहीं रहता कि इस मांस के अंदर मेरे प्राण लेने वाला कांटा छिपा हुआ है, क्योंकि बंसी का वह कांटा मांस से ढका हुआ रहता है, ठीक उसी प्रकार की बात इन विषय-वासनाओं के सम्बन्ध में भी है। मन में विषयों की आशा करते ही मनुष्य क्रोध के वशीभूत हो जाता है। जिस प्रकार शिकारी जान-बूझकर अपने शिकार को चारों तरफ से घेरकर उस स्थान पर ले जाता है, जहां उस शिकार का घात हो सकता है, उसी प्रकार विषय-वासनाओं का भी यही काम है कि वे बुद्धि को पकड़कर नष्ट कर डालती हैं। इसलिए हे पार्थ, काम और क्रोध दोनों ही महाघातक हैं और तुम कभी इनका संग न करो। तुम काम और क्रोध का साथ मत करो, यहां तक कि अपने मन में इनकी स्मृति भी मत आने दो। अपने आत्मसुख के अनुभव का रस नष्ट मत होने दो।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

"अपना स्वधर्म चाहे कठिन ही क्यों न जान पड़े, परन्तु फिर भी उसका आचरण करने में ही कल्याण है। दूसरे का आचरण चाहे देखने में कितना ही अच्छा क्यों न जान पड़े, तो भी हमें केवल अपना ही आचार स्थिर रखना चाहिए। मान लो कि किसी शूद्र के यहां सब प्रकार के अच्छे-अच्छे पकवान तैयार हुए हैं। अब चाहे कोई ब्राह्मण कितना ही दुर्बल क्यों न हो, फिर भी तुम्हीं बतलाओ कि क्या उस ब्राह्मण को कभी वे पकवान खाने चाहिए ? इस प्रकार का अनुचित कृत्य क्यों किया जाय ? जो वस्तु स्वीकृत करने के योग्य न हो, उसकी इच्छा ही क्यों की जाय ? और यदि कभी इस प्रकार की इच्छा हो भी जाय, तो भी क्या उस अग्राह्य वस्तु को अंगीकार करना चाहिए ? हे अर्जुन, तुम इन सब बातों का बहुत अच्छी तरह विचार करो। दूसरे का सुन्दर पक्का भवन

देखकर अपनी बनाई हुई फूस की झोंपड़ी क्यों गिराई जाय ? पर ऐसे प्रश्न बहुत हो चुके। अपनी स्त्री यदि कुरूपा भी हो, तो भी जिस प्रकार उसी की संगति अपने लिए कल्याणकारिणी होती है, उसी प्रकार स्वधर्म चाहे कितना ही संकटमय क्यों न हो और उसका आचरण करना कितना ही कठिन क्यों न हो, तो भी वह हमें परलोक में सुख देने वाला ही होता है। चीनी और दूध की मिठास तो प्रसिद्ध ही है; परन्तु जिसे कृमि-रोग हो, उसके लिए इनका सेवन हानिकर ही होता है। अब जिसे कृमि-रोग हो, वह इनका सेवन ही क्यों करे ? इतना होने पर भी यदि वह रोगी दूध और चीनी का सेवन करेगा तो उसकी सुख की इच्छा कभी पूरी नहीं होगी क्योंकि अन्त में वह उसके लिए कुपथ्य ही सिद्ध होगा। इसलिए यदि हम यह चाहते हों कि हमारा कल्याण हो, तो हमें ऐसे कर्मों का कभी आचरण नहीं करना चाहिए जो दूसरों के लिए भले ही उचित हों, पर स्वयं हमारे लिए जो अनुचित हों। यदि स्वधर्म का आचरण करने में प्राण भी चले जायं, तो वह भी अच्छा है, क्योंकि वह दोनों ही लोकों में सदा श्रेष्ठ ही सिद्ध होगा।" यही सब बातें देवेश्वर श्रीकृष्ण ने कहीं। इस पर अर्जुन ने प्रार्थना की—"हे देव ! आपने जो कुछ कहा वह सब मैंने अच्छी तरह सुना। तो भी मन में कुछ बातें आई हैं जो मैं आपसे पूछता हूं।"

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

"हे देव, ज्ञाता लोग भी जो आत्मवृत्ति की स्थिति से भ्रष्ट होते हैं और मार्ग छोड़कर इधर-उधर भटकते फिरते हैं सो ऐसा क्यों होता है ? जो लोग सर्वज्ञ हो चुके हों, जो अच्छी तरह समझते हों कि ग्राह्य क्या है और अग्राह्य क्या है, वे लोग किस कारण से पर-धर्म का स्वीकार करके स्वधर्म का उल्लंघन करते हैं ? जिस प्रकार अन्धा धान और भूसी को अलग-अलग नहीं कर सकता, उसी प्रकार ग्राह्य और अग्राह्य निवाचन करते समय कभी-कभी ज्ञाताओं को भी क्यों गड़बड़ी में पड़ते हुए देखा जाता है ? जो अपने स्वाभाविक कर्म के सब झगड़े छोड़ देते हैं, वे भी सारे संसार के बखेड़े अपने गले लगाकर तृप्त नहीं होते। जिन लोगों को वास्तव में वनों में रहना चाहिए, वे लोग भी आकर मनुष्यों के निवास-स्थानों में रहने लगते हैं। यदि वे स्वयं आड़ में रहते, तो वे पापों को पूर्ण रूप से टाल सकते थे। फिर भी वही लोग स्वयं ही जान-बूझकर पापों का आचरण करने लगते हैं। मन जिस वस्तु का तिरस्कार कर देता है, उसी का वह ध्यान लगाये रहता है; और यदि उसे कोई मना करने जाय तो वह उलटे लड़ने को तैयार होता है। देखने में ऐसा जान पड़ता है कि इन ज्ञानियों पर भी बलात्कार हुआ है। तब यह बलात्कार करने की सामर्थ्य किसमें है ? हे श्रीकृष्ण, आप कृपा कर यही बात मुझे बतला दें।"

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

इस पर योगियों के निष्काम मन में रमण करने वाले पुरुष श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ने कहा—"हे अर्जुन, मैं बतलाता हूं, सुनो। भाई, यह बलात्कार करने वाले काम और क्रोध ही होते हैं। इनमें करुणा का लेश भी नहीं होता। ये काल के समान निष्ठुर होते हैं। ये ज्ञान-रूपी सम्पत्ति को घेरकर बैठने वाले काल-सर्प हैं; अथवा ये विषयों की खाई में के बाघ हैं अथवा इन्हें ईश्वर-भक्ति के मार्ग में डाका डालने वाले प्राणघातक डोम ही समझना चाहिए। ये शरीर-रूपी किले के पत्थर हैं अथवा इन्द्रिय-रूपी बस्ती के कोट हैं। इनका अधिकार सारे संसार पर छाया हुआ है। ये रजोगुण से व्याप्त मन्त्र में के राक्षस हैं और अज्ञान के अन्न से ही अपना निर्वाह करते हैं। वास्तव में इनकी उत्पत्ति तो रजोगुण से हुई है, पर जान पड़ता है कि तमोगुण को ये बहुत अच्छे लगते हैं, इसीलिए तमोगुण ने प्रमाद

और मोह आदि अपने स्वभाव-धर्म इन्हें दे दिये हैं। ये काम और क्रोध प्राण लेने वाले हैं, इसलिए मृत्यु की राजधानी में इनका बहुत सम्मान है। जब एक बार इनकी भूख शुरू होती है, तब समस्त विश्व भी इनके एक ग्रास भर को नहीं होता। ज्यों-ज्यों इनका हाथ चलता जाता है, त्यों-त्यों इनकी आशा भी उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इसी प्रकार आशा की छोटी बहन भ्रान्ति भी इन्हें बहुत प्रिय है। वह भ्रान्ति ऐसी है कि जब यह एक बार सहज में अपनी मुट्ठी खोलती है और उसमें कुछ लेना चाहती है, तो फिर उस मुट्ठी में चौदहों भुवनों का भी पता नहीं चलता। यह भ्रान्ति ऐसी विलक्षण है कि जब वह रसोई का खेलवाड करती है, तब तीनों लोकों को सहज में हजम कर सकती है। तृष्णा का निर्वाह भी इसी की दासता के बल पर होता है। मोह सदा इन काम-क्रोध का बहुत सम्मान करता है और अहंकार भी इनके साथ लेन-देन का व्यवहार रखता है और इसीलिए यह जिस तरह चाहता है, उसी तरह सारे संसार को नचाता रहता है। जो दम्भ सदा सत्य का सार निकालकर असत्यता का भूसा भरता है, वह भी इन्हीं सबके संसार में निवास करता है। इन्हीं ने शान्ति को लूटकर माया-रूपी भिखमंगिन का शृंगार किया है और उससे साधु-मण्डली को भ्रष्ट किया है। इन्हीं काम और क्रोध ने विवेक का आश्रय-स्थल उजाड़ा है, वैराग्य के शरीर पर का चमड़ा उधेड़ डाला है और जीते जी उपशम का गला घोंट डाला है। इन्होंने सन्तोष रूपी वन को उजाड़ा है, धैर्य का कोट काटकर गिराया है और आनन्द का पौधा उखाड़कर फेंक दिया है। इन्हीं ने उपदेश की एकता नष्ट की है, सुख के अक्षर पोंछ डाले हैं—उनका नाम भी नहीं रहने दिया है—और संसार के अन्तःकरण में तीनों तापों की आग लगा दी है। ज्यों ही ये किसी के शरीर या अंग में आकर लगते हैं, त्यों ही जीव के साथ भी चिमट जाते हैं और तब ब्रह्मा आदि को भी ढूंढ़े नहीं मिलते। ये चैतन्य तत्त्व के पास ही ज्ञान की पंक्ति में घुसकर जा बैठते हैं, और जब एक बार अपना कार्य आरम्भ कर देते हैं, तब फिर किसी प्रकार रोके नहीं रुकते। नाव बिना पानी के ही डुबा देते हैं, बिना आग के ही जला डालते हैं और बिना बोले ही प्राणियों को अपने चंगुल में फंसा लेते हैं। ये बिना शस्त्रों के ही मार डालते हैं, बिना डोरी के ही जकड लेते हैं और शर्त बदकर ज्ञानवान् पुरुषों का भी वध कर डालते हैं। ये बिना कीचड़ के ही जीवों को नीचे धंसा देते हैं, बिना जाल के ही पकड़ लेते हैं और अपने उत्कट बल के कारण किसी से हार नहीं मानते।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

"जिस प्रकार चन्दन की जड़ में सांप लिपटा रहता है अथवा गर्भाशय का आंचल गर्भ को घेरे रहता है, अथवा जिस प्रकार प्रभा के बिना सूर्य, धुएं के बिना अग्नि अथवा मल के बिना दर्पण कभी नहीं दिखाई पड़ता, उसी प्रकार आज तक मेरे देखने में ऐसा ज्ञान नहीं आया, जिसमें काम और क्रोध की बिलकुल गन्ध न हो। जिस प्रकार छिलके के नीचे अन्न का दाना छिपा हुआ रहता है, उसी प्रकार ज्ञान स्वयं शुद्ध होने पर भी काम और क्रोध से आच्छादित रहने के कारण गूढ़ बना रहता है। अब यदि यह कहा जाय कि पहले इन दोनों को जीतना चाहिए और तब ज्ञान सम्पादित करना चाहिए, तो काम-क्रोध आदि राक्षसों का पराभव होना सम्भव नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि इन्हें मारने के लिए अपने अंग में सामर्थ्य लानी चाहिए, तो जिस प्रकार जलाने की लकड़ी आग की सहायता ही करती है, उसी प्रकार जो-जो उपाय किए जायं, वे सब इनके सहायक ही होते हैं। इसीलिए

हठयोगियों को ये काम-क्रोध बहुत हैरान करते हैं। परन्तु इस महा-संकट से बचने का भी एक उपाय है। यदि वह तुम्हें अच्छा लगे तो मैं बतला दूं।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

"काम और क्रोध का मूल स्थान इन्द्रियों में होता है और इन्हीं इन्द्रियों से कर्म की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इसलिए सबसे पहले इन इन्द्रियों को ही अपने वश में कर रखना चाहिए।

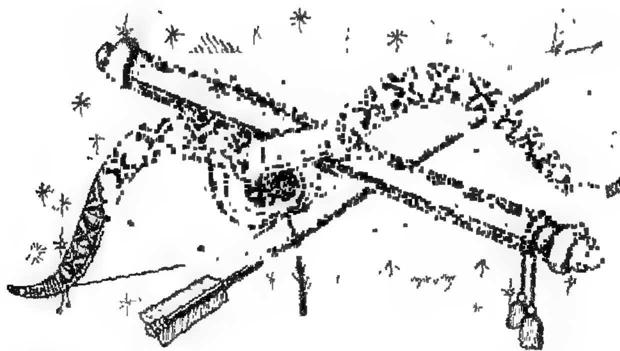
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

"ऐसा करने से मन का इधर-उधर दौड़ना आपसे आप बन्द हो जाता है, बुद्धि का छुटकारा हो जाता है और इन काम-क्रोध आदि पापियों का आधार ही नष्ट हो जाता है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

"जब ये अन्तःकरण से बाहर निकाल दिये जाते हैं, तब फिर पूर्ण रूप से इनका नाश हो जाता है। जिस प्रकार बिना सूर्य की किरणों के मृग-जल नहीं होता, उसी प्रकार यह समझ लेना चाहिए कि काम-क्रोध आदि के न रह जाने पर ब्रह्मज्ञान का साम्राज्य प्राप्त हो जाता है। फिर जीव अपने आत्मानन्द में सुखपूर्वक रहता है। जो गुरु और शिष्य का गुप्त रहस्य है, जो जीव और शिव की भेंट है, उसी स्थिति में जीव शान्त होकर ध्यान लगाता है और फिर कभी विचलित नहीं होता।" संजय ने धृतराष्ट्र से कहा–"हे राजन्, जो समस्त सिद्धों के राजा और लक्ष्मी के पति देवदेवेश्वर श्रीकृष्ण हैं, उन्होंने ये सब बातें कहीं।" अब वे अनन्त श्रीकृष्ण और भी एक महत्त्व की बात बतलावेंगे और अर्जुन भी कुछ प्रश्न करेंगे। उस संवाद की योग्यता और रसालता के कारण उसका वर्णन श्रोताओं के लिए सुख का सुकाल ही होगा। इसलिए श्रीनिवृत्तिनाथ का शिष्य मैं ज्ञानदेव कहता हूं कि आप लोग अपनी ज्ञान-लालसा को अच्छी स्फूर्ति देकर इस कृष्णार्जुन-संवाद के माधुर्य का स्वाद लें।





चौथा अध्याय



ब्रह्मार्पणयोग

अब श्रवणेन्द्रिय के लिए बहुत शुभ काल आया है, क्योंकि आज उसके लिए गीता रूपी अमृत का भांडार खुल रहा है। जो बात पहले स्वप्न के समान और केवल काल्पनिक जान पड़ती थी, वही आज वास्तविक सिद्ध हो रही है। एक तो विषय ही बिलकुल अध्यात्म-विचार का है, तिस पर वक्ता हैं प्रत्यक्ष श्री जगदीश्वर श्रीकृष्ण; और उसमे भी श्रोता हैं भक्त-श्रेष्ठ अर्जुन। बस जिस प्रकार कोकिल सरीखे स्वर मधुर, सुवास और सुन्दर रुचि तीनों का मोहक संयोग होता है, उसी प्रकार गीता का यह कथा-प्रसंग बहुत ही आनन्द का हुआ है। यह कितने बड़े सौभाग्य की बात है कि हम लोगों को यह अमृत की गंगा प्राप्त हुई है। सचमुच आज ही श्रोताओं को उनके जप-तप का फल मिला है। अब सब इन्द्रियों को ले चलकर इसी श्रवणेन्द्रिय में स्थापित कर देना चाहिए और इस गीता नामक श्रीकृष्ण-अर्जुन-संवाद के रस का सेवन करना चाहिए। पर अब मैं इन लम्बी-चौड़ी बातों को छोड़कर वह कथा कहना ही आरम्भ करता हूं। श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों बातें कर रहे थे। उस समय संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—"अर्जुन वास्तव में निर्मल गुणों की देवी सम्पत्ति से मंडित है, क्योंकि परमात्मा श्रीकृष्ण उसके साथ अत्यन्त प्रेम से बातें कर रहे हैं। श्रीकृष्ण ने जो गहन तत्त्व कभी स्वयं अपने पिता वसुदेव, माता देवकी और भाई बलराम को भी नहीं बतलाया; वही आज उन्होंने अर्जुन को बतलाया। यद्यपि देवी लक्ष्मी उनकी इतनी समीपी हैं, पर उन्हें भी वह प्रेम-सुख नहीं प्राप्त होता। वही श्रीकृष्ण के प्रेम का सच्चा तत्त्व आज अर्जुन को प्राप्त हुआ है। सनकादिक योगियों को इस बात की बहुत बड़ी आशा थी कि ईश्वरीय प्रेम पूर्ण रूप से हमीं लोगों को प्राप्त होगा; पर उन्हे भी वैसी सफलता नहीं प्राप्त हुई, जैसी अर्जुन को हुई। अर्जुन के प्रति इन जगन्नायक का प्रेम केवल तुलना-रहित है। इस अर्जुन की भी कैसी पुण्याई है कि इसके लिए प्रत्यक्ष निराकार परमेश्वर साकार रूप धारण करके अवतरित

हुए हैं। मुझे तो ये दोनों बिलकुल एक रूप जान पड़ते हैं। सामान्यतः जो योगियों को भी प्राप्त नहीं होता; वेदार्थ की भी समझ में नहीं आता और ध्यान तथा धारणा की शक्ति भी जिसे नहीं देख सकती, वही श्रीकृष्ण आत्मस्वरूप, अनादि और निर्विकार होने पर भी, देखिये, अर्जुन के प्रति कैसे प्रेमपूर्ण और सदय हो गये हैं। जो श्रीकृष्ण त्रैलोक्य रूपी वस्त्र की मानो तह ही हैं अथवा आकार आदि विकारों से बिलकुल अलग और परे हैं, उन्हें इस अर्जुन के प्रेम ने किस प्रकार अपने वश में कर लिया है।

श्रीभगवानुवाच–

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

देव ने अर्जुन से कहा–"मैंने यह अविनाशी योग सूर्य को बतलाया था; पर इस बात को बहुत दिन हो गये। फिर उस सूर्य ने यह योग वैवस्वत मनु को बतलाया था। मनु ने यह योग-स्थिति प्राप्त करके इक्ष्वाकु को इसका उपदेश दिया था। यही इस योग का पूर्व इतिहास है।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥

फिर अनेक राजर्षियों को इसका ज्ञान हुआ। परन्तु इस समय योग को जानने वाला कोई दिखाई नहीं देता। प्राणी वासनाओं के फेर में पड़ गये और देह-बुद्धि के मोह में पड़ गये और इसीलिए वे लोग यह आत्मज्ञान भूल गये। जब आत्मनिष्ठा की भावना दृढ़ न हो, तब सुख की पराकाष्ठा विषय-सुखों में ही जान पड़ती है और लोगों को संसार के सब उलट-फेर प्राणों के समान प्रिय होते हैं। नहीं तो दिगम्बर क्षपणकों अर्थात् जैन साधुओं के गांव में कपड़े-लत्तों का क्या काम ? अथवा जन्मान्ध के लिए सूर्य का ही क्या महत्त्व हो सकता है ? अथवा बहरों के घर में संगीत का मान क्यों होने लगा ? अथवा गीदड़ों के मन में क्या कभी चन्द्रमा के प्रति प्रेम और आदर उत्पन्न होता है ? अथवा चन्द्रोदय होने से पहले ही जिसकी देखने की शक्ति नष्ट हो जाती है, वह कौआ चन्द्रमा को कैसे पहचान सकता है ? इसी प्रकार जो लोग कभी वैराग्य के गांव में गये ही नहीं और जिन्हें यह भी मालूम नहीं कि विवेक किसे कहते हैं; वे मूर्ख पुरुष मेरे परमात्म-स्वरूप तक कैसे पहुंच सकते हैं ? न जाने यह मोह कैसे फैला है, परन्तु इस मोह के कारण बहुत-सा समय व्यर्थ ही नष्ट हो गया और इस लोक से कर्मयोग का लोप हो गया।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

"भाई अर्जुन, आज वही कर्मयोग मैं तुम्हें बतला रहा हूं। अब तुम अपने सब सन्देह छोड़ दो। यह कर्मयोग का तत्त्व मेरे हृदय का एक गहन रहस्य है; पर उसे भी मैंने तुमसे गुप्त नहीं रखा, क्योंकि तुम मुझे बहुत ही प्रिय हो। हे वीर पार्थ, तुम पूर्ण प्रेम के अवतार, भक्ति के प्राण और मित्रता के जीवन-सर्वस्व हो। तुम श्रद्धा के आगार हो, इसलिए तुमसे किसी प्रकार दुराव करना भला कैसे ठीक हो सकता है ! यद्यपि इस समय हम युद्ध-भूमि में हैं, तो भी क्षण-भर के लिए इस ओर से हटकर और इस गड़बड़ से अलग होकर तुम्हारी सब शंकाएं दूर कर देना और तुम्हारा मोह नष्ट कर देना बहुत ही आवश्यक है।"

अर्जुन उवाच–

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

इस प्रकार [illegible], यदि माता अपने पुत्र के साथ प्रेम करे तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात [illegible] इस संसार में आप ही थके-मांदे और तप्त लोगों के लिए शीतल छाया और निराश्रितों [illegible] कृपा से मुझे जन्म प्राप्त हुआ है। हे देव, जिस प्रकार कोई स्त्री पहले तो [illegible] जन्म से ही उसकी सब झंझटें सहती है, ठीक उसी प्रकार मेरे लिए [illegible] की बात आपके सामने मैं क्या कहूं। इसलिए, हे देव, अब आप मेरे प्रश्नों [illegible], और मैं जो कुछ कहूं, उसके लिए आप मन में क्रोध न करें। आपने पिछले समय [illegible] कि आपने कर्मयोग के इस रहस्य का वैवस्वत मनु को उपदेश दिया था, सो [illegible] नहीं बनी। क्योंकि मेरे बड़े-बूढ़े भी यह न जानते होंगे कि वह वैवस्वत कौन था। [illegible] था। सुनते हैं कि यह वैवस्वत बहुत दिनों पहले हुआ था और आप श्रीकृष्ण [illegible] आपने जो बात अभी कही है, वह मुझे असम्बद्ध जान पड़ती है। परन्तु हे देव, दूसरी ओर [illegible] के लिए अगम्य है; इसलिए मैं एकदम से यही कैसे कह सकता हूं कि यह बात बिलकुल [illegible]। इसलिए, आपने जो वैवस्वत सूर्य को इसका उपदेश दिया था, उसकी बात आप ऐसे ढंग से कहें [illegible]।"

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥

इस पर श्रीकृष्ण ने कहा, "हे पार्थ, तुम तो अपने मन में निश्चयपूर्वक यही समझते होगे कि जिस समय वैवस्वत सूर्य था, उस समय मैं नहीं था। पर इससे यही सिद्ध होता है कि तुम इन सब बातों के विषय में कुछ भी नहीं जानते। [illegible] और हमारे बहुत-से जन्म हो चुके हैं, परन्तु तुम्हें उन जन्मों का स्मरण ही नहीं है। परन्तु हे अर्जुन, मुझे [illegible] स्मरण है कि मैंने कब-कब और कौन-कौन-से अवतार धारण किये थे।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

[illegible] यद्यपि मैं जन्महीन हूं, पर फिर भी माया के कारण जन्म लेता हूं। मैं जन्म तो धारण कर लेता हूं, परन्तु उससे मेरा मूल का निराकार अमूर्तत्व भंग नहीं होता। हां, माया के गुण से मेरे आत्मस्वरूप में इस प्रकार भास होता है कि मैं अवतार धारण करता हूं और निज धाम को चला जाता हूं। मेरी स्वतन्त्रता में [illegible] कमी नहीं होती। अवतार धारण करने के समय जो मैं कर्मों के अधीन दिखाई पड़ता हूं, यह भी भ्रान्ति के कारण है। जहां यह भ्रान्ति दूर हुई, तहां मैं फिर स्व-स्वरूप में निराकार और निर्गुण रहता हूं। एक वस्तु [illegible] जो दो दिखाई पड़ती हैं, उसका कारण दर्पण होता है। यद्यपि दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है, पर फिर भी यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो क्या वह प्रतिबिम्ब रूपी दूसरी वस्तु सच्ची और वास्तविक ठहरती है? इसी प्रकार, हे अर्जुन, मैं स्वयं तो अमूर्त हूं ही, परन्तु जिस समय मैं माया का आश्रय लेता हूं, उस समय कुछ कार्यों के लिए साकार होकर आचरण करता हूं।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

कारण यह है कि आरम्भ से ही यह क्रम चला आता है कि प्रत्येक युग में धर्म-मार्ग की रक्षा मैं ही करता हूं। इसलिए जब-जब यह देखने में आता है कि अधर्म ने धर्म को दबा लिया, तब-तब मैं अपना जन्म-रहितत्व एवं

ओर रख देता हू और अपने मन मे अमूर्तत्व का भी विचार नही रखता

परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

उस समय मैं धर्मनिष्ठा का पक्ष लेकर साकार रूप से अवतार धारण करता हूं और नव ज्ञान के अन्धकार को निगल जाता हूं। मैं अधर्म की सत्ता का नाश करता हूं, दोषों के नाम मिटा देता हूं और साधु पुरुषों के हाथो से सुख की पताका खड़ी कराता हूं। असुरों के कुलों का नाश करता हू, साधुओं की प्रतिष्ठा बढाता हूं और धर्म तथा नीति को एकत्र करके उन पर पुण्याक्षत छिड़कता हूं—उनका विवाह-सम्बन्ध कराके उन्हें आशीर्वाद देता हू। म अविचारों की कालिख साफ करके विवेक का दीपक उज्ज्वल करता हू जिससे योगियों के लिए वह समय दीवाली क समान हो जाता है। उस समय सारा विश्व आत्मसुख से पूरी तरह भर जाता है, संसार में धर्म के सिवा और कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता और भक्त-मंडली सात्त्विक भक्ति से ओत-प्रोत भरकर फूल जाती है। हे अर्जुन, जिस समय मैं साकार होकर अवतार धारण करता हूं, उस समय पापों के पर्वत नष्ट हो जाते है और पुण्य का प्रभात हो जाता है। इसी प्रकार के कार्यो के लिए मैं प्रत्येक युग में अवतार धारण करता हू। और जिसे यह रहस्य मालूम हो जाय, उसी को इस संसार का सच्चा विवेकशील समझना चाहिए।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

"मैं जन्मरहित होने पर भी जन्म धारण करता हूं; और अक्रिय होने पर भी कर्मो का आचरण करता हू। जो पुरुष विकारों के वश में न होकर इसका वास्तविक रहस्य जानता हो, उसी को परम मुक्त समझना चाहिए। ऐसा पुरुष संसार में रहकर भी कर्म-संग से भ्रष्ट नहीं होता और देहधारी होने पर भी देह-भाव से नहीं बधता, और जब समय आने पर वह पंचत्व को प्राप्त होता है, तब वह मेरे आत्मस्वरूप मे मिल जाता है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

"सामान्यतः जो लोग गत और आगत का शोक नहीं करते, जो निष्काम होते है और जो क्रोध के रास्ते भी नहीं जाते, जो मेरे स्वरूप से भरे रहते हैं, जो केवल मेरी सेवा के लिए जीवित रहते हैं और निर्विकार होकर आत्मज्ञान का आनन्द भोगते हैं, जो महातपस्वी और जपी हैं अथवा जो लोग सब प्रकार के आत्मज्ञान को अपने अपमें एकत्र कर लेते हैं, वे सहज में ही मेरे स्वरूप के समान हो जाते है; वे और मैं सब एक ही हो जाते हैं और हम लोगों में कोई परदा नहीं रह जाता। देखो, यदि पीतल का सारा कलुष समूल नष्ट हो जाए तो फिर सोना प्राप्त करने की कामना में कौन-सा विशेष अर्थ रह जाता है ? इसी प्रकार जो लोग यम-नियमों के द्वारा तपाए जाने पर तपो-रूपी ज्ञान से चोखे या खरे हो जाते हैं, वे यदि मेरा स्वरूप प्राप्त कर लें तो इसमे किसी को शंका ही क्यों हो ?

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

"साधारणतः जो लोग मेरी जैसी सेवा करते हैं, उनके साथ मैं भी वैसा ही आचरण या व्यवहार करता हू। तुम यह बात अपने ध्यान में रखो कि मनुष्यकोटि में स्वभावतः मेरे ही प्रति भक्ति रहती है। परन्तु अज्ञान ने मनुष्यों को दबा रखा है और इसलिए उनकी बुद्धि उलटी हो गई है और इसी कारण से उन लोगों को अनेकता का भास होता है। इसीलिए उन लोगों को अभिन्न वस्तुओं में भी भेद दिखाई देता है और वे नामहीन आत्मतत्त्व

का भी नाम रखते हैं और उन्हें देवता तथा देवी मानकर उनकी आराधना करते हैं। जो आत्मस्वरूप सभी स्थानो मे और सभी समयों में एक-सा रहता है, उसी में इन लोगों को अपने मन की गड़बड़ी के कारण उच्च और नीच के विभागों की कल्पना करनी पड़ती है।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

"वे लोग अपने मन में अनेक प्रकार की कामनाएं रखकर उचित विधियों और विधानों के अनुसार अपनी पसन्द के अनेक देवताओं और देवियों की आराधना करते हैं। फिर जो-जो वस्तुएं वे लोग मांगते हैं, वे सब उन्हें प्राप्त होती हैं। पर यह बात तुम निश्चयपूर्वक समझ रखो कि ये सब किये हुए कर्मो के ही फल होते है। वास्तव में, यह बात निस्सन्देह है कि कर्म के सिवा यहां न तो कोई और देने वाला है और न कोई लेने वाला है। इस मनुष्य-लोक में केवल कर्म ही फलदायक होते हैं। जिस प्रकार खेत में वही उगता है, जो बोया जाता है, अथवा दर्पण में जो देखता है, उसी का प्रतिबिम्ब उसमें दिखाई देता है, अथवा जैसे पहाड़ के नीचे खडे होकर जो कुछ कहा जाय, उसकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है, उसी प्रकार, हे अर्जुन, यद्यपि इन समस्त देवियों और देवताओं के भजन का मैं ही मूल आधार हूं, तो भी उपासक की इच्छा के अनुसार उसे भजन का फल प्राप्त होना है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

"मनुष्य-लोकों में जो चारों वर्ण दिखाई पड़ते हैं, वे भी मैंने ही इसी प्रकार तटस्थ रहकर गुणों और कर्मो के विभागों के अनुसार उत्पन्न किये हैं। कारण यह है कि कर्मो के आचरण का विचार माया के ही आश्रय से और गुण के ही मिश्रण से हुआ है। हे वीर अर्जुन, ये सब मनुष्य मूलतः एक ही वर्ण के हैं; परन्तु गुण और कर्म की नीति के अनुसार चारों वर्णो में विभक्त हो गये हैं। इसलिए, हे अर्जुन, सृष्टि-रचनादि कर्म का कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशी परमेश्वर को तू वास्तव में अकर्ता ही जान।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

"जिसकी समझ में यह तत्त्व अच्छी तरह से आ जाता है कि ये सब मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं, पर फिर भी मैने इन्हें नहीं बनाया है, उनके सम्बन्ध में यह समझ लेना चाहिए कि वे संसार से छूटकर मुक्त स्थिति में पहुच गये हैं।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

"हे अर्जुन, अब तक जो मुमुक्षु जन हो गये हैं, उन सब लोगों ने मेरा यह मूल स्वरूप पहचान कर ही सब कर्मो का आचरण किया है। परन्तु जिस प्रकार आग पर भूने हुए बीज में से अंकुर नहीं निकलता, उसी प्रकार उनके वे निष्काम कर्म उनके लिए मोक्षदायक हुए हैं। हे अर्जुन, इन विषयों के सम्बन्ध में ध्यान में रखने योग्य एक और बात है। वह यह कि कर्म और अकर्म का विचार बुद्धिमान् पुरुषों को भी केवल अपनी पसन्द के अनुसार ओर मनमाने तौर पर करने की आवश्यकता नहीं होती।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

"बुद्धिमान् लोग भी इस बात का विचार करते-करते चकरा गये हैं कि कर्म क्या है और अकर्म के लक्षण क्या हैं। जिस प्रकार नकली सिक्के देखने में ठीक सच्चे सिक्कों के समान होते हैं और आंखों को धोखे में डाल देते हैं, उसी प्रकार ऐसे महा सामर्थ्यशाली लोगों के कर्म भी, जो यदि अपने मन में चाहें तो एक दूसरी ही सृष्टि तक का निर्माण कर सकते हैं, निष्कामता की मिथ्या कल्पना के फेर में पड़कर अन्त में सकाम ही सिद्ध हुए हैं। फिर यहां मूर्खों का तो पूछना ही क्या है ! इस प्रश्न पर विचार करते समय बड़े-बड़े दूरदर्शी लोग भी धोखे में आ गये हैं। इसलिए मैं यह विषय बहुत ही स्पष्ट करके तुम्हें बतलाता हूं। सुनो।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

"जिससे सहज में ही इस विश्व की सृष्टि होती है, उसी को 'कर्म' कहना चाहिए। पहले वह सहज कर्म बहुत ही साफ तरह से समझ लेना चाहिए। फिर अच्छी तरह यह समझ लेना चाहिए कि शास्त्रों में बतलाए हुए वे कौन-से 'विहित कर्म' हैं जो हमारे वर्ण और आश्रम के लिए उपयुक्त कहे गए हैं और उनका उपयोग क्या है। फिर जिन कर्मों का निषेध किया गया है, वे सब कर्म भी अच्छी तरह जान लेने चाहिए। इसका फल यह होगा कि तुम चक्कर या भ्रम में नहीं पड़ोगे। वास्तव में, यह संसार कर्म से व्याप्त है; और कर्म की यह व्याप्ति बहुत ही प्रबल है। परन्तु इस प्रसंग के लिए जितना विवेचन करना आवश्यक है, उतना मैं उसके लक्षणों का विवेचन करता हूं।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

"जो पुरुष कर्मों का आचरण करता हुआ भी यह तत्त्व अपने ध्यान में रखता है कि मैं निष्कर्मा हूं, जो कर्म-संग होने पर भी अपने मन में फल की आशा नहीं रखता और जो केवल कर्तव्य बुद्धि को छोड़कर और किसी कारण से कर्म नहीं करता, उसके सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए कि उसमें यह निष्कर्मता का भाव अच्छी तरह प्रविष्ट हो चुका है। इसलिए जो पुरुष अपने समस्त कर्म यथास्थित रीति से करता रहे उसी को उक्त लक्षणों से युक्त समझना चाहिए। जिस प्रकार पानी के पास खड़ा हुआ मनुष्य पानी में अपना प्रतिबिम्ब देखता है और यह समझता है कि मैं इस पानी में का प्रतिबिम्ब नहीं हूं, बल्कि इससे अलग ही हूं, अथवा जिस प्रकार नाव पर बैठकर नदी में विहार करने वाला मनुष्य नदी के किनारे के वृक्षों आदि के वेगपूर्वक एक के बाद एक करके जाता हुआ देखता है, पर जब अच्छी तरह विचार करता है, तब कहता है कि ये सब वृक्ष अचल हैं, उसी प्रकार जो यह समझता है कि मेरा कर्मों का आचरण आत्मस्वरूप की दृष्टि में बिलकुल मिथ्या है और जो अपना मूल स्वरूप पहचान लेता है, वह सच्चा निष्कर्मा है। जिस प्रकार उदय और अस्त की बाधाओं के रहते हुए भी सूर्य अचल रूप से भ्रमण करता है, उसी प्रकार ऐसा पुरुष सब कर्म करता हुआ भी अपनी निष्कर्मता अचचल रखता है। वह देखने में तो मनुष्य के समान ही जान पड़ता है, परन्तु जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब पानी में पड़ने पर भी वास्तविक सूर्य-बिम्ब उस पानी से नहीं भीगता, उसी प्रकार ऐसे निष्कर्मा पुरुष को भी मनुष्यत्व कभी स्पर्श नहीं कर सकता। ऐसा निष्कर्मा पुरुष विश्व को देखता है, सब कुछ करता है और सब प्रकार के भोग भोगता है, परन्तु फिर भी वह इन सब क्रियाओं से तटस्थ और अलिप्त ही रहता है। वह रहता तो एक ही जगह है, पर फिर भी सारे विश्व में संचार करता है; बल्कि यह कहना चाहिए कि वह स्वयं ही विश्वरूप हो जाता है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

जिस पुरुष को कर्माचरण के सम्बन्ध में कोई चिन्ता या दुःख भी नहीं होता, पर साथ ही जिसको कर्मफल के सम्बन्ध में कोई आसक्ति भी नहीं होती और जिसके मन में इस प्रकार के संकल्प-विकल्प नहीं होते कि—'मैं यह कर्म करूंगा, मैं यह हाथ में लिया हुआ कर्म पूरा करूंगा'; और जो ज्ञान-रूपी अग्नि में अपने समस्त कर्मों की आहुति दे चुका होता है, उस मनुष्य को तुम प्रत्यक्ष परब्रह्म ही समझो।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

"जिसका देह-भाव छूट जाता है, जो कर्मों के फल के सम्बन्ध में निरिच्छ रहता है, और फलों की इच्छा नहीं रखता और सदा आनन्दित रहता है, जो सन्तोष के मध्य गृह में भोजन करने बैठता है और आत्मबोध का चाहे कितना ही अधिक भोजन सामने क्यों न परोसा जाय, पर फिर भी जो कभी यह नहीं कहता कि 'बस, अब यथेष्ट हो चुका', वह आत्मानन्द का माधुर्य दिन-पर-दिन बढ़ती रहने वाली रुचि के साथ सेवन करता है, वह आशा को छोड़ देता है और उसे अहंकार के साथ निछावर करके फेंक देता है। इसलिए जिस समय उसे जो कुछ मिल जाता है, उसी पर वह सन्तोष करता है और इस प्रकार की बात भी उसके पास नहीं आने पाती कि—"यह मेरा है और वह पराया है।" वह जो कुछ देखता, सुनता, चलता या बोलता है, वह सब और इसी प्रकार की जो दूसरी भिन्न-भिन्न क्रियाएं करता है, वे सब आपसे आप ही होती रहती हैं। अधिक क्या कहा जाय, यह सारा विश्व ही उसके लिए आत्मस्वरूप होता है। भला ऐसे पुरुष के लिए कौन-सा कर्म कब बाधक हो सकता है ? जिस द्वैत भाव या दुजायगी के योग से मत्सर उत्पन्न होता है, वह द्वैत भाव जिस मनुष्य में रह ही नहीं जाता, उसके सम्बन्ध में यह कहने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती कि वह निर्मत्सर है, क्योंकि उसके विषय में यह बात स्वयं सिद्ध ही होती है। इसीलिए ऐसा पुरुष सब प्रकार से मुक्त ही रहता है; और इस बात में कुछ भी सन्देह नहीं कि सब प्रकार के कर्म करने पर भी अकर्मा ही रहता है। वह देखने में तो गुणयुक्त जान पड़ता है, परन्तु वास्तव में निर्गुण ही रहता है।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

"वह चाहे देहधारी ही हो, पर फिर भी केवल चैतन्य-रूप ही रहता है, वह परब्रह्म की कसौटी पर खरा और चोखा ही उतरता है। ऐसा पुरुष यदि सहज लीला से यज्ञ-योग आदि कर्म करे भी, तो भी वे सब उसके आत्मस्वरूप में ही लीन हो जाते हैं। जिस प्रकार असमय में आने वाले मेघ आकाश में चारों ओर फैल जाने पर भी वृष्टि नहीं करते, बल्कि आपसे आप ही आकाश में लीन हो जाते हैं; उसी प्रकार ऐसे पुरुष के किये हुए यज्ञ-याग आदि कर्म भी उसके ऐक्यभाव में एकरूप हो जाते हैं।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

"इसका कारण यही है कि उसकी बुद्धि में इस प्रकार का कोई भेद-भाव होता ही नहीं कि यह हवन है, यह होता है, यह यज्ञ का भोक्ता है आदि। यष्टा, यज्ञ, याजन, आहुति, मन्त्र आदि सबको वह अविनाशी आत्मस्वरूप

हा समझता है। इसलिए, भाई अर्जुन, जिसकी समझ में यह बात अच्छी तरह आ जाती है कि 'कर्म' का अर्थ ही 'ब्रह्म' है, उसके लिए कर्म करना भी निष्कर्म होने के समान ही होता है। इसीलिए जो लोग अविवेक रूपी बाल्यावस्था को पार करके विरक्ति के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं और तब योग का अग्निहोत्र आरम्भ कर देते हैं, जो लोग रात-दिन यही योग-यज्ञ करते रहते हैं और गुरु के उपदेशों की मन्त्राग्नि में मन के साथ अज्ञान की आहुति देते रहते हैं, उन्हीं को यह योग-यज्ञ करना चाहिए। और हे अर्जुन, जो यज्ञ करने से आत्मसुख का लाभ होता है, इन्द्र आदि देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किये जाने वाले उस यज्ञ को 'देव यज्ञ' कहते हैं। अब मैं तुम्हें यज्ञ के कुछ और प्रकार भी बतलाता हूं, सुनो। जो ब्रह्माग्नि से अग्निहोत्र करते हैं, वे उस यज्ञ से ही अर्थात् ब्रह्म-यज्ञ से ही यज्ञ-विधि करते हैं।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रम्हाग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

"कुछ लोग आत्मसंयम का अर्थात् मनोनिग्रह का अग्निहोत्र करते हैं। वे काया, वाचा और मन के नियमन को ही मन्त्र समझते हैं और इन्द्रिय-रूपी द्रव्य की आहुति देते हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं जिनके मन में वैराग्य उत्पन्न होता है। ऐसे लोग मन के नियम को ही अग्नि का निवास-स्थान बनाकर उसमें इन्द्रियाग्नि जलाते हैं। जब वैराग्य की ज्वाला प्रज्वलित हो जाती है, तब उसमें विकार-रूपी लकड़ियां जलने लगती हैं। और अन्तःकरण पञ्चक-रूपी पांचों कुंडों को आशा-रूपी धुआं छोड़कर बाहर निकल जाता है, जिससे वे कुंड स्वच्छ और तेजस्वी हो जाते हैं। तब ऐसे लोग 'अहं ब्रह्माऽस्मि' के महावाक्य वाले मन्त्र का उच्चारण करते हुए अन्तःकरण के कुंड में इन्द्रियाग्नि के मुख में विषयों की विपुल आहुति देते हैं।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

"हे अर्जुन, कुछ लोग इसी प्रकार संयम का अग्निहोत्र करके निर्दोष हो गये हैं। कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो हृदय-रूपी अरणी अर्थात् काष्ठ-खंड को रगड़कर अग्नि उत्पन्न करने के लिए विवेक का मथानी बनाते है। इस मथानी को मन के समाधान से अच्छी तरह बांध या जकड़कर और धैर्य से दबाकर और गुरु-वाक्य की शक्ति से खूब जोरों से चलाते हैं। इस प्रकार निरन्तर अच्छी तरह घर्षण करते रहने पर शीघ्र ही उसका फल भी मिल जाता है, क्योंकि ज्ञान की अग्नि प्रकट हो जाती है। परन्तु इस ज्ञानाग्नि के पूरी तरह प्रज्वलित होने से पहले जो थोड़ा-सा धुआं निकलता है, वही ऋद्धि-सिद्धियों का मोह है। यह धुआं जब जल्दी ही निकल जाता है, तब पहले ज्ञानाग्नि की बहुत ही छोटी-सी चिनगारी उत्पन्न होती है। यम-दम आदि से सुखाये जाने के कारण पहले से ही जो मन हलका हुआ रहता है, वही मन इस चिनगारी के लिए ईंधन का काम देता है। जब इससे अच्छी ज्वाला उत्पन्न होती है, तब भिन्न-भिन्न वासनाएं समिधा के रूप में ममता-रूपी घृत के साथ जलकर राख हो जाती हैं। उस समय दीक्षित पुरुष 'सोऽहमस्मि' के मन्त्र का उच्चारण करते हुए जलती हुई ज्ञानाग्नि में इन्द्रियों के कर्मों की आहुति देते हैं। तब प्राण कर्म-रूपी सुधा नामक दर्भ पात्र से अग्नि में अन्तिम आहुति दी जाती है और अन्त में ब्रह्म-तादात्म्य की एक-रूप अवस्था में इस यज्ञ-समाप्ति का स्नान होता है। इसके उपरान्त वे यज्ञ करने वाले इस संयम-यज्ञ का अवशिष्ट हविर्भाग, जो आत्मज्ञान का आनन्द है, पुरोडाश के रूप में ग्रहण करते हैं। कुछ लोग इस प्रकार का यज्ञ-विधान करके त्रैलोक्य से मुक्त हो गये हैं। अब तक

मैंने जो यज्ञ-विधान बतलाये हैं, वे चाहे देखने में भले ही अलग-अलग जान पड़ें, परन्तु उन सबका साध्य एक ही है; और वह साध्य ब्रह्म के साथ सम-रसता प्राप्त करना ही है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

कुछ लोग द्रव्य-यज्ञ, कुछ लोग तपोयज्ञ और कुछ लोग योगयज्ञ करते हैं। कुछ लोग शब्दों में शब्दों का ही होम करते हैं। इसे 'वाग्यज्ञ' कहते हैं। जिसमें ज्ञान से ब्रह्म-रूपी ज्ञेय की प्राप्ति होती है, उसे ज्ञानयज्ञ कहते हैं। परन्तु हे अर्जुन, इन सब यज्ञों का विधान करना बहुत ही कष्टकर है। परन्तु जो लोग इन्द्रियों पर अपनी सत्ता स्थापित कर लेते हैं, वे अपने शारीरिक बल से इन यज्ञों का साधन कर सकते हैं। ऐसे लोग बहुत ही कुशल और योग की शक्ति से सम्पन्न होने के कारण ही अपनी जीवात्मा का परमात्मा में हवन कर सकते हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणपानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

"कुछ लोग दृढ़ निश्चय और अभ्यास की सहायता से योग का साधन करके अपान वायु रूपी अग्नि में प्राण वायु रूपी द्रव्य की आहुति देते हैं। कुछ योगीजन प्राण वायु में अपान वायु का हवन करते हैं और कुछ लोग प्राण तथा अपान इन दोनों का ही निरोध कर लेते हैं। ऐसे योगियों को प्राणायामी कहते हैं।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

"कुछ लोग वज्रयोग नामक योग-प्रणाली से विषय रूपी समस्त आहारों का नियन्त्रण करके बड़े धैर्य से प्राणों का ही हवन करते हैं। इस प्रकार के यज्ञ का साधन करके मन का सारा मल निकालकर दूर फेंक देने वाले ये सब यज्ञकर्ता मोक्ष की ही इच्छा करते हैं। जो लोग माया और मोह को जलाकर केवल सहज आत्मस्वरूप ही बच रहते हैं, उनमें फिर अग्नि और यष्टा की भावना ही बाकी नहीं रह जाती। फिर ऐसी अवस्था में यज्ञ करने वाले का हेतु पूरा हो जाता है, यज्ञ-विधान समाप्त हो जाता है और कर्मो के सब झगड़े भी मिट जाते हैं। उस समय विचार और हेतु के प्रश्न करने की जगह ही नहीं रह जाती है और द्वैत भावना का दोष स्पर्श भी नहीं कर सकता।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

"इस प्रकार यज्ञ-विधान के अन्त में जो अविनश्वर, अनादि और निर्दोष ज्ञान प्राप्त होता है, उसी का ब्रह्मनिष्ठ लोग 'अहं ब्रह्मास्मि' मन्त्र का जप करते हुए सेवन करते हैं। इस प्रकार जो लोग इस यज्ञ-शेष के अमृत से तृप्त होकर अमरत्व प्राप्त करते हैं, वे सहज ही ब्रह्म-स्वरूप हो जाते हैं। परन्तु जिन लोगों से इस आत्मसंयम रूपी अग्नि की सेवा नहीं हो सकती और जो लोग जन्म धारण करके भी योगयज्ञ का सम्पादन नहीं करते, उन्हें कभी वैराग्य नहीं होता। जो लोग लौकिक क्रियाओं को भली-भांति सम्पादित न कर सकते हों, उनके सम्बन्ध में पारलौकिक अवस्था की तो बात ही नहीं हो सकती।

एव बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

"मैंने तुम्हें यज्ञ के जो अनेक प्रकार बतलाये हैं, उनका वेदों में बहुत ही विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है। उन सबको तू मन, इन्द्रिय और शरीर की क्रिया द्वारा सम्पन्न होने वाला जान, इस प्रकार तत्त्व से जानकर उनके अनुष्ठान द्वारा तू कर्म बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जायेगा।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

"हे अर्जुन, वेदों में जो बाह्य क्रिया-प्रधान स्थूल यज्ञ बतलाये गये हैं, उनका अपूर्व फल स्वर्गसुख ही है। उन यज्ञों में केवल जड़द्रव्यों का हवन होता है; इसलिए जिस प्रकार सूर्य के सामने सब तारों का तेज फीका पड़ जाता है उसी प्रकार इस ज्ञानयज्ञ के सामने ये सब जड़यज्ञ फीके पड़ जाते हैं और तुच्छ ठहरते हैं। जो ज्ञान स्फूर्ति की आंखों में दिव्य अंजन के समान होता है, जिसके मिलने पर योगीजन यह समझते हैं कि परमात्म सुख का गुप्त भंडार मिल गया और इसीलिए जिसे योगीजन कभी अपने से दूर नहीं होने देते, जो ज्ञान प्रचलित कर्मों का अन्तिम फल, निष्कर्मता की खान और छटपटाने वाले साधकों का पूर्ण समाधान है, जिस ज्ञान के प्राप्त होने पर कर्मों के प्रति होने वाला अनुराग दुर्बल हो जाता है, तर्क अन्धा होकर बैठ जाता है, इन्द्रियों को विषय-सेवन की बात भूल जाती है, जिससे मन का मनत्व ही नष्ट हो जाता है, वाणी की वाग्मिता का अन्त हो जाता है और ज्ञेय का पता लग जाता है, जो ज्ञान वैराग्य की कामना पूरी कर देता है, विवेक का समाधान करता है और जो अनायास ही आत्मतत्त्व के साथ भेंट करा देता है, यदि तुम यह अत्युत्तम ज्ञान प्राप्त करना चाहो तो तुम्हें सच्चे मन से इन सन्त सज्जनों की सेवा करनी चाहिए। क्योंकि ज्ञान के मन्दिर की यह साधु-सेवा देहलीज है। इसलिए, हे अर्जुन, तुम बहुत उत्सुकता से इस ओर प्रवृत्त होकर इसे प्राप्त करो। इसके लिए तन, मन और प्राण से सन्तों के चरणों में लगना चाहिए और अभिमान छोड़कर सब प्रकार से उनकी सेवा करनी चाहिए। ऐसा करने पर जिस ज्ञान की हमें इच्छा है, उसके सम्बन्ध में प्रश्न करने पर ये सन्त लोग उस ज्ञान का भी हमें उपदेश देंगे; और वह ज्ञान ऐसा है कि जिसका उपदेश यदि अन्तःकरण को हो जाय तो वह संकल्पहीन हो जाता है।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

"जिस अवस्था के प्रकाश से चित्त निर्भय होकर परब्रह्म की बराबरी का हो जाता है, वह अवस्था जब प्राप्त हो जाय, तब, हे भाई अर्जुन, तुम स्वयं अपने आपके सहित भूत मात्र को मेरे स्वरूप में ही अखण्ड रूप में देख सकोगे। हे पार्थ, जिस समय सद्गुरु की कृपा होगी, उस समय इस ज्ञान-प्रकाश का प्रभात होगा और अज्ञान का अन्धकार दूर हो जायगा।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

"तुम चाहे पापों के सागर, अज्ञान के आगर और विकारों के पर्वत ही क्यों न हो, तो भी इस परम ज्ञान की शक्ति के साथ तुलना करने पर ये सब दोष तुच्छ ठहरते हैं। इस ज्ञान में ऐसी ही विलक्षण और उत्तम शक्ति है। जिस ज्ञान के प्रकाश के सामने उस अमूर्त परम तत्त्व की विश्वभासरूपी छाया भी बाकी नहीं रह जाती, उस ज्ञान को तुम्हारे मन का मल दूर करने में भला कितना परिश्रम करना पड़ेगा? इस विषय में तो कोई शंका करना ही निरा पागलपन है। इस ज्ञान के समान महत् और व्यापक इस संसार में और कोई पदार्थ नहीं है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

प्रलयकाल की जिस आंधी के सामने त्रिभुवन भी जलकर आकाश में धुएं की तरह उड़ जाता है, उसके

सामने भला साधारण बादल कहां तक ठहर सकते हैं ? अथवा जो प्रलयाग्नि वायु के बल से स्वयं पानी को भी जला डालती है, वह क्या कभी घासों और लकड़ियों के सामने दब सकती है ?

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

"यदि अच्छी तरह विचार किया जाय तो यह कहना बिलकुल असम्बद्ध है कि इस परम ज्ञान से मन का मल नष्ट हो सकता। फिर ज्ञान से बढ़कर संसार में और कोई पवित्र वस्तु भी तो नहीं है। जिस प्रकार संसार में चैतन्य के सिवा और कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसकी चैतन्य के साथ उपमा दी जा सके, उसी प्रकार यह ज्ञान भी ऐसा उत्तम है कि इसके जोड़ का उत्तम और कोई पदार्थ नहीं है। यदि इस महातेजस्वी सूर्य-बिम्ब की कसौटी पर उसका प्रतिबिम्ब खरा उतर सकता हो, अथवा यदि इस आकाश को गठरी में बांधा जा सकता हो अथवा यदि पृथ्वी की बराबरी का भार हाथ में उठाया जा सकता हो, तभी, भाई अर्जुन, संसार से इस ज्ञान की उपमा भी मिल सकती है; और नहीं तो नहीं। इसीलिए यदि सब दृष्टियों से देखा जाय और बार-बार विचार किया जाय तो यही निश्चित होता है कि ज्ञान की पवित्रता ज्ञान में ही है और वह किसी दूसरी जगह नहीं मिल सकती। जिस प्रकार यदि यह बतलाना हो कि अमृत का स्वाद कैसा होता है, तो यही कहना पड़ता है कि वह अमृत के ही समान होता है, उसी प्रकार ज्ञान के लिए भी केवल ज्ञान की ही उपमा हो सकती है। परन्तु अब इस विषय में और अधिक कहना व्यर्थ समय नष्ट करना ही है।" श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर अर्जुन ने कहा—"हे देव, जो आप कहते हैं, वही ठीक है।" इसके बाद अर्जुन ने अपने मन में सोचा कि अब श्रीकृष्ण से यह पूछना चाहिए कि इस ज्ञान को पहचानना कैसे चाहिए और इसके लक्षण क्या हैं। परन्तु श्रीकृष्ण ने उसी समय अर्जुन के मन का यह भाव जान लिया और कहा—"भाई अर्जुन, मैं इस ज्ञान के साधन का उपाय तुम्हें बतलाता हूं। सुनो।

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

"जो पुरुष आत्मसुख का स्वाद चख चुकने के कारण समस्त विषयों को तुच्छ समझता है, जो इन्द्रियों का लालन नहीं करता, जिसे मन किसी प्रकार का कष्ट नहीं देता, जो माया में नहीं भूलता और जो श्रद्धा-बुद्धि की संगति से सुखी हो जाता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि अखंड और निर्दोष शान्तिभरा हुआ यह ज्ञान आपसे आप उसे ढूंढ़ता हुआ उसके पास पहुंचता है। जहां वह ज्ञान अन्तःकरण में अच्छी तरह प्रविष्ट हो जाता है और शान्ति उत्पन्न हो जाती है, वहां आत्मबोध का आपसे आप प्रचंड विस्तार होने लगता है। इतना हो जाने पर वह मनुष्य जिस तरफ आंख उठाकर देखता है, उसी तरफ उसे केवल शान्ति ही दिखाई देती है और उसकी अपने और पराये वाली भावना बिलकुल नष्ट हो जाती है। इस प्रकार इस ज्ञान-बीज का निरन्तर अपरम्पार विस्तार होता रहता है। अब इसका वर्णन मैं कहां तक करूं इतना ही कहना यथेष्ट है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

"हे अर्जुन, जिस प्राणी के मन में यह ज्ञान प्राप्त करने की लालसा न हो, उसका जीने की अपेक्षा मर जाना ही अच्छा है। जिस प्रकार उजड़ा हुआ घर या प्राणहीन शरीर होता है, उसी प्रकार ज्ञानहीन जीवन भी केवल भ्रमपूर्ण ही होता है। अथवा यदि किसी मनुष्य की ऐसी स्थिति हो कि उसे यह ज्ञान तो न प्राप्त हुआ हो, परन्तु फिर भी जिसके मन में इस ज्ञान के प्रति कुछ आदर या प्रेम हो, तो यह समझ लेना चाहिए कि उसके लिए यह ज्ञान प्राप्त कर लेना सम्भव है। जिसे ज्ञान न हो, उसका कोई मूल्य नहीं है। यदि किसी में यह ज्ञान भी न हो और साथ ही



या प्रेम भी न हो, तो उसके सम्बन्ध में यह समझ लेना चाहिए कि वह संशय
किसी मनुष्य के मन में आपसे आप ऐसी अरुचि उत्पन्न हो जाती है कि उसे
, तब स्पष्ट रूप से यही समझ लेना चाहिए कि उसकी मृत्यु सिर पर आ पहुंची
सुखों में फंसा रहता है और जिसमें ज्ञान की रुचि नहीं होती, उसके सम्बन्ध में
चाहिए कि स्वयं संशय ने उसे खूब अच्छी तरह घेर या दबा रखा है। और जो
ाश ही होता है। वह ऐहिक और पारलौकिक दोनों ही सुखों से वंचित रहता है।
रहता है, उसे गरमी और सरदी के भेद का पता नहीं लगता। ऐसा मनुष्य जिस
ी दोनों को समान ही समझता है, उसी प्रकार संशय में पड़े हुए मनुष्य को अच्छे
त और अहित का भेद ज्ञात नहीं होता। जिस प्रकार जन्मान्ध को रात और दिन
संशय में डूबे हुए मनुष्य को भी किसी बात का पता नहीं चलता। इसलिए इस
कोई घोर पातक नहीं है। प्राणियों को पकड़कर उनका सत्यानाश करने के लिए
न यह संशय छोड़ दो, जो ज्ञान के अभाव में उत्पन्न होता है। सबसे पहले तुम्हें
ाप्त करनी चाहिए। जिस समय अज्ञान का घोर अन्धकार फैलता है, उस समय
ा है और श्रद्धा के मार्ग का पूर्ण रूप से अन्त हो जाता है। फिर यह इतना बढ़ता
ा; वह बुद्धि को ग्रस लेता है और तब शीघ्र ही उस मनुष्य के लिए तीनों भुवन

ोगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
ात्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥४१॥
स्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञाना सिनात्मनः।
छेत्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥४२॥

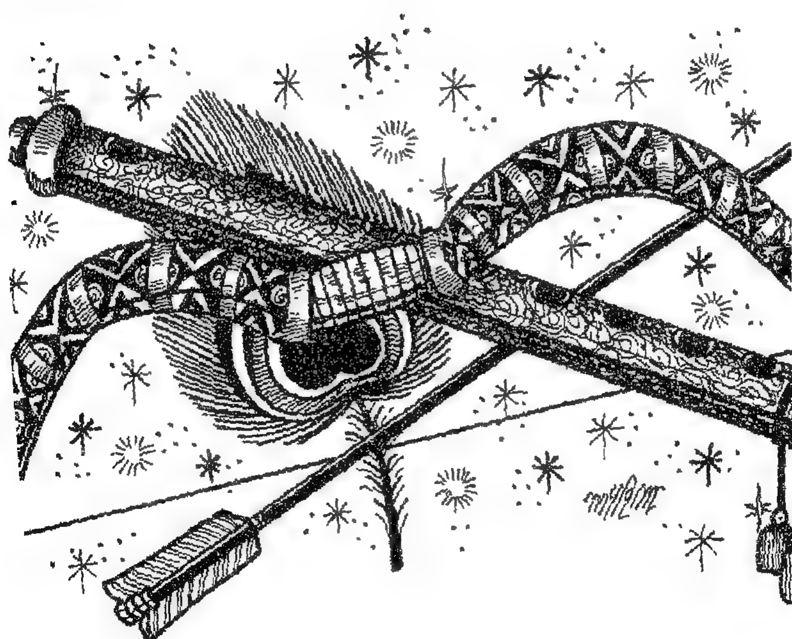
ी व्यापकता इतनी अधिक है, पर फिर भी एक उपाय से इसका दमन हो सकता
लपलपाती हुई तलवार हो तो उस तेज धारवाली तलवार से इसका जड़-मूल से
म को भी इसका कोई अंश नहीं रह जाता। इसलिए, हे भाई पार्थ, तुम चटपट
ा संशय का नाश कर डालो।" इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ और ज्ञान-दीपक श्रीकृष्ण ये
ीं। हे राजा धृतराष्ट्र, आप भी ये सब बातें अपने ध्यान में रखें। श्रीकृष्ण ने पहले
ातें कही थीं, उन सबका विचार करके अर्जुन अब जो प्रश्न करेंगे, उसका प्रसंग
ा की प्रौढ़ता से पूर्ण है। अब आगे वही प्रसंग बतलाया जायगा। जिस शान्त रस
छावर करके फेंक देने के योग्य होते हैं और जिस शान्त रस में सज्जनों की बुद्धि
ा होता है, वह शान्त इस कथा में अपने अपूर्व परिपाक को प्राप्त होगा। यह कथा
म्भीर और अर्थपूर्ण भाषा में सुनें। जैसे सूर्य का बिम्ब बहुत छोटा दिखाई पड़ता
ा है कि तीनों लोकों में भी नहीं समाता, उसी प्रकार आपको इस कथा के शब्दों
गा। अथवा जिस प्रकार कल्पवृक्ष मांगने वाले की इच्छा के अनुसार फल देता है,
ता भी श्रोताओं की इच्छा के अनुसार कम या अधिक होगी। इसलिए आप सब
अब अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। आप सब लोग सर्वज्ञ ही हैं, इसलिए
री यही प्रार्थना है कि आप लोग अच्छी तरह ध्यान देकर सुनें। जिस प्रकार किसी

अर्जुन उवाच–

र्जुन ने श्रीकृष्ण
बतलाते तो मैं
सब कर्मों का
करते और मह
ल्पज्ञ की बुद्धि
ापको किसी
ऐसा होना
हिए। और य
े आरम्भ में है
न सब पिछले
और 'कर्मयो
ायक हो और
ोना चाहिए।

ुण ओर कुलीनता के साथ-ही-साथ पातिव्रत भी रहता है, उसी प्रकार इ
शान्त रस दोनों ही स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। एक तो चीनी यों ही
वह औषध के रूप में दी जाय तो फिर वह बार-बार आनन्दपूर्वक क
और सुगन्धित होती है। तिस पर यदि उसे अमृत का माधुर्य भी प्राप्त
र भी उत्पन्न हो जाय, तब वह अपने स्पर्श से समस्त अंगों का ताप शा
न्द से नचाती है और कानों को तृप्त करके उनसे 'धन्य ! धन्य !' का
था सुनने से कानों के व्रत का पारण हो जाता है और बिना किसी अपक
ते हैं। यदि मन्त्र से ही शत्रु मर जाता हो, तो फिर हाथ में कटार लेने व
नी से ही रोग नष्ट होता हो, तो फिर कड़वी नीम का रस क्यों पिया
और बिना इन्द्रियों को कष्ट दिए केवल यह कथा सुनने से ही आपसे
नाथ का शिष्य ज्ञानदेव कहता है कि आप लोग उतनी ही शान्ति से





पांचवां अध्याय



संन्यासयोग

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

फिर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा—"हे देव, आप ये किस प्रकार की बातें कर रहे हैं। यदि आ
निश्चयपूर्वक बतलाते तो मैं अपने मन में उस पर विचार कर सकता। अभी आपने यही बात
बतलाई है कि सब कर्मों का संन्यास या परित्याग करना चाहिए; और तब आप ही बड़े आनन्
खूब समर्थन करते और महत्त्व बतलाते हैं। यह क्या बात है ? आप जो इस प्रकार दोरुखी बातें
कारण मुझ अल्पज्ञ की बुद्धि में असल बात उतनी अच्छी तरह से नहीं आती, जितनी अच्छी तरह ?
हे देव, यदि आपको किसी एक ही तत्त्व-सिद्धान्त का उपदेश करना हो तो उसके सम्बन्ध में आ
निश्चित और ऐसा होना चाहिए जिसमें और किसी विषय की बातें न हों। आपकी बातें दुविधा
नहीं होनी चाहिए। और यह कोई ऐसी बात नहीं है जो मैं आपको समझाकर बतलाऊं। इसीलि
सद्गुरु से मैंने आरम्भ में ही प्रार्थना की थी कि आप मुझे परमार्थ का ऐसा उपदेश न करें जो गूढ़
अब आप उन सब पिछली बातों को जाने दीजिए; और स्पष्ट रूप से इस बात का विवेच
'कर्म-संन्यास' और 'कर्मयोग' इन दोनों में से कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है जो अन्त तक ठीक ठहर सके
रूप से फलदायक हो और जिसका आचरण भी स्पष्ट और सहज हो ? वह साधन पालकी की त
और सहज होना चाहिए जिसमें नींद भी खराब न हो और यात्रा भी बहुत-सी हो जाय।"

अर्जुन की ये बातें सुनकर श्रीकृष्ण को बड़ा मजा आया और उन्होंने बहुत ही सन्तोषपूर्वक कहा—"हे अर्जुन सुनो। जो साधन मैं तुम्हें बतलाता हूं, वह वैसा ही सहज और सुखद है, जैसा तुम चाहते हो।" हे श्रोतागण श्रीकृष्ण का यह कथन बिलकुल यथार्थ है। क्योंकि जिस भाग्यशाली बालक की माता प्रत्यक्ष कामधेनु ही हो, वह यदि अपने खेलने के लिए चन्द्रमा मांगे तो वह भी उसे मिल जाता है। देखिए, जब उपमन्यु पर श्रीशंकर भगवान् प्रसन्न हुए थे और उपमन्यु ने दूध-भात खाने की इच्छा प्रकट की थी, तब उसकी वह इच्छा पूरी करने के लिए श्रीशंकर ने उसे प्रत्यक्ष क्षीरसागर ही दे दिया था या नहीं ? इसी प्रकार जो श्रीकृष्ण उदारता के गुण के स्वयं जन्म-स्थान ही हैं, वे यदि वीरश्रेष्ठ अर्जुन पर प्रसन्न हो गये हों, तब फिर अर्जुन को सब प्रकार के सुखों का आश्रय क्यों न प्राप्त हो ? इसमें आश्चर्य करने की कौन-सी बात है ? यदि श्रीलक्ष्मीपति कृष्ण के समान धनी मिल जाय तो अपनी इच्छा के अनुसार सब वस्तुएं उनसे अवश्य ही मांग लेनी चाहिए। इसीलिए अर्जुन ने जिस ज्ञान की याचना की थी, वह ज्ञान श्रीकृष्ण ने उसे बहुत आनन्दपूर्वक दिया। अब हम यह बतलाते हैं कि श्रीकृष्ण ने उससे क्या कहा। आप लोग सुनिये।

श्रीभगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

श्रीभगवान् ने कहा—"भाई अर्जुन, यदि कर्म-संन्यास और कर्मयोग का विचार किया जाय तो सिद्ध होता है कि ये दोनों ही मोक्ष प्राप्त करने के मार्ग हैं। तो भी ज्ञानी और अज्ञानी सब प्रकार के जीवों के लिए वास्तव में यह कर्मयोग ही स्पष्ट और सुगम मार्ग है। जिस प्रकार किसी नदी या जलाशय आदि को पार करने के लिए नाव स्त्रियों और बालकों तक के लिए उपयोगी होती है, उसी प्रकार यदि तारतम्य का विचार किया जाय तो कर्मयोग ही सब लोगों के लिए समान रूप से सुलभ है। यदि इस कर्म-योग का ठीक तरह से आचरण किया जाय तो कर्म-संन्यास का फल भी आपसे आप मिल जाता है। मैं पहले तुम्हें संन्यासियों के लक्षण बतलाता हूं जिससे यह विषय बहुत अच्छी तरह तुम्हारी समझ में आ जाय। उसी से कर्म-संन्यास और कर्मयोग का अभेद या एकता बहुत सहज में तुम्हारी समझ में आ जायगी।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

"जो हाथ से निकल जाने वाली वस्तु का स्मरण करके दुःखी नहीं होता, अथवा जो न प्राप्त होने वाली वस्तु के लिए लालायित नहीं होता, जिसका अन्तरंग या मन मेरु पर्वत के समान निश्चल रहता है, जिसके हृदय में 'मैं' 'मेरा' आदि की भावनाएं नाम को भी नहीं रहतीं, हे पार्थ, उसी पुरुष को नित्य-संन्यासी समझना चाहिए। जो मनुष्य इस अवस्था में पहुंच जाता है, उसके लिए कर्म-संग कभी बाधक नहीं होता, और वह सदा अखंड सुख से सुखी रहता है। ऐसे नित्य-संन्यासी को घर-बार और स्त्री-पुत्र आदि के बखेड़ों का परित्याग नहीं करना पड़ता, क्योंकि वह पुरुष संगहीन रहकर यह बात अच्छी तरह जानता रहता है कि इन सब बखेड़ों के साथ मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। देखो, जब आग बुझ जाती है, तब केवल राख ही बाकी रह जाती है। फिर वह राख बत्ती बनाते समय रूई के साथ चुटकी में पकड़ी जा सकती है। इसी प्रकार संसार की उपाधियों में रहते हुए भी जिसकी बुद्धि को संकल्प-विकल्प की आंच नहीं लगती, वह कभी कर्म के बन्धनों में नहीं पड़ता। इसलिए जब संकल्प-विकल्प बन्द हो जाते हैं, तभी संन्यास की प्राप्ति या साधन होता है। इसीलिए कर्म-संन्यास और कर्मयोग दोनों साथ-ही-साथ चलने वाले हैं।

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

"हे अर्जुन, जिन मूढ़ पुरुषों की समझ में यह तत्त्व नहीं आता, वे ज्ञानयोग और कर्मयोग की व्यवस्था भला कैसे समझ सकते हैं ? वे अपने स्वाभाविक अज्ञान के कारण इन दोनों को एक-दूसरे से भिन्न समझते हैं। परन्तु यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो क्या कभी भिन्न-भिन्न दीपकों के प्रकाश में कोई भेद दिखाई पड़ता है ? जो लोग स्वानुभव से आत्मरूप का तत्त्व अच्छी तरह समझ लेते हैं, वे संन्यास और योग में कोई भेद नहीं मानते।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

"ज्ञानयोगियों द्वारा जो परम धाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसीलिए वे दोनों एकरूप ही होते हैं। जिस प्रकार आकाश और अवकाश (खाली स्थान) के भेद का निराकरण नहीं हो सकता, उसी प्रकार योग और संन्यास की एकता के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। जो संन्यास और योग का अभेद या एकता समझता हो उसी के सम्बन्ध में यह समझना चाहिए कि उसे सच्चा प्रकाश प्राप्त हुआ है और उसी को आत्मस्वरूप के दर्शन हुए हैं।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥

"हे अर्जुन, जो व्यक्ति कर्मयोग के पैदल वाले रास्ते से मोक्ष-रूपी पर्वत पर चढ़ता है, वह शीघ्र ही आत्मानन्द के शिखर पर पहुंच जाता है। परन्तु जिन्हें योग-साधन की प्राप्ति नहीं होती, वे व्यर्थ के बखेड़ों में फंसे रहते हैं और उन्हें कभी सच्चे संन्यास की प्राप्ति नहीं होती।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

"जो लोग अपने मन को हटाकर माया और मोह से बिलकुल अलग कर लेते हैं और गुरु के उपदेश से अपने मन का सारा मल धो डालते हैं और उसे आत्मस्वरूप में भली-भांति स्थापित कर देते हैं, और जिस प्रकार नमक जब तक समुद्र में नहीं पड़ता, तब तक तो वह समुद्र से भिन्न और आकार के विचार से उसके सामने बहुत ही तुच्छ जान पड़ता है, पर जब वही नमक समुद में मिलकर उसके साथ एक-जीव हो जाता है, तब वह भी समुद्र के समान ही विस्तृत और अनन्त हो जाता है, उसी प्रकार जिसका मन संकल्प-विकल्पों से बाहर निकलकर चैतन्य में मिल जाता है और उसके साथ समरस हो जाता है, वह पुरुष यद्यपि देखने में देशकाल की मर्यादा के विचार से अन्यान्य लोगों की तरह एक देश में स्थित जान पड़ता है, तो भी वह अपने आत्मस्वरूप से तीनों भुवनों को व्याप्त कर लेता है। अर्थात् ऐसे पुरुष के सम्बन्ध में 'कर्ता', 'कर्म' और इसी प्रकार की दूसरी बातों का सहज में अन्त हो जाता है और तब वह चाहे सब प्रकार के कर्मों का आचरण भी क्यों न करता रहे, तो भी वह सदा अकर्ता ही रहता है। क्योंकि, हे अर्जुन, जब ऐसे पुरुष को अपने देह-भाव का भी स्मरण नहीं रह जाता, तब उसमें कर्तृत्व भला किस प्रकार लग सकता है ?

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

इस प्रकार कर्मयोगी यदि देह का परित्याग न भी करें, तो भी उनमें निर्गुण और निराकार परब्रह्म के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। यदि सामान्य दृष्टि से देखा जाय तो वह भी दूसरे साधारण मनुष्यों की भांति शरीर धारण करके सब प्रकार के कर्म करता हुआ दिखाई पड़ता है। कर्मयोगी भी दूसरे लोगों की ही भांति आंखों से देखता है और कानों से सुनता है; परन्तु उसके सम्बन्ध में विलक्षण बात यही होती है कि वह इन सब कर्मों में फंस नहीं जाता उसे स्पर्श का भी ज्ञान होता है और वास या गन्ध का भी भान होता है। यह प्रसंग के अनुसार उपयुक्त भाषण भी कर सकता है। वह अन्न का भी व्यवहार करता है, निषिद्ध वस्तुओं का परित्याग भी करता है और जब सोने का समय आता है तब वह सुख से सोता भी है। वह अपनी इच्छा के अनुसार चलता-फिरता भी है। इस प्रकार वह सब तरह से कर्मो का सचमुच आचरण करता रहता है। हे अर्जुन, अब मैं अधिक क्या कहूं ! वह श्वासोच्छ्वास और पलकों को उठाने और झपकाने की सब क्रियाएं भी करता है, परन्तु कर्मयोगियों को प्राप्त होने वाले स्वानुभव के बल से वह फिर 'अकर्ता' ही बना रहता है। क्योंकि जब तक वह माया की सेज पर सोया हुआ था, तब तक तो वह स्वप्न के झूठे सुख के फेर में पड़ा हुआ था; परन्तु अब ज्ञान सूर्य का उदय हो जाने के कारण वह जागकर होश में आ जाता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

"जब इस प्रकार की स्थिति प्राप्त हो जाती है, तब देह के संग से इंद्रियां अपने-अपने विषयों में विचरण करती हैं। जिस प्रकार दीपक के प्रकाश में घर के सब काम-धन्धे होते रहते हैं, उसी प्रकार कर्मयोगियों के सब शारीरिक व्यापार होते रहते हैं। कर्मयोगी कर्मों का आचरण करता है, परन्तु जिस प्रकार पानी में रहने पर भी कमल के पत्ते उस पानी से नहीं भीगते, उसी प्रकार कर्म करते रहने पर भी कर्मयोगियों के साथ कर्म का संसर्ग या लेप नहीं होता।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

"जिन कर्मो के सम्बन्ध में बुद्धि की कोई बात ही न निकल सकती हो और मन का अंकुर भी न निकल सकता हो, उन कर्मों को शरीर-कर्म कहना चाहिए। यही बात मैं तुम्हें सुगम शब्दों में बतलाता हूं; सुनो। जिस प्रकार छोटा बालक बिना किसी हेतु या उद्देश्य के यों ही चलता-फिरता रहता है, उसी प्रकार योगी लोग मन में किसी प्रकार की वासना न रखते हुए केवल शरीर से ही कर्मो का आचरण करते हैं। फिर जब पंच-महाभूतों से बना हुआ यह जड़ शरीर योगनिद्रा के वश में हो जाता है, तब मन उसी प्रकार अकेला अपने सब व्यवहार करता रहता है, जिस प्रकार स्वप्न की अवस्था में करता है। हे अर्जुन, इसमें एक विलक्षण बात यह है कि यह वासना ऐसे ढंग से अपना जाल फैलाती है कि वह शरीर को बिलकुल पता भी नहीं लगने देती और उसे सुख-दुःख के भोग में फंसा देती है। जिन व्यापारों की इन्द्रियों को गन्ध भी नहीं मिलती, उन व्यापारों को मानस व्यापार कहते हैं। योगी लोग इन मानस कर्मो का आचरण तो करते हैं, परन्तु उनके मन में अहं-भाव का स्पर्श भी नहीं होता, इसलिए वे कर्म उनके लिए बन्धक नहीं होते। जिस समय कोई मनुष्य पिशाच के चित्त के समान भ्रमिष्ठ होता है, उस समय उसकी इन्द्रियों की क्रियाएं पागलपन की-सी जान पड़ती हैं। उसे आस-पास की सब वस्तुओं और मनुष्यों के रूप और आकार तो दिखाई देते हैं; यदि उसे पुकारा जाय तो वह सुनता भी है और वह स्वयं अपने मुख से बोल भी सकता है, परन्तु देखने से यह नहीं जान पड़ता कि वह कुछ समझता भी है। परन्तु अब व्यर्थ की और बातों की आवश्यकता नहीं। जो कर्म सब प्रकार के कारणों के अभाव में

आर आपस आप होते हैं, उन्हें इन्द्रिय-कर्म कहते हैं। और जो काम समझ-बूझकर किए जाते हैं, वे वास्तव में बुद्धि के कर्म हैं।" श्रीकृष्ण ने अर्जुन से ये बातें कहकर आगे यह भी कहा कि—"वे लोग बुद्धिपूर्वक मन लगाकर सब कर्मों का आचरण तो करते हैं, परन्तु अपनी निष्कर्म वृत्ति के कारण वे मुक्त ही रहते हैं। क्योंकि बुद्धि से लेकर शरीर तक के सम्बन्ध में उनमें अहंभाव का कोई विचार या स्मृति ही नहीं होती और इसीलिए वे सब प्रकार के कर्म करते रहने पर भी शुद्ध ही रहते हैं। हे अर्जुन, कर्तृत्व की अहं-भावना के बिना ही सब प्रकार के कर्म करना 'निष्कर्म काम' कहलाता है और सद्गुरु से प्राप्त होने वाला यह रहस्य ज्ञान उन्हें प्राप्त रहता है। जब ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाती है, तब शान्ति की नदी में ऐसी बाढ़ आती है कि वह अपने पात्र में पूरी तरह से भर जाने के कारण ऊपर चारों ओर फैलने लगती है। हे अर्जुन, मैंने अभी तुम्हें वह तत्व बतलाया है, वाचा की सहायता से जिसका वर्णन जल्दी हो ही नहीं सकता।" हे श्रोतागण, जिनकी इन्द्रियों के उपद्रव पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं, वही इस ज्ञान के सच्चे अधिकारी होते हैं। परन्तु व्याख्यान का यह विस्तार सुनकर श्रोता लोग कहते हैं—"यह इधर-उधर की बातें बहुत हो चुकीं। यदि कथा का सूत्र इस प्रकार छोड़ दिया जायगा तो श्लोकों की संगति ही न रह जायगी। जिस तत्त्व का आकलन करने में मन को भी बहुत कठिनता होती है और जिसका पता लगाने में बुद्धि को भी सफलता नहीं होती, वही तत्त्व इस समय सौभाग्य से तुम्हें शब्दों के द्वारा बतलाया गया है। जो तत्त्व-ज्ञान शब्दों से परे है, वही जब तुम्हें वाणी के द्वारा वर्णन करके बतला दिया गया, तब फिर और बाकी ही क्या रह गया ? अतः अब इन सब बातों का अन्त करके मूल कथा आगे चलानी चाहिए।" कथा सुनने के सम्बन्ध में श्रोताओं की यह प्रबल लालसा देखकर श्रीनिवृत्तिनाथ का दास मैं ज्ञानदेव कहता हूं कि हे श्रोताओ, अब सावधान होकर श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद सुनो। इसके उपरान्त श्रीकृष्ण ने कहा—"अब मैं ऐसे योगी पुरुषों के सम्पूर्ण लक्षण स्पष्ट रूप से बतलाता हूं जो सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। सुनो।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

"जो इस आत्मयोग का सम्पादन कर लेता है और निःशंक होकर कर्मों के फलों की आशा छोड़ देता है, उसे इस संसार में शान्ति स्वयं ही आगे बढ़कर जयमाल पहनाती है। और हे अर्जुन, जो लोग योगहीन होते हैं वे लोग कर्मों की डोरी और वासना की गांठ से फल-भोग के खूंटे के साथ कसकर बांध दिये जाते हैं।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

"जिस प्रकार और लोग फल की आशा से कर्मों का आचरण करते हैं, उसी प्रकार योगी लोग भी कर्मों का आचरण करते हैं; पर वे लोग यह समझकर उन कर्मों की ओर से उदासीन रहते हैं कि ये सब कर्म हमारे किये हुए नहीं हैं। फिर ऐसा पुरुष जिस ओर देखता है, उस ओर सुख-ही-सुख की वर्षा होने लगती है। वह जहां रहता है वहीं आत्मबोध का भी निवास होने लगता है। वह इस नौ छिद्रों वाले शरीर में रहकर भी देहभाव से हीन रहता है; और वह फल की आशा छोड़ चुका होता है, इसलिए कर्मों का आचरण करने पर भी वह अकर्ता ही बना रहता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

"यदि जगत् के आदिबीज परमेश्वर का विचार किया जाय तो वह अकर्ता ही सिद्ध होता है। परन्तु उसी ने

माया की उपाधि से तीनों भुवनों की सृष्टि की है। यदि हम उसे कर्ता कहें तो उससे कर्म का सम्पर्क ही नहीं होता, क्योंकि उसके तटस्थ वृत्ति वाले हाथ-पैरों में कभी मल लगता ही नहीं। न तो कभी उसकी योग-निद्रा ही भंग होती है और न उसके अकर्तृत्व में ही कभी अन्तर पड़ता है; तो भी वही पंचमहाभूतों से इस आकारयुक्त व्यूह की रचना करता है। वह है तो संसार का जीवन ही, तो भी वह कभी किसी के कहने में नहीं रहता। यह संसार बनता और नष्ट होता रहता है, परन्तु इसकी उसे कभी खबर भी नहीं होती।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

"चाहे समस्त पाप-पुण्य उसे चारों ओर से घेरे ही क्यों न रहें, परन्तु फिर भी वह कभी उनकी ओर आंख उठाकर देखता भी नहीं। वह इन पाप-पुण्यों को तटस्थ वृत्ति से देखने वाला साक्षी तो होता ही नहीं; फिर और बातों का तो जिक्र ही क्या है ? वह देह की संगति से देही बनकर अवतार-लीला तो करता है, परन्तु इस अचिन्त्य प्रभु की मूर्तता या निर्गुणता कभी नष्ट नहीं होती। जो लोग यह कहते हैं कि वह विश्व का निर्माण करता है उसकी देख-रेख या पालन करता है, और अन्त में उसका संहार भी करता है; भाई अर्जुन, यह उनका केवल अज्ञान ही समझना चाहिए।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

"जिस समय यह अज्ञान पूर्ण रूप से नष्ट हो जायगा, उस समय भ्रान्ति की कालिमा भी न रह जायगी और तब मनुष्यों को यह अनुभव होने लगेगा कि—'मैं ईश्वर हूं और अकर्ता हूं।' यदि यह बात मन में बैठ जाय कि केवल ईश्वर ही अकर्ता है, तो यह तत्त्व पूर्ण रूप से सिद्ध हो जाता है कि—'मैं ईश्वर हूं।' जब एक बार चित्त पर इस प्रकार के ज्ञान का प्रकाश पड़ता है, तब इस त्रिभुवन में कहीं कोई भेदभाव रह ही नहीं जाता। ऐसी अवस्था में मनुष्य स्वानुभव से सारे जगत् को मुक्त स्थिति में—आत्मस्वरूप में—ही देखता है। क्योंकि तुम्हीं बतलाओ कि क्या कभी ऐसा भी हुआ है कि पूर्व दिशा में सूर्य का उदय होने पर केवल उसी दिशा में प्रकाश हो, और दूसरी दिशाओं का अन्धकार ज्यों-का-त्यों बना रहे ?

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

"बुद्धि के स्थिर हो जाने पर आत्मज्ञान होता है, मन में यह बात अच्छी तरह जम जाती है कि हम ब्रह्म-रूप हैं और मन बिना कुछ भी चंचल हुए ब्रह्मतत्त्व में रहता है और दिन-रात तन्मयता बनी रहती है। इस प्रकार का सर्वव्यापी ज्ञान जिसके हृदय में ओत-प्रोत भर जाता है, उसी को सम-दृष्टि कहना चाहिए। अब इससे बढ़कर मैं और क्या बतलाऊं ! यदि यह कहा जाय कि वह स्वयं अपने ही सामने सारे विश्व को आत्मस्वरूप समझता है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? परन्तु जिस प्रकार दैव में कभी केवल विनोद के लिए भी दीनता नहीं दिखाई पड़ सकती, अथवा विवेक में जिस प्रकार कभी भ्रान्ति का नाम भी नहीं दिखाई पड़ता अथवा जिस प्रकार सूर्य में कभी स्वप्न में भी अन्धकार का कोई चिह्न दिखाई नहीं पड़ सकता अथवा अमृत के कानों में कभी मृत्यु का नाम भी नहीं सुनाई पड़ता अथवा चन्द्रमा को कभी उष्णता का स्मरण भी नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषों में भूत मात्र के विषय में कभी कोई भेदभाव भी देखने में नहीं आता।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

फिर इस प्रकार के भेदभाव कहां रह जाते हैं कि यह मच्छर है, यह हाथी है, यह चांडाल है, यह ब्राह्मण है, यह पराया है, यह मेरा है आदि ? अथवा इस प्रकार की समस्त कल्पनाओं का अन्त हो जाता है कि यह गौ है, यह कुत्ता है, यह श्रेष्ठ है, यह नीच है; क्योंकि जो जाग रहा हो, उसे स्वप्न कहां से दिखाई पड़ेगा ? सब भेद दिखाई तो पड़ते हैं, परन्तु कब ? जब अहंभाव बाकी बचा रहता है, तब। जब वह अहंभाव बिलकुल नष्ट हो जाता है, तब विषमता का कहीं पता भी नहीं रह जाता।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

''इसलिए तुम यह समझ लो कि समदर्शिता का रहस्य ही यह है कि मनुष्य यह समझ ले कि सब स्थानो और सब जीवों में निरन्तर समभाव से रहने वाला जो एकमेवाद्वितीय ब्रह्म है, वह मैं ही हूं। जो विषयों की संगति बिना छोड़े हुए और इन्द्रियों का बिना नियन्त्रण किये निष्काम होकर निःसंग स्थिति का भोग करता है, जो साधारण लोगों की तरह सब प्रकार के व्यवहार करता है, परन्तु लौकिक वस्तुओं का अज्ञानजन्य मोह छोड़ देता है, जो उसी प्रकार संसार को बिना दिखाई पड़े शरीर में रहता है, जिस प्रकार किसी को पछाड़ने वाला भूत किसी को दिखाई नहीं पड़ता अथवा जो देखने में तो उसी प्रकार नाम और रूप के विचार से अलग दिखलाई पड़ता है, जिस प्रकार वायु की सहायता से जल में उठने वाली तरंगों को लोग जल से अलग समझते और उनका अलग नाम 'तरंग' रखते हैं, परन्तु फिर भी जो केवल ब्रह्म ही रहता है और जिसका मन सर्वत्र समभाव से विचरण करता है और इस प्रकार जो समदृष्टि हो जाता है, उस पुरुष का एक विशेष लक्षण भी होता है। हे अर्जुन, मैं वह लक्षण तुम्हें संक्षेप में बतलाता हूं। सुनो।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

''जो पुरुष प्रिय को प्राप्त होकर हर्षित न हो और अप्रिय को प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिर बुद्धि, संशयरहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा में एकीभाव से नित्य स्थित रहता है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

''जो पुरुष कभी आत्म-स्वरूप को छोड़कर इन्द्रियों के वश में नहीं होता, यदि वह विषयों का सेवन न करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? स्वाभाविक और असीम आत्मानन्द से उसका अन्तरंग पूर्ण रूप से सुखी रहता है और इसलिए वह कभी इस आनन्द के बाहर नहीं होता। भला जिस चकोर ने कुमुद के दलों की थाली या पत्तल में चन्द्रमा की किरणों का उत्तम भोजन किया हो, वह क्या कभी रेत के कण खायगा ? उसी प्रकार जिसे आत्मसुख मिल जाय और जो ब्रह्मस्वरूप हो जाय, उसके सम्बन्ध में यह कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं है कि विषयों से उसका आप-ही-आप छुटकारा हो गया।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

''अब हे अर्जुन, जरा इस बात का भी अच्छी तरह विचार कर देखो कि इन विषय-सुखों के जाल में कौन फसता है। जिन्हें आत्मस्वरूप के दर्शन नहीं होते, वही इन इन्द्रिय-विषयों के फेर में पड़ते हैं। जिस प्रकार क्षुधा से पीड़ित मनुष्य भूसी या चोकर भी खा जाता है अथवा प्यास से व्याकुल हिरन असली पानी के स्वरूप के भ्रम से भूलकर रेतीले जमीन को ही पानी समझकर दौड़ते हुए उसके पास आ पहुंचते हैं, उसी प्रकार जिन्हें

आत्मस्वरूप के दर्शन नहीं होते, जिनके पल्ले आत्मसुख के नाम से सदा दरिद्रता ही पड़ी रहती है, उन्हीं के ये विषय-सुख बहुत प्रिय जान पड़ते हैं। परन्तु यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो विषयों के उपभोग मे कहने योग्य बिलकुल कोई सुख नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि इन विषयों में सुख है, तो फिर बिजली की चमक में ही संसार के सब काम क्यों नहीं चलते ? यदि आकाश-रूपी छत की छाया से ही वायु, वर्षा और ताप का निवारण हो सकता हो, तो फिर पक्के तिमंजिले मकान क्यों बनाये जायं ? इसलिए विषय-सुख का शब्द-प्रयोग ही अर्थहीन है। जिस प्रकार माहुर या विष का भी एक नाम 'मधुर' है अथवा जिस प्रकार पापग्रह भौम को भी लोग मंगल कहते हैं अथवा मृग-जल को भ्रम से जल कहते हैं, उसी प्रकार विषयों के सम्बन्ध में भी लोग 'सुख' शब्द का प्रयोग करते हैं। परन्तु वास्तव में इसके लिए 'सुख' शब्द का प्रयोग करना व्यर्थ की बकवाद ही है। अच्छा, यह सब रहने दो और तुम मुझे केवल यही बतलाओ कि सांप के फन की छाया चूहे के लिए कहां तक सुखकारक हो सकती है ? हे अर्जुन, मछली को फंसाने वाली बंसी में मांस का जो टुकड़ा लगाया जाता है, वह मछली को तभी तक मोहक जान पड़ता है, जब तक मछली उसे नहीं निगलती। उसी प्रकार तुम निस्सन्देह रूप से यह बात समझ लो कि ठीक वही दशा विषय-संग की है। हे अर्जुन, यदि इन विषयों की ओर विरक्तों की दृष्टि से देखा जाय तो ये ऐसे पांडु-रोगियों के समान हैं, जो ऊपर से देखने में फूले हुए जान पड़ते हैं। इसीलिए विषयों के उपभोग में जो सुख दिखाई पड़ता है, वह वास्तव में आदि से अन्त तक केवल दुःख-ही-दुःख है। परन्तु अज्ञानी लोग करें क्या ? उनसे विषयों का सेवन किये बिना रहा ही नहीं जाता। उन्हें भीतरी रहस्य तो मालूम नहीं होता, इसलिए ये बेचारे शौक से विषयों का सेवन करते हैं। पीप के कीचड़ में रहने वाले कीड़ों को क्या कभी पीप से घृणा होती है ? उन दुःखी जीवों के लिए तो वह दुःख ही परम प्रिय जीवन होता है। वे तो उपभोग रूपी जल में मछली के समान रहते हैं। फिर वे उस कीचड़ और उस पानी को कैसे छोड़ सकते हैं ? ये विषय दुःखों की योनि अर्थात् दुःख उत्पन्न करने वाले होते हैं। यदि वे जीव इन विषय-भोगों के प्रति निस्पृह और उदासीन रहें तो घृणित विषय-भोग नष्ट ही हो जायं। कहीं नाम को भी विश्राम पाये बिना गर्भवास आदि के संकटों और जन्म-मरण की यातनाओं का विकट मार्ग अतिक्रमण करने के लिए भला कौन तैयार होता ? और यदि ये विषयासक्त जीवन विषयों को छोड़ दें तो बेचारे महादोषों का कहां ठिकाना लगे ? और फिर जगत् में यह 'संसार' शब्द ही मिथ्या ठहरेगा और उसका अन्त हो जायगा। इसीलिए झूठे सुख के फेर में पड़े हुए जिन लोगों ने विषयों के द्वारा होने वाले दुःखों का अंगीकार किया है, उन्हीं ने इस कोरे मायिक भ्रम को वास्तविक बना लिया है। हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, ये विषय बहुत ही बुरे हैं। इसलिए कभी भूलकर भी इन विषयों के मार्ग में पैर नहीं रखना चाहिए। जो पुरुष विरक्त होते हैं, वे विषयों का विष की तरह परित्याग करते हैं, और विषयों का परित्याग करने में उनके सामने जो दुःख आते हैं, वे उनके इच्छाहीन होने के कारण ही उन्हें दिखाई नहीं देते।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

"जो ज्ञानी पुरुष देह के समस्त विकारों को पूर्ण रूप से अपने वश में कर लेते हैं, उनके लिए विषय-जन्य दुःख कहीं नाम को भी नहीं रह जाते। जो लोग बाह्य विषयों की बात बिलकुल जानते ही नहीं, उनके अन्दर एक अखंड सुख भरा रहता है। परन्तु इस सुख का उपभोग करने की इनकी रीति कुछ निराली ही होती है। जिस प्रकार पक्षी फलों का आस्वादन करते हैं, उस प्रकार वे लोग सुखों का आस्वादन नहीं करते। वे लोग उस सुख का भोग करते हुए भी अपने भोक्ता होने की बात बिलकुल भूले रहते हैं। इस आत्मसुख का उपभोग करते समय उनकी

ऐसी तन्मय अवस्था हो जाती है कि वे अहंभाव का परदा दूर हटा देते हैं, और तब वह तन्मयता उसके साथ ऐसा गाढ़ आलिंगन करती है कि वह आलिंगन होते ही जीवात्मा ठीक उसी प्रकार परमात्मा के साथ बिलकुल एकरूप हो जाता है, जिस प्रकार पानी के साथ पानी मिलकर एकरूप हो जाता है। अथवा जिस प्रकार आकाश में वायु के मिल जाने पर इस तरह की द्वैत की कोई बात बाकी ही नहीं रह जाती कि यह वायु है और यह आकाश है, उसी प्रकार जब जीव का उक्त तन्मयता वाली अवस्था के साथ योग होता है, तब केवल सुख ही अपने वास्तविक स्वरूप में बच रहता है। इस प्रकार भेद का अन्त हो जाता है। अब यदि यह कहा जाय कि उस समय केवल एकता ही बच रहती है, तो भी उसका ज्ञान करने वाला द्रष्टा ही नहीं रह जाता। अब मैं यह विषय समाप्त करता हूं। जो बात कहने में आ ही न सकती हो, उसके विषय में क्या कहा जाय ? जिसे आत्मस्वरूप का अनुभव हो जायगा वह इस स्पष्ट रचना से ही सब कुछ समझ लेगा।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

"जो लोग इस आत्मसुख से परिपूर्ण और आत्मरूप हो जाते हैं, उन्हें मैं समरसता या ब्रह्मैक रस के पुतले ही समझता हूं। वे आनन्द की मूर्ति, सुख के अंकुर अथवा आत्मबोध के विश्राम-स्थल ही होते हैं। उन्हें विवेक की जन्म-भूमि या ब्रह्मतत्त्व का केवल स्वरूप अथवा ब्रह्म-विद्या के शृंगारित अवयव समझना चाहिए। उन्हें सत्त्वगुण की सात्त्विकता अथवा चैतन्य की गति समझना चाहिए।" जब यह व्याख्यान इतने जोरों पर आता है, तब श्रोता लोग कहते हैं—'अब यह विस्तार रहने दो। एक-एक कल्पना को कहां तक रंगते चलोगे ! तुम तो सन्तों की स्तुति में तल्लीन हो जाते हो और तब तुम्हें कथा-प्रसंग का ध्यान ही नहीं रह जाता; और निर्गुण विषय का प्रतिपादन करते समय सुन्दर-सुन्दर शब्दों की योजना ही करते रहना चाहते हो। परन्तु अब इस प्रवृत्ति का आवेग रोको, ग्रन्थ के अर्थ का दीपक जलाओ और सन्तों के हृदय-रूपी घर में कल्याणकारक प्रभात करो।' गुरुराज श्रीनिवृत्तिनाथ का यह आशय समझकर मैं ज्ञानदेव कहता हूं कि—"फिर श्रीकृष्ण ने जो कुछ अर्जुन से कहा, अब आप लोग वही सुनिये।" श्रीकृष्ण कहते हैं—"हे अर्जुन, आत्मानन्द के अगाध दह का ठीक तल जिन लोगों को मिल जाता है, वे वहीं स्थिर होकर तद्रूप हो जाते हैं। अथवा जो लोग आत्मज्ञान के निर्मल प्रकाश की सहायता से समस्त विश्व स्वयं अपने में ही देखते हैं, उन्हें देहधारी परब्रह्म कहने में कोई हर्ज नहीं है। यह परब्रह्म सत्य, सर्वश्रेष्ठ, अविनाशी और असीम है। जो लोग निष्काम होते हैं, वही इस परब्रह्म रूपी देश में निवास करने के अधिकारी होते हैं। यह केवल महर्षियों के लिए अलग करके रखा गया है; यह केवल विरक्तों के ही हिस्से में आता है और इसकी समृद्धि का कभी अन्त नहीं होता।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

"जो लोग अपने चित्त को विषयों से बिलकुल अलग कर लेते हैं और उसको पूर्ण रूप से अपने वश में रखते हैं, वे लोग जिस स्थान पर दृढ़ और शान्त होकर सोते हैं और फिर कभी जागते ही नहीं, उसी स्थान को परब्रह्म निर्वाण कहते हैं। हे अर्जुन, आत्मज्ञानियों का ध्येय जो परब्रह्म है, वही परब्रह्म ऐसे लोग भी होते हैं। कदाचित् तुम यह पूछोगे कि वे पुरुष इस स्थिति तक कैसे पहुंचे हैं और शरीर रहते हुए भी उन लोगों ने किस प्रकार यह ब्रह्म-स्वरूप प्राप्त किया है, तो मैं यह विषय थोड़े में तुम्हें बतला देता हूं; सुनो।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

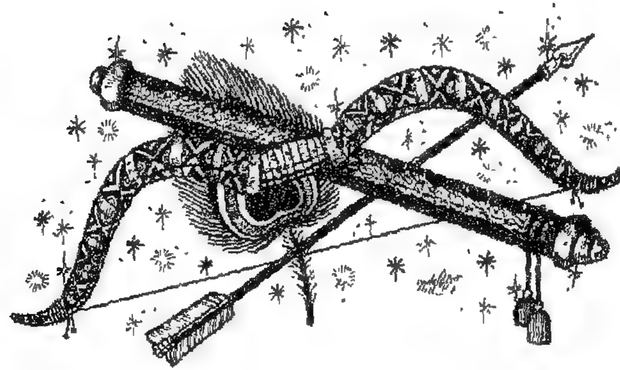
"जो लोग विरक्ति के बल से समस्त विषयों को निकाल बाहर करते हैं और अपना शरीर केवल मनोमय बना लेते हैं, वे अपनी दृष्टि उलटकर उस सन्धि-स्थान पर लगा लेते हैं, जहां दोनों भौंहें मिलती हैं; और तब दाहिने और बायें दोनों नथनों के मार्ग बन्द करके प्राणवायु और अपान-वायु को सम कर लेते हैं और उन्हें अपने चित्त के साथ चिदाकाश की ओर ले जाते हैं। फिर जिस प्रकार मार्ग में पड़ने वाले नदी-नाले आदि गंगा में मिलते हैं और तब वह महानदी उन नदी-नालों के सहित जाकर समुद्र में मिलती है, उसी प्रकार वे लोग भी परब्रह्म में ऐसे मिल जाते हैं कि फिर उन्हें किसी प्रकार अलग किया ही नहीं जा सकता। जब समाधि की अवस्था में प्राण और अपान के सम्मिलित वायु-बल से चिदाकाश में मन का लय हो जाता है, तब समस्त वासनाओं का आपसे आप परिहास हो जाता है। जिस मन रूपी वस्त्र पर यह संसार रूपी चित्र अंकित होता है, वह इस अवस्था में फट जाता है। जिस प्रकार सरोवर के सूख जाने पर उसमें पड़ने वाला प्रतिबिम्ब आपसे आप नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इस समाधि की अवस्था में मन का भी पूर्ण रूप से नाश हो जाने पर अहंभाव आदि वृत्तियों का फिर भला कहां ठिकाना लग सकता है ! इसीलिए जिन लोगों को इस ब्रह्म-सारूप्य के सुख का अनुभव हो जाता है, वे लोग शरीरधारी रहते हुए भी ब्रह्म-रूप हो जाते हैं।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

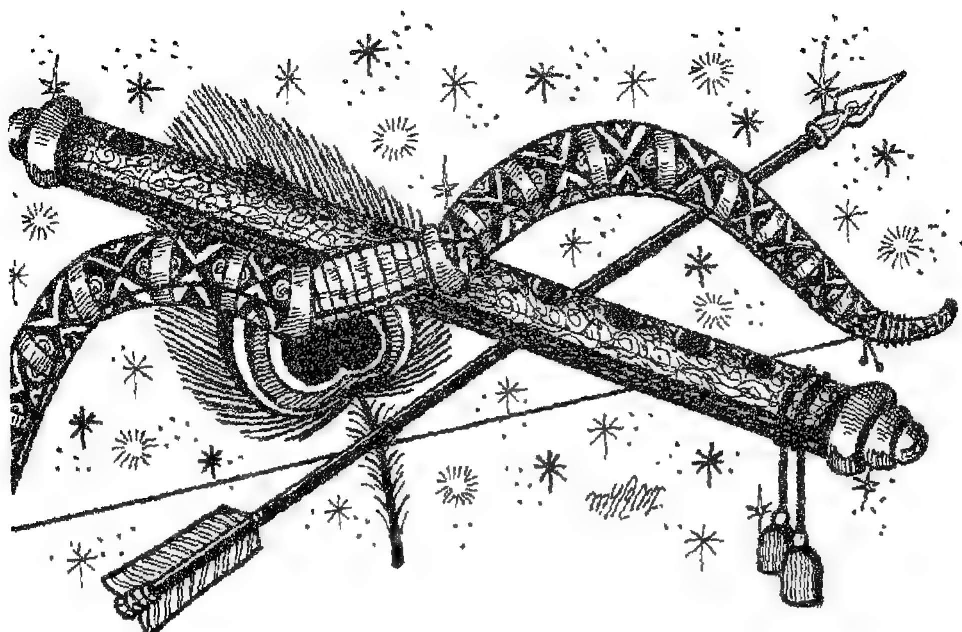
"मैं अभी तुमको बतला चुका हूं कि कुछ लोग इस देह को धारण किये रहने पर भी ब्रह्मत्व प्राप्त कर लेते हैं। वे लोग इसी मार्ग से इस अवस्था तक पहुंचते हैं। वे लोग यम, नियम, आसन, धारणा आदि योग-साधन के विकट पर्वतों पर चढ़कर और योगाभ्यास का सागर पार करके इस अवस्था तक पहुंचते हैं। वे आत्मसाक्षात्कार के बल से स्वयं निर्लिप्त रहकर यह सब प्रपंच चलाते रहते हैं और स्वयं प्रत्यक्ष शान्त रस बनकर रहते हैं।" इस प्रकार श्रीकृष्ण ने इस भाषण में कर्मयोग का विवेचन किया; और अर्जुन एक बहुत ही मार्मिक श्रोता था, इसलिए यह नवीन तत्त्व सुनकर वह चौंक पड़ा। यह बात श्रीकृष्ण के ध्यान में भी आ गई और उन्होंने कुछ हंसते हुए पूछा—"हे पार्थ, क्या मेरी इन बातों से तुम्हारा समाधान हो गया ?" इस पर अर्जुन ने कहा—"हे देव, आप दूसरों के मन का भाव जानने में बहुत प्रवीण हैं, इसलिए आपने मेरे मन की बात भी बहुत अच्छी तरह जान ली है। मैंने अपने मन में जो बात पूछने का विचार किया था, हे देव, आपने वह बात पहले ही जान ली और सब बातें कह डालीं। लेकिन आप एक बार फिर वही बात और भी अधिक स्पष्ट करके मुझे बतलावें। हे देव, सच तो यह है कि आपने अभी साधना के जिस मार्ग का उपदेश किया है, वह हमारे सरीखे दुर्बल जीवों के लिए सांख्ययोग की अपेक्षा अर्थात् ज्ञानमार्ग की अपेक्षा वैसा ही अधिक सुगम और सुलभ है, जैसे गहरे पानी में तैरकर पार जाने की अपेक्षा वह जल-मार्ग सुगम रहता है जो घुटने-घुटने होता है और जिसे आदमी पैरों से चलकर पार कर लेता है। अब यदि ऐसा मार्ग ढूंढ़ निकालने में कुछ अधिक समय लगे तो यह कोई ऐसी अड़चन नहीं है जो सहन न की जा सके। इसलिए अब सब प्रश्नों का निराकरण करने के लिए फिर एक बार यह सारा विषय विस्तार से कहें।" इस पर श्रीकृष्ण ने कहा—"तुम्हें यह साधन-मार्ग अच्छा जान पड़ता है न ? ऐसी अवस्था में फिर से उसका विवेचन करने में मेरा क्या बिगड़ता है। सुनो, मैं फिर से सब बातें बहुत प्रसन्नता से बतलाता हूं। हे अर्जुन, तुम्हारे मन में यह विषय सुनने

की लालसा है; और जब तुममें इतनी सिद्धता या सामर्थ्य है कि तुम यह विषय सुनकर इसके अनुसार आचरण भी करना चाहते हो, तो इस मार्ग का विवरण तुम्हें फिर से बतलाने में मैं क्यों पीछे हटूं !'' हे श्रोतागण, एक तं माता की इच्छा हो और तिस पर से उसमें सन्तान की रुचि और उत्सुकता भी आकर मिल जाय। ऐसी अवस्थ में प्रेम-रस की जो विलक्षण बाढ़ आती है उसका यथार्थ स्वरूप कौन अच्छी तरह समझ सकता है ? श्रीकृष्ण ने अर्जुन की ओर जिस प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखा था, मेरी समझ में नहीं आता कि मैं उस प्रेम-दृष्टि को अमृत की वृष्टि कहूं या अद्भुत स्नेह-रस की सृष्टि कहूं। न जाने वह दृष्टि अमृत-रस की जीती-जागती पुतली थी अथवा वह प्रेम-रस का पान करके मत्त हुई थी जो वह अर्जुन के मोह में ऐसी फंस गई कि वहां से उसका हटना सम्भव ही नहीं था। परन्तु इस प्रकार के जितने वर्णन किये जायंगे, उन सबसे केवल विषयान्तर ही होगा। परन्तु इतना निश्चित है कि श्रीकृष्ण के उस स्नेह-भाव का ठीक-ठीक शब्द-चित्र खींचा ही नहीं जा सकता। लेकिन इसमे आश्चर्य की कौन-सी बात है ? जो ईश्वर स्वयं ही अपना सम्पूर्ण वर्णन नहीं कर सकता, उसके स्वरूप का दूसरा कोई कैसे वर्णन कर सकता है ? परन्तु जिस प्रकार श्रीकृष्ण आग्रहपूर्वक कह रहे थे कि—''भाई अर्जुन, सुनो, सुनो।'' उससे मुझे तो यही जान पड़ता है कि उनके इस प्रकार कहने से यही सूचित होता है कि वे सहज ही अर्जुन के मोह में फंस गये थे। उस समय श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—''हे अर्जुन, जिस प्रकार यह विषय तुम्हारी समझ में अच्छी तरह आ सके, उसी प्रकार मैं इसका विवेचन बहुत प्रसन्नता के साथ करूंगा। वह योग-मार्ग कौन-सा है ! उसका क्या उपयोग है ! उसके अधिकारी कौन लोग होते हैं ! आदि-आदि, इस विषय में जितने प्रश्न उत्पन्न हो सकते हैं, उन सबके उत्तर मैं तुम्हें बतलाता हूं। तुम ध्यानपूर्वक सुनो। इसके उपरान्त श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा, उसका वर्णन आगे के अध्याय में किया गया है। अब श्रीनिवृत्तिनाथ का दास मैं ज्ञानदेव श्रोताओं से कहता हूं कि श्रीकृष्ण ने बिना सांसारिक प्रपंचों को छोड़े योग-साधन का जो उपदेश अर्जुन को किया था वह मैं स्पष्ट करके बतलाता हूं।





छठा अध्याय



अभ्यासयोग

हते हैं—"श्रीकृष्ण ने अर्जुन को योग-रूप के जिस मार्ग का उपदेश किया था, वह अब सुनो।
ार्जुन के सामने सहज ब्रह्मरस का यह भोजन परोसा था; उस समय तुम और हम भी मेहमान
े। यह हम लोगों का कितना बड़ा भाग्य है ! प्यासा आदमी जब पानी अपने मुंह से लगाता
त के समान ही जान पड़ता है। उसी प्रकार का अवसर आज तुम्हारे और हमारे लिए आ
ोंकि आज ब्रह्मज्ञान हमारी मुट्ठी में आ गया है !" इस पर धृतराष्ट्र ने कहा—"हे संजय, इस
ने तुमसे पूछी नहीं थी।" धृतराष्ट्र की यह बात सुनकर संजय ने उनके मन का भाव समझ
गया कि इस समय धृतराष्ट्र के मन में केवल अपने लड़कों की ही चिन्ता हो रही है। इस
ाई और उसने मन में कहा कि यह बुड्ढा पुत्र-मोह से पागल हो रहा है। और नहीं तो यदि
ा जाय तो इस समय कृष्ण और अर्जुन में जो संवाद हुआ था, वह कितना मनोहर है ! परन्तु
को इन बातों से क्या मतलब ! जो जन्म से ही अन्धा हो, भला वह कभी देख सकता है !
पने मन में तो सोची, पर ऊपर उसने कुछ भी नहीं कहा, क्योंकि उसे डर था कि मेरी यह
को बहुत क्रोध होगा। परन्तु संजय अपने मन में इस बात पर बहुत प्रसन्न हुआ कि श्रीकृष्ण
वाद मुझे सुनने को मिला। उसके मन को पूरी तरह से व्याप्त करने वाले उस आनन्द ने उनके
उत्पन्न की और इसीलिए उसने बहुत प्रसन्नता से उस संवाद का प्रसंग कह सुनाया। वह प्रसंग
है जो तत्त्व-निर्णय का स्थान है। जिस प्रकार क्षीर-सागर को मथने पर अन्त में सब रत्नों
हुआ था, उसी प्रकार गीता के तत्त्व-ज्ञान का सार अथवा विवेक-सागर का उस पार का तट

अथवा समस्त योग-सम्पत्ति का खुला हुआ खजाना यह छठा अध्याय है। यह वही छठा अध्याय है जिसमें आदि माया स्तब्ध होकर बैठी है, जहां वेदों का बोलना बन्द हो जाता है और जहां से गीता रूपी वल्ली का अंकुर निकलता है। मैं भी इसका वर्णन साहित्य के प्रकाश में 'आलंकारिक भाषा में' करूंगा। आप लोग ध्यान देकर सुनें। मैं देशी भाषा के शब्दों की योजना करता हूं, परन्तु वह योजना ऐसी रसपूर्ण होगी कि अपने माधुर्य के कारण स्वयं अमृत को भी सहज में परास्त कर देगी। यदि इन शब्दों की तुलना कोमल गुण के साथ की जाय तो इसके सामने संगीत के स्वरों की कोमलता भी तुच्छ ठहरेगी। इसके मोहक गुण के सामने सुगन्ध की महत्ता भी फीकी पड़ जायगी। इसकी रसालता का महत्त्व इतना अधिक है कि कानों में भी जीभ निकल आयेगी और सब इन्द्रियों में कलह मच जायगी। शब्द स्वभावतः श्रवणेन्द्रिय का विषय है। परन्तु जिह्वा कहती है कि इन शब्दों का रस मेरा विषय है। घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध है; परन्तु देशी भाषा के ये वचन अपनी सुगन्धि के कारण घ्राण का भी विषय बन जायंगे। इनके सम्बन्ध में एक और अद्भुत बात यह है कि उच्चारण की जाने वाली इन बातों का स्वरूप देखकर नेत्रों को भी ऐसा समाधान होगा कि वे तुरन्त बोल उठेंगे कि यह तो लावण्य की खान ही खुल गई ! और जब पूरे वाक्यों की रचना होगी, तब श्रोताओं का मन दौड़कर बाहर निकलने लगेगा, क्योंकि वह चाहेगा कि मैं इन शब्दों को दोनों हाथों से पकडकर गले से लगा लूं। इस प्रकार सभी इन्द्रियां अपनी-अपनी वृत्ति के अनुसार इन शब्दों पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगी; परन्तु ये शब्द समान रूप से सबका समाधान करेंगे। जिस प्रकार सूर्य अकेला ही सारे जगत् में चेतना उत्पन्न करता है, उसी प्रकार इन शब्दों की व्यापकता भी बहुत ही विलक्षण है। जो लोग इन शब्दों के भावार्थ पर विचार करेंगे, ऐसा जान पड़ेगा कि ये शब्द नहीं हैं, बल्कि इन शब्दों के रूप में हमें स्वयं चिन्तामणि ही प्राप्त हुआ है। परन्तु ये बातें बहुत हो चुकीं। अब मैं देशी भाषा के शब्दों की थाली में ब्रह्मरस परोसकर निष्काम साधु-जनों के सामने यह ग्रन्थ-रूपी भोजन उपस्थित करता हूं। आत्मज्ञान की जो ज्योति कभी मन्द नहीं होती, वही ज्योति अब दीपाधार में रखी गई है। वही लोग यह भोजन कर सकेंगे जो इस प्रकार इसे ग्रहण करेंगे कि इन्द्रियों को पता भी न चले। अतः इस समय श्रोताओं को श्रवणेन्द्रिय का भी आश्रय छोड़ देना चाहिए और केवल मन की सहायता से यह भोजन ग्रहण करना चाहिए। ऊपर शब्दों का जो दिखौआ कवच है, उसे उतारकर अलग कर दें और अन्दर जो ब्रह्मभाव छिपा हुआ है, उसके साथ एकरूप हो जायं और तब अनायास ही अखंड सुख से सुखी हों। यदि श्रोताओं में ऐसी सूक्ष्मदर्शिता आ जायगी, तभी यह श्रवण सार्थक होगा। और नहीं तो फिर इस निरूपण को बहरे और गूंगे का संवाद ही कहना पड़ेगा। परन्तु अब यह व्याख्यान यहीं समाप्त होना चाहिए, क्योंकि मेरे जो श्रोता लोग हैं, उन्हें इतना समझा-बुझाकर बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यहां जितने श्रोता उपस्थित हैं, वे सब निष्काम होने के कारण इस श्रवण के स्वभावतः ही अधिकारी हैं। जिन लोगों ने आत्मज्ञान के प्रेम के कारण समस्त सांसारिक सुखों को अपने पास से हटाकर दूर कर दिया है, उनके सिवा और लोगों को इस विषय के माधुर्य का ज्ञान ही नहीं हो सकता। जिस प्रकार कौए चन्द्रमा को नहीं पहचान सकते, उसी प्रकार साधारण मनुष्यों को भी इस ग्रन्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। और जिस प्रकार केवल चकोर ही चन्द्रमा की किरणों का सेवन कर सकते हैं, उसी प्रकार केवल ज्ञानीजनों को इस ग्रन्थ में आश्रय प्राप्त होगा। अज्ञानियों के रहने का स्थान अलग ही है, इस ग्रन्थ में नहीं है। इसीलिए इस विषय में मुझे कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु प्रसंग आ पड़ने पर सहज में ये दो-चार बातें कह दी हैं; इसके लिए साधु श्रोताजन बुरा न मानें। अब मैं यह बतलाता हूं कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन से क्या कहा। श्रीकृष्ण का वह भाषण स्वयं बुद्धि के लिए भी समझना कठिन है; फिर शब्दों के द्वारा उन्हें प्रकट करना तो असम्भव ही है। परन्तु फिर भी सद्गुरु श्रीनिवृत्तिनाथ के कृपा-प्रकाश से मुझे उसका ज्ञान हो जायगा। जो वस्तु दृष्टि के द्वारा दिखाई

न पड़ती है' वह बिना दृष्टि के ही दिखाई पड़ती है। परन्तु इसके लिए अपने पास अतीन्द्रिय ज्ञान का बल होना चाहिए। जो सोना कीमियागर को भी नहीं मिलता, वह दैवयोग से पारस हाथ आ जाने पर लोहे में ही मिल जाता है। इसी प्रकार यदि सद्गुरु की कृपा प्राप्त हो जाय, तो फिर कौन-सी बात असाध्य हो सकती है ? इसीलिए मैं ज्ञानदेव कहता हूं कि वह असीम तत्त्व भी मेरी समझ में आ जाता है। इसीलिए मैं निरूपण करूंगा, निराकार तत्त्व में भी साकारता लाऊंगा और जो वस्तु इन्द्रियों की पहुंच के बाहर है, उसका भी इन्द्रियों के द्वारा ही अनुभव करा दूंगा। अब जिन श्रीकृष्ण में यश, श्री, औदार्य, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इन छओं गुणों का वैभव है और इसीलिए जिन्हें लोग भगवन्त कहते हैं और जो सदा वासना-संगहीन पुरुषों के साथ रहते हैं, उन श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—"हे पार्थ, अब तुम अच्छी तरह ध्यान देकर सुनो।"

श्रीभगवानुवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

"योगी और संन्यासी दोनों एक ही होते हैं। सम्भव है कि तुम इन दोनों को अलग-अलग मानते हो, परन्तु यदि विचार किया जाय तो अन्त में यही निर्णय होता कि दोनों एक ही हैं। यदि यह नाम-भेद वाला भ्रम दूर कर दिया जाय तो योग ही संन्यास सिद्ध होता है; और यदि ब्रह्मज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो इन दोनों में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। जिस प्रकार हम एक ही पुरुष को भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित करते हैं, अथवा जिस प्रकार दो भिन्न-भिन्न मार्गों से एक ही स्थान पर पहुंचते हैं, अथवा जिस प्रकार स्वभावतः एकरूप रहने वाला जल अलग-अलग बर्तनों में भरा जाने पर भी एकरूप ही रहता है, उसी प्रकार योग और संन्यास का भेद केवल दिखौआ है, वास्तविक नहीं। हे अर्जुन, जगत् में बहुमान्य सिद्धान्त यही है कि जो व्यक्ति कर्मों का आचरण करता हुआ भी उन कर्मों के फल से संग नहीं रखता, उसी को योगी समझना चाहिए। जिस प्रकार यह पृथ्वी, वृक्ष आदि उद्भिजों का निर्माण या सृष्टि करती है, परन्तु उनमें लगने वाले फलों या अनाजों की इच्छा नहीं करती, उसी प्रकार जो परब्रह्म की व्यापकता का आश्रय लेकर अपनी स्वाभाविक स्थिति के अनुरूप जिस समय जो उचित कर्तव्य करना होता है, उस समय उसे कर डालता है, परन्तु फिर भी जिसमें देह-बुद्धि का अहंकार नहीं होता और जो अपने मन को भी फल की आसक्ति का स्पर्श तक नहीं होने देता, उसी को संन्यासी समझना चाहिए और वही निस्सन्देह सच्चा और श्रेष्ठ योगी है। परन्तु जिससे इन योगयुक्ति का साधन नहीं होता और जो स्वाभाविक तथा नैमित्तिक कर्मों को केवल बन्धनकारक मानकर छोड़ बैठता है, वह साथ-ही-साथ कुछ दूसरे कर्मों को अपने साथ लगा लेता है। जिस प्रकार अपने शरीर में लगा हुआ एक लेप तो धो-पोंछकर दूर कर दिया जाय और फिर स्वयं ही एक दूसरा नया लेप शरीर में लगा लिया जाय; उसी प्रकार की अवस्था उन लोगों की होती है जो केवल आग्रह के वशीभूत होकर इस प्रकार आचरण करते हैं और केवल व्यर्थ की विवंचना में पड़ते हैं। अरे भाई, एक तो गृहस्थाश्रम का भार पहले से और स्वभावतः ही सिर पर चढ़ा हुआ है। अब उस भार को अच्छी तरह वहन न करके जल्दी में संन्यास का एक नया बोझ लेकर अपना भार और क्यों बढ़ाया जाय ? इसीलिए अग्निहोत्र आदि नित्य श्रौत-स्मार्त आदि कर्म नहीं छोड़ने चाहिए और आचार की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। बस फिर यह कर्मयोग स्वभावतः ही आत्मसुख देने वाला हो जाता है।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

"हे अर्जुन, अनेक शास्त्रों ने यही कहा है कि जो संन्यासी है, वही योगी है; और इस प्रकार संन्यास तथा

योग के अभद की विजय पताका फहराई है कर्म करते रहने की अवस्था मे जहा सकल्प विकल्प सूत्र छोड देने के कारण टूट जाते है, बस वही कमयोग का तथ्य हाथ आ जाता है, और शास्त्रकारो ने अपने अनुभव से यही निश्चित किया है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

"हे अर्जुन, यदि कर्मयोग रूपी पर्वत के शिखर पर पहुंचना हो तो यह कर्म-मार्ग का सीढ़ियों वाला रास्ता कदापि छोड़ना नहीं चाहिए। इन सीढ़ियों से होते हुए पहले यम-नियमों की आधार-भूमि से होते हुए योगासनों की पगडंडी पर पहुंचना चाहिए। और तब प्राणायाम की टेकरी पर चढ़ जाना चाहिए। फिर प्रत्याहार की बीच वाली पहाड़ी पड़ती है। यहां इतनी फिसलन होती है कि बुद्धि के पैर भी जल्दी नहीं टिकते। यहां पहुंचने पर बड़े-बडे हठी योगियों की प्रतिज्ञा भी टूट जाती है और वे लुढ़क जाते हैं। परन्तु अभ्यास और निश्चय वृत्ति से इस प्रत्याहार वाले बीच के मार्ग में भी धीरे-धीरे वैराग्य का आश्रय प्राप्त होने लगता है। इस प्रकार वायु के पठार से होते हुए धारणा के विस्तृत प्रान्त में पहुंचना चाहिए। फिर इस प्रान्त को पार करते हुए तब तक चलते रहना चाहिए, जब तक ध्यान के सिर पर न पहुंचा जाय। वहां पहुंचकर यह मार्ग समाप्त हो जाता है और प्रवृत्ति की लालसा नष्ट हो जाती है; क्योंकि यहीं साध्य और साधन दोनों आपस में गले मिलते हैं और एकरूप हो जाते हैं। यहां पहुंचकर योगी पुरुष ऐसी समतल भूमि पर स्थिर हो जाता है, जहां से और आगे पैर रखने की कोई बात ही नहीं रह जाती; और पिछले मार्ग की भी कोई स्मृति बाकी नहीं रह जाती। इस उपाय से योग का साधन करके जो पुरुष अत्यन्त उच्च अवस्था तक पहुंचता है, अब मैं उसके लक्षण बतलाता हूं; सुनो।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

"जिस पुरुष की इन्द्रियां भोगों और कर्मों में आसक्त नहीं होतीं तथा जो आत्मज्ञान की कोठरी में सुखपूर्वक आत्मानन्द में सोया रहता है, जिसके मन में सुख-दुःख के फेर में पड़कर झगड़ने का चाव नहीं रह जाता और इन्द्रिय-विषय के पास आ पहुंचने पर भी जिसे इस बात का कभी ध्यान भी नहीं होता कि ये विषय क्या है, इन्द्रियों को कर्माचरण के मार्ग में लगाने पर भी जिसके अन्तःकरण में कर्मों के फलों के सम्बन्ध में नाम को भी आसक्ति नहीं रहती, जो केवल देह-धारण के लिए जाग्रत रहता है और सदा आत्म-भावना में लीन रहता है; निस्सन्देह उसी को योग-रूढ़ पुरुष समझना चाहिए।" यह सुनकर अर्जुन ने कहा—"हे देव, यह बात सुनकर तो मुझे बहुत आश्चर्य हो रहा है। अब आप मुझे यह बतलावें कि ऐसे पुरुष के समान योग्यता कैसे प्राप्त हो सकती है।"

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

इस पर श्रीकृष्ण ने हंसकर कहा—"हे अर्जुन, तुम्हारी यह बात भी बहुत ही अद्भुत है। भला इस अद्वैत अवस्था में कौन किसको क्या दे सकता है ? जिस समय मनुष्य को भ्रान्ति की शैया कठिन माया की तन्द्रा लगती है, तभी उसको जन्म और मरण के दृश्य-स्वप्न दिखाई पड़ने लगते हैं। परन्तु आगे चलकर जब वह अकस्मात् जाग उठता है, तब उसे यह निश्चय होता है कि स्वप्न की वे सब बातें बिलकुल मिथ्या थीं। परन्तु उस पहली भ्रान्ति की भांति यह आत्मबोध भी स्वयं उसी को होता है। और, हे अर्जुन, वे केवल अपनी देह के अभिमान के फेर में पड़कर ही स्वयं अपना घात करता है।

बन्धुरात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

"यदि हम विचारपूर्वक अपना अहंभाव छोड़ दें और सद्ब्रह्म-रूप हो जायं तो मानों सहज में हम स्वयं ही अपना कल्याण कर लेते हैं। और नहीं तो रेशम के कीड़े की तरह, जो आप ही अपने आपको कोश में बन्द कर लेता है, जो मनुष्य अपने शरीर के सौन्दर्य को भूलकर उसी में अपने आपको पूर्ण रूप से बद्ध कर लेता है, वह स्वयं ही अपना वैरी ठहरता है। जिस समय द्रव्य-प्राप्ति का अवसर आता है, उस समय उस अभागे को स्वयं ही अन्धे बनने का शौक होता है; और जब उसके सामने धन-कोश खुला हुआ रहता है, तब वह आंखें बन्द करके उस धन-कोश को लांघकर आगे निकल जाता है। जैसे किसी को भ्रम होता है और वह यह बकता हुआ चारों तरफ दौड़ता फिरता है कि—'अरे मैं नहीं हूं।' 'अरे मैं खो गया।' 'अरे मुझे कोई चुरा ले गया।' और इस प्रकार अकारण ही वह अपने सिर एक आफत ले लेता है। परन्तु यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो जीव भी ब्रह्म ही है। परन्तु किया क्या जाय ! उसकी बुद्धि उस ओर जाती ही नहीं। भला सोचो कि यदि स्वप्न में किसी पर शस्त्र का प्रहार हो, तो क्या उस प्रहार से वह स्वप्न देखने वाला कभी मरता है ? परन्तु ऐसे पुरुष की स्थिति उस तोते के समान होती है जो उस नलिका-यन्त्र पर बैठता है जो स्वयं उसी को पकड़ने के लिए लगाई जाती है। तोता उस नलिका-यन्त्र पर बैठता है और उसी के भार से वह नली चलने लगती है। वास्तव में, जिस समय वह नली उलटी चलने लगती है, उसी समय तोते को उस पर से उड़ जाना चाहिए। परन्तु उसके मन में भय समा जाता है। वह व्यर्थ ही गरदन घुमाता है। छाती सिकोड़ता है और चोंच से उस नली को खूब जोर से पकड़े रहता है। उसके मन में यह मिथ्या धारणा हो जाती है कि मैं वास्तव में पकड़ा गया हूं, और इस मिथ्या कल्पना के फेर में वह ऐसा पड़ता है कि अपने पैरों के खुले हुए पंजों को उस यन्त्र में और भी फंसाता चलता है। इस प्रकार जो स्वयं और अकारण ही बन्धन में पड़े, उसके सम्बन्ध में क्या यह कभी कहा जा सकता है कि उसे किसी दूसरे ने बन्धन में डाला है ? परन्तु जब एक बार वह ऐसे भ्रम में पड़ जाता है, तब वह उसके फेर में ऐसा फंस जाता है कि यदि उसे आधा काट भी डाला जाय तो भी वह उस नली को कभी न छोड़ेगा। इसलिए जो मनुष्य स्वयं ही अपने संकल्प-विकल्पों को बढ़ाता है, वह स्वयं ही अपना शत्रु होता है। परन्तु इसके विपरीत जिस पुरुष को इस बोध का अनुभव होता है कि 'मैं आत्मा हूं' और जो व्यर्थ या मिथ्या बात का अंगीकार नहीं करता, मैं कहता हूं कि वही श्रेष्ठ आत्मज्ञ है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

ऐसा मनुष्य अपने मन को जीत लेता है, और जिसकी समस्त वासनाएं शान्त हो जाती हैं, उसे कभी यह नहीं जान पड़ता कि परमात्मा मुझसे अलग और दूर है। जिस प्रकार मैल या मिलावट के बिलकुल निकल जाने पर अन्त में शुद्ध सोना बाकी रह जाता है, उसी प्रकार संकल्प-विकल्प का झगड़ा मिटते ही स्वयं जीव ही परमात्मा होकर रहने लगता है। जिस प्रकार घटाकार के नष्ट होने पर उसके अन्दर के अवकाश को आकाश के साथ मिलने के लिए कोई स्थानान्तर नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार जिसका मिथ्या देहाभिमान समूल नष्ट हो जाता है, उसे परमात्म रूप होने के लिए फिर और कुछ भी नहीं करना पड़ता, क्योंकि वह तो आरम्भ से ही परमात्मा से ओत-प्रोत भरा रहता है। ऐसे पुरुष की सुख-दुःख आदि में तथा मान-अपमान में अन्तःकरण की वृत्तियां भलीभांति शांत

रहता है जिन जिन रास्तो से होकर सूय जाता है उन उन रास्तो में सब स्थान प्रकाशमय हो जाते हैं उसी प्रकार ऐसे पुरुष को जो कुछ मिलता है वह सब तद्रूप हो जाता है और उस पुरुष के स्वरूप के साथ समरस हो जाता है जिस प्रकार मेघ से गिरने वाली जलधारा कभी समुद्र के लिए नहीं होती उसी प्रकार योगी श्रेष्ठ के लिए, शुभाशुभ बात ... हो होने के कारण कभी क्लेशकारक नही होती इस संसार विषयक भाव ... विचार करने पर जब यह निश्चित हो जाता है कि यह भावना मायिक है, तब और अधिक ध्यानपूर्वक देखने पर यह पता चलता है कि वह ज्ञान आत्म-स्वरूप ही है। जब ऐसा हो जाता है, तब द्वैतभाव का विनाश हो जाने के कारण इस प्रकार का ऊहापोह आपसे आप जहां-का-तहां नष्ट हो जाता है कि यह आत्मस्वरूप का तत्त्व व्यापक है अथवा स्थल और काल आदि से मर्यादित है। इस प्रकार जो अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह शरीर धारण किये रहने पर भी परब्रह्म की बराबरी तक जा पहुंचता है। वह सच्चा जितेन्द्रिय होता है और उसी को योगी कहना चाहिए; क्योंकि छोटे और बडे का भेद-भाव जिसे कभी स्पर्श ही नहीं करता, वह मेरु के बराबर सोने के पर्वत और मिट्टी के छोटे-से ढेले दोनों को एक बराबर समझता है। वह ऐसा निरिच्छ और सम बुद्धि बनकर रहता है कि सारी पृथ्वी के मूल्य के अथवा अपार मूल्य वाले तेजस्वी रत्न को भी वह पत्थर के समान मानता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

"फिर ऐसे पुरुष में स्नेही और शत्रु, पराये और परिचित आदि भेदभावों की विचित्र कल्पना भला हो ही कैसे सकती है ! उसकी आत्म-स्वरूप वाली दृष्टि में कौन किसका आप्त और कौन किसका शत्रु रह सकता है ! उसे इस प्रकार का निश्चित ज्ञान हो चुका रहता है कि मैं ही समस्त विश्व हूं। फिर उसकी दृष्टि में यह भाव कहां से बचा रह सकता है कि यह अधम है और वह उत्तम है ! यदि पारस पत्थर की ही कसोटी बनाई जाय तो फिर उस पर सोने के अलग-अलग कस कैसे लग सकते हैं ? उस पर तो जो-जो चीज रगड़ी जायगी, वह सब निर्मल सोना ही बन जायगी। इसी प्रकार जिसमें निर्मल बुद्धि के समभाव वाला गुण आ जाता है, उसे सारा स्थावर, जंगम विश्व केवल आत्मस्वरूप ही दिखाई पड़ता है। चाहे ये विश्व रूपी अलंकार अलग-अलग आकार और गढ़न के भले ही दिखाई पड़ें, परन्तु वह यह बात अच्छी तरह जानता है कि ये सब एक ही निर्मल ब्रह्मरूपी सोने के बने हुए है। यह उत्तम प्रकार का ज्ञान जिसे पूर्ण रूप से प्राप्त हो जाता है, वह बाहर के और दिखौआ आकारों और रूपो के भ्रम में नहीं पड़ता। यदि वस्त्र के सम्बन्ध में अच्छी तरह विचार किया जाय तो यही पता चलता है कि यह सब सूतों का ही प्रसार है। इसी प्रकार वह भी निश्चयपूर्वक यही देखता है कि इस समस्त विश्व में एक परब्रह्म को छोड़कर दूसरी और कोई चीज है ही नहीं। जिसे इस प्रकार का अनुभव हो जाता है, वही समबुद्धि होता है। समबुद्धि इससे अलग और कोई चीज नहीं है। जिसे पवित्र वस्तुओं का राजा कहते हैं जिसके दर्शन मात्र से पुण्य बुद्धि उत्पन्न होती है, जिसकी संगति से मोहग्रस्त पुरुष को भी आत्मबोध हो जाता है, जिसके शब्दों से ही धार्मिकता का जीवन होता है, जिसकी दृष्टि में अष्ट-महासिद्धियों का जन्म होता है, स्वर्ग-सुख आदि जिसके लिए केवल खेलवाड़ होते हैं, यदि सहज में उसका केवल स्मरण भी हो जाय, तो केवल उस स्मरण के बल से ही वह उस स्मरणकर्ता को अपने समान बना लेता है। इतना ही नहीं, उसकी स्तुति करने से भी कल्याण होता है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

"जिसके सामने उस अद्वैत भाव का दिन चढ़ जाता है, जिसका कभी अन्त ही नहीं होता, वह पुरुष निरन्तर अपने आत्मस्वरूप में स्थिर रहता है। हे अर्जुन, जो इस प्रकार की अद्वैत दृष्टि से विचार करता है, वह अद्वितीय

होता है, क्योंकि तीनों लोकों में वही आत्मस्वरूप से ओत-प्रोत भरा रहता है और इसीलिए वह सहज ही अपरिग्रही अर्थात् परिवारहीन रहता है।" इस प्रकार श्रीकृष्ण ने सिद्ध पुरुषों को पहचानने के विशेष लक्षण अर्जुन को बतलाये और ये लक्षण बतलाते हुए उन्होंने सिद्ध पुरुषों का गौरव स्वयं अपने गौरव से भी अधिक बढ़ा दिया। फिर श्रीकृष्ण ने कहा—"जो योगी ज्ञानीजनों का केवल मुकुट-मणि बल्कि जो ज्ञानीजनों की दृष्टि का स्वयं प्रकाश ही होता है, जिस समर्थ की संकल्पना से ही इस विश्व की रचना हो जाती है, ओंकार की पैठ या बाजार में बुना हुआ वेद रुपी उत्कृष्ट वाङ्मय वस्त्र भी जिसके यश को ढंकने के लिए अधूरा होता है, जिसके शरीर के तेज से सूर्य और चन्द्रमा तक के व्यापार चलते हैं और इसीलिए यह (उस सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश में विचरण करने वाला) संसार जिसके तेज के बिना कर्महीन हो जायगा, केवल यही नहीं बल्कि, हे अर्जुन, जिस योगी के केवल नाम का विचार करने पर उसके महत्त्व के सामने यह असीम आकाश भी तुच्छ दिखाई पड़ता है, उसका एक-एक वास्तविक गुण तुम कैसे ग्रहण कर सकोगे ? पर अब इन बातों को खतम करो। मेरी समझ में यही नहीं आता कि वास्तव में किसके लक्षणों का वर्णन करना चाहिए और इस बहाने से मैं किसके लक्षण कह गया। भाई अर्जुन, जो ब्रह्म-विद्या द्वैत का स्वयं आधार ही पूरी तरह से नष्ट कर डालती है, वह ब्रह्म-विद्या यदि मैं पूरी तरह से खोल दूं तो फिर इस कल्पना मे कि 'अर्जुन मेरा प्रिय और दुलारा है', जो मधुर रस है, वही क्या नष्ट नहीं हो जायगा ! इसीलिए यह सच्चे अद्वैत की बातें नहीं हैं, बल्कि इसमें बीच में थोड़ा-सा परदा मैंने इसलिए रख दिया है कि तुम्हारे स्नेह का सुख भोगने के लिए मन जरा अलग होकर रहे। जो लोग अहं ब्रह्मास्मि की भावना में फंसे रहकर मोक्ष का सुख प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते रहते हैं, उनकी दृष्टि तुम्हारे और मेरे प्रेम पर न लगे, बस इतना ही मैं चाहता हूं।" उस समय श्रीकृष्ण ने अपने मन में विचार किया कि यदि अद्वैत का यह प्रतिपादन सुनकर इस अर्जुन का अहंभाव ही नष्ट हो गया और यदि यह मेरे स्वरूप में मिलकर समरस ही हो गया, तो फिर मैं अकेला रहकर ही क्या करूंगा ? फिर मेरे लिए ऐसा कौन बाकी रह जायगा जिसे देखकर मेरे मन को शान्ति मिलेगी, जिसके साथ मैं खुले मन से जी भरकर बातें करूंगा अथवा जिसके प्रेम के आवेश में मैं अच्छी तरह आलिंगन कर सकूंगा ! यदि अर्जुन मेरे स्वरूप मे मिलकर लीन हो जायगा, तो फिर अन्तरंग को पूरी तरह से भरकर बाहर निकलकर चारों ओर फैलने वाली अपने मन की कोई अच्छी बात मैं किससे कहूंगा ! यह सोचकर श्रीकृष्ण कुछ घबरा-से गये और उन्होंने अद्वैत में ही द्वैत का उपदेश करने के बहाने से अर्जुन का मन अपने मन की ओर आकृष्ट कर लिया। श्रोताओं के कानों को कदाचित् यह वर्णन कुछ बेढब जान पड़ेगा, परन्तु अर्जुन तो वास्तव में श्रीकृष्ण के सुख की प्रत्यक्ष और जीती-जागती मूर्ति ही था। परन्तु श्रोताओं को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इतना ही नहीं, बल्कि जिस प्रकार कोई बांझ अधिक अवस्था या बुढ़ापे में केवल एक ही लड़का उत्पन्न होने पर पुत्र-प्रेम की पुतली बनकर मानो नाचने लगती है, ठीक उसी प्रकार की अवस्था उस समय श्रीकृष्ण की हो रही थी। यदि अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण के प्रेम का यहां इतना अधिक अतिरेक न दिखाई पड़ता, तो मैंने भी इस प्रकार का वर्णन न किया होता। परन्तु देखो, यह कैसे आश्चर्य की बात है ! कैसा अद्भुत अद्वैत का उपदेश है ! उधर समरांगण में कैसी मार-काट मची हुई है और यहां हमारे सामने स्वयं प्रेम की मूर्ति नाच रही है। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो प्रेम और लज्जा, व्यसन और उसके प्रति होने वाली घृणा और पिशाच तथा शुद्धि का जोड़ एक साथ ही कैसे दिखाई पड सकता है ? जहां प्रेम का नाम आता है, वहीं लज्जा दूर हो जाती है; जहां व्यसन का नाम आया, वहां उसके प्रति होने वाली घृणा दूर हो जाती है; और जहां पिशाच का नाम लिया, वहां शुद्धि का अन्त ही हो जाता है। इसलिए कहने का अभिप्राय यही है कि अर्जुन वास्तव में भगवान् की मैत्री का आश्रय-स्थान अथवा सुख के फूले हुए श्रीकृष्ण के अंतरंग का दर्पण ही था। इस प्रकार अर्जुन का पुण्य बहुत बड़ा और पवित्र था और इसीलिए वह

श्रीकृष्ण की कृपा से भक्ति रूपी बीज को ग्रहण करने के लिए उपजाऊ खेत की तरह सुपात्र हो गया था। अथवा नौ प्रकार की भक्तियों में जो अंत की आत्म-निवेदन वाली भक्ति है, उसके पास ही रहने वाली जो आठवीं सख्य भक्ति है, उस भक्ति का अर्जुन को अधिष्ठाता देवता ही समझना चाहिए। अर्जुन पर श्रीकृष्ण का इतना अधिक प्रेम था कि पास ही प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण स्वामी के खड़े रहने पर भी उनका वर्णन न करके उनके दास अर्जुन के ही गुणों का गान करने को जी चाहता है। और फिर यह देखो कि जो पतिव्रता स्त्री एकनिष्ठ प्रेम में अपने पति की सेवा करती है और पति जिसका सदा बहुत अधिक सम्मान करता है, उसी पतिव्रता की उसके पति से भी बढ़कर प्रशंसा की जाती है या नहीं ? उसी प्रकार मेरे मन में भी यही बात आई कि अर्जुन की ही विशेष स्तुति करनी चाहिए, क्योंकि समस्त त्रिभुवन की पुण्याई केवल उसी अर्जुन में थी। इसी अर्जुन के प्रेम के वश होकर उन श्रीकृष्ण परमात्मा को अमूर्त होने पर भी साकार रूप धारण करना पड़ा था और उन पूर्ण-काम के मन में उत्कंठा उत्पन्न हुई थी। यह सुनकर श्रोताओं ने कहा—'हम लोगों का भी कैसा सौभाग्य है ! इन शब्दों में कैसी विलक्षण शोभा भरी हुई है ! यह भाषा का माधुर्य मानो संगीत के सातों स्वरों को भी मात कर रहा है। यह कैसी विलक्षण बात है ! यह भाषा कभी सामान्य प्राकृतों की हो ही नहीं सकती। यदि इस भाषा को सीधी-सादी देशी भाषा कहे तो भी यह साहित्यकला के नाना प्रकार के अलंकार, रसों के रंगों के जाल, अद्वैत का प्रतिपादन करने में भी कैसी अच्छी तरह फैला रही है। इस देशी भाषा में भी ज्ञान की चांदनी कैसी अच्छी तरह खिल रही है और गूढ़ भावार्थ की शीतलता सर्वत्र कैसे समान रूप से फैली हुई है। इसीलिए इसके प्रकाश में गीता के श्लोकार्थ रूपी कुमुद आपसे आप विकसित हो रहे हैं।' यह सुन्दर व्याख्यान सुनकर मन में उत्कंठा की विलक्षण तरंगें उठने लगीं और निष्काम श्रोता भी स-काम हो गये और भीतरी आनन्द के कारण उनके सिर हिलने लगे। श्रोताओं की इस अवस्था का ध्यान करके निवृत्तिदास ने कहा—"भइया, सावधान हो जाओ। इसमें सन्देह नहीं कि श्रीकृष्ण के प्रसाद के प्रकाश में पांडवों के कुल में एक विलक्षण प्रभात हुआ। देवकी के उदर में श्रीकृष्ण जनमे और बढ़े थे और यशोदा ने बड़े कष्ट से उनका लालन-पालन किया था; परन्तु अन्त में वे इन्हीं पांडवों के काम आये थे। इसीलिए अर्जुन की पुण्याई का बल अपार था, और श्रीकृष्ण की कृपा सम्पादित करने के लिए न तो उसे दीर्घकाल तक सेवा ही करनी पड़ी थी और न उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करके प्रसाद की याचना ही करनी पड़ी थी।" परन्तु अब मैं इन बातों को समाप्त करके जल्दी से मूल कथा कहना ही आरम्भ करता हूं। श्रीकृष्ण की ये बातें सुनकर अर्जुन ने कुछ दुलार से कहा—"हे देव, आपने सन्तों के जो लक्षण बतलाये हैं, वे सब तो मुझमें कहीं दिखाई नहीं पड़ते। और यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो इन लक्षणों का सारांश भी अपने में लाने लायक मुझमें यथेष्ट योग्यता नहीं है। परन्तु आपके उपदेश से ही मैं इतना योग्य और समर्थ हो सकूंगा कि इन लक्षणों का साधन करके इन्हें अपने में लाऊं। यदि आप चाहेंगे तो मैं निस्सन्देह ब्रह्म ही बन जाऊंगा। आप मुझे जो कुछ करने को कहेंगे, मैं वह सब ध्यानपूर्वक करूंगा। यद्यपि मैं यह नहीं समझ सका हूं कि आपने अब तक किसके सम्बन्ध में मुझसे ये बातें कही हैं, परन्तु फिर भी उसके लिए मेरे मन में इतना आदर और श्रद्धा उत्पन्न हो रही है। फिर जब मैं स्वयं उसी के समान हो जाऊंगा, तब तो हे देव, मेरे सुख का पारावार ही न रह जायगा। हे सद्गुरु, क्या आप इतनी कृपा करेंगे कि ऐसे सिद्ध पुरुष की स्थिति तक मैं स्वयं ही पहुंच जाऊं।" इस पर श्रीकृष्ण ने कुछ हंसकर कहा—"अच्छा, मैं तुम्हारी इच्छा के अनुसार ही सब काम कर देता हूं। मनुष्य को जब तक सन्तोष की प्राप्ति नहीं होती, तब तक उसके मन में बराबर यही चिन्ता बनी रहती है कि मुझे किस प्रकार सुख मिलेगा। परन्तु जब एक बार उस सन्तोष की प्राप्ति हो जाती है, तब इच्छा की अपूर्णता कहीं बाकी नहीं रह जाती। इसी प्रकार जिसने परमात्मा की सेवा की हो, वह सहज में ब्रह्म-स्वरूप प्राप्त कर लेता है।" पर जरा यह देखो कि अर्जुन का सौभाग्य कैसा चमका है

और उसकी कामना फलों के भार से कैसी लद गई है। हजारों बार जन्म लेने पर इन्द्र आदि को भी जिस परमेश्वर की जल्दी प्राप्ति नहीं होती, वही परमेश्वर अर्जुन के इतने वश में हो गया है कि शब्दों के द्वारा उसका वर्णन ही नहीं हो सकता। अर्जुन ने जो यह कहा था कि—'मैं ब्रह्म होना चाहता हूं।' सो उसकी यह बात श्रीकृष्ण ने अच्छी तरह सुन ली। इस समय श्रीकृष्ण ने अपने मन में यह विचार किया कि इसकी बुद्धि के गर्भ में वैराग्य का जन्म हुआ है; और जिस प्रकार गर्भवती स्त्रियों के मन में अनेक प्रकार की कामनाएं उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार इसके मन में भी ब्रह्म-स्थिति प्राप्त करने की कामना हुई है। यह वैराग्य-गर्भ अभी पूरे दिनों का नहीं हुआ है; परन्तु फिर भी यह अर्जुन रूपी वृक्ष वैराग्य रूपी वसन्त ऋतु की बहार के कारण सोऽहमस्मि के मनोभाव रूपी बौर से लद गया है। इसीलिए यह इतना विरक्त हो गया है कि अब इसमें ब्रह्म-प्राप्ति का फल लगने में अधिक विलम्ब न लगेगा। उस समय अर्जुन के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण के मन में इसी प्रकार का विश्वास होने लग गया था। उन्होंने मन में सोचा—'अब यह ऐसा सिद्ध हो गया है कि अपने मन में यह जो काम करने का विचार करेगा, उसका इसे पहले से ही फल मिल जायगा। इसीलिए अब यदि इसे योगाभ्यास का उपदेश किया जायगा तो वह निष्फल नहीं होगा।' मन में यही विचार करके श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—"हे पार्थ, अब मैं इस योगाभ्यास का राजमार्ग तुम्हें बतलाता हूं, सुनो। इस मार्ग में जगह-जगह प्रवृत्ति-रूपी वृक्षों की जड़ में निवृत्ति-रूपी फलों के घौद लगे हुए हैं। श्रीशंकर अब भी इसी मार्ग से प्रवास करते रहते हैं। इतर योगीजन पहले-पहले कुछ दूसरे ही टेढ़े-तिरछे मार्गों में भटक चुके हैं परन्तु अनुभव होने पर अन्त में उन्होंने भी यही राजमार्ग स्वीकृत किया है। अज्ञान के दूसरे समस्त टेढ़े-तिरछे मार्गों को छोड़कर वे लोग आत्मबोध के इसी सरल मार्ग से बराबर आगे बढ़ते गए हैं। योगियों के बाद बड़े-बड़े ऋषि भी सदा इसी मार्ग से चलते रहे हैं और साधक की अवस्था से निकलकर सिद्धता तक पहुंचे हैं। बड़े-बड़े आत्मवेत्ताओं ने भी इसी मार्ग से चलकर श्रेष्ठता प्राप्त की है। जब योग का यह राजमार्ग एक बार दिखाई पड़ जाता है, तब भूख-प्यास सब मिट जाती है। इस मार्ग में रात और दिन का कोई काल-भेद नहीं है। इस मार्ग पर चलते समय जहां-जहां पैर पड़ते हैं, वहां-वहां मोक्ष की खान ही खुलकर सामने आती है। और यदि बीच में कहीं कोई रुकावट आ पड़े तो फिर स्वर्ग-सुख तो रखा ही हुआ है। चाहे पूर्व की ओर जाओ और चाहे पश्चिम की ओर जाओ, इस मार्ग का प्रवाह बहुत ही शान्तिपूर्वक और अचूक होता है। मुझे अभी यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि इस मार्ग से चलकर हम जिस गांव में पहुंचते हैं, हम स्वयं वहीं गांव बन जाते हैं। यह बात तो तुम्हें आपसे आप स्वानुभव से पीछे मालूम हो जायगी।" अर्जुन ने कहा—"हे देव; आपने जो कहा कि 'पीछे' सो मैं तो यही चाहता हूं कि वह 'पीछे' कब होगा। मैं इस समय इस उत्कंठा के सागर में डूब रहा हूं। क्या आप मुझे इससे बाहर नहीं निकालेंगे ?" इस पर श्रीकृष्ण ने कहा—"हे पार्थ, तुम्हारी ये बातें बहुत ही उतावलेपन की हैं। मैं तो स्वयं ही बतला रहा था। पर तुम बीच में ही यह प्रश्न कर बैठे।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

"अच्छा, अब मैं तुम्हारे सामने सब बातों का सांगोपांग वर्णन करता हूं। परन्तु इन बातों का वास्तविक उपयोग तभी हो सकता है, जब इनका अनुभव किया जाय। योगाभ्यास करने के लिए सबसे पहले एक उपयुक्त स्थान देखना चाहिए। वह स्थान ऐसा होना चाहिए कि यदि विश्राम करने की इच्छा से आदमी वहां जाकर बैठे, तो फिर वहां से उसका उठने को जी ही न चाहे। वह स्थान ऐसा हो कि वहां के दृश्य से ही वैराग्य दूना हो जाय। वहां यदि सन्तजनों का निवास हो तो उससे सन्तोष की पुष्टि होती है और मन को धैर्य का सहारा मिलता है। जहां योगाभ्यास आपसे आप होता हो, जहां की रमणीयता के कारण हृदय को आत्मानन्द का अनुभव हो, हे अर्जुन,

जिस स्थान पर पहुंचते ही पाखंडियों के मन में भी तपश्चर्या करने की बुद्धि उत्पन्न हो जाय ... रास्ता चलता आदमी अचानक पहुंच जाने पर यदि उसे काम हो तो भी वह वहां से लौटने या हटकर जाने की बात बिलकुल भूल जाय। ऐसा स्थान न रहने वालों को भी रोक लेता है, भटकने वालों को भी स्थिर करता है और वैराग्य को थपकी लगाकर जाग्रत करता है। वह स्थान ऐसा होना चाहिए कि उसे देखते ही विषय सुखों के लम्पट को भी ऐसा जान पड़े कि मैं संसार का सुन्दर राज्य छोड़कर यहीं शान्तिपूर्वक पड़ा रहूं। बस वह स्थान ऐसा ही रमणीय होना चाहिए। इसके अतिरिक्त वह स्थान इतना शुद्ध भी होना चाहिए कि वहां आंखों को साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप ही दिखाई पड़ता हो। उस स्थान में एक और विशेष गुण यह होना चाहिए कि वहां योगाभ्यास करने वाले साधकों की ही बस्ती हो और दूसरे लोगों का वहां आना-जाना न हो। वहां ऐसे बड़े-बड़े और सघन वृक्ष भी होने चाहिए जो जड़ से ही अमृत के समान मीठे और सदा फल देने वाले हों और वे फल उनमें बारहो मास लगते हों। साथ ही उस स्थान पर वर्षाकाल के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में भी पग-पग पर पानी मिलता हो और विशेषतः वहां पानी के बहते हुए झरने भी यथेष्ट होने चाहिए। वहां गरमी बहुत ही ठिकाने की और साधारण पड़ती हो और शीतल तथा शान्त वायु मन्द-मन्द बहती हो। वह स्थान इतना शान्त होना चाहिए कि जल्दी किसी प्रकार का शब्द वहां न होता हो और पशुओं आदि की कौन कहे, तोते या भुनगे तक का भी वहां प्रवेश न होता हो। वह स्थान ऐसा होना चाहिए कि पानी के सहारे रहने वाले हंस और दो-चार सारस आदि पक्षी ही कहीं-कहीं दिखाई पड़ते हों और कभी-कभी कोई कोयल वहां आ बैठा करती हो। इसी प्रकार सदा तो नहीं, पर हां कभी-कभी कुछ मोर भी वहां आया-जाया करते हों, तो कोई हर्ज नहीं। हे अर्जुन, ऐसा स्थान बहुत ही सावधान होकर ढूंढ़ना चाहिए और वहां कोई मठ या शिवमन्दिर देखना चाहिए। इन दोनों में से जो अपने को अच्छा जान पड़े, वही अपने लिए चुन लेना चाहिए और वहां बिलकुल एकान्त में जा बैठना चाहिए। अपने लिए कौन-सा स्थान उपयुक्त होगा, यह देखने की रीति यह है कि पहले इस बात का अनुभव कर लेना चाहिए कि हमारा मन किस स्थान पर शान्त और निश्चल रहेगा, और तब उसी के अनुरूप स्थान चुनकर ऊपर बतलाये हुए प्रकार से वहां आसन जमाना चाहिए। सबसे ऊपर स्वच्छ मृग-चर्म होना चाहिए, बीच में अर्थात् उस मृग-चर्म के नीचे धोये हुए निर्मल वस्त्र की तह होनी चाहिए और उसके नीचे अर्थात् बिलकुल जमीन पर सरल और अखंड दर्भांकुर बिछे हुए होने चाहिए। ये दर्भांकुर बहुत ही कोमल हों और बराबर बिछे हुए हों, एक-दूसरे के साथ खूब अच्छी तरह मिले हुए हों। इन सब बातों का ध्यान उन्हें बिछाते समय ही पूरी तरह से रखना चाहिए। यह आसन यदि बहुत ऊंचा होगा तो शरीर हिले-डुलेगा और यदि बहुत नीचा होगा तो भूमि के साथ स्पर्श होने की सम्भावना रहेगी। इसीलिए उसकी ऊंचाई ठीक और समान की होनी चाहिए। परन्तु इन बातों की बहुत अधिक चर्चा करने की आवश्यकता नहीं। इन बातों का भावार्थ यही है कि आसन अच्छा और सुख देने वाला होना चाहिए।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

"फिर उस आसन पर बैठकर चित्त को एकाग्र करना चाहिए और सद्गुरु का स्मरण करना चाहिए। फिर अन्दर और बाहर दोनों ओर सात्त्विक वृत्ति से ओत-प्रोत भरकर बहुत सम्मान और आदरपूर्वक तब तक सद्गुरु का स्मरण करते रहना चाहिए, जब तक अहंकार की कठोरता बिलकुल नष्ट न हो जाय, विषयों की पूरी-पूरी विस्मृति न हो जाय, इन्द्रियों की चंचलता बिलकुल रुक न जाय और मन एकाग्र होकर हृदय में प्रतिबिम्बित न हो जाय, और इस प्रकार की स्वाभाविक एकता की अवस्था पूरी तरह से प्राप्त न हो जाय, फिर इसी आत्मबोध वाली अवस्था में आसन पर बैठे रहना चाहिए। ऐसी अवस्था में यह अनुभव होने लगेगा कि शरीर आपसे आप

सम्भलता हुआ ठिकाने आ रहा है और शरीर में की वायु एक ही स्थान पर एकत्र हो रही है। इस अवस्था में बैठते ही प्रवृत्ति पराङ्मुख हो जाती है, चित्त की समाधि अर्थात् एकाग्र सम-स्थिति समीप आ जाती है और योगाभ्यास का साधन होता है। अब यह बतलाते हैं कि उस समय मुद्रा की अर्थात् कमर से ऊपर वाले भाग की स्थिति कैसी होनी चाहिए। पिंडली को जांघ से मिलाकर पैर के तलुए इस प्रकार टेढ़े करने चाहिए कि वे ऊपर की ओर हो जाय और तब उन्हें गुद स्थान के मूल में रखकर जोर से दबाना चाहिए। दाहिने तलुए से गुद स्थान की सीवन का ठीक बीच वाला भाग दवाना चाहिए। इससे बायां तलुआ सहज में ठीक ऊपर जमकर बैठ जायगा। गुदा और वृषण के बीच में चार अंगुल का अन्तर होता है। उसमें से यदि डेढ़-डेढ़ अगुल दोनों ओर छोड़ दिया जाय तो बीच में एक अंगुल बाकी रह जाता है। एड़ी का पिछला भाग वहीं रखकर और सारे शरीर का भार खूब तौलकर उस स्थान को अच्छी तरह दवाना चाहिए। फिर पीठ के नीचे वाला भाग ऐसे हलकेपन से ऊपर उठाना चाहिए, जिसमें यह भी पता न चले कि ऊपर का शरीर उठाया गया है या नहीं; और दोनों घुटने भी उसी प्रकार संभालकर रखने चाहिए। हे अर्जुन, ऐसा करने से सारे शरीर का भार एड़ी के केवल अगले भाग पर आ पड़ेगा। हे पार्थ, यह मूलबन्ध नामक आसन का वर्णन है। ओर इसी का एक दूसरा नाम वज्रासन भी है। इस प्रकार जब गुदा और वृषण के बीचोंबीच रहने वाले आधार-चक्र पर ऊपर के शरीर का सारा भार पड़ता है, और शरीर के नीचे का भाग दबता है, तब आंतों में संचार करने वाला अपान वायु उलटे शरीर के भीतरी भाग की ओर अर्थात् पीछे की ओर हटने लगता है।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥१४॥

"फिर हाथ की हथेलियां द्रोणाकार होकर आपसे आप बायें पैर पर आकर टिक जाती हैं और जान पड़ता है कि कन्धे कुछ ऊंचे हो गये हैं। शरीर-दंड ऊंचा या सीधा खड़ा रहता है और उसके बीच में मस्तक घुसा या डूबा हुआ-सा मालूम होता है और आंखों में आपसे आप झपकी आने लगती है। आंखों की ऊपर वाली पलकें तो वन्द हो जाती हैं, पर नीचे वाली पलकें खुली रहती हैं। इसमें आंखें आधी खुली रहती हैं। फिर दृष्टि अन्दर की ओर बढ़कर जरा-सा बाहर की ओर आती है और नाक के ठीक कोने या अगले भाग पर आकर जम जाती है। इस प्रकार दृष्टि अन्दर की ओर संकुचित हो जाने के कारण फिर वाहर नहीं जा सकती; और तब उस अर्द्ध-विकसित दृष्टि को नाक के अगले भाग पर ही स्थिर होना पड़ता है। फिर किसी दिशा में दृष्टिपात करने अथवा किसी का आकार या रूप देखने की इच्छा आपसे आप नष्ट हो जाती है। सिर दबकर नीचे बैठ जाता है। और ठोढी गले के नीचे वाले गड्ढे में बैठ जाती है और सिर अच्छी तरह छाती के साथ सट जाता है। इससे कंठ-नाली भी उसी में मिलकर फंस जाती है। इसी प्रकार के बन्ध को जालन्धर कहते हैं। नाभि ऊपर उठ आती है और पेट अन्दर धंसकर सपाट हो जाता है, परन्तु हृदय-कोश विस्तृत हो जाता है। इस प्रकार लिंगमूल के ऊपर और नाभि-स्थल के नीचे जो बन्ध हो जाता है, उसे उड्डीयान बन्ध कहते हैं। इस प्रकार की बन्ध-मुद्रा से शरीर के बाहरी अंगों पर योगाभ्यास की छाप पड़ती है और शरीर के अन्दर का वह आधार नष्ट हो जाता है, जिसमें मनोवृत्तियां रहती हैं। कल्पना बे-काम हो जाती है और प्रवृत्ति शान्त हो जाती है। शरीर के लेखे मन आपसे आप नहीं के समान हो जाता है। फिर इस बात की कुछ सुधि नहीं रह जाती कि भूख क्या हो गई और नींद कहां चली गई! हे अर्जुन, अभी मैंने तुम्हें जो मूल बन्ध या वज्रासन बतलाया है, उसके द्वारा पूरी तरह से बंध जाने के कारण अपान वायु शरीर मे पीछे की ओर चलती है और दबाव पड़ने के कारण फूलने लगती है। फिर वह कुपित होकर मत्त होती है और

उसी कन्द जगह में गड़गड़ाने लगती है और नाभि-स्थान में रहने वाले मणिपूर नामक चक्र को बीच-बीच में धक्के देती है। इसके बाद जब यह आंधी शान्त हो जाती है, तब वह सारा शरीर रूपी घर ढूंढ डालती है और बाल्यावस्था से लेकर अब तक जितना मल अन्दर जमा रहता है, वह सब शरीर के बाहर निकाल देती है। अपान वायु की यह लहर शरीर के अन्दर तो समा ही नहीं सकती, इसलिए वह कोठों में घुसकर कफ और पित्त को आधार स्थल से निकाल देती है। फिर यह उभरी हुई अपान वायु रुधिर आदि सातों धातुओं के समुद्र को उलट देती है, मेद के पर्वतों को चकनाचूर कर देती है और हड्डियों के अन्दर बैठी हुई मज्जा तक को बाहर निकाल देती है। वायुमार्ग की नाली को खुलासा करती है और सब अवयवों को शिथिल कर देती है। इस प्रकार अपने इन लक्षणों से यह अपान वायु योग की साधना करने वाले नौसिखुए लोगों को डरा देती है। परन्तु योग की साधना करने वालों को इन सब बातों से बिलकुल डरना नहीं चाहिए। कारण यह है कि यद्यपि यह अपान वायु अपने इस प्रकार के व्यापारों से कुछ व्याधि उत्पन्न करती है, परन्तु साथ-ही-साथ वह उस व्याधि का परिहार भी करती चलती है। शरीर में कफ और पित्त आदि के जो जलीय अंश हैं और मांस-मज्जा आदि जो पृथ्वी के अंश हैं, वह उन सबको एक में मिला देती है। इसी बीच में, हे अर्जुन, आसन के ताप के कारण कुंडलिनी नाम की शक्ति जाग्रत होती है। जिस प्रकार नागिन का कुंकुम के समान लाल बच्चा कुंडली बनाकर बैठता है, उसी प्रकार यह कुंडलिनी नामक छोटी नाड़ी साढ़े तीन फेरे की कुंडली मारकर और सिर नीचे करके नागिन की तरह सोई रहती है। विद्युत् के बने हुए कंकण या अग्नि की ज्वाला की रेखा या सोने के बढ़िया घोटे हुए पांसे की तरह यह कुंडलिनी नाभिस्थान की छोटी-सी जगह में अच्छी तरह बन्धनों से जकड़ी हुई पड़ी रहती है। पर जब उस पर वज्रासन का दबाव पड़ता है, तब वह जाग उठती है। फिर जिस प्रकार कोई तारा टूट पड़ता है अथवा सूर्य का आसन छूट जाता है अथवा स्वयं तेज का बीज प्रस्फुटित होने पर उसमें से कोमल गाभ निकलता है, उसी प्रकार यह कुंडलिनी अपना घेरा छोड़ देती है और मानो अंगड़ाई लेती हुई नाभि-कन्द पर खड़ी हो जाती है। स्वभावतः वह बहुत दिनों की भूखी रहती है, तिस पर वह दबाकर जगाई जाती है, इसलिए वह अपना मुख बड़े आवेश से खोलकर ऊपर उठाती है। उसी समय उसे अपने सामने वह अपान वायु मिल जाती है जो हृदय-कोश के तल में आकर एकत्र हुई रहती है, और तब वह उस समस्त वायु को अपने अधिकार में कर लेती है। अपने मुख की ज्वाला में वह उसे ऊपर-नीचे और चारों ओर से घेर लेती है और मांस के कौर खाने लगती है। जहां-जहां मांस रहता है, वहां-वहां पहुंचकर वह उसे खाने लगती है और अन्त में हृदय के भी एक-दो कौर वह चट कर जाती है। फिर वह पैरों के तलुओं और हाथों की हथेलियों को भी भेदन लेती है और तब ऊपर अंश पर भी हाथ साफ करती है। इस प्रकार वह शरीर की प्रत्येक सान्धि और प्रत्येक अंग की तलाशी लिये बिना नहीं रहती। वह नीचे के भागों को भी नहीं छोड़ती। यहां तक कि नाखूनों का सार भी वह चूस लेती है, चमड़े तक का सत्त्व निकाल लेती है और तब हड्डियों पर जा पहुंचती है। वह हड्डियों की नलियों तक का रस चूस लेती है, शिराओं के जाल तक साफ कर डालती है, और इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि बाहर की ओर के रोम-कूप तब बन्द हो जाते हैं। कुंडलिनी को बहुत अधिक प्यास लगी रहती है, इसलिए रुधिर आदि सातों धातुओं को वह एक ही घूंट में पी जाती है और इस कारण शरीर बिलकुल नीरस हो जाता है, जिससे शरीर में पूर्ण रूप से ग्रीष्म ऋतु ही व्याप्त हो जाती है। फिर नाक के छेदों में से बारह अंगुल तक जो हवा निकलती है, उसे भी यह कुंडलिनी पकड़कर अन्दर की ओर खींचने लगती है। ऐसी अवस्था में नीचे की वायु ऊपर की ओर खिंचने लगती और ऊपर की वायु नीचे की ओर दबने लगती है, और इन दोनों के बीच में केवल मध्य वाले चक्र के पर्दे की ही आड़ रह जाती है। यदि बीच में यह आड़ न हो तो ये दोनों वायु उसी समय एक दूसरी से भिड़ जायं। परन्तु कुंडलिनी कुछ व्यग्र होकर इनसे कहती है—'क्या केवल तुम्हीं दोनों अब तक बच रही हो ?' हे अर्जुन,

इसका अभिप्राय यह है कि वह कुंडलिनी शरीर में का पृथ्वी वाला अंश खाकर भी समाप्त कर डालती है और जल के अंश का तो वह कहीं नाम भी नहीं रहने देती। जब यह शरीर में के पृथ्वी और जल दोनों ही भूतों का [illegible] डालती है, तब वह पूर्ण रूप से तृप्त हो जाती है और तब कुछ शान्त होकर सुषुम्ना नामक नाड़ी के पास रहती है। वहां तृप्त और सन्तुष्ट होकर वह जो गरल या विष उगलती है, वही प्राणवायु के लिए अमृत के समान हो जाता है, और उस अमृत से प्राणवायु जीवन धारण करती है। यद्यपि वह प्राणवायु उस गरल की अग्नि में से निकलती है, परन्तु फिर भी वह शरीर के भीतरी और बाहरी दोनों पार्श्व शीतल कर देती है, और तब वह प्रत्येक अंग में फिर से वह सामर्थ्य भरने लगती है जो वह पहले उनमें से खींच चुकी होती है। परन्तु नाड़ियों के मार्ग भर चुके होते हैं, और उनका प्रवाह बन्द हो चुका रहता है, और शरीर में जो अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कुकर, देवदत्त और धनंजय नामक नौ प्रकार की वायु नष्ट हो चुकी होती हैं और केवल प्राणवायु ही बची रहती है, इसलिए शरीर के सब धर्म नष्ट हो जाते हैं। फिर नाक के दाहिने और बायें रन्ध्रों की इड़ा और पिंगला नाम की नाड़ियां मिलकर एक हो जाती हैं, उनकी तीनों गांठें खुल जाती हैं और शरीर के अन्दर के छओं चक्रों के ऊपर के आवरण फट जाते हैं। फिर नासिका-रन्ध्रों में से बहने वाली जिन वायुओं की उपमा सूर्य और चन्द्रमा से दी जाती है, उनका ऐसा लोप हो जाता है कि दीपक की ज्योति को भी वे नहीं हिला सकतीं। बुद्धि की चंचलता नष्ट हो जाती है और घ्राणेन्द्रिय में जो गन्ध बची रहती है, वह भी कुंडलिनी शक्ति के साथ-साथ मध्यम नाड़ी अर्थात् सुषुम्ना में घुस जाती है। इसी बीच में चन्द्रमा की सत्रहवीं कला के अमृत का वह सरोवर, जो ऊपर की ओर रहता है, धीरे-धीरे टेढ़ा होने लगता है और आकर कुंडलिनी के मुंह के साथ लग जाता है। फिर इस कुंडलिनी की नली में जो अमृत रस भरता है, वह समस्त अंगों में व्याप्त हो जाता है और प्राणवायु के साथ प्रत्येक अंग में पहुंचकर जहां-का-तहां सूख जाता है। जिस प्रकार सांचे को तपाने से उसमें का सारा मोम उड़ जाता है और फिर वह सांचा केवल धातु-रस से भरा रहता है, उसी प्रकार मानो चन्द्रमा की सत्रहवीं कला इस शरीर के रूप में अवतरित होती हुई जान पड़ती है और उसके चारों ओर चमड़े का अवगुण्ठन मात्र रह जाता है। बादलों के आगे आ जाने से सूर्य छिप जाता है, परन्तु उन बादलों के हट जाने पर जिस प्रकार वह फिर अपनी प्रकाशमान प्रभा से प्रकट होता है, उसी प्रकार इसी सत्रहवीं कला के तेजस्वी रूप पर चमड़े की खोली ही ऊपर-ऊपर रह जाती है। परन्तु फिर वह भी भूसी की तरह झड़ जाती है। फिर अंगों की कान्ति या प्रभा ऐसी जान पड़ती है कि मानो शुद्ध स्फटिक का निर्दोष स्वरूप हो अथवा रत्न का बीज प्रस्फुटित हुआ हो और उसमें कोमल कल्ले निकले हों। अथवा ऐसा जान पड़ने लगता है कि सन्ध्या-काल का रंग लेकर यह शरीर बनाया गया है अथवा अन्तस्थ चैतन्य के तेज की निर्मल प्रभा है। यह शरीर ऐसा जान पड़ता है कि मानो कुंकुम से भरा हुआ अथवा चैतन्य रस से ढाला गया है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि वह शरीर क्या है, मूर्तिमती शान्ति ही है। यह शरीर मानो आनन्द-चित्र में के रंगों का काम अथवा आत्मसुख का स्वरूप दिखाई पड़ता है अथवा सन्तोष का वृक्ष दृढ़तापूर्वक रोपा हुआ जान पड़ता है। अथवा वह स्वर्ण चम्पक की कली है अथवा अमृत का पुतला है अथवा कोमलता का ऐसा उपवन है जिसमें पूर्ण रूप से वसन्त ऋतु व्याप्त है। अथवा शरद् ऋतु की आर्द्रता से चन्द्र-बिम्ब पल्लवित हुआ है; अथवा यह कल्पना होती है कि स्वयं तेज ही धारण करके आसन पर बैठा हुआ है। जिस समय कुंडलिनी सत्रहवीं कला के अमृत का पान करती है, उस समय शरीर की इसी प्रकार की अवस्था हो जाती है। उस समय स्वयं काल भी इस शरीर से डरने लगता है। उस समय वृद्धावस्था की कला का लोप हो जाता है, यौवनावस्था भी दब जाती है और फिर से बाल्यावस्था प्राप्त होती है। यदि केवल वयस का विचार किया जाय तब तो वह बालकों के ही समान दिखाई पड़ता है, परन्तु उसकी सामर्थ्य का महत्त्व इतना अधिक होता है कि 'बाल' शब्द का अर्थ 'बल' ही करना पड़ता

है। उस समय उसके जो नये तेजस्वी नख निकलते हैं, उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता है कि मानो स्वर्ण के वृक्ष में रत्न की ऐसी कली निकली है जो कुम्हलाने वाली न हो। जो नये दांत निकलते हैं, वे भी बहुत ही छोटे छोटे होते हैं और ऐसा जान पड़ता है कि मानो जबड़े में दोनों तरफ हीरे की कनी की पंक्तियां बैठाई हुई हों। समस्त शरीर पर केशों के ऐसे नये अग्रभाग दिखाई पड़ते हैं कि मानो बहुत ही बारीक मानिक की कनियों के समान हों। हाथों की हथेलियां और पैरों के तलुए लाल कमल के समान सुन्दर जान पड़ते हैं और उसकी जो आंखें धुलकर निर्मल हो जाती हैं, भला, उनका वर्णन कौन कर सकता है ! जिस समय मोती अपनी पक्व दशा को प्राप्त होता है, उस समय वह सीपी में नहीं समाता। उस समय सीपी की सीवन जिस प्रकार खुल जाती है, उसी प्रकार उसकी दृष्टि भी आंखों की पलकों में नहीं समाती और आवेश में बाहर निकलना चाहती है। जिस समय उसकी आखें अधखुली रहती हैं, उस स्थिति में वह समस्त आकाश को आच्छादित कर सकती है। हे अर्जुन, तुम यह बात ध्यान में रखो कि योगी का शरीर यद्यपि कान्ति के विचार से सोना का होता है, तो भी भार के विचार से वह वायु का ही होता है, और इसका कारण यह है कि उसमें पृथ्वी का जड़ अंश और जल का द्रव्य अंश नाम को भी नही होता। फिर उस योगी को समुद्र के उस पार की चीजें भी दिखाई पड़ने लगती हैं, स्वर्ग का नाद भी सुनाई पड़ने लगता है और वह च्यूंटी से मन का भाव भी जान सकता है। वह हवा के घोड़े पर सवार होता है, और यदि वह पानी के ऊपर चले तो उसके पैर का पानी से स्पर्श भी नहीं होता। बस इसी प्रकार की अनेक सिद्धियां उसे प्राप्त हो जाती हैं। हे पार्थ, अब तुम इधर ध्यान दो। प्राणवायु का आधार लेकर हृदय-कोश के तलों को सीढ़ियों के डंडे बनाकर और सुषुम्ना नामक मध्यम नाड़ी की सीढ़ी बनाकर जो कुंडलिनी हृदय तक पहुंच जाती है, उसे जगत् की जननी ही समझना चाहिए। वही जीवात्मा की शोभा है और वही ओंकार के अंकुर के ऊपर की छाया है। वही शून्य की बैठक और परमात्मा रूपी शिव प्रतिमा का सम्पुट है अथवा ओंकार की स्पष्ट जन्म-भूमि ही है। अस्तु। जब इस प्रकार की यह सुकुमार कुंडलिनी हृदय-कोश में प्रवेश करती है, तब आपसे आप होने वाला दिव्य--अनाहत ध्वनि--का नाद उठने लगता है। कुंडलिनी शक्ति के अंग से लगे रहने के कारण ही बुद्धि को चैतन्य प्राप्त होता है, इसलिए यह अनाहत नाद उसे थोड़ा-थोड़ा सुनाई पड़ने लगता है। इस अनाहत नाद के दस प्रकार होते हैं। उनमें से नाद का पहला प्रकार घोष है जो पहले सुनाई पड़ता है। फिर उसी घोष के कुण्ड में ओंकार के रूप के समान अंकित नाद-चित्र की आकृति बनने लगती है। सब बातें कल्पना से जाननी चाहिए। लेकिन कल्पना करने वाले को भी भला यह बात कैसे मालूम हो सकती है ! सच तो यह है कि यही समझ मे नहीं आता कि उस स्थान पर काहे का नाद हो रहा है। परन्तु हे अर्जुन, इस वर्णन के फेर में तो मैं बिलकुल भूल ही गया। जब तक प्राणवायु का नाश नहीं होता, तब तक हृदय रूपी आकाश में आवाज होती ही रहती है और वही आवाज इस तरह गूंजती रहती है। जब उस अनाहत के मेघनाद से समस्त हृदयाकाश गूंज उठता है, तब ब्रह्म-रन्ध्र की खिड़की आपसे आप खुल जाती है। हे अर्जुन, हृदयाकाश के ऊपर जो महदाकाश अथवा ब्रह्म-रन्ध्र होता है, उसी में चैतन्य निराधार स्थिति में रहता है। ज्यों ही उस महदाकाश के घर में कुंडलिनी देवी का प्रवेश होता है, त्यों ही वह अपना तेज उस चैतन्य के आगे भोज-रूप में अर्पित करती है। ज्यों ही बुद्धि के शाक के साथ इस शुद्ध भोजन का नैवेद्य लगता है, त्यों ही फिर द्वैत का कहीं नाम भी बाकी नहीं रह जाता। फिर कुंडलिनी की निजी कान्ति नष्ट हो जाती है और तब वह केवल प्राणवायु का स्वरूप प्राप्त कर लेती है। यदि तुम यह पूछो कि उस समय उसका स्वरूप कैसा हो जाता है तो मैं बतलाता हूं, सुनो, ऐसा जान पड़ता है कि अब तक वायु की यह पुतली सुनहरा पीताम्बर पहने हुए थी, पर अब वह अपना वह पीताम्बर दूर करके नग्न हो गई है। अथवा ऐसा जान पड़ता है कि हवा का झोंका लगने के कारण दीपक की ज्योति बुझ गई है। अथवा जिस प्रकार बिजली एक वार आकाश में चमककर अदृश्य

हा जाती है, उसी प्रकार जान पड़ता है कि हृदय-कमल तक सोने की सलाई के समान दिखाई पड़ने वाली अथवा प्रकाश के स्रोत की तरह बहती हुई वह कुंडलिनी हृदय-प्रान्त की दरी में अचानक समा जाती है, और तुरन्त ही शक्ति का शक्ति में लय हो जाता है। ऐसी अवस्था में हम उसे भले ही शक्ति कह लें, परन्तु यदि वास्तविक दृष्टि में देखा जाय तो वह प्राणवायु ही होती है। भेद केवल यही है कि उसका नाद, कान्ति और तेज दिखाई नहीं पड़ता। फिर उस अवस्था में मन को जीतने, वायु को बन्द करने या रोकने अथवा ध्यान लगाने की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। उस समय मन में संकल्प-विकल्प भी नहीं उठते। वास्तव में, इस स्थिति को पंचमहाभूतों को पूर्ण रूप से नष्ट करने वाली ही समझना चाहिए।" इस प्रकार योग-साधन के द्वारा पिंड से पिंड को ग्रसना, नाथ-सम्प्रदाय का रहस्य या मूल उपाय है; और यहां श्रीकृष्ण ने उसकी ओर केवल संकेत किया है। यहा अच्छे-अच्छे गुणग्राहक कथा श्रवण करने के लिए बैठे हैं और इसीलिए श्रीकृष्ण की ध्वनितार्थवाली गठरी को छोड़कर मैंने वास्तविक भावार्थ की तह ही खोलकर सब लोगों के सामने रख दी है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

"हे अर्जुन, सुनो। जिस समय शक्ति निस्तेज होती है, उस समय देह के रूप का भी नाश हो जाता है और तब वह योगी सांसारिक लोगों की आंखों में अपनी वास्तविक स्थिति या स्वरूप में नहीं दिखाई पड़ता। साधारणतः ऊपर से देखने में तो वह पहले की ही तरह शरीरधारी दिखाई पड़ता है, परन्तु वास्तव में उसका वह शरीर मानो वायु का ही बना हुआ होता है। अथवा जिस प्रकार अपना ऊपरी छिलका उतारकर केले का गाभा खड़ा रहता है अथवा स्वयं आकाश में ही उसका कोई अवयव निकलता है, उसी प्रकार वह योगी भी उस समय हो जाता है। जिस समय योगी का शरीर इस प्रकार हो जाता है, उस समय उसे खेचर (आकाश में संचार करने वाला) कहते हैं। जिस समय योगी को यह योग्यता प्राप्त हो जाती है, उस समय उसका शरीर संसार में एक बहुत बड़ा चमत्कार कर दिखलाता है। हे अर्जुन, इस प्रकार योग की साधना करने वाला मनुष्य जिस समय चलता है, उस समय अणिमा आदि आठों सिद्धियां उसके चरणों के आगे हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं। परन्तु, हे अर्जुन, इन सिद्धियों की बातों से हम लोगों का क्या मतलब है ! मुख्य तात्पर्य यही है कि योगियों के स्वयं शरीर में ही पृथ्वी, अप और तेज इन तीनों महाभूतों का लोप हुआ रहता है। पृथ्वी का अंश अप में घुल जाता है, अप का अंश तेज में समा जाता है और तेज का अंश हृदय के पवन में चला जाता है। फिर अन्त में एकमात्र पवन ही रह जाता है और वह केवल शरीर के रूप में ही रहता है। परन्तु कुछ समय बीतने पर वह भी आकाश में समरस होकर लुप्त हो जाता है। उस समय उस शक्ति का कुंडलिनी नाम भी मिट जाता है और उसे मारुती (अर्थात् वायु) वाला नया नाम प्राप्त होता है। परन्तु फिर भी जब तक वह ब्रह्म-स्वरूप में मिल नहीं जाती, तब तक उसमें शक्ति बनी ही रहती है। फिर वह ऊपर बतलाया हुआ 'जालन्धर' नामक बन्ध छोड़कर और काकी-मुखी सुषुम्ना नाड़ी का मुंह फोड़कर ब्रह्म-रन्ध्र में प्रवेश करती है। फिर वह ओंकार की पीठ पर पैर रखकर चटपट पश्यन्ती-वाचा की सीढ़ी पार कर जाती है। फिर वह आधी मात्रा तक—अर्थात् ओंकार में के मकार तक—उसी प्रकार ब्रह्म-रन्ध्र में घुसती है, जिस प्रकार समुद्र में नदी प्रवेश करती है। फिर वह ब्रह्म-रन्ध्र में स्थिर होती है और अपनी सोऽहंवाली भावना की भुजा फैलाकर बड़े आवेश से परब्रह्म के साथ मिलती है। उस समय पंच-महाभूतों का परदा दूर हो जाता है और तब वह शक्ति परब्रह्म के गले लगती है और तब आकाश के सहित उस परब्रह्म में एकजीव होकर लीन हो जाती है। जिस प्रकार समुद्र का जल मेघों के द्वारा शुद्ध होकर नदी-नालों में पहुंचता है, पर अन्त में फिर उसी समुद्र के पानी मे मिलकर अपना मूल स्वरूप प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी देह की सहायता से परमात्मा में मिलकर

उसके साथ एक हो जाता है। उस समय इस बात का भी विचार करने की कोई जगह बाकी नहीं रह जाती कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों अलग-अलग थे और अब मिलकर एक हो गए हैं अथवा दोनों मिलकर एक ही वस्तु हैं। इस प्रकार गगन में लीन होने की जो स्थिति है, उसका मनुष्य को जिस समय अनुभव होता है, उसी समय उसको उसका ठीक-ठीक ज्ञान भी होता है। इसीलिए ऐसे शब्द ही कहीं नहीं मिलते जिनके द्वारा उसका वर्णन संवाद का प्रान्त में लाया जा सके। हे अर्जुन, जिस वैखरी वाणी को साधारणतः इस बात का अभिमान रहता है कि मुझमें अभिप्राय प्रकट करने की शक्ति या गुण है, वह भी इस विषय में दुर्बल ही सिद्ध होती और दूर ही रहती है। भौंहों के पिछले भाग में केवल मकार—अर्थात् ओंकार की तीसरी मात्रा—की ही केवल आड़ होती है। परन्तु उसे हटाकर गगन की ओर जाने में प्राणवायु को भी परिश्रम करना पड़ता है, इसके उपरान्त जब वह प्राणवायु ब्रह्म-रन्ध्र के आकाश में मिलकर एक हो जाती है, तब शब्दों के लिए वर्णन करने योग्य कोई बात ही बाकी नहीं रह जाती और इसीलिए शब्दों की सामर्थ्य का भी अन्त हो जाता है। इसके बाद की सीढ़ी या दरजा तो यही है कि स्वयं उस गगन या आकाश का ही लय हो जाय। जब उस गगन का भी लय हो जाता है, अर्थात् जब महाशून्य के अगाध दह में उस गगन का भी कहीं पता नहीं रह जाता, तब भला वहां शब्द की माया या शक्ति क्योंकर काम आ सकती है ! अतः यह बात त्रिकाल-सत्य है कि यह विषय ऐसा स्पष्ट और सहज नहीं है जो वाणी के क्षेत्र में आ सके अथवा श्रवणेन्द्रिय को जिसका आकलन हो सके। यहां तो केवल यही कहा जा सकता है कि यदि ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो सके तो इसका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिए और तब आत्मस्वरूप हो जाना चाहिए। इसके बाद जानने योग्य और कोई बात बाकी नहीं रह जाती। अतः हे वीरश्रेष्ट अर्जुन, बार-बार इसी बात की पुनरुक्ति करने से क्या लाभ ? इस प्रकार जहां से शब्द भी वापस लौट आते हैं, जिसमें संकल्प-विकल्प सब नष्ट हो जाते हैं और जिसमें विचार की हवा भी प्रवेश नहीं कर सकती, जिस उन्मनी अवस्था का सौन्दर्य चतुर्थ अवस्था का अर्थात् ब्रह्मात्मक जीवन्मुक्ति का पूर्ण वैभव है, जो आदिरहित, अपरिमित और सर्वश्रेष्ठ तत्त्व के रूप में परिगणित होने के योग्य है, जिसे विश्व का आदिबीज, योग-साधना का अन्तिम साध्य और आनंद का केवल चैतन्य रूप समझना चाहिए, जिसमें आकार की मर्यादा, मोक्ष की एकरूप अवस्था और प्रारम्भ तथा अन्त की सीमाएं बिलकुल निर्मूल हो जाती हैं, जो पंच-महाभूतों का मूल कारण, महातेज का भी तेज है और, हे अर्जुन, तात्पर्य यह है जिसे मेरा आत्मस्वरूप ही समझना चाहिए और नास्तिकों के द्वारा भक्तजन-समूह के छले जाने के कारण जिसे सगुण होकर यह चतुर्भुज आकार धारण करना पड़ा है, वह महासुखात्मक परमात्मतत्त्व वर्ण की सीमा के बाहर का ही है। परन्तु जिन पुरुषों ने आत्मस्वरूप प्राप्त कर लिया है, अन्तिम साध्य की सिद्धि होने तक जिन्होंने दृढ़ निश्चयपूर्वक प्रयत्न किया है और मेरे ऊपर बतलाये हुए प्रकार से जिन्होंने अपना शरीर सार्थक किया है, वे लोग शुद्ध होकर मेरे ही समान हो जाते हैं। उनके शरीर की कान्ति देखने से ऐसा जान पड़ता है कि वे परब्रह्म रूपी रस से शरीर रूपी सांचे में ढले हुए स्वयं परब्रह्म के ही बने हुए पुतले हैं। यदि मन में इस प्रकार का पूरा-पूरा अनुभव हो जाय तो फिर ऐसा जान पड़ने लगता है कि यह विश्व नहीं है, बल्कि प्रत्यक्ष परब्रह्म ही है।''

यह सुनकर अर्जुन ने बीच में ही कहा—''हे देव, आप जो कुछ कहते हैं, वह बिलकुल ठीक है। क्योंकि हे देव, आपने अभी साधना का जो प्रकार बतलाया है, उसमें स्पष्ट परब्रह्म की प्राप्ति होती है। जो लोग दृढ़ निश्चयपूर्वक यह योगाभ्यास करते हैं, वे निस्सन्देह ब्रह्मत्व को प्राप्त होते हैं। आपने अभी जो कुछ बतलाया है, उससे मुझे यह बात अच्छी तरह ज्ञात हो गई है। हे देव, आपने अभी जो केवल वर्णन किया है, वह सुनकर ही मेरे मन को बहुत कुछ बोध हो गया है। फिर जिसे इसका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ हो, वह यदि तल्लीन हो गया हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ! इसीलिए अब इस विषय में और कोई ऐसी बात बाकी नहीं रह गई है जिसके

सम्बन्ध में मैं आपसे और कुछ पूछूं। परन्तु फिर भी मैं एक बात कहता हूं। आप क्षण-भर के लिए इधर ध्यान दें। हे देव, आपने अभी जो योग बतलाया है, वही अच्छी तरह मेरे मन में बैठ गया है। परन्तु सामर्थ्य न होने के कारण मैं पंगु के समान हूं; और इसीलिए मुझसे इस योग की साधना नहीं हो सकती। मेरे शरीर में जितनी शक्ति है, यदि उतनी ही शक्ति से यह योग सिद्ध हो सकता हो तो मैं इस मार्ग का सहज में ही अभ्यास करूंगा। लेकिन आप जो कुछ कहते हैं, उसके अनुसार कार्य करने की मुझमें योग्यता या शक्ति ही न हो तो मुझे ऐसी ही बातें पूछनी चाहिए जो मेरी दुर्बलता को शोभा देती हों—जो उसके अनुकूल पड़ती हों। मेरे मन में इसी प्रकार की इच्छा उत्पन्न हुई है इसलिए मैं आपसे एक बात पूछता हूं।" इसके उपरान्त अर्जुन ने कहा—"हे देव, आप इधर ध्यान दें। आपने जो-जो साधन बतलाये हैं, वे सब मैंने सुन लिये हैं। परन्तु अब मैं यह जानना चाहता हूं कि क्या वह साधन ऐसे हैं, जिनका साधारणतः जो चाहे, वही अभ्यास कर सकता है अथवा वे ऐसे साधन हैं जो बिना कुछ विशिष्ट योग्यता प्राप्त हुए ही नहीं हो सकते।" इस पर श्रीकृष्ण ने पार्थ से जो कुछ कहा, वह सुनिये। वे बोले—"यह तो परमार्थ का बहुत ही विकट कार्य है। परन्तु हे अर्जुन, यदि कोई सामान्य कार्य भी हो तो वह भी तब तक कभी सिद्ध नहीं हो सकता, जब तक उसके कर्ता में उसे करने की योग्यता न हो। परन्तु जिसे योग्यता कहते हैं, उसका निश्चय तो कार्य की सिद्धि होने पर ही होता है। क्योंकि अपने आपमें योग्यता होने पर जो कार्य आरंभ किया जाता है, वही सिद्ध होता है। परन्तु इस प्रकार की योग्यता के कारण इस काम में नाम की भी कोई अड़चन नहीं होती। और फिर मैं तुम्हीं से एक बात पूछता हूं। योग्यता की क्या कहीं कोई खान होती है जिसके मिलते ही मनुष्य जितनी योग्यता चाहे, उतनी अपने आपमें भर ले ! यदि कोई मनुष्य जरा-सा विरक्त होकर देह के विहित कर्म नियमपूर्वक करने लग जाय तो क्या वही पुरुष अधिकारी नहीं सिद्ध होता ? इसी प्रकार तुम भी अपने आपमें इतनी योग्यता ला सकते हो कि वासनारहित होकर सब विहित कर्म कर सको।" इस प्रकार ये बातें कहकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मन का दुःख दूर किया। फिर उन्होंने अर्जुन से कहा—"इस विषय में यह एक नियम है कि जो मनुष्य अपने विहित कर्म विरक्त होकर नहीं करता, उसमें यह योग्यता कभी आ ही नहीं सकती।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

"जो जीभ के चोंचलों का दास बन गया हो अथवा जो पूर्ण रूप से निद्रा के अधीन हो गया हो, वह कभी इस साधना का अधिकारी नहीं हो सकता। अथवा जो दुराग्रह के बन्दीगृह में प्यास और भूख को बन्द करके अपना शरीर तोड़ डालता है, खाना-पीना छोड़ देता है अथवा इसी प्रकार के आग्रह के कारण सोने का नाम भी नहीं लेता और जो इस प्रकार हठपूर्वक सब काम करता है, उसका स्वयं शरीर ही उसके अधीन नहीं होता। फिर भला ऐसे मनुष्य से योग की साधना कैसे हो सकती है ! इसीलिए जिस प्रकार विषयों का अतिरिक्त या आवश्यकता से अधिक सेवन नहीं करना चाहिए, उसी प्रकार उनके साथ द्वेष भी नहीं करना चाहिए और उन्हें जबरदस्ती पूरी तरह दबाकर भी नहीं रखना चाहिए।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

"आहार का सेवन करना चाहिए, परन्तु वह उचित और ठिकाने का हो। सभी काम इसी प्रकार उचित और ठिकाने के होने चाहिए। नपी-तुली बातें कहनी चाहिए, ठीक तरह से चलना चाहिए और उचित समय पर निद्रा का भी सेवन करना चाहिए। यदि कभी जागने की आवश्यकता हो तो वह जागरण भी नियमित होना चाहिए। ऐसा करने से शरीर के कफ-पित्त आदि धातु (रस) अपने उचित परिमाण में रहते हैं और सुख होता है। इस प्रकार यदि

नियमित रूप से इन्द्रियों को उनके विषयों का अन्न दिया जाय तो मन सन्तुष्ट रहता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

"ज्यों-ज्यों शरीर की बाहरी क्रियाओं पर नियम और नियन्त्रण की छाप बैठती जाती है, त्यों-त्यों अन्दर सुख की वृद्धि होती चलती है और इस प्रकार योगाभ्यास न करने की अवस्था में भी आपसे आप योग का साधन होता चलता है। जिस प्रकार उद्योग के निमित्त से, परन्तु वास्तव में भाग्य के बल से, सब प्रकार का वैभव आपसे आप घर में चला आता है, उसी प्रकार जो मनुष्य परिमित रूप से और संयमपूर्वक सब क्रियाओं का आचरण करता है, वह सहज में ही योगाभ्यास के कार्य में लग जाता है और उसे आत्मसिद्धि के अनुभव की प्राप्ति होती है। इसीलिए हे अर्जुन, जिस भाग्यवान् पुरुष से यह संयम वाला कर्मयोग सध जाय, वह मोक्ष के सिंहासन पर सुशोभित हो जाता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

"जिस समय क्रियाओं के संयम का योग के साथ मेल होता है, उस समय यह शरीर पवित्र प्रयाग-क्षेत्र ही हो जाता है। ऐसे शरीर में जिसका मन ऐसी दृढ़तापूर्वक स्थिर होता है कि जब तक शरीर-पात न हो, तब तक विचलित नहीं होता, हे अर्जुन, उसी को तुम योगयुक्त समझो। प्रसंगवश मैं तुम्हें यह भी बतला देता हूं कि ऐसे योगयुक्त की उपमा निर्वात स्थानों में रखे हुए दीपक की ज्योति के साथ दी जाती है। अब मैं तुम्हारे मन का भाव समझकर तुम्हें कुछ और बातें बतलाता हूं। तुम उन्हें अच्छी तरह ध्यान देकर सुनो। तुम अपने मन में कार्यसिद्धि की लालसा तो रखते हो, परन्तु अभ्यास का कष्ट उठाने के लिए क्यों नहीं तैयार होते ? इसमें ऐसी कौन-सी कठिनता है जिससे तुम डरते हो ? हे अर्जुन, तुम व्यर्थ अपने मन में इस बात का डर न करो। ये दुष्ट इन्द्रिया छोटी-छोटी बातों को व्यर्थ ही पहाड़ बनाकर दिखलाती हैं। देखो, यदि कोई इतनी गुणकारी दिव्य औषधि हो जो आयु को स्थिर कर सके और शरीर से निकलते हुए प्राणों को भी लौटा लावे, तो भी जीभ उस औषधि को शत्रु ही मानती है या नहीं ? इसी प्रकार जो कर्म हमारे उच्च कल्याण के लिए अनुकूल होते हैं, वे सब इन इन्द्रियों को सदा कष्टदायक ही जान पड़ते हैं। और नहीं तो योग-साधना के समान सहज काम वास्तव में और कोई है ही नहीं।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

"इसीलिए मैंने दृढ़ आसन लगाकर करने के लिए जो योगाभ्यास बतलाया है, उससे इन इन्द्रियों का अच्छा नियन्त्रण होगा। क्योंकि यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो जब योग-साधना से इन्द्रियों का निग्रह होता है, उसी समय चित्त आत्मस्वरूप में प्रवेश करने लगता है। फिर जब चित्त वहां से लौटता है और आत्मस्वरूप की ओर उसकी पीठ होती है और वह अपने केवलात्म स्वरूप की ओर देखता है, तब उसे देखते ही वह पहचान जाता है और कहता है—'मैं स्वयं यही तत्त्व हूं।' ज्यों ही वह उसे पहचान लेता है, त्यों ही वह सुख के साम्राज्य का भोग करने लगता है और फिर आपसे आप उस परमात्म तत्त्व के साथ मिलकर एकरूप हो जाता है। जिसके आगे या उस पार और कुछ भी नहीं है और जिसका वास्तविक ज्ञान इन्द्रियों को कभी होता ही नहीं, उसके साथ वह तन्मय होकर अपनी जगह पर आत्मसुख में रहता है।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

"उस समय चाहे मेरु पर्वत के समान भारी दुःख का पर्वत भी उसके शरीर पर क्यों न आ पड़े, परन्तु फिर भी उसका चित्त कभी विचलित नहीं होता। अथवा चाहे उसका शरीर शस्त्रों से छेद डाला जाय और चाहे वह अग्नि मे जा पड़े, परन्तु फिर भी आत्मतत्त्व के महासुख में सोया हुआ चित्त जागने का नाम भी नहीं लेता। जब चित्त इस प्रकार आत्मतत्त्व में विलीन हो जाता है, तब वह इस शरीर की ओर कभी भूलकर भी नहीं देखता। उसे अलौकिक आत्मसुख प्राप्त हो जाता है और इसलिए वह इस शरीर के सुख-दुःखों की सब बातें ही भूल जाता है।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

"जिस सुख का माधुर्य चख लेने पर संसार के बन्धनों में फंसा हुआ मन वासनाओं का कभी स्मरण या ध्यान भी नहीं करता, जो सुख योग की शोभा और सन्तोष की राजसम्पत्ति है और जिस सुख के लिए ही ज्ञान का ज्ञातृत्व काम आता है, वह सुख योगाभ्यास के द्वारा मूर्तिमान् होकर सामने दिखाई पड़ने लगता है। जब इस प्रकार उसके दर्शन हो जायं, तभी हम भी उसके साथ मिलकर तद्रूप हो सकेंगे।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

"हे अर्जुन, जो यह योग तुम्हें बहुत ही कठिन जान पड़ता है, वह एक तरह से बहुत ही सुगम है। इसके लिए आवश्यकता केवल इसी बात की है कि संकल्प की सन्तान काम-क्रोध आदि को मार डालना चाहिए जिसमें उस संकल्प को पुत्र-शोक प्राप्त हो। जब संकल्प को यह मालूम होगा कि सब विषय मर गये हैं उसे इस बात का भी पता चल जायगा कि इन्द्रियों का पूर्ण रूप से निग्रह हो गया है, तब वह अपनी छाती पीटकर आप ही अपने प्राण त्याग देगा। यदि मन को इस प्रकार का वैराग्य प्राप्त हो जाय तो फिर इस संकल्प की यात्रा भी समाप्त हो जायगी—इस संकल्प का भी अन्त हो जायगा; और बुद्धि बहुत ही सुखपूर्वक धैर्य के मन्दिर में निवास करने लगेगी।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

"यदि बुद्धि को धैर्य प्राप्त हो जाय तो वह मन को धीरे-धीरे अनुभव के मार्ग में चलाने लगेगी और अन्त मे उसे ले जाकर परमात्म-मन्दिर में बैठा देगी। इसलिए तुम यह बात ध्यान में रखो कि इस प्रकार से भी आत्मप्राप्ति होती है। यह स्थिर न रहने वाला और चंचल मन जिस-जिस शब्दादि विषय के निमित्त से संसार में विचरता है, उस-उस विषय से रोककर यानि हटाकर इसे बार-बार परमात्मा में ही निरुद्ध करे। यदि यही नियम करने से मन स्थिर हो जाय तो फिर समझ लेना चाहिए कि वह अपने काम में लग गया। पर यदि यह पता चले कि इस प्रकार मन स्थिर नहीं रहता, तो फिर उसे बिलकुल खुला छोड़ देना चाहिए। फिर इस प्रकार से अनियन्त्रित छोडा हुआ मन जहां जाय, वहां से उसे नियन्त्रित करके लौटा लाना चाहिए। बस इसी से उसे धीरे-धीरे स्थिर रहने की आदत पड़ जायगी।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

इसके उपरान्त कभी न कभी एक बार उसी स्थिरता की सहायता से मन आप ही आत्मस्वरूप के पास जा पहुंचेगा। फिर उस आत्मस्वरूप को देखकर वह उसके साथ मिल जायगा। उस अद्वैत को अद्वैत न समाधि प्राप्त हो जायगी और उस एकता के प्रभाव से तीनों लोक प्रकाशमान् हो जायगे। आकाश में आकाश से भी भिन्न जान पड़ने वाला मेघ दिखाई पड़ता है, परन्तु उस मेघ के हट जाने पर जिस प्रकार केवल सर्वव्यापी आकाश ही बाकी बच रहता है, उसी प्रकार चित्त का भी लय हो जाता है और सब कुछ चैतन्य के ही रूप में दिखाई पड़ता है। इस सहज मार्ग से इस प्रकार की फल-प्राप्ति होती है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

"इस सुगम योगावस्था के द्वारा बहुत-से लोगों ने संकल्प की सम्पत्ति छोडकर मोक्ष के दर्शन किये हैं। जब मन सुख की संगति से परब्रह्म के अन्दर जा पहुंचता है, तब वह उसे उसी प्रकार नहीं छोड़ता, जिस प्रकार पानी में घुला हुआ नमक पानी को नहीं छोड़ता; और मन भी उस मिलन में सम-रसत्व के मन्दिर में संसार के साथ सुख की दीवाली मनाता रहता है। इस प्रकार मनुष्य को स्वयं अपने ही पैरों से उलटे पीछे की ओर अर्थात् मूल स्वरूप की ओर चलते रहना चाहिए। परन्तु यदि तुमसे इस मार्ग का भी साधन न हो सकता हो तो मैं तुम्हें एक और उपाय बतलाता हूं।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

"इस तत्त्व के विषय में कुछ भी भ्रम या भ्रान्ति नहीं है कि मैं ही समस्त शरीरों में निवास करता हूं। और इसी प्रकार यह बात भी निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि यह सारा विश्व मुझमें ही निवास करता है। हर आदमी को ऐसी तैयारी करनी चाहिए कि उसकी समझ में यह बात अच्छी तरह आ जाय कि विश्व और हम बिलकुल एक हैं और एक-दूसरे में मिले हुए हैं। हे अर्जुन, सच तो यह है कि जो मनुष्य इस प्रकार ऐक्य की भावना रखता हुआ मुझे ही समस्त भूतों में समान रूप से मिला हुआ समझकर मुझे भजता है, भूत-मात्र में केवल ऊपर से दिखाई पड़ने वाले भेद के कारण जिसके अन्तःकरण में किसी प्रकार का भेदभाव हो ही नहीं सकता और जो सब जगह केवल मेरा ही एक स्वरूप देखता है, वह पुरुष इस प्रकार के कथन को बिलकुल निरर्थक कर देता है कि--'यही मैं हूं'। (अर्थात् ऐसा पुरुष केवल अपने आपको ही 'मैं' नहीं समझता, बल्कि सबको अपने समान और एक समझता है।) और हे अर्जुन, चाहे मैंने यह बात न कही हो, परन्तु फिर भी ऐसा पुरुष मैं ही हूं। (अर्थात् ऐसे पुरुष को मुझसे भिन्न नहीं समझना चाहिए।) दीपक और उसके प्रकाश में जिस प्रकार का एक भाव होता है, उसी प्रकार का मेरा और उसका एक भाव होता है। ऐसा पुरुष मुझमें ही रहता है और मैं भी ऐसे ही पुरुष में रहता हूं। जिस प्रकार उदक के अस्तित्व के कारण रस रहता है अथवा गगन के माप के अनुसार ही अवकाश रहता है, उसी प्रकार वह पुरुष भी मेरे ही रूप से साकार रहता है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

"जो मनुष्य एकात्मता की दृष्टि से मुझे समस्त भूतों मे उसी प्रकार ओत-प्रोत समझता है, जिस प्रकार वस्त्र मे तन्तु होते हैं अथवा जिसका विचार उसी न्याय से ऐक्यभाव से स्थिर हो गया है, जिस न्याय से आभूषण अनेक

रूपा गल होने पर भी उन सबका आधिष्ठान सोना एकरूप ही होता है अथवा जिसकी अज्ञान-रात्रि इस प्रकार के अद्वैत भाव के सूर्योदय से नष्ट हो गई है कि वृक्ष में जितने पत्ते दिखलाई पड़ते हैं, वे सब अलग-अलग लगाये हुए नहीं हैं और वृक्ष में पत्ते भले ही बहुत-से दिखलाई पड़ें; परन्तु मूल वृक्ष एक ही होता है, ऐसा मनुष्य यदि पंचमहाभूतात्मक शरीर में आ जाय तो भी वह उस शरीर के बन्धन में फंसा कैसे रह सकता है ? वह तो अनुभव के प्रभाव से मेरे बराबर ही हो जाता है। उसे आत्मानुभव के कारण वही व्यापकता प्राप्त हो जाती है जो मुझमें है। और चाहे मैंने अभी यह बात न कही हो, परन्तु फिर भी वह स्वभावतः ही विश्वव्यापक हो जाता है। अब यदि वह शरीरधारी भी हो तो उसे शरीर का अभिमान नहीं होता, और यह बात यदि शब्दों द्वारा स्पष्ट रूप से बतलाई जा सकती तो अवश्य ही बतला दी जाती।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

"परन्तु इस विषय का विस्तार करने की आवश्यकता नहीं ! जो विश्व के स्थावर और जंगम समस्त पदार्थों को अपने ही समान देखता और समझता है, जिसके मन में सुख-दुःख आदि की भावनाएं अथवा शुभ और अशुभ कर्मों के सम्बन्ध में कोई भेदभाव नहीं होता; जो सम, विषम और विचित्र सभी प्रकार की वस्तुओं को स्वयं अपने ही अवयवों के समान समझता है, यहां तक कि जिसकी बुद्धि से तीनों लोक ही आत्मस्वरूप दिखाई पड़ते हैं, उस पुरुष का भी शरीर होता ही है और लोक-व्यवहार में प्रसंग के अनुसार उसे सुखी या दुःखी कहा जाता है परन्तु मेरा अनुभव यह है कि ऐसा पुरुष सचमुच ब्रह्मस्वरूप ही होता है। इसीलिए, हे अर्जुन, हमें अपने आप में इस प्रकार के साम्य की स्थापना करनी चाहिए कि हमें स्वयं अपने आप में ही सारा विश्व दिखलाई पड़े और हम स्वयं ही विश्वरूप हो जायं। यह बात जो मैं तुमसे बार-बार कह रहा हूं, उसका मतलब यह है कि इस संसार में इस साम्य से बढ़कर और कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो प्राप्त करने के योग्य हो। यही मनुष्य का परम श्रेष्ठ साध्य है।"

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

इस पर अर्जुन ने कहा—"हे देव, आपको मेरे कल्याण की चिन्ता है, इसीलिए आप मुझसे इतनी बातें कह रहे हैं। परन्तु यह मन ही स्वभावतः ऐसा है कि इसके आगे हमारी कुछ भी नहीं चलती। यदि हम इस बात का विचार करना चाहें कि यह मन कैसा है और कितना बड़ा है तो इसकी थाह ही नहीं लगती। साधारणतः इसके विचारण करने के लिए यह त्रैलोक्य भी छोटा है। फिर ऐसे मन को कैसे रोका जाय ? क्या बन्दर कभी शान्त रह सकता है ! यदि तेज आंधी से कहा जाय कि तुम चुपचाप और स्थिर होकर बैठो तो क्या वह कभी स्थिर और स्तब्ध हो सकती है ? जो मन बुद्धि को भी चमका देता है, स्वयं निश्चय को भी विचलित कर देता है, धैर्य के हाथ-पर-हाथ रखकर भी निकल भागता है, जो विवेक को भी भ्रम में डाल देता है, जो सन्तोष में भी वासना का दाग लगा देता है, जो उस समय भी दसों दिशाओं को हिला डालता है जिस समय हम स्वस्थ होकर बैठना चाहते है, जो दबाये रखने पर भी जोरों से उछलता है, निग्रह करने का प्रयत्न करने पर जिसका आवेश और भी बढ़ जाता है, भला वह मन अपना चंचल स्वभाव कैसे छोड़ेगा ? इसीलिए मुझे तो प्रायः ऐसा ही जान पड़ता है कि मेरा मन कभी स्थिर न होगा और मैं कभी साम्यावस्था तक न पहुंच सकूंगा।"

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

इस पर श्रीकृष्ण ने कहा—"अर्जुन, तुम जो कुछ कहते हो, वह बहुत ही ठीक है। निःसन्देह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है। पर फिर भी यह वैराग्य का आश्रय लेकर इसे योगाभ्यास के मार्ग पर लगाया जाय तो कुछ समय यह भी स्थिर हो जायगा। इसका कारण यह है कि इस मन की यह एक अच्छी आदत है कि इसे जिस बात का मजा मिल जाता है, फिर उसी का इसे चस्का लग जाता है। इसीलिए इसे घुमा-फिराकर और कौतुक द्वारा आत्मसुख का चस्का लगाना चाहिए।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

"यह बात मैं मानता हूं कि साधारणतः जो लोग विरक्त नहीं होते और जो अभ्यास का प्रयत्न नहीं करते, वे इस मन को अपने वश में भी नहीं कर सकते। परन्तु यदि हम कभी यम-नियमों के मार्ग में गये ही न हों, वैराग्य का कभी हमने ध्यान भी न किया हो और हम सदा विषय-समुद्र में ही डूबे हुए पड़े रहें और इस मन का कभी नियन्त्रण न करें तो फिर भला यह मन क्यों निश्चल होने लगा ! इसीलिए तुम पहले ऐसे साधनों का आरम्भ करो जिनके द्वारा मन का नियन्त्रण हो सकता हो; और तब देखो कि यह मन कैसे तुम्हारे वश में नहीं आता ! यदि तुम यह कहो कि मन कभी वश में आ ही नहीं सकता, तो क्या योग के जो साधन आदि कहे जाते हैं, वे सब मिथ्या ही हैं ? वे सब तो मिथ्या हैं नहीं; इसलिए तुम अधिक-से-अधिक यही कह सकते हो कि मुझसे अभ्यास नहीं होता। यदि मनुष्य में योग की सामर्थ्य आ जाय तो फिर उसके सामने मन की चंचलता क्या चीज है ? क्या उस सामर्थ्य से सब महातत्त्व आदि आदमी की मुट्ठी में नहीं आ जाते ?" इस पर अर्जुन ने कहा—"हे देव, आप जो कुछ कहते हैं, वह बहुत ठीक है। सचमुच योग की सामर्थ्य के सामने मन की शक्ति बिलकुल नहीं चल सकती। परन्तु आज तक मुझे इस बात का पता भी नहीं था कि इस योग का किस प्रकार साधन करना चाहिए; इसीलिए मैं अब तक मन के अधीन बना हुआ हूं। हे श्रीकृष्ण, इस समस्त जीवन में केवल आपकी कृपा से मुझे इस योग का ज्ञान हुआ है।

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

"परन्तु हे गुरुराज ! मेरे मन में सहज ही एक शंका उत्पन्न हुई है। और उसका समाधान करने की सामर्थ्य आपके सिवा और किसी में नहीं है। इसीलिए, हे श्रीगोविन्द, आप मेरी उस शंका का समाधान करें। मान लीजिए कि कोई पुरुष योग-साधना का उपाय तो नहीं जानता परन्तु फिर भी वह बहुत अधिक श्रद्धा से मोक्षपद प्राप्त करने का प्रयत्न आरम्भ करता है। वह इन्द्रियों का ग्राम पीछे छोड़कर आत्मस्वरूप वाले दूरस्थ स्थान तक पहुंचने के उद्देश्य से श्रद्धा वाले मार्ग का अनुसरण करता है। परन्तु उसे आत्मस्वरूप की भी प्राप्ति नहीं होती और वह

पीछे भी नहीं लौट सकता इस प्रकार वह बीच में ही पड़ा रह जाता है और इसी बीच में उसकी आयुष्य का सूर्य अस्त हो जाता है। जिस प्रकार अ-समय में सहज ही बादल का हलका और पतला टुकड़ा बीच में आ तो जाता है, परन्तु न तो वह ठहरता ही है और न वर्षा ही करता है, उसी प्रकार वह पुरुष भी दोनों ही बातों से अलग हो जाता है। कारण यह कि उसके लिए आत्मस्वरूप की प्राप्ति तो दूर ही रहती है और अपने श्रद्धा-बल से वह जिन इन्द्रियसुखों का परित्याग करता है, उनसे भी वह वंचित हो जाता है। इस प्रकार वह श्रद्धा के फेर में पड़कर दोनो तरफ से जाता है—न इधर का होता है, न उधर का। ऐसे मनुष्य की क्या गति होती है ?"

श्री भगवानुवाच—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

श्रीकृष्ण ने कहा—"हे पार्थ, जिसके, मन में मोक्ष-सुख के विषय में श्रद्धा होती है, भला उसकी मोक्ष के सिवा और कौन-सी गति हो सकती है ? परन्तु ऐसी अवस्था में एक बात होती है। वह यह कि उसे बीच में ही रुककर विकल होना पड़ता है। परन्तु उस विकलता में भी ऐसा सुख है जो देवताओं को भी जल्दी नहीं मिलता। परन्तु वही पुरुष यदि अभ्यास के मार्ग पर चलने के लिए पैर उठाया था, तो निश्चय ही आयुष्य-सूर्य के अस्त होने से पहले ही और जीवन-रूपी दिन रहते ही सोऽहं-सिद्धि के स्थान तक अवश्य ही आ पहुंचता। परन्तु इतना अधिक वेग नहीं होता, इसलिए उसका बीच में ही कुछ रुकना बिलकुल सहज और स्वाभाविक है। लेकिर इतना होने पर भी अन्त में उसे मोक्ष की प्राप्ति होती ही है।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

"ऐसे पुरुष के सम्बन्ध में एक और भी विलक्षण बात सुनो। जिन लोकों की प्राप्ति के लिए इन्द्र को भी अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं, वे सब लोग मुमुक्ष को अनायास ही मिल जाते हैं। फिर उन लोकों में जो सदा ज्यों के त्यों बने रहने वाले और दिव्य भोग होते हैं, उन सबका भोग करते-करते वे लोग उकता जाते हैं। उन भोगों को भोगते समय उनके मन में ग्लानि उत्पन्न होती होगी और वे कहते होंगे—"हे भगवन्, यह कहां का व्यर्थ का झगड़ा तुमने हमारे पीछे लगा दिया !" इसके उपरान्त वे फिर मृत्युलोक में जन्म धारण करते हैं। परन्तु उनका जन्म बहुत ही धर्मशील कुल में होता है। जिस प्रकार अच्छी तरह तैयार फसल में धान की लम्बी-लम्बी बालें उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार वे भी ऐश्वर्य-रूपी धान की बालों के समान खूब जोरों से बढ़ते हैं। वह सदा नीति-मार्ग के अनुसार आचरण करते हैं, सत्य वचन बोलते हैं, प्रत्येक बात को शास्त्र की दृष्टि से देखते हैं, वेद को ही अपना जीता-जागता देवता समझते हैं, केवल स्वधर्म का ही आचरण करते हैं और सारासार-विचार को ही अपना परामर्शदाता बनाते हैं। उनके कुल में ईश्वर को छोड़कर चिन्तन का और कोई विषय ही नहीं होता और वे अपने कुल के पूज्य देवता को ही समस्त ऐश्वर्य और सम्पत्ति समझते हैं। इस प्रकार वे योगभ्रष्ट पुरुष अपने पुण्यों का उपयुक्त फल प्राप्त करके और सब प्रकार के सुखों की बढ़ती हुई सम्पत्ति भोगते हुए उस जन्म में सुखी होते हैं।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

"अथवा जो योगी ज्ञानरूपी अग्नि की सेवा करते हैं, जो लोगों को परब्रह्म का उपदेश देते हैं, जो आत्मानन्द

के जागीरदार हैं, जो महासिद्धान्त का रहस्य जानकर तीनों भुवनों के राजा हो चुके होते हैं, जो सन्तोष के वन में पंचम स्वर में आलाप करने वाली कोकिल के ही समान जान पड़ते हैं और जो निरन्तर फल देने वाले विवेक-वृक्ष की जड़ के पास ही बैठे रहते हैं, उन योगियों के कुल में योगभ्रष्ट लोग जन्म धारण करते हैं। जिस समय उन की छोटी-सी मूर्ति प्रकट होती है, उसी समय साथ-ही-साथ आत्म-ज्ञान का उषःकाल भी होता है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से पहले उसका प्रकाश प्रकट होता है, उसी प्रकार प्रौढ़ावस्था आने के पहले ही और बिना पक्व वयस की अपेक्षा किये ही बाल्यावस्था में ही उनमें सर्वज्ञता का संचार हो जाता है। उस [illegible] बुद्धि के प्राप्त हो जाने पर उसके मन को सब विद्याओं का प्रसाद आपसे आप मिल जाता है और तब उनके मुख से सब शास्त्र स्वभावतः ही प्रकट होते हैं। जिस प्रकार का जन्म प्राप्त करने के लिए स्वर्ग में बैठे रहने वाले देवता भी [illegible] लगाकर जप-होम आदि करते हैं और मृत्युलोक के महान् वैभव की भाटों के समान स्तुतियां करते हैं, वही अर्जुन, वही जन्म उस योगभ्रष्ट पुरुष को प्राप्त होता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

"पिछले जन्म में उनकी सुबुद्धि के जिस सीमा तक पहुंचने पर उनके आयुष्य की समाप्ति हुई थी, उसी सीमा से आगे उन्हें नई और असीम सुबुद्धि प्राप्त होती है। इतना होने पर जिस प्रकार किसी भाग्यवान और [illegible] जन्म लेने वाले मनुष्य की आंखों में दिव्यांजन लगाया जाय और तब उसे जिस प्रकार जमीन के अन्दर छिपे हुए खजाने सहज में दिखाई पड़ने लगें, ठीक उसी प्रकार ऐसे पुरुष की बुद्धि भी उन समस्त गूढ़ शास्त्रों और सिद्धान्त तत्त्वों को आपसे आप और बिलकुल ठीक जानने लगती है, जिनका ज्ञान साधारणतः गुरु के उपदेश से हुआ करता है। उसकी प्रबल इन्द्रियां उसके मन के वश में हो जाती है, मन वायु के साथ मिलकर एकरूप हो जाता है और वह वायु आपसे आप चिदाकाश के साथ मिलकर समरस होने लगती है। अभ्यास स्वयं ही उसे उस अवस्था तक ला पहुंचाता है; और इस बात का जल्दी पता ही नहीं चलने पाता कि आत्मसमाधि उसके मानसरूपी घर का हाल-चाल पूछने के लिए स्वेच्छापूर्वक चली आ रही है या और कोई बात है। ऐसे पुरुष को [illegible] का अधिदेवता अथवा मूल स्वरूप की महत्ता अथवा वैराग्य-वृद्धि की [illegible] का प्रत्यक्ष [illegible] ही समझना चाहिए। जान पड़ने लगता है कि ऐसे पुरुष संसार को नापने का नाप है अथवा [illegible] का द्वीप है। जिस प्रकार सुगन्धि चन्दन का रूप धारण करती है, उसी प्रकार ऐसा जान पड़ता है कि, मानो [illegible] पुरुष के रूप में प्रकट हुआ है अथवा साधक दशा में ही सिद्धियों के भांडार से [illegible] देखने में वह भले ही साधक दिखाई पड़ता हो, परन्तु स्पष्ट रूप से यही जान पड़ता है कि वह [illegible] में सिद्ध ही है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

जिस प्रकार करोड़ों वर्षों और हजारों जन्मों के प्रतिबन्धों को पार करता हुआ वह आत्मसिद्धि के [illegible] तक पहुंचता है, उसी प्रकार मोक्ष-सिद्धि के समस्त साधन आपसे आप उसके पीछे आ लगते हैं और इसीलिए वह सहज में ही विवेक-साम्राज्य का स्वामी हो जाता है। इसके उपरान्त उस विवेक का भी [illegible] हो जाता है—अर्थात् विवेक भी जितना चाहिए, उतना विचार नहीं कर सकता—और तब वह उस परब्रह्म के साथ एकरूप हो जाता है जो विचार के क्षेत्र में किसी प्रकार आ ही नहीं सकता। उस समय मन का [illegible] हुआ मेघ हट जाता है, वायु का वायुत्व भी नष्ट हो जाता है और चिदाकाश भी अपने आप में ही [illegible] है। उसे वह अगाध और शब्दातीत सुख प्राप्त होता है, जिसमें ओंकार भी सिर तक डूब जाता है, इसीलिए उसका वर्णन

करने में भापा थी पहले में ही अपने आपको असमर्थ देखकर पीछे हट जाती है। इस प्रकार की जो ब्राह्मी स्थिति है और जिसे 'परम गति' कहते हैं, उस निराकार अवस्था की वह मूर्ति ही बन जाता है। वह अपने पिछले अनेक जन्मों का विपरीत ज्ञान रूपी जल में का मल साफ कर चुका होता है, इसलिए उस अवस्था के पास पहुंचते ही उसके सब विकट प्रसंग उसी पानी में डूब जाते हैं। ब्रह्म-स्थिति के साथ उसका शुभ विवाह-सम्बन्ध हो जाता है और वह उस स्थिति में मिलकर उसके साथ एकरूप हो जाता है। जिस प्रकार फटा और बिखरा हुआ मेघ आकाश के रूप में बदल जाता है, उसी प्रकार वह अपना वर्तमान शरीर धारण किये रहने पर भी वही ब्रह्म बन जाता है जिसमें से समस्त विश्व की उत्पत्ति होती है और फिर जिसमें विश्व विलीन हो जाता है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

"जिस लाभ की आशा से धैर्य के हाथ का आश्रय लेकर कर्मकांडी लोग षट्कर्म के प्रवाह में कूद पड़ते हैं अथवा जिस एक वस्तु के लिए ज्ञानी लोग ज्ञान का अभेद्य कवच धारण करके समर भूमि में संसार के साथ दो हाथ लड़ जाते हैं अथवा तपोनिष्ठ लोग अपने मन में जिसकी अभिलाषा रखकर तप रूपी विकट गढ़ के टूटे-फूटे, फिसलन वाले और दुर्गम कगार पर चढ़ने का प्रयत्न करते हैं, जो भक्तों के लिए भक्ति का विषय और याजकों के लिए यज्ञ-देवता है, तात्पर्य यह है कि जो सभी लोगों के लिए और सभी कालों में पूज्य है, वही परब्रह्म वह स्वयं हो जाता है; और जिस विचार से यह सिद्ध तत्त्व ही समस्त साधकों का साध्य होता है, उसी विचार से वह कर्मनिष्ठों के लिए वन्दनीय होता है, ज्ञानियों के लिए ज्ञान का विषय होता है और तपस्वियों के लिए तपस्या का अधिदेवता होता है। जिसके मनोधर्म के साथ इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा का संगम होता है, वह शरीरधारी होने पर भी यह महिमा या महत्त्व प्राप्त कर ही लेता है। इसीलिए, हे अर्जुन, मैं तुम्हें सदा के लिए यही उपदेश देता हूं कि तुम योगी बनो।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

"जिसे लोग योगी कहते हैं, उसे देवों का भी देव समझना चाहिए। वह मेरा सुख-सर्वस्व बल्कि प्राण ही होता है। भक्ति, भजन और भजनीय जो भक्ति-साधन की त्रिपुटी हैं, उनके सम्बन्ध में पुरुष का अखंड अनुभव यही होता है कि वह तीनों मैं ही हूं। अर्थात् वह भक्त, भजन और भजनीय सब कुछ मुझको ही समझता है। उस पुरुष में और मुझमें परस्पर जो प्रीति होती है, उसका वाणी से कभी वर्णन ही नहीं हो सकता। उसमें जो तन्मयता होती है, यदि उसके लिए किसी ऐसी उपमा की आवश्यकता हो जो प्रेम के विचार से भली और उपयुक्त जान पड़े, तो उसकी यही उपमा हो सकती है कि—मैं शरीर हूं और वह आत्मा है।" इस प्रकार भक्त-चकोरों को आनन्द देने वाले चन्द्रमा, सद्गुणों के सागर और तीनों भुवनों में नर-श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ने अर्जुन से जो कुछ कहा था, वह सब संजय ने धृतराष्ट्र को कह सुनाया। उस समय तक श्रीकृष्ण की समझ में यह बात अच्छी तरह आ चुकी थी कि आरम्भ से ही अर्जुन में उपदेश सुनने की जो श्रद्धायुक्त उत्कंठा थी, वह अब बढ़कर दूनी हो गई है। इसलिए श्रीकृष्ण के मन में स्वभावतः ही सन्तोष हुआ। श्रीकृष्ण को यह जानकर बहुत आनन्द हुआ कि जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है, उसी प्रकार अर्जुन की मुद्रा पर मेरे भाषण का भी प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ रहा है और उसी आनन्द के कारण वे अब यह प्रकरण और भी विस्तारपूर्वक अर्जुन को बतलावेंगे। यह प्रसंग अगले अध्याय में आवेगा। उस प्रसंग में शान्त रस इतने स्पष्ट उत्कर्ष को प्राप्त होगा कि उसमें महा-सिद्धान्त रूपी बीजों में अंकुर निकलते हुए दिखाई देंगे। इसका कारण यह है कि सात्त्विक भावनाओं की दृष्टि से आत्मभावना के ढेले

ये हैं ओर श्रोताओ के चतुर चित्त की क्यारिया वीन धारण करन ने लिए
त्नानता को सोने के समान ताप प्राप्त होने के कारण श्रीनिवृत्तिनाथ के ग
उमड पड़ा है। इसलिए यह निवृत्तिदास ज्ञानदेव कहता है कि श्रोतागण,
ने वह चोंगा बनाया है, जिसमें डालकर वीज वोये जाते हे और मेरे मन्त
ने वाले बीज डाले हैं। इसीलिए मेरे मुख से जो-जो बाते निकलती हैं, वह
ठ जाती हैं। परन्तु बहुत कुछ विषयान्तर हो चुका। अव मैं यह बतलाऊ
और क्या कहा। परन्तु श्रोताओं को वे सब बातें मन के कानों से सुननी
और अपना चित्त मुझे देकर मेरी बातें ग्रहण करनी चाहिए। और हम ल
हार होना चाहिए। फिर सावधानता के हाथों से वे सब बातें उठकर अपने
तब सज्जनों की वासना पूरी होगी। ये बातें आत्मकल्याण को हस्तगत
और जीव पर सुखों की लखौरी माला चढ़ाती हैं। अब अर्जुन के साथ
म्भाषण हुआ था, वह मै श्रोताओं को बतलाता हूं।





सातवा अध्याय



ज्ञानविज्ञानयोग

श्रीभगवानुवाच—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

हे श्रोतागण सुनिये, इसके उपरान्त श्रीकृष्ण ने पार्थ से कहा—"हे अर्जुन, अब तुम सचमुच योगयुक्त हो गए हो। अब मैं तुम्हें ज्ञान और विज्ञान अर्थात् प्रपंच-ज्ञान बतलाऊंगा जिसमें तुम मुझे उसी प्रकार सब अंगों से भलीभांति जान लो, जिस प्रकार अपनी हथेली पर रखे हुए रत्न को लोग जान लेते हैं। सम्भव है कि तुम अपने मन में यह कहते हो कि इस प्रापंचिक-ज्ञान से मुझसे क्या मतलब ! तो मैं तुम्हें बतला देना चाहता हूं कि पहले प्रपंचों का ही ज्ञान प्राप्त कर लेना बहुत आवश्यक है। क्योंकि फिर जब ज्ञान का प्रसंग आता है, तब इस प्रापंचिक ज्ञातृत्व की आंखें ही बन्द हो जाती हैं। जिस प्रकार किनारे पर लगी हुई नाव हिलती-डुलती नहीं, उसी प्रकार जहां प्रापंचिक ज्ञातृत्व की भी पहुंच नहीं होती, जहां से विचार भी पीछे लौट आता है और जिसका रास्ता तर्क को भी नहीं मिलता, हे भाई अर्जुन, उसी को 'ज्ञान' कहते हैं। ज्ञान से भिन्न जो कुछ है, वह सब प्रपंच है और उसको 'विज्ञान' कहते हैं; और इस प्रकार की जो कल्पना होती है कि यह प्रपंच सत्य है, इसी को 'अज्ञान' समझना चाहिए। अब मैं तुम्हें वह गूढ़ रहस्य बतलाता हूं जिससे अज्ञान का लोप हो जाता है, विज्ञान नष्ट हो जाता है और हम केवल ज्ञानस्वरूप हो सकते हैं। जब ऐसी अवस्था हो जाती है, तब वक्ता की बातों का अन्त

हो जाता है, श्रोता की श्रवण करने की लालसा भी समाप्त हो जाती है और छोटे-बडे का भेदभाव भी बाकी नहीं रह जाता। यदि इस प्रकार के गूढ़ रहस्य का मनुष्य को थोडा-सा भी ज्ञान हो जाय, तो भी उसके मन का बहुत कुछ समाधान हो जाता है।

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

''हजारों आदमियों में कभी कोई एकाध आदमी ही ऐसा होता है, जिसकी इन बातों की ओर रुचि होती है, और इस प्रकार की रुचि रखने वाले बहुत-से आदमियों में सच्चा ज्ञानी कोई विरला ही दिखाई पड़ता है। हे अर्जुन, जिस प्रकार सारे संसार में से एक साहसी वीर को चुनकर सेना के लाखों आदमियों की भरती की जाती है अथवा फौज भरती कर चुकने पर भी जिस प्रकार युद्धक्षेत्र में खनखनाती हुई तलवारों के द्वारा बहुत-से लोगों के टुकडे-टुकड़े उड जाने पर विजय-लक्ष्मी के सिंहासन पर कोई विरला पुरुष ही बैठता है, वैसे ही इस ब्रह्मज्ञान रूपी जलाशय में भी करोडों आदमी कूदते हैं, परन्तु उस जलाशय के उस पार कोई विरला ही पहुंचता है। इसीलिए मैं कहता हू कि यह कोई साधारण बात नहीं है। यह कहने में भी बहुत ही गहन और कठिन है। फिर भी मैं तुम्हें यह बात बतलाने का प्रयत्न करूंगा। तुम सुनो।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

''हे पार्थ, जिस प्रकार मनुष्य के शरीर की छाया पड़ती है, उसी प्रकार यह महत्तत्त्व आदि माया भी मेरी छाया परछांही ही है। इसी माया का दूसरा नाम प्रकृति है। यह माया आठ प्रकार की है और यही तीनो लोकों को जन्म देती है। यदि तुम्हारे मन में यह शंका हो कि इसके आठ भेद कौन-से हैं, तो में बतलाता हूं, सुनो। अप, तेज, आकाश, पृथ्वी, वायु, मन, बुद्धि और अहंकार यही प्रकृति के आठ भेद हैं।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

''हे अर्जुन, इन्हीं आठों भेदों की जो साम्यावस्था है, उसी को तुम मेरी परम प्रकृति समझो। इसी का नाम 'जीव' है। क्योंकि यही निर्जीव शरीर को सजीव करती है, यही शरीर में गति आदि उत्पन्न करती है और यही मन को शोक, मोह आदि विकारों का भास कराती है। बुद्धि का जो ज्ञातृत्व है, वह भी इस परम माया के सहवास का ही फल है और इससे उत्पन्न होने वाले अहंभाव ने इस संसार का अस्तित्व बनाये रखा है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥6॥

''यह सूक्ष्म प्रकृति जब अपनी इच्छा से स्थूल महाभूतों के अंगों से युक्त होती है, तब भूत सृष्टि की—अर्थात् प्राणी मात्र की उत्पत्ति की—मानो टकसाल ही खुल जाती है। इस टकसाल में से चार प्रकार के प्राणी रूपी सिक्के आपसे आप निकलने लगते हैं। ये चारों प्रकार के सिक्के जरायुज, अंडज, स्वेदज और उद्भिज्ज हैं। मूल्य के विचार से तो ये चारों प्रकार के सिक्के समान ही हैं, परन्तु केवल जाति या वर्ग के विचार से ये एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। इन जातियों के सब मिलाकर चौरासी लाख भेद हैं। इनके सिवा मुख्य वर्गों में और जो उपवर्ग हैं, उनकी तो कोई गिनती ही नहीं है। इसी प्रकार के प्राणी रूपी असंख्य सिक्को से उस निर्गुण, निराकार और अव्यक्त बीज का भांडार भर जाता है। इस प्रकार पंच-महाभूतों के बराबर की तौल के इतने अधिक सिक्के हो जाते हैं कि केवल प्रकृति ही उनकी गिनती कर सकती है। जिन सिक्कों को वह पहले ढालकर तैयार करती है, उन्हीं को वह फिर

बाद में गला भी डालती है। केवल उनकी मध्य या अस्तित्व वाली अवस्था में ही वह उनके द्वारा कर्माकर्म का व्यवहार कराती है। परन्तु अब इस रूपकालंकार का यहीं अन्त किया जाता है। अब मैं यह बात ऐसे सीधे-सादे और सरल शब्दों में बतलाता हूं जिससे यह सहज में ही समझ में आ सके। यह प्रकृति—अर्थात् माया—ही विश्व की उन सब वस्तुओं का प्रसार करती है, जिनकी नाम और रूप के द्वारा प्रतीति होती है। और वह प्रकृति मुझमे ही समरस होकर रहती है, इसलिए इस समस्त जगत् का आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूं।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

"यह जो मृग-जल हम लोगों को दिखलाई पड़ता है, यदि इसका मूल कारण ढूंढ़ा जाय तो पता चलता है कि वह कारण केवल किरण ही नहीं है, बल्कि प्रत्यक्ष सूर्य ही है। उसी प्रकार, हे अर्जुन, इस प्रकृति से उत्पन्न होने वाली सृष्टि का जिस समय अन्त होगा और यह फिर अपने मूल स्थिति में जाकर ज्यों-की-त्यों समा जायगी, उस समय यह केवल मेरे ही रूप की हो जायगी; अर्थात् यह मुझमें ही लीन हो जायगी; और उस समय केवल मेरा ही रूप रह जायगा। इस प्रकार जो यह विश्व उत्पन्न होकर फिर विलीन हो जाता है, वह सदा मुझमें ही रहता है। जिस प्रकार डोरे में मणियां पिरोई रहती हैं, उसी प्रकार यह विश्व भी मुझमें ही रहता है। जिस प्रकार सोने की बनी हुई मणियां सोने के ही तार में पिरोई रहती हैं, उसी प्रकार इस विश्व को अन्दर और बाहर सब ओर से मैं ही धारण किये रहता हूं।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

"इसीलिए, हे भाई अर्जुन, मैं जल में रस हूं, चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूं और वायु में स्पर्श-गुण हूं। इसी प्रकार पृथ्वी में रहने वाला गन्ध-गुण, आकाश में रहने वाला शब्द-गुण और वेदों में रहने वाला ओंकारस्वरूप प्रणव सब स्वाभाविक शुद्ध हैं, अर्थात् ये सब भी मैं ही हूं। मैं यह मुख्य तत्त्व पहले ही तुम्हें बतला चुका हूं कि मनुष्यों में होने वाला जो मनुष्यत्व है और जिस अहं-भाव के बल को 'पौरुष' कहते हैं, वह भी मैं ही हूं। तेज पर 'अग्नि' नाम का जो आवरण है, उसे दूर कर देने पर जो केवल स्वरूप-तेज बाकी बच रहता है, वह भी मैं ही हूं। इस त्रिभुवन में भूतमात्र अनेक प्रकार की योनियों में जन्म लेकर अपने-अपने विशिष्ट मार्ग का निर्वाह करते रहते हैं। कोई वायु पीकर रहते हैं, कोई तृण खाकर जीवन-यात्रा का निर्वाह करते हैं और कोई अन्न से अपनी जीविका निर्वाह करते हैं और कोई केवल पानी पर ही जिलाये जाते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्राणियों के जीवन के जो स्वभावतः भिन्न-भिन्न साधन हुआ करते हैं, उन सब साधनों में मैं ही अभिन्न स्वरूप से निवास करता हूं।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

"जो उत्पत्ति के समय आकाश के अंकुर के साथ-साथ विस्तृत होता है और विश्व का संहार होने के समय जो ओंकार के अ, उ और म अक्षर भी नष्ट कर देता है, जो अस्तित्व रखने वाले इस दृश्यमान् जगत् पर विश्व के आकार में जान पड़ता है और महाप्रलय का समय आने पर जो ऊपर से देखने में नष्ट हो जाने पर भी वास्तव

मे कभी नष्ट नहीं हो सकता, वह स्वयं-सिद्धि और अनादि विश्व-बीज भी मैं ही हूं। यह गूढ़ ज्ञान मैं तुमको सुलभ किये देता हूं। हे अर्जुन, जब तुम इस ज्ञान का आत्म और अनात्म के विचार में सामंजस्य स्थापित करोगे, तब इसके वास्तविक महत्त्व का तुम्हें अनुभव होगा। परन्तु अब इस विषयान्तर को छोड़ देना चाहिए। अब मैं तुम्हें एक और बात थोड़े में बतलाता हूं। तपस्वियों की जो तपस्या है, उसे भी तुम मेरा ही रूप समझो। बलवानों का बल और बुद्धिमानों की बुद्धि मैं ही हूं, भूत-मात्र में अर्थार्जन के द्वारा धर्म का विपुल संग्रह करने का जो शुद्ध काम-वासना है, वह भी आत्मस्वरूप में रमण करने वाला मैं ही हूं। यह शुद्ध काम यद्यपि सामान्यतः विकारों के प्रवाह के अनुसार इन्द्रियों की तृप्ति करने वाले कर्म करता है, तो भी यह इन्द्रियों को उनके धर्म के विरुद्ध नहीं जाने देता। यह काम कर्म-संन्यास का टेढ़ा-तिरछा रास्ता छोड़कर विधियुक्त कर्माचरण के राजमार्ग पर लगता है और नियमितता की मशाल सदा इसके साथ रहती है। जब इस प्रकार सावधानी से काम होने लगता है, तब धर्म की पूर्णता हो जाती है और तब संसार का उपभोग करने वाले पुरुष भी मोक्षतीर्थ के मुक्त जन हो जाते हैं। वेदों में गाये हुए महत्त्व के मंडप पर जो काम विश्व की बेल इस प्रकार चढ़ाता है कि उसमें लगने वाली कर्म की शाखा फल भार से झुककर अन्त में मोक्ष पर आ लगती है, वह सब प्रकार का और समस्त भूतों का उद्भव करने वाला बीज रूप काम भी मैं योगिश्रेष्ठ परमात्मा ही हूं। लेकिन इस प्रकार एक-एक बात तुम्हें कहां तक बतलाई जाय। सारांश यही है कि समस्त वस्तुएं मुझसे विस्तार प्राप्त करती हैं—सबका विस्तार मैं ही करता हूं।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

"जितने सात्त्विक, राजस और तामस विचार होते हैं, वे सब भी मेरे ही स्वरूप से उत्पन्न होते हैं। यह बात तुम अच्छी तरह ध्यान में रखो। यदि ये विकार उत्पन्न हो तो वे भी मुझमें ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु जिस प्रकार स्वप्नावस्था के देह में जाग्रत अवस्था नहीं होती, उसी प्रकार इन विकारों में भी मैं नहीं रहता। बीज-कण वास्तव में रस-द्रव्य का ही बना हुआ और उसी से भरा हुआ होता है; परन्तु अंकुर और डालियों में जो कठिन रूपवाली लकड़ी होती है, वह उसी बीज-कण से बनी हुई होती है। परन्तु फिर भी क्या कभी उस लकड़ी में कहीं बीज का गुण रहता है ! इस प्रकार चाहे ऊपर से देखने में भले ही यह जान पड़े कि मुझमें ही विकार उत्पन्न हुए हैं, तो भी मैं उन विकारों में नहीं रहता। आकाश में मेघ तो आते हैं, परन्तु मेघों में आकाश नहीं रहता। मेघों में जल तो होता है, परन्तु उस जल में मेघ नहीं रहते। फिर मेघों में रहने वाले जल में जब क्षोभ होता है, तब उसमें बिजली की चमक दिखाई पड़ती है। परन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि उस चमकने वाली बिजली में पानी रहता है ! आग से धुआं निकलता है; परन्तु क्या उस धुएं में भी कभी आग रहती है ? इसी प्रकार मुझ पर विकार होते हैं, परन्तु वह विकार मैं नहीं हूं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

"जल में उत्पन्न होने वाली सेंवार जिस प्रकार सारे जल में छा जाती और उसे ढंक लेती है अथवा जिस प्रकार मेघों से सारा आकाश आच्छादित हो जाता है अथवा स्वप्न को यद्यपि मिथ्या कहा जा सकता है, परन्तु फिर भी जब तक निद्रा की सत्ता रहती है, तब तक स्वप्न जिस प्रकार सत्य जान पड़ता है और हमें स्वयं अपनी ही स्मृति नहीं रहती अथवा आंख ही अपनी पुतली पर जो मोतियाबिन्द की तरह का जाला उत्पन्न कर देती है और वह जाला जिस प्रकार आंखों की देखने की शक्ति नष्ट कर देता है, उसी प्रकार यह त्रिगुणमयी माया भी मेरी छाया या परछांही है और वह मेरे आत्मस्वरूप की आड़ में ही परदे की तरह पड़ी हुई है। इसीलिए ये प्राणी मुझे पहचान नहीं

सकत वे मुझसे ही हुए हे परन्तु यह वात नही है कि जो कुछ व है वह मे ही हू पानी म ही उत्पन्न होने वाला मोती जिस प्रकार पानी में कभी नहीं घुलता अथवा जिस प्रकार मिट्टी का घड़ा बनाकर उसे तुरन्त ही फिर मिट्टी के साथ मिला दिया जाय तो वह मिट्टी के साथ एक जीव हो जाता है, परन्तु यदि वही घडा अग्नि-संस्कार करके पका लिया जाय, तब वह मिट्टी से भिन्न स्वरूपवाला हो जाता है, उसी प्रकार ये सब जितने भूत हैं, वे सव है तो मेरे ही अंश, परन्तु प्रकृति के योग से वे सब जीव-दशा को प्राप्त हुए हैं। इसीलिए वे मेरे हैं, परन्तु 'मैं' नहीं हे। वे मेरे ही हैं, परन्तु फिर भी वे मेरा स्वरूप नहीं पहचानते, क्योंकि अहंकार, ममता और भ्रम के कारण वे विषयान्ध हो रहे हैं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥१४॥

"हे अर्जुन, अब प्रश्न यह होता है कि महत्तत्त्व आदि जो मेरी माया है, उससे पार होकर मेरा मूल स्वरूप किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए। परब्रह्म रूपी पर्वत के शिखर पर मूल संकल्परूपी जल के साथ-साथ जो माया-नदी का छोटा-सा महाभूत रूपी बुलबुला उत्पन्न होता है, इसके उपरान्त जो सृष्टि-रचना के प्रभाव से और कालक्रम से बराबर बढ़ते हुए वेग से कर्म-मार्ग और मोक्ष-मार्ग इन दो ऊंचे तटों में से होता हुआ जल-स्रोत मनमाने ढंग से इधर-उधर चलता है, फिर सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों की वर्षा के कारण अच्छी तरह भरकर अपनी मोह-रूपी बाढ़ के द्वारा यम या मनो-निग्रह और नियम या इन्द्रिय-निग्रह रूप नगरों को बहा ले जाता है, जिसमे जगह-जगह द्वेष के भंवर पड़ते रहते हैं, मत्सर के चक्कर पड़ते रहते हैं और उन्माद आदि भयंकर मगरमच्छ दिखाई पडते हैं, जिसमें प्रपंच-रूपी बहुत-से मोड़ हैं और कर्माकर्म की लहरों पर सुख-दुःख का कूड़ा-कर्कट लहराता रहता है, जिस नदी में विषय-विलास रूपी टापू पर वासनाओं की लहरें टकराती रहती हैं और जीव रूपी फेन के पुंज फैले हुए दिखाई पड़ते हैं, जिस नदी के अहंकार रूपी प्रवाह में विद्या-मद, धन-मद और बल-मद तीनों की लहरें उठती रहती हैं और विषय-वासना के हिलोरे आते रहते हैं, जिसमें उदय और अस्त की बाढ़ के कारण जन्म-मरण के दह पडते हैं और उनमें पंचभूतात्मक सृष्टि के बुलबुले बराबर उठते रहते हैं, जिस नदी में मोह और भ्रम आदि की मछलियां धैर्य का मांस नोच-नोचकर खाती रहती हैं और तब टेढ़े-तिरछे अज्ञान के चक्कर खाती हुई इधर-उधर घूमती रहती हैं और जिस माया-नदी में भ्रम के गंदलेपन के कारण श्रद्धा की दलदल बनती है और रजोगुण के गर्जन का शब्द स्वर्ग तक सुनाई पड़ता है, जिस माया-नदी में तमोगुण का प्रवाह बहुत अधिक और बहुत प्रबल रहता है और सत्त्व रूपी दहों को तैरकर पार करने का काम बहुत ही कठिन होता है, वह माया-नदी बहुत ही दुष्ट और कठिन है। इसमें जन्म और मृत्यु की जो बाढ़ आती है, उसके कारण सत्य-लोक के गढ़ ढह जाते हैं और ब्रह्माड रूपी बड़ी-बड़ी चट्टानें भी लड़खड़ाकर गिरने लगती हैं। इस माया-नदी के जल के प्रचंड वेग के कारण अभी तक उसकी लहरें रुकती ही नहीं। फिर भला इस प्रकार की माया रूपी बाढ़ को तैरकर कौन पार कर सकता है ? इसमे एक और विलक्षण बात यह भी है कि इस माया रूपी नदी को तैरकर पार करने के लिए जो-जो उपाय किये जाते हैं, उनसे उलटे और भी अपकार ही होता है। अब यह सुनो कि ये अपकार किस प्रकार होते हैं। कुछ लोग तो स्वयं अपनी बुद्धि के भरोसे इस नदी में प्रवेश करते हैं, पर वे शीघ्र ही सारी सुध-बुध भूल जाते हैं। कुछ लोग अज्ञान के दह में अभिमान के मुख में जा पड़ते हैं। कुछ लोग इसे तैरकर पार करने के लिए अपनी कमर में तीनों वेदों का जो तूंबा बांधते हैं, उसके साथ-ही-साथ अहंकार का एक बड़ा पत्थर भी अपनी कमर में बांध लेते हैं और उस अवस्था में उन्माद की मछली उन्हें समूचा ही निगल जाती है। कुछ लोग अपनी युवावस्था के भरोसे ही इसे करना चाहते हैं, परन्तु वे विषय-लम्पटता के फेर में पड़ जाते हैं और उन्हें विषय-रूपी मगर चबाकर फेंक देते हैं।

और फिर आगे चलकर वे लोग इस नदी के वार्धक्य रूपी बुद्धिभ्रंश के जाला में इधर उधर फस जाते है फिर शोक रूपी चट्टान से टकराकर और राग के भंवर में गोते खाकर वे जब-जब ऊपर सिर निकालते है, तब तब आपत्ति रूपी गिद्ध उनका कठोर चुम्बन करते हैं—उन्हें नोचने लगते हैं। फिर वे दुःख रूपी कीचड़ से लथपथ हो जाते है और अन्त में मरण की रेती में पहुंचकर उसी में फंस जाते हैं—मर जाते हैं। इस प्रकार जो लोग विषय-लम्पटता के फेर में पड़े रहते हैं, उनका जीवन बिलकुल व्यर्थ ही जाता है। कुछ लोग यज्ञ-विधान को ही अपने लिए तूबा बनाते हैं और उसी को अपने पेट के नीचे बांधकर चल पड़ते हैं और स्वर्ग-सुख के गड्ढे में जाकर अटक जाते है। कुछ लोग मोक्ष प्राप्त करने की आशा से कर्म-रूपी बांहों को अपना आधार बनाते हैं, परन्तु वे विधि और निषेध अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य के भंवर में फंस जाते हैं। जिसमें वैराग्य की नौका का भी प्रवेश नहीं हो सकता, जिसमे विवेक की डोरी भी नहीं पहुंचती और जिसे योग-साधना से ही थोड़ा-बहुत और वह भी क्वचित् ही पार किया जा सकता है, उस माया—नदी के सम्बन्ध में यदि कहा जाय कि जीव में उसे तैरकर पार करने की शक्ति है, तो इस प्रकार के कथन की किससे उपमा दी जा सकती है ? यदि पथ्य न करने वाले रोगी का रोग अच्छा हो सकता हो, यदि इस बात का पता चल सके कि दुर्जन की बुद्धि किस प्रकार वश में की जा सकती है अथवा यदि लोभी पुरुष हाथ में आई हुई सम्पत्ति छोड़ सकता हो, यदि चोर भरी सभा में घुस सकता हो अथवा मछली को बंसी निगल सकती हो, अथवा कोई डरपोक आदमी किसी यक्षिणी को डराकर पीछे हटा सकता हो अथवा यदि हिरन के बच्चे जाल तोड़ सकते हों या च्यूंटी मेरु पर्वत पर चढ़कर उसके उस पार जा सकती हो तो जीव भी माया-नदी के उस पार पहुंचा हुआ दिखाई पड़ सकता है। इसीलिए, हे भाई अर्जुन, जिस प्रकार स्त्री को ही सब कुछ समझने वाला मनुष्य स्त्री को अपने वश में नहीं रख सकता, उसी प्रकार जीव भी माया-नदी को तैरकर पार नहीं कर सकता। जो एकनिष्ट लोग अनन्य भाव से केवल मुझको ही भजते हैं, वे ही इस नदी को तैरकर पार कर सकते हैं। बल्कि यो कहना चाहिए कि ऐसे लोगों को माया-नदी के उस पार जाने की आवश्यकता ही नहीं होती, क्योंकि उनके सामने इसी पार जल नहीं रह जाता। जिन्हें सद्गुरु रूपी अच्छी नौका मिल गई है, जिन्होंने कसकर अनुभव का कछाड़ा बांध लिया है और जिन्हें आत्मबोध रूपी वेड़ा मिल गया है, जिन्होंने अहंकार का भारी बोझ फेंककर सकल्प-विकल्प की लहरों से बचकर और विषयासक्ति की प्रबल धार से बचकर ऐक्य के घाट पर पहुंचकर आत्मबोध वाला चह पा लिया है और तब जो जल्दी से निराशा के उस पार पहुंच गये हैं, वे ही लोग जल्दी-जल्दी वैराग्य के हाथ मारते हुए और अहं-ब्रह्मास्मि वाली श्रद्धा की सामर्थ्य से ऊपर लहराते हुए अन्त में अनायास ही निवृत्ति-तट पर जा पहुंचते हैं। जो लोग इस मार्ग से मेरी भक्ति करते हैं, वे ही तैरकर मेरी इस माया को पार कर सकते हैं। परन्तु ऐसे भक्त विरले ही होते हैं और वे अधिक संख्या में नहीं दिखाई पड़ते।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥१५॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥१६॥

"इस प्रकार के भक्तों के सिवा बहुत-से ऐसे भी लोग होते हैं, जिन पर अहंकार का भूत सवार रहता है; और इसीलिए वे लोग आत्मज्ञान को भूल जाते हैं। वेद कहते हैं कि जब मनुष्य में इस प्रकार के अहंकार का संचार होता है, तब नियम का—अर्थात् इन्द्रिय-निग्रह का—परदा उठ जाता है, भावी अधःपात की लज्जा नष्ट हो जाती है और प्राणी ऐसे-ऐसे काम करने करने लगता है, जो कभी नहीं करने चाहिए। ऐसे प्राणी इन्द्रिय-रूपी ग्राम के राजमार्ग में अहंकार की बकवाद करते हुए अनेक प्रकार के बिकारों का समुदाय एकत्र करते हैं। और जब अन्त

मे उन पर दुःख तथा शोक के निरन्तर आघात होने लगते हैं, तब उनकी स्मृति का नाश हो जाता है। और इन सब बातों का कारण यही प्रकृति या माया है। इसी के कारण वे सब जीव मुझे भूल गये हैं। आत्महित का साधन करने वाले मेरे भक्त चार प्रकार के होते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

"इनमें से आर्त्त लोग अपने दुःखों का निवारण करने के लिए, जिज्ञासु लोग ज्ञान की लालसा से और अर्थार्थी लोग द्रव्य प्राप्त करने की इच्छा से मेरे भक्त होते हैं ! परन्तु चौथे प्रकार के जो भक्त होते हैं, उनमें कोई ऐसी वासना नहीं होती, जिसकी वे तृप्ति करना चाहते हों; और इसीलिए वही ज्ञानी लोग मेरे सच्चे भक्त होते हैं। क्योंकि उसी ज्ञान के प्रकाश से भेदभाव का अन्धकार नष्ट हो जाता है, इसीलिए वे मद्रूप हुए रहते हैं और साथ ही मेरे भक्त भी हो जाते हैं। परन्तु जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिक की शिला—उस पर से बहने वाले पानी की गति के कारण—साधारणजनों की दृष्टि में क्षण-भर के लिए पानी के समान जान पड़ती है, ठीक उसी प्रकार की अवस्था ऐसे ज्ञानी पुरुष की भी होती है। यह वर्णन करने का कोई विलक्षण या अद्‌भुत प्रकाश नहीं है। जिस समय वायु शान्त होकर आकाश में मिल जाती है, उस समय आकाश से भिन्न उसका कोई वायुभाव नहीं रह जाता। ठीक इसी प्रकार जब वह ज्ञानी मुझमें मिलकर एक हो जाता है, तब इस प्रकार के विधान या कथन के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता कि—'वह भक्त है'। यदि वायु को हिला या चलाकर देखा जाय, तभी उसका आकाश से भिन्न स्वरूप दिखाई पड़ता है और तभी इस बात का प्रत्यय होता है कि वह आकाश से भिन्न है। और नहीं तो वह स्वभावतः गगन के रूप में ही रहती है। इसी प्रकार जब वह ज्ञानी शरीर के द्वारा कर्मो का आचरण करता है, उस समय लोगों को ऐसा अनुभव होता है कि वह भक्त है। परन्तु वह अपने आत्मानुभव के सहज गुण के कारण मद्रूप हुआ रहता है। अपने ज्ञान के प्रकाश के कारण वह यह समझता है कि मैं आत्मा ही हूं और इसीलिए मैं भी प्रेम के आवेश में उसे आत्मा ही कहता हूं। जो जीवत्व के उस पार का आत्मस्वरूप का संकेत पहचानकर व्यवहार या आचरण कर सकता है, वह क्या केवल भिन्न देहधारी होने के कारण ही कभी परमात्म-तत्त्व से वास्तव में अलग हो सकता है !

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

"इसीलिए केवल अपना कार्य सिद्ध करने के उद्देश्य से जिसे देखो, वही भक्त बनकर मेरे साथ चिपटने लगता है; परन्तु ऐसा भक्त केवल ज्ञानी ही है, जिसका प्रिय विषय केवल मैं ही रहता हूं।" इस प्रकार श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा, वह मिथ्या नहीं था; क्योंकि देखो, दूध के लोभ से सभी जगह लोग गौ को बांधकर रखते हैं; परन्तु उस बंधन का अंश बिना डोरी के ही उसके बछड़े को भी कैसे मिल जाता है ? बिना किसी तरह की डोरी से बंधे रहने पर भी बछड़ा जो बंधन में पड़ा रहता है, इसका कारण यही है कि तन, मन और प्राण से वह बछड़ा अपनी मा के साथ ही सम्बद्ध रहता है और मां को छोड़कर और किसी को वह नहीं जानता। उसे देखते ही वह कहता है—'यही मेरी मां है'। इस प्रकार जब वह गौ देखती है कि मेरे बिना यह बछड़ा बिलकुल अनाथ और अनाश्रित है, तब वह गौ भी उस पर वैसी ही एकान्तित प्रीति रखती है। इसीलिए श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा है, वह बिलकुल ठीक है। अस्तु। भगवान् ने फिर कहना आरम्भ किया—"हे अर्जुन, बाकी जो और तीन प्रकार के भक्त मैंने तुम्हे बतलाये हैं, वे भी अपने-अपने स्थान पर अच्छे ही हैं और मुझे भी वे भले लगते हैं। परन्तु मेरा ज्ञान हो जाने पर, जो फिर पीछे लौटना ठीक उसी प्रकार भूल जाते हैं, जिस प्रकार समुद्र के साथ नदी के मिल जाने पर उसका पीछे

लौटना असम्भव हो जाता है और इसी प्रकार जिसके अन्तःकरण में उत्पन्न होने वाली अनुभूति-गंगा मेरे स्वरूप-सागर में आकर मिल जाती है, उस भक्त को बिलकुल मेरा ही स्वरूप समझना चाहिए—यह समझना चाहिए कि वह भक्त नहीं है, स्वयं मैं ही हूं। अब इस बात का और अधिक विस्तार क्यों किया जाय ! वास्तविक बात तो यह है कि जो ज्ञानी है, वह मेरा शुद्ध चैतन्य और प्रत्यक्ष आत्मा ही है। वास्तव में, यह बात तो किसी से कहने योग्य नहीं है। परन्तु क्या किया जाय ! जो बात नहीं कहनी चाहिए थी, वही मैं कह बैठा हूं।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

"ऐसा पुरुष विषयों के भीषण जंगल के काम और क्रोध रूपी विकारों के संकटों से बचकर निर्मल वासना के पहाड़ पर आ पहुंचता है। फिर, भाई वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, वह सत्संगति प्राप्त करके और कर्म-संन्यास का टेढ़ा-तिरछा मार्ग एक ओर छोड़कर सरल सत्कर्म-योग के राजमार्ग पर चल पड़ता है। फिर वह सैकड़ों जन्मों तक उसी मार्ग से प्रवास करता रहता है। इस प्रवास में वह अपने पैरों में आशा के खड़ाऊं तक नहीं पहनता। फिर वहां फल-हेतु के विचार के लिए कहां स्थान रह जाता है। वह इस प्रकार जन्म-जन्म में शरीर धारण करने की माया के रात्रिकाल में वासना-संग छोड़कर कर्मयोग के मार्ग पर वेग के साथ अकेला ही चलता रहता है। बस इसी बीच में कर्मों का क्षय होते ही उसके लिए ज्ञान का प्रभात हो जाता है। उसी समय गुरु की कृपा से उषःकाल हो जाता है, ज्ञान सूर्य की किरणें आकर उस पर पड़ने लगती हैं और तब उसकी दृष्टि के सामने भेदभाव-रहित एकत्व की सम्पत्ति प्रकट होती है। ऐसी अवस्था में वह जिस-जिस दिशा में देखता है, उस-उस दिशा में उसे केवल मैं ही दिखाई पड़ता हूं; और यदि वह कुछ भी न देखे और बिलकुल निश्चेष्ट तथा शान्त रहे, तो भी उसके हृदय में केवल मैं ही भासमान रहता हूं। मेरे सिवा उसके लिए कहीं और कुछ भी नहीं होता। जिस प्रकार पानी में डूबे हुए बर्तन के अन्दर और बाहर सब जगह पानी-ही-पानी रहता है, उसी प्रकार यह भी मुझमें निमग्न रहता है और उसके अन्दर और बाहर भी केवल मैं ही रहता हूं। परन्तु यह अवस्था ऐसी नहीं है, जिसका शब्दों के द्वारा वर्णन किया जा सके। इसीलिए अब मैं केवल इतना ही कहता हूं कि जब इस प्रकार ज्ञान-सम्पत्ति का भांडार उसके लिए खुल जाता है, तब वह उस ज्ञान-द्रव्य को अपने व्यवहार में लाकर समस्त विश्व को अपना-सा कर लेता है। उसे यह अनुभव होने लगता है कि इस दृष्टि में जो कुछ है, वह सब श्रीवासुदेव ही हैं; और इस अनुभव—रस से उसका अन्तरंग आपसे आप इतना अधिक भर जाता है कि अन्त में वही श्रेष्ठ भक्त और सच्चा ज्ञानी ठहरता है। उसके आत्मानुभव का भांडार इतना अधिक विस्तृत होता है कि उसमें सृष्टि के स्थावर और जंगम सभी पदार्थ समा सकते हैं। भाई अर्जुन, ऐसा महात्मा बहुत ही दुर्लभ होता है। हां, जो कामिक भावना से मेरी भक्ति करते हैं और जो आशा के अंधेरे में अन्धे होकर इधर-उधर भटकते रहते हैं, ऐसे दूसरे प्रकार के भक्त, जितने चाहो, उतने मिल सकते हैं।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

"फल की वासना रखने के कारण उनके अन्तःकरण में काम (अर्थात् विषयवासना) का प्रवेश हो जाता है; और उसी काम के थपेड़े से ज्ञान का दीपक बुझ जाता है। इससे वे अन्दर और बाहर घोर अन्धकार में डूब जाते है, और यद्यपि मैं उनके बिलकुल पास रहता हूं, परन्तु फिर भी वे मुझे नहीं देख पाते और तब वे तन-मन से दूसरे देवताओं के भजन में लग जाते हैं। ऐसे पुरुष पहले से ही माया के दास बने हुए रहते हैं, तिस पर से विषय-भोग के फेर में पड़कर वे और भी अधिक दीन-हीन हो जाते हैं और तब वे लम्पटता से दूसरे देवताओं की भक्ति बड़े

कौतुक के साथ करते हैं। वे स्वयं अपनी ही बुद्धि से अपने लिए न जाने कितने अधिक नियम और निर्बंध बन लेते हैं, पूजा-सेवा के न जाने कितने द्रव्य एकत्र कर लेते हैं और शास्त्रोक्त विधियों से वे कितने ध्यानपूर्वक उन देवताओं को एकत्रित किये हुए द्रव्य अर्पण करते हैं।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥२१॥

"फिर भी भक्त चाहे जिस देवता का भजन करे, परन्तु उसके उस भजन और पूजन का फल मैं ही पूरा करता हूं। उसकी बुद्धि में इस बात का भी निश्चय नहीं हुआ रहता कि समस्त देव-देवताओं में मेरा ही निवास रहता है, और इसीलिए उसके मन में यह भेदभाव बना रहता है कि जितने देव-देवता हैं, वे सब वास्तव मे अलग-अलग ही हैं।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥२२॥

"वह इस प्रकार की श्रद्धा से युक्त होकर अपने इष्ट देवता की यथा-विधि आराधना करता है और जब तक कार्यसिद्धि नहीं होती, तब तक उसकी वह आराधना अखंड रूप से चलती रहती है। ऐसे भक्त उस देवता से मेरे द्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगों को निःसंदेह प्राप्त करते हैं।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥२३॥

"परन्तु ये जो भक्त अपने संकुचित संकल्पों और विचारों के बाहर कभी नहीं जाते, उन्हें मेरा कुछ भी ज्ञान नहीं होता, और इसीलिए उन्हें जो फल प्राप्त होता है, उसका कभी-न-कभी अन्त होना भी अवश्यम्भावी होता है और वे फल शाश्वत नहीं होते। इतना ही नहीं, बल्कि इस प्रकार की भक्ति से केवल सांसारिक साधन ही प्राप्त होते हैं, क्योंकि आत्मानुभव के बिना ये सब फल-भोग क्षण-भर दिखाई पड़ने वाले स्वप्न के समान ही होते हैं। परन्तु यदि हम यह विचार क्षण-भर के लिए छोड़ भी दें, तो भी एक बात और यह है कि वे जिस देवता का प्रेमपूर्वक भजन करते हैं, उसी देवता का स्वरूप वे प्राप्त करते हैं। परन्तु जो भक्त तन, मन और प्राण से मेरे मार्ग में लगते हैं, वे देहान्त होते ही मद्रूप हो जाते हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥२४॥

"परन्तु सामान्य प्राणी ऐसा नहीं करते और व्यर्थ ही अपने हित की हानि कर बैठते हैं, क्योंकि वे अपने हाथ की हथेली पर पानी रखकर उसी में तैरने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन जो लोग वास्तव में तैरना चाहते हों, उन्हें गहरे पानी में प्रवेश करना चाहिए। जब अमृत के समुद्र में गोता लगाया जाय, तब अपना मुंह ही क्यों जोर से बन्द करके रखा जाय और अपने मन में किसी गड्ढे के पानी का स्मरण रखकर क्यों दुःख किया जाय ! अमृत में प्रवेश करके भी बलपूर्वक अपने ऊपर मृत्यु क्यों ली जाय ! इसकी अपेक्षा स्वयं अमृत बनकर अमृत में ही क्यों न निवास किया जाय ! इसी प्रकार, हे भाई अर्जुन, यह फल-हेतु वाला पिंजरा छोड़कर और अनुभव के पंख लगाकर ज्ञान के आकाश में खूब अच्छी तरह चक्कर क्यों न लगाया जाय और उसके स्वामी बनकर क्यों न रहा जाय ! जब मनुष्य ऐसे ऊंचे स्थान में उड़ने लगता है, तब उसके पराक्रम से सुख का इतना अधिक विस्तार होता है कि मनुष्य अपने आनन्द के आवेश में जितनी तेजी से और जितना अधिक चाहे, उतना उड़ सकता है। उस अपरिमित आत्मसुख को मापने का प्रयत्न क्यों किया जाय ! मैं तो अव्यक्त और निराकार हूं। फिर मुझे कोई व्यक्त और

साकार क्यों माने ! मेरा स्वरूप तो स्वयं प्राणियों में ही स्वतः सिद्ध है, फिर उसे प्राप्त करने के लिए व्यर्थ के साधनों के फेर में पड़ने की क्या आवश्यकता है ? परन्तु, भाई अर्जुन, यदि इस प्रकार के प्रश्न किये जायं, तो वे जीवों को कुछ अच्छे नहीं लगते।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

"जीवों की आंखों पर माया का धुन्ध छाया रहता है जिससे उन्हें कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। इसीलिए प्रकाश में भी वे मुझे देख नहीं सकते। नहीं तो क्या तुम एक भी ऐसी वस्तु बतला सकते हो, जिसमें मेरा निवास न हो ? भला कौन-सा जल ऐसा है जिसमें रस न हो ? या कौन-सा ऐसा पदार्थ है जिसे वायु स्पर्श न करती हो ? अथवा कौन-सा ऐसा स्थल है जिसमें आकाश न हो सकता हो ? बस यही समझ लो कि सारे विश्व में एक मैं ही मैं भरा हूं।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

"हे अर्जुन, आज तक जो भूत मात्र हो गये हैं, वे सब अब मद्रूप होकर ही रहते हैं, और इस समय भी जितने भूत हैं, वे मेरे ही स्वरूप हैं—उनमें मैं ही हूं। और भविष्य में जो भूत अभी उत्पन्न होने को हैं, वे भी मुझसे भिन्न नहीं हैं। यदि सच पूछो तो ये भी केवल माया की ही बातें हैं। और नहीं तो वास्तव में न कुछ होता ही है और न जाता ही है। जिस प्रकार रस्सी में भ्रम से दिखाई पड़ने वाले सांप के सम्बन्ध में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह काला है, चितकबरा है या लाल है, उसी प्रकार भूत-मात्र के विषय में भी निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि उसका मूल देखा जाय तो वे सभी मिथ्या हैं। हे भाई अर्जुन, इस प्रकार मैं भूत-मात्र में अखंड और ओत-प्रोत रूप से भरा रहता हूं। लेकिन इतना होने पर भी ये जीव जिस संसार के चक्कर में पड़े हुए हैं, उस संसार की बातें कुछ निराली ही हैं।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

"अब मैं उस संसार की कुछ बातें संक्षेप में बतलाता हूं, सुनो ! जिस समय अहंकार और काया का प्रेम होता है, उस समय उनके योग से 'इच्छा' नाम की कन्या का जन्म होता है। जब यह कन्या पूर्ण यौवनावस्था को प्राप्त होती है, तब वह द्वेष के साथ अपना शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करती है। फिर इच्छा और द्वेष की इस जोड़ी से द्वन्द्व-मोह (अर्थात् सुख-दुःख, हर्ष-शोक, लाभ-हानि आदि से होने वाला अज्ञान-भाव) उत्पन्न होता है। इस बालक का पालन-पोषण इसका मातामह या नाना 'अहंकार' ही करता है। यह बालक मानसिक धर्म का शत्रु होता है। यह इतना अधिक उद्दंड होता है कि इन्द्रिय-निग्रह के नियन्त्रण में नहीं रहता। फिर वह आशा का दूध पीकर खूब हृष्ट-पुष्ट हो जाता है और असन्तोष के मद्य से मत्त होकर विषय-रूपी कोठरी में विकृति के साथ रहने लगता है। फिर वह शुद्ध भावना के मार्ग में संकल्प-विकल्प के कांटों की बाड़ लगाता है और अनुचित कर्मों के टेढ़े-तिरछे रास्ते तैयार करता है। द्वन्द-मोह के इस प्रकार के कृत्यों से सब जीव भ्रम में पड़ जाते हैं तब वे संसार के जंगल में आकर भटकने लगते हैं और महादुःख के बोझ के नीचे दब जाते हैं।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

"ऐसे मिथ्या संकल्प-विकल्पों के तीक्ष्ण कांटों को देखते हुए भी जो लोग अपने आपको द्वन्द्व-मोह की हवा

भी नहीं लगने देते, जो सरल एकनिष्ठा के कदम रखते हुए और संकल्प-विकल्प के कांटों को अपने पैरों तले कुचलते हुए महापातकों के जंगल से पार हो जाते हैं और जो पुण्य के बल से दौड़ लगाते हुए मेरे पास आ पहुंचते हैं, उनके गुणों का वर्णन कहां तक किया जाय ! वे काम-क्रोध आदि बटमारों के हाथों से साफ छूट जाते हैं।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

"हे अर्जुन, इसके उपरान्त इस जन्म-मरण वाली बात का आपसे आप अन्त हो जाता है। जिनकी निष्ठा में ऊपर बतलाये हुए प्रयत्नों का फल लगता है, उन्हें वह प्रयत्न कभी-न-कभी अवश्य ही सिद्धि प्रदान करता है, और तब उनके हाथ वह परब्रह्म रूपी पका हुआ समूचा फल लगता है जिसमें पूर्णता का रस लबालब भरा हुआ होता है। उस समय सारा संसार कृतकृत्यता की धन्यता से भर आता है, आत्मज्ञान का गौरव पूर्णता को प्राप्त हो जाता है, कर्मों की आवश्यकता का अन्त हो जाता है और मन सुखी तथा शान्त हो जाता है। हे भाई अर्जुन, जो अपने व्यवहार में मुझे ही अपना पूंजी बनाता है, उसे इसी प्रकार के आत्मबोध का लाभ होता है। उसकी वृत्तियों की समावस्था के साथ-ही-साथ ब्रह्मैक्य की खेती-बारी का भी विस्तार होता जाता है और तब फिर भेदभाव वाला भिखारीपन या दीनता नहीं बाकी रह जाती।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

"जिन्हें इस बात का अनुभव हो जाता है कि यह मायामय जड़ सृष्टि मेरा ही स्वरूप है और जो इसी अनुभव के हाथों में मेरे आधिभौतिक रूप का सहारा लेकर समस्त देवताओं के अधिष्ठान मेरे आधिदैविक स्वरूप तक आ पहुंचते हैं और फिर जिन्हें पूर्ण ज्ञान के बल से मेरा अधियज्ञ अर्थात् परब्रह्म स्वरूप दिखाई पड़ने लगता है, वे इस शरीर का पात हो जाने पर कभी दुःखी नहीं होते। और नहीं तो आयुष्य की डोरी टूटते ही प्राणीमात्र को इतनी अधिक व्याकुलता होती है कि उनकी वह व्याकुलता देखकर आस-पास के लोगों को ऐसा जान पड़ने लगता है कि आज मानो कल्पान्त ही हो गया। ऐसे लोगों की चाहे जो अवस्था होती हो, परन्तु जो लोग मेरा स्वरूप प्राप्त कर लेते हैं, वे उस अन्त काल की व्याकुलता में भी मुझे नहीं भूलते। साधारणतः यही समझना चाहिए कि जो इतनी पूर्णता तक पहुंच जाते हैं, वही सच्चे युक्त-चित्त हैं और वही सच्चे योगी हैं।" श्रीकृष्ण इस प्रकार शब्दरूपी शीशी में से वाणीरूपी रस उलट रहे थे, परन्तु अर्जुन की अवधानरूपी अंजली आगे बढ़कर वह रस ग्रहण नहीं कर रही थी, क्योंकि उस समय वह क्षण-भर के लिए पिछले श्लोकों में बतलाई हुई बातों पर विचार कर रहा था। विपुल अर्थरस से भरे हुए, चारों ओर सद्भावना की सुगन्ध फैलाने वाले और परब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले वे वचनरूपी फल जिस समय कृपा-प्रसाद रूपी वायु के मन्द झोंकों से श्रीकृष्णरूपी वृक्ष पर से अर्जुन के कानों की झोली में पड़े थे, उस समय उसे ऐसा जान पड़ा था कि मानो ये वचन-फल स्वयं महा-सिद्धान्त के ही बने हुए हैं अथवा ब्रह्मरस के सागर में डुबाए हुए हैं; और तब परमानन्दरूपी रस में अच्छी तरह धोकर निकाले हुए हैं। उनमें ऐसी मोहकता थी कि अर्जुन के अनिमिष नेत्र गटागट विस्मयामृत के घूंट पीने लगे। उस अलौकिक सुख का आस्वादन करके अर्जुन स्वर्ग को भी तुच्छ समझने लगा और उसकी अन्तरात्मा में आनन्द की गुदगुदी होने लगी। जब इस प्रकार उन वचन-फलों के केवल बाह्य दर्शन के सौंदर्य से ही अर्जुन का सुख बढ़ने लगा, तब उसे उन वचन-फलों का रस चखने की उत्कट इच्छा होने लगी। उन वचन-फलों को वह तर्क-बुद्धि के हाथों से जल्दी से लेकर अनुभव के मुख में रखकर उनका स्वाद चखने लगा। परन्तु वे वचन फल-विचार की जिह्वा को नहीं रुचते थे और हेतु के दांतों से नहीं टूटते थे। इसलिए उस सुभद्रानाथ ने उन्हें चबाने का विचार ही छोड़ दिया। अब अर्जुन चकित होकर अपने

मन में कहने लगा—"क्या ये सब जल में दिखाई पड़ने वाले नक्षत्र है ? केवल अक्षरों के बाहरी ठाट-बाट के फेर में ही मैं कैसा फंस गया ! और उनसे मैं कैसा धोखा खा गया ! अरे ये कैसे और कहां के अक्षर हैं ? ये तो केवल आकाश के परत हैं। यहां मेरी मति चाहे कितनी ही ऊंची उड़ान क्यों न भरे, परन्तु इसे क्या कभी उसकी थाह लग सकती है ? लेकिन जब तक उसकी थाह न लगे, तब तक इन वचनों का अर्थ कभी समझ में ही नहीं आ सकता। अपने मन में इस प्रकार की बातों का विचार करके अर्जुन ने फिर यादवेन्द्र श्रीकृष्ण की ओर देखा : और तब उस वीरश्रेष्ठ ने विनयपूर्वक कहा—"हे देव, ये जो सातों पद (अर्थात् शब्द) यहां एकत्र हुए हैं, इनका कभी किसी ने आस्वादन नहीं किया है और ये अपूर्व हैं। यदि यह बात न होती तो भला यह कैसे सम्भव था कि अच्छी तरह एकाग्रचित्त होकर ध्यान देने पर भी श्रवण के द्वारा बड़े-बड़े सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण हुए बिना रह जाता। परन्तु यह प्रकरण उस प्रकार का नहीं है। अक्षरों का यही ठाट देखकर स्वयं विस्मय को भी विस्मय होता है। कानों की खिड़की के रास्ते ज्यों ही आपकी वाणी की किरणें अन्तःकरण में पहुंचीं, त्यों ही मुझे परम आश्चर्य हुआ और मेरी विचार-शक्ति ही बन्द हो गई। इसलिए मेरे मन में इस बात का बहुत अनुराग है कि मैं इनके अर्थ का ज्ञान प्राप्त करूं। परन्तु इतना समय नहीं है कि मैं अपने उस अनुराग का वर्णन कर सकूं : इसलिए हे देव, आप स्वयं ही बहुत जल्द सब बातों का विवेचन करें।" इस प्रकार पिछली बातों का विचार करते हुए, आगे के हेतु पर ध्यान रखते हुए और बीच में अपना उत्कट अनुराग दृढ़तापूर्वक स्थापित करके अर्जुन का प्रश्न करने का यह हथकंडा कैसा बढ़िया है ! इस प्रकार प्रश्न करते समय अर्जुन ने शिष्टाचार की मर्यादा का भी उल्लंघन नहीं किया और नहीं तो उसने अपनी दोनों बांहें पसारकर श्रीकृष्ण को भलीभांति आलिंगन कर लिया होता। यह बात केवल अर्जुन ही अच्छी तरह जानता था कि यदि गुरु महाराज प्रश्न करना हो तो इसी पद्धति का अवलम्बन करना चाहिए। अब श्रोताओं को इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि अर्जुन के प्रश्न और श्रीकृष्ण द्वारा उनके दिए हुए उत्तर संजय कैसे प्रेम से और अच्छी तरह बतलाते हैं। ये सब बातें सरल देशी भाषा में बतलाई जायंगी। और इन्हें इस प्रकार सरल देशी भाषा में बतलाने का हेतु यह है कि कानों को इनका श्रवण होने से पहले ही बुद्धि अपना उपयोग करने लगे। बुद्धि की जीभ से अक्षरों का भीतरी अर्थ-रस चखने से पहले ही अक्षरों के केवल आकृति-सौंदर्य से ही इन्द्रियां परम प्रसन्न हो जाती हैं। देखिये, मालती की कलियों की सुगन्ध नाक को तो सन्तुष्ट करती ही हैं, परन्तु उन कलियों का बाहरी रूप देखकर नेत्र क्या उनसे पहले ही तृप्त नहीं हो जाते ! इसी प्रकार देशी भाषा के सौन्दर्य से इन्द्रियों को सामर्थ्य प्राप्त होती है और तब वे सिद्धान्त के ठीक स्थान तक सहज में पहुंच सकती हैं। अब इस प्रकार के भाषा-सौन्दर्य से मैं वह बातें स्पष्ट करके बतलाना चाहता हूं जो शब्दों के लिए अप्राप्य ही हैं। इसलिए श्रीनिवृत्तिनाथ का दास ज्ञानदेव अपने श्रोताओं से प्रार्थना करता है कि आप लोग सावधान होकर सुनें।





अक्षरब्रह्मयोग

र्जुन उवाच–

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

कहा–"अब आपकी बातों की ओर मेरा पूरा-पूरा ध्यान है। मैंने जो कुछ पूछा है, ब्रह्म-कर्म और अध्यात्म क्या है, यह आप मुझे समझावें। अधिभूत और अधिदैवत और ये सब बातें ऐसे सहज रूप से बतलावें जिससे मेरी समझ में आ जायं।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

आप जिसे अधियज्ञ कहते हैं, वह इस देह में कौन है और कैसा है ? मैं उसे जानना चा र मेरे अनुमान में नहीं आता। साथ ही, हे देव, मुझे यह भी बतलाइये कि नियुक्त अन्त के समय आपका जो ज्ञान होता है, वह किस प्रकार होता है।" देखिये कि कोई भा ग बने हुए मकान में सोता है और उस सोने की अवस्था में ही यदि वह कुछ बड़बड़ा बड़ाना भी कभी व्यर्थ नहीं जाता। इसी प्रकार अर्जुन के मुंह से ये सब बातें अभी हीं पाई थीं कि श्रीकृष्ण ने कहा–"हे अर्जुन, तुमने जो कुछ पूछा है, उसका विवरण वास्तव में उस समय एक कामधेनु का ही वत्स हो रहा था और उसके ऊपर कल्पवृक्ष । ऐसी अवस्था में यदि मनोरथ-सिद्धि स्वयं ही उसके सामने मूर्तिमती होकर आ ख

इसमें आश्चर्य की ही कौन-सी बात है ? श्रीकृष्ण क्रोध के आवेश में भी आकर जिसे मार डालें, वह भी परब्रह्म के साक्षात्कार का पात्र हो जाता है। फिर वही श्रीकृष्ण जिसे अत्यन्त प्रेम से ब्रह्म का उपदेश दें, उसे ब्रह्म का साक्षात्कार क्यों न प्राप्त होगा ! जिस समय हम कृष्णरूप होते हैं, उस समय हमारे अन्तःकरण में कृष्ण ही रहते हे और उस अवस्था में सिद्धि आपसे आप हमारे संकल्प के घर चलकर आती है। परन्तु इस प्रकार का अपूर्व प्रेम केवल अर्जुन में ही था और इसीलिए उसके मनोरथ भी सदा सफल हुआ करते थे। इसीलिए भगवान् ने पहले से ही यह समझ लिया था कि अब अर्जुन इस प्रकार का प्रश्न करेगा; और इसीलिए उन्होंने उसके वास्ते उत्तर-रूपी भोजन पहले से ही परोसकर तैयार कर रखा था। बच्चा ज्यों ही स्तन की ओर बढ़ता है, त्यों ही माता समझ लेती है कि यह भूखा है। उस समय यह वात नहीं होती कि बच्चे को टूटे-फूटे शब्दों में पहले माता से यह कहना पड़े कि मुझे दूध दो और तब वह उसे दूध पिलावे। वह विना उसके कहे ही उसकी इच्छा समझ लेती है और उसे पूर्ण भी कर देती है। इसलिए यदि कृपासागर गुरु में अपने भक्त के प्रति इतना प्रेम दिखाई पड़े तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। अच्छा, अब यह सुनिये कि इस पर भगवान् श्रीकृष्ण ने क्या कहा !

श्रीभगवानुवाच—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

सर्वेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा—"जो वस्तु अनेक छिद्रों से युक्त इस शरीर में रहने पर भी उसमें से कभी गिरकर बाहर नहीं निकलती, इसके विपरीत जो वस्तु इतनी सूक्ष्म है कि हम उसे शून्य भी नहीं कह सकते और जो आकाश के पल्ले में से छानी गई हो, परन्तु इतनी विरल और सूक्ष्म होने पर भी जो हिलोरने पर भी प्रपंच की इस झोली मे से नीचे नहीं गिरती, वह परब्रह्म है। वह ब्रह्म-तत्त्व ऐसा है कि यदि आकार उत्पन्न भी हो जाय तो भी वह जन्म का विकास नहीं जानता और आकार का लोप हो जाने पर भी उसका लोप नहीं होता। इस प्रकार का जो ब्रह्मतत्त्व अपनी स्वयं-सिद्धि अवस्था में निरन्तर रहता है, हे भाई अर्जुन, उसी को अध्यात्म कहते हैं। स्वच्छ आकाश मे रंग-बिरंगे मेघ-पटल उत्पन्न तो होते हैं, परन्तु उनके सम्बन्ध में कोई यह नहीं जानता कि ये कैसे उत्पन्न होते हैं और कहां से आते हैं। इसी प्रकार उस निराकार और शुद्ध ब्रह्म से प्रकृति और अहंकार आदि भिन्न-भिन्न भूत उत्पन्न होते है और उन्हीं से ब्रह्मांड की रचना का आरम्भ होता है। निर्विकल्प ब्रह्म की भूमि में ही 'अहं बहुस्याम्' वाले संकल्प का बीज पहले-पहल जमकर अंकुर निकालता है और तब वह शीघ्र ही ब्रह्मांड के रूप में चारों ओर फैलकर भर जाता है। यदि प्रत्येक ब्रह्मांड के गोलक को अच्छी तरह देखा जाय तो वह उस मूल बीज से ही अर्थात् उस ब्रह्मतत्त्व से ही भरा हुआ दिखाई पड़ता है; परन्तु उनके मध्य में उत्पन्न होने वाले तथा नष्ट होने वाले जीवों की गिनती भी नहीं की जा सकती। फिर उन ब्रह्मांडों के भिन्न-भिन्न अंश भी उसी अहं-बहुस्याम् वाले आदि संकल्प का जल्दी-जल्दी जप करने लगते हैं, जिससे अनेक प्रकार की इस अनन्त सृष्टि की वृद्धि होती है। परन्तु सृष्टि के इन सभी पदार्थों में वह एकमेवाद्वितीय परब्रह्म ही ओत-प्रोत भरा रहता है। और यह अनेकत्व, यह भेदभाव उस पर केवल बाढ़ के समान छाया रहता है। इसी प्रकार यह भी समझ में नहीं आता कि इस सृष्टि में जो सम और विषम भाव दिखलाई पड़ते हैं, वे किस प्रकार उत्पन्न होते हैं। यदि यह कहा जाय कि इस स्थावर-जंगमात्मक विश्व की रचना व्यर्थ मनोविनोद के लिए ही हुई है, तो उसमें उत्पन्न होने वाले भूत मात्र की लाखों जातियां दिखाई पड़ती हैं। यदि यो ही देखा जाय तो जीवों के इन अंकुरों की न तो कोई संख्या ही जानी जा सकती है और न उनके भेदभाव की कोई सीमा ही स्थिर की जा सकती है। परन्तु यदि उनके मूल का पता लगाया जाय तो यही जान पड़ता है कि इन सबकी उत्पत्ति उसी शून्य ब्रह्म से हुई है। इस सृष्टि का मूल कर्ता तो कहीं मिलता ही नहीं; साथ ही इस सृष्टि

का कहीं कोई कारण भी नहीं दिखाई पड़ता, पर बीच में ही यह सृष्टि रूपी कार्य आपसे आप और बहुत तेजी के साथ बढ़ने लगता है। इस प्रकार बिना किसी कर्ता के ही उस निराकार ब्रह्म पर वह जो इन्द्रियगम्य आकार की छाप पड़ती है, उसी को 'कर्म' कहते हैं।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥

''अब मैं संक्षेप में अधिभूत का निरूपण करता हूं। जैसे मेघ प्रकट होते और नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार जो ऊपर से तो देखने में आता है, परन्तु वास्तव में नश्वर है, जो पंचमहाभूतों के अंशों के परस्पर मिश्रण से बना हुआ है, जो भूतों का आश्रय ग्रहण करके और उन्हीं में मिश्रित होकर भासमान होता है, परन्तु जो नाम-रूप आदि से विशिष्ट भूत-संयोग के बिगड़ते ही नष्ट हो जाता है, उसी को अधिभूत कहते हैं। अधिदैवत से पुरुष का अभिप्राय समझना चाहिए। प्रकृति के द्वारा जो-जो वस्तुएं उत्पन्न होती हैं, यह उन सबका उपभोग करता है। यह पुरुष ही चैतन्य अर्थात् बुद्धि का नेत्र अथवा द्रष्टा है, यही इन्द्रियों के प्रदेशों का मुख्य अधिकारी अथवा राजा है और यही वह वृक्ष है जिस पर देह के नष्ट होने के उपरान्त संकल्प-विकल्प रूपी पक्षी जाकर विश्राम करते हैं, यह 'अधिदैवत' नाम का पुरुष वास्तव में मूल वाला परमात्मा ही है, परन्तु परमात्मा से कुछ भिन्न हो गया है। यह अहंकार-निद्रा के वश में रहता है और इसीलिए स्वप्न-तुल्य माया के झगड़े में हर्ष और शोक आदि का अनुभव करता है। जिसे लोग साधारणतः जीव कहते हैं, वह इसी पंचभूतात्मक शरीर-पिंड में का अधिदैवत है। जो इस शरीर-रूपी राज्य में शरीर-बुद्धि का लोप करता है, वह मैं ही हूं और मुझे ही इस शरीर में का अधियज्ञ समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त जो अधिदैव और अधिभूत हैं, वे दोनों भी वस्तुतः मैं ही हूं। परन्तु जब चोखा और निर्मल सोना घटिया सोने में मिल जाता है, तो क्या वह बढ़िया सोना भी हल के मेल का और घटिया सोना नहीं हो जाता ! परन्तु फिर भी वह निर्मल सोना स्वयं कभी मलिन नहीं होता और न उस घटिया सोने का अंश ही होता है। परन्तु जब तक वह हलके और घटिया सोने के साथ मिला रहता है, तब तक उसे हलका और घटिया सोना कहना ही ठीक है। उसी प्रकार ये अधिभूत आदि जब तक प्रकृति या माया के परदे से ढंके हुए हैं, तब तक उन्हें मूल ब्रह्म से भिन्न ही मानना चाहिए। परन्तु जब अविद्या का परदा दूर हो जाता है और भेद-बुद्धि की गांठ टूट जाती है, तब ये अधिभूत आदि सब दृश्य नष्ट होकर और परब्रह्म के साथ मिलकर एकरूप हो जाते हैं। उस समय उनमें का पारस्परिक भेद भला कैसे रह सकता है ! बालों के जूड़े पर यदि स्वच्छ स्फटिक की शिला रख दी जाय तो नेत्रों को वह स्फटिक-शिला टूटी हुई-सी दिखाई पड़ती है। परन्तु यदि उसके नीचे से बालों का वह जूड़ा या लट हटा ली जाय तो फिर कौन कह सकता है कि उस स्फटिक-शिला का वह टूटा हुआ रूप कहां चला जाता है ! क्या उस समय कोई उसके टूटे हुए अंशों को फिर से जोड़ देता है ! वास्तव में यह बात तो होती ही नहीं। उस समय भी वह शिला पहले की ही भांति ज्यों-की-त्यों और अखंड रहती है। वह तो केवल बालों के जूड़े या लट की संगति के कारण ही टूटी हुई-सी जान पड़ती है और इसीलिए उस जूड़े या लट के दूर होते ही वह फिर ज्यों-की-त्यों और अखंड दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार जब अधिभूत आदि का अहंभाव नष्ट हो जाता है, तब परब्रह्म के साथ उसका वह मूल वाला ऐक्य ज्यों-का-त्यों और पहले की ही तरह बना रहता है। जिसमें यह ऐक्य होता है, वही अधियज्ञ मैं हूं। हे अर्जुन, अपने मन में यही अभिप्राय रखकर मैंने पहले (अर्थात्, कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं आदि श्लोकों मे) तुम्हें यह बतलाया है कि कर्मों से ही सब यज्ञ उत्पन्न होते हैं। समस्त जीवों की विश्रान्ति का यह निष्काम ब्रह्मसुख का गुप्त भांडार मैंने आज तुम्हें खोलकर दिखला दिया है। पहले अच्छी तरह वैराग्य का ईंधन लगाकर इन्द्रियों की अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिए और तब उसी अग्नि में विषय द्रव्यों की आहुति देनी चाहिए। फिर

वज्रासन की भूमि शुद्ध करके इस शरीर-मंडप में मूलबन्ध की मुद्रा की यज्ञवेदी बनानी चाहिए। इस प्रकार की सिद्धि हो जाने पर इन्द्रिय-निग्रह के कुंड में योगरूपी मन्त्र का घोष करते हुए यथेष्ट मात्रा में इन्द्रिय द्रव्यों को अर्पित करना चाहिए। फिर मन और प्राणवायु के निग्रह. को ही इस यज्ञ विधान का समारम्भ मानकर निर्मल ज्ञान रूपी अग्नि को सन्तुष्ट करना चाहिए। जब इस प्रकार ज्ञान की अग्नि में सब कुछ अर्पित कर दिया जाता है, तब वह ज्ञान समस्त ज्ञेय वस्तुओं में लीन हो जाता है और तब केवल ज्ञेयवाले स्वरूप में ही सब जगह अवशिष्ट रह जाता है। इस ज्ञेय को ही 'अधियज्ञ' कहते हैं।'' इस प्रकार सर्वज्ञ श्रीकृष्ण ने जो बातें कहीं, वे सब तत्काल ही बुद्धिमान् अर्जुन की समझ में आ गई। यह देखकर श्रीकृष्ण ने कहा—''हे पार्थ, तुम अच्छी तरह मेरी बातें सुन रहे हो न ?'' श्रीकृष्ण के ये शब्द सुनकर अर्जुन ने अपने आपको परम धन्य समझा। बालक की तृप्ति देखकर माता भी तृप्त होती है और शिष्य का समाधान देखकर गुरु का भी समाधान होता है, और इस बात का ठीक-ठीक अनुभव उस माता अथवा उस गुरु को ही हो सकता है; दूसरों को तो इन बातों की ठीक-ठीक कल्पना भी नहीं हो सकती। इसीलिए अर्जुन के शरीर में सात्त्विक भावों की लहर उठने से पहले ही स्वयं श्रीकृष्ण के शरीर मे सात्त्विक भावों की लहर उठी। वह लहर इतनी प्रबल थी कि किसी प्रकार रोके नहीं रुकती थी। परन्तु फिर भी श्रीकृष्ण ने किसी प्रकार अपनी बुद्धि ठिकाने रखकर पूर्णता को प्राप्त सुगंध के समान अथवा अमृत की परम शीतल लहरों के समान कोमल और रसाल वचन कहने आरम्भ किये। उन्होंने कहा—''भइया श्रोताश्रेष्ठ अर्जुन सुनो। जब एक बार माया इस प्रकार जलने लगती है, तब उस अग्नि में उसे जलाने वाला ज्ञान भी जलकर राख हो जाता है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

''जिसे अधियज्ञ कहते हैं और जिसका वर्णन मैंने अभी तुमसे किया है, उस अधियज्ञ के सम्बन्ध में जो लोग यह समझते हैं कि वह आदि से अन्त तक 'मैं' ही हूं, वे अपने शरीर को उसी घर के समान समझते है जो अवकाश को अपने भीतरी भाग में भी भरे रहता है और स्वयं भी बाहर के उसी अवकाश मे रहता है। बस इसी प्रकार वे लोग ब्रह्मरूप होकर अन्दर और बाहर सब जगह सदा ब्रह्म-स्वरूप में ही निवास करते हैं। जब वे ब्रह्मानुभव के भीतरी घर में दृढ़ निश्चय की कोठरी में प्रवेश करते हैं तब उन्हें ब्रह्म के अतिरिक्त बाहर के और किसी पदार्थ का कुछ भी स्मरण नहीं रहता। इस प्रकार जो लोग अन्दर और बाहर एकरूप होकर मद्रूप हो जाते हैं, उनके लिए बाहर का पंचमहाभूतों वाला देह-रूपी आवरण इस प्रकार गिर जाता है कि उन्हें पता भी नहीं चलता। जिस समय यह शरीर खड़ा रहता है, जब उसी समय उन्हें उसकी कोई चिन्ता नहीं रहती, तब फिर यदि वह गिर पड़े तो भला उन्हें उसके गिरने का क्या दुःख हो सकता है ? अब यदि उनका शरीर गिर भी पड़े या नष्ट भी हो जाय, तो भी उनके ब्रह्मानुभव में तिल मात्र की कमी नहीं होती। उनकी वह अनुभूति मानो एकता की जीती-जागती पुतली ही होती है। वह पुतली नित्यता के चौखटे में बैठाई हुई होती है और समरसता के समुद्र में धोकर वह इतनी स्वच्छ की हुई होती है कि फिर उसमें नाम को भी कहीं मल बाकी नहीं रह जाता। यदि किसी गहरे जलाशय में पानी का घड़ा डुबाया जाय तो वह अन्दर भी पानी से भरा रहता है और बाहर भी—चारों ओर पानी से घिरा रहता है। अब उस अवस्था में यदि वह घड़ा दैवयोग से टूट जाय तो क्या उसके साथ वह जल भी टूट जाता है ? अथवा जिस समय साप अपनी केंचुली छोड़ देता है अथवा गरमी के कारण मनुष्य अपने शरीर पर के वस्त्र उतारकर रख देता है, उस समय क्या कभी उस सांप अथवा मनुष्य के अंगों में भी किसी प्रकार का परिवर्तन या उलट-फेर होता है ? ठीक इसी प्रकार यह नाम-रूपात्मक देह भी नष्ट हो जाता है, परन्तु उसमें की ब्रह्म नामक सद्वस्तु उस देह आदि के

बिना ही स्व-स्वरूप से ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। फिर जो बुद्धि उस ब्रह्म-स्वरूप के साथ समरस होकर स्वयं ब्रह्म ही बन जाती है, वह किस प्रकार छिन्न-भिन्न और अव्यवस्थित हो सकती है ? इसीलिए जो लोग इस प्रकार देहावसान के समय मुझे जानते हुए शरीर छोड़ते हैं, वे मद्रूप ही हो जाते हैं।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥७॥

''साधारणतः यही नियम है कि जिस समय मृत्यु आती है, उस समय मनुष्य अपने मन में जिसका ध्यान या स्मरण करता है, वही वह हो जाता है। जिस प्रकार कोई भयभीत होकर वायुवेग से किसी ओर दौड़ने लगे और दौड़ता हुआ अचानक कुएं में गिर पड़े, उस समय उसके गिरने से पहले उसे संभालने के लिए आगे कोई वस्तु नही रहती, और इसी कारण उसके लिए कुएं में गिरने के सिवा और कोई उपाय ही नहीं रह जाता, उसी प्रकार जब मृत्यु का समय आता है, तब जीव के सामने जो कल्पना आकर खड़ी होती है, उसी कल्पना के रूप के साथ मिल जाने के सिवा उस प्राणी के लिए और कोई उपाय ही नहीं रह जाता। इसी प्रकार जागते रहने की दशा में जीव को जिस बात का बराबर ध्यान बना रहता है, वही बात आंख लगने पर उसे स्वप्न में दिखाई पडती है। इसी प्रकार जीवित अवस्था में जीव की जो लालसा पूरी नहीं होती, उसके प्रति मरने के समय उसका अनुराग बहुत अधिक बढ जाता है। और यह नियम है कि मरने के समय जीव को जिसका स्मरण होता है, उसी की योनि में वह जाता हे। इसीलिए तुम सदा मेरा ही स्मरण रखा करो। तुम अपनी आंखों से जो कुछ देखो, कानों से जो कुछ सुनो, मन मे जो कुछ चिन्तन करो अथवा वाचा से जो कुछ बोलो, वह सब अन्दर और बाहर मद्रूप होकर ही देखो, सुनो, चिन्तन करो और बोलो, मद्रूप होकर ही सब प्रकार के आचरण करो। बस फिर सदा और सब जगह में ही सहज भाव से सिद्ध रहूंगा। हे अर्जुन, यदि तुमसे ऐसा हो सके तो फिर चाहे देह का नाश ही क्यों न हो जाय, परन्तु फिर भी तुम्हें मृत्यु का कुछ भी भय न होगा। फिर भला केवल युद्ध करने से तुम्हें क्या डर हो सकता है ! यदि तुम वास्तविक रूप में अपना मन और बुद्धि मेरे आत्मस्वरूप में अर्पण कर दोगे, तो मैं तुमसे प्रतिज्ञा करता हूं और तुम्हे वचन देता हूं कि तुम मत्स्वरूप ही हो जाओगे। यदि तुम्हारे मन में अभी तक इस बात की शंका बनी ही हो कि यह किस प्रकार होगा, तो तुम पहले से ही इसका अभ्यास करके अनुभव कर लो। और यदि फलसिद्धि न हो तो तुम खुशी से मुझ पर क्रोध कर सकते हो।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

''इसी प्रकार के अभ्यास से यह कर्मयोग चित्त को निर्मल और समर्थ करता है। जिस प्रकार युक्ति के बल से पंगुल आदमी भी पहाड़ पर चढ़ जाता है, उसी प्रकार कर्मयोग के अभ्यास से तुम अपना मन परब्रह्म के मार्ग मे लगाओ। बस फिर मन और शरीर चाहे रहें और चाहे नष्ट हो जायं, उससे कुछ भी हानि न होगी। जो चित्त मनुष्य को अनेक प्रकार की अवस्थाओं में ले जाता है, वह यदि आत्मा में रत हो जाय तो फिर इस बात का ध्यान किसे रह सकता है कि यह शरीर नष्ट हो गया या बचा हुआ है ! जो पानी नदी के प्रवाह के साथ जोरों से बहता हुआ जाकर समुद्र में मिल जाता है, क्या वह कभी यह देखने के लिए लौटकर आता है कि पीछे क्या हो रहा है ? कभी नहीं। वह तो समुद्र के साथ एकरूप होकर उसी में रह जाता है। इसी प्रकार चित्त भी चैतन्य होकर परब्रह्म मे ही रह जाता है।

कवि पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

"जिसमें जन्म-मरण के सब झगड़ों का अन्त हो जाता है, जो परमानन्द-स्वरूप है, जो निराकार होता है जिसमें जन्म और मरण नहीं होता, जो सर्वसाक्षी है, जो आकाश से भी प्राचीन है, जो परमाणु से भी कहीं अधिक छोटा है, जिसके सहवास से विश्व को चेतना प्राप्त होती है, जो इन सब दृश्यों को प्रसव करता है, जिसके कारण यह विश्व जीवित रहता है, जिसके सामने हेतु अर्थात् कार्य-कारण वाला सम्बन्ध खड़ा नहीं रह सकता, जो कल्पना से भी परे है, जो दिन के समय भी चर्मचक्षुओं के लिए उसी प्रकार अन्धकार के समान अदृश्य रहता है, जिस प्रकार दीपक अग्नि में प्रवेश नहीं कर सकता अथवा जिस प्रकार तेज में अन्धकार का प्रवेश नहीं हो सकता, जो पूर्ण रूप से निर्मल किए हुए सूर्यरूपी किरणों की राशि है, जो ज्ञानियों के लिए सदा उदित रहने वाले सूर्य के समान है और जिसके लिए लक्षणा से भी 'अस्तमान' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता, उस निर्दोष और परिपूर्ण स्वरूप वाले ब्रह्म को जो मरने के समय शान्त चित्त से और ज्ञानपूर्वक स्मरण करता है, जो इस बाह्य शरीर से पद्म नाम का योगासन लगाकर और उत्तर दिशा की ओर मुंह करके बैठता है, जो कर्मयोग का शाश्वत सुख पूरी तरह से अपने आपमें भरकर अन्दर-ही-अन्दर एकत्र की हुई मन की शक्ति से और ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति के प्रेम से बहुत शीघ्र आत्मस्वरूप प्राप्त करने के लिए सिद्ध किये हुए योग की सहायता से, सुषुम्ना के बीच वाले मार्ग से, जिस समय अग्निचक्र से ब्रह्मरन्ध्र की ओर जाने लगता है और जिस समय प्राण, वायु महदाकाश में संचार करने लगता है, उस समय देहादि का और चित्त का संयोग जिसे बहुत ही तुच्छ और ऊपरी दिखाई देता है, परन्तु जो मन की शान्ति से संभला रहता है, भक्ति की भावना से भरपूर रहता है और योग की शक्ति से अच्छी तरह सिद्ध हुआ रहता है, वही जड़ और अ-जड़ का लय करता है और भौंहों के मध्य भाग में घूमता रहता है। जिस प्रकार घण्टे का नाद घण्टे में ही लीन हो जाता है अथवा जिस प्रकार किसी बर्तन के नीचे दबाकर रखे हुए दीपक के सम्बन्ध में किसी को यह पता नहीं चलता कि वह कब बुझ गया, उसी प्रकार जो ऐसी शान्त अवस्था में यह शरीर छोड़ जाता है, वही पूर्ण परब्रह्म होता है। परम पुरुष नाम का जो मेरा स्वयंसिद्ध तेजःस्वरूप है, ठीक वही स्वरूप होकर वह रहता है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

"जो सर्वश्रेष्ठ ज्ञान सब प्रकार के ज्ञानों का अन्त और चरम सीमा है, उसी सर्वश्रेष्ठ ज्ञान की खान ज्ञानियों की बुद्धि ने जिसे 'अक्षर' कहा है और जो प्रचंड वायु से भी कभी उड़ नहीं सकता, वही सच्चा आकाश है। यदि यह बात न हो और वह केवल मेघ ही हो, तो भला वह वायु के सामने कैसे ठहर सकता है ? इसीलिए ज्ञाता लोग कहते हैं कि जिसका ज्ञान केवल ज्ञानियों को ही होता है और जिसकी नाप केवल ज्ञान से ही होती है, परन्तु फिर भी जो स्वभावतः अक्षर है, वह कभी जाना नहीं जा सकता। इसीलिए वेदज्ञानी पुरुष जिसे 'अक्षर' कहते हैं और जो प्रकृति से भी परे का है, जो सच्चिदानन्द स्वरूप है और जो विषयों में का विषाक्त अंश निकालकर अथवा पीछे छोड़कर और सब इन्द्रियों को निर्मल करके उदासीन वृत्ति से शरीर की छाया में बैठा हुआ है, वह विरक्त पुरुष भी जिसके लिए सदा उत्सुक रहता है और इच्छाहीन अथवा निरिच्छ पुरुषों को भी जिसकी इच्छा होती है, जिसके प्रति होने वाले अनुराग के कारण कुछ लोग ब्रह्मचर्य के कठोर व्रत के संकटों की भी परवाह न करके कठोरतापूर्वक अपनी इन्द्रियों को निर्बल कर डालते हैं, वह दुर्लभ, अचिन्त्य और अनन्त पद, जिसके किनारे पर ही वेद डूबते रहते

है, वही पुरुष प्राप्त करते हैं जो ऊपर बतलाये हुए प्रकार से अन्त समय में मुझे स्मरण करते हैं। अब, हे अर्जुन, मैं फिर एक बार तुम्हें इस स्थिति के सम्बन्ध की बातें बतलाता हूं।'' इस पर अर्जुन ने कहा—''हे महाराज, मैं तो स्वयं ही सोच रहा था कि आपसे यही प्रार्थना करूं। पर इसी बीच में आपने स्वयं ही मुझ पर यह कृपा की है कि आप यह बात मुझे फिर से बतलाने के लिए कह रहे हैं। अतः हे देव, आप अब वह बात मुझे बतलावें। परन्तु आप जो कुछ कहें, वह बहुत ही सरल और सुगम होना चाहिए।'' उस समय त्रिभुवन को प्रकाशित करने वाले श्रीकृष्ण ने कहा—''अर्जुन, क्या तुम मुझे नहीं पहचानते ? मैं संक्षेप में ही ये सब बातें तुम्हें बतलाता हूं; सुनो। परंतु तुम्हें केवल इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि मन की जो बाहर की ओर दौड़ने की स्वाभाविक टेव है, वह छूट जाय और वह सदा हृदय-रूपी दह में ही स्थिति रहे। बस फिर सब बातें आपसे आप तुम्हारी समझ में आ जायंगी।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमस्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

''परन्तु यह बात होगी कब और कैसे ? यह बात तभी होगी जब इन्द्रियों के सभी दरवाजों को निग्रह अच्छी तरह बन्द कर देगा। उस अवस्था में मन सहज में ही अन्दर-ही-अन्दर दबकर जम जायगा और वह दबाया हुआ मन हृदय में ही पड़ा रहेगा। जिस प्रकार वह व्यक्ति कभी अपना घर छोड़कर कहीं नहीं जाता, जिसके हाथ-पैर टूट जाते हैं और जो लूला-लंगड़ा हो जाता है, उसी प्रकार जब मन भी अच्छी तरह अन्दर बन्द हो जाय, तब मनुष्य को प्राणवायु के द्वारा प्रणव अर्थात् ओंकार का ध्यान करना चाहिए और तब क्रम-क्रम से उस प्राणवायु को ब्रह्मरन्ध्र तक ले आना चाहिए। जिस समय प्राण को ब्रह्मरन्ध्र में ले आते हैं, उस समय धारणा के बल से उसे वहां इस प्रकार स्थिर रखने की आवश्यकता होती है कि वहां इस तरह से रहे कि ब्रह्माकाश में मिलता हुआ-सा हो।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

''इसके उपरान्त अ, उ और म् इन तीन मात्राओं का जब तक अर्ध-मात्रा में लय न हो, तब तक प्राणवायु को चिदाकाश में निश्चल करना चाहिए। इससे ऐक्य प्राप्त होते ही वह सारा ओंकार मूल ब्रह्म में भरा हुआ दिखाई देगा। इससे ओंकार के स्मरण का भी अन्त हो जाता है और प्राणवायु भी लीन हो जाता है। इसके उपरान्त ओंकार से भी परे रहने वाला केवल शुद्ध ब्रह्मानन्द स्वरूप ही बच रहता है। इसलिए ओंकार ही मेरा एकाक्षर ब्रह्म स्वरूप है। जो मेरे इस स्वरूप का चिन्तन करता हुआ यह जड़ शरीर छोड़ता है, वह निस्संदेह मेरा शुद्ध शरीर प्राप्त करता है; और जब वह स्वरूप प्राप्त हो जाता है, तब इससे आगे प्राप्त करने योग्य और कोई वस्तु बाकी ही नहीं रह जाती। अब, हे अर्जुन, यदि तुम्हारे मन में इस प्रकार की शंका उत्पन्न हो कि—'यह कैसे समझा जाय कि अन्तिम काल में वह स्मरण होगा ही, जिस समय सब इन्द्रियां शिथिल हो गई हों, जीवन का सारा सुख और समाधान नष्ट हो गया हो, इस प्रकार के स्पष्ट लक्षण दिखलाई पड़ने लग गये हों कि अन्दर और बाहर दोनों ओर मृत्यु ने अच्छी तरह ग्रस लिया है। उस समय आसन लगाकर कौन बैठ सकता है और इन्द्रियों का निरोध कौन कर सकता है और मनुष्य किसके अन्तःकरण से ओंकार का चिन्तन करे ? ये सब बातें तो असंभव ही हैं।' तो तुम्हें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जो लोग सदा अखंड रूप से मेरा चिन्तन करते रहते हैं, उनके अन्तिम समय में मैं स्वयं ही दासों की तरह उनके काम आता हूं।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

"जो लोग विषयों का अंत करके और बंधक कर्म-प्रवृत्ति के पैरों में बेड़ियां डालकर निरन्तर मुझे ही अपने हृदय में रखते हैं और मेरे स्वरूप के सुख का उपभोग करते हैं और इस सुखोपभोग का सेवन करने की अवस्था में जिन्हें भूख और प्यास भी नहीं लगती, फिर नेत्र हिलाने के समान छोटी-मोटी बातों का तो पूछना ही क्या है, और इस प्रकार जो लोग निरन्तर मेरे स्वरूप में एकाग्र होकर मिले रहते हैं और हृदय से मेरे साथ लगकर मत्स्वरूप ही हुए रहते हैं, उन लोगों के सम्बन्ध में भी यदि यही बात हो कि देहपात के समय जब वे मेरा स्मरण करें, केवल तभी वे मुझे प्राप्त कर सकें, तो फिर उपासना का महत्त्व ही क्या रह जायगा ? यदि कोई दीन प्राणी संकट में पड़कर शुद्ध हृदय से मुझे पुकारे और कहे कि—'हे नारायण, जल्दी आकर मेरी सहायता करो।' तो क्या उसकी यह पुकार सुनकर और उसके दुःख से विकल होकर मैं उसकी सहायता करने के लिए नहीं दौड़ पड़ता ? अब यदि मैं अपने एकनिष्ठ भक्तों की भी ऐसी ही अवस्था होने दूं और अन्त समय में तभी उनके पास पहुंचूं, जब वे मेरा स्मरण करें, तो फिर भक्ति करने की कामना किसे रह जायगी ? इसीलिए मैं कहता हू कि इस प्रकार की शंका को तुम क्षण-भर के लिए भी अपने मन मे स्थान मत दो। वे भक्त जिस समय मुझे स्मरण करेंगे, उसी समय मुझे दौड़कर उनके पास पहुंचना पड़ेगा। उस एकनिष्ठ उपासना का भार यों ही मुझसे सहन नहीं हो सकता। मेरे सिर पर उन लोगों की उस भक्ति का ऋण रहता है और वही ऋण चुकाने के लिए भक्तों के अन्तिम समय में उनकी सेवा के लिए मुझे बहुत ही तत्परतापूर्वक उद्यत होना पड़ता है। मुझे यह भय रहता है कि मेरे उन कोमल भक्तों को शरीर की दुर्बलता के कारण कहीं किसी प्रकार की पीड़ा न हो; और इसीलिए मैं उन लोगों को आत्मज्ञान के पिंजरे में सुरक्षित रूप से रखता हूं; और उन पर आत्मस्मरण की शान्त तथा शीतल छाया रखता हूं। और इस प्रकार मैं उनकी बुद्धि निरन्तर स्थिर और शान्त कर देता हूं। इसीलिए मेरे भक्तों को देहावसान के समय नाम को भी कोई कष्ट नहीं होता। अपने उन परम प्रिय भक्तों को मैं सहज में ही अपने स्वरूप की ओर ले आता हूं। उनके ऊपर शरीर का जो बाहरी कवच लगा रहता है, उसे मैं हटा देता हूं, उन पर से झूठे अहंभाव की धूल झाड़ देता हूं और उनकी शुद्ध वासना को निर्लिप्त रखकर उन्हें अपने स्वरूप के साथ मिला लेता हूं। इसके अतिरिक्त भक्तों को भी एकता के भाव के कारण अपने शरीर के लिए विशेष ममता नहीं होती और इसलिए अपने शरीर का त्याग करते समय उन्हें भी उसके वियोग का दुःख नहीं होता। इसी प्रकार उन भक्तों के मन में यह भाव भी नहीं होता कि देहपात होते ही मैं उनके पास पहुंच जाऊं और उन्हें आत्मस्वरूप में ले आऊं क्योंकि देहधारी रहने की अवस्था में ही वे मेरे स्वरूप में मिले रहते हैं। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो इस संसार में उनका जो अस्तित्व होता है, वह शरीर-रूपी जल में केवल छाया के समान ही होता है। जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ता है। पर जब वह जल नष्ट हो जाता है, तब वह प्रतिबिम्ब वास्तव में आपसे आप चन्द्रमा में ही चला जाता है। ठीक इसी प्रकार जब इस शरीर-रूपी जल का अन्त हो जाता है, तब वे लोग वास्तव में आत्मस्वरूप में ही रहते हैं। इस संसार में उनका जो अस्तित्व होता है, वह वास्तविक नहीं होता, बल्कि केवल प्रतिबिम्ब के समान होता है और उनका वास्तविक स्वरूप ब्रह्मस्वरूप ही होता है। इस प्रकार जो लोग मद्रूप हुए रहते हैं, उन्हें मैं सदा अनायास ही प्राप्त होता हूं और इसीलिए देहावसान के समय वे मेरा स्वरूप प्राप्त करते हैं। इस बात में कुछ भी सन्देह नहीं है। फिर जो शरीर क्लेश वृक्षों का आगार है, जो आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकार के तापों की केवल अंगीठी ही है, जो मृत्यु-रूपी काक के आगे रखी हुई केवल बलि है, जो विपुल मात्रा में

दीनता का प्रसव या उत्पत्ति करता है, दुःखों को बढ़ाता है और समस्त दुःखों का भांडार बनता है, जो दुष्ट बुद्धि का आदि कारण है और भ्रान्ति की प्रत्यक्ष मूर्ति है, जो संसार का मूल आधार है, जो विकारों का, क्रीड़ा-स्थल और सब प्रकार के रोगों का खाद्य है, जो काल की जूठी खिचड़ी, आकाश का आश्रय-स्थल और जन्म तथा मरण का उपजाऊ खेत है, को भ्रम से भरा हुआ, विकल्प से बना हुआ और दुःख रूपी बिच्छुओं से बिलकुल भरा हुआ है, जो बाघ की गुफा, वीरांगनाओं के साथ रहने वाला और विषय-भोग का सर्वमान्य साधन है, जो यक्षिणी के प्रेम के समान अथवा ठंडे किये हुए विष के घूंट के समान अथवा ठग के दिखौआ विश्वसनीय सद्व्यवहार के समान है, जो कुष्ठ के रोगियों का आलिंगन, काल-सर्प की कोमलता और बहेलिये का स्वाभाविक गान है, को शत्रु द्वारा किया हुआ आतिथ्य-सत्कार, दुर्जनों के द्वारा दिखलाया हुआ आदर-सत्कार है, अथवा जो समस्त अनर्थों का समुद्र है, जो निद्रा में देखे हुए स्वप्न के समान है, जो मृग-जल से सींचा हुआ वन अथवा धुएं के कणों से बना हुआ आकाश है, वह शरीर वे लोग फिर कभी प्राप्त नहीं करते जो एक बार मेरे असीम ब्रह्मस्वरूप में पहुंचकर तद्रूप हो जाते हैं।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥
सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

''साधारणतः जिन लोगों को अपने ब्रह्मज्ञान का अभिमान होता है, वे भी अपने जन्म-मरण के चक्र का कभी अन्त नहीं कर सकते। लेकिन जिस प्रकार मरे हुए आदमी के पेट में दर्द नहीं होता अथवा जिस प्रकार जाग उठने पर कोई स्वप्न में देखी हुई बाढ़ में नहीं डूब सकता, उसी प्रकार जो लोग मद्रूप में आ पहुंचते हैं, वे संसार के मल में कभी नहीं फंसते। व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर जो ब्रह्म-भुवन इस नाम-रूपात्मक संसार का मस्तक है, जो चिरस्थायी गुणों में अत्यन्त श्रेष्ठ है और विश्व रूपी पर्वत का सबसे ऊंचा शिखर है, जिस ब्रह्म-भुवन का एक पहर दिन चढ़ने तक एक इन्द्र की आयुष्य भी नहीं टिकती और जिसका एक दिन पूरा होने में चौदह इन्द्रों की पंक्ति क्रम-क्रम से उदित होकर अन्त में अस्त हो जाती है, चार युगों की हजार चौकड़ियां बीतने पर जिस ब्रह्म-भुवन का एक दिवस होता है और इसी प्रकार की और भी एक हजार चौकड़ियां बीतने पर जिसकी एक रात होती है और जहां के दिन और रात का भान इस प्रकार का है, उस ब्रह्म-भुवन में पहुंचकर भाग्यवान् पुरुष कभी नहीं मरते और वे स्वर्ग में चिरजीवी होकर सब कुछ देखते रहते हैं। वहां सामान्य देवगणों के सम्बन्ध में भला क्या कहा जाय ! जरा यह देखो कि समस्त देवताओं का राजा जो इन्द्र है, स्वयं उस इन्द्र की ही वहां क्या दशा होती है ! एक ही दिन में चौदह-चौदह इन्द्र आते और चले जाते हैं। परन्तु जो लोग ब्रह्मदेव के भी आठ पहरों वाला दिवस स्वयं अपनी आंखों से देखते हैं, उन्हें 'अहोरात्रविद्' कहते हैं।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

''उस ब्रह्मलोक में जब दिन निकलता है, तब ऐसे निराकार ब्रह्म का, जिसकी गणना भी नहीं की जा सकती, यह नाम-रूपात्मक साकार विश्व बनता है। जब उस ब्रह्म-भुवन के दिवस में चार पहर पूरे हो जाते हैं, तब इस नाम-रूपात्मक विश्व का पूर्ण रूप से नाश हो जाता है; और फिर जब उस ब्रह्म-भुवन का दिन चढ़ता है, तब इस

विश्व का पुन. निमाण होने लगता है। जिस प्रकार शरद् ऋतु का प्रारम्भ होते ही सब मेघ आकाश में ही अदृश्य हो जाते हैं और फिर ग्रीष्म ऋतु के अन्त में जिस प्रकार का वे फिर उसी आकाश में उत्पन्न होकर दिखाई पड़ने लगते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मा के दिवस के आरम्भ में इस पंचभूतात्मक सृष्टि का उदय होता है; और जब तक उस दिवस की सहस्र युग चौकड़ियों की संख्या पूरी नहीं हो जाती, तब तक इस सृष्टि-समुदाय का अस्तित्व रहता है फिर जब ब्रह्मा की रात्रि का समय आता है, तब इस भूतात्मक साकार विश्व का उस अव्यक्त ब्रह्मतत्त्व में लोप हो जाता है। ब्रह्मा का यह रात्रिकाल भी सहस्र युग चौकड़ियों का ही है। जब उस रात्रिकाल का अन्त हो जाता है, तब फिर पहले की तरह नाम-रूपात्मक विश्व की रचना होने लगती है। परन्तु इन सब बातों के कहने का अभिप्राय क्या है ? इसका अभिप्राय यही है कि इस ब्रह्मभुवन के एक दिवस और रात्रि में जगत् का उदय और प्रलय होता है। इस ब्रह्मभुवन का विस्तार इतना अधिक है कि उसमें समस्त विश्व का बीज सन्निहित है, परन्तु इस ब्रह्मभुवन के भी अन्त में जन्म-मरण के चक्र में पड़ना ही पड़ता है। हे अर्जुन, सच तो यह है कि उस ब्रह्मा के नगर का वह विश्व-रूपी बाजार दिन निकलते ही लग जाता है और जब रात्रिकाल आता है, तब वह बाजार आपसे आप उठ जाता है। तात्पर्य यह कि यह अपने मूल बीज में ही जाकर समा जाता है और उसी के साथ मिलकर एक हो जाता है। जिस प्रकार वृक्ष भी अन्त में बीज में ही लीन होता है अथवा जिस प्रकार मेघ का पर्यवसान गगन में होता है, उसी प्रकार अनेकत्व का भेदभाव जिस स्थिति में एकरूप होकर समा जाता है, उसी स्थिति का नाम 'साम्य' है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥२०॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥२१॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥२२॥

"इस साम्य में न तो किसी की न्यूनता रहती है और न किसी की अधिकता होती है, इसीलिए उसमें 'भूत' शब्द के लिए भी कोई स्थान नहीं रहता। जिस प्रकार दही का रूप धारण कर लेने पर दूध के नाम और रूप का लोप हो जाता है, उसी प्रकार जब जगत् के आकार का उस साम्य में लोप हो जाता है, तब संसार की ससारता का भी अन्त हो जाता है। परन्तु फिर भी जिस बीज से उस साकार की उत्पत्ति हुई थी, उस बीज में साम्य स्थिति में वह ज्यों-का-त्यों बना रहता है। उस समय स्वभावतः उसका नाम 'अव्यक्त' रहता है और उस अव्यक्त से जिसका आकार बनता है, उसी को 'व्यक्त' कहते हैं। ये दोनों नाम केवल समझने के लिए बतलाये जाते हैं। परन्तु यदि वास्तव में देखा जाय तो वे दोनों कोई अलग-अलग वस्तुएं नहीं हैं। सोना जब यों ही गलाकर ढाल दिया जाता है, तब उसको पासा कहते हैं। परन्तु जब उस सोने का आभूषण बन जाता है, तब उस पासे का वह पुराना और अनगढ़ आकार नष्ट हो जाता है। परन्तु जिस प्रकार ये दोनों ही विकार उसी मूलभूत और एक स्वरूप सोने के ही होते हैं, उसी प्रकार व्यक्त और अव्यक्त ये दोनों विकार भी उस एक परब्रह्म में ही होते हैं। परन्तु वह परब्रह्म न तो व्यक्त ही है और न अव्यक्त ही है। वह नित्य भी नहीं है और अनित्य भी नहीं है। वह इन दोनों ही विकारों से परे और अनादि-सिद्ध है। वह स्वयं ही सारा विश्व हो जाता है, परन्तु विश्व के नष्ट हो जाने पर भी उसका नाश नहीं होता। जिस प्रकार लिखे हुए अक्षर यदि पोंछ डाले जायं तो भी उनका अर्थ नहीं पोंछा जाता अथवा जिस प्रकार लहरें उत्पन्न होती हैं और फिर विलीन हो जाती हैं, परन्तु पानी फिर भी अपने स्वरूप में अखंड रहता है;

उसी प्रकार भूतों का नाश हो जाने पर भी जो अविनाशी रहता है, अथवा उस अलंकार में जिसका स्वरूप गलाकर नष्ट किया जा सकता है, वह सोना रहता है जिसका स्वरूप गलाने पर भी नष्ट नहीं होता और किसी-न-किसी रूप में बना रहता है, उसी प्रकार जीव-रूपी साकार वस्तु का अन्त हो जाने पर भी जो सदा अमर ही रहता है, जिसे समझने के लिए यदि चाहें तो कौतुक से अव्यक्त कह सकते हैं, परन्तु जिसके सम्बन्ध में यह वर्णन या विशेषण उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि वह मन या बुद्धि के अधिकार में ही नहीं आता और आकार धारण करने पर भी उसकी निराकारता का लोप नहीं होता और आकार का लोप हो जाने पर भी जो शाश्वत रूप में बना रहता है और इसीलिए जिसे 'अक्षर' कहते हैं और इसी नाम से जिसके नाशरहित होने का बोध होता है और उसके आगे और कोई मार्ग ही न रह जाने के कारण जिसे परम गति कहते हैं, परन्तु जो इन देह-रूपी नगरों में सोया हुआ-सा रहता है, वही अव्यक्त ब्रह्म है। क्योंकि वह न तो कोई कर्म कराता ही है और न स्वयं करता है, पर फिर भी, हे अर्जुन, शरीर के जितने व्यापार तथा व्यवहार हैं, उनमें से एक भी व्यापार या व्यवहार बन्द नहीं होता और दसों इन्द्रियों के मार्ग समान रूप से चलते रहते हैं। मन के चौराहे पर विषयों का बाजार खुलता है और उसके सुखों और दुःखों का राज-भाग अन्दर रहने वाले जीव को भी प्राप्त होता है। परन्तु फिर भी जैसे राजा के सुख से सोये रहने पर भी देश के समस्त व्यापार तथा व्यवहार बन्द नहीं हो जाते और प्रजाजन अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सब उद्योग तथा कार्य करते ही रहते हैं, इसी प्रकार बुद्धि का जानना, मन का लेन-देन, इन्द्रियों के कर्म, वायु का चलन आदि शरीर के समस्त व्यापार उसके न करने पर भी खूब अच्छी तरह चलते रहते हैं। जिस प्रकार सूर्य के न चलाने पर भी समस्त लोक आपसे आप चलते रहते हैं, हे अर्जुन, उसी प्रकार इस शरीर में सोये हुए के समान रहने पर भी जिसे लोग 'पुरुष' कहते हैं और पतिव्रता प्रकृति के साथ एक पत्नीव्रत से रहने के कारण भी जिसे 'पुरुष' कहा जा सकता है और इतनी व्यापक बुद्धि रखने वाले वेद भी जिसका आंगन तक नहीं देख सकते, फिर प्रत्यक्ष घर को देखने की बात तो बहुत दूर है, और जो इतना अधिक व्यापक है कि समस्त गगन को भी ढंक लेता है, इस प्रकार अपने मन में लाकर श्रेष्ठ योगीजन जिसे 'परात्पर' कहते हैं, जो एकनिष्ठ और ऐकान्तिक भक्तों के घर आप ही ढूंढ़ता हुआ आता है, जो काया, वाचा या मन से भी दूसरी बात की ओर ध्यान ही नहीं देता, ऐसे एकनिष्ठ भक्तों को जो निरन्तर फसल देने वाला उर्वर खेत है, जिसके मन में इस बात का स्वाभाविक निश्चय हो चुका है कि यह सारा त्रिभुवन केवल ब्रह्म ही है, उस श्रद्धावान भक्त का जो आराम-स्थान है, जो निरभिमानियों को बड़प्पन या महत्त्व देता है, जो गुणहीनों को ज्ञान देता है और जो निस्पृहों को सुख का साम्राज्य देता है, जो सन्तुष्टों को अन्न से भरा हुआ थाल देता है, जो संसार के विषयों से निश्चिन्त रहने वाले निराश्रितों की माता के समान रक्षा करता है और जिसके घर तक पहुंचने का सरल मार्ग केवल भक्ति ही है वही वह अव्यक्त और अक्षर ब्रह्म है। हे अर्जुन, इस प्रकार के वर्णन करके मैं क्यों व्यर्थ विस्तार करूं ! तात्पर्य यह कि जिस स्थान पर पहुंचते ही जीव तद्रूप हो जाता है, जिस प्रकार ठंडक के कारण गरम पानी भी बिलकुल ठंडा हो जाता है अथवा सूर्य के सामने आते ही जिस प्रकार अन्धकार भी प्रकाश में परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार जिस स्थान पर पहुंचते ही संसार का बिलकुल मोक्ष ही हो जाता है अथवा जिस प्रकार अग्नि में पड़ने वाली लकड़ी भी अग्नि-रूप ही हो जाती है, फिर चाहे कुछ ही क्यों न किया जाय, और कितना ही क्यों न ढूंढ़ा जाय, पर फिर भी उसका लकड़ीपन कहीं नहीं मिलता। अथवा, हे अर्जुन, एक बार ऊख के रस से शक्कर बन जाने पर चाहे कितना ही बुद्धिमान और कुशल पुरुष क्यों न हो, परन्तु फिर उस शक्कर से ऊख नहीं बना सकता अथवा पारस के स्पर्श से एक बार लोहे से सोना बन जाने पर फिर लाख उपाय करने पर भी उस लोहे का वह लोहापन लौटकर नहीं आ सकता जो पहले नष्ट हो चुका होता है, अथवा एक बार दूध से घी बन जाने पर फिर उससे कभी दूध नहीं बनाया जा सकता, उसी प्रकार

जहां पहुंचकर मिल जाने पर फिर जन्म और मृत्यु की आवृत्ति बाकी नहीं रह जाती, वही वास्तव में मेरा सर्वश्रेष्ठ स्थान है। और अपने हृदय का यह गूढ़ भाव मैं तुम्हें खोलकर और स्पष्ट करके दिखला रहा हूं।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

"देहावसान के समय योगी पुरुष मेरे जिस स्वरूप में मिल जाते हैं, वह स्वरूप और भी एक प्रकार से सहज से समझा जा सकता है। यदि कभी अकस्मात् देह-पात हो जाय अथवा किसी अनुचित समय में देहपात हो जाय, तो फिर देह धारण करना आवश्यक होता है। परन्तु यदि शास्त्रोक्त शुद्ध समय में वह देह-विसर्जन करे, तो देह-विसर्जन करते ही वह ब्रह्मरूप हो जाता है। परन्तु यदि असमय में देहपात हो तो उसे पुनः जन्म और मरण के बन्धन में पड़ना पड़ता है। इसलिए 'सायुज्य' अर्थात् परब्रह्म के साथ एकरूप होना और पुनरावृत्ति अर्थात् बार-बार जन्म और मरण के फेर में पड़ना ये दोनों ही बातें देहपात के समय पर निर्भर करती हैं। इसीलिए इस प्रसंग में तुम्हें देहपात के समय का तत्त्व बतला देना चाहता हूं। हे अर्जुन, सुनो; जिस समय मृत्यु की तन्द्रा आती है, उस समय पंचमहाभूत अपने-अपने रास्ते से निकलकर चलते बनते हैं। अतः जब देह-विसर्जन का समय आवे, तब बुद्धि भ्रान्त न हो, स्मृति अन्धी न हो जाय और शरीर के साथ-ही-साथ मन भी न मर जाय, ब्रह्मस्वरूप के अनुभव का कवच मिल जाय और पंच-प्राण नामक यह चेतना-समूह बिलकुल ठीक अवस्था में रहे और पूरा-पूरा काम दे और इसी प्रकार अन्तरिन्द्रियों का समुदाय भी ठीक अवस्था में रहे और पूरा-पूरा काम दे और प्राणों के प्रयाण के समय तक ज्यों-का-त्यों बना रहे, आदि। इन सब बातों के लिए यह बात बहुत ही आवश्यक है कि शरीर के अन्दर की अग्नि अर्थात् उष्णता बराबर अन्त तक बनी रहे। देखो, यदि हवा के झोंके या पानी के थपेड़े से दीपक की ज्योति बुझ जाय और उसकी दीपकता अर्थात् प्रकाश देने की शक्ति नष्ट हो जाय तो फिर यदि अपनी दृष्टि अच्छी भी हो तो भी भला उसे क्या दिखलाई पड़ सकता है ! इसी प्रकार देहपात के समय के भयंकर वात-प्रकोप से जब शरीर का अंदर और बाहर सब कफ से व्याप्त हो जाता है, जब शरीरगत उष्णता की कला बुझ जाती है, उस समय स्वयं प्राणों में भी प्राण नहीं रह जाते, फिर बुद्धि का तो कुछ कहना ही नहीं है। बिना शरीरगत उष्णता के शरीर में जीवन-तत्त्व रह ही नहीं सकता। जब इस शरीर की उष्णता ही नष्ट हो गई, तब यह शरीर ही क्यों और कैसे रह सकता है ! उस अवस्था में तो इसे कीचड़ या गीली मिट्टी का गोला ही समझना चाहिए। ऐसी अवस्था में आयुष्य का काल अंधेरे में पड़कर व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है और यह पता ही नहीं चलता कि कब इस शरीर का अन्त होगा। अब ऐसी अवस्था में जब मनुष्य अपने मन में यह विचार करता है कि मैं अपना पुराना स्मरण जाग्रत रखूं और शरीर छोड़कर आत्मस्वरूप में मिल जाऊं, त्योंही कफ आदि के कारण कीचड़ बनी हुई इस शरीर की जीवनकला नष्ट हो जाती है और अगली-पिछली सारी स्मृति जाती रहती है। इसीलिए जिस प्रकार धन का भांडार दिखाई पड़ने से पहले ही किसी के हाथ का दीपक बुझ जाय, उसी प्रकार पहले से किया हुआ योगाभ्यास मृत्यु आने से पहले ही नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान का मूल आधार शरीरगत उष्णता ही है और प्राणों के प्रयाण के समय इस शरीरस्थ अग्नि के भरपूर बल की आवश्यकता होती है।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

"उस समय शरीर के अन्दर तो अग्नि की ज्योति का प्रकाश रहना चाहिए और बाहर शुद्ध पक्ष, दिवस और उत्तरायण के छः महीनों में से कोई महीना होना चाहिए और इस प्रकार सभी अच्छे योग मिलने चाहिए। ऐसे अच्छे योग में जो ब्रह्मज्ञानी देहत्याग करते हैं, वे ब्रह्मस्वरूप में मिल जाते हैं। हे अर्जुन, स्मरण रखो, इस योग का इतना

अधिक माहात्म्य है और यही मोक्ष के नगर में पहुंचने का सरल मार्ग है। इस मार्ग की पहली सीढ़ी शरीरगत अग्नि, दूसरी सीढ़ी उस अग्नि की ज्योति, तीसरी सीढ़ी दिन का समय, चौथी सीढ़ी शुद्ध पक्ष और इसके बाद पांचवीं या सबसे ऊपर की सीढ़ी उत्तरायण के छः महीनों में से कोई एक महीना है। इसी पांच सीढ़ियों वाले मार्ग से योगीजन ऐक्य के मोक्ष-सदन में पहुंचते हैं। इसीलिए इन्हें देहपात का उत्तम समय समझो। इसी को अर्चिरादि (अर्थात् सूर्य की किरणों वाला मार्ग) कहते हैं। अब मैं तुम्हें यह भी बतला देता हूं कि देहत्याग के लिए अयोग्य समय कौन-सा है। सुनो।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

"मरने के समय वायु और कफ का प्रकोप होता है, जिससे अन्तःकरण में अन्धकार भर जाता है। उस समय सब इन्द्रियां लकड़ी की तरह जड़ हो जाती हैं, स्मृति भ्रम में पड़ जाती है, मन बहुत ही चंचल और क्षुब्ध हो जाता है और प्राण चारों ओर से दबकर घुटने लगते हैं। शरीरस्थ अग्नि का तेज नष्ट हो जाता है और चारों ओर केवल धुआं-ही-धुआं फैल जाता है जिससे शरीर की जीवन-कला का अन्त हो जाता है। जिस प्रकार चन्द्रमा के सामने जल से भरा हुआ काला बादल आ जाने पर न तो पूरा-पूरा अंधेरा ही रहता है और न पूरा-पूरा उजाला ही रहता है, बल्कि कुछ-कुछ धुंधला-सा प्रकाश रहता है, उसी प्रकार उस समय जीव में एक ऐसी स्तब्धता-सी आ जाती है जिसमें वह मरा हुआ भी नहीं होता और न होश में ही रहता है; और उसका जीवन मरने के किनारे पर पहुंचकर रुक-सा जाता है। इस प्रकार जब उसी जीवन पर चारों ओर से मन, बुद्धि और इन्द्रियों का दबाव पड़ता है, तो फिर जन्म भर के परिश्रम से प्राप्त किया हुआ फल बिलकुल व्यर्थ हो जाता है। और जब हाथ में आई हुई वस्तु भी गंवा दी जाती है, उस समय यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि वह वस्तु फिर से उस समय अर्जित की जा सकती है। बस प्राणों के प्रयाण के समय इसी प्रकार की दुर्दशा होती है। यह तो हुई शरीर की भीतरी अवस्था। अब यदि बाहर की परिस्थिति भी इसी प्रकार प्रतिकूल हो, अर्थात् कृष्ण पक्ष हो, रात का समय हो, और उस पर भी दक्षिणायन के छः महीनों में से कोई महीना हो, अर्थात् जिसके प्राणों के प्रयाण के समय जन्म और मरण का चक्र प्रचलित रखने वाले इस प्रकार के लक्षण एक साथ एकत्र हों, भला उसके कानों को ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति की बात कैसे सुनाई पड़ सकती है ! जिस मनुष्य का देहपात ऐसी दुरवस्था में होता है, वह यदि बहुत होता है तो केवल चन्द्रलोक तक ही जा सकता है और फिर कुछ काल के उपरान्त इसी लोक के झगड़ों में आकर फंस जाता है। मैंने जिसे प्राण-प्रयाण के लिए 'अकाल' कहा है, वह यही है। और जन्म-मरण के ग्राम तक पहुंचाने वाला यही कष्टप्रद 'धूम्रमार्ग' है। इसके अतिरिक्त जो दूसरा अर्चिरादि नाम का मार्ग है, वह खूब रौनक वाला, स्वतन्त्र, सब प्रकार की शान्ति और सुख से युक्त और ठेठ निवृत्ति (अर्थात् मोक्ष) तक पहुंचाने वाला है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

"इस प्रकार शुक्ल और कृष्ण अथवा अर्चिरादि और धूम्र नाम के योगीजनों के दो मार्ग अनादि काल से चले आ रहे हैं। इनमें से पहला मार्ग सरल या सीधा और दूसरा टेढ़ा-मेढ़ा है, इसीलिए मैंने बुद्धि के द्वारा ही उनका विस्तृत वर्णन करके तुम्हें बतलाया है। इसमें हेतु यही है कि तुम सुमार्ग और कुमार्ग को देख लो, अच्छे और बुरे का निर्णय कर लो, हित और अहित समझ लो और तब अपने कल्याण का साधन करो। देखो, यदि किसी को बढ़िया और मजबूत नाव दिखाई पड़ती हो, तो क्या फिर वह कभी किसी अथाह दह में कूदेगा ? अथवा यदि किसी को कोई सुभीते का, खूब चलता हुआ और बढ़िया रास्ता मालूम हो, तो क्या वह किसी जंगल के टेढ़े-मेढ़े और

खराब रास्ते पर पर रखेगा ? जो अमृत और विष का भेद समझता हो वह क्या कभी अमृत को उठाकर दूर फें देगा ? इसी प्रकार जिसे सरल मार्ग दिखाई पड़ता हो, वह कभी टेढ़े-तिरछे और खराब रास्ते पर नहीं जायगा। इस प्रकार अच्छी तरह इस बात की परख कर लेनी चाहिए कि सत्य क्या है और मिथ्या क्या है अथवा अच्छा क्या है और बुरा क्या है, और जो इस बात की अच्छी तरह परख कर लेता है, कोई विकट प्रसंग आ पड़ने पर उसकी कुछ भी हानि नहीं होती। और नहीं तो देहपात के समय बहुत बड़ा अनर्थ हो जाता है और इन दोनों मार्गों के सम्बन्ध में भ्रान्ति होने के कारण बड़ी खराबी होती है, और जन्म-भर जिस योग का अभ्यास किया जाता है, वह बिलकुल व्यर्थ ही चला जाता है। यदि अन्त समय में जीव अर्चिरादि मार्ग भूल जाय और धूम्र मार्ग में लग जाए तो फिर संसार के बन्धन में बंधना पड़ता है और जन्म-मरण के चक्र में पड़कर भटकना पड़ता है। मुझे इन दोनों योगमार्गों को इसलिए स्पष्ट करके दिखलाने की आवश्यकता पड़ी है जिसमें तुम्हारे ध्यान में इस अवस्था के महाकष्ट आ जायं और तुम यह समझ लो कि इन सब कष्टों का किस तरह बिलकुल अन्त किया जा सकता है। इन दोनों मार्गों में से एक मार्ग के द्वारा जीव ब्रह्मस्वरूप का महत्त्व प्राप्त करता है और दूसरे मार्ग द्वारा वह जन्म-मरण के बखेड़ों में फंसता है। परन्तु जिसको इन मार्गों में से जो मार्ग दैवयोग से प्राप्त हो जाय, वही उसका मार्ग है।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

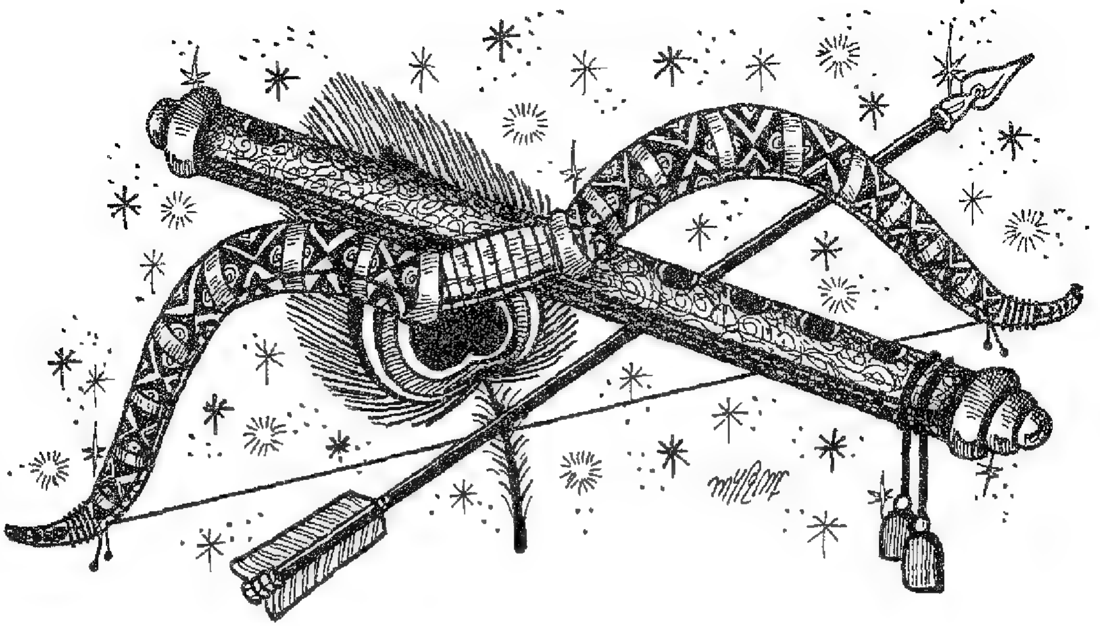
"यहां इस प्रकार की शंका हो सकती है कि देह-पात के समय ठीक-ठीक वही सब बातें तो हो ही नहीं सकतीं जो हम चाहते हैं। जो कुछ हमें प्राप्त होने को होता है, वही अकस्मात् दैवयोग से प्राप्त होता है। ऐसी अवस्था में यह कैसे सम्भव है कि हम इनमें से एक ही मार्ग से चलकर ब्रह्मस्वरूप हो सकें ? इसका उत्तर यह है कि मनुष्य को सदा यही समझना चाहिए कि चाहे शरीर जाय और चाहे रहे, परन्तु हम ब्रह्मस्वरूप ही हैं। बात यह है कि डोरी में जो सर्प का आभास होता है, उसका मूल कारण भी डोरी ही होती है। क्या कभी पानी को इस बात का भान होता है कि हमसे तरंगता है या नहीं ? चाहे उसमें तरंग रहे और चाहे न रहे, पर वह हर समय पानी ही रहता है। वह न तो तरंग के उत्पन्न होने के साथ उत्पन्न ही होता है और न तरंग का नाश होने के साथ वह नष्ट ही होता है। इसी प्रकार जो लोग देह-धारण किये रहने की अवस्था में भी ब्रह्मस्वरूप ही होते हैं, उन्हीं को 'विदेही' कहना चाहिए। अब यदि ऐसे विदेही पुरुष में शरीर का नाम-ग्राम ही न बच रहा हो, तब क्या उनका किसी समय मरना सम्भव है ! तात्पर्य यह कि ऐसे लोग वास्तव में कभी मरते ही नहीं। फिर उन्हें मार्ग ढूंढ़ने की क्या आवश्यकता है और उनके लिए कहां-से-कहां और कब जाना हो सकता है ! क्योंकि उनके लिए तो समस्त देशकाल आत्मरूप ही हुए रहते हैं। और फिर देखो कि जिस समय घड़ा फूटता है, उस समय यदि घट में का आकाश सरल मार्ग से जाय, तो भी वह आकाश तत्त्व में ही मिलता है। उस घट का आकाश चाहे जिस मार्ग से जाय, पर क्या कभी यह सम्भव है कि आकाश तत्त्व में न मिले ? वास्तव में, बात केवल यही है कि जब उस घड़े का नाश होता है, तब उसका केवल आकार नष्ट होता है और उसमें जो मूल आकाश रहता है, वह घट का आकार बनने से पहले भी रहता है और घट का नाश हो जाने पर भी वह ज्यों-का-त्यों बना रहता है। अब जो योगी इस प्रकार के ब्रह्मज्ञान की सहायता से ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं, उनके लिए इस बात का कोई झगड़ा ही नहीं रह जाता कि मार्ग कौन-सा है और अ-मार्ग कौन-सा है। इसीलिए हे अर्जुन, तुम निरन्तर योगयुक्त होकर रहो। बस इससे तुम्हें आपसे आप

ब्रह्मस्वरूप प्राप्त हो जायगा। फिर इस देह का बन्धन जब तक चाहे, तब तक रहे और जब चाहे, तब नष्ट हो जाय, पर तुम्हारे अनिर्बन्ध या स्वतन्त्र ब्रह्मस्वरूप में तिल मात्र भी बाधा नहीं हो सकती। वह ब्रह्मस्वरूप न तो विश्व-रचना के समय ही जन्म के बन्धन में पड़ता है और न विश्व का प्रलय होने पर भी वह मरण के ही बन्धन में पड़ता है। और न कल्पादि तथा कल्पान्त के बीच वाले समय में ही इस प्रकार के मोह में पड़ता है कि वह स्वर्ग है और यह संसार है। जो इस प्रकार का बोध प्राप्त करके योगी होता है, वही इस बोध का ठीक-ठीक और पूरा-पूरा उपयोग कर सकता है, क्योंकि वह विषय-भोगों पर लात मार आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है। इन्द्र आदि देवताओं की जो साम्राज्य-सत्ता स्वर्ग में चारों ओर फैली हुई है, उसे वह दूर फेंकने योग्य और कौड़ी के दाम की चीज समझकर उसकी अवज्ञा करता है।

"यदि कोई सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करके वेदोनारायण बन जाय अथवा शास्त्रों में कहे हुए सब प्रकार के यज्ञ आदि करके अपार फल प्राप्त कर ले अथवा पुरश्चरण करके या दान देकर कोई अपार पुण्य संचित कर ले तो भी इन समस्त पुण्यों का समुदाय या कर्म-फलों की पूर्णता भी कभी निर्मल परब्रह्म की बराबरी नहीं कर सकती। जो स्वर्ग-सुख यदि कांटे पर रखकर तौले जायं तो वजन में ब्रह्मानन्द की अपेक्षा कम नहीं जान पड़ते, वेद और यज्ञ आदि जिन स्वर्ग-सुखों के साधन हैं, जिन स्वर्ग-सुखों से कभी आदमी का जी नहीं भरता अथवा जिन स्वर्ग-सुखों का कभी अन्त नहीं होता, बल्कि जो स्वर्ग-सुख भोगने वाले की इच्छा के अनुसार बराबर व्यापक होते जाते हैं, जो स्वर्ग-सुख अपने बढ़ते हुए गुणों के कारण ब्रह्म-सुख के सम्बन्धी बल्कि प्रायः सगे भाई के ही समान जान पड़ते हैं, जो स्वर्ग-सुख इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने के कारण इन्द्रियों में के ब्रह्म-सुख के स्थान पर बैठने के योग्य समझे जाते हैं, जो स्वर्ग-सुख किसी सौ यज्ञ करने वाले को भी जल्दी नहीं मिलते, उन्हीं स्वर्ग-सुखों को जब श्रेष्ठ योगी अपनी उस दृष्टि से देखते हैं जो ब्रह्म-ज्ञान के कारण दिव्य हो जाती है और उन स्वर्ग-सुखों को हाथ पर रखकर तौलते हैं और उनके भार का अनुमान करते हैं, तब उन्हें पता चलता है कि वे स्वर्ग-सुख उस सुख के सामने बहुत ही हलके हैं जो ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के कारण होता है। उस समय योगी लोग उन स्वर्ग-सुखों को मिट्टी के समान समझकर अपने पैरों के नीचे पायन्दाज की तरह बिछा लेते हैं और उन्हीं पर पैर रखकर वे परब्रह्म की पीठ पर आरोहण करते हैं। इस प्रकार जो स्थावर-जंगमात्मक सृष्टि के एक स्थान पर एकत्र किये हुए वैभव हैं, जिनकी आराधना स्वयं ब्रह्मा और शंकर भी करते हैं और जो केवल योगीजनों के ही भोगने की वस्तु हैं, जो समस्त कलाओं को भी कला देने वाले हैं, जो परमानन्द की मूर्ति, विश्व के जीव के जीवन, सर्वज्ञता के मूल उद्गम, यादव कुल के दिव्य कुलदीपक हैं, उन श्रीकृष्ण ने पांडुपुत्र अर्जुन से ये सब बातें कहीं। इस प्रकार कुरुक्षेत्र में जो-जो घटनाएं हुई थी, संजय उनका वर्णन राजा धृतराष्ट्र से कर रहे थे। मैं ज्ञानदेव आप श्रोताओं से निवेदन करता हूं कि आप लोग वही वर्णन और आगे सुनें।



नौवा अध्याय



राजविद्याराजगुह्ययोग

हे श्रोतागण, आप लोग केवल एकाग्र मन से मेरा प्रवचन सुनें। बस, इतने से ही आप लोगों को सब प्रकार के सुखों की प्राप्ति होगी, यह मेरा बिलकुल स्पष्ट प्रतिज्ञा-वचन है। परन्तु यह बात मैं अभिमानपूर्वक नहीं कर रहा हू, क्योंकि आप श्रोता लोग तो सर्वज्ञ ही हैं। परन्तु फिर भी मैं आप लोगों से बहुत ही आत्मीयतापूर्वक प्रार्थना करता हूं कि आप लोग मेरी बातों की ओर ध्यान दें। इसका कारण यही है कि जिस प्रकार किसी स्त्री को सम्पन्न मायका प्राप्त होता है और वहां से उसके सब दुलार पूरे होते हैं, उसी प्रकार मुझे आप लोगों का आश्रय प्राप्त हुआ है और आप ही लोगों से मेरे सब दुलार पूरे होंगे और मेरा मनोरथ सिद्ध होगा। आप लोगों की कृपादृष्टि की वृष्टि के कारण मेरी प्रसन्नता का उपवन कुछ अच्छी तरह फल-फूल रहा है; और उस उपवन की शीतल छाया देखकर संसा. के ताप से तप्त मेरा जीव उस छाया में लोट रहा है और उसके ताप की शान्ति हो रही है। आप लोग सुख-रूपी अमृत के गम्भीर दह हैं, इसलिए मैं उसमें से जितना चाहूं, उतना सुख-रूपी अमृत प्राप्त कर सकता हूं। अब ऐसा सुन्दर अवसर पाकर भी यदि मैं दुलार से बातें करने में डरूं, तब फिर मुझे सुख और शान्ति कब प्राप्त हो सकती है ? सच तो यह है कि जिस प्रकार अपने बच्चे की तोतली बातें सुनकर और उसके टेढ़े-तिरछे पड़ने वाले पैरों को प्रसन्नतापूर्वक देखकर उसकी माता आनन्दित होती है, उसी प्रकार मैं भी आप सन्तजनों का प्रेम प्राप्त करने की उत्कंठा से दुलार की ये सब बातें कह रहा हूं। और नहीं तो यदि मेरे वक्तृत्व की योग्यता देखी जाय तो वह कुछ भी नहीं है और आप सब श्रोता लोग सर्वज्ञ ही हैं। ऐसी अवस्था में यदि मैं आप लोगों के सामने बैठकर प्रवचन करूं और आप लोग उसे सुनें, तो मेरा यह प्रयास स्वयं सरस्वती के पुत्र को पटिया पर पाठ लिखाकर उन्हें शिक्षा देने के समान ही होगा। देखिए, जुगनूं चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, परन्तु फिर भी सूर्य के महातेज के सामने

उसकी कुछ भी नहीं चल सकती। भला ऐसा रस-परिपाक कहां मिल सकता है जो अमृत की थाल में परोसा जा सके ? भला यह कभी सम्भव है कि सबको शीतल करने वाले चन्द्रमा को पंखे से हवा की जाय ! या स्वय नाद-तत्त्व को गाना सुनाया जाय ! या अलंकार को ही अलंकार पहनाया जाय ! जो स्वयं सुगन्ध हो, वह भला कौन-सी चीज सूंघे ! समुद्र किस दह में स्नान करने जाय ! और ऐसा कौन-सा स्थल विस्तार है, जिसमें सारा आकाश समा सके ! इसी प्रकार भला ऐसा वक्तृत्व मैं कहां से ला सकता हूं जिससे आप लोगों का चित्त सन्तुष्ट हो और आप लोगों को इतना आनन्द हो कि आप लोगों के मुख से इस प्रकार का धन्यता का उद्‌गार निकले कि—'वाह ! वक्तृत्व हो तो ऐसा हो।' परन्तु फिर भी क्या सारे विश्व को प्रकाशित करने वाले सूर्य की आरती हाथ से बनाई हुई बत्ती से न की जाय ! अथवा पानी के अपरम्पार संग्रह समुद्र को क्या चुल्लू भर पानी से अर्घ्य न दिया जाय ! आप सब श्रोता लोग शंकर की मूर्ति हैं और आप लोगों की आराधना करने वाला मैं भक्त दुर्बल हूं; और मेरी बातें यद्यपि निर्गुंडी की पत्तियां हैं, परन्तु फिर भी आप लोग उसको सादर स्वीकार करेंगे ही। बच्चा अपने पिता की थाली में हाथ डालता है और अपने बाप के मुंह में ही कौर देने लगता है; और बाप भी बड़े आनन्द से वह कौर लेने के लिए मुंह आगे बढ़ाता है। इस प्रकार यदि मैं लड़क-बुद्धि और दुलार से निरर्थक और अतिरिक्त आत्मीयता प्रकट करूं, तो भी प्रेम का यह स्वाभाविक धर्म ही है कि उससे आप लोग सन्तुष्ट ही होंगे। और आप सन्तजनों के मन में अपने आश्रितों के सम्बन्ध में आत्मीयता के कारण बहुत अधिक प्रेम होता है; इसीलिए मैं दुलार से जो आत्मीयता दिखला रहा हूं, वह आप लोगों को बोझ नहीं मालूम होगा। जब माता के स्तन में भूखे बालक के मुख का झटका लगता है, तब माता के स्तन में और भी अधिक दूध भर आता है और वह बालक को दूध पिलाने के लिए और भी अधिक उत्सुक हो जाती है। जो अपने को प्रिय होता है, वह यदि एक बार क्रोध से झटकार भी दे, तो उससे प्रेम और भी दूना बढ़ जाता है। इसीलिए मैंने भी यह समझकर ये सब बातें कही हैं कि मुझ सरीखे बालक की बकवाद से आप लोगों की सोई हुई कृपालुता जाग उठी है। क्या कभी चांदनी को पकाने के लिए भी कोई उसे पाल में रखकर ढंकता है ! अथवा क्या हवा के बहने में कभी किसी ने उससे यह कहा है कि तुम इस प्रकार बहो अथवा इस प्रकार उसका कभी नियन्त्रण किया है ? या गगन को कभी कोई खोली पहना सकता है ? जिस प्रकार पानी को पतला नहीं करना पड़ता, अथवा मक्खन को मथने के लिए कोई उसमें मथानी नहीं डालता, उसी प्रकार गीता के जिस अर्थ को देखकर मेरा दुर्बल व्याख्यान लज्जित होकर आपसे आप पीछे हट जाता है, केवल इतना ही नहीं, जो वेद शब्द-ब्रह्म है, वह भी शब्द की गति समाप्त हो जाने पर जिस गीतार्थ रूपी खाट पर स्तब्ध होकर सो जाता है, वह गीतार्थ देशी भाषा में लाने की योग्यता भला मुझमें कहां से आ सकती है ! परन्तु मुझ सरीखे दुर्बल ने भी जो यह साहस किया है, उसमें हेतु केवल यही है कि मैं इस ढिठाई से ही आप सरीखे लोगों का प्रेमपात्र बनूं। इसलिए आप लोगों के जिस अवधान में चन्द्रमा से भी बढ़कर शीतलता है और अमृत से भी बढ़कर जीवित रखने की शक्ति है, वह अवधान दान करके आप लोग मेरे मनोरथ का पोषण करें। क्योंकि ज्यों ही आप लोग के कृपा-कटाक्ष की वर्षा होगी, त्यों ही मेरे सब मनोरथ सिद्ध हो जायंगे। परन्तु यदि मुझे आप लोगों का यह कृपा-कटाक्ष प्राप्त न होगा और आप लोग उदासीन रहेंगे, तो मेरे ज्ञान का निकला हुआ अंकुर भी सूख जायगा। महाराज, आप लोग यह बात ध्यान में रखें कि वक्ता के वक्तृत्व का स्वाभाविक भोजन श्रोताओं की सावधानता ही है। और यदि उसे यह भोजन प्राप्त होता रहे तो सिद्धान्त-प्रतिपादक शब्द की तोंद फूल जाती है (अर्थात् सिद्धान्त-प्रतिपादक बातें बहुत अधिक मात्रा में निकलने लगती हैं)। ज्यों ही इस प्रकार के शब्द निकलते हैं, त्यों ही अर्थ की प्रतिपत्ति होती है; क्योंकि अर्थ तो शब्दों और वाक्यों की ही बाट देखते रहते हैं, और जब अर्थ की प्रतिपत्ति होती है, तब अभिप्रेत अर्थ की परम्परा लग जाती है और बुद्धि पर मानों फूलों की ठीक

वसन्त ऋतु या बहार आ जाती है। जब इस प्रकार वक्ता और श्रोता के मेल की अनुकूल वायु चलने लगती है, तब हृदय-रूपी आकाश में वक्तृत्व के रसमेघ का संचार होता है। परन्तु यदि श्रोता लोग उदासीनता के कारण ठीक तरह से ध्यान न देंगे, तो वक्तृत्व रस का बना-बनाया मेघ भी छिन्न-भिन्न हो जायगा। यह ठीक है कि चन्द्रकान्त मणि पसीजती है, परन्तु उसको पसीजने में प्रवृत्त करने की शक्ति चन्द्रमा में ही होती है। इसी प्रकार जब तक योग्य श्रोता न हों, तब तक कोई वक्ता कभी वक्ता हो ही नहीं सकता। परन्तु क्या कभी चावल को खाने वाले से यह प्रार्थना करनी पड़ती है कि मुझे मीठा समझकर खाइये ? अथवा क्या कभी कठपुतलियों को अपने नचाने वाले से यह प्रार्थना करनी पड़ती है कि हमें नचाओ ? और फिर कठपुतलियों का वह सूत्रधार कठपुतलियों को स्वयं उनके हित के लिए नचाता है अथवा लोगों में अपने ज्ञान के महत्त्व की प्रसिद्धि करने के लिए नचाता है ? फिर हम लोग इस प्रश्न की व्यर्थ की मीमांसा क्यों करें ! ज्यों ही वक्ता ने यह कहा, त्यों ही श्री सद्गुरु ने कहा—"अरे, इन सब बातों में क्या रखा है ! हम तुम्हारा सब अभिप्राय समझते हैं। अब तुम यह बतलाओ कि श्रीकृष्णदेव ने क्या कहा।" यह सुनकर श्रीनिवृत्तिनाथ के शिष्य ने बहुत ही आनन्दपूर्वक और उल्लसित मुद्रा से कहा—"जो आज्ञा महाराज। सुनिये, श्रीकृष्ण ने क्या कहा।"

श्रीभगवानुवाच—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

"हे अर्जुन, मैं तुम्हें वह गुप्त रहस्य फिर से बतलाता हूं जो मेरे अन्तःकरण के सबसे भीतरी स्थान के समस्त ज्ञान का आदि कारण है। अब यदि तुम अपने मन में यह सोचते हो कि अन्तःकरण का गुप्त द्वार इस प्रकार खोलकर यह रहस्य प्रकट करने का ऐसा कौन-सा प्रसंग आया है, तो हे सुज्ञ अर्जुन, मैं बतलाता हूं, सुनो। तुम भक्ति-भावना के प्रत्यक्ष अवतार ही हो। मैं जो कुछ कहूंगा, तुम कभी उसकी उपेक्षा नहीं करोगे। इसीलिए चाहे मन की गूढ़ता भले ही नष्ट हो जाय और जो बातें नहीं कहने की हैं वे भी चाहे भले ही कहनी पड़ें, परन्तु फिर भी मैं यही चाहता हूं कि मेरे अन्तःकरण में जो कुछ है, वह सब एक बार तुम्हारे अन्तःकरण में प्रवेश कर जाय। स्तन में दूध भरा रहता है, परन्तु स्वयं वह स्तन को मीठा नहीं लगता। परन्तु जब कोई एकनिष्ठ प्राणी मिलता है, तब सहज ही यह इच्छा होती है कि उसकी रस-सेवन करने की इच्छा पूरी हो। यदि अनाज की कोठी में से बीज निकाले जायं और अच्छी तरह जोती और साफ की हुई जमीन में उनमें से मुट्ठी भर बीज छिड़क दिये जायं, तो क्या कोई यह कह सकता है कि वे बीज व्यर्थ ही फेंक दिये गये ! इसीलिए जिसका मन अच्छा और बुद्धि स्वच्छ है और जो अनिन्दक तथा एकनिष्ठ है, उसे अपनी मन की बात प्रसन्नता से बतला देनी चाहिए। और इस अवसर पर मुझे इन गुणों से युक्त तुम्हारे सिवा और कोई नहीं दिखाई पड़ता, और इसीलिए तुमसे कोई रहस्य छिपाना ठीक नहीं है। बार-बार यह 'गुप्त' शब्द सुनते-सुनते तुम्हारा मन उकता गया होगा, इसलिए अब मैं तुम्हें विज्ञान-सहित ज्ञान की बातें स्पष्ट करके बतलाता हूं। यदि बहुत-से असली और नकली सिक्के एक में मिल गये हों, तो जिस प्रकार उन्हें छांटकर उनके अलग-अलग ढेर लगाने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार में ज्ञान और विज्ञान की परख करके उन्हें अलग-अलग तुम्हारे सामने उपस्थित करना चाहता हूं। अथवा जिस प्रकार राजहंस अपनी चोंच रूपी चिमटी से पानी और दूध अलग-अलग करता है, उसी प्रकार मैं भी ज्ञान और विज्ञान को अलग-अलग करके तुम्हें दिखलाना चाहता हूं। फिर जिस प्रकार हवा के झोंके में पड़कर भूसा नहीं ठहर सकता और केवल अनाज के दानों का ही ढेर बाकी रह जाता है, उसी प्रकार जब समझदारी से ज्ञान और विज्ञान की परख और पार्थक्य हो जाता है, तब जन्म-मरण के संसार का, इस नाम-रूपात्मक संसार के साथ मेल हो जाता है और वह परम ज्ञान हमें

अक्षय मोक्ष-पद के सिंहासन पर ले जाकर बैठा देता है।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

"जो ज्ञान समस्त विद्याओं में महाश्रेष्ठ आचार्य पद पर पहुंच चुका है, जो समस्त रहस्य ज्ञान के स्वामित्व का भोग करता है, जो समस्त पवित्रों में धुरन्धर है, जो ज्ञान-धर्म का मायका (जन्म-स्थान) है, जो सर्वोत्तम है, जिसकी प्राप्ति होने पर जन्म तथा मरण के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता, जो ज्ञान गुरुमुख से किंचित् उदित हुआ-सा जान पड़ता है, परन्तु वास्तव में जो प्रत्येक मनुष्य के हृदय में स्वयंभू ही होता है और जो चाहे, वह उसे आपसे आप प्राप्त कर सकता है, इसके सिवा आत्मसुख की सीढ़ी पर चढ़ते ही जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है और फिर तत्काल भोक्ता, भोग्य तथा भोग की त्रिपुटी का अन्त हो जाने के कारण भोगने वाले का भोक्तृत्व भी उसी में लीन हो जाता है, परन्तु उस लयवाली स्थिति की इधर वाली मेंड़ या सीमा पर ही जिसके कारण हृदय परम सुख से भर जाता है, वह ज्ञान यद्यपि सुलभ और सहज है, परन्तु फिर भी वह प्रत्यक्ष परब्रह्म ही है। इस ज्ञान का एक विशेष लक्षण यह भी है कि जब एक बार वह हस्तगत हो जाता है, तब फिर वह कभी हाथ से गंवाया नहीं जा सकता और न कभी उसका माधुर्य ही कम होता है। हे अर्जुन, संभव है कि तुम अपना तर्क लगाकर इस सम्बन्ध में यह शंका करो कि यदि यह इतनी अधिक अप्रतिम और अमूल्य वस्तु है, तो फिर यह आज तक सब लोगों के हाथों से बची कैसे रह गई और सब लोगों ने इसे प्राप्त क्यों नहीं कर लिया, जो लोग अपने द्रव्य की वृद्धि करने के लिए जलती हुई आग में कूद पड़ने का साहस करते हैं, वे इस बिना परिश्रम के ही प्राप्त होने वाले आत्मसुख के माधुर्य से क्यों वंचित रहते हैं, जो आत्मसुख पवित्र, रम्य और सुख-लभ्य है और जो धर्मानुकूल होने के सिवा आत्मतत्त्व की भी प्राप्ति करा देता है और जिसमें सब प्रकार के सुख भरे हुए हैं, वह लोगों के हाथ से कैसे बचा रहा ! तुम्हारे मन में इस प्रकार की शंकाएं उत्पन्न होना बिलकुल सहज और स्वाभाविक है। परन्तु तुम इस शंका को अपने मन में स्थान मत दो।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

"देखो, दूध बहुत पवित्र और स्वादिष्ट होता है और वह गौ के स्तन में बहुत ही पतली त्वचा की आड़ में पास ही संग्रहीत रहता है। परन्तु फिर भी उसे छोड़कर स्तन में लगी हुई किलनी क्या रक्त का सेवन नहीं करती ? भौंरे और दादुर दोनों ही कमल के पास रहते हैं; परन्तु कमल के पराग का सेवन केवल भौंरे ही करते हैं और दादुर के हिस्से में केवल कीचड़ ही आता है। इसी प्रकार कभी-कभी किसी अभागे मनुष्य के घर में हजारों मोहरों से भरे हुए घड़े पड़े रहते हैं; परन्तु वह उसी घर में रहकर भी भूखों मरता है अथवा अत्यन्त दरिद्रता की अवस्था में रहकर अपना जीवन व्यतीत करता है। उसी प्रकार अन्तरंग में समस्त सुखों के भांडार, मुझ आत्माराम के प्रत्यक्ष रहते हुए भी, माया से मोहित पुरुषों की वासना विषय-भोगों की ओर ही प्रवृत्त होती है। जैसे अपार मृग-जल देखकर मुख में का अमृत का घूंट थूक दिया जाय अथवा पारस पत्थर को तोड़कर फेंक दिया जाय और एक सीपी उठाकर गले में बांध ली जाय, ठीक उसी प्रकार अहंमन्यता के फेर में पड़कर ये बेचारे जीव मेरे पास तक आकर पहुंच नहीं सकते; और इसीलिए जन्म तथा मरण के दोनों तीरों के बीच में गोते खाते रहते हैं। और नहीं तो मैं ऐसा हूं कि सदा आंखों के ठीक सामने ही रहता हूं। मैं उस सूर्य की तरह नहीं हूं जो कभी तो दिखाई पड़ता है और कभी मेघों की आड़ में छिप जाने के कारण अथवा रात के समय दिखाई नहीं पड़ता। मैं तो सदा आंखों के सामने चमकने वाला और निर्मल हूं।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

"यदि तुम मेरे विस्तार की बात पूछो तो क्या यह बात ठीक नहीं है कि यह जो सारा संसार है, वह मैं ही हूं। जिस प्रकार दूध अपने स्वभाव के अनुसार जमकर दही बन जाता है अथवा बीज ही वृक्ष के रूप में प्रकट होता है, अथवा जिस प्रकार सोने के ही अलंकार बनते हैं, उसी प्रकार एक मेरा ही विस्तार यह सारा संसार है। मेरा निराकार तत्त्व ही जमकर इस नाम-रूपात्मक विश्व का आकार धारण करता है और मैं अमूर्त ही तत्काल त्रिलोक का विस्तार करता हूं। जिस प्रकार जल का फेन व्यक्त रूप से दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार महत्त्व आदि नाम-रूपात्मक समस्त भूत मुझमें ही दिखाई पड़ते हैं। परन्तु जिस प्रकार उस फेन के अन्दर देखने पर पानी नहीं दिखाई पड़ता अथवा स्वप्न की अवस्था में दिखाई पड़ने वाले अनेक प्रकार के आकार जाग्रत अवस्था में नहीं दिखाई पड़ते, उसी प्रकार यद्यपि वे भूत-मात्र मुझमें ही भासमान होते हैं, परन्तु फिर भी इन भूतों में मेरा निवास नहीं होता। यह तत्त्व-विचार मैं इससे पहले भी एक बार तुम्हें बतला चुका हूं। और इसलिए एक बार बतलाई हुई बात का फिर से विस्तार करना ठीक नहीं है, इसलिए यहां इतना ही कहना यथेष्ट है। परन्तु तुम्हारी दृष्टि मेरे स्वरूप में प्रविष्ट होकर विस्तृत होनी चाहिए।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

"यदि कार्य और कारण वाली कल्पना को अलग छोड़कर तुम मेरे उस स्वरूप का विचार करोगे जो महामाया के भी उस पार और उससे परे है, तो यह सिद्धान्त मिथ्या ठहरेगा कि सब भूतों का अस्तित्व मुझमें ही है, क्योंकि सब कुछ मैं ही हूं और मुझसे भिन्न और कोई वस्तु नहीं है। परन्तु जिस समय प्रथम संकल्प के कारण परब्रह्म में ज्ञान और अज्ञान का झुटपुटा-सा सन्धि-काल उत्पन्न हुआ, उस समय बुद्धि के ज्ञान-चक्षु में कुछ अन्धकार-सा व्याप्त हो गया; और इसीलिए जो परब्रह्म विकाररहित और आकारहीन था, उसमें अविद्या-रूपी सन्ध्या के कारण भूत-मात्र परब्रह्म से भिन्न भासित होने लगे। परन्तु जिस समय संकल्प-जन्य अविद्या की सन्ध्या का अन्त हो जाता है, उस समय जिस प्रकार शंका दूर होते ही पुष्पमाला के सम्बन्ध का वह सर्पाभास नष्ट हो जाता है, जो कुछ-कुछ अन्धकार और कुछ-कुछ प्रकाश के रहने के समय उत्पन्न होता है, उसी प्रकार भूत-मात्र के सम्बन्ध में होने वाले भास का अन्त हो जाता है और केवल परब्रह्म ही अपने अखंड, अविकृत और शुद्ध स्वरूप में बाकी रह जाता है। यदि वास्तव में देखा जाय तो क्या जमीन में से मिट्टी के घड़ों और मटकों आदि के कभी अंकुर फूटते हैं ? असल में घड़ों और मटकों आदि की सृष्टि तो कुम्हार के कल्पना-रूपी गर्भ से होती है ! अथवा क्या समुद्र के पानी में लहरों की कोई अलग खान होती है ! लहरें तो वास्तव मे हवा के चलने से ही उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार क्या कपास के डोंडे के अन्दर कपड़ों का सन्दूक रहता है ? पहनने वाले की दृष्टि से ही कपास से कपड़े बनते हैं न ? यदि सोने का अलंकार बना डाला जाय तो भी उसका सोनापन नष्ट नहीं होता। उसमें केवल बाह्यतः अलंकारता होती है और वह भी केवल अलंकार पहने वाली दृष्टि से ही होती है। प्रतिध्वनि जो उत्तर देती है अथवा दर्पण जो कुछ दिखलाता है, वह हमारी ही कही हुई बात अथवा हमारा ही रूप होता है, अथवा स्वयं उस प्रतिध्वनि का अथवा उस दर्पण का अंग होता है ? इसी प्रकार जो मेरे मूल वाले अविकृत तथा शुद्ध स्वरूप पर भूत-सृष्टि का आरोप करता है, स्वयं उसी के संकल्प या विचार में वह भूत-सृष्टि होती है। परन्तु जब उस कल्पना करने वाली माया का अन्त हो जाता है, तब भूताभास मूलतः मिथ्या होने के कारण मेरा केवल शुद्ध, बुद्ध और अविकृत स्वरूप ही बाकी रह जाता है। जिस समय हमें चक्कर आता है, उस समय आस-पास के पहाड़ और चट्टानें आदि घूमती

हुई दिखाई पड़ती है। ठीक इसी प्रकार अपनी कल्पना के कारण ही विकारहीन परब्रह्म में भी भूत मात्र का आभास होता है। परन्तु यदि वही कल्पना दूर कर दी जाय, तब स्पष्ट रूप से पता चल जाता है कि यह बात स्वप्न में भी सच मानने के योग्य नहीं है कि मैं भूतमात्र हूं और भूतमात्र मुझमें है। इसीलिए लोग जो प्रायः यह कहा करते हैं कि—'केवल मैं ही इन भूतमात्र को धारण करता हूं।' अथवा 'मैं इन भूतमात्र में रहता हूं' सो ये सब संकल्प-रूपी वात के प्रकोप के कारण उत्पन्न होने वाली भ्रमिष्ठ स्थिति में मुंह से निकलने वाली बकवाद या बड़बड़ाहट है। इसीलिए, हे मेरे परम सखा अर्जुन, तुम यह बात ध्यान में रखो कि मुझे विश्व मानना अथवा विश्वात्मा मानना मिथ्या भूतमात्र की मिथ्या कल्पना है। जिस प्रकार सूर्य की किरणों के कारण कुछ न रहने पर भी मृग-जल भासमान होता है, उसी प्रकार भूतमात्र भी मुझमें भासमान होते हैं। केवल इतना ही नहीं, बल्कि वे मुझे भी अपने में भासमान कराते हैं। इस प्रकार मैं 'भूत-भावन' अर्थात् भूतों के आभास का आधार हूं। परन्तु जिस प्रकार प्रभा और सूर्य दोनों एक ही हैं, उसी प्रकार मैं भी भूतमात्र के साथ एकरूप ही हूं। तत्त्व-विचार की इस प्रणाली को ऐश्वर्य-योग कहते हैं। यह बात अच्छी तरह तुम्हारी समझ में आ गई न ? अब भला तुम्हीं बतलाओ कि क्या इसमें भेदभाव के लिए कहीं तिल-मात्र भी स्थान है ? इसीलिए यह सिद्धान्त ठीक है कि भूतमात्र मुझसे भिन्न नहीं हैं और तुम मुझे भूतों से कभी भिन्न मत समझो।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायु सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

"आकाश का जितना विस्तार है, उतना ही विस्तार वायु का भी है; और पंखा आदि हिलाने से ही वायु का पृथक् रूप से भास होता है; और नहीं तो वायु सदा गगन के साथ एकरूप ही रहती है। इसी प्रकार यदि कल्पना की जाय तो भूतमात्र का मुझमें ही भास होता है; और नहीं तो निर्विकल्प अवस्था में ये भूतमात्र नहीं रह जाते और केवल मैं ही अपने अविकृत रूप में बच रहता हूं। इसीलिए 'नहीं' और 'हां' ये दोनों केवल कल्पना की ही बातें हैं। जब कल्पना नहीं रह जाती, तब नाम रूपात्मक विश्व भी नहीं रह जाता; और जब कल्पना का संचार होता है, तब यह सब कुछ रहता ही है। कल्पना का नाश या अन्त हो जाने पर 'हां' और 'नहीं' वाली बातों के लिए कहीं कोई आधार ही नहीं रह जाता। इसलिए यह ऐश्वर्ययोग तुम फिर से अच्छी तरह समझ लो। पहले तुम इस परम ज्ञान के समुद्र में तरंगाकार बनो। फिर जब तुम देखोगे, तब तुम्हें पता चलेगा कि स्वयं तुम्हीं यह सब चराचर जगत् हो।" श्रीकृष्ण कहते हैं—"हे अर्जुन, तुम इस पर ज्ञान से जाग्रत हो गये न ? अब इस जाग्रत अवस्था के कारण तुम्हारे द्वैत वाले स्वप्न का अन्त हो गया न ? और वह स्वप्न नष्ट हो गया न ? अब यदि फिर किसी समय बुद्धि को कल्पना वाली नींद आ जाय, तो फिर यह अभेद-ज्ञान न रह जायगा, क्योंकि उस समय तुम फिर स्वप्नावस्था में पहुंच जाओगे। इसलिए अब मैं तुम्हें वह रहस्य-ज्ञान स्पष्ट रूप से बतलाता हूं, जिससे इस अविद्या-रूपी निद्रा का कहीं नाम भी न रह जायगा और तुम्हारी आत्मज्ञान वाली जाग्रति बराबर बनी रहेगी। इसलिए, हे धनुर्धर पार्थ, तुम धैर्यपूर्वक मेरी बातों की ओर ध्यान दो। तुम समझ रखो कि प्रकृति ही भूतमात्र की सृष्टि और नाश करती है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

"जिसे प्रकृति कहते हैं, उसके दो प्रकार मैं तुम्हें पहले बतला चुका हूं। उन दोनों प्रकार में से पहली अपरा प्रकृति आठ भिन्न-भिन्न स्वरूपों में व्यक्त होती है और दूसरी परा प्रकृति जीव-रूप में व्यक्त होती है। इस प्रकृति के सम्बन्ध की कुछ बातें मैं तुमको पहले बतला चुका हूं। इसलिए बार-बार उसका वर्णन करने से कोई लाभ नहीं।

महाप्रलय के समय इस मेरी प्रकृति में ही निराकार अभेद से भूत मात्र एक रूप में विलीन होते हैं। ग्रीष्म ऋतु मे जब खूब गर्मी पड़ती है तब बीज सहित घास भूमि में ही पूर्ण रूप से लय को प्राप्त हो जाती है; अथवा वर्षा ऋतु में दिखाई पड़ने वाले मेघों का उस समय आकाश में ही लोप हो जाता है जिस समय शरद् ऋतु की निर्मल शान्ति का गुप्त भांडार खुलता है। आकाश में चलने वाली वायु का अन्त में उसी आकाश में लय हो जाता है और पानी की लहरें पानी में ही लुप्त हो जाती हैं। स्वप्न में जो दृश्य दिखाई पड़ते हैं; वे जागने पर मन-ही-मन में समा जाते हैं। ठीक इसी प्रकार कल्पान्त के समय प्रकृति से उत्पन्न होने वाले समस्त पदार्थ अर्थात् माया से भासमान होने वाले भूतमात्र प्रकृति में ही समरस होकर समा जाते हैं। फिर नये कल्प के आरम्भ में जो लोग यह कहा करते है कि मैं ही फिर से भूत-सृष्टि उत्पन्न करता हूं, सो अब मैं उसका स्पष्टीकरण करता हूं। तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

"जिस प्रकार तन्तुओं का समूह बुनावट के कारण स्वयं ही वस्त्र का रूप धारण करता है, उसी प्रकार मैं भी अपनी इस माया को सहज लीला के रूप में धारण करता हूं। फिर जिस प्रकार धागों की बुनावट के कारण उनसे छोटे-छोटे चौकोर चारखाने बनते हैं, उसी प्रकार मेरी प्रकृति ही नाम-रूपात्मक पांचभौतिक सृष्टि उत्पन्न होती है। जिस प्रकार जामन के स्पर्श से दूध जमने लगता है, उसी प्रकार मूल प्रकृति में सृष्टि का भाव प्रतिबिम्बित होने लगता है। जब बीज के साथ पानी का संसर्ग होता है, तब उसमें से अंकुर फूटने लगते हैं, और उनसे जो शाखाएं तथा उपशाखाएं बनती हैं, वे ही वृक्ष का रूप धारण कर लेती हैं। ठीक इसी प्रकार मुझसे प्रकृति-जन्य भूत सृष्टि का विस्तार होता है। लोग कहते हैं कि राजा ने अमुक नगर बसाया—और एक दृष्टि से लोगों का यह कहना ठीक भी होता है। परन्तु यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो क्या कोई कह सकता है कि उस नगर की रचना में राजा का कभी हाथ भी लगा था ! इसी प्रकार मैं भी प्रकृति को उसी तरह स्वीकार करता हूं, जिस तरह स्वप्न की स्थिति में रहने वाला मनुष्य जाग्रत अवस्था में प्रवेश करता है। जब स्वप्नावस्था से मनुष्य जाग्रत अवस्था में आता है, तब क्या उसके पैरों का कभी कोई श्रम होता है ? अथवा उसे स्वप्न से चलकर कोई प्रवास करना पड़ता है ? इन सब विवरणों का सारांश यही है कि भूत-सृष्टि की रचना करते समय मुझे किसी प्रकार की क्रिया नहीं करनी पड़ती। जिस प्रकार राजा के नियन्त्रण में प्रजा रहती है, परन्तु फिर भी प्रजा में के सब लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अपने सब व्यापार और व्यवहार करते रहते हैं, उसी प्रकार प्रकृति का स्वीकार मात्र मुझमें आया है, बाकी सब व्यवहार स्वयं उस प्रकृति के ही होते हैं। उनके साथ मेरा कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। देखो, जिस समय पूर्णिमा का चन्द्रमा होता है, उसी समय समुद्र में अपरम्पार लहरें उठने लगती हैं। हे अर्जुन, क्या वे लहरें उत्पन्न करने के लिए चन्द्रमा को समुद्र मथना पड़ता है या उसे उलटना-पुलटना पड़ता है ? लोहा यद्यपि जड़ होता है, पर फिर भी जब चुम्बक लोहे के पास आता है, तब वह उसकी तरफ बढ़ने लगता है। परन्तु क्या कभी लोहे को चलने में प्रवृत्त करने के लिए चुम्बक को किसी प्रकार का परिश्रम करना पड़ता है ? बस इसी प्रकार मैं भी मूल माया को धारण करता हूं और तत्काल ही भूत सृष्टि आपसे आप अस्तित्व में आने लगती है। जिस प्रकार बीज में से शाखाएं और पत्ते आदि उत्पन्न करने में पृथ्वी सहायक होती है, उसी प्रकार, हे अर्जुन, यह सारी भूत-सृष्टि प्रकृति की सहायता से प्रकट होती है। अथवा जिस प्रकार बाल्य आदि अवस्थाओं का मुख्य कारण देह-संग है, अथवा आकाश से वर्षा की क्रिया कराने में जिस प्रकार मेघ-मंडली मूल कारण होती है, अथवा स्वप्न का कारण जिस प्रकार निद्रा होती है, उसी प्रकार, हे नर-श्रेष्ठ पार्थ, इस समस्त भूत-सृष्टि का समर्थ कारण प्रकृति ही है। समस्त चराचर, स्थूल और सूक्ष्म भूतमात्र का मूल कारण यह प्रकृति ही है। इसीलिए भूत-सृष्टि को उत्पन्न

करने अथवा उसका प्रतिपाल करने आदि की क्रियाओं का सम्पर्क मुझसे बिलकुल नहीं होता। पानी में चन्द्रमा की जो किरणें पड़ती हैं, वे लहरों के समान ही लम्बी दिखाई पड़ती हैं; परन्तु उनकी यह बाढ़ कुछ चन्द्रमा की की हुई नहीं होती। ठीक इसी प्रकार समस्त कर्म मुझ तक पहुंचकर भी मुझसे अलग और दूर ही रहते हैं।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

"जिस प्रकार समुद्र में उठने वाली पानी की प्रचंड लहरों को नमक का बना हुआ बांध नहीं रोक सकता, उसी प्रकार जिन कर्मों का अन्त में मुझमें ही लय होता है, वे कर्म भी मेरे लिए बन्धनकारक नहीं हो सकते। यदि धुएं के क्षुद्र कणों का बना हुआ ढांचा वायु को यह कहकर रोक सकता हो कि--'बस रुक जाओ' अथवा सूर्य के प्रभामंडल में यदि कालिमा का प्रवेश हो सकता हो, तो फिर ये कर्म भी मुझे बांध सकते हैं। जिस प्रकार वर्षा की धारों से पर्वत का अन्तरंग विद्ध नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृति जिन कर्मों का आचरण करती है, वे कर्म मुझे बांध नहीं सकते हैं। वास्तव में, देखा जाय तो यह प्रकृति जो नाम-रूप आदि विकार उत्पन्न करती है, उनका आधार मैं ही हूं। पर मैं सदा उदासीन या तटस्थ रहता हूं, और इसीलिए न तो मैं कोई क्रिया करता ही हूं और न कराता ही हूं। यदि किसी घर में कोई दीपक जलाकर रख दिया जाय तो न तो वह दीपक किसी से कोई काम कराता ही है और न किसी को कोई काम करने से रोकता ही है। वह तो यह भी नहीं देखता कि कौन क्या कर रहा है। जिस प्रकार वह दीपक केवल तटस्थ रहता है, परन्तु फिर भी मकान में रहने वाले लोगों की क्रियाओं का कारण होता है, उसी प्रकार यद्यपि मैं भूतमात्र में रहता हूं, परन्तु फिर भी भूतमात्र से कर्मों के साथ मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता!

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुना नेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

"हे सुभद्रानाथ अर्जुन, यह एक ही विचार में भिन्न-भिन्न प्रकार से बार-बार तुम्हें कहां तक बतलाऊं! तुम एक बार इतना ही समझ रखो कि जिस प्रकार लोगों के व्यापार का सूर्य निमित्त मात्र होता है, उसी प्रकार मैं भी जगत् की उत्पत्ति का तटस्थ रूप से निमित्त मात्र होता हूं। और इसका कारण यही है कि मैं जो मूल प्रकृति को धारण करता हूं, उसी से इस चराचर विश्व की उत्पत्ति होती है, और इस दृष्टि से विचार करने पर मैं ही इस विश्व की उत्पत्ति का कारण हूं। अब तुम इस दिव्य ज्ञान के प्रकाश में मेरे इस 'ऐश्वर्य-योग' का तत्त्व देखो। वह तत्त्व यह है कि भूतमात्र मुझमें है, परन्तु मैं भूतमात्र में नहीं हूं। अथवा यह भूतमात्र भी मुझमें नहीं है और मैं भी इस भूत मात्र में नहीं हूं। भाई अर्जुन, यह मुख्य बात तुम कभी मत भूलो। यह गूढ़ ज्ञान ही मेरा सार और सर्वस्व है, और आज यह बात मैं तुम्हें बिलकुल खोलकर और स्पष्ट रूप से बतला रहा हूं। अब तुम इधर-उधर भटकने वाली इन्द्रियों के द्वार बन्द करके अपने मन में आत्मचिन्तन करते हुए इस रहस्य के माधुर्य का उपभोग करो। हे अर्जुन, जब तक इस रहस्य का पता नहीं चलता, तब तक इस नाम-रूपात्मक संसार के कूड़े-करकट में मेरे यथार्थ रूप का ठीक उसी प्रकार पता नहीं चलता, जिस प्रकार भूसे में अनाज के दानों का पता नहीं चलता। साधारणतः ऐसा जान पड़ता है कि तर्क के मार्ग से ही मर्म का पता चलता है; परन्तु वास्तव में बिना अनुभूति के इस मर्म का ज्ञान भी व्यर्थ है, क्योंकि मृग-जल की आर्द्रता से पृथ्वी कभी भीगकर मुलायम नहीं हो सकती। यदि पानी में जाल फैला दिया जाय तो ऐसा जान पड़ता है कि चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब उसी जाल में आकर फंस गया है। परन्तु जब वह जाल पानी में से निकालकर किनारे पर रख दिया जाता है, तब उसमें का चन्द्रमा कहां चला जाता है! इसी प्रकार लोग व्यर्थ की वाचालता करके अनुभव की आंखों में धूल झोंकते हैं और अनुभव न होने पर भी वाचालतापूर्वक कह

बैठते हैं कि हमें अनुभव हो गया। परन्तु जब यथार्थबोध का समय आता है, तब उनके उस अनुभव का कहीं कोई ठीक ठौर-ठिकाना ही नहीं रह जाता।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

''यदि तुम्हें सचमुच संसार का भय जान पड़ता हो और वास्तव में मेरे प्रति तुम्हारा सच्चा अनुराग हो, तो तुम्हें उचित है कि तुम इस तत्त्व-विचार को अच्छी तरह और प्रयत्नपूर्वक स्मरण रखो। नहीं तो जिस प्रकार नेत्रों में कमल रोग व्याप्त होने पर स्वच्छ चांदनी भी पीली जान पड़ती है, उसी प्रकार मेरा निर्मल रूप भी स-दोष जान पड़ने लगता है। अथवा जिस प्रकार ज्वर के कारण मुख का स्वाद बदल जाने से दूध भी कड़वा लगने लगता है, उसी प्रकार मेरे मनुष्य न रहते हुए भी लोग मुझे मनुष्य मानने लगते हैं। इसीलिए, हे भाई अर्जुन, मैं बार-बार तुमसे कहता हूं कि तुम इस रहस्य-ज्ञान को मत भूलो, क्योंकि बिना इस रहस्य के केवल ऊपरी या स्थूल दृष्टि किसी काम की नहीं। स्थूल दृष्टि से मुझे देखना वास्तव में कोई देखना ही नहीं है, क्योंकि यदि कोई स्वप्न में झूठ-मूठ का अमृत पी ले, तो उससे वह कभी अमर नहीं हो सकता। साधारणतः लोग मुझे ऊपर से, स्थूल दृष्टि से देखते हैं और उसी ऊपरी रूप में मुझे जानते हैं; परन्तु जिस प्रकार उस हंस का नाश होता है, जो पानी में पड़ने वाले नक्षत्रों के प्रतिबिम्ब के धोखे में आ जाता है और उन्हीं को रत्न समझकर उन्हें प्राप्त करने की आशा करता है, उसी प्रकार यह ऊपरी ज्ञान भी यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के मार्ग में बाधक होता है। यदि हम मृग-जल को ही गंगा मानकर उसके पास जायं तो उससे भला हमें किस फल की प्राप्ति हो सकती है ! यदि हम बबूल को ही कल्प-वृक्ष मानकर उसे हाथ मे लें तो उससे क्या लाभ होगा ! यदि हम काल-सर्प को यह समझकर हाथ में पकड़ें कि यह नीलमणियों का दोलड़ा हार है, अथवा सफेद पत्थर को ही रत्न समझकर चुनें अथवा खैर के जलते हुए अंगारों को यह समझकर झोली में भर लें कि यह तो गुप्तधन का भाडार खुल गया, अथवा यदि कोई सिंह किसी कुएं में अपनी परछांही देखकर इस बात का विचार न करे कि यह सचमुच का सिंह है या मेरी परछांही मात्र है और उस कुएं में कूद पड़े, तो उसका क्या परिणाम होगा ? इसी प्रकार जो लोग अपने मन में इस बात का पक्का निश्चय कर लेते हैं कि मैं परमात्मा सचमुच साकार होकर संसार में अवतार धारण करता हूं और यही समझकर इस सांसारिक प्रपंच में लीन होते हैं, उनके सम्बन्ध में यही समझ लेना चाहिए कि वे पानी में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब को ही चन्द्रमा समझकर उसका संग्रह करते हैं। इस प्रकार बुद्धि का भ्रमिष्ठ निश्चय ही केवल व्यर्थ ही होता है। जिस प्रकार कोई मांड़ पीकर उसमें अमृत के गुण की अपेक्षा करता हो, ठीक उसी प्रकार की बात यह भी है कि इस नश्वर नाम-रूपात्मक स्थूल रूप पर मन से पूरा-पूरा विश्वास रखा जाय और तब उसी में मेरा शाश्वत स्वरूप देखा जाय। भला इस प्रकार के प्रयत्न से मैं कैसे दिखलाई पड़ सकता हूं ? क्या पूर्व की ओर जाने वाले मार्ग से चलकर कभी कोई पश्चिमी समुद्र के उस पार वाले तट पर पहुंच सकता है ? अथवा हे अर्जुन, भूसे को चाहे कितना ही कूटा जाय, पर उसमें से क्या कभी अनाज का दाना मिल सकता है ? इसी प्रकार जिस स्थूल विश्व का आकार केवल विकार से बना है, उसी को जानकर मेरा केवल निराकार और निर्गुणी स्वरूप भला कैसे जाना जा सकता है ? क्या फेन पीने से ही पानी पीने का फल हो सकता है ? इसी प्रकार मन में मोह उत्पन्न होने के कारण लोग भ्रम से यह कल्पना कर लेते हैं कि यह विश्व मैं परमात्मा ही हूं; और तब यह मान लेते हैं कि यहां के जो जन्म और मरण आदि कर्म हैं, वे मुझ पर भी प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार वे लोग मुझ नामरहित पर नाम का, क्रियाहीन पर कर्म का और विदेह पर देह-धर्म का आरोप कर लेते हैं। मेरे निराकार होते हुए भी वे मुझ पर आकार का आरोप करते है, मुझे उपाधिहीन पर उपचार-विधि का आरोप करते हैं, मेरे निष्क्रिय होने पर भी मुझ पर व्यवहार का, वर्णहीन

होने पर भी वर्ण का, निर्गुण होने पर भी गुण का, हस्तपाद आदि से रहित होने पर भी हस्तपाद आदि का, अपरिमित होने पर भी परिणाम का और सर्वव्यापी होने पर भी स्थान विशेष का आरोप करते हैं। जिस प्रकार सोया हुआ मनुष्य स्वप्न में अपने बिछौने पर ही जंगल देखता है, उसी प्रकार वे लोग मुझ श्रवणहीन के सम्बन्ध में यह समझते हैं कि मुझे श्रवण हैं, और यद्यपि मुझमें नेत्र, गोत्र, रूप, आकार, इच्छा, तृप्ति, वस्त्र, भूषण और कारण आदि कुछ भी नहीं हैं, परन्तु फिर भी वे मुझमें इन सब बातों का आरोप या भावना करते हैं। यद्यपि मैं स्वयंसिद्ध हूं, परन्तु फिर भी वे मेरी मूर्ति बनाते हैं; मैं स्वयंभू हूं पर फिर भी मेरी प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं और मैं सदा-सर्वदा अखंड और सर्वत्र व्यापाक हूं, पर फिर भी वे मेरा आवाहन और विसर्जन करते हैं। यद्यपि मैं सदा स्वयंसिद्ध हू, परन्तु वे अपनी बुद्धि से मेरे अविकृत एक-रूप के साथ बाल्य, युवा तथा वृद्धावस्था का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यद्यपि मैं द्वैतहीन हूं, परन्तु फिर भी वे मुझमें द्वैतभाव का आरोप करते हैं, मेरे निष्क्रिय होने पर भी मुझमें क्रिया की सम्भावना करते हैं और मेरे अभोक्ता होने पर भी यह समझते हैं कि मैं भोगों का उपभोग करता हूं। यद्यपि मेरा कोई कुल या गोत्र नहीं है, पर फिर भी वे मेरे कुल का वर्णन करते हैं। मेरे अविनाशी होने पर भी मेरी मृत्यु की कल्पना करके दुःखी होते हैं; और यद्यपि मैं सबके अन्दर समान रूप से ओत-प्रोत रहता हूं, पर फिर भी मेरे सम्बन्ध में शत्रु और मित्र आदि भावों की सम्भावना करते हैं। यद्यपि मैं आत्मानन्द का प्रत्यक्ष आगार हूं, परन्तु फिर भी वे समझते हैं कि मैं नाना प्रकार के सुखों की इच्छा करता हूं; और यद्यपि मैं सब जगह समान रूप से व्यापक रहता हूं, परन्तु फिर भी वे मुझे एकदेशीय कहते हैं, और यह मानते हैं कि मैं अमुक स्थल-विभाग में रहता हूं। और यद्यपि मैं समस्त चर और अचर की आत्मा हूं, पर फिर भी वे मेरे सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध करते हैं कि मैं एक का पक्ष लेता हूं और दूसरे पर क्रोध करके उसे मारता हूं। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के जो अनेक मनुष्य-धर्म हैं, उन्हीं के वे 'मैं' कहने लगते हैं और उन सबका मुझमें आरोप करते हैं। इस प्रकार उनके ज्ञान का स्वरूप सत्य के बिलकुल विपरीत होता है। वे जब कोई मूर्ति अपने सामने देखते हैं, तब उसी को देवता कहने लगते हैं; पर जब वही मूर्ति टूट जाती है, तब यह कहकर उसे फेंक देते हैं कि यह देवता नहीं है। तात्पर्य यह कि वे लोग अनेक प्रकार से यही मानते हैं कि मैं साकार मनुष्य ही हूं। इस प्रकार उनका वह विपरीत ज्ञान ही सच्चे ज्ञान को अन्धकार में रखता है और सच्चा ज्ञान उनकी दृष्टि के सामने नहीं आने पाता।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

"इसीलिए ऐसे पुरुषों का जीवन निष्फल सिद्ध होता है। वर्षा ऋतु के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में जो मेघ दिखाई पड़ते हैं, अथवा मृग-जल की जो लहरें उठती हुई दिखाई देती हैं, वे सब दूर से ही देखने भर की होती हैं। यदि उनके पास जाकर उनकी परीक्षा की जाय तो कुछ भी अर्थ नहीं सिद्ध होता। ऐसी परीक्षा में वे दोनों ही निस्सार सिद्ध होते हैं। बच्चों के खेलने के लिए मिट्टी के जो घुड़सवार बनाए जाते हैं, अथवा जादूगर लोग जो अलंकार आदि उत्पन्न करते हैं, अथवा आकाश में बादलों के बने हुए जो महल और कोट आदि या गन्धर्व नगर दिखाई देते हैं, ये सब वास्तव में कुछ न होने पर भी देखने वालों को भासमान होते ही हैं। सरपत बराबर सीधा बढ़ता तो रहता है, परन्तु उसमें फल नहीं लगते और उसके कांड भी अन्दर से पोले ही होते हैं। बकरी के गले में जो स्तन निकलते हैं वे भी केवल दिखाऊ ही होते हैं। ठीक इसी प्रकार का मूढ़ पुरुषों का जीवन भी होता है। उनके किये हुए कर्म सेमल के फलों की तरह लेने-देने के काम के नहीं होते और केवल धिक्कारने के योग्य होते हैं। ऐसे लोग जो ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह बन्दर के तोड़े हुए नारियल के समान अथवा अन्धे के हाथ में आये हुए मोतियों के समान निष्फल होता है। तात्पर्य यह है कि उनके शास्त्र लड़कियों के हाथ के शस्त्रों के समान अथवा

अशुद्ध पुरुषो के मन्त्रबीज के समान केवल निरुपयोगी होते हैं इसी प्रकार हे अर्जुन उनका समस्त ज्ञान संग्रह और कर्म संग्रह दोनो व्यर्थ ही होते है क्योंकि उनके चित्त मे यथार्थ ज्ञान का अभाव होता है अच्छी भली बुद्धि को भी ग्रसने वाली विवेक का ठौर ठिकाना नष्ट करने वाली और अज्ञान के अन्धकार मे सचार करने वाली तामसी राक्षसी प्रकृति (माया के चगुल मे वे लोग फसे रहते है और इसीलिए उनके चित्त के धुर्रे उड जाते हे और वे तमोगुण-युक्त राक्षसी के मुख मे आ पडते है। उस तामसी राक्षसी के मुख मे आशा की लार के अन्दर हिसा की जीभ लपलपाती रहती है जो असमाधान या असन्तोष के लोथड़े बराबर चबाती रहती है। यह हिसा की जीभ होठ चाटती हुई अनर्थ के कानों तक बाहर निकलती है। यह राक्षसी दोषों के पर्वतों की दरियों में निरन्तर मत्त होकर घूमा करती है। द्वेष ही उसकी दाढ़ें हैं जिनसे वह ज्ञान को चबाकर उसका कचूमर निकाल देती है। स्थूल बुद्धि वाले मूर्खों के लिए वह त्वचा और अस्थि के वेष्टन के समान होती है। इस प्रकार इस तामसी माया राक्षसी के मुख में जो लोग भूतों को दी हुई बलि के समान पड़ते हैं, वे अज्ञान या भ्रान्ति से दह में डूबकर नष्ट हो जाते है। इस प्रकार जो लोग तमोगुण के गड्ढे में जा पड़ते हैं, उनके पास तक सहायता के लिए विचार का हाथ पहुंच ही नहीं सकता। ऐसे लोगों की तो कोई बात ही नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इस बात का पता भी नहीं चलता कि वे कहां चले गये। इसीलिए इन मूढ़ लोगों की यह व्यर्थ की कहानी अब समाप्त की जाती है। यदि इसका विस्तार किया जायगा तो उससे व्यर्थ ही वाणी को कष्ट होगा।'' श्रीकृष्ण की इस प्रकार की बातें सुनकर अर्जुन ने कहा—''हे महाराज, आप जो कुछ कहते हैं, वह बिलकुल ठीक है।'' इस पर श्रीकृष्ण ने कहा—''हे अर्जुन, अब मैं साधु पुरुषों की स्थिति बतलाता हूं। सुनो।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

''निरन्तर पवित्र स्थलों में रहने का संकल्प करने वाला मैं क्षेत्र-संन्यासी जिनके शुद्ध अन्तःकरण में निवास करता हूं, जिन्हें वैराग्य कभी निद्रा के समय भी छोड़कर कहीं नहीं जाता, जिनकी श्रद्धायुक्त शुद्ध भावनाओ मे धर्म का साम्राज्य रहता है, जिनके मन में सदा विवेक की आर्द्रता रहती है, जो ज्ञान-गंगा में स्नान कर चुके होते है, जो पूर्ण ब्रह्म की स्थिति तक पहुंचकर समाधान प्राप्त कर चुके होते हैं, जो शान्ति-रूपी बेल में मानो नये पल्लव के समान निकले हुए होते हैं, जो उस परब्रह्म में निकले हुए अंकुर के समान होते हैं जिनमें जगत् की परिणति या परिसमाप्ति होती है, जो धैर्य के आधार-स्तम्भ जान पड़ते हैं, जो आनन्द-समुद्र में डुबोकर भरे हुए पात्र के समान होते हैं, जिनका भक्ति के प्रति इतना अधिक अनुराग होता है कि उसके सामने मुक्ति से कहते हैं कि 'दूर हो, हमे तेरी आवश्यकता नहीं है।' जिनके सहज आचरण में भी नीति जीवित रूप से विहार करती हुई जान पड़ती है, जिनकी समस्त इन्द्रियां शान्ति से शृंगारित होती हैं और जिनका चित्त इतना अधिक विशाल होता है कि वह मुझ सरीखे सर्वव्यापक को भी चारों ओर से आच्छादित कर लेता है, इस प्रकार जो महासमर्थ महात्मा मेरा वह सत्य स्वरूप पूर्ण रूप से जान लेते हैं, जो दैवी सम्पत्ति का सौभाग्य ही है और दिन-दूने रात-चौगुने प्रेम से मेरा भजन करते हैं, परन्तु जिन्हें द्वैतभाव कभी नाम को भी स्पर्श नहीं करता, हे अर्जुन, वे लोग मत्स्वरूप ही होकर रहते है। वे मेरी सेवा तो करते हैं, परन्तु उस सेवा में जो एक विलक्षणता होती है, वह भी सुनो।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

''ऐसे भक्त प्रायश्चित का व्यापार तो बन्द कर देते हैं और कीर्तन के समय भक्ति के आवेश में नाचने लगते हैं। उनका प्रायश्चित वाला व्यापार इसलिए बन्द हो जाता है कि उनमें पाप का नाम भी नहीं होता।

ये यम-दम आदि को निस्तेज कर देते हैं, तीर्थ-क्षेत्रों के चिह्न तक मिटा देते हैं और यमलोक के मार्ग का अन्त कर देते हैं। क्योंकि यम कहता है—'इन लोगों ने तो पहले से ही इन्द्रियों को वश में कर रखा है। फिर मेरे लिए नियम का काम ही कहां बाकी रह जाता है !' ऐसे लोगों का मनोनिग्रह देखकर दम कहता है—'मैं अब किसका दमन करूं ?' तीर्थ कहते हैं—'इनके अंगों में दोष तो इतना भी नहीं है जो औषध भर को भी प्राप्त हो सके। फिर हम अपने पावन गुण से इनका कौन-सा मल दूर करें ?' इस प्रकार वे महात्मा लोग केवल मेरे नाम-कीर्तन के घोष से ही विश्व के दुःखों का नाश करके समस्त संसार को आत्मसुख से भरपूर कर देते हैं। वे बिना प्रभात के ही ज्ञान-दिवस का उदय करा देते हैं, बिना अमृत के ही अमर कर देते हैं और बिना योग-साधना के ही नेत्रों को मोक्ष के दर्शन करा देते हैं। राजा और रंक में योग्यता के भेदभाव की कल्पना करना अथवा किसी को छोटा और किसी को बड़ा समझना तो वे लोग बिलकुल जानते ही नहीं। वे ऊंच-नीच का कोई भेद नहीं करते और आनन्द का बाड़ा सारे संसार के लिए खुला रखते हैं। वैकुण्ठ में तो शायद ही कभी कोई जाता हो, परन्तु वे सारे विश्व को वैकुण्ठ बना डालते हैं। इस प्रकार वे केवल नाम-कीर्तन के घोष से सारे संसार को स्वच्छ प्रकाशमय बना देते हैं। वे सूर्य के समान तेजस्वी होते हैं, परन्तु सूर्य को जो अस्तकाल का दोष रहता है, वह दोष उन्हें कभी स्पर्श भी नहीं करता। चन्द्रमा तो केवल पूर्णिमा के दिन ही सम्पूर्ण रूप से मंडलयुक्त दिखाई देता है, परन्तु वे सदा पूर्णता धारण किये रहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मेघ उदार होते हैं, पर उनकी पूंजी भी कभी-न-कभी खतम हो जाती है; और इसलिए वे भी उन महात्माओं की बराबरी नहीं कर सकते। इन्हें सचमुच उड़ते हुए सिंह कहना चाहिए। एक बार मेरा जो नाम मुख पर लाने के लिए हजारों जन्म धारण करने पड़ते हैं, वह नाम उनकी जीभ पर प्रेम के कारण निरन्तर नाचता रहता है। मैं ऐसा हूं कि मैं वैकुण्ठ में भी नहीं रहता, मैं भानु-मंडल में भी नहीं दिखाई पड़ता और यहां तक कि मैं योगियों के मन को भी पार करके निकल जाता हूं। तो भी, हे अर्जुन, जिस स्थान पर मेरे अनन्य भक्त प्रेम से मेरे नाम-संकीर्तन का घोष करते रहते हैं, वहां मैं, जो और कहीं कभी नहीं मिलता, सहज में मिल जाता हूं। जरा देखो कि वे लोग मेरे गुणों में कहां तक और कैसे लीन हो जाते हैं। उन्हें स्थल और काल का भी स्मरण नहीं रह जाता और वे मेरे नाम-कीर्तन में आत्मसुख प्राप्त करते हैं। उनकी कृष्ण, विष्णु, हरि, गोविन्द की अखंड माला बराबर चलती रहती है और वे मेरे सम्बन्ध में मुक्त हृदय से अध्यात्म की चर्चा करके जी भरकर मेरे गुणों के गीत गाते रहते हैं। परन्तु अब इन सब बातों का अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है। हे अर्जुन, वे भक्त इस प्रकार मेरा कीर्तन करते हुए चराचर में संचार करते हैं। और हे भाई अर्जुन, वे भक्त अत्यन्त यत्नपूर्वक पंच-प्राणों और मन को पूरी तरह से दबाकर उन्हें अपने अधीन रखते हैं। वे बाहर से तो यम-नियमों के घेरे खड़े कर देते हैं और अन्दर वज्रासन का कोट बनाकर प्राणायाम की तोपों से मोरचेबन्दी करते हैं। उस समय कुंडलिनी शक्ति की जाग्रति के कारण जो प्रकाश होता है; उसमें मन और प्राणवायु की अनुकूलता से सत्रहवीं कला के अर्थात् परिपूर्ण आत्मज्ञान रूपी अमृत के सरोवर खुल जाते हैं। उस समय अन्तर्मुख इन्द्रियों की एकाग्रता की परम अवधि हो जाती है (अर्थात् वे एकाग्रता की चरम सीमा पर पहुंच जाती हैं), विकारों की भाषा का अन्त हो जाता है और समस्त इन्द्रियां खिंचकर हृदय में बन्द हो जाती हैं। इतने में धारणा अर्थात् ध्यान को परिपक्व दशा के घुड़सवार दौड़-धूप करके पंचमहाभूतों को एकत्र करते हैं और वे पंचमहाभूत एक होकर आकाश में लीन हो जाते हैं और संकल्प-विकल्प की चतुरंग सेना का पूर्ण रूप से नाश हो जाता है। फिर यह प्रचंड जयघोष होने लगता है कि—'विजय हो गई।' 'विजय हो गई।' और उस जय-घोष में ध्यान-धारणा का नगाड़ा बजने लगता है और ब्रह्म के साथ ऐक्य का एकछत्र राज्य दिखाई देने लगता है। इसके उपरान्त सम्पूर्ण

आत्मानुभव के साम्राज्य में समाधि-लक्ष्मी का अभिषेक होता है। हे अर्जुन, इस प्रकार मेरा भजन बहुत ही गम्भीर और गूढ़ रहस्यात्मक है। जो भक्त मेरा इस प्रकार का भजन करते हैं, वे यह समझ लेते हैं कि जिस प्रकार वस्त्र में एक सिरे से दूसरे सिरे तक एकजात तन्तु रहते हैं उसी प्रकार मैं भी समस्त चराचर में ओत-प्रोत भरा रहता हूं। उनकी समझ में यह भी आ जाता है कि ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसमें मेरा निवास न हो। उन्हें इस बात का ज्ञान हो जाता है कि इस संसार रूपी वस्त्र का एक सिरा ब्रह्मदेव और दूसरा सिरा मशक या मच्छर है; और इन दोनों के बीच में जो समस्त भूत सृष्टि है, वह सब मेरा ही स्वरूप है। फिर ये छोटे-बड़े और सजीव-निर्जीव का कोई भेद नहीं करते। उस समय जो वस्तु उनकी दृष्टि में पड़ती है, उसे वे मद्रूप अर्थात् ब्रह्मस्वरूप समझकर उसका सरलतापूर्वक आदर करते हैं। उन्हें अपनी श्रेष्ठता का ध्यान ही नहीं रह जाता और न दूसरों की योग्यता तथा अयोग्यता की ही कोई भावना रह जाती है। उन्हें एक सिरे से समस्त व्यक्तियों का नम्रतापूर्वक आदर करना ही अच्छा लगता है, जिस प्रकार ऊंचे स्थान पर गिरा हुआ पानी आपसे आप इकट्ठा होकर फिर नीचे स्थान पर आ जाता है उसी प्रकार उन भक्तों का यह स्वभाव ही हो जाता है कि वे भूतमात्र को देखते ही नम्र हो जाते हैं। अथवा जिस प्रकार फलों से लदे हुए वृक्ष की शाखाएं आपसे आप झुककर जमीन की ओर आ जाती हैं, उसी प्रकार वे भूतमात्र के सामने स्वाभाविक रूप से नम्र हो जाते हैं। वे निरन्तर गर्वरहित रहती हैं। वे नम्रता को ही अपना सारा वैभव समझते हैं और वह सारा वैभव वे जय-जय मन्त्रपूर्वक मुझे अर्पित कर देते हैं। इस प्रकार सदा भूतमात्र के सामने नम्र होते रहने के कारण उनकी मान और अपमान वाली भावना बिलकुल नष्ट हो जाती है और इसीलिए वे आपसे आप मद्रूप होकर निरन्तर समरस रहकर उपासना करते रहते हैं—हे अर्जुन, इस प्रकार मैंने तुम्हें सच्ची और महत्त्वपूर्ण भक्ति की सब बातें बतला दी हैं। अब जरा उन लोगों की भी कुछ बातें सुन लो जो ज्ञानयज्ञ के द्वारा मेरी उपासना करते हैं। हे अर्जुन, भजन करने का कौशल तो तुम जानते ही हो, क्योंकि यह विषय मैं एक बार पहले बतला चुका हूं।" श्रीकृष्ण की ये सब बातें सुनकर अर्जुन ने कहा—"हां महाराज, भक्ति और भजन की सब बातें मैं सुन चुका हूं। इस सौभाग्य का प्रसाद मुझे एक बार प्राप्त हो चुका है। तो भी यदि अमृत बारंबार परोसा जाय तो क्या कभी कोई यह कह सकता है कि—'बस, अब और नहीं चाहिए'।" अर्जुन की यह बात सुनकर श्रीकृष्ण ने समझ लिया कि अब इसे इस विषय का चस्का पड़ गया है और ज्ञानसुख से इसका अन्तरंग डोलने लग गया है। अतः श्रीकृष्ण ने कहा—"वाह वाह ! अर्जुन, तुमने यह बहुत अच्छी बात कही। और नहीं तो यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो इस विषय के विवेचन का यह कोई उचित प्रसंग नहीं था। परन्तु मेरे अन्तःकरण में तुम्हारे लिए जो स्नेहपूर्ण आदर रहता है, वही मुझे बोलने में प्रवृत्त करता है।" यह सुनकर अर्जुन ने कहा—"महाराज, आप यह कैसी बातें करते हैं ! यदि चकोर न हो तो क्या चांदनी नहीं छिटकती ? क्या चांदनी का यह सहज स्वभाव नहीं है कि संसार के ताप का निवारण करे ? जिस प्रकार चकोर पक्षी अपने अनुराग के कारण चोंच खोलकर चन्द्रमा की ओर देखता है, उसी प्रकार मैं भी आपसे थोड़ी-सी प्रार्थना करता हूं। परन्तु महाराज, आप तो कृपा के प्रत्यक्ष सागर ही हैं। मेघ अपनी सामर्थ्य से ही संसार की इच्छा पूरी करता है, और नहीं तो यदि मेघ से होने वाली वर्षा का विचार किया जाय तो उसके सामने चातक की प्यास कितनी अल्प ठहरती है ! परन्तु जिस प्रकार चुल्लू भर पानी के लिए भी गंगा नदी के तट पर जाने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मेरी मांग चाहे थोड़ी हो और चाहे बहुत, परन्तु हे महाराज, आप सब बातें विस्तारपूर्वक कहें।" अर्जुन की यह बात सुनकर भगवान् ने कहा—"अच्छा अब इन बातों को जाने दो। मुझे जो संतोष हुआ है, उसके कारण अब तुम्हारे मुख से निकली हुई स्तुति सहन करने के लिए अवकाश नहीं रह गया। तुम सचमुच मेरी बातें सच्चे भाव से सुन रहे हो, और

यही बात मेरे वक्तृत्व के लिए उत्साहवर्द्धक हो रही है।" इस प्रकार की प्रस्तावना के उपरान्त श्रीकृष्ण ने आगे यों कहना आरम्भ किया—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥१५॥

"अब मैं यह बतलाता हूं कि ज्ञानयज्ञ का सम्पादन किस प्रकार होता है। परब्रह्म में जो 'अहं बहुस्याम् प्रजायेय' वाला मूल संकल्प उत्पन्न होता है। वह इस यज्ञ का यज्ञ-स्तंभ है। महाभूत यज्ञ-मंडप है और द्वैत यज्ञ-पशु है। फिर पंचमहाभूतों के जो विशिष्ट गुण अथवा इन्द्रियां और प्राण हैं, वही इस ज्ञान-यज्ञ के उपचार-विधान की सामग्री है। और अज्ञान इस यज्ञ में आहुति देने का घृत है। इस ज्ञानयज्ञ में मन और बुद्धि के कुंडों में ज्ञान की अग्नि धधकती रहती है; और हे सखा अर्जुन, साम्य भावना को ही इस ज्ञानयज्ञ की वेदी समझना चाहिए। विवेक बुद्धि की कुशलता ही मन्त्र-विद्या की शक्ति है, शान्ति इसका यज्ञ-पात्र है और जीव इसका यज्ञकर्ता यजमान है। यही यजमान जीव ब्रह्मानुभव के पात्र में से विवेक रूपी महामन्त्र का घोष करता हुआ ज्ञानाग्नि के होम में द्वैत की आहुति देता है। जब अज्ञान का नाश हो जाता है, तब यज्ञकर्ता और यज्ञ-विधि दोनों का अन्त हो जाता है। जिस समय आत्मैक्य के जल में जीव यज्ञ-समाप्ति का अवभृथ स्नान करता है, उस समय भूतों, विषयों और इन्द्रियों का विभेद भासमान नहीं होता। आत्मैक्य बुद्धि के पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित हो जाने के कारण सब एक ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं। हे अर्जुन, जिस प्रकार नींद से जागा हुआ मनुष्य कहता है—'सोये रहने की अवस्था में जो स्वरूप मैंने देखा था, उसकी अद्भुत सेना मैं ही बना हुआ था। परन्तु अब मैं जाग गया हूं। वह स्वप्न की सेना केवल भ्रमजात थी। वह अब कुछ मैं ही था और अब भी मैं ही हूं।' उसी प्रकार ज्ञानयज्ञ करने वाले की समझ में यह तत्त्व आ जाता है कि यह सारा विश्व एक अभिन्न ब्रह्मरूप ही है। इससे उसका जीवभाव ही नष्ट हो जाता है। वह परमात्म-बोध से ओत-प्रोत भर जाता है और ब्रह्मतत्त्व प्राप्त कर लेता है। बस कुछ लोग इसी एक भाव से ज्ञानयज्ञ के द्वारा मेरा भजन करते हैं। कुछ ऐसे भक्त भी होते हैं जो यह मानते हैं कि यह विश्व अनादि है। और इस विश्व में होते तो सब एक-दूसरे के समान ही हैं, परन्तु नाम और रूप आदि के कारण भिन्न-भिन्न जान पड़ते हैं। इसीलिए इस विश्व में भेदभाव भासमान होता है, परन्तु फिर भी भेद-भाव के कारण उनके ज्ञान में भेद नहीं होता। जिस प्रकार अवयव भिन्न-भिन्न होने पर भी वे वास्तव में एक ही देह के होते हैं अथवा शाखाएं छोटी-बड़ी होने पर भी जिस प्रकार वे एक ही वृक्ष की होती हैं अथवा किरणें असंख्य होने पर वे सब एक ही सूर्य की होती हैं, उसी प्रकार उनके लिए तरह-तरह की रूपात्मक वस्तुएं, उनके भिन्न-भिन्न नाम, उनके भिन्न-भिन्न व्यापार और उन सबसे सम्बन्ध रखने वाले भेद भौतिक विश्व भर के लिए ही होते हैं; और वे भक्त यह भी जानते हैं कि मैं पूर्ण रूप से भेदभाव से रहित हूं। हे अर्जुन, जो लोग इस भिन्न प्रकार से अपने ब्रह्मस्वरूप के ज्ञान को भेदभाव का स्पर्श नहीं होने देते; वे ही ठीक तरह से ज्ञानयज्ञ करते हैं। कारण यह है कि जिस समय और जिस स्थान पर उन्हें जो कुछ दिखाई देता है, उसके सम्बन्ध में पहले से ही उनका वह ज्ञान रहता है कि वह मुझ परब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। देखो, जो बुलबुला बनता है; वह जल-रूप ही होता है। अब चाहे वह फूट जाय और चाहे रहे, पर उसके सम्बन्ध में जो कुछ होता है, वह जल में ही होता है। हवा से धूल के कण भले ही इधर-उधर उड़ने लगें, परन्तु फिर भी उनका पृथ्वीभाव कभी नष्ट नहीं होता। और जब वे गिरते हैं, तब पृथ्वी पर ही गिरते हैं। इसी प्रकार चाहे कोई नाम-रूपात्मक वस्तु क्यों न हो; फिर चाहे वह बनी रहे और चाहे नष्ट हो जाय, पर वह निरन्तर ब्रह्मरूप ही रहती है। मैं जिस प्रकार सर्वव्यापक हूं, उसी प्रकार उनका ब्रह्मानुभव भी सर्वव्यापक होता है। इस प्रकार वे लोग यह ज्ञान रखकर सब प्रकार के व्यवहार करते हैं कि यह नाना-विध विश्व एक-विध

ब्रह्म ही है। हे अर्जुन, जिस प्रकार इस सूर्य-बिम्ब को जो देखना चाहता है, यह उसके सामने ही रहता है; उसी प्रकार इस विश्व को अपने ब्रह्मबोध से व्याप्त रखने के कारण वे भी सबको अपने सामने ही दिखाई देते हैं। हे पार्थ, उनके ज्ञान में नाम को भी भेद-भाव नहीं होता। जिस प्रकार गगन में वायु सब स्थानों पर समान भाव से और पूरी तरह से भरी रहती है, उसी प्रकार उनका ज्ञान भी सारे विश्व को समभाव से व्याप्त रखता है। जितनी अधिक मेरी व्याप्ति है, उतनी ही उनके ब्रह्मबोध की भी व्याप्ति रहती है; और इसीलिए चाहे वे उपासना सम्बन्धी एक भी काम न करें, परन्तु फिर भी उनके द्वारा मेरी आपसे आप उपासना हो जाती है। यों तों सब जगह एक मैं ही हूं, फिर भला मेरी उपासना किससे और कब नहीं होती ! (अर्थात् सब लोग आपसे आप और निरन्तर किसी न किसी रूप मे मेरी उपासना करते ही रहते हैं।) परन्तु उन सब लोगों को वह सर्वव्यापक ज्ञान नहीं होता, इसलिए जीव अप्राप्त स्थिति में रहते हैं—वे मेरे यथार्थ स्वरूप को प्राप्त नहीं होते। परन्तु अब इस विषय का विशेष विस्तार करने की आवश्यकता नहीं। मैंने तुम्हें यह बतला दिया है कि इस प्रकार के योग्य ज्ञानयज्ञ के द्वारा मेरी उपासना किस तरह की जाती है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के द्वारा और भिन्न-भिन्न साधनों से जिन-जिन कर्मो का आचरण होता है, वे सब अन्त में मुझे ही अर्पित होते हैं। परन्तु मूढ़ जनों को इस रहस्य का पता नहीं होता, और इसीलिए वे मेरा शुद्ध स्वरूप प्राप्त नहीं करते।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

"परन्तु जब उस शुद्ध ब्रह्मज्ञान का उदय हो जाता है, तब इस बात का ज्ञान हो जाता है कि वेद भी मै ही हू और वेदों में बतलाई हुई अनुष्ठान विधि से जो क्रतु या यज्ञ किये जाते हैं, वह भी मैं ही हूं। फिर उन क्रतु-कर्मो से जो यथास्थित यज्ञ होते हैं, वे सब अंगों और उपांगों के सहित यज्ञ भी मैं ही हूं। स्वाहा, स्वधा, सोम आदि औषधियां, वल्ली, घृत, समिधा, मन्त्र, आहुति, द्रव्य, होता, अग्नि और हवन की हुई वस्तुएं आदि जो यज्ञ में काम आती हैं, वे सब भी मैं ही हूं।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

"जिसके सहवास से आठ प्रकार की प्रकृति (माया) से यह नाम-रूपात्मक संसार उत्पन्न होता है, उस संसार का पिता मैं ही हूं। अर्द्ध-नारी-नटीश्वर की मूर्ति में का जो पुरुष होता है, वही नारी भी होता है, और इसी प्रकार इस चराचर विश्व की माता भी मैं ही हूं। फिर उत्पन्न होने वाला संसार जिसके आधार पर बना रहता और बढ़ता है, वह आधार भी मेरे सिवा और कोई नहीं है। यह प्रकृति-पुरुष अथवा शिव-शक्ति की जोड़ी जिसके सहज संकल्प से अस्तित्व में आई है, वह त्रिभुवन का पितामह भी मैं ही हूं। और हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, समस्त भिन्न-भिन्न ज्ञान-मार्ग अन्त में जिस एक चौमुहानी पर आकर मिलते हैं, जिसका नाम 'वेद्य' अर्थात् जानने की वस्तु है, जहां नाना मत एकमत हो जाते हैं, जहां भिन्न-भिन्न शास्त्र आपस में एक-दूसरे को पहचान लेते हैं और जहां उनका भेदभाव नष्ट हो जाता है, जहां एक-दूसरे से अलग रहने वाले ज्ञान-मार्गो का मेल होता है, जिसे 'पवित्र' कहते हैं और आदि संकल्प रूपी ब्रह्मबीज से अंकुरित नाद-स्वरूप घोष ध्वनिमय अंकुर का मूल स्थान जो ओंकार है, वह भी मैं ही हूं। उस ओंकार के पेट में रहने वाले जो अ, उ और म ये तीनों अक्षर वेदों के साथ उत्पन्न हुए हैं, वे अक्षर भी मैं ही हूं ! ऋक्, यजुस् और साम ये तीनों वेद भी मैं ही हूं। इस प्रकार समस्त साहित्य की परम्परा मैं ही हूं !

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

यह सारा चराचर विश्व जिस प्रकृति मे समाया हुआ ह वह प्रकृति (माया) थक जाने पर जिसमे विश्राम करता है, वह परम धाम भी मै ही हू जिसके कारण प्रकृति मे जीवन आता है ओर जिसका स्वीकार करने से वह इस विश्व को प्रसव करती है और इस प्रकृति का सहवास करके गुणों का उपभोग करता है, हे अर्जुन, वह इस विश्व-लक्ष्मी का नाथ भी मैं ही हूं। समस्त त्रिभुवन का मैं ही शास्ता हूं। आकाश जो अशेष स्थल को व्याप्त करता हे, वायु जो क्षणमात्र भी निश्चल नहीं रहती, अग्नि जो जलाती है, पानी जो बरसता है, पर्वत जो अचल रहते हैं, समुद्र जो अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, पृथ्वी जो भूतमात्र का भार सहन करती है, वह सब मेरी ही आज्ञा से ; यदि मैं बोलूं, तभी वेद भी बोलते हैं। यदि मैं चलाऊं, तभी सूर्य भी चलता है। मैंने गति दी है, इसीलिए संसार को चलाने वाले प्राण भी चलते रहते हैं। मैंने नियम बना दिये हैं, उन्हीं के आधार पर यम भी भूतों का संहार करता है। जिसके कहने से ये सब काम होते हैं और जो जगत् का सामर्थ्यवान् प्रभु है, वह भी मैं ही हूं। और गगन की तरह कुछ भी न करके जो तटस्थ रहने वाला है, वह भी मैं ही हूं। हे अर्जुन, जो इस समस्त नाम-रूपों से भरा हुआ हे और जो इन समस्त नाम-रूपों का मूल आधार है, जो इस समस्त भौतिक सृष्टि का उसी प्रकार आधार होकर रहता है, जिस प्रकार जल की तरंगों का आधार जल ही होता है, वह आधार भी मैं ही हूं। जो एकनिष्ठ होकर मेरी शरण में आता है, उसके जन्म-मरण का भी मैं ही अन्त करता हू इसलिए शरणागतों का शरण्य (अर्थात् जिसकी शरण में जाना उचित हो) वह भी मैं ही हूं। मैं ही अनेकत्व धारण करके प्रकृति के भिन्न-भिन्न गुणों के द्वारा ससार के प्राण रूप से कर्म करता हूं। सूर्य कभी इस बात का भेदभाव नहीं करता कि यह समुद्र है और यह कीचड से भरा हुआ गड्ढा है। वह समस्त जलाशयों पर समान रूप से प्रतिबिम्बित होता है। इसी प्रकार ब्रह्मा से लेकर कीड़े-मकोड़े तक समस्त भूतों में समान भाव और सख्य रूप से रहने वाला भी मैं ही हूं। हे अर्जुन, मैं ही इस संसार का आधार हूं और इसकी उत्पत्ति, नाश तथा पुनरुत्पत्ति का भी मैं ही कारण हूं। बीज ही समस्त शाखाओं को उत्पन्न करता है, पर फिर भी सारा वृक्षत्व उस बीज में ही समाया रहता है। इसी प्रकार सारा विश्व आदि संकल्प से ही उत्पन्न होता है और अन्त में उसी संकल्प में समाया रहता है। इस प्रकार का अमूर्त वासना-रूपी जो संकल्प जगत् का बीज है, वह संकल्प कल्पान्त में लौटकर जिसमें समाता है, वह भी मैं ही हूं। जिस समय नाम और रूप नष्ट होते हैं, व्यक्तियों की विशिष्टता नहीं रह जाती, जाति और वर्ग का भेदभाव मिट जाता है और आकार नही रह जाता, उस समय से लेकर आदि संकल्प की वासना का फिर से स्फुरण होने के समय तक सारा चराचर जिसमें सुखपूर्वक रहता है, वह भी मैं ही हूं।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

"जब मैं सूर्य रूप से ताप उत्पन्न करता हूं, उस समय जल सूख जाता है। फिर मैं ही इन्द्र के रूप में वर्षा करता हू जिससे सब जगह फिर जल भर जाता है। अग्नि जिस समय लकड़ी को जलाती है, उस समय लकड़ी ही अग्नि हो जाती है ! उसी प्रकार मरने वाले भी और मारने वाले भी दोनों मेरे ही स्वरूप होते हैं। इसीलिए जो लोग मृत्यु के मुख में जाते हैं, वे भी मेरे ही रूप हैं और जो अमर हैं, वे तो स्वभावतः मेरे रूप हैं ही। जो बात बहुत-सी लम्बी-चौड़ी वक्तृता के द्वारा बतलाने की है, वह अब मैं तुम्हें एक ही शब्द में बतला देता हूं; सुनो। सत् और असत् अर्थात् अविनाशी और विनाशी सब कुछ मैं ही हूं। इसलिए, हे अर्जुन, ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहां मैं न होऊं। परन्तु प्राणियों का भाग्य ही ऐसा खराब है कि मैं तुम्हें दिखाई ही नहीं देता। यदि तरंगें यह कहकर सूख जायं कि पानी नहीं है अथवा सूर्य की किरणें यह कहकर अन्धी हो जायं कि दीपक नहीं है, तो यह कितने आश्चर्य की बात है ! इसी प्रकार यह भी एक आश्चर्य की ही बात है कि लोग मद्रूप होते हुए भी यह कहकर भ्रान्त होते हैं कि मै

नहीं हूं। इस समस्त विश्व के अन्दर और बाहर मैं ही व्याप्त हूं और यह सारा जगत् मेरी ही मूर्ति है; परन्तु इन अभागों का दुर्भाग्य बीच में ऐसा बाधक होता है कि वे यह कहते हैं कि 'मैं नहीं हूं।' यह बात ठीक वैसी ही है, जैसे कोई पहले तो अमृत के कुएं में गिर पड़े और तब अपने आपको उसमें से निकालकर बाहर ले आवे और किनारे पर पहुंच जाय। फिर भला लोगों के ऐसे अभाग्य के लिए क्या किया जाय ? हे अर्जुन जिस प्रकार कोई अन्धा कौर भर अन्न के लिए इधर-उधर मारा-मारा फिरता है और अपने अन्धेपन के कारण पैर में लगने वाले चिन्तामणि को इधर-उधर ठुकरा देता है, उसी प्रकार की अवस्था उन जीवों की भी होती है जिन्हें ज्ञान नहीं होता। इसीलिए मनुष्य को जो कुछ करना चाहिए, वह उससे ज्ञान न होने के कारण नहीं हो सकता। अन्धे गरुड़ को भी पंख होते हैं, पर वे किस काम के ? इसी प्रकार ज्ञान के बिना सत्कर्म का आयास व्यर्थ जाता है।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥

"हे अर्जुन, ध्यान रखो, जो लोग आश्रम-धर्म के अनुसार स्वयं ही सदाचार की कसौटी बन जाते हैं, जिनकी यज्ञ-क्रिया देखकर तीनों वेद भी सन्तोष से सिर हिलाते हैं और जिनके सामने यज्ञ-क्रिया का फल मूर्तिमान होकर खड़ा रहता है, उन सोमपान करने वाले यज्ञकर्ताओं के सम्बन्ध में जो स्वयं ही यज्ञ-रूप होते है, तुम यही समझ लो कि उन्होंने पुण्य के नाम से पापों का ही संचय किया है; क्योंकि वे लोग तीनों वेदों का पठन करके और सैकड़ों यज्ञ करके उस मुझको भूल जाते हैं जिसको समस्त यज्ञ पहुंचते हैं, और मुझे भूलकर वे लोग स्वर्ग को स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार कोई अभागा पुरुष कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर अपनी झोली में गांठ लगावे और तब उठकर भीख मांगने के लिए इधर-उधर भटकता फिरे, उसी प्रकार जब ये लोग भी सैकड़ों यज्ञों के द्वारा मेरी ही उपासना करके अन्त में स्वर्ग-सुख की कामना करते हैं, तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि उनके कर्म वास्तव में पुण्य ही हैं, पाप नहीं हैं ! इसीलिए मुझे छोड़कर स्वर्ग का संग्रह करना अज्ञान का पुण्य-मार्ग है, परन्तु ज्ञानी लोग इससे केवल उपद्रव अर्थात् कल्याण की हानि समझते हैं। यदि सच पूछो तो नरक के दुःख देखकर ही लोग स्वर्ग को सुख समझते हैं। परन्तु वास्तव में केवल मेरा स्वरूप ही ऐसा है जो दोषरहित और अविनाशी सुख है। हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, मेरे पास तक पहुंचने में जो टेढ़े-तिरछे और बाधक मार्ग हैं, वे यही हैं। स्वर्ग और नरक तो चोरों के मार्ग हैं। नियम यह है कि पुण्यमिश्रित पाप से लोग स्वर्ग प्राप्त करते हैं, शुद्ध पाप करने से नरक में जाते हैं और शुद्ध तथा निर्दोष पुण्य करके मुझे प्राप्त करते हैं। हे अर्जुन, मुझमें रहते हुए भी जिस कर्म के कारण लोग मुझे प्राप्त नहीं कर सकते, उसी कर्म को पुण्य करने वाली जीभ के क्या सैकड़ों-हजारों टुकड़े नहीं हो जायंगे ? परन्तु ये दूसरे विषय की बातें हैं और अब इन्हें जाने दो। अब अपने विषय को लो। इस प्रकार ये यज्ञकर्ता यज्ञ के द्वारा मेरी उपासना करके स्वर्गभोग की याचना करते हैं। और फिर अपने उस पाप रूपी पुण्य की सामर्थ्य से, जिससे कभी मेरी प्राप्ति नहीं हो सकती, वे लोग स्वर्गलोक प्राप्त करते हैं। उस स्वर्ग में एक अमरत्व ही सिंहासन है। वहां बैठने के लिए ऐरावत और रहने के लिए राजधानी अमरावती है। वहां महासिद्धियों के संग्रह, अमृत के भांडार और कामधेनु के झुण्ड हैं। वहां सेवा के लिए सदा देवता प्रस्तुत रहते हैं, जमीन पर चिन्तामणि के फर्श बने हैं और क्रीड़ा के लिए चारों ओर कल्पतरु के उपवन हैं। वहां गन्धर्व गान करते हैं, रम्भा सरीखी अप्सराएं नाचती हैं और उर्वशी आदि विलासिनी स्त्रियां प्राप्त होती हैं। वहां शयनागार में स्वयं मदन सेवा करता है, चन्द्रमा आंगन में छिड़काव करता है और वायु सरीखे नौकर-चाकर बराबर इधर-उधर दौड़-दौड़कर सब काम करते रहते हैं। वहां ऐसे स्वस्ति-वाचन करने वाले ब्राह्मण होते हैं जिनमें स्वयं बृहस्पति मुख्य हैं; और भाटों का काम करने के लिए जितने चाहिए, उतने देवता मिल जाते हैं। वहां सरदारों की तरह पंक्तिबद्ध होकर खड़े रहने वाले लोकपाल होते हैं और उच्चैःश्रवा सरीखा

कोतवाल घोड़ा है। तात्पर्य यह कि जब तक उनकी गांठ में पुण्य रहता है, तब तक वे इन्द्रसुख के समान इसी प्रकार के अनेक सुखों का उपभोग करते हैं।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनु प्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

"जब उनके कमाये हुए पुण्य का आधार नहीं रह जाता और साथ ही इन्द्रपद का तेज भी उतर जाता है, तब वे लोग फिर इसी मृत्युलोक में चले आते हैं। जिस प्रकार कोई व्यसनी पुरुष वेश्या के फेर में पड़कर अपना सारा धन गंवा देता है और तब उस दरिद्रावस्था में उसके लिए उस वेश्या के द्वार पर जाना भी असम्भव हो जाता है, उसी प्रकार संगृहीत पुण्य समाप्त हो जाने पर उन यज्ञकर्ताओं की जो लज्जास्पद अवस्था होती है, उसका मैं क्या वर्णन करूं ! इस प्रकार जो लोग मेरी शाश्वत आत्मा को न पहचानकर अपने पुण्य-कृत्यों की सहायता से स्वर्ग का भोग प्राप्त करते हैं, उन्हें वास्तविक अमरत्व नहीं प्राप्त होता और अन्त में उन्हें इस मृत्युलोक में ही आना पड़ता है। वे माता के गर्भाशय में गन्दगी में नौ मास तक रहकर बार-बार जन्म लेते और मरते हैं। स्वप्न में द्रव्य का बहुत सा भांडार देखा जाता है, परन्तु ज्यों ही नींद खुलती है, त्यों ही सारा भांडार न जाने कहां चला जाता है। ठीक इसी तरह वेदज्ञों को मिलने वाला स्वर्गसुख भी मिथ्या ही समझना चाहिए। हे अर्जुन, अनाज निकाल लेने पर जो भूसा बच जाता है, उसे ओसाना बिलकुल व्यर्थ ही होता है। इसी प्रकार चाहे कोई पुरुष वेदवेत्ता भले ही हो जाय, परन्तु यदि उसे मेरे शाश्वत स्वरूप का ज्ञान न हो तो समझ लेना चाहिए कि उसका सारा जीवन व्यर्थ ही गया। इसलिए यदि मेरा ज्ञान न हो तो समस्त वेदोक्त धर्म निरुपयोगी ही सिद्ध होते हैं। परन्तु यदि तुम्हें मेरे सत्स्वरूप का ज्ञान हो जाय और तब तुम्हें और किसी प्रकार का ज्ञान भी हो, तो तुम सुखी ही होगे।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

"जिसने सम्पूर्ण मनोयोगपूर्वक अपने आपको मुझे अर्पित कर दिया है, जो उसी प्रकार मेरे सिवा और किसी दूसरे को अच्छा नहीं समझता, जिस प्रकार गर्भाशय में का पिंड और कोई उद्योग नहीं जानता और जिसे समस्त जीवन का ही ज्ञान मेरे नाम के रूप में होता है और इस प्रकार जो एकनिष्ठ होकर मेरा चिन्तन करता है तथा मेरी उपासना करता है, उसी की मैं भी बराबर सेवा करता रहता हूं। जब वह पूर्ण मनोयोगपूर्वक एकीकरण करके मेरी उपासना का मार्ग अंगीकार कर लेता है, उसी समय उसकी सब प्रकार से सुव्यवस्था करने का भार या चिन्ता मुझ पर आ पड़ती है। तब जो-जो बातें उसके करने की होती हैं, वे सब बातें उसके लिए मुझे करना आवश्यक हो जाता है। माता पक्षिणी अपने उन्हीं बच्चों के लिए अपना जीवन धारण करती है जिन बच्चों के अभी तक पंख नहीं निकले होते। उसे अपनी भूख-प्यास का कुछ भी ध्यान या चिन्ता नहीं रहती। वह सदा केवल अपने बच्चों के हित के ही सब काम करती है। इसी प्रकार जो लोग सब तरह से मुझ पर विश्वास रखकर मेरी उपासना करते हैं उनकी सब प्रकार से देख-रेख मैं ही करता हूं। यदि वे मेरे साथ एकरूप होकर मोक्ष की रुचि रखते हैं, तो उनकी वह रुचि मैं ही पूरी करता हूं। और यदि उन्हें मेरी सेवा ही अच्छी लगती हो, तो मैं उन्हें प्रेम का दान देता हूं। इस प्रकार वे लोग अपने मन में जिन-जिन बातों की इच्छा करते हैं, वे सब मैं उन्हें बार-बार देने लगता हूं। और इस प्रकार जो कुछ मैं उन्हें देता हूं, उनके लिए उसकी देखरेख भी मुझे ही करनी पड़ती है। उनका योगक्षेम मुझे ही करना पड़ता है, क्योंकि उनकी सब बातें मुझ पर ही आश्रित रहती हैं।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

इसके सिवा और भी अनक सम्प्रदाय हे परन्तु उनके अनुयाया मरा सर्वव्यापक रूप नही जानते वे अग्नि इन्द्र, सूर्य और सोम के उद्देश्य से यज्ञ करते हैं। वे यज्ञ भी मुझे ही प्राप्त होते हैं, क्योंकि यह सारा विश्व मैं ही हूं। परन्तु यह उपासना प्रणाली सीधी नहीं बल्कि टेढ़ी है। देखो, वृक्ष की शाखाएं और पत्ते सब एक ही बीज से उत्पन्न होते हैं, परन्तु सबके लिए पानी ग्रहण करने की क्रिया मूल या जड़ ही करती है, इसलिए जड़ में ही पानी देना ठीक है। अथवा मनुष्य के शरीर में दस इन्द्रियां होती हैं और वे सब एक ही शरीर में होती हैं; और वे इन्द्रिया जिन विषयों का सेवन करती हैं, वे भी अन्त में एक ही स्थान में जाते हैं। तो भी क्या कोई खाद्य पदार्थ प्रस्तुत करके कानों में डालता है ! अथवा फूल यदि आंखों के साथ बांध दिये जायं तो काम चल सकता है ! नहीं। अन्न मुख में डालना होगा और सुगन्ध का अनुभव नाक से करना होगा। इसी प्रकार मेरा वास्तविक स्वरूप समझकर ही मेरी उपासना की जानी चाहिए। यदि मेरे आत्मस्वरूप को बिना जाने हुए मेरा भजन किया जायगा तो वह व्यर्थ किये हुए काम की तरह निष्फल होगा। अतः कर्म के लिए ज्ञानदृष्टि की आवश्यकता होती है और उस दृष्टि का स्वच्छ तथा निर्मल होना भी आवश्यक है।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

"हे अर्जुन, यदि वास्तव में देखा जाय तो यज्ञों के समस्त उपचारों का मेरे सिवा और कौन भोक्ता हो सकता है ? मैं ही समस्त यज्ञों का मूल हूं और मैं ही यज्ञों की अन्तिम मर्यादा हूं। परन्तु इन याज्ञिकों को इस बात का ज्ञान नहीं है और इसलिए वे दूसरे देवताओं के भजन में लगे हुए हैं। जिस प्रकार देवताओं और पितरों के नाम से गंगा का पानी गंगा में ही अर्पण किया जाता है, उसी प्रकार यज्ञ आदि विधि-विधानों के द्वारा वे लोग मेरी ही वस्तु मुझको ही अर्पित करते हैं; परन्तु केवल अर्पण-विधि दूसरे देवताओं के उद्देश्य से करते हैं। इसीलिए, हे अर्जुन, वे इन विधि-विधानों के द्वारा मुझ तक आकर नहीं पहुंचते, बल्कि याज्ञिक लोग जिन देवताओं के उद्देश्य इन सब कर्मों का आचरण करते हैं, उन्हीं अपने उपास्य देवताओं को वे लोग प्राप्त होते हैं।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

"जो लोग अपना मन, वाणी और इन्द्रियां इन्द्र आदि देवताओं के भजन में लगाते हैं, वे शरीरपात होते ही उन देवताओं का रूप प्राप्त करते हैं। अथवा जिनके मन पितृव्रत के आचरण में रंगे हुए हैं, वे मृत्यु के उपरान्त पितृ-स्वरूप होते हैं। जिन लोगों को बैताल, पिशाच और हीन ग्राम्य देवता ही सबसे श्रेष्ठ जान पड़ते हैं और मारण, मरण आदि मन्त्रों के लिए जो उनकी उपासना अंगीकार करते हैं, उनके शरीर का पर्दा जब मृत्यु उठा देती है, तब वे लोग तुरन्त ही भूत-योनि को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सब लोग अपने-अपने संकल्पों या विचारों के अनुसार ही अपने-अपने कर्मों का फल प्राप्त करते हैं। परन्तु जिनकी आंखों ने मेरे दर्शन किये हैं, जिनके कानों ने मेरा श्रवण किया है, जिनके मन ने मेरा ध्यान किया है, जिनकी वाचा ने मेरी कीर्ति का गान किया है, जो अपने समस्त अंगों से समस्त स्थानों पर मेरे ही उद्देश्य से नमन करते हैं, जो अपने दान-पुण्य आदि सब काम मेरे प्रीत्यर्थ करते है, जिन्होंने मेरा ही अध्ययन किया है, जो अन्दर और बाहर मद्रूप होकर सन्तुष्ट होते हैं, जो अपना सारा जीवन मुझे ही अर्पण करते हैं, जो केवल हरिभक्तों के लक्षण धारण करने के लिए ही अहंभाव को स्वीकार करते हैं, जिन्हे केवल मेरा ही लोभ लगा हुआ है, जो केवल मुझे प्राप्त करने की इच्छा से ही स-काम रहते हैं, जो मेरे ही प्रेम मे व्याकुल होते हैं, मेरे सर्वव्यापी स्वरूप से भरे होने के कारण जिन्हें लौकिक भाव भासमान भी नहीं होते, जिनके शास्त्र और मन्त्र-तन्त्र सब मेरे प्रीत्यर्थ होते हैं, तात्पर्य यह कि जो अपने समस्त व्यवहारों और आचारों में मेरा ही

भजन करते हैं, वे मृत्यु के पहले ही मेरा सत्य, शुद्ध और बुद्ध स्वरूप प्राप्त कर लेते हैं। फिर भला मरने के बाद वे और कहां जा सकते हैं ! इसीलिए जो अपने समस्त व्यवहार स्वयं ही मेरे स्वरूप में अर्पित करते हैं, वे मेरे याज्ञिक या उपासक मेरा ही स्वरूप प्राप्त करते हैं। हे अर्जुन, आत्मस्वरूप का अनुभव हुए बिना मैं कभी किसी को प्रिय नहीं होता। मैं और किसी उपाय से किसी के लिए साध्य नहीं हो सकता। इन विषयों में जो अपने ज्ञान का गर्व करता हो, उसी को अज्ञानी समझना चाहिए। जो अपना बड़प्पन दिखलाता हो, समझ लेना चाहिए कि उसी में कुछ कमी और कच्चाई है। जो अभिमानपूर्वक यह कहता हो कि अब मैं परिपूर्ण हो गया हूं, उसके सम्बन्ध में खूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि उसमें कुछ भी महत्त्व नहीं हैं। इसी प्रकार, हे अर्जुन, जो लोग अपने यज्ञ-याग आदि की अथवा तपश्चरण की डींग हांकते हैं, उनके इन सब कर्मो का तृण-भर भी उपयोग नहीं होता। भला तुम्हीं बतलाओ कि ज्ञान की सामर्थ्य रखने में वेदों से भी बढ़कर और कोई समर्थ है ? अथवा वक्तृत्व-शक्ति में सहस्र-वदन शेषनाग से भी बढ़कर कोई और कुशल है ? परन्तु वह शेष भी मेरे बिछौने के नीचे दबा बैठा है और वेद भी मेरे स्वरूप का यथातथ्य विचार करने से घबराते हैं और 'नेति नेति' कहकर पीछे हट जाते हैं। इस विषय में सनक आदि ज्ञाता भी पागल और भौचक्के हो गये हैं। यदि तपश्चरण का विचार करो तो शूलपाणि शंकर के बराबर कठोर तपस्या किसने की है ! परन्तु वे तपस्वी-श्रेष्ठ शंकर भी सब अभिमान एक ओर रखकर मेरे चरण-तीर्थ अपने मस्तक पर धारण करते हैं। सम्पन्नता में लक्ष्मी के समान कौन श्रेष्ठ है ? उस लक्ष्मी के घर में श्रीदेवी सरीखी दासियां काम करती हैं। उसी लक्ष्मी ने खेलवाड़ में जो घरौंदा बनाया है, उसी को लोग अमरपुरी कहते हैं। ऐसी अवस्था में क्या इन्द्र आदि देवाधिपति उन लक्ष्मी की पुतलियां नहीं सिद्ध होते ? वह लक्ष्मी जब इस प्रकार के खेलवाड़ से ऊबकर ये घरौंदे तोड़ डालती है, तब महेन्द्रादि सब कंगाल हो जाते हैं। वे दासियां जिन वृक्षों की ओर देख देती हैं, वे वृक्ष कल्पतरु हो जाते हैं। जिस लक्ष्मी के घर में काम करने वाली परिचारिकाओं में भी इस प्रकार की अलौकिक सामर्थ्य है, उस मुख्य नायिका लक्ष्मी का भी नारायण के सामने कोई विशेष महत्त्व नहीं है। इसीलिए, हे अर्जुन, वे लक्ष्मी मनोयोगपूर्वक मेरी सेवा करती हैं और सब अभिमान अलग रखकर उन्होंने नारायण के चरण धोने का सौभाग्य प्राप्त कर लिया है। इसलिए, पहले अपने महत्त्व के सब विचार छोड़ने पड़ते हैं, ज्ञान सम्बन्धी अभिमान का परित्याग करना पड़ता है और मन में इस प्रकार की सच्ची भावना रखकर विनयी होना पड़ता है कि मैं संसार के सब जीवों से छोटा हूं। तब जाकर मनुष्य मेरे स्वरूप के समीप पहुंच सकता है। देखो, सहस्र-कर सूर्य की दृष्टि के सामने चन्द्रमा भी फीका पड़ जाता है। फिर जुगनूं अपने तेज की प्रौढ़ता की डींग क्यों हांके ? इसलिए जहां लक्ष्मी का महत्त्व और शंकर का तप भी कोई चीज न हो, वहां मूढ़ और दुर्बल सामान्य मनुष्यों का भला क्या पूछना है ! इसीलिए शरीर के अभिमान का विचार छोड़ देना चाहिए, समस्त सद्गुणों की प्रतिष्ठा राई-नोन की तरह उतारकर फेंक देनी चाहिए और सम्पन्नता के मद को निछावर करके उसका अन्त कर डालना चाहिए।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

"ऐसा भक्त जिस समय असीम प्रेमरस में भरकर किसी वृक्ष का फल मुझे अर्पित करने के लिए मेरी तरफ बढ़ता है, तब मैं बड़ी उत्कंठा से उसे लेने के लिए अपने दोनों हाथ आगे बढ़ाता हूं और उस फल का डंठल तोड़ने के लिए भी नहीं रुकता और बड़े प्रेम से ज्यों-का-त्यों उसे सेवन करता हूं। हे अर्जुन, यदि मेरा कोई भक्त भक्तिपूर्वक एक फूल भी मुझे देता है, तो वास्तव में मुझे वह फूल सूंघना चाहिए; परन्तु उस समय मैं भक्त के प्रेम से इतना अधिक भर जाता हूं कि वह फूल भी मैं अपने मुख में रखकर खा जाता हूं। परन्तु फूल की तो बात

ही क्या है, यदि मेरा भक्त मुझे किसी ऐसे-वैसे वृक्ष का एक पत्ता भी अर्पित करता है, तो मैं यह भी नहीं देखता कि वह पत्ता ताजा है या बासी और सूखा हुआ। मैं तो केवल यही देखता हूं कि वह प्रेमरस से भरा हुआ है, और वह पत्ता भी मैं उसी प्रकार सुख से खाकर पुष्ट होता हूं, जिस प्रकार कोई भूखा आदमी उतावलेपन से अमृत पीकर तृप्त होता है। अथवा किसी अवसर पर ऐसा भी होता है कि कहीं कोई पत्ता भी नहीं मिलता। परन्तु पानी की तो कमी नहीं रहती न ? वह तो सब जगह बिना दाम के ही मिल जाता है। परन्तु वही मुफ्त में मिला हुआ पानी मेरा भक्त मुझे अपना सर्वस्व समझकर अर्पित करता है; और उसके इस अल्प समर्पण से ही मुझे ऐसा जान पड़ता है कि उस भक्त ने मानो मेरे लिए वैकुंठ से भी बढ़कर कोई निवास-स्थान बनवा दिया है अथवा कौस्तुभ से भी बढ़कर निर्मल तेज वाला कोई जड़ाऊ अलंकार मुझे पहना दिया है, अथवा क्षीर-सागर से भी बढ़कर सुखदायक दूध के असंख्य नवीन शयन-स्थल मेरे लिए बनवा दिए हैं, अथवा कपूर, चन्दन और कृष्ण अगर इन तीनों वस्तुओं का सुगन्धिमय, बहुत ऊंचा मेरु पर्वत मेरे उपभोग के लिए उत्पन्न करा दिया है; अथवा मेरी दीपमाला में एक-दूसरा सूर्य ही लाकर लगा दिया है; अथवा उसने गरुड़ सरीखे वाहन अथवा प्रत्यक्ष कल्पवृक्षों के उपवन अथवा कामधेनु के झुंड ही मुझे अर्पित किये हैं, अथवा अमृत से भी बढ़कर स्वादिष्ट नाना प्रकार के दिव्य पक्वान्न उसने मेरे सामने रखे हैं। जिस समय मेरा भक्त मुझे पानी की एक बूंद भी देता है, उस समय मुझे इतना ही अपरम्पार संतोष तथा आनन्द होता है। हे अर्जुन, यह कुछ आवश्यक नहीं है कि मैं तुम्हें ये सब बातें बतलाऊं ही, क्योंकि तुम तो प्रत्यक्ष ही यह सब देख चुके हो कि भक्तिपूर्वक लाये हुए तीन मुट्ठी चावलों के लिए मैंने सुदामा के फटे हुए दुपट्टे की गांठें अपने हाथ से खोली हैं। मैं तो केवल भक्ति ही देखता हूं, और जहां भक्ति होती है, वहां मैं छोटे और बड़े के भेदभाव की कभी कल्पना भी नहीं करता। चाहे कोई हो और चाहे जिस प्रकार का मेरा आतिथ्य करे, परन्तु यदि मुझे उसमें सच्चा भाव दिखलाई पड़ता है तो मैं तुरन्त ही प्रेमपूर्वक उसको स्वीकार करता हूं। यदि सच पूछो तो पत्र-पुष्प और फल आदि सामान्य वस्तुएं तो भक्ति प्रदर्शित करने का साधन मात्र हैं। मुझे वास्तव में इन निमित्तों और साधनों से कोई मतलब नहीं होता। मेरा मुख्य आधार तो भक्ति-तत्त्व ही है। इसलिए, हे अर्जुन, इस योग के साधन की मैं एक सहज युक्ति तुम्हें बतलाता हूं; सुनो। यदि तुम भक्ति तत्त्व की साधना करना चाहते हो तो अपने मन से कभी मुझे विस्तृत मत होने दो—सदा मेरा स्मरण रखो।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

''तुम जो कर्म करो, जिन विषयों का भोग करो, जिन यज्ञों का सम्पादन करो, जो कुछ दान करो अथवा नौकर-चाकरों के निर्वाह की जो व्यवस्था करो, अथवा तप और व्रत आदि का जो आचरण करो, तात्पर्य यह कि सब प्रकार की क्रियाएं ज्यों-ज्यों तुम्हारे हाथों से होती जायं, त्यों-त्यों वे सब मेरे ही उद्देश्य से समर्पित करते चलो। परन्तु हां, ऐसा करते समय उसमें अहंकार लेशमात्र भी नहीं होना चाहिए। इस प्रकार अहंकार का दोष धो डालना चाहिए और सब कर्मों को अहंकार-दोष से निर्मल रखकर मुझे अर्पित करना चाहिए।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

''जिस प्रकार अग्निकुंड में भूना हुआ बीज कभी अंकुरित नहीं हो सकता, उसी प्रकार मुझे अर्पित किये हुए कर्मों का कभी फल नहीं हो सकता। अर्थात् जो कर्म मुझे अर्पित किये जाते हैं, उनके फल के बन्धन में कर्ता कभी नहीं पड़ता—वे कर्म उसके लिए कभी बाधक नहीं हो सकते। अर्जुन, जब कर्म अवशिष्ट रहते हैं, तभी उनके फल भी उत्पन्न होते हैं, और उन फलों का भोग करने के लिए जीव को किसी-न-किसी शरीर का आश्रय लेना पड़ता

है। परन्तु यदि वे समस्त कर्म पूरी तरह से मुझे अर्पित कर दिये जायं, तो उसी समय जन्म और मरण का सारा आधार ही नष्ट हो जाता है। हे अर्जुन, यह कहने का कि—'आज ही कौन-सी जल्दी है ! कल देखा जायगा।' और इस प्रकार आज का काम कल पर टालने का समय नहीं है, इसीलिए आत्मस्वरूप प्राप्त करने का सबसे सहज उपाय फल-संन्यासयुक्त कर्मयोग है और उसका मैंने तुम्हें उपदेश कर दिया है। तुम इस शरीर के बन्धन में मत रहो और सुख-दुःख के समुद्र में गोते मत खाओ। और सहज में इस सुगम मार्ग से चलकर प्रसन्नतापूर्वक मेरे आनन्दमय स्वरूप में मिलकर रहो।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

"सम्भव है कि तुम यह प्रश्न करो कि—'वह मैं कैसा हूं ?' तो उसका उत्तर यह है कि मैं समस्त भूतों में समभाव से रहता हूं। मुझमें अपने और पराये का तिलमात्र भी भेद-भाव नहीं है। जो जीवन मेरा शाश्वत सत्य स्वरूप पहचान लेते हैं, अहंकार का नाम-निशान भी मिटा देते हैं; समस्त भावों और समस्त कर्मों के द्वारा मेरा ही भजन करते हैं, अर्थात् अपना जीवन और समस्त कर्म मुझे अर्पित कर देते हैं, वे चाहे शरीर में भी रहें, परन्तु वास्तव में वे शरीर में नहीं होते, बल्कि वे पूर्ण रूप से मेरे स्वरूप में ही रहते हैं और मैं भी उन्हीं में निवास करता हूं। इतना बड़ा वटवृक्ष अपने सम्पूर्ण विस्तार के साथ एक छोटे-से बीज में लीन स्थिति में रहता है; और वह बीज उसी वटवृक्ष में रहता है। इसी प्रकार मुझमें और ऐसे भक्तों में केवल बाहरी और नाममात्र का अन्तर रहता है, परन्तु यदि अन्दर की वस्तुस्थिति का विचार किया जाय तो जो कुछ मैं हूं, वही मेरे भक्त भी हैं और हम दोनों में कोई भेद नहीं होता। जिस प्रकार किसी दूसरे से मंगनी मांगकर लाया हुआ गहना यदि अपने शरीर पर पहन लिया जाय तो भी उसके सम्बन्ध में किसी का यह भाव नहीं होता कि यह गहना मेरा है, उसी प्रकार मेरे भक्त यद्यपि देह धारण करते हैं, परन्तु फिर भी वे कभी उसे अपना नहीं समझते। फूल की सुगन्ध हवा के साथ मिलकर आगे निकल जाती है और पीछे जो खाली फूल रह जाता है, वह तब तक डंठल के साथ लगा रहता है, जब तक मुरझाकर गिर नहीं जाता। इसी प्रकार वह भक्त भी, जिसके मन से अपने-मन का विचार निकल जाता है, अन्तकाल तक किसी प्रकार अपनी आयुष्य धारण किये रहता है। हे अर्जुन, जो अपने कर्तृत्व के अभिमान का मुझ पर आरोप कर देता है, उसका अभिमान मुझमें ही आ जाता है; और फिर वह अभिमान मेरे भक्त के लिए किसी प्रकार बन्धक या बाधक नहीं हो सकता।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

"जो लोग इस प्रकार निर्मल प्रेमभाव से मेरा भजन करते हैं, उनका शरीर कुछ भी बाधा नहीं करता, फिर चाहे वे लोग किसी जाति के हों, इसमें कुछ भी हर्ज नहीं है। हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, यदि आचरण के विचार से ऐसा मनुष्य दुराचारी भी हो, तो भी यह नहीं भूलना चाहिए कि जीवन के अंत में शरीरपात होने के समय वह भक्ति के चबूतरे पर आरोहण कर चुका होता है। अंत समय में जैसी बुद्धि होती है, उसी के अनुसार आगे की गति का स्वरूप भी निश्चित होता है। इसलिए जो अंत समय में अपना जीवन भक्ति के हाथ में सौंप देता है, वह पहले चाहे दुराचारी भी रहा हो, परन्तु अब वह अपनी भक्ति की पावन सामर्थ्य से सर्वश्रेष्ठ गिना जाना चाहिए। एक बार मनुष्य यदि किसी बड़ी बाढ़ में डूब जाय, परन्तु उसमें से जीवित ही बाहर निकल आवे, तब उसका पहले का डूबना जिस प्रकार निरर्थक हो जाता है, उसी प्रकार यदि अंत समय में मनुष्य भक्ति ग्रहण कर ले, तो उसके पहले के आचरित समस्त पाप धुल जाते हैं। इसलिए यदि कोई पुरुष किसी समय दुराचारी भी रहा हो, परन्तु यदि वह

पश्चात्ताप के तीर्थ में अच्छी तरह स्नान करके शुद्ध हृदय से मेरे स्वरूप में प्रविष्ट हो तो उसका कुल पवित्र ही समझना चाहिए और यह मान लेना चाहिए कि उसकी कुलीनता सचमुच निर्दोष है और सचमुच उसने अपना जन्म सार्थक कर लिया है। फिर उसके लिए ऐसा हो जाता है कि मानो उसने विद्या, तप, अष्टांग योग आदि सबका संग्रह कर लिया हो। हे अर्जुन, अब इस विषय के विशेष विस्तार की आवश्यकता नहीं। तात्पर्य यही है कि जिसके मन में मेरा अखंड अनुराग उत्पन्न हो जाता है, वह पूर्ण रूप से समस्त कर्मों से पार हो जाता है। जो अपने मन और बुद्धि की समस्त क्रियाएं एकनिष्ठा के सन्दूक में भरकर वह सन्दूक पूर्ण रूप से मेरे अधीन कर देता है, वह इसी प्रकार कर्मातीत हो जाता है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

"यदि तुम्हारे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ हो कि—'मेरा भक्त कुछ काल के उपरान्त अर्थात् मृत्यु के अनन्तर मेरे समान होगा।' तो मैं तुमसे पूछता हूं कि जो स्वयं अमृत में ही निवास करता हो, उसका मरण ही कैसे हो सकता है ? जिस समय सूर्य आकाश में उगा हुआ नहीं रहता, उस समय को रात कहते हैं। इसी प्रकार जो जो कर्म बिना मेरी भक्ति के किये जायं, क्या उन्हें महापाप ही नहीं कहना चाहिए ? इसलिए, हे अर्जुन, जिस समय उसकी चित्तवृत्ति मेरे पास आती है उसी समय वह पूर्ण रूप से मेरा स्वरूप प्राप्त कर लेता है। यदि किसी एक जलते हुए दीपक से एक और दूसरा दीपक भी जला लिया जाय तो यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें से पहले से जलने वाला दीपक कौन-सा है और बाद में कौन-सा दीपक जलाया गया है। इसी प्रकार जो जीव पूरी तरह से मेरी भक्ति करता है, वह तत्काल ही मद्रूप हो जाता है। फिर मेरी जो अक्षय शान्त वृत्ति है, वही उसे प्राप्त हो जाती है, जिससे उसकी तेजस्विता बढ़ जाती है, बल्कि यों कहना चाहिए कि वह मेरे जीवन से ही जीवित रहता है। हे अर्जुन, इस विषय में सब कहां तक चर्वित-चर्वण किया जाय। मुख्य तत्त्व यही है कि यदि किसी को मेरी प्राप्ति की इच्छा हो तो उसे पूर्ण रूप से मेरी भक्ति करना नहीं भूलना चाहिए। वंश की शुद्धता के महत्त्व की ओर ध्यान मत दो, कुलीनता का प्रशंसापूर्ण बखान मत करो और ज्ञान का मिथ्या अभिमान छोड़ दो। रूप-लावण्य अथवा यौवन-बल से मस्त मत हो और धन-सम्पन्नता की अहंता का गर्जन मत करो, क्योंकि यदि एक मेरी भक्ति न हो तो ये सभी बातें निष्फल हो जाती हैं। यदि पौधे में अनाज की बालें तो बहुत लगी हों, परन्तु उन बालों में दाने बिलकुल न हों, अथवा नगर तो बहुत बड़ा हो, पर वह बिलकुल उजाड़ और वीरान पड़ा हो, तो उसका क्या महत्त्व है ? जैसे हो तो सरोवर, परन्तु सूखा पड़ा हो अथवा जंगल में किसी दीन की किसी दूसरे दीन के साथ भेंट हो अथवा वृक्ष तो हो, परन्तु वन्ध्या फूलों से लदा हो, बस इसी प्रकार सारा वैभव, कुल का सारा महत्त्व अथवा जाति का महत्त्व भी समझना चाहिए। यदि शरीर के सब अंग तो ज्यों-के-त्यों वर्तमान हों, परन्तु वह निर्जीव हों तो उस अवस्था में वह शरीर बिलकुल निरुपयोगी होगा। ठीक इसी प्रकार जिस प्राणी में मेरी भक्ति न हो, वह धिक्कार का ही पात्र होता है। क्योंकि इस प्रकार जीवित रहने वाले मनुष्यों और पृथ्वी-तल पर पड़े हुए पत्थरों में अन्तर ही क्या है ? जिस प्रकार कंटीले थूहड़ वृक्ष की छाया बुद्धिमान् लोग जान-बूझकर बचा जाते हैं और उसकी छाया में नहीं बैठते, उसी प्रकार पुण्य भी अ-भक्त को बचा जाते हैं—उसके पास नहीं जाते। नीम का पेड़ चाहे निबौरी से भरकर बिलकुल झुक ही क्यों न जाय, पर फिर भी उस पर केवल कौए ही आनन्द करते हैं। इसी प्रकार भक्तिहीन पुरुष चाहे बहुत अधिक सम्पन्न और शक्तिशाली क्यों न हो जाय, परन्तु फिर भी वह केवल दोषों का ही विस्तार करता है। यदि षट्रस भोजन किसी ठीकरे में परोसकर चौराहे पर रख दिया जाय तो उससे कुत्तों का खौरा रोग ही बढ़ता है (अर्थात् उसे खाकर कुत्ते खौरहे हो जाते हैं)। इसी प्रकार भक्तिहीन पुरुष का जीवन भी होता है। उससे स्वप्न

मे भी पुण्य-कृत्य नहीं होते। वह जीवन ऐसी थाली के समान होता है जिसमें संसार के दुःख रूपी पक्वान्न परोसे हुए होते हैं। इसलिए चाहे उत्तम कुल न हो, चाहे अन्त्यज की ही जाति हो, यहां तक कि यदि पशु का भी शरीर हो, तो भी हर्ज नहीं है। हे अर्जुन, देखो जब ग्रह ने गजेन्द्र को पकड़ लिया था, तब गजेन्द्र ने मुझे पुकारा था बस भक्तिपूर्वक मेरा स्मरण करते ही वह मद्रूप हो गया और उसके पशुत्व का उसी समय अन्त हो गया।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

"हे अर्जुन, जिसके नाम का उच्चारण भी निन्दनीय है, उन हीन नाम वाली जातियों में भी जो सबमें बढ़कर हीन जाति है, उस हीन जाति वाली पाप-योनि में जिसने जन्म लिया है, उस पाप-योनि में जन्म लेने के सिवा जो ज्ञान के नाम से केवल पत्थर है, परन्तु फिर भी जिसमें मेरे प्रति पूरी-पूरी भक्ति है, जिसकी वाणी निरन्तर मेरे ही गीत गाती है, जिसकी दृष्टि निरन्तर मेरा ही रूप देखती है, जिसका मन निरन्तर मेरे ही सम्बन्ध में संकल्प या विचार करता है, जिसके कान मेरी कीर्ति के श्रवण से कभी खाली नहीं रहते, जिसे मेरी परिचर्या ही अपने शरीर का भूषण जान पड़ती है, जिसे विषयों का कोई भान भी नहीं होता, जो केवल मुझे ही जानता है और इन सब बातों के न होने पर जिसे अपना जीना बिलकुल मरने के समान जान पड़ता है, हे अर्जुन, इस प्रकार जिसने अपनी समस्त वृत्तियों से जीवन के लिए केवल मुझे ही अपना आधार बना रखा है, फिर चाहे उसने पाप-योनि में ही क्यों न जन्म धारण किया हो, चाहे वह विद्याहीन ही क्यों न हो, तो भी यदि मेरे साथ उसकी तुलना की जाय तो वह मुझसे रत्ती-भर भी कम न ठहरेगा। हे अर्जुन, ध्यान रखो कि इस भक्ति से सम्पन्न होने के कारण ही दैत्यों ने भी देवताओं को नीचा दिखलाया है। मेरे भक्त प्रह्लाद ने दैत्यकुल में ही जन्म लिया था; परन्तु उसकी निर्मल भक्ति के कारण मुझे नृसिंह अवतार धारण करना पड़ा था। उस प्रह्लाद को मेरे लिए ही बहुत से लोगों ने अनेक प्रकार के कष्ट पहुंचाये थे। इसी का यह फल हुआ कि जो कुछ मैं उसे दे सकता था, वह सब उसे पहले से ही प्राप्त था। नहीं तो उसका कुल बिलकुल दैत्यों का था। परन्तु इन्द्र भी उसकी बराबरी न कर सका। इन सब बातों का मुख्य अभिप्राय यही है कि यहां केवल भक्ति ही काम में आती है, जाति का कुछ भी महत्त्व या उपयोग नहीं हो सकता। यदि राजाज्ञा के अक्षर चमड़े के किसी टुकड़े पर भी अंकित कर दिये जायं तो उसे चमड़े के टुकड़े के बदले में भी सब चीजें मिल सकती हैं। परन्तु यदि राजाज्ञा के अक्षरों का टप्पा न हो तो सोने-रूपी टुकड़ों को भी कोई हाथ में नहीं लेता। अतः यह सिद्ध हुआ कि सारा महत्त्व राजाज्ञा का ही है। और यदि कोई ऐसा चर्मखंड मिल जाय, जिस पर राजाज्ञा के अक्षर अंकित हों, तो उसकी सहायता से हम जो वस्तु चाहें, वह मोल ले सकते हैं। इसी प्रकार जब मेरे प्रेम से मन और बुद्धि पूरी तरह से भर जाती है, तभी महत्ता और सर्वज्ञता भी उपयोगी हो सकती है। इसीलिए कुल और जाति आदि सब व्यर्थ की बातें हैं। हे अर्जुन, वास्तविक धन्यता तो मेरी सच्ची भक्ति में ही है। फिर वह भक्तिभाव चाहे जिस प्रकार का हो, एक बार जब उस भक्तिभाव से भरा हुआ मन मुझमें प्रविष्ट हो जाता है, तब उससे पहले के समस्त चरित्र पूर्ण रूप से मिट जाते हैं। नाले आदि तभी तक नाले कहलाते हैं, जब तक वे गंगा मे मिल नहीं जाते; परन्तु एक बार गंगा-जल में मिल जाने पर जिस प्रकार वे गंगा का रूप ही हो जाते हैं अथवा जिस प्रकार लकड़ियों के चन्दन, खैर आदि वर्ग तभी तक रहते हैं, जब तक वे आग में पड़कर उसके साथ एकरूप नहीं हो जाते; उसी प्रकार जब तक कोई मेरे स्वरूप के साथ मिलकर समरस नहीं हो जाता, तभी तक वह क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री, शूद्र, अन्त्यज आदि के रूप में भासमान होता है। परन्तु जिस प्रकार समुद्र में डाला हुआ नमक का डला उसी में लीन हो जाता है उसी प्रकार मेरे साथ समरस होते ही जाति-भेद वाले भास का

पूर्ण रूप से लोप हो जाता है। भिन्न-भिन्न नदों और नदियों की कल्पना तभी तक रहती है, जब तक वे जाकर समुद्र में मिल नहीं जातीं और तभी तक उनके सम्बन्ध में यह भेद भी किया जा सकता है कि अमुक नद का प्रवाह पश्चिम की ओर है और अमुक नदी का प्रवाह पूर्व की ओर है। इसलिए कहना यही है कि चाहे जिस निमित्त से हो, एक बार चित्त का प्रवेश मेरे स्वरूप में हो जाना चाहिए; बस फिर वह मनुष्य आपसे आप मद्रूप हो जाता है। चाहे पारस को तोड़ने के ही उद्देश्य से क्यों न हो, परन्तु एक बार लोहे का पारस के साथ स्पर्श हो जाना चाहिए, बस फिर काम हो जाता है, क्योंकि पारस के साथ छूते ही वह भी सोना हो जायगा। हे अर्जुन, देखो, जब प्रेम के निमित्त गोपियों का अन्तरंग मेरे रंग में रंगा गया, तब वे तुरन्त ही मद्रूप हो गई या नहीं ? इसी प्रकार भय के निमित्त से कंस, निरन्तर शत्रुता करने के कारण शिशुपाल आदि शत्रु, सगोत्र और सम्बन्धी होने के कारण यादव और ममता के निमित्त से वसुदेव आदि क्या मेरे साथ मिलकर एकरूपता नहीं प्राप्त कर चुके हैं ? जिस प्रकार नारद, ध्रुव, अक्रूर, शुक्र और सनत्कुमार आदि के लिए मैं भक्ति के गुण से साध्य हो गया, उसी प्रकार, हे अर्जुन, मैं काम-भावना से गोपियों को, भय और भ्रान्ति से कंस को ओर शिशुपाल आदि दूसरे अनेक लोगों को उनकी दुष्ट और नष्ट मनोवृत्तियों के कारण ही प्राप्त हो गया। मैं सबका अन्तिम ध्येय हूं, फिर चाहे लोग मेरे पास भक्ति से, चाहे विषय-भावना से, चाहे वैर-वृत्ति से, चाहे और किसी मनोधर्म के मार्ग से ही क्यों न आवें। इसीलिए, हे अर्जुन, मेरे स्वरूप में प्रवेश करने के उपायों का बिलकुल टोटा नहीं है—वे उपाय अनेक और प्रचुर हैं। मनुष्य का जन्म चाहे जिस जाति में हुआ हो और वह चाहे मेरी भक्ति करे और चाहे मेरा विरोध करे, पर उसे होना चाहिए मेरा ही भक्त अथवा मेरा ही शत्रु; बस यही मुख्य तत्त्व है। चाहे किसी बहाने मनुष्य को मेरा-पन प्राप्त हो जाय, उसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि मेरा स्वरूप उसके हाथ में आ गया। इसीलिए हे अर्जुन, चाहे पापयोनि हो और चाहे वैश्य, शूद्र अथवा स्त्री हो, सब लोग मेरी उपासना से ही मेरे स्थान तक पहुंचते हैं।

किं पुनर्ब्राह्मणः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

"जब वास्तव में स्थिति ऐसी है, तब जो ब्राह्मण चातुर्वण्य के राजा, स्वर्ग के धनी और मन्त्र विद्या का जन्म स्थान हैं, जो भूदेव हैं, जो तप के मूर्तिमन्त अवतार हैं, जिनके योग से तीर्थो का भी भाग्य उदय हो जाता है, जो यज्ञयाग के सदा के आधार हैं, जो वेदों के निस्सीम अभिमानी हैं और जिनकी कृपादृष्टि की गोद मे ही बैठकर कल्याण भी वृद्धि को प्राप्त होता है, जिनसे सम्मानित होने के कारण सत्कर्म विस्तार प्राप्त करते हे, जिनकी इच्छा से ही सत्य का जीवन बना हुआ है, जिनके अभय-वचन से अग्नि ने आयुष्य प्राप्त किया है और इसीलिए अग्नि के सहज शत्रु समुद्र ने भी बड़वाग्नि को अपना जल अर्पित करके उसका पोषण किया हे, जिनका चरण-रज प्राप्त करने के लिए मैंने स्वयं लक्ष्मी को भी एक ओर हटाकर और बीच में बाधक होने वाली कौस्तुभ मणि को भी निकालकर और अपने हाथ में लेकर अपने वक्षस्थल का पुट उनके चरणों के आगे रख दिया है; और हे अर्जुन, अपने भाग्यशाली होने का लक्षण बनाये रखने के लिए मैं अब तक अपने हृदय पर जिनके पैर की शुभ मुद्रा रक्षित रखता हूं, जिनकी क्रोधाग्नि में प्रत्यक्ष रुद्र का निवास है और जिनकी कृपा से अष्ट महासिद्धियां सहज ही और बिना मूल्य के प्राप्त होती हैं, उन परम पुण्यवान् ब्राह्मणों को मेरी प्राप्ति होती है। चन्दन के वृक्ष के साथ लगकर जो हवा आती है, उसके संसर्ग से आस-पास के नीम के वृक्ष भी सुगन्धित हो जाते हैं और वे जड़ वृक्ष भी देवताओं के मस्तक पर स्थान प्राप्त करते हैं। फिर जो प्रत्यक्ष चन्दन ही हो, वह भला देवताओं के मस्तक पर कैसे स्थान न प्राप्त करेगा ? अथवा उसके सम्बन्ध में यह कहने की

आवश्यकता ही क्या है कि उसे देवताओं के मस्तक पर स्थान मिलेगा यदि शंकर इस आशय से कभी आधा ही चन्द्रमा सदा अपने मस्तक पर धारण किये रहते हैं कि हलाहल पान करने से जो दाह उत्पन्न हुआ है, वह चन्द्रमा के स्पर्श से शान्त हो जायगा, तो फिर वह चन्दन स्वभावतः शरीर के समस्त अंगों में क्यों न लगाया जाय जिसके दाह शान्त करने के गुण का प्रत्यक्ष अनुभव होता है और जो पूर्णता तथा सुवास में चन्द्रमा से भी बढ़कर है ? अथवा जिस गंगा का आश्रय लेकर रास्ते में बहने वाला पानी भी जाकर समुद्र में मिल जाता है, उस गंगा के सम्बन्ध में भला यह कब हो सकता है कि वह समुद्र में जाकर न मिले ? ऐसी अवस्था में जो राजर्षि अथवा ब्राह्मण शुद्ध हृदय से मुझे ही अपना शरण्य अर्थात् अपने रक्षण का साधन समझते हैं, इसमें तिलमात्र भी सन्देह नहीं कि उनके अन्तिम शाश्वत सुख का साधन-स्थान मैं ही होता हूं। ऐसी अवस्था में उस नाव में मनुष्य निश्चिन्त होकर क्यों पड़ा रहे जिसमें सैकड़ों छेद हो चुके हों ? जहां शस्त्रों की झड़ी लगी हो, वहां मनुष्य अपना बिलकुल खुला हुआ शरीर लेकर क्यों रहे ? जहां शरीर पर पत्थर गिर रहे हों, वहां यह कैसे हो सकता है कि मनुष्य अपनी रक्षा का कोई साधन अपने हाथ में न ले ? जिस समय रोग से शरीर जर्जर हो रहा हो, उस समय औषध के विषय में मनुष्य किस प्रकार निश्चिन्त रह सकता है ? जिस समय चारों ओर आग लगी हो, उस समय यह कैसे हो सकता है कि बाहर निकलने का प्रयत्न न किया जाय ? इसी प्रकार हे अर्जुन, दुःखों और संकटों से भरे हुए इस मृत्युलोक में आने पर यह कैसे हो सकता है कि मनुष्य मेरा भजन न करे ? और मनुष्य में ऐसा कौन-सा बल है जिसके भरोसे वह मेरा भजन न करने की ढिठाई कर सके ? घर-बार या विषय-विलास आदि में ऐसी कौन-सी बात है कि उस पर भरोसा रखकर मनुष्य आनन्दपूर्वक और निश्चिन्त रह सके ? क्या बिना मेरा भजन किये मनुष्य अपने मन में इस बात का भरोसा रख सकता है कि विद्या और यौवन से ही सुख प्राप्त किया जा सकता है ? जितने विषय-भोग हैं, वे सब वास्तव में शरीर के स्वस्थ्य रहने पर ही निर्भर करते हैं। और यह शरीर सदा मृत्यु के मुख में पड़ा रहता है। इस मृत्युलोक में जन्म-मरण का एक ऐसा बाजार लगा हुआ है जिसमें प्रबल दुःख रूपी माल चारों तरफ खुला पड़ा है और मृत्युरूपी माल के गट्ठर पर गट्ठर बराबर चले आते हैं। और प्राणी इस बाजार में आ पहुंचे हैं। ऐसी अवस्था में, हे अर्जुन, सुख का व्यवहार कैसे हो सकता है ? इस लोक में सुख का सौदा कैसे किया जा सकता है ? क्या राखी फूंकने से भी कभी दीया जल सकता है ? जिस प्रकार कोई किसी जहरीले कन्द को पीसकर उसमें से रस निकाले और फिर उसका नाम 'अमृत-रस' रखकर उसे पी जाय और उसके प्रभाव से अमर होने की आशा रखे, उसी प्रकार के अमृत-रस के समान विषयों के द्वारा प्राप्त होने वाला सुख है जो वास्तव में केवल महादुःख है। परन्तु किया क्या जाय ! जो लोग मूर्ख हैं, वे बिना उन विषयों का सेवन किये रह ही नहीं सकते। यदि पैर में घाव हो जाय और उस घाव पर कोई अपना सिर काटकर लगावे, तो यह बात उसके लिए कहां तक हितकर हो सकती है ? बस मृत्युलोक के सब सुखों को भी इसी प्रकार का कल्याणकारक समझना चाहिए। ऐसी अवस्था में इस मृत्युलोक में सच्चे सुख की बात भला किसके कानों को सुनाई पड़ सकती है ? जिस बिस्तर पर बिच्छू हो, उस पर निश्चिन्त होकर कोई कैसे सो सकता है ? जिस लोक का चन्द्रमा भी क्षयरोग से ग्रस्त हो, जिसमें सूर्य भी केवल अस्त होने के लिए ही निकलता हो, जहां केवल दुःख ही सुख का ढोंग रचकर सारे संसार को धोखा देता हो, जहां मंगल के उगते हुए अंकुरों में ही तत्काल अमंगल के कीड़े लग जाते हों, जहां माता के पेट में गुप्त गर्भाशय तक में मृत्यु पहुंचकर अपना काम कर डालती हो, जहां लोगों को सदा मिथ्या और असत्य बातों का ही ध्यान लगा रहता हो, और उसी मिथ्या बात (जीव) को यमदूत जबरदस्ती ले जाते हों और इस बात का पता भी न लगता हो कि वे उसे कहां ले जाते हैं, जहां चारों ओर अच्छी तरह ढूंढ़ने पर भी कहीं

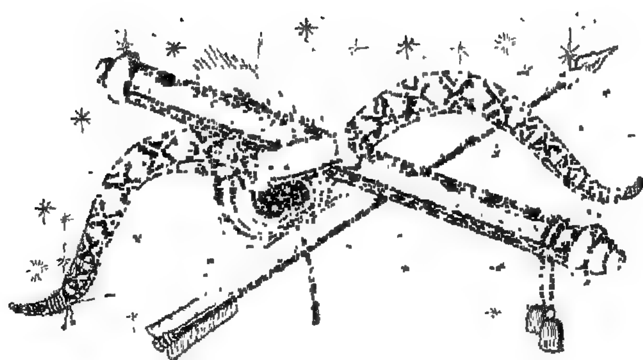
से निकलने का कोई मार्ग ही न दिखाई पड़ता हो, जहां केवल पुराणों (अर्थात् असंख्य मरे हुए लोगों) की ही बातें होती हों, जहां ब्रह्मा के समान आयुष्य रखने वाला मनुष्य भी वस्तु मात्र के अशाश्वत होने का दीर्घकाल तक वर्णन करने पर भी उसका पूरा-पूरा वर्णन न कर सकता हो और जिस लोक की ऐसी अशाश्वत स्थिति हो, उस लोक में जन्म लेकर जीव यदि निश्चिन्त रहे तो यह बात कितनी आश्चर्यजनक और हास्यास्पद है। जो लोग लौकिक अथवा पारलौकिक लाभ के लिए गांठ की एक कौड़ी भी खर्च करने के लिए तैयार नहीं होते, वही लोग ऐसी वस्तुओं के लिए, जो पूर्ण रूप से हानिकारक हैं, लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करने में भी आगा-पीछा नहीं देखते। जो मनुष्य अनेक प्रकार के विषय-विलास में फंसा रहता है, उसी के सम्बन्ध में लोग कहते हैं कि वह आजकल बहुत सुख से रहता है। और जो मनुष्य वासनाओं के भार से नीचे पूरी तरह से दबा रहता है, उसी को लोग स-ज्ञान समझते हैं। जिसकी आयु बहुत ही थोड़ी बच रहती है और जिसकी बुद्धि सठिया जाने के कारण बिलकुल नष्ट हो जाती है, उसी को लोग बड़ा कहते हैं और उसके पैरों पर सिर रखकर लोटते हैं। ज्यों-ज्यों बच्चा बड़ा होता है, त्यों-त्यों माता-पिता आदि मारे आनन्द के नाचने लगते हैं। परन्तु इस विषय में उनके मन में कुछ भी खेद नहीं होता कि ज्यों-ज्यों बच्चा बढ़ता है, त्यों-त्यों उसकी आयु की डोरी छोटी होती जाती है। जन्म लेते ही मनुष्य को दिन-पर-दिन काल के और भी अधिक अधीन होना पड़ता है, तो भी लोग जन्म-गांठ का उत्सव खूब धूम-धाम से करते हैं और आनन्द की पताकाएं भी फहराते हैं। लोगों को मरण का शब्द भी नहीं सुनाई पड़ता। और जब कभी कोई मर जाता है, तब लोग जोर-जोर से रोने लगते हैं। परन्तु वे लोग अपनी मूर्खता के कारण कभी इस बात का विचार भी नहीं करते कि स्वयं हमारी ही आयु दिन-पर-दिन कम होती चली जा रही है। जब मेंढक को सांप निगलने लगता है, तब भी वह मेंढक मक्खियों को खाने के लिए अपने मुंह से जोर से पकड़े रहता है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य भी अपनी वासनाएं बराबर बढ़ाता चलता है, परन्तु इससे उसे क्या लाभ हो सकता है ? इस मृत्युलोक की अवस्था भी कैसी खराब हो रही है ! हे अर्जुन, तुमने अपने कर्मों की गति से ही इस लोक में आकर जन्म लिया है। परन्तु फिर भी तुम चटपट इससे अलग होकर मुक्त हो जाओ और उस मार्ग में लगो, जिस पर चलने से तुम्हें मेरे निर्दोष अक्षय पद की प्राप्ति हो सकती है।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

"तुम अपना मन मद्रूप कर लो और मेरे प्रेम के भजन में रंग जाओ और सब जगह मेरा अस्तित्व मानकर मेरी वन्दना करो। केवल मेरी ही ओर लक्ष्य रखकर समस्त संकल्पों का अन्त कर डालना ही मानो मेरा यजन करना है। जब इस प्रकार तुम मेरे ध्यान से सम्पन्न हो जाओगे, तभी तुम मेरा स्वरूप प्राप्त कर सकोगे। अपने मन का यह रहस्य आज मैंने तुम पर प्रकट कर दिया है। आज तक मैंने जो बात सब लोगों से गुप्त रखी है, उसे प्राप्त करके तुम सुख से ओत-प्रोत भर जाओगे।" संजन ने कहा—"भक्तों के कल्पवृक्ष उन ब्रह्मस्वरूप सांवले श्रीकृष्ण ने इस प्रकार अर्जुन को उपदेश दिया।" वृद्ध धृतराष्ट्र ये सब बातें शान्त होकर सुन रहे थे। जिस प्रकार कोई आलसी भैंसा नदी का जल बढ़ जाने पर भी चुपचाप आराम से बैठा रहता है, उसी प्रकार धृतराष्ट्र बैठे रहे। उस समय संजय ने सिर हिलाकर मन-ही-मन कहा—"यहां अमृत की लगातार वर्षा हो रही है; और यह बुड्ढा इस प्रकार चुपचाप बैठा हुआ है कि मानो यहां मौजूद ही नहीं है। परन्तु फिर भी यह हमारा पालन-पोषण करता है; इसलिए इसके सामने स्पष्ट बात कहकर अपनी वाचा को दूषित करना ठीक नहीं है। इसका कोई उपाय नहीं है, क्योंकि इसका स्वभाव ही ऐसा है। परन्तु फिर भी मैं बहुत बड़ा भाग्यवान् हूं, क्योंकि

युद्ध-क्षेत्र का समस्त समाचार सुनने के लिए श्रीवेदव्यास जी महाराज ने मुझे नियुक्त किया है।'' इस प्रकार बहुत प्रयत्नपूर्वक अपने मन को दृढ़ करके संजय ये सब बातें अपने मन-ही-मन में कह रहे थे कि उस समय सात्त्विक भक्तिभाव का उनमें आवेश हुआ और वे अपने आपको न संभाल सके। उनका चित्त चकित हो गया, वाचा स्तब्ध हो गई और सारे शरीर में रोमांच हो आया। उनकी जो आंखें आधी खुली और आधी बन्द थीं, उनमें से आनन्दाश्रु बहने लगे। उनके मन में सुख की जो लहर उठी थी, उससे उनका शरीर थरथर कांपने लगा। उनके रोम-रोम में स्वेद के निर्मल सूक्ष्म बिन्दु चमकने लगे; और ऐसा जान पड़ने लगा कि मानों उन्होंने अपने सारे शरीर पर मोतियों का एक जाल-सा ओढ़ लिया है। इस प्रकार महासुख के उस अपरम्पार रस में डूबने के कारण उन्हें अपने शरीर का भी ध्यान न रह गया और युद्ध का समाचार सुनाने का जो काम श्री वेदव्यास ने उन्हें सौंपा था, उसके सम्बन्ध में ऐसा जान पड़ने लगा कि मानो वह काम अब उनसे न हो सकेगा। इतने में श्रीकृष्ण की वाणी ने उनके कानों में प्रवेश किया जिससे संजय के होश फिर ठिकाने हुए और वे फिर युद्ध का समाचार सुनाने को उद्यत हुए। इसके बाद उन्होंने अपनी आंखों के अश्रु पोंछे, सारे शरीर का पसीना भी पोंछा और तब कहा—''हे महाराज धृतराष्ट्र, अब मैं आपको इसके आगे का वृत्तान्त सुनाता हूं। आप ध्यानपूर्वक सुनें। श्रीकृष्ण के वचन तो सुन्दर बीज है ही, पर अब ऐसा सुन्दर अवसर आया है कि संजय की सात्त्विक वृत्ति रूपी भूमि उस बीज के बोये जाने के लिए तैयार है। अतः अब इस बात में कुछ भी सन्देह नहीं है कि श्रोताओं को सिद्धान्त की बढ़िया फसल तैयार होकर मिलेगी। हे श्रोतागण, आप लोग इस कथन की ओर और थोड़ा ध्यान दें और मजे से आनन्द के पुंज पर बैठें। आज आप लोगों की श्रवणेन्द्रियों का भाग्य खुल गया है। अब सिद्धराज श्रीकृष्ण अर्जुन के सामने ईश्वरीय विभूति के स्थान का निरूपण करेंगे। श्रीनिवृत्तिनाथ के दास ज्ञानदेव की आप लोगों से प्रार्थना है कि वह निरूपण आप लोग सुनें।





दसवा अध्याय



विभूतिविस्तारयोग

हे गुरुदेव, आप ही ब्रह्म-ज्ञान का स्पष्ट बोध कराने में समर्थ हैं। विद्यारूपी कमल का विकास आप ही हैं। परा प्रकृति एक श्रेष्ठ तरुणी है और आप उसके साथ सुखपूर्वक क्रीड़ा करते हैं। संसार रूपी अन्धकार का नाश करने वाले सूर्य आप ही हैं। आपका स्वरूप अमर्याद है। आपकी सामर्थ्य अनन्त है। जो तुरीयावस्था अर्थात् आत्मसमाधि अभी हाल में युवावस्था में प्राप्त होने को है, सहज रीति से उसका लालन-पालन करने वाले आप ही हैं। इसलिए मैं आपको नमस्कार करता हूं। आप समस्त संसार का पालन करने वाले और शुभ कल्याण रूपी रत्नों के संग्रह हैं। सज्जन रूपी वन को सुगन्धित करने वाले चन्दन आप ही हैं। आराधना करने के योग्य देवता आप ही हैं। इसलिए मैं आपको नमस्कार करता हूं। जिस प्रकार चकोर के चित्त को चन्द्रमा सन्तुष्ट और शान्त करता है, उसी प्रकार चतुर जनों के चित्त को आप सन्तुष्ट तथा शान्त करते हैं। आप आत्मसाक्षात्कार के सर्वाधिकारी हैं, वेद के ज्ञानरस के सागर हैं और समस्त संसार को मन्थन करने वाला जो काम-विकार है, उस काम-विकार का मन्थन करने वाले आप ही हैं। हे गुरुदेव, इसलिए, मैं आपको नमस्कार करता हूं। आप सद्भक्तों के भजन के पात्र हैं, संसार रूपी हाथी का गंड-स्थल तोड़ने वाले आप ही हैं और संसार की उत्पत्ति के आदि स्थान भी आप ही हैं, इसलिए मैं आपको नमस्कार करता हूं। हे महाराज, आपके प्रसाद यही विद्यापति गणेश हैं; और जब उन गणेशजी की कृपा प्राप्त होती है, तब मूढ़ बालक भी साहित्य के प्रान्त में प्रवेश कर सकता है। जिस समय गुरु की वाणी अभय वचन देती है, उसी समय शृंगार आदि नौ रसों के मधुर समुद्र की थाह लगती है। हे महाराज, यदि आपकी प्रेमपूर्ण वाणी किसी गूंगे पर भी कृपा करे, तो वह भी ग्रन्थ-रचना के काम में स्वयं बृहस्पति के साथ प्रतिज्ञापूर्वक स्पर्धा कर सकता है। केवल यही नहीं, जिस किसी पर आपकी दृष्टि का प्रकाश पड़ जाता है अथवा आपका कोमल

हाथ जिसके मस्तक पर जा पड़ता है, वह जीव होने पर भी शिव की बराबरी का हो जाता है। जिसके कार्यों का ऐसा माहात्म्य है, उसका मैं अपनी मर्यादित वाणी के बल से भला कैसे वर्णन कर सकता हूं ! क्या कभी कोई सूर्य के शरीर में भी उबटन लगा सकता है ? फूलों से भला कल्पवृक्ष का कहां तक शृंगार किया जा सकता है ? क्षीरसागर का आतिथ्य भला किस प्रकार के पकवानों से किया जा सकता है ? कपूर को किस सुगन्धित वस्तु से सुगन्धित किया जा सकता है ? चन्दन पर किस चीज का लेप लगाया जा सकता है ? अमृत का कौन-सा अन्न पकाया जा सकता है ? क्या आकाश को और भी ऊपर उठाने की कोई युक्ति हो सकती है ? ठीक इसी प्रकार श्रीगुरुदेव के माहात्म्य का पूरा-पूरा आकलन करने के लिए कहां और कौन-सा साधन प्राप्त हो सकता है ? ये सब बातें समझकर ही बिना किसी प्रकार की वाचालता किये मैंने उन गुरुदेव को चुपचाप नमस्कार किया है। यदि कोई अपने बुद्धिबल के अभिमान में यह कहे कि—'मैं गुरुदेव की सामर्थ्य का पूरा-पूरा और ठीक-ठीक वर्णन करता हूं।' तो उसका यह काम आबदार मोती पर अबरक की कलई करने के समान ही हास्यास्पद होगा। अथवा गुरुदेव की वह जो कुछ स्तुति करेगा वह स्तुति खरे सोने पर चांदी का मुलम्मा करने के समान ही होगी। इसलिए कुछ भी न कहकर चुपचाप गुरुदेव के चरणों पर मस्तक रख देना ही सबसे अच्छा है। फिर मैंने श्री गुरुनाथ से कहा—'हे स्वामी, आपने प्रेमपूर्वक मेरी ओर दृष्टिपात किया है, इसलिए इस कृष्णार्जुन संवाद के संगम में मैं भी वैसा ही हो गया हूं, जैसा गंगा-यमुना के संगम में प्रयाग का वट-वृक्ष है।' जिस प्रकार प्राचीनकाल में उपमन्यु ने श्रीशंकर से दूध मांगा था, तब उन्होंने स्वयं क्षीरसागर ही उसके सामने दूध के कटोरे की भांति रख दिया था; अथवा रूठे हुए ध्रुव को बहुत प्रेम के साथ समझाने और मनाने के लिए वैकुण्ठाधिपति ने उसे ध्रुवपद रूपी मिठाई दी थी, उसी प्रकार आपने प्रसन्न होकर कृपापूर्वक उस भगवद्गीता की टीका करने में मुझे समर्थ किया है, जो समस्त अध्यात्म विद्या में श्रेष्ठ है, जिसमें समस्त शास्त्रों का मेल होता है और जिसमें समस्त शास्त्रों की बातें सुखपूर्वक एक होकर रहती हैं। जिस वाणी के जंगल में मारे-मारे फिरने पर भी सार्थ अक्षर के फल का कहीं नाम भी सुनाई नहीं पड़ता, उस मेरी रूखी वाणी को आपने ही आज विवेक की कल्पलता बना दिया है। मेरी जो बुद्धि बिलकुल देहभावमयी हो गई थी, उसे आपने अब ब्रह्मानन्द के भंडार की कोठरी बना दिया है। मेरा मन गीतार्थ रूपी समुद्र में आनन्द से जल-शयन कर रहा है। श्रीगुरुदेव के सभी कृत्य ऐसे ही अलौकिक हैं। फिर भला उनकी निःसीम कृतियों का वर्णन मुझमें कैसे हो सकता है ? तो भी मैंने यहां उनकी कुछ कृतियों का वर्णन करने का साहस किया है और इसके लिए श्रीगुरुदेव मुझे क्षमा करें। आपके कृपा-प्रसाद से मैंने श्रीभगवद्गीता के पहले खंड की टीका बड़े उत्साह से की है। पहले अध्याय में अर्जुन के उस खेद का वर्णन है जो उसे अपने सगे-सम्बन्धियों के नाश की कल्पना से हुआ था। दूसरे अध्याय में कर्मयोग का स्पष्टीकरण किया गया है और साथ ही उसमें और सांख्य के ज्ञानयोग में जो भेद है, वह भी दिखलाया गया है। तीसरे अध्याय में कर्म की महिमा का वर्णन है और चौथे अध्याय में उन्हीं कर्मों का ज्ञान के साथ प्रतिपादन किया गया है। पांचवें अध्याय में योगतत्त्व का महत्त्व बतलाया गया है। छठे अध्याय में वह योगतत्त्व और भी अधिक स्पष्ट किया गया है। आरम्भ के आसनों से लेकर अन्त की ब्रह्मैक्य वाली स्थिति तक की सब बातें बहुत ही स्पष्ट रूप से बतलाई गई हैं। इसी प्रकार छठे अध्याय में यह भी बतलाया गया है कि योगस्थिति क्या है और योगभ्रष्टों को कौन-सी गति प्राप्त होती है। उसके उपरान्त सातवें अध्याय में पहले माया के स्वरूप आदि का वर्णन किया गया है। और उन चार प्रकार के भक्तों का वर्णन है जो ईश्वर की उपासना या भजन करते हैं। इसके बाद आठवें अध्याय में सात प्रश्नों की व्याख्या की गई है और अध्याय के अन्त में इस बात का विचार किया गया है कि मरते समय लोगों की कैसी बुद्धि रहती है। अपार शब्दब्रह्म माने जाने वाले वेदों मे जो कुछ तत्त्व-ज्ञान मिलता है, वही सब एक लाख श्लोकों वाले महाभारत ग्रन्थ में भी मिलता है। और समस्त

महाभारत म जो ज्ञान भरा हुआ है वह सब कृष्णार्जुन सवाद मे मिलता है कृष्णार्जुन सवाद के सात सौ श्लोकं म जो कुछ सार हे वह सब गीता के केवल नोव अध्याय मे एकत्र करके भरा हुआ है। उसी नौव अध्याय का अर्थ स्पष्ट करने में मैं बिलकुल घबरा गया था। फिर मैं व्यर्थ ही किसलिए गर्व करूं ? गुड़ और चीनी दोनों एक ही ऊख के रस से बने हुए होते हैं; परन्तु फिर भी उनके माधुर्य का स्वाद अलग-अलग होता है। इसी प्रकार यद्यपि ये सभी अध्याय गीता के ही हैं, परन्तु फिर भी इनमें से कुछ अध्याय ब्रह्मतत्त्व को अच्छी तरह समझकर उसका स्पष्ट विवेचन करते हैं, कुछ अध्याय केवल कुछ बातें सुझाकर रह जाते हैं और कुछ अध्यायों के सम्बन्ध मे यह जान पड़ता है कि वे अपने ज्ञान के गुण के साथ ब्रह्म में मिल गये हैं। गीता के ये सब अध्याय इसी प्रकार के हैं। परन्तु नौवें अध्याय का माहात्म्य शब्दों के द्वारा बतलाया ही नहीं जा सकता। यह केवल गुरुदेव की ही सामर्थ्य का फल था कि मैं उसका विवेचन कर सका। किसी (वशिष्ठ से अभिप्राय है) का अंगोछा सूर्य की तरह चमकने लगा, किसी (विश्वामित्र से अभिप्राय है) ने इस सृष्टि के जोड़ की एक दूसरी सृष्टि ही रच डाली, किसी (भगवान् रामचन्द्र से अभिप्राय है) ने पत्थरों का पुल बनाकर अपनी सेना को पैरों चलाकर समुद्र के पार पहुंचाया, किसी (हनुमानजी से अभिप्राय है) ने सूर्य को अपने हाथ से पकड़ लिया, किसी (अगस्त से अभिप्राय है) ने अपने एक चुल्लू में ही सारा समुद्र भर लिया। इसी प्रकार हे गुरुदेव, आपने भी मुझ सरीखे गूंगे के मुख से आज अगम्य अध्यात्म का वर्णन करा दिया है। परन्तु अपने इस अद्भुत कृत्य की उपमा ढूंढ़ सकना असम्भव है। यदि कोई पूछे कि राम और रावण का युद्ध कैसा हुआ तो इसका उत्तर केवल यही दिया जा सकता है कि वह राम-रावण के युद्ध के समान ही हुआ। (अर्थात् उस युद्ध की और कोई उपमा ढूंढ़े नहीं मिल सकती।) इसी प्रकार इस नौवें अध्याय मे श्रीकृष्ण का जो भाषण है, वह इस नौवें अध्याय के भाषण के ही समान है और इसकी दूसरी उपमा कहीं ढूंढ़ने से भी नहीं मिल सकती। और जिन लोगों ने गीता का अर्थ बिलकुल अपना-सा लिया है, वे तत्त्वज्ञ लोग यह बात बहुत अच्छी तरह जानते हैं। इसी प्रकार मैंने भी अपनी बुद्धि के अनुसार गीता के आरम्भ के नौ अध्यायों का विवेचन किया है और अब आप लोग शान्त होकर गीता का उत्तर खंड सुनें। इस खंड के आरम्भ में अर्जुन को श्रीकृष्ण अपनी प्रधान तथा गौण विभूतियां बतलावेंगे और अब उसी की सुन्दर रसपूर्ण कथा सुनाई जायगी। यह है तो देशी भाषा, परन्तु इसके सौन्दर्य के आधार पर शान्त रस शृंगार रस से भी आगे बढ़ जायगा और इस देशी भाषा के सुन्दर साहित्य का उससे शृंगार हो जायगा। मूल संस्कृत श्लोकों का देशी भाषा में जो आशय बतलाया गया है, उससे अर्थ को अच्छी तरह समझ लेने के उपरान्त श्रोताओं को यह भ्रान्ति होने लगेगी कि इसमें मूल कौन-सा है और टीका कौन-सी है; और वे चकित हो जायंगे। जिस प्रकार सुन्दर शरीर अपने जातीय लावण्य के कारण स्वयं ही आभूषणों का अलंकार हो जाता है (अर्थात् सुन्दर शरीर के कारण स्वयं आभूषणों की शोभा बढ़ जाती है) और तब यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि आभूषणों के कारण शरीर की शोभा बढ़ी है अथवा शरीर के कारण आभूषणों की शोभा बढ़ी है उसी प्रकार आप लोग शुद्ध और सरल मति से यहां यह देखें कि देशी भाषा और संस्कृत भाषा प्रकृत विषय में अर्थ के एक ही आसन पर अधिष्ठित होकर कैसे समान रूप से शोभा दे रही है। ज्यों ही कोई भाव आकार प्राप्त करता है, त्यों ही रस की वर्षा होने लगती है और चातुर्य की शोभा बढ़ जाती है और वह अधिक खिलने लगता है। इसी प्रकार देशी भाषा का समस्त सौन्दर्य तथा आवेश लूटकर लाया गया है और उसी के द्वारा इस गहन गीता-तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। अब आप लोग यह सुनें कि समस्त चराचर के श्रेष्ठ गुरु और चतुर जनों के चित्त को सन्तुष्ट करने वाले उन यादवनाथ श्रीकृष्ण ने क्या कहा। श्रीनिवृत्तिनाथ का शिष्य ज्ञानदेव कहता है कि श्रीकृष्ण ने कहा—"हे अर्जुन, अब आत्मज्ञान का सम्पूर्ण प्रतिपादन सुनने के लिए तुम अपने अन्तःकरण से सचमुच योग्य हो गये हो।

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परम वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

"मैंने अब तक जो बातें कही थीं, वह सब केवल यही जानने के लिए कही थीं कि इस विषय की ओर तुम्हारा कितना ध्यान और अनुराग है। इस परीक्षा से यह सिद्ध हुआ है कि इस विषय की ओर तुम्हारा ध्यान अधूरा नहीं बल्कि भरपूर है। पहले बरतन में थोडा-सा पानी डाला जाता है और तब यह देखा जाता है कि वह पानी उस बरतन में ठहरता है या उसमें से चू जाता है। और जब वह पहले का डाला हुआ पानी उसमें बना रहता है और चू नहीं जाता, तभी उसमें और अधिक पानी डालकर वह बरतन भरा जाता है। इसीलिए मैंने तुम्हें पहले थोड़ी-सी बातें बतलाई थीं और अब यह सिद्ध हो गया है कि तुम्हें सब बातें बतला देना उचित है। जब कोई नया नौकर रखा जाय, तब उसकी परीक्षा करने के लिए कोई मूल्यवान् वस्तु किसी ऐसे स्थान पर रख देनी चाहिए, जहा सहज में ही उसकी दृष्टि उस वस्तु पर पड़े। और जब उसके मन में उस वस्तु के प्रति अभिलाषा न उत्पन्न हो और इस प्रकार वह अपनी विश्वसनीयता का पूर्ण रूप से निश्चय करा दे, तब उस नौकर को भंडार या खजाने के काम पर नियुक्त करना चाहिए। इसी प्रकार हे अर्जुन, तुम मेरी कसौटी पर खरे उतरे हो और इसलिए अब तुम मेरे सर्वस्व हो गये हो।" सबके स्वामी श्रीकृष्ण ने इस प्रकार अर्जुन से कहा; और तब जिस प्रकार ऊंचे पर्वतों को देखकर मेघ भर जाता और बरसने के लिए तैयार हो जाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी प्रेम से भर गये और कहने लगे—"हे वीरवर अर्जुन, सुनो। पहले जो बातें मैं तुम्हें बतला चुका हू, वही अब मैं तुम्हें फिर से बतलाता हूं। जब आदमी हर साल खेती करता रहता है और हर साल उसे अच्छी फसल मिलती रहती है, तब खेती के लिए परिश्रम करने में उसका जी नहीं घबराता। बार-बार आग में तपाने पर और उसे साफ करने पर सोने की कान्ति और भी बढती चलती है। और इसीलिए, हे अर्जुन, लोग यह समझने लगते हैं कि सोने को खूब अच्छी तरह तपाकर शुद्ध करना चाहिए। इसी प्रकार मैं तुम पर कोई उपकार नहीं कर रहा हूं, बल्कि स्वयं अपनी इच्छा और अनुराग से अपने ही सन्तोष के लिए ये बातें तुमसे बार-बार कहता हूं। लोग छोटे-छोटे बच्चों को गहने पहना देते हैं। भला उन बच्चो को उन गहनों का क्या ज्ञान होता है ? परन्तु उन गहनों के सुख का उपयोग माता की आंखें ही करती हैं। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों तुमको आत्महित का लाभ होता है, त्यों-त्यों मेरा सुख भी बराबर दूना होता जाता है। परन्तु हे अर्जुन, अब इन आलंकारिक बातों को जाने दो। अब तो मैं स्पष्ट रूप से तुम्हारे स्नेह में भूल गया हूं और इसीलिए अब मेरे प्रेमपूर्ण मन की किसी तरह तृप्ति ही नहीं होती। इसीलिए मैं वही बातें तुमसे बार-बार कहता हूं। पर अब यह प्रस्तावना बहुत हो चुकी। अब तुम अपने मन को एकाग्र करके मेरी बातें सुनो। हे अर्जुन, मेरा रहस्यतत्त्व सुनो। देखो, मेरे ये अगाध वचन सुनो। इन वचनों में स्वयं परब्रह्म अक्षरों का रूप धारण करके तुम्हें आलिंगन करने के लिए आ रहा है। परन्तु फिर भी, हे अर्जुन, मेरा वास्तविक और निश्चित ज्ञान अभी तक तुम्हें नहीं हुआ है। जो मैं यहां तुमको दिखाई पड़ रहा हूं, वही मैं यह सारा विश्व हूं।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

"मेरे स्वरूप का प्रतिपादन करने में वेदों ने भी मौन स्वीकार कर लिया। मन अथवा वायु की भी गति वहा तक नहीं है। रात न होने पर भी और दिन रहते भी सूर्य और चन्द्रमा निस्तेज हो गये हैं। जिस प्रकार माता के उदर में रहने वाला गर्भ माता का तारुण्य नहीं देख सकता, उसी प्रकार किसी देवता को कभी मेरा ज्ञान नहीं हो सकता। जिस प्रकार मछली अपार समुद्र को नाप नहीं सकती, अथवा मच्छर जिस प्रकार लांघकर गगन-मंडल का

विस्तार पार नहीं कर सकता, उसी प्रकार इन महर्षियों का ज्ञान भी मेरा स्वरूप नहीं देख सकता। मैं कौन हूं कितना बड़ा हूं और किससे उत्पन्न हुआ हूं, आदि प्रश्नों का निर्णय करते-करते लोगों को अनेक कल्प बीत गये और इसका कारण यही है कि ये जितने देवता, महर्षि और दूसरे समस्त भूत हैं, उनका मूल कारण मैं ही हूं। इसीलिए, हे अर्जुन, उन लोगों को मेरा ज्ञान होना बहुत ही कठिन है। यदि नीचे की ओर बहता हुआ पानी फिर उलटकर पर्वत पर चढ़ सकता हो अथवा ऊपर की ओर बढ़ता हुआ वृक्ष यदि फिर अपनी जड़ की ओर चलकर उससे मिल सकता हो, तो फिर मुझसे उत्पन्न होने वाला यह संसार भी मुझे जान सकता है। यदि वटवृक्ष में से रसने वाले जल से ही सारा वटवृक्ष ढंका जा सकता हो अथवा पानी की तरंग में सारा समुद्र भरा जा सकता हो अथवा मिट्टी के सूक्ष्म कणों में यह सारी पृथ्वी समा सकती हो, तभी ये भूतमात्र, महर्षि तथा देवता आदि जो मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं, मुझे जान सकते हैं।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

"लेकिन इतना होने पर भी जो कोई सहज तथा लौकिक प्रवृत्ति को आगे बढ़ाने वाली चाल छोड़कर इन्द्रियो से पराङ्मुख होता है अथवा जिसकी प्रवृत्ति की वह आगे वाली चाल जारी रहती है, वह भी यदि पीछे की ओर मुड़कर और अपना देहभाव भूलकर पंचमहाभूतों के शिखर पर चढ़ जाता है और वहां अच्छी तरह जमकर अपनी आंखों से मेरा जन्म-मरणहीन स्वरूप देखता है और जो इस प्रकार मेरा वह शुद्ध शाश्वत स्वरूप जानता है, जो मूल कारण से परेका और समस्त लोकों का नियन्ता है, उसके सम्बन्ध में तुम्हें यही समझ लेना चाहिए कि वह जीवरूपी पत्थरों में पारस के ही समान है। जिस प्रकार सब रसों में अमृत श्रेष्ठ है, उसी प्रकार उसके सम्बन्ध में तुम्हें यह समझ लेना चाहिए कि वह मनुष्य-मात्र में प्रत्यक्ष मेरा ही अंश है। ऐसे पुरुष को चलते-फिरते ज्ञान-सूर्य का मण्डल ही समझना चाहिए। उसके अवयव मानो सुख-रूपी वृक्ष के कोमल अंकुर ही होते हैं। उसमें जो मनुष्य-भाव दिखलाई पड़ता है, वह वास्तव में भ्रम है और केवल लौकिक दृष्टि के कारण दिखाई पड़ता है। उसके उस मनुष्यभाव में सत्य का अंश बिलकुल नहीं है। यदि कपूर में किसी प्रकार हीरा भी मिल जाय और दोनों के ऊपर कहीं से पानी आ पड़े तो कपूर तो गल जायगा, परन्तु उसके साथ वह हीरा नहीं गलेगा। इसी प्रकार ऐसा पुरुष मनुष्यलोक में रहने के कारण भले ही ऊपर से देखने पर प्रकृत मनुष्यों के समान दिखाई पड़े, परन्तु फिर भी उसमे माया के दोष की गन्ध भी नहीं होती। पाप आप से आप उसे छोड़कर दूर चले जाते हैं; और जिस प्रकार जलते हुए चन्दन के वृक्ष को छोड़कर सांप दूर हट जाता है, उसी प्रकार समस्त संकल्प उस मनुष्य को छोड़कर दूर चले जाते हैं जो मुझे जानता है। अब यदि तुम्हारे मन में यह प्रश्न उत्पन्न हो कि मेरा इस प्रकार का ज्ञान मनुष्य को कैसे हो सकता है, तो वह उपाय मैं तुम्हें बतलाता हूं। तुम सुनो कि मेरे भाव अर्थात् विकार कौन-कौन-से हैं, मै कैसा हूं और मेरे धर्म कैसे हैं।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

"मेरे जो भाव भिन्न-भिन्न समस्त भूतों में भरे हैं, वे इस प्रकार तीनों लोकों में फैले हुए हैं कि जहां जिसमे वे रहते हैं, उसकी स्थिति के अनुरूप ही रहते हैं। उन भावों या विकारों में पहला स्थान बुद्धि का है। इसके उपरान्त निःसीम ज्ञान, मोह का अभाव सहनशीलता, क्षमा और सत्य हैं। इसके उपरान्त मनोनिग्रह और इन्द्रिय-नियन्त्रण

ये दो बाते है इसी प्रकार हे अर्जुन ससार के सुख दु ख और जन्म मरण भी मेरे ही भावो मे आते है यहा तक कि भय और निर्भयता, अहिसा और समता, सन्तोष और तप, दान, यश और अपयश आदि जो भाव भूतमात्र मे दिखाई पड़ते हैं, उनकी उत्पत्ति भी मुझसे ही हुई है। जिस प्रकार सब भूत अलग-अलग हैं, उसी प्रकार ये भाव भी अलग-अलग हैं। परन्तु इनमें से कुछ को तो मेरा ज्ञान होता है और कुछ को नहीं होता। प्रकाश और अन्धकार दोनों ही सूर्य के कारण होते हैं। जब सूर्य उदय होता है, तब प्रकाश दिखलाई पड़ता है; और जब वह अस्त होता है, तब अन्धकार हो जाता है। इसी प्रकार मुझे जानना अथवा न जानना उन भूतों के दैव अर्थात् कर्मो के फलो के अनुसार होता है। इसी कारण भूतमात्र के लिए मेरे भावों का अस्तित्व विषम होता है। इस प्रकार, हे अर्जुन, यह सारी भूत-सृष्टि मेरे भावों में जकड़ी हुई है। अब इस सृष्टि का पालन करने वाले और समस्त लोक-व्यवहार को अपने अधीन रखने वाले ग्यारह भाव और भी हैं। अब उनका वर्णन सुनो।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

"समस्त महर्षियों में गुणों और ज्ञान में श्रेष्ठ जो कश्यपादि सप्तर्षि हैं और चौदह मनुओं में जो स्वयम्भू आदि चार मुख्य मनु हैं, हे अर्जुन, वही ग्यारह मेरे भाव हैं। वे मेरे मन से उत्पन्न हुए हैं और उनकी उत्पत्ति का हेतु सृष्टि का व्यापार है। जब तक लोकों की रचना नहीं हुई थी और जब तक तीनों भुवनों का विस्तार नहीं हुआ था, तब तक महाभूतों का समूह निष्क्रिय ही था। पीछे इन ग्यारहों का अस्तित्व हुआ और इन्होंने सब लोकों को उत्पन्न किया और उन लोकों में भिन्न-भिन्न आठ लोकपाल अधिपति नियुक्त किये। इस प्रकार ये ग्यारहों राजा हैं और बाकी सारा जगत् इनकी प्रजा है। तात्पर्य यह कि तुम इस बात का ध्यान रखो कि यह सारा विश्व मेरा ही विस्तार है। देखो, आरम्भ में केवल एक ही बीज रहता है। फिर उसी बीज के बढ़ने से जड़ निकलती है। तब उस जड मे से अंकुर निकलता है और तब उन्हीं अंकुरों से शाखाएं निकलती हैं। फिर उन शाखाओं से भी दूसरी शाखाए निकलती हैं; और सब शाखाओं में पत्ते निकलते हैं। उन्हीं पत्तों में फल और फूल आते हैं। इस प्रकार वृक्षत्व पूर्णता प्राप्त करता है। परन्तु यदि इस वृक्षत्व का अच्छी तरह विचार किया जाय तो यही सिद्ध होता है कि सब उसी के छोटे-से बीज का विस्तार है। इसी प्रकार 'मैं' भी एक ही मूल तत्त्व हूं। उस 'मैं' ने ही मन उत्पन्न किया है और इसी मन से सातों ऋषि और चारों मनु उत्पन्न हुए हैं। लोकपालों को यही ग्यारहों अस्तित्व में लाये हैं। और इन लोकपालों ने अनेक प्रकार के जन उत्पन्न किये है; और उन जनों से सारी प्रजा ने जन्म लिया है। इस प्रकार सारे जगत् का मैंने ही विस्तार किया है। परन्तु ये सब बातें किसकी समझ में आती हैं ? उसी की समझ में आती है जिसके मन में इन भावों की उत्पत्ति के विषय में श्रद्धा होती है।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

"इस प्रकार, हे अर्जुन, ये भाव मानो मेरी मूर्तियां ही हैं और इन्होंने सारा विश्व व्याप्त कर रखा है। इसीलिए ब्रह्मा से लेकर कीड़े-मकोड़ों तक इस सृष्टि में मेरे सिवा और कोई वस्तु नहीं है। जिसे इस बात का पता लग जाता है, उसमें ज्ञान की जाग्रति हो जाती है और तब उसे श्रेष्ठ तथा कनिष्ठ, अच्छे और बुरे आदि भेदभाव की कल्पनाओं के दुष्ट स्वप्न नहीं आते। मैं जो कुछ हूं, वही मेरी विभूति है और समस्त व्यक्तियां मेरी उसी विभूति के अधीन हैं। इसलिए आत्मयोग के अनुभव से इन सबको एक ही आत्मस्वरूप मानना उचित और आवश्यक है। जो अपने मनोबल की सहायता से इस आत्मयोग के द्वारा मेरे साथ मिलकर समरस हो जाता है, वह अत्यन्त शुद्ध हो जाता है। इस विषय में सन्देह करने के लिए तिलमात्र भी स्थान नहीं है। और हे

अर्जुन जो इस प्रकार अभेद भाव से मेरी भक्ति करता है उसके भजन के चौखट में प्रवेश करके मेरा रहना आवश्यक हो जाता है। इसीलिए मैंने जो अभेदात्मक भक्तियोग बतलाया है, उसमें किसी प्रकार की शंका नहीं हो सकती; और उसमें दुर्बलता के लिए भी कोई स्थान नहीं है। पहले (छठे अध्याय में) यह बात स्पष्ट रूप से बतलाई जा चुकी है कि जिस समय यह भक्तियोग चलता रहे, यदि उसी समय मृत्यु हो जाय तो बहुत अच्छा है। अब यदि तुम्हारे मन में यह जानने की इच्छा उत्पन्न होती हो कि इस अभेद का स्वरूप क्या है, तो सुनो, मैं तुम्हें उस अभेद का स्वरूप भी बतलाता हूं।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

"इस सारे संसार का मूल मैं ही हूं और हे अर्जुन, मुझसे ही इन सबकी स्थिति रहती और गति होती है। लहरें पानी में उत्पन्न होती हैं और उनका आश्रय तथा जीवन का साधन दोनों पानी ही है। जिस प्रकार बिना पानी के लहरें हो ही नहीं सकतीं, उसी प्रकार इस विश्व में कोई ऐसी वस्तु नहीं हो सकती जो मेरे बिना हो और जिसमें मेरा निवास न हो। जो लोग मेरा यह विश्वव्यापक स्वरूप जानते हैं वे चाहे जहां रहकर मेरा भजन करें, पर वे वास्तव में उदित होने वाले प्रेमभाव से ही वह भजन करते हैं। ऐसे लोग देश, काल और वर्तमान आदि सबको मुझसे अभिन्न मानते हैं; और जिस प्रकार वायु गगन-रूप होकर गगन में संचार करती है, उसी प्रकार वे मुझ जगद्रूप को मन में रखकर अपने आत्मज्ञान से तीनों भुवनों में सुखपूर्वक रमण करते हैं। तुम यह बात निश्चित रूप से समझ रखो कि भूतमात्र में से जो कुछ दिखलाई पड़े, उसी को भगवान् के रूप में मानना ही मेरा सच्चा भक्तियोग है।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

जिनका चित्त मद्रूप हो जाता है, मेरे स्वरूप से जिनके अन्तःकरण का पूरा-पूरा समाधान हो जाता है, और जो आत्मबोध के प्रेम में पड़कर जन्म और मरण सब कुछ भूल जाते हैं, वे लोग उसी आत्मबोध के बढ़ते हुए प्रभाव से अद्वैतानन्द के सुख में नाचने लगते हैं और आपस में केवल आत्म-बोध का ही लेन-देन करते हैं। जिस प्रकार पास-पास रहने वाले सरोवर बाढ़ आने पर आपस में मिल जाते हैं और उनकी तरंगों का निवास एक-दूसरे की तरंगों में ही होता है, उसी प्रकार अभेद भक्ति वाले भक्त जब आपस में मिलते हैं और उनमें एकता स्थापित हो जाती है, तब मानो आनन्द के आगार एक-दूसरे के साथ पिरोये जाते हैं और आत्मबोध को आत्मबोध के ही द्वारा आत्मबोध का ही अलंकार प्राप्त होता है; और इस प्रकार उस आत्मबोध की शोभा बढ़ जाती है। जैसे एक सूर्य दूसरे सूर्य की आरती करे अथवा एक चन्द्रमा दूसरे चन्द्रमा के साथ प्रेमालिंगन करे अथवा एक ही माल के दो जल-प्रवाह आपस में एक-दूसरे के साथ मिल जायं, ठीक उसी प्रकार जब भक्तियोग से युक्त भक्त आपस में मिलते हैं, तब उनकी समरसता का पवित्र प्रयाग-तीर्थ बन जाता है और तब उस तीर्थ के जल में सात्विक भावों की बाढ़-सी आ जाती है और वे एकता के चौराहे के अध्यक्ष गणेश बन जाते हैं। इसके उपरान्त उस आत्मानन्द के अत्यन्त सुख से भरे हुए वे भक्तियोगी देह-भानवाली सीमा पार करके और मेरे लाभ से पूर्ण समाधान प्राप्त करके उच्च स्वर से घोष करने लगते हैं। गुरु एकान्त में अपने शिष्य को जिन मन्त्राक्षरों का उपदेश करता है, उन्हीं मन्त्राक्षरों की घोषणा वे लोग सबके सामने मेघों की तरह गरज-गरजकर करते हैं। कमल की कली जिस समय अपनी पूर्णावस्था को प्राप्त होती है, उस समय वह अपने अन्दर का मधुरस किसी प्रकार दबाकर नहीं रख सकती

और वह राजा से लेकर रंक तक सब लोगों का समान रूप से आतिथ्य तथा सत्कार करती है इसी प्रकार व भक्तियोग अतिशय आनन्द में भरकर विश्व में मेरा घोष करते है और उस कीर्तन के घोष से उत्पन्न होने वाले सन्तोष से इतने अधिक भर जाते हैं कि अन्त में वे कीर्तन भूलकर स्तब्ध हो जाते हैं और उसी विस्मृति में तन-मन से रमण करते रहते हैं। इस प्रेम के अतिरेक में उन्हें दिन और रात का भी ध्यान नहीं रह जाता। इस प्रकार जो लोग मेरे स्वरूप-लाभ का निर्दोष सम्पूर्ण सुख प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें मैं जो कुछ देता हूं, उसका सर्वोत्तम अंश पहले से ही उनके अधिकार में होता है। क्योंकि जिस मार्ग से वे चलते हैं, यदि उस मार्ग की सारी व्यवस्था देखी जाय तो स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग भी उसके सामने टेढ़े-तिरछे और छोड़ देने योग्य जान पड़ते हैं। इसलिए वे लोग अपने मन में जो प्रेम एकत्र करके रखते हैं, उनका वही प्रेम मैं उन्हें देना चाहता हूं। परन्तु वह प्रेम भी जो मैं उन्हें देना चाहता हूं उसे वे पहले से ही सिद्ध तथा प्राप्त कर चुके होते हैं। अब उनके लिए केवल इतना ही बाकी रह जाता है कि उनका वह प्रेमसुख बराबर बढ़ता रहे; और इसके लिए मुझे केवल इतनी ही व्यवस्था करनी पड़ती है कि उनके उस प्रेम पर काल की दृष्टि न लगे और वह नष्ट न होने पावे। हे अर्जुन, माता अपने लाडले बालक पर अपनी स्नेहपूर्ण दृष्टि का आच्छादन डालकर उसे रक्षित रखती है; और जब वह इधर-उधर खेलता फिरता है, तब उसके पीछे-पीछे दौड़ती रहती है; और तब वह जिन-जिन खेलों के प्रति अपना अनुराग दिखलाता है, उन-उन खेलों के उपयुक्त खिलौने बनाकर वह अपने प्रिय पुत्र के आगे रखती है। ठीक इसी प्रकार अपने भक्ति-योगी भक्तों के लिए मैं भी वही काम करता हूं जिनसे उपासना के मार्ग का पोषण होता है। उपासना के मार्ग के इस पोषण से वे लोग सहज में और निरपवाद रूप से मेरे पास आ पहुंचें, बस इसी की व्यवस्था करना मेरे लिए नितान्त आवश्यक हो जाता है। भक्तों का मेरे प्रति बहुत अधिक प्रेम होता है और मुझे भी उनकी अनन्य शरणागति का पूरा-पूरा ध्यान रखना पड़ता है, क्योंकि प्रेमपूर्ण भक्तों पर यदि संकट आवे तो मानो वह संकट स्वयं मेरे घर पर ही आता है। फिर स्वर्ग और मोक्ष के दोनों प्रसिद्ध मार्ग मैं उनकी सेवा के लिए नियुक्त कर देता हूं। इतना ही नहीं, बल्कि लक्ष्मी के सहित मैं स्वयं अपना सारा शरीर भी उन्हीं के काम में लगा देता हूं। परन्तु देह से भी भिन्न और सदा ताजा बना रहने वाला जो आत्मसुख है, उसे मैं केवल अपने प्रेमपूर्ण भक्तों के लिए अलग रख देता हूं। इस सुख की चरम सीमा तक में अपने प्रेमपूर्ण भक्तों को अनुरागपूर्वक अपने पास रखता हूं। परन्तु यह बात ऐसी नहीं है जो शब्दों के द्वारा बतलाई जा सके।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

"इसीलिए जिन लोगों ने मेरे आत्मस्वरूप के अस्तित्व को ही अपने जीवन का आश्रय-स्थल बना रखा है और जो लोग मुझे छोड़कर और किसी पर कुछ भी श्रद्धा नहीं रखते, हे अर्जुन, उन श्रेष्ठ तत्त्वज्ञों के लिए मैं सदा कपूर की मशाल जलाकर और उनके लिए स्वयं ही मशालची बनकर उनके आगे-आगे चलता हूं। अज्ञान की रात्रि में जो घोर अन्धकार रहता है, उसका नाश करके मैं उनके लिए अक्षय प्रकाश का उदय करता हूं।" जब प्रेमी भक्तों के प्रेम-निधान श्रीकृष्ण ने ये सब बातें कहीं, तब अर्जुन ने कहा—"मैं अब पूर्ण रूप से तृप्त हो गया हूं। हे प्रभु, सुनिये। आपने मेरी संसार-रूपी मैल दूर कर दी है। मैं अब जन्म-मरण की अग्नि से मुक्त हो गया हूं। आज मुझे जीवन का सच्चा मर्म ज्ञात हो गया है, और मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आज मेरा जीवन सार्थक हो गया है। आज मेरा जीवन कृतकार्य हो गया है। आज मेरा सौभाग्य खुल गया है, क्योंकि आज परमेश्वर की प्रसाद-वाणी मेरे कानों में पहुंची है। आज इस वाणी के प्रकाश से मेरे अन्दर और बाहर का भ्रम-पटल दूर हो गया है और इसीलिए इस समय मुझे आपके सच्चे स्वरूप के दर्शन हो रहे हैं।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥

"इस विश्व का जो विश्राम-स्थल परब्रह्म है, वह परब्रह्म आप ही हैं। हे जगन्नाथ, आप परम पवित्र हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीनों देवताओं के परम देव आप ही हैं। पचीसवां तत्त्व जो पुराण पुरुप है, वह आप ही है। आप ही माया की पहुंच के बाहर हैं। जो स्वयंसिद्ध विश्व का स्वामी है और जो जन्म के वन्धन से कभी वंध नहीं सकता, वह आप ही हैं। अब यह बात अच्छी तरह मेरी समझ में आ गई है। भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालो के सूत्रधार आप ही हैं। इस जीवात्मा के अधिपति आप ही हैं, इस ब्रह्मांड के पालक आप ही हैं। ये सब बातें अव अच्छी तरह मेरी समझ में आ गई हैं।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

"इस ज्ञान की परीक्षा एक और रीति से भी हो जाती है। अब तक जो बड़े-बड़े श्रेष्ठ ऋषि हो गये है, उन्होंने भी आपका ऐसा ही वर्णन किया है। उनके किये हुए वर्णन की सत्यता अव मुझे अच्छी तरह जान पडने लगी है। और ये सब देवता आपके ही प्रसाद के फल हैं। यों तो नारद सदा मेरे पास आकर आपके गुणो के गीत गाया करते थे, परन्तु उनका अर्थ मेरी समझ में नहीं आता था; और इसलिए मुझे केवल उन गानो के सुख की मधुरता का ही स्वाद आता था। यदि अन्धों के गांव में सूर्य का प्रकाश आवे तो वे अन्धे केवल सूर्य की किरणों का ही सुख भोग सकेंगे। सूर्य के प्रकाश का अनुभव वे कैसे कर सकते हैं ? इसी प्रकार जब नारद मेरे पास आकर अध्यात्म-सम्बन्धी गीत गाया करते थे, तब राग-रागिनियों के द्वारा ऊपर-ऊपर जो माधुर्य उत्पन्न होता था, वही मेरे मन को रुचता था। इसके सिवा और कुछ भी मेरी समझ में नहीं आता था। असित और देवल नामक ऋषियों के मुख से भी मैंने आपके इस स्वरूप का वर्णन सुना था परन्तु उस समय मेरी मनोवृत्ति विषयों के विष से भरी हुई थी। उस विष की इतनी अधिक प्रबलता थी कि उस समय मुझे मधुर अध्यात्म भी कड़ुआ लगता था और कटु विषय ही मधुर जान पड़ते थे। अब इस समय औरों की बात तो जाने दीजिए, स्वयं महर्षि व्यास भी मेरे घर आकर सदा आपके स्वरूप का ठीक और पूरा वर्णन किया करते थे। परन्तु जिस प्रकार अंधेरे में चिन्तामणि मिलने पर यह कहकर दूर फेंक दिया जाता है कि यह चिन्तामणि नहीं है और फिर दिन निकलने पर प्रकाश में उसका स्वरूप पहचानकर कहा जाता है कि यह चिन्तामणि ही है, उसी प्रकार यद्यपि उन व्यास आदि ऋषियों की वाणी ज्ञान-रूपी रत्नों की खान ही थी, परन्तु फिर भी, हे श्रीकृष्ण महाराज, वह आप नहीं थे जो सूर्य के समान हैं, और इसीलिए आपका प्रकाश भी नहीं था, जिससे मैं उन ज्ञान-रूपी रत्नों को पहचान नहीं सकता था।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

"परन्तु अब आपकी वाक्य-रूपी किरणों का प्रसार हो गया है और इसीलिए अब मैं उन ऋषियों के बतलाये हुए मार्ग को पहचानने लगा हूं। हे देव, उनके वचन थे तो ज्ञान के बीज ही, परन्तु वे हृदय रूपी भूमि में यों ही पडे हुए थे। परन्तु अब उस पर आपके प्रसाद की वर्षा हो गई है जिसमें वे बीज अंकुरित हुए हैं और उनमें एकवाक्यता रूपी फल लगा है। नारद आदि सन्तों के वचन नदियों के समान थे, परन्तु उन नदियों के द्वारा आज मैं एकवाक्यता के सुख का अपरम्पार सागर ही बन गया हूं। हे प्रभु, मैंने इस जन्म में जो-जो उत्तम पुण्य सम्पादित किये हैं, उन पुण्यो

म हे सदगुरु वह पदार्थ देने की बिलकुल सामथ्य नही ह जो पदाथ आप मुझे दे सकत हे ओर नही तो बडे लोगो क मुख से आपकी महिमा मैने न जाने कितनी बार सुना थी परन्तु जब तक एक आपकी कृपा नही हुइ थी तब तक कुछ भी मेरी समझ में नहीं आता था। जिस समय दैव अनुकूल होता है, उस समय जो उद्योग करो, वह आप-ही-आप सफल हो जाता है। इसी प्रकार सुना और पढ़ा हुआ ज्ञान भी तभी फलदायक होता है, जब गुरु की कृपा हो। माली जन्म भर बहुत अधिक परिश्रम करके पौधे सींचता रहता है; परन्तु उन पौधों से फल तभी प्राप्त होते है, जब वसन्त ऋतु आती है। हे महाराज, जब विषम ज्वर नष्ट होता है, तभी मीठी वस्तु की मिठास का अनुभव होता है। जब रोग नष्ट होता है, तभी रसायन की मधुरता अच्छी जान पड़ती है। इन्द्रियों, वाचा और प्राणवायु का जन्म कब सार्थक होता है ! जब उनमें चैतन्य का संचार होता है, तब। इसी प्रकार साहित्य का लोग जो मनमाना मन्थन करते हैं अथवा योग आदि का जो अभ्यास करते हैं, उन सबका वास्तविक फल कब प्राप्त होता है ! जब श्रीगुरुराज कृपा करते हैं, तब।'' इस प्रकार आत्मानुभव के रंग में रंगा हुआ अर्जुन निःशंक होकर पुतली के समान नाचने लगा और कहने लगा—''हे देव, आपकी बातें अच्छी तरह मेरे मन में बैठ गई हैं। हे परब्रह्म-रूपी श्रीकृष्ण, मुझे अब पूर्ण रूप से यह निश्चय हो गया है कि देवताओं अथवा दानवों की बुद्धि भी आपके सच्चे स्वरूप का आकलन नहीं कर सकती। अब इस बात का मुझे अच्छी तरह विश्वास हो गया है कि बिना आपके बोध-वचन प्राप्त किये जो केवल अपनी बुद्धि के बल पर ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, उसे केवल निराशा ही हाथ लगती है।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

''जिस प्रकार आकाश के विस्तार का ठीक-ठीक पता स्वयं आकाश को ही होता है अथवा पृथ्वी की घनता की नाप स्वयं पृथ्वी ही कर सकती है, उसी प्रकार हे लक्ष्मीनाथ, अपनी अपार शक्ति का सब प्रकार से आकलन केवल आप ही कर सकते हैं। दूसरे जो वेद आदि हैं, उनकी बुद्धि इस विषय में व्यर्थ ही इधर-उधर भटकती फिरती है। भला किसमें ऐसी सामर्थ्य है जो वेग में मन से भी आगे बढ़ सके अथवा वायु को अपनी मुट्ठी में पकड़ सके अथवा आदिशून्य तत्त्व से आगे बढ़ सके ! इसी प्रकार आपका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना भी किसी के लिए सम्भव नहीं है। आपके सम्बन्ध का पूरा-पूरा ज्ञान केवल आपकी कृपा से ही प्राप्त किया जा सकता है—वह ज्ञान केवल आप ही दे सकते हैं। केवल आप ही अपने आपको जान सकते हैं और दूसरों को भी आप ही वह ज्ञान प्राप्त करा सकते हैं; इसीलिए मैं भी अब वह ज्ञान प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो रहा हूं। आप एक बार मुझे वह ज्ञान प्राप्त कराके मेरी उत्सुकता दूर कीजिए। हे देव, आप ही भूतमात्र के आदि कारण हैं, विश्व भ्रम रूपी हाथी को नष्ट करने वाले सिंह आप ही हैं, सारे देवता आपकी ही आराधना करते हैं, आप ही सारी सृष्टि के चालक और पालक है और मैंने सुना है कि यदि आपके महत्त्व का ध्यान रखा जाय तो वह इतना अधिक है कि मुझमें आपके पास खडे होने की भी योग्यता नहीं है। परन्तु यदि यही सोचकर मैं संकोच करूं और आत्मज्ञान के बोध के सम्बन्ध में आपसे प्रार्थना करने में डरूं तो उस बोध की प्राप्ति के लिए मुझे और कोई साधन ही नहीं दिखाई पड़ता। चारों ओर चाहे कितनी ही अधिक नदियां और सागर क्यों न भरे पड़े रहें, परन्तु चातक की दृष्टि में वे सब जलाशय व्यर्थ ही होते है, क्योंकि उसके काम का तो वही पानी होता है जो मेघों में से गिरता है। इसी प्रकार, हे प्रभु, गुरु तो सब जगह है, परन्तु हे कृष्णदेव, मेरे लिए आपके सिवा और कोई आधार नहीं है। परन्तु अब मेरी ये दुर्बल बातें बहुत हो चुकी। अब आप कृपा करके मुझे अपनी विभूति बतलावें।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

हे महाराज, अब आप मुझे अपनी वह विभूति दिखलावें जो अपनी दिव्य सामर्थ्य से सभी जगह व्याप्त हो रही है। अपनी जिन विभूतियों के योग से आपने इस अनन्त विश्व को व्याप्त कर रखा है, उनमें से मुख्य-मुख्य विभूतियों के नाम आप कृपा कर मुझे बतलावें।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

"हे देव, आप मुझे यह बतलावें कि मैं आपको किस प्रकार जानूं और क्या समझकर आपका चिन्तन करूं ? यदि यह कहा जाय कि यह सारा विश्व तो आप ही हैं, तो फिर चिन्तन करने के लिए कोई जगह ही बाकी नहीं रह जाती है। इसीलिए अभी आपने संक्षेप में जो अपने भाव बतलाये हैं, उनका अब जरा विस्तारपूर्वक विवेचन करें। आप अपने वे भाव मुझे बिलकुल स्पष्ट करके बतलावें जिनके द्वारा आपका चिन्तन करना मेरे लिए कठिन न हो; और इस प्रकार मुझे अपनी प्राप्ति करावें—ऐसा उपाय करें जिसमें मुझे अपनी प्राप्ति हो।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

"हे भूत-मात्र के अधिपति श्रीकृष्णदेव, मैंने आपकी जिन विभूतियों के सम्बन्ध में प्रश्न किया है, कृपया उन विभूतियों का वर्णन करें। इस पर कदाचित् आप यह कहें कि—'एक बार तो वह विभूतियां मैं तुमको बतला चुका हूं। इसलिए अब उन्हीं विभूतियों का मैं दोबारा क्यों वर्णन करूं !' तो हे देव, आप इस शंका को तिलमात्र भी स्थान न दें, क्योंकि यदि किसी को थोड़ा-सा साधारण अमृत-पान करने को मिले, तो भी उसके लिए कोई 'नहीं' नहीं कहता; और फिर वह अमृत भी कैसा ! जो हलाहल विष का सगा भाई है और मृत्यु से डरे हुए देवताओं ने अमर होने के लिए जिसका पान किया था; परन्तु जिसके पान कर लेने पर भी ब्रह्मा के एक ही दिन में चौदह इन्द्र अमर राजाओं के सिंहासन पर बैठते और नष्ट हो जाते हैं—अमृत इस प्रकार क्षीर समुद्र में से निकला हुआ एक सामान्य रस है और जिसके सम्बन्ध में लोगों में यह मिथ्या भ्रम फैला हुआ है कि वह अमृत अर्थात् लोगों को अमर करने वाला है। जब ऐसे नामधारी अमृत का मधुर अंश भी लोगों को यथेष्ट नहीं जान पड़ता और उसे पान करने से लोग नहीं अघाते और इतनी क्षुद्र वस्तु की मधुरता भी जब इतना अधिक आदर पाती है, तब फिर आपके इन बोध-वचनों का तो कहना ही क्या है ! ये तो प्रत्यक्ष परमामृत ही हैं। इनके लिए न तो मन्दर पर्वत को मथानी बनाकर ही फिराया गया है और न क्षीर समुद्र को ही मथा गया है। यह तो अनादि और स्वयंसिद्ध है। यह न तो पतला ही है और न गाढ़ा ही, न इसमें रस अथवा गन्ध का ही नाम है, और इसका स्मरण करते ही सहज में प्रत्येक व्यक्ति इसे प्राप्त कर सकता है। इस अमृत की बात सुनते ही सारा संसार निस्सार हो जाता है और सुनने वाले को ऐसी नित्यता प्राप्त होने लगती है जिसका कभी नाश हो ही नहीं सकता। जन्म और मरण की बात समूल नष्ट हो जाती है और अन्दर-बाहर सभी जगह आत्मानुभव के महासुख की वृद्धि होने लगती है। अब यदि सौभाग्य से ऐसा परमामृत सेवन करने के लिए मिल जाय तो वह तुरन्त ही जीव को आत्मस्वरूप कर डालता है। और वह अमृत जब आप मेरे सामने परोस रहे हों, तो यह सम्भव ही नहीं है कि मेरा चित्त उसके लिए कहे कि 'बस कीजिए।' हे देव, आपका नाम ही मुझे अत्यन्त मधुर जान पड़ता है। तिस पर आपके साथ प्रत्यक्ष मिलाप होता है और आपका सामीप्य भी होता है। इसके सिवा आप बहुत ही आनन्दपूर्वक मेरे साथ बातें भी करते हैं। ऐसी अवस्था में, हे देव, मैं क्या बतलाऊं कि यह परम सुख कैसा है। मेरे अन्तःकरण को इतना अधिक सन्तोष हुआ है कि वाणी से उसका वर्णन ही नहीं किया जा सकता। परन्तु हां, इतना अवश्य मेरी समझ में आता है कि आपके मुख से इस परमामृत की

पुनरावृत्ति होनी चाहिए। नित्य वही सूर्य उदय होता है, परन्तु फिर भी क्या कभी कोई उसके सम्बन्ध में यह कहता है कि–'यह तो वही कल वाला बासी सूर्य है।' सबको पवित्र करने वाली अग्नि के सम्बन्ध में कभी यह कहा जा सकता है कि यह अपवित्र हो गई है, अथवा निरन्तर बहते रहने वाले गंगा-जल के सम्बन्ध में कभी यह कहा जा सकता है कि यह बासी हो गया है ! जब आपने अपने मुख से परमामृत वचन का लाभ कराया, तब मुझे ऐसा जान पड़ा कि आज शब्दब्रह्म ने स्वयं ही मूर्तिमान होकर अवतार लिया है अथवा चन्दन के वृक्ष में फूल भी लगे हैं और मैं उन फूलों की सुगन्ध का उपभोग कर रहा हूं।" अर्जुन की ये बातें सुनकर श्रीकृष्ण के सब अंग समाधानजन्य प्रेम से हिलने लगे। वे अपने मन में कहने लगे–'यह अर्जुन, अब भक्ति-ज्ञान का भांडार बनने के योग्य हो गया।' जिस अर्जुन को श्रीकृष्ण ने इस प्रकार स्वीकार किया था, उस अर्जुन के परम सन्तोष के कारण श्रीकृष्ण के प्रेम का प्रवाह उमड़ पड़ा। परन्तु उस प्रवाह को बड़े प्रयत्न से रोककर उन्होंने जो कुछ कहा, वह सुनिये।

श्रीभवगवानुवाच–

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

श्रीकृष्ण ने अब अर्जुन से इस प्रकार बातें करना आरम्भ किया कि मानो उन्हें इस बात का स्मरण ही नहीं रह गया था कि हम ब्रह्मा के पिता हैं। वे बोले–"बाबा अर्जुन, तुमने बहुत अच्छी बात कही है।" इस अवसर पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो 'बाबा' कहा, इसके लिए आश्चर्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे स्वयं नन्द के पुत्र थे ही। उस समय उनके मुख से यह शब्द प्रेम के अतिरेक के कारण निकल गया था। अस्तु। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा–"हे धनुर्धर, अब तुम मेरी बातें सुनो। हे सुभद्रानाथ अर्जुन, तुमने मेरी विभूतियों के सम्बन्ध में प्रश्न किया है, परन्तु मेरी विभूतियां अपार हैं। यह ठीक है कि वे सब विभूतियां मेरी ही हैं, परन्तु वे इतनी अधिक हैं कि स्वयं मेरी बुद्धि भी उनका आकलन नहीं कर सकती। जिस प्रकार कोई यह नहीं बतला सकता कि मेरे अपने शरीर पर कितने रोम हैं, उसी प्रकार मैं अपनी विभूतियां भी नहीं गिन सकता। मुझे स्वयं ही इस बात का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता कि मैं कितना बड़ा और कितना व्यापक हूं। इसलिए मैं तुम्हें अपनी केवल मुख्य-मुख्य विभूतियां ही बतलाता हूं। तुम वही सुनो। हे अर्जुन, इन प्रसिद्ध विभूतियों को जान लेने पर उनके द्वारा दूसरी गौण विभूतियों का भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जिस प्रकार बीज हाथ में आ जाने पर स्वयं वृक्ष ही मानो अपने हाथ में आ जाता है अथवा सारा बाग ही अपने हाथ में आ जाता है अथवा फल-फूल आदि सब आपसे आप प्राप्त हो सकते हैं, उसी प्रकार इन विभूतियों को देखने पर मानो सारा विश्व ही देखा जा सकता है। और नहीं तो, हे अर्जुन, मेरा विस्तार, अखिल विभूतियां अपरम्पार ही हैं। देखो, यह गगन इतना निस्सीम है, परन्तु वह भी मुझमें न जाने कहा समा जाता है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

"मस्तक पर घुंघराले बाल धारण करने वाले और धनुर्विद्या में दूसरे शंकर, हे अर्जुन, सुनो। मैं भूतमात्र में आत्मरूप से निवास करता हूं, भूतों के अन्दर भी मैं ही रहता हूं और उनके बाहर या ऊपर भी मेरा ही आवरण है। उनका आदि, मध्य और अन्त सब कुछ मैं ही हूं। जिस प्रकार मेघों के नीचे भी और ऊपर भी, अन्दर भी और बाहर भी, सब जगह आकाश-ही-आकाश रहता है, वे आकाश-रूप ही होते हैं और उनका आधार भी आकाश ही होता है और जब वे विलीन होते हैं, तब भी वे आकाश रूप होकर रहते हैं, उसी प्रकार समस्त भूतों की उत्पत्ति,

स्थित तथा गति सब कुछ म ही हू इस प्रकार विभूतिया के द्वारा मे नाना प्रकार का और व्यापक हू इसलिए तुम अपना सारी चेतन्य शक्ति को अपनी श्रवणेन्द्रिया म एकत्र करके सुनो . अब मैं तुम्हें अपनी विभूतिय बतलाऊंगा। हे अर्जुन, जो विभूतियां बतलाने के लिए मैंने तुम्हें वचन दिया है, उनमें मुख्य-मुख्य विभूतियां सुनो।''

आदित्यानामहं विष्णु ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

इतना कहकर कृपालु श्रीकृष्ण ने फिर कहा—''बारह आदित्यों में विष्णु मेरी प्रधान विभूति है और प्रकाशमान् पदार्थों में मैं सूर्य हूं। उनचास मरुद्गणों में मैं नारायण ही मरीचि हूं और नक्षत्रों का अधिपति चन्द्रमा हूं।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

''मैं वेदों मे सामवेद हूं, देवताओं में मरुद्बन्धु इन्द्र हूं, इन्द्रियों में ग्यारहवीं इन्द्रिय मन हूं और भूतमात्र मे जो स्वाभाविक चेतना अर्थात् जीवन शक्ति है, यह सारी शक्ति भी मैं ही हूं।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

''चौदह रुद्रों में मैं मदन शत्रु-शंकर हूं, यक्षों और राक्षसों में शम्भु का मित्र कुबेर हूं, आठ वसुओं में अग्नि हू और समस्त पर्वतों में अत्यन्त श्रेष्ठ मेरुपर्वत हूं। सब कुछ मैं ही हूं।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावाराणां हिमालयः ॥२५॥

''समस्त पुरोहितों में स्वर्गाधिपति का आधार तथा समस्त ज्ञान का मूल-स्थान बृहस्पति भी मैं ही हूं। इस त्रिभुवन के सेनापतियों में कृत्तिकान्त शंकर से उत्पन्न महाज्ञाता कार्तिक स्वामी भी मैं ही हूं। सरोवरों में जल का अपार संग्रह सागर हूं और महर्षियों में महान् तपस्वी भृगु भी मैं ही हूं। समस्त साहित्य में सत्य का क्रीड़ा-स्थल मे ही हूं। कर्मकांड का त्याग करके ओंकार आदि द्वारा जिस जप-यज्ञ की सांगता की जाती है, वह जप-यज्ञ समस्त यज्ञों में मेरी प्रधान विभूति है। नाम के जप का यज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है। इसके लिए स्नान आदि नित्य कर्मों की भी अपेक्षा नहीं होती। धर्म और अधर्म दोनों ही नाम-घोष से पावन होते हैं। वेदार्थ से भी नाम ही परब्रह्म ठहरता है। अटल पर्वतों में पुण्य-राशि हिमालय पर्वत हूं।''

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

''इसके उपरान्त श्रीकृष्ण ने कहा—''पारिजात तो प्रत्यक्ष कल्पवृक्ष ही है और चन्दन का गुण भी बहुत अधिक प्रसिद्ध है, तो भी वृक्षों की कोटि में मेरी प्रधान विभूति पीपल है। हे अर्जुन, देवर्षियों में नारद और समस्त गन्धर्वों में चित्ररथ भी मैं ही हूं। हे ज्ञाता अर्जुन, समस्त सिद्ध योगियों में कपिलाचार्य मैं ही हूं और समस्त अश्व जाति में उच्चैःश्रवा भी मैं ही हूं। हे अर्जुन, जो हाथी राजाओं के भूषण के समान जान पड़ते हैं, उनमें ऐरावत भी मे ही हूं। समुद्र का मन्थन करने पर देवताओं को जो अमृतरस मिला था, वह भी मैं ही हूं। जिसकी आज्ञा सारी

प्रजा शिरोधार्य करती है, समस्त जनता में उसी राजा को मेरी प्रधान विभूति समझना चाहिए।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

"सौ यज्ञ करने वाले इन्द्र के हाथ में जो वज्र रहता है, वह वज्र ही समस्त शास्त्रों में मेरी प्रधान विभूति है। गौओं में कामधेनु और उत्पादकों में मदन मेरी प्रधान विभूति है। हे अर्जुन, सर्पकुल में सर्पाधिपति वासुकी और नागगणों में अनन्त नाम का नाग मैं ही हूं। समस्त जलचरों में जो पश्चिम दिशा का अधिपति वरुण है, वह भी मैं ही हूं। समस्त पितृगणों में अर्यमा नाम का पितृ-देवता मेरी प्रधान विभूति है। समस्त संसार के शुभाशुभ कर्मों का लेखा रखने वाला, सबके अन्तःकरण की जांच करने वाला और उन्हें कर्मानुसार फल-भोग कराने वाला जो नियन्ता है और सबके कर्मो को निरन्तर देखने वाला जो यम है, वह भी मेरी प्रधान विभूति है।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

"दैत्यों में प्रह्लाद मेरी प्रधान विभूति था, इसीलिए उसे दैत्यत्व की बाधा नहीं हुई। ग्रसकर नष्ट करने वाला महाकाल और वन्य पशुओं में सिंह मैं ही हूं। पक्षियों में गरुड़ मेरी प्रधान विभूति है और इसीलिए वह मुझे अपनी पीठ पर सवार कराके उड़ सकता है।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

"हे अर्जुन. इस पृथ्वी के असीम विस्तार में जो बिना एक घड़ी भी लगाये और एक ही उड़ान में सातों समुद्रों की प्रदक्षिणा कर सकता है, वह सबसे बढ़कर वेगवान पवन भी मैं ही हूं। हे अर्जुन, समस्त शस्त्रधारियों में मैं राम हूं, क्योंकि श्रीराम ने संकट में पड़े हुए धर्म का पक्ष लेकर अपनी सहायता के लिए केवल एक धनुष अपने पास रखकर त्रेता युग में विजय-लक्ष्मी से अकेले अपना ही वरण कराया था। इसके उपरान्त लंका के पास के सुवेल पर्वत पर खड़े होकर उन्हीं श्रीराम ने लंकाधिपति रावण की मस्तक-पंक्ति आकाश में जय-जयकार का घोष करने वाले भूतों के हाथों पर बलि-स्वरूप रखी थी। उन्हीं राम ने देवताओं के मान की रक्षा की थी और धर्म का जीर्णोद्धार किया था। वे सचमुच सूर्यवंश के सूर्य ही थे। अतः समस्त शस्त्रधारियों में वह सेनापति राम मैं ही हूं। पुच्छधारी जलचर प्राणियों में मैं मकर हूं। जिस समय गंगा को राजा भगीरथ पृथ्वी-तल पर ला रहे थे, उस समय राजा जह्नु उस गंगा को पान कर गये थे और फिर उन्हीं राजा जह्नु ने अपनी जांघ चीरकर उसमें से गंगा को निकाला था। वही तीनों भुवनों में बहने वाली जाह्नवी समस्त जल-प्रवाहों में मेरी प्रधान विभूति है। परन्तु हे अर्जुन, यदि मैं इस प्रकार सारी सृष्टि की एक-एक विभूति का नाम गिनाने लगूं तो सैकड़ों जन्म बीत जाने पर भी उनमें से आधी विभूतियों के नाम भी न गिनाये जा सकेंगे।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

"यदि समस्त नक्षत्रों को एकत्र करने की इच्छा हो तो जिस प्रकार आकाश की गठरी बांधने की आवश्यकता

होगी अथवा यदि पृथ्वी के अणुआ और रेणुओ की गणना करने के लिए सारी पृथ्वी को बगल मे दबाने की आवश्यकता होगी, उसी प्रकार यदि मेरी समस्त विभूतियों को देखने की इच्छा हो तो स्वय मेरा ही ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा। जिस प्रकार यदि शाखाओं सहित समस्त फूलों और फलों को अपने हाथ में लेने की इच्छा हो तो जड़ सहित वृक्ष को ही उखाड़कर हाथ मे लेना पडेगा, उसी प्रकार यदि मेरी समस्त विभूतियों का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा हो तो मेरे निर्दोष व्यापक स्वरूप का ही ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा। और नहीं तो मैं अपनी भिन्न-भिन्न विभूतियां कहा तक गिनाऊंगा ! इसलिए तुम सबका सारांश यही समझ लो कि मैं ही सब कुछ हूं। जिस प्रकार वस्त्र के आदि, मध्य और अन्त अर्थात् उत्पत्ति स्थिति और नाश इन तीनों अवस्थाओं में तन्तु-ही-तन्तु रहते हैं उसी प्रकार इस सृष्टि की तीनों अवस्थाओं में मैं ही ओत-प्रोत भरा हुआ हूं। जब मेरी इस व्यापकता का ज्ञान हो, तब फिर अलग-अलग सब विभूतियां बतलाने की क्या आवश्यकता है ? परन्तु तुममें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि तुम मेरी इतनी व्यापाकता समझ सको; इसलिए मैंने तुम्हें इतनी बातें बतला दी हैं और तुम्हारे लिए यही बातें यथेष्ट हे। परन्तु तुमने जिस दृष्टि से मेरी विभूतियों के सम्बन्ध में प्रश्न किया है, उसी दृष्टि से मैं भी बतलाता हूं; सुनो। समस्त विद्याओं में वह अध्यात्म विद्या ही मेरी प्रधान विभूति है जिसका प्रकरण इस समय चल रहा है। बोलने वालो मे जो वाद होता है और जिसके सम्बन्ध में न तो कभी समस्त शास्त्रों की एकवाक्यता ही होती है और न जिसका कभी अन्त ही होता है, वह वाद भी मैं ही हूं। दूर करने या मिटाने का प्रयत्न करने पर जो वाद और भी बढ़ता हे और जोर पकड़ता है, जिसके कारण सुनने वालों के मन में उत्प्रेक्षा से ईर्ष्या बढ़ती है और जिससे वक्ताओ के भाषण में माधुर्य आता है, वह वाद भी मेरी ही विभूति है। अक्षरों में जो पहला अक्षर अ-कार है, वह भी मै ही हू। समासों में मैं द्वन्द्व समास हूं। च्यूंटी से लेकर ब्रह्मा तक सबको खा जाने वाला काल मैं ही हूं। जो अनन्तकाल मेरु और मन्दर आदि पर्वतों के सहित सारी पृथ्वी को गला देता है, प्रलयकाल में सारे विश्व को जलमय करने वाले असीम सागर को भी जो महाकाल जहां-का-तहां सुखा देता है और आकाश जिसके उदर में समा जाता है, वह महाकाल मैं ही हूं। और इसी प्रकार फिर से सृष्टि उत्पन्न करने वाला भी मैं ही हूं।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

"मैं ही समस्त भूतों को उत्पन्न करता हूं, मैं ही उन सबका पालन करता हूं और अन्त में मैं ही उनका संहार भी करता हूं इसलिए मृत्यु भी मैं ही हूं। अब स्त्री-समूह में मेरी सात विभूतियां हैं; वह भी मैं तुम्हें यों ही बतला देता हू। हे अर्जुन, जो कीर्ति कभी नष्ट नहीं होती, वह भी मैं ही हूं, और उदारता की जिसे संगति प्राप्त हुई है, वह सम्पत्ति भी मैं ही हूं। जो वाणी न्याय के आधार पर सुख से विवेक के मार्ग पर चलती रहती है, वह वाणी भी मैं ही हूं। दिखाई पड़ने वाली वस्तु के साथ-ही-साथ उसके सम्बन्ध की समस्त बातों को याद दिलाने वाली स्मृति भी मैं ही हूं। इसी प्रकार आत्महित का साधन करने वाली बुद्धि, धैर्य की वृत्ति और सर्वत्र दिखाई पड़ने वाली क्षमा ये सब मेरी ही प्रधान विभूतियां हैं। इस प्रकार स्त्री-समूह में ये सातों शक्तियां भी मैं ही हूं।" संसार रूपी हस्ती का नाश करने वाले सिंह श्रीकृष्ण ये सब बातें उस समय अर्जुन से कहीं।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

इसके उपरान्त लक्ष्मीपति कृष्ण ने कहा—"तीनों वेदों में के सामवेद में जो बृहत् साम है, वह भी, हे सखा अर्जुन, मैं ही हूं। समस्त छन्दों में गायत्री नामक छन्द मैं ही हूं। इस विषय में तुम्हें तिल-भर भी सन्देह नहीं होना चाहिए। बारह महीनों में मार्गशीर्ष और छः ऋतुओं में वसन्त ऋतु भी मैं ही हूं।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

"छलने वाले कामों में जो द्यूतकर्म है, हे अर्जुन, वह मैं ही हूं। इसीलिए जब कोई द्यूतकर्म के द्वारा खुले आम चोरी करके किसी को लूटता है, तो उसका कोई निवारण नहीं कर सकता। समस्त तेजस्वी पदार्थों का तेज मैं हूं। समस्त कार्य करने के संकल्पों में जो विजय है, वह भी मैं ही हूं। समस्त उद्योगों में न्याय को उज्ज्वल करने वाला व्यवसाय भी मैं ही हूं। समस्त सत्त्वपूर्ण पुरुषों का सत्त्व मैं ही हूं और समस्त यादव कुल में जो ऐश्वर्यवान् वसुदेव और देवकी का लड़का था, परन्तु जिसे यशोदा की लड़की के बदले में गोकुल में ले गये थे और जिसने पूतना के दूध के साथ-ही-साथ उसके प्राणों को भी पान कर लिया था, जिसने अभी अपनी बाल्यावस्था समाप्त करते-करते ही सारी सृष्टि को दैत्यहीन कर डाला था और गोवर्धन पर्वत नखाग्र पर उठाकर महेन्द्र के महत्त्व की परीक्षा की थी, यमुना के दह में से जिसने कालिय-रूपी शल्य निकाल बाहर किया था, जिसने जलते हुए गोकुल की रक्षा की थी और गौओं तथा बछड़ों के हरण के समय ब्रह्मा को अपनी माया से पागल बना दिया था, जिसने अपनी बाल्यावस्था के उदयकाल में ही कंस सरीखे बड़े-बड़े लोगों को भी सहज में धूल में मिला दिया था, परन्तु इतनी बड़ी-बड़ी बातों से क्या लाभ ! हे अर्जुन, जिसके पराक्रम के कृत्य तुमने स्वयं देखे हैं अथवा सुने हैं, वह श्रीकृष्ण इन सब यादवों में मेरी प्रधान विभूति है। और चन्द्रवंश में जन्म लेने वाले तुम पांडवों में जो अर्जुन, उसके सम्बन्ध मे भी यही समझ लो कि वह भी मैं ही हूं और इसीलिए उसके तथा मेरे प्रेमभाव में कभी अन्तर नहीं होता और उसके साथ कभी मेरा बिगाड़ नहीं होता। तुम संन्यासी का वेष धारण करके मेरी बहन सुभद्रा को भगा ले गये थे, परन्तु फिर भी तुम्हारे सम्बन्ध में कभी मेरे मन में कोई विपरीत भावना नहीं उत्पन्न हुई। क्योंकि मैं और तुम दोनों एक ही स्वरूप हैं।" इसके उपरान्त यादव-श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ने कहा—"हे अर्जुन, समस्त मुनिगणों में व्यास मैं ही हूं और कविवरों में शुक भी मैं ही हूं।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

"च्यूंटी से लेकर ब्रह्मा तक सबका नियन्त्रण करने वाला जो दंड है, समस्त शासनकर्ताओं में वह दंड मैं हूं। अच्छे और बुरे का निर्णय करने वाला और धर्मज्ञान का पक्ष लेने वाला समस्त शास्त्रों का नीतिशास्त्र मैं हूं। हे मित्र अर्जुन, मैं गुप्त रखने योग्य भावों का रक्षक मौन हूं, क्योंकि मौन धारण करने वाले के सामने ब्रह्मा की भी कुछ नहीं चलती। ज्ञानीजनों में जो ज्ञान रहता है, वह भी मैं ही हूं। परन्तु इन विभूतियों का कहां तक वर्णन किया जाय ! इनका कहीं अन्त ही नहीं है।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३६॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

"हे धनुर्धर अर्जुन, वर्षा की धारों की गिनती की जा सकती है अथवा पृथ्वी पर के अंकुरों और तृणों की सख्या भी जानी जा सकती है; परन्तु जिस प्रकार समुद्र की लहरों का कोई प्रमाण नियत नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मेरी प्रधान विभूतियों की भी कोई सीमा नहीं है। इनमें से जो पांच-सात मुख्य विभूतियां मैंने तुम्हें

बतलाई ह हे अर्जुन वे सब ऊपर से तुम्हें परिचय कराने क लिए ही ह मरी बाकी बची हुइ विभूतिया के विस्तार की कोई सीमा ही नहीं है, इसलिए तुम सुनोगे क्या और मैं बतलाऊंगा क्या ! इसलिए अब मैं तुम्हें अपना सारा रहस्य ही बतला देता हूं। इन समस्त भूतरूपी अंकुरों में जिस बीज का विस्तार होता है, वह बीज मैं ही हूं। इसलिए किसी को कभी छोटा या बड़ा नहीं कहना चाहिए, ऊंच-नीच का भेदभाव छोड़ देना चाहिए और यह समझ लेना चाहिए कि जितनी वस्तुएं हैं, वे सब मैं ही हूं। तो भी सुनो, मैं अब तुम्हें एक साधारण चिह्न बतला देता हूं। उसी चिह्न से तुम मेरी विभूतियों को पहचान सकोगे।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१॥

"हे अर्जुन, जिन-जिन भूतों में ऐश्वर्य तथा दयालुता दोनों गुण एकत्र दिखाई पड़ें, उनके सम्बन्ध में तू मेरे तेज की अभिव्यक्ति ही जान।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

"आकाश में सूर्य का केवल एक ही विम्ब रहता है, परन्तु उसकी प्रभा तीनों भुवनों में फैली रहती है। ठीक इसी प्रकार जिस एक की आज्ञा का सब लोग पालन करते हों, उसमें तुम कभी अकेला या निर्धन मत समझना। क्या जहां-जहां कामधेनु जाती है, वहां-वहां उसके साथ सारी वस्तुओं का संग्रह भी बंधा चलता है। नहीं। परन्तु उससे जो कोई जो पदार्थ मांगता है, वह पदार्थ वह तत्काल प्रसव करने लगती है। इसी प्रकार उस एक विश्वबीज में विश्व का सारा ऐश्वर्य भरा रहता है। उसे पहचानने का लक्षण एक ही है; और वह यह कि सारा संसार उसके आगे नम्र होता है और उसकी आज्ञा का पालन करता है। जिसमें ऐसा लक्षण दिखलाई दे, उसे तुम मेरा अवतार समझो। इस प्रकार के अवतारों में किसी को सामान्य और किसी को विशेष उत्कृष्ट समझना और उनमें इस प्रकार का भेदभाव करना पाप ही है; क्योंकि यह सारा विश्व मैं ही हूं। ऐसी अवस्था मे साधारण और उत्तम वाले भेदों की कल्पना किस दृष्टि से की जाय ? इस प्रकार के भेदभाव की कल्पना करना मानो व्यर्थ ही अपनी बुद्धि को कलंकित करना है। व्यर्थ ही घी को क्या मथा जाय ? अमृत को औंटाकर आधा करने से क्या लाभ है ? क्या वायु में भी कभी दाहिने और बायें अंग होते हैं ? यदि कोई यह देखने के लिए सूर्य के विम्ब पर दृष्टि जमावे कि इसका पेट कहां है और पीठ कहां है तो इसका फल केवल यह होगा कि उसकी दृष्टि ही नष्ट होगी। इसी प्रकार मेरे स्वरूप में भी साधारण और विशेष वाली भेदमूलक कल्पना की गन्ध भी नहीं है। तुम मेरी एक-एक विभूति को अलग-अलग लेकर मेरे असीम स्वरूप को कहां तक नापोगे ? इसीलिए, हे अर्जुन, मुझे जानने का इस प्रकार का प्रयत्न रहने दो। मेरे तो एक ही अंश ने इस सारे संसार को पूरी तरह से व्याप्त कर रखा है, इसलिए तुम समस्त भेद-भाव छोड़कर सम बुद्धि से मेरी उपासना करो।" ज्ञानीजन-रूपी वन में फूलने वाले वसन्त और विरक्त जनों के सम्पूर्ण ध्येय उन ऐश्वर्यसम्पन्न श्रीकृष्ण ने अर्जुन से इस प्रकार कहा। इस पर अर्जुन ने कहा—"हे महाराज, आपने तो केवल यही एक रहस्य मुझे बतलाया कि मे सारा भेदभाव बिलकुल छोड़ दूं। अब यदि मैं यह कहूं कि आपका यह कहना भी वैसा ही अनुचित है, जैसा सूर्य का संसार से यह कहना कि—'यह अन्धकार दूर कर दो' तो मेरा ऐसा कहना छोटी मुंह बड़ी बात होगी। आपके तो नाम का ही इतना माहात्म्य है कि यदि किसी के मुख से कभी आपका नाम निकल जाय अथवा किसी के कानों में ही आपका नाम पड़ जाय तो भेदभाव उसके हृदय से तत्काल ही निकलकर दूर चले जाते है। आप तो स्वयं परब्रह्म ही हैं और वही परब्रह्म इस समय सौभाग्य से मुझे मिल गये हैं। फिर यहां कौन-सा

भेदभाव रह सकता है और यह किसके लिए बाधक हो सकता ? क्या चन्द्रबिम्ब के गर्भ में प्रवेश करने पर भी कहीं गरमी लग सकती है ? परन्तु हे महाराज श्रीकृष्ण, आप अपनी महत्ता के कारण ही इस समय ऐसी बात कह गये हैं।" यह सुनकर श्रीकृष्ण को बहुत सन्तोष हुआ और उन्होंने प्रेमपूर्वक अर्जुन को आलिंगन करके कहा—"हे अर्जुन, तुम मेरी बातों से नाराज मत होओ। मैंने भेद का अंगीकार करके जिन भिन्न-भिन्न विभूतियो का वर्णन किया है, उनके सम्बन्ध में केवल इसी बात की परीक्षा करने के लिए मैंने कुछ जरूरी और बाह्य बातें कही हैं कि उन बातों की अभिन्नता तुम्हारे अन्तःकरण में अंकित हुई या नहीं। परन्तु अब मुझे इस बात का अनुभव हो गया है कि तुम्हें मेरी विभूतियों का अच्छी तरह बोध हो गया है।" इस पर अर्जुन ने कहा—"हे देव, अपनी बात तो आप ही जानें, परन्तु मैं तो सचमुच यही देखता हूं कि यह जो सारा विश्व है, वह केवल आपका ही स्वरूप है।" परन्तु संजय ने जो यह कहा था—"हे राजन्, अर्जुन इस प्रकार आत्मरूप का अनुभव करने लगा।" सो संजय का यह वचन धृतराष्ट्र बिलकुल चुपचाप सुनता रहा। उस समय संजय को अपने मन में बहुत बुरा मालूम हुआ और उसने मन-ही-मन कहा—"ऐसा सौभाग्य का फल सामने आया है और फिर भी वह इस धृतराष्ट्र से इतनी दूर है और वह उसे प्राप्त नहीं कर रहा है। यह भी एक आश्चर्य की ही बात है। मैं समझता था कि इसकी बुद्धि तो कम-से-कम अच्छी होगी। परन्तु नहीं; यह जिस प्रकार बाहर से चर्मचक्षुओं का अन्धा है, उसी प्रकार अन्दर से अन्तश्चक्षुओं का भी अन्धा है।" अस्तु। अब वह अर्जुन अपने आत्मकल्याण की मात्रा बराबर बढ़ा रहा था, क्योंकि अब उसके मन में एक और ही बात की उत्कण्ठा उत्पन्न हो गई थी। उसने कहा—"हे देव; मेरे अन्तःकरण में जो आत्मस्वरूप का अनुभव प्रतिबिम्बित हुआ है, उसके सम्बन्ध में अब मेरा मन इस उत्कंठा से व्याकुल हो रहा है कि वही अनुभव मैं इस बाह्य जगत् में स्वयं अपनी आंखों से करूं।" अर्जुन बहुत बड़ा भाग्यवान् था और इसीलिए उसके मन में यह आकांक्षा उत्पन्न हुई थी कि मैं अपने इन दोनों नेत्रों से सारे विश्व का आकलन करूं। हे श्रोतागण, वह अर्जुन स्वयं कल्पतरु की शाखा ही था और इसीलिए यह सम्भव नहीं था कि वह बांझ (अर्थात् फलहीन अथवा विफल) होता। इसीलिए उसके मुंह से जो-जो बातें निकलती थीं, वह सब श्रीकृष्ण पूरी करते चलते थे। जिन नारायण ने भक्त प्रह्लाद की बात रखने के लिए विष तक का रूप धारण किया था, वही नारायण इस अर्जुन को सद्गुरु के रूप में प्राप्त हुए थे। अब आगे के अध्याय में श्रीनिवृत्तिनाथ का शिष्य ज्ञानदेव श्रोताओं को यह बतलावेगा कि उस समय उस अर्जुन ने किन शब्दों में भगवान् श्रीकृष्ण से यह प्रार्थना की थी कि मुझे विश्वरूप दिखलाइये।





विश्वरूपदर्शनयोग

अर्थात् ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन को विराट् स्वरूप के दर्शन होने की जिस त
से भरी हुई है। बात यह है कि इस कथा में मुख्य तो शान्त रस ही है, परन्तु
कार करने के लिए आया है। और दूसरे रसों को भी उसके साथ सम्मान
र और वधू के विवाह के समय बराती भी अच्छे-अच्छे वस्त्र और आभूषण प
कार यहां देशी भाषा के सुखद आसन पर सब रस सुशोभित हो रहे हैं। परन्तु
पूर्वक गाढ़ आलिंगन किए हुए शान्त और अद्भुत रस उतने अधिक और ऐसे ढ
दिखाई पड़ते हैं अथवा अमावस्या के पर्वकाल में जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रम
उसी प्रकार यहां इन दोनों रसों का मिलाप हुआ है। गंगा और यमुना के प्रवाह
भी संगम हुआ है जिससे यहां प्रयाग-क्षेत्र ही बन गया है। अब सारा जगत् इ
दपूर्वक निर्मल हो सकता है। इस अवसर पर गीता को गुप्त सरस्वती समझना च
गह व्यक्त हैं; अतः हे श्रोतागण, उस अध्याय को मानो त्रिवेणी का संगम ह
कि मेरे उदार दाता श्रीनिवृत्तिनाथ ने ऐसा सुभीता कर दिया है कि इस त्रिवेण
लोग सहज में प्रवेश कर सकें। इस संस्कृत तीर्थ के संस्कृत भाषात्मक तट उत
लिए श्रीनिवृत्तिदेव ने उन्हें तोड़कर देशी भाषा के शब्दों का ऐसा घाट बांध दि
ज में ही प्राप्त हो सकें। अब इस स्थान पर जो श्रद्धालुजन चाहें, वे अच्छी तरह
विराट् रूपी माधव के दर्शन कर सकते हैं और जन्म-मरण की परम्परा को मजे

सकते है। इस अध्याय में रसों की ऐसी अच्छी बहार है कि संसार को श्रवणानन्द का मानो साम्राज्य ही मिल गया है। इस अध्याय में शान्त और अद्‌भुत रस तो प्रधान हैं ही, पर साथ ही दूसरे रसों का भी बहुत कुछ महत्त्व रखा गया है और केवल ब्रह्म को ही स्पष्ट किया गया है। ऐसा यह ग्यारहवां अध्याय है। यह अध्याय स्वयं श्रीकृष्णदेव के विश्राम का स्थान है, परन्तु समस्त भाग्यवान् पुरुषों में अर्जुन सचमुच श्रेष्ठ है, क्योंकि उसका इस स्थान में भी प्रवेश हुआ है। परन्तु हम यह क्यों कहें कि एक अर्जुन ही इस स्थान पर पहुंचा है ? अब तो यही कहना ठीक होगा कि जो चाहे, वह यहां पहुंच सकता है, क्योंकि अब गीता का अर्थ देशी भाषा के रूप में प्रकट हो गया है। इसलिए हे श्रोतागण, आप लोग मेरी प्रार्थना सुनें और आप सब सज्जन इस ओर ध्यान दें। इस समय आप सन्तजनों की सभा में मुझे इस प्रकार की धृष्टता की बातें नहीं कहनी चाहिए; परन्तु फिर भी आप लोग प्रेमपूर्वक मुझे अपना बालक ही समझें। आप यदि किसी तोते को बोलना सिखलावें और वह तोता आपसे सीखकर बोलने लगे; तो आप लोग आनन्द से सिर हिलावेंगे। अथवा यदि माता किसी बालक को किसी विनोद के काम में लगा दे और वह बालक वह काम करने लगे, तो क्या माता उस बालक पर प्रसन्न नहीं होती ? इसीलिए महाराज, मैं जो कुछ कहता हूं, वह सब आप ही लोगों का सिखलाया हुआ है। अतः अब आप लोग अपनी ही सिखलाई हुई बातें सुनें। हे महाराज, यह साहित्य का मधुर वृक्ष आप लोगों ने ही अपने हाथों से लगाया है, अतः अब अपने अवधान-रूपी अमृत-जल से सींचकर आप ही लोग इसे बड़ा भी करें। यदि आप लोग ऐसा करेंगे तो यह वृक्ष रस-भावों के फूलों से लद जायगा, अनेक अर्थ-रूपी फलों से भर जायगा और आपकी पुण्याई से संसार को सुखी होने का अवसर मिलेगा। इस भाषण से सज्जन श्रोताओं का सन्तोष हो गया और उन्होंने कहा—"वाह-वाह ! तुमने बहुत अच्छा किया। अब यह बतलाओ कि उस अवसर पर अर्जुन ने क्या कहा।" इस पर श्रीनिवृत्तिनाथ का शिष्य ज्ञानदेव कहता है कि महाराज श्रीकृष्ण और अर्जुन का वह गहन संवाद मैं निर्बुद्धि क्या बतलाऊं ! हां आप ही लोग वह सब बातें मुझसे कहलावेंगे। जंगल के पत्ते खाने वाले बन्दरों के हाथों भी लंकानाथ रावण तिरस्कार का पात्र बन गया और उसका पराभव हो गया, और उधर अर्जुन बिलकुल अकेला था, पर फिर भी उसने ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओं का भंग किया। इसीलिए कहना पडता है कि समर्थ जो कुछ चाहते हैं, वह चराचर में हो ही जाता है। इसी प्रकार आप सन्त लोग भी आज मुझे बोलने से प्रवृत्त कर रहे हैं। अब मैं श्री वैकुण्ठपति के मुख से निकली हुई गीता का भावार्थ बतलाता हूं। आप लोग सुनें। इस गीता-ग्रन्थ का भी कैसा माहात्म्य है ! वेदों के प्रतिपादन के जो मुख्य देवता श्रीकृष्ण हैं, वही इस ग्रन्थ के वक्ता हैं। इस ग्रन्थ का अर्थ-गौरव इतना अधिक है कि स्वयं शंकर भी उसका आकलन नहीं कर सकते। अतः इस अवसर पर हृदय से उनकी वन्दना करना ही उचित है। अब आप लोग यह सुनें कि वह अर्जुन प्रभु के विश्व-स्वरूप पर ध्यान रखकर क्या कहने लगा। अर्जुन के मन में इस बात की बहुत बड़ी अभिलाषा थी कि मेरे मन में इस सिद्धान्त पर जो दृढ़ विश्वास हो गया है कि सारा विश्व ही परमेश्वर है, उसे मैं अपने चर्मचक्षुओं से भी देखूं और इस प्रकार बाहर से भी इस सिद्धान्त पर मेरा पूरा-पूरा विश्वास हो जाय। परन्तु अपने मन की यह अभिलाषा भगवान् पर प्रकट करना बहुत ही कठिन था, क्योंकि वह सोचता था कि विश्व-स्वरूप सरीखे गूढ़ रहस्य के विषय में मैं खुलकर कैसे प्रश्न करूं। अर्जुन अपने मन में सोचने लगा कि जो बात आज तक भगवान् के किसी प्रिय भक्त ने कभी नहीं पूछी, वह बात मैं एकदम से कैसे पूछ बैठूं ! यह ठीक है कि मैं श्रीकृष्ण का बहुत ही प्रिय सखा हूं, परन्तु क्या कभी मेरा और इनका प्रेम माता के प्रेम के समान हो सकता है ? माता भी विश्वरूप के सम्बन्ध में प्रश्न करने से डरती थीं। मैंने चाहे इनकी कितनी ही मन पूर्वक सेवा क्यों न की हो, पर फिर भी गरुड़ ने इनकी जो सेवा की है, क्या मेरी सेवा उसकी बराबरी कर सकती है ? परन्तु वह गरुड़ भी कभी इनसे विश्वरूप के सम्बन्ध में कुछ नहीं पूछता। क्या मैं सनक

आदि की अपेक्षा भी इनका अधिक समीपी हूं ! परन्तु वे सनक आदि भी कभी विश्वरूप देखने का पागलपन वाला आग्रह नहीं करते। क्या मैं श्रीकृष्ण के लिए गोकुल के प्रेमपूर्ण बाल-गोपालों से भी बढ़कर अधिक प्रिय हूं। परन्तु उन लोगों को भी भगवान् ने केवल अपने बाल भाव से ही प्रसन्न किया था। अम्बरीष आदि अनेक भक्तों के लिए इन्होंने गर्भवास का भी कष्ट सहन किया परन्तु उनसे भी इन्होंने अपना विश्वरूप गुप्त ही रखा--कभी किसी को अपना वह गुप्त रूप नहीं दिखलाया। इन्होंने आज तक यह गूढ़ रहस्य अपने अन्तरंग में ही गुप्त रखा। फिर मैं एकाएक इनसे उसके सम्बन्ध में कैसे कुछ कहूं ! यदि मैं यह समझूं कि इस विषय में कुछ न पूछना ही ठीक है तो बिना विश्वरूप के दर्शन किये मुझे चैन न मिलेगा। यही नहीं, बल्कि इस बात में भी मुझे सन्देह ही है कि बिना दर्शन किये मैं जीवित भी रह सकूंगा या नहीं। इसलिए अब मैं दबी जबान से ही उसका जिक्र छेड़ूं। फिर देव को जो कुछ अच्छा जान पड़ेगा, वह करेंगे। इस प्रकार अपने मन में निश्चय करके अर्जुन डरते-डरते कहना आरम्भ किया। परन्तु उसका यह डरते-डरते बोलना भी ऐसी खूबी का था कि उसके केवल एक-दो शब्द सुनते ही श्रीकृष्ण अपने समस्त विश्वरूप का तुरन्त दर्शन करा दें। बछड़े को देखते ही गौ खड़बड़ा जाती है और उससे मिलने के लिए व्याकुल होने लगती है। पर जब वह बछड़ा आकर स्तन में मुंह लगा दे तब भला यह कब सम्भव है कि उसके स्तनों में दूध न भर आवे ? पांडवों की रक्षा के लिए श्रीकृष्ण जंगलों तक में दौड़े-धूपे थे। अब अर्जुन के इस प्रकार प्रार्थना करने पर वे भला कैसे शान्त रह सकते थे। श्रीकृष्ण तो प्रेम के प्रत्यक्ष अवतार ही थे और अर्जुन उस प्रेम का मानो अच्छा खाद्य पदार्थ था। अब यदि ऐसा उत्तम योग होने पर भी वे दोनों अलग रहें तो यह आश्चर्य की ही बात है इसीलिए अर्जुन के मुख से वे शब्द निकलते ही श्रीकृष्ण आप ही एकदम विश्वरूप हो जायंगे। यही पहला प्रसंग है। आप लोग इसकी ओर ध्यान दें।

अर्जुन उवाच–

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥१॥

अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा–"हे दया-सागर देव, जो बात शब्दों में किसी प्रकार नहीं कही जा सकती, उसे आपने मेरे लिए ऐसा स्वरूप प्रदान कर दिया कि वह वाणी के द्वारा समझ में आ सके। जिस समय भूतमात्र ब्रह्म स्वरूप में मिल जाते हैं, उस समय और जीवों तथा माया का कहीं नाम भी नहीं रह जाता। उस समय परब्रह्म जिस स्वरूप में उतरता है, वही उसका अन्तिम रूप है। अपना जो स्वरूप आपने अपने हृदय के भीतरी भाग में लोभी के धन की भांति बन्द कर रखा था और जिसका पता स्वयं वेदों को भी नहीं चला था, वही अपने हृदय का रहस्य आज आपने मेरे सामने खोल दिया है। श्रीशंकर ने जिस अध्यात्म-रहस्य पर से सारा ऐश्वर्य निछावर करके फेंक दिया, महाराज, आज वहीं रहस्य आपने मुझे एकदम से बतला दिया। परन्तु यदि मैंने इस बात का उल्लेख किया, तो मैंने आपका व्यापक स्वरूप प्राप्त कैसे किया ? परन्तु महामाया के अपरम्पार सागर में मुझे सिर तक डूबा हुआ देखकर, हे श्रीकृष्ण, आपने स्वयं ही कूदकर मुझे उसमें से बाहर निकाला है। अब मेरे लिए इस विश्व में आपके सिवा और कोई बात ही नहीं रह गई है। परन्तु मेरा भाग्य ही कुछ ऐसा खराब है कि अभी तक मेरे मुख से यही बात निकल रही है कि–'मैं आपसे कोई अलग व्यक्ति हूं।' अभी तक मेरे साथ एक ऐसा देहाभिमान लगा हुआ था कि मैं समझता था कि इस संसार में मैं अर्जुन नाम का एक पुरुष हूं। और इन कौरवों को मैं अभी तक अपना 'स्वजन' कहता था। केवल इतना ही नहीं, मैं इस प्रकार का दुष्ट स्वप्न भी देख रहा था कि मैं इन्हें मारूंगा और इस प्रकार मैं पाप में लिप्त होऊंगा। इतने में ही आपने मुझे जगा दिया। हे देव लक्ष्मीनाथ, अभी तक मैं सच्ची बस्ती छोड़कर झूठे गन्धर्वनगर में विचरण कर रहा था; और पानी के धोखे में मृगजल पी रहा था। कपड़े का सांप

वास्तव में मिथ्या और नकली था, परन्तु मुझे यह मिथ्या भावना हो गई थी कि सचमुच सांप ने ही मुझे डस लिया है; और इसीलिए सचमुच विष की लहरें चढ़ रही थीं और यह जीव व्यर्थ ही मर रहा था। परन्तु उसे बचाने का श्रेय आपको ही है। जैसे सिंह एक कुएं में अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर यह समझ रहा हो कि यह मेरा कोई प्रतिस्पर्धी दूसरा सिंह है और इसी भ्रम में वह उस कुएं में कूदना चाहता हो; और उसी समय कोई बीच में आकर उसे पकड़कर रोक ले और इस प्रकार उसे आत्मघात करने से बचा ले। बस ठीक इसी प्रकार आज आपने मुझे बचा लिया है। और नहीं तो, हे देव, मैंने तो आज इस बात का पूरा-पूरा निश्चय कर लिया था कि चाहे सातों समुद्र एक में क्यों न मिल जायं, यह सारा संसार प्रलय के जल में क्यों न डूब जाय, चाहे ऊपर से आकाश ही क्यों न टूट पड़े, परन्तु मैं अपने इन कुटुम्बियों के साथ कभी युद्ध न करूंगा। इस प्रकार की अहंमन्यता के आधिक्य के कारण मैं आग्रह के दह में डूब ही गया था और यदि आप सरीखा समर्थ सखा मेरे पास न होता तो फिर मुझे, कौन बचाकर बाहर निकालता ? जो वस्तु बिलकुल थी ही नहीं, उसके सम्बन्ध में मैं जबरदस्ती मानता था कि वह है। और उसी का नाम मैंने 'गोत्र' रखा था। मुझ पर ऐसा विलक्षण भ्रम का पागलपन सवार हुआ था। परन्तु आपने ही मेरी रक्षा की। एक बार आपने ही मुझे जलते हुए लाक्षागृह से सुखपूर्वक बाहर निकाला था, परन्तु उस समय मेरा केवल शरीर ही संकट में था। परन्तु आज इस भ्रम के दूसरे अग्नि-संकट में मेरे चैतन्य (आत्मा) के ही नष्ट हो जाने का भय था। जिस प्रकार हिरण्याक्ष नामक असुर ने पृथ्वी बगल में दबा ली थी, उसी प्रकार इस समय दुराग्रह ने भी मेरी बुद्धि अपनी बगल में दबा ली थी, और इस कारण जो उपद्रव मचा, उससे मेरे अन्दर मोह का समुद्र लहराने लगा। ऐसे कठिन अवसर पर केवल आपकी सामर्थ्य के कारण ही मेरी बुद्धि फिर से ठिकाने आई है। इसलिए मैं कह सकता हूं कि आज आपको दोबारा वाराह अवतार ही धारण करना पड़ा। आपकी कृति असीम है और मैं अकेला भला उसका कहां तक वर्णन कर सकता हूं ! परन्तु इस बात में कुछ भी सन्देह नहीं कि आज आपने मेरे पंचप्राण ही मुझे फिर से लाकर दिये हैं। महाराज, आपका इतना बड़ा पुण्य-कर्म क्या कभी व्यर्थ जा सकता है ! हे देव, आपको बहुत ही उत्तम यश प्राप्त हुआ है, क्योंकि आपने मेरी माया समूल नष्ट कर डाली है। हे महाराज, आनन्द सरोवर में खिले हुए कमलों के समान आपके जो ये नेत्र हैं, वे जिसे अपने प्रसाद का स्थान बनाते हैं, उस जीव के सम्बन्ध में इस बात की कल्पना करना बिलकुल पागलपन ही है कि उसका मोह के साथ योग होगा—उसे कभी आकर मोह ग्रस सकेगा। भला वड़वानल के सामने मृग-जल क्या चीज है ? और यदि आप मेरी बात कहें तो मैं तो इस समय आपके कृपाप्रसाद के प्रत्यक्ष गर्भगृह में प्रवेश करके आनन्दपूर्वक ब्रह्मरस का आस्वादन कर रहा हूं। यदि इससे मेरा मोह नष्ट हो गया तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है ! हे देव, आपके चरणों के स्पर्श से आज सचमुच मेरा उद्धार हो गया।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

"हे कमल के समान विशाल नेत्रों वाले और कोटि सूर्यों के समान तेज धारण करने वाले महाराज, मैंने आज आपसे ज्ञान का बोध प्राप्त किया है। जिस माया से ये भूतमात्र उत्पन्न होते हैं और जिसके कारण ये अन्त में लीन होते हैं, उस माया का स्वरूप आपने मुझे स्पष्ट करके बतला दिया है। और फिर मेरी वह माया दूर करके मुझे उस परब्रह्म का स्थान दिखला दिया है जिस परब्रह्म का गौरव धारण करके वेद अब तक संसार में सुशोभित होते थे। और यह जो साहित्य का सागर बढ़ रहा है और टिका हुआ है और धर्म-सिद्धान्तों के रत्न तथा मोती आदि उत्पन्न कर रहा है, वह भी उस परमात्मा के तेज के लाभ का ही परिणाम है। इस प्रकार जो समस्त साधन-मार्गों का एक ही ध्येय परमात्मा है और जिसके माधुर्य का ज्ञान केवल आत्मानुभव से ही हो सकता है, उस परमात्मा का अनन्त

और अपार माहात्म्य आपने मुझे स्पष्ट करके बतला दिया है जिस प्रकार आकाश के मेघों का जल बरस जाने पर सूर्य-बिम्ब के दर्शन होते हैं अथवा ऊपर की सेवार हाथ से हटाने पर नीचे का पानी दिखाई पड़ने लगता है अथवा चन्दन के वृक्ष पर कुंडली मारकर बैठने वाले सर्प को हटा देने पर चन्दन का वृक्ष दिखाई पड़ने लगता है अथवा पिशाचों के भाग जाने पर जमीन के अन्दर गड़ा हुआ खजाना मिल जाता है, ठीक उसी प्रकार बीच परदे के समान पड़ी हुई यह माया आज आपने दूर हटाकर मेरी मति तत्त्व-निष्ठ कर दी है। इसलिए हे देव, इस विषय में अब मेरे मन में पूरा-पूरा विश्वास हो गया है; परन्तु अब मेरे मन में एक और नई बात उत्पन्न हुई है। अब यदि मैं इस समय संकोच के कारण आपके सामने उस बात का उल्लेख न करूं तो फिर और किससे मैं वह बात पूछने जाऊं ? आपके सिवा मुझे और किसका आश्रय प्राप्त हो सकता है ? यदि पानी में रहने वाले प्राणी अपने मन में इस बात का संकोच करें कि हमारे अमुक काम से पानी को कष्ट होगा अथवा बालक यदि दृढ़ता और हठपूर्वक स्तन-पान की याचना न करे तो उसके लिए जीवित रहने का और उपाय ही कौन-सा है ? इसलिए अब मुझसे कुछ भी संकोच नहीं किया जाता। इस समय मेरे मन में जो बातें आवें, वह मुझे आपसे साफ-साफ कह देना चाहिए।" इस पर श्रीकृष्ण बीच में ही बोल उठे—"हे अर्जुन, अब यह व्यर्थ का विस्तार रहने दो। तुम मुझे यह बतलाओ कि अब तुम और क्या चाहते हो।"

एवमेतद्यथात्थ त्वामात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

अर्जुन ने कहा—"हे देव, आपने मुझे ज्ञान का जो उपदेश किया है, उससे मुझे समाधान प्राप्त हुआ है। अब जिसके आद्य संकल्प से इस विश्व का निर्माण होता है और यथासमय लय को भी प्राप्त होता है, जिसे आप स्वयं 'मैं' कहते हैं, आपका जो वह मूल स्वरूप है जिससे आप देवताओं के संकटों का निवारण करने के लिए द्विभुज, चतुर्भुज आदि अनेक प्रकार के रूप धारण करते हैं, परन्तु जल-शयन के निमित्त से अथवा मत्स्य, कूर्म आदि के रूप में किये जाने वाले नाटकों के समाप्त होने पर आपकी सगुणता जिस स्थान में लीन होती है, उपनिषद् जिसका गान करते हैं, अपनी दृष्टि को अन्तर्मुख करके योगी जिसे देखते हैं और सनक आदि भक्त जिसे सदा अपने हृदय से लगाये रहते हैं और आपके जिस अनन्त विश्वरूप का वर्णन मैं बराबर कानों से सुनता आया हूं, हे प्रभु, आपका वही विश्व-स्वरूप अपनी आंखों से देखने के लिए मेरा मन बहुत अधिक उत्सुक हो रहा है। हे देव, आपने मेरे सब संकट दूर करके अब तक बड़े प्रेम से मेरी प्रत्येक कामना पूरी की है। अब मेरे मन में केवल एक ही कामना बाकी रह गई है। मेरे मन में इस बात की बहुत बड़ी उत्कंठा है कि आपके उस विश्व-स्वरूप के दर्शन मुझे इन आंखों से हो जायं।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

"परन्तु हे नारायण, इस विषय में एक शंका है। यह बात स्वयं मेरी ही समझ में नहीं आती कि आपके विश्व रूप का दर्शन करने की पात्रता मुझमें है या नहीं। हे देव, यदि आप मुझसे यह पूछें कि यह बात क्यों तुम्हारी समझ में नहीं आती, तो मैं आपसे पूछता हूं कि क्या कोई रोगी स्वयं ही कभी अपने रोग का निदान कर सकता है ? और मेरी इस इच्छा की उत्सुकता इतनी प्रबल है कि उसके सामने मैं यह बात भी बिलकुल भूल जाता हूं कि इस इच्छा के अनुरूप मुझमें योग्यता भी है या नहीं। जिस प्रकार किसी प्यासे आदमी के सामने स्वयं समुद्र भी रख दिया जाय तो भी वह कभी 'बस' नहीं कहता, उसी प्रकार इस प्रबल इच्छा के फेर में मैं अपने आपको संभाल नहीं सकता। इसीलिए जिस प्रकार केवल माता ही जानती है कि मेरे छोटे बालक में कितनी योग्यता है, उसी प्रकार, हे जगदीश,

आप ही मेरी योग्यता का विचार करें और तब मुझे विश्वरूप के दर्शन कराना आरम्भ करें। हे देव, आप इतनी कृपा अवश्य करें। और नहीं तो यही कह दें कि तुम्हारी यह इच्छा पूरी नहीं हो सकती। यदि किसी बहकती के सामने व्यर्थ ही संगति के पंचम स्वर का आलाप किया जाय तो भला उससे उसे क्या सुख हो सकता है ? क्या केवल चातक की प्यास बुझाने के बहाने से ही मेघ सारे संसार के लिए यथेष्ट वर्षा नहीं करता ? परन्तु वह वर्षा भी किसी चट्टान पर व्यर्थ ही तो जाती है। यह बात नहीं है कि चन्द्रमा केवल उतनी ही चन्द्रिका का विस्तार करता हो जितनी चकोर के लिए आवश्यक होती है और दूसरों को उससे वंचित ही रखना हो। परन्तु यदि किसी के आंखें ही न हो तो उसके लिए चन्द्रमा का वह प्रकाश व्यर्थ ही रहता है। इसीलिए मेरे मन में इस बात का पूरा-पूरा विश्वास है कि आप मुझे अपने विश्वरूप के अवश्य दर्शन देंगे। क्योंकि ज्ञानी और अज्ञानी सभी के लिए आपका स्वरूप सदा अद्भुत और अलौकिक ही है। आपकी उदारता बिलकुल निराले ढंग की, स्वयंसिद्ध और अनिर्बन्ध है। आप जब दान देने लगते हैं, तब योग्य और अयोग्य का कुछ भी विचार नहीं करते। मोक्ष सरीखी पवित्र वस्तु आपने अपने कट्टर शत्रुओं तक को दे डाली है। वास्तव में, मोक्ष प्राप्त होना कितना कठिन है ! परन्तु वह भी आपके चरणों में लगा रहता है और इसीलिए आप उसे जिधर भेज देते हैं, वह उधर ही चला जाता है। जो पूतना राक्षसी आपको अपना जहर मिला हुआ दूध पिलाकर मार डालने के लिए आई थी, उसे भी आपने सनक आदि सनत्कुमारों की भांति ही सायुज्य मुक्ति का मधुर स्वाद चखाया था। फिर हमारे राजसूय यज्ञ में त्रिभुवन के सभासद-मंडल के सामने जिसने सैकड़ों प्रकार के दुष्ट वचन कहकर आपकी अप्रतिष्ठा की थी, उस महादुष्ट अपराधी शिशुपाल को भी, हे गोपाल कृष्ण, आपने आत्मस्वरूप में मिला लिया। उस उत्तानपाद राजा के पुत्र की क्या ध्रुव (अक्षय) पद प्राप्त करने की इच्छा थी ! वह तो वन में केवल इसी हेतु से गया था कि मुझमें अपने पिता की गोद में बैठने की योग्यता आ जाय। परन्तु आपने उसे स्वयं ध्रुव-पद प्रदान करके चन्द्रमा और सूर्य से भी बढ़कर श्रेष्ठ बना दिया। इस प्रकार दुःख से ग्रस्त लोगों को बिना आगा-पीछा सोचे उदारतापूर्वक कृपादान देने वाले एकमात्र आप ही हैं। अजामिल ने केवल अपनी ममता के कारण अपने नारायण नामक पुत्र को पुकारा था। परन्तु उसके 'नारायण' नाम उच्चारण करने के बदले में ही आपने उसके पापी चरित्र की ओर ध्यान न देकर उसे मुक्ति पद प्रदान कर दिया। जिन भृगु ऋषि ने आपकी छाती पर लात मारी थी उनकी लात का चिह्न आप अब तक भूषण के समान धारण करते हैं, और आपके शत्रु शंखासुर का शरीर जो शंख है, उसे आप अपने हाथ में बड़े आदर से धारण करते हैं। इस प्रकार आप अपकार करने वाले का भी उपकार करते हैं। आप अयोग्य के प्रति भी अपनी उदारता दिखलाते हैं। आपने पहले तो राजा बलि से दान मांगा और तब स्वयं ही उलटे उसके द्वारपाल बन गये। जो वेश्या कभी आपकी भक्ति नहीं करती थी, यहां तक कि कभी आपका नाम भी नहीं सुनती थी और केवल अपने मनोविनोद के लिए अपने तोते को 'राम राम' कहना सिखलाती थी, उसे भी केवल इस नामोच्चारण के निमित्त ही आपने वैकुण्ठ का सुख प्राप्त करने का सुभीता कर दिया। इस प्रकार केवल झूठे बहाने निकालकर आप अपनी इच्छा से ही बलपूर्वक मुक्ति-पद का दान बहुतों के पल्ले बांध देते हैं। फिर भला वही आप मेरे लिए अपनी उदारता छोड़कर दूसरे प्रकार का व्यवहार कैसे करेंगे ? जो कामधेनु अपने दूध के प्रभाव से ही सारे संसार के संकट दूर करती है, क्या स्वयं उसके बच्चे कभी भूखे रह सकते हैं ? इसीलिए मैंने आपसे जो कुछ दिखलाने की प्रार्थना की है, हे देव, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि वह आप मुझे अवश्य दिखलावेंगे। परन्तु हां, पहले आप उसे देखने की पात्रता मुझमें उत्पन्न करें। यदि आप यह समझते हों कि मेरी आंखों में आपका वह विश्वरूप देखने की सामर्थ्य है, तो आप मेरी यह कामना पूरी करें।" जब अर्जुन ने इस प्रकार की खरी-खरी और स्पष्ट प्रार्थना की, तब षड्गुणों के ऐश्वर्य से सम्पन्न वे श्रीकृष्ण धैर्य धारण न कर सके। श्रीकृष्ण केवल दया-रूपी अमृत से भरे हुए मेघ थे और अर्जुन मानो

समीप आया हुआ वर्षाकाल था। अथवा यदि हम श्रीकृष्ण को कोकिल कहें तो अर्जुन उसके लिए वसन्तकाल था। अथवा जिस प्रकार पूर्णिमा के चन्द्रमा का पूरा-पूरा चमकता हुआ बिम्ब देखते ही क्षीर सागर आवेश से भरकर उछलने लगता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी दूने से भी अधिक प्रेमपूर्ण होकर उल्लसित हो गये। फिर चित्त की उस प्रसन्नता के आवेश में दयामय श्रीकृष्ण ने गम्भीर स्वर में कहा—"हे अर्जुन, यह देखो मेरा असख्य और अपार स्वरूप।" अर्जुन की तो यह इच्छा थी कि मुझे श्रीकृष्ण के केवल एक ही विश्वरूप के दर्शन हों; परन्तु श्रीकृष्ण ने अपने उस विश्वरूप में समस्त विश्व दिखला दिये। सामर्थ्यवान् देव की उदारता अपरिमित ही है। किसी को अपनी इच्छा से मांगने के लिए तैयार भर होना चाहिए। फिर वे उस याचक को अपना वह सर्वस्व अर्पित कर देते हैं जो उसकी याचना से हजार गुना बढ़कर होता है। जिस गुप्त रहस्य के दर्शन भगवान् ने शेषनाग की सहस्र आंखों को भी नहीं होने दिये थे, जो गुप्त रहस्य उन्होंने वेदों पर भी नहीं प्रकट किया था, जिसका पता उन्होंने लक्ष्मी को भी नहीं लगने दिया था, वही रहस्य आज श्रीकृष्ण ने नाना प्रकार से प्रकट करके महाभाग्यवान् अर्जुन को अपने विश्वरूप के दर्शन करा दिये थे। जिस प्रकार जागने वाला पुरुष स्वप्नावस्था में पहुंचकर उस स्वप्न का ही हो रहता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी स्वयं ही इस समय अनन्त ब्रह्मांड हो रहे हैं। उन्होंने अपने कृष्ण-रूप का बिलकुल अन्त करके और माया-दृष्टि का परदा दूर करके अपना योग-सर्वस्व ही बिलकुल स्पष्ट और अनावृत्त कर दिया है। उस समय श्रीकृष्ण को इस बात का विचार करने का ध्यान ही नहीं रह गया कि अर्जुन में मेरा यह रूप देखने की योग्यता भी है या नहीं। उन्होंने प्रेम से विह्वल होकर कहा—"अच्छा, यह देखो विश्व-रूप।"

श्रीभगवानुवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

श्रीकृष्ण ने कहा—"हे अर्जुन, तुमने कहा था कि मुझे केवल विश्वरूप ही दिखलाओ। परन्तु यदि मैं तुमको केवल यही विश्वरूप दिखलाऊं तो इसमें कौन-सी बड़ी बात है ! मेरे विश्व रूप में जो-जो वस्तुएं भरी हुई हैं, वह सभी तुम इस समय देख लो। देखो इसमें कितने नाना प्रकार के आकार और रूप हैं ! कोई बहुत ही छोटे हैं तो कोई बहुत ही बड़े, कोई बहुत ही क्षीण हैं तो कोई बहुत लम्बे-चौड़े। कोई अत्यन्त स्थूल हैं तो कोई अत्यन्त सरल, और कुछ तो केवल असीम ही हैं। कुछ तो बहुत ही अ-वश हैं जिनसे अपने आप संभला नहीं जाता और कुछ बिलकुल गरीब और सीधे-सादे हैं, कुछ चंचल हैं तो कुछ निश्चल, कुछ विरक्त हैं तो कुछ ममतापूर्ण और कुछ अत्यन्त तीव्र प्रेम से युक्त हैं। कुछ मत्त हैं तो कुछ सावधान, कुछ छिछले हैं तो कुछ गम्भीर, कुछ उदार हैं तो कुछ कृपण और कुछ क्रोधी हैं। कुछ शान्त हैं तो कुछ अभिमान से पूर्ण; कुछ निर्विकार हैं तो कुछ आनंदित, कुछ गरजने वाले हैं तो कुछ मौन और कुछ मिलनसार हैं। कुछ स-काम हैं तो कुछ विषयी, कुछ जागे हुए हैं तो कुछ सोये हुए, कुछ सन्तुष्ट हैं तो कुछ लोभी और कुछ समाधानयुक्त हैं। कुछ सशस्त्र हैं तो कुछ शस्त्र-रहित, कुछ अत्यन्त भयंकर हैं तो कुछ अत्यन्त स्नेहपूर्ण, कुछ भीषण हैं तो कुछ विलक्षण और कुछ समाधि में ही मग्न हैं। कुछ प्रजा उत्पन्न करने के काम में लगे हुए हैं तो कुछ प्रेम से प्रजा का पालन करने वाले हैं, कुछ क्रोध में भरकर प्रजा का संहार करने वाले हैं तो कुछ केवल तटस्थ रूप से सबका तमाशा देखने वाले हैं। ऐसे अनेक प्रकार के असंख्य रूप इसमें हैं। इसके सिवा कुछ तो दिव्य तेज से दीप्त हो रहे हैं और उनके प्रकाश के रंग भी एक-दूसरे से भिन्न हैं। कुछ तो मानो तपाये हुए खरे सोने के समान जान पड़ते हैं, कुछ बिलकुल पीले रंग के हैं और कुछ के सर्वांग सिन्दूर पोते हुए आकाश के समान सुशोभित हो रहे हैं। कुछ तो स्वभावतः ऐसे सुन्दर हैं कि मानो मणियों और मानिकों से जड़े हुए ब्रह्मांड के समान जान पड़ते हैं। और कुछ कुमकुम से रंगे हुए अरुणोदय की प्रभा के समान चमक रहे

है। कुछ स्वच्छ स्फटिक के समान निर्मल हैं, कुछ इन्द्र नीलमणि के समान नीले हैं, कुछ काजल के समान नितान्त काले हैं और कुछ लाल रंग के हैं। कुछ चमकते हुए सोने के समान पीले हैं, कुछ वर्षाकाल के बादलों के समान काले हैं, कुछ सोन-चम्पा के समान गोरे हैं और कुछ केवल हरे रंग के हैं। कुछ तपाये हुए तांबे के समान लाल हैं, कुछ शुभ्र चन्द्रमा के समान बिलकुल सफेद हैं। इस प्रकार तुम अनेक रंगों के मेरे रूप देखो। जिस प्रकार ये सब वर्ण अलग-अलग तरह के हैं, उसी प्रकार उनके आकार भी भिन्न-भिन्न हैं। कुछ तो इतने सुन्दर हैं कि मदन भी लज्जित होकर उनकी शरण में आता है। कुछ की बनावट भी बहुत हलकी है और कुछ के कान्तिमान् शरीर अत्यन्त मनोहर हैं। और कुछ के सुन्दर स्वरूप तो मानो शृंगार-लक्ष्मी के बिलकुल खुले हुए भंडार ही जान पड़ते हैं। कुछ तो अवयवों से पुष्ट और मांसल है, तो कुछ अत्यन्त सूखे हुए हैं। कुछ अत्यन्त विकराल रूप वाले हैं तो कुछ बहुत लम्बी गरदन वाले हैं, कुछ बहुत बड़े सिर वाले हैं और कुछ बहुत ही विलक्षण तथा बेडौल हैं। और इन आकृतियों में से प्रत्येक आकृति के शरीर-प्रदेश पर तुम्हें सारा संसार ही दिखाई पड़ेगा।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

"इन्हीं रूपों में से जब किसी एक रूप की दृष्टि खुलती है, तब आदित्य आदि बारह सूर्य उत्पन्न होते हैं। पर वही दृष्टि बन्द हो जाती है, तब ये सब आदित्य एकत्र होकर लीन हो जाते हैं। इन रूपों के मुख के ऊष्ण श्वास से सर्वत्र ज्वाला-ही-ज्वाला हो जाती और उसी ज्वाला में से पावक आदि आठ वसुओं का जन्म होता है। और इन स्वरूपों की तिरछी भौंहों के सिरे जब क्रोध के कारण आपस में मिलने लगते हैं, तब ग्यारह रुद्रों का अवतार होता है। परन्तु जब उन्हीं में सौम्य का आविर्भाव होता है, तब अश्विनीकुमार सरीखे असंख्य जीवनदाता उत्पन्न होते हैं। इन्हीं के कानों में से अनेक प्रकार के पवन निकलते हैं। इस प्रकार एक ही रूप के सहज खेलवाड़ से देवता और सिद्ध उत्पन्न होते हैं। और देखो, मेरे विश्वरूप में इस प्रकार के असंख्य और अनन्त रूप हैं जिनका वर्णन करते-करते वेद भी बौरे हो गये, काल का आयुष्य भी पूरा न सिद्ध हुआ और प्रत्यक्ष ब्रह्मा को भी जिनकी थाह नहीं लगी और जिनकी वार्ता भी कभी वेदत्रयी के कानों तक नहीं पहुंची, वे अनेक रूप तुम प्रत्यक्ष देखो और आश्चर्यमय आनन्द तथा पूर्ण सफलता का उपभोग करो।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

"हे अर्जुन, जिस प्रकार कल्पवृक्ष के नीचे तृणों के अंकुर उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार इन मूर्तियों के रोम-कूपों में सृष्टि के अंकुर हैं। जिस प्रकार छत के झरोखों में से आने वाली किरणों में परमाणु उड़ते हुए दिखाई देते हैं, उसी प्रकार इन मूर्तियों के अवयवों के सन्धि-स्थानों में अनेक ब्रह्मांड उड़ते हुए दिखाई देते हैं। इनमें से प्रत्येक अवयव के प्रदेश में विश्व का विस्तार दिखाई पड़ता है। अब यदि तुम्हारी यह इच्छा हो कि इस विश्व के उस पार भी जो कुछ है, उसके भी दर्शन हों, तो यह भी कोई कठिन बात नहीं है, क्योंकि तुम जो कुछ चाहो, वही मेरे इस स्वरूप में देख सकते हो। दयामय श्रीकृष्ण ने ये सब बातें तो कहीं, परन्तु उन्होंने जो यह प्रश्न किया था कि—"तुम यह सब देख रहे हो या नहीं ?" उसका अर्जुन ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। उस समय श्रीकृष्ण के मन में यह शंका उत्पन्न हुई कि अर्जुन इस प्रकार मूकों की तरह स्तब्ध क्यों हो रहा है। इसी विचार से जब श्रीकृष्ण ने उस पर दृष्टि डाली, तब उन्होंने देखा कि अर्जुन बिलकुल पहले की तरह और ज्यों-का-त्यों उत्कंठा से भरा हुआ है।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

श्रीकृष्ण ने अपने मन में कहा—"अभी तक इसकी उत्कंठा नहीं मिटी। अभी तक इसे आत्मसुख का लाभ नहीं हुआ। मैंने अपना जो वास्तविक और सत्य स्वरूप इसे प्रकट करके दिखलाया है, उसका आकलन करने की शक्ति इसमें नहीं दिखलाई देती।" यही सोचकर देव हंस पड़े और उन्होंने उस प्रेक्षक (अर्थात् अर्जुन) से कहा—"मैंने तो तुम्हें विश्वरूप दिखलाया, परन्तु तुम तो उसे देख ही नही रहे हो।" देव की यह बात सुनकर चतुर अर्जुन ने कहा—"परन्तु इसमें दोष किसका है ? आप वगुले को चांदनी चुगाने का निष्फल प्रयत्न कर रहे हैं। आप बिलकुल स्वच्छ किया हुआ दर्पण अन्धे के सामने रख रहे हैं; अथवा हे प्रभु, आप वहरे के सामने संगीत का आलाप कर रहे हैं। आप जान-बूझकर पुष्पों के मधु के कणों का चारा दादुर के सामने डाल रहे हैं और वे कण व्यर्थ नष्ट हो रहे हैं। ऐसी अवस्था में, हे नारायण, आप दूसरे पर व्यर्थ ही क्रोध क्यों कर रहे हैं ? जो वस्तु इन्द्रियों की पहुंच के बिलकुल वाहर है और जिसका अनुभव केवल ज्ञान-दृष्टि से ही किया जा सकता है, वह वस्तु यदि आप मेरे चर्मचक्षुओं के सामने रखते हैं तो मैं उसे कैसे देख सकता हूं ? परन्तु आपकी त्रुटियां निकालकर आपको दोष देना ठीक नहीं है। इसलिए मेरा चुपचाप रहना ही अच्छा है।" यह सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा—"भाई अर्जुन, जो कुछ तुम कह रहे हो, वही ठीक है। जब मैं तुम्हें अपना वास्तविक विश्वरूप दिखलाने चला था, तब उससे पहले मुझे यह उचित था कि मैं तुम्हें वह रूप देखने की सामर्थ्य प्रदान करता। परन्तु प्रेम के आवेश में बातें करते-करते मैं यह बात बिलकुल भूल ही गया था। परन्तु उसका फल क्या हुआ। वही जो जमीन को बिना जोते-बोये उसमें बीज बोने से होता है। इसमें सारा समय व्यर्थ नष्ट होता है, और वही अब भी हुआ है। पर अब मैं तुम्हें ऐसी दृष्टि देता हूं जिससे विश्वरूप देखा जा सके। हे अर्जुन, उस दृष्टि की सहायता से तुम मेरे विश्व-व्यापक ऐश्वर्य-योग को प्रत्यक्ष देखकर आनन्द से आत्मानुभव में प्रवेश करोगे।" जिनका प्रतिपादन वेद करना चाहते हैं, जो सारे विश्व के मूल बीज हैं और जो सारे जगत् के लिए वन्दनीय हैं, उन श्रीकृष्ण ने इस प्रकार कहा।

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—"हे कौरव-कुलश्रेष्ठ राजा, मुझे रह-रहकर एक बात का बहुत ही आश्चर्य होता है। देखिये, इस त्रिभुवन में लक्ष्मी से बढ़कर भाग्यवान् और कौन है ? अथवा वेदों के सिवा दूसरा और कौन-सा ऐसा साधन है जिससे आत्मस्वरूप का कुछ ज्ञान हो सके ? इसी प्रकार जिसे वास्तविक सेवक-भाव कहते हैं, वह केवल शेषनाग में है। क्यों ठीक है या नहीं ? नारायण के प्रति प्रेम से भरकर आठों पहर योगियों की भांति एकनिष्ठ होकर उनकी सेवा करने वाला गरुड़ के समान क्या और कोई भक्त भी है ? परन्तु ये सब लोग एक ओर पड़े रह गये; और जिस दिन से इन पांडवों का जन्म हुआ, उसी दिन से मानो नारायण के सुख को अपनी ओर आकृष्ट करने वाला एक नवीन स्थल उदित हुआ है। और इन पांचों पांडवों में से भी इस अर्जुन के कहने मे तो ये श्रीकृष्ण स्वयं ही पूरी तरह से हो गये हैं। ऐसा जान पड़ता है कि एक विषयी पुरुष को एक लावण्यवती ने लम्पट बना डाला है। शायद कोई सिखाया हुआ पक्षी भी इस तरह न बोलता होगा, और मनोविनोद के लिए लाड-प्यार से पाला हुआ हिरन भी इस प्रकार की क्रीड़ा न करता होगा, जिस तरह ये श्रीकृष्ण अर्जुन के फेर मे पडकर पटापट बातें करते हैं और उसके साथ नाचते और क्रीड़ा करते हैं। कुछ पता नहीं चलता कि इस अर्जुन का ऐसा कौन-सा भाग्य उदय हुआ है ! स्वयं पूरे परब्रह्म को देखने का सौभाग्य इसके नेत्रों ने प्राप्त किया है। देखिये, श्रीकृष्ण इसकी बातों के एक-एक शब्द का कैसे प्रेम से पालन कर रहे हैं। यदि अर्जुन क्रोध भी करता है तो देव उसे आनन्दपूर्वक सहन करते हैं। यदि अर्जुन रूठता है तो देव उसको मनाते हैं। यह बड़े ही आश्चर्य की

बात है कि अर्जुन के लिए श्रीकृष्ण ऐसे पागल हो रहे हैं। विषय-वासना पर विजय प्राप्त करके जो शुक आदि योगीजन सामर्थ्यवान् बने थे, वही इन श्रीकृष्ण की रास-लीला और विषय-विलास के वर्णन करते-करते इनके स्तुति-पाठक बन गये। योगी लोग आत्मचिन्तन की समाधि लगाकर इन श्रीकृष्ण का ध्यान करते हैं। परन्तु हे राजा धृतराष्ट्र, मुझे इस बात का बहुत ही आश्चर्य हो रहा है कि वही श्रीकृष्ण आज इस प्रकार अर्जुन के बिलकुल अधीन हो रहे हैं।'' फिर इसके उपरान्त तुरन्त ही संजय ने कहा—''अथवा हे कौरव-श्रेष्ठ, इसमें आश्चर्य की ही कौन-सी बात है ! श्रीकृष्ण जिसको स्वीकार कर लेते हैं उसका ऐसा ही भाग्योदय होता है। इसीलिए न देवाधिदेव ने अर्जुन से कहा—हे अर्जुन, अब मैं तुम्हें दिव्यदृष्टि देता हूं। उसकी सहायता से तुम मेरा विश्वरूप देख सकोगे।'' अभी यह बात श्रीकृष्ण के मुंह से पूरी तरह से निकलने भी नहीं पाई थी कि एकदम से अज्ञान का अन्धकार नष्ट होने लगा। वे श्रीकृष्ण के मुख से निकले हुए अक्षर नहीं थे, बल्कि ब्रह्मस्वरूप के साम्राज्य का जो दीपक है, उसी की यह ज्ञानरूपी ज्योति श्रीकृष्ण ने अर्जुन के लिए जलाई थी। इसके उपरान्त अर्जुन को अलौकिक ज्ञान-नेत्र प्राप्त हो गये और उन्हीं नेत्रों में ज्ञानदृष्टि के अंकुर उत्पन्न हुए। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने विश्वरूप-योग का वैभव दिखलाया। ईश्वर के भिन्न-भिन्न अवतार जिस सागर की तरंगों के समान हैं, जिसकी किरणों के योग से यह विश्वरूप मृगजल का आभास उत्पन्न करता है, जिस अनादि-सिद्ध, स्वयंभू, समान और सपाट भूमिका पर इस चराचर का चित्र अंकित होता है, वही अपना विश्वरूप वैकुण्ठाधिपति श्रीकृष्ण ने उस समय अर्जुन को दिखलाया। एक बार बाल्यावस्था में जब श्रीकृष्ण ने मिट्टी खाई थी, तब यशोदा ने क्रोध में आकर उनकी कलाई पकड़ ली थी। इस पर इस बात का प्रमाण देने के लिए कि मेरे मुख में कुछ भी नहीं है, श्रीकृष्ण ने डरते-डरते, अपनी तलाशी देने के उद्देश्य से, अपना मुंह खोला था। उस समय उस मुख में यशोदा को चौदहों भुवनों के दर्शन हुए थे। अथवा मधुवन में एक बार श्रीकृष्ण ने ध्रुव पर भी ऐसी ही कृपा की थी। ज्यों ही उन्होंने उसके गाल से अपना शंख स्पर्श कराया था, त्यों ही वह धड़ाधड़ ऐसी बातें कहने लगा था जो वेद भी स्पष्ट रूप से नहीं जानते। हे धृतराष्ट्र, श्रीकृष्ण ने अर्जुन पर भी इस समय वैसी ही कृपा की थी। इसीलिए उस समय अर्जुन के लिए माया का मानो कहीं नाम भी नहीं रह गया था। उस समय एकदम से प्रभु-स्वरूप की ऐश्वर्य-प्रभा प्रकट हुई और उसके चारों ओर चमत्कार-ही-चमत्कार फैला हुआ दिखाई दिया। इससे अर्जुन का चित्त आश्चर्य की भावना में लीन हो गया। जिस प्रकार मार्कण्डेय के सम्बन्ध की यह कथा है कि ब्रह्मा के सत्यलोक तक पूरी तरह से भरे हुए जल में किसी समय केवल मार्कण्डेय ही तैरता था, उसी प्रकार आज विश्वरूप के महोत्सव में अकेला अर्जुन ही लोट रहा था। वह कहने लगा—''अरे यहां कैसा विस्तृत आकाश था ! वह सब कौन कहां ले गया ? स्थावर और जंगम से युक्त वह भूतसृष्टि कहां चली गई ? दिशाओं के चिह्न भी नष्ट हो गये। ऊपर और नीचे की कल्पना ही नहीं रह गई। उसके लिए सृष्टि के आकाश का आज उसी प्रकार लोप हो गया था, जिस प्रकार जागने पर स्वप्न की सब बातों का लोप हो जाता है। अथवा जिस प्रकार सूर्य के तेज के प्रभाव से चन्द्रमा और तारे अदृश्य हो जाते हैं, उसी प्रकार जान पड़ता है कि मानो प्रभु के इस विश्वरूप ने सृष्टि की सारी रचना को निगल लिया है। उस समय उसके मन का ममत्व भी जाता रहा। बुद्धि अपने आपको संभाल न सकी और इन्द्रियों की वृत्तियां उलटकर हृदय में भर गई। उस समय स्तब्धता और एकाग्रता की परम अवधि हो गई, मानो सभी प्रकार के विचारों पर किसी ने मोहनास्त्र का प्रयोग कर दिया था। जब इस प्रकार आश्चर्य में लीन होकर अर्जुन कौतुक से देखने लगा, तब उसे अपने सामने चार हाथों से युक्त श्रीकृष्ण का कोमल स्वरूप दिखाई पड़ा। परन्तु वही रूप चारों ओर अनेक प्रकार के वेषो मे दिखाई पड़ रहा था। जिस प्रकार वर्षाकाल में मेघों के समूह बराबर बढ़ते जाते हैं अथवा महाप्रलय के समय सूर्य का तेज बराबर बढ़ता जाता है, उसी प्रकार उस समय प्रभु के विश्वरूप ने अपने सिवा और कुछ भी बाकी नही

रहने दिया था। पहले तो आत्मस्वरूप का इस प्रकार साक्षात्कार होने पर अर्जुन समाधान प्राप्त करके स्तब्ध हो रहा। फिर उसने सहज भाव से आंखें खोलीं तो उसे विश्वरूप के प्रत्यक्ष दर्शन हुए। अर्जुन के मन में जो इस बात की बहुत बड़ी कामना थी कि मैं अपनी इन्हीं आंखों से विश्वरूप देखूं, सो उसकी वह कामना श्रीकृष्ण ने इस प्रकार पूरी कर दी।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

इस विश्वरूप में बहुत-से मुख थे। अर्जुन ने प्रभु के ऐसे सुन्दर-सुन्दर मुख देखे कि मानो वे लक्ष्मीपति के राजमंदिर थे अथवा सौन्दर्य-लक्ष्मी के अनेक भांडार थे अथवा बहार से भरे हुए आनन्द के वन अथवा लावण्य के साम्राज्य थे। परन्तु इन सुन्दर गुणों के साथ-ही-साथ उसने बीच-बीच में बहुत-से ऐसे दूसरे मुख भी देखे जो स्वभावतः बहुत भयंकर थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था कि मानो काल-रात्रि की सेना ही उमड़ पड़ी हो अथवा स्वयं मृत्यु के ही मुख निकल आये हों अथवा भय के गढ़ बनाये गये हों अथवा प्रलय की अग्नि के कुड ही खुल गये हों। उस विश्वमूर्ति में वीरश्रेष्ठ अर्जुन ने इस प्रकार के बहुत-से विलक्षण, विकराल और भयंकर मुख भी देखे। पर साथ ही उस मूर्ति में अलौकिक सजे-सजाये अथवा सौम्य मुख भी असंख्य थे। वास्तव में, उस ज्ञान-दृष्टि को भी कहीं उन मुखों का अन्त नहीं दिखाई देता था। फिर अर्जुन बड़े कौतुक से उस विश्वरूप के नेत्र देखने लगा। वे नेत्र अनेक प्रकार के विकसित कमलों के वन के समान थे। इस प्रकार सूर्य के रंग के ऐसे अनेक तेजस्वी नेत्र अर्जुन ने देखे। जिस प्रकार कल्पान्त के समय काले रंग के घने मेघ समूह में बिजली की चमक दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार उन काली और टेढ़ी भौंहों के नीचे अग्नि के समान पीले रंग की दृष्टि की किरणें शोभा पा रही थीं। इस प्रकार उस एक ही रूप में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक चमत्कार देखकर अर्जुन को उस रूप की अनेकता पूर्ण रूप से विदित हो गई। वह मन-ही-मन कहने लगा—"इसके पैर कहां हैं, मुकुट कहां है और हाथ कहां हैं !" इस प्रकार उसका विश्व रूप के दर्शनों का अनुराग उत्सुकता से बढ़ने लगा। उस अवसर पर अर्जुन मानो सौभाग्य का भांडार ही बन गया। फिर भला उसका कोई मनोरथ निष्फल कैसे हो सकता था ? क्या शंकर के तरकश में भी कभी व्यर्थ जाने वाले बाण होते हैं ? अथवा ब्रह्मा की जिह्वा पर कभी कोई मिथ्या बात आ सकती है ? बस अर्जुन को तत्काल ही उस अपार मूर्ति के सम्पूर्ण दर्शन होने लगे। जिनकी थाह वेदों को भी नहीं लगती, उनका एक-एक अंग अर्जुन अपनी दोनों आंखों से एक ही समय में और एक साथ ही देखने लगा। चरण से मस्तक तक उस स्वरूप का ऐश्वर्य देखते समय अर्जुन को ऐसा जान पड़ा कि वह मूर्ति नाना प्रकार के अलंकारों से विभूषित है। वह परब्रह्म-स्वरूप देव अपने शरीर पर धारण करने के लिए स्वयं ही अनेक प्रकार के अलंकार और आभूषण बन गए थे। भला यह कैसे बतलाया जा सकता है कि वे आभूषण कैसे और किसके समान थे ! जिस तेज से चन्द्रमा और सूर्य भी प्रकाशमान् होते हैं, और विश्व के जीवन-रूपी महातेज का जो जीवन-सर्वस्व है, वह तेज ही उस विश्वरूप का शृंगार था। भला उसका ज्ञान किसकी बुद्धि को हो सकता है ? वीर अर्जुन ने देखा कि ऐसा ही तेजस्वी शृंगार देव ने धारण किया है। जब अर्जुन ज्ञान-दृष्टि से उस विश्वरूप के सरल हाथ देखने लगा, तब उसे उन हाथों में ऐसे शस्त्र चमकते हुए दिखाई पड़े कि मानो उनमें से कल्पान्त की ज्वाला ही निकल रही हो। उस समय अर्जुन की समझ में यह बात आ गई कि इस रूप में अंग और अलंकार, हाथ और हथियार, जीव और शरीर की जोड़ियों में की दोनों वस्तुएं स्वयं देव ही हैं और इसी ठाट से देव ने सारा स्थावर-जंगम विश्व ठसाठस भरकर व्याप्त कर रखा है। उन हथियारों की किरणों की प्रबल अग्नि में नक्षत्र मानो भूने जाने वाले चनों की तरह फूट रहे थे और उसके ताप से अग्नि मानो घबराकर समुद्र में घुसने को तैयार हो रही थी। इसके उपरान्त

अर्जुन ने देव के ऐसे असंख्य हाथ देखे, जिनमें ऐसे शस्त्र थे जो मानो कालकूट विष की लहरों में बुझाये हुए थे अथवा प्रचंड विद्युत् से युक्त थे।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

मानों भयभीत होकर ही इन शस्त्रयुक्त हाथों की ओर से अर्जुन ने अपनी दृष्टि हटा ली और तब वह प्रभु का गला और मस्तक देखने लगा। जिनसे कल्पवृक्षों की उत्पत्ति हुई थी, जो आत्म-प्राप्ति के आदि स्थान ही हैं और जिनमें थकी हुई लक्ष्मी विश्राम लेती है, वे अत्यंत स्वच्छ और सुन्दर पुष्प उस गले और मस्तक पर धारण किये हुए दिखाई दिये। मस्तक पर गुच्छे, भिन्न-भिन्न अवयवों पर फूलों के जाल, गजरे और झालरें आदि और गले में दिव्य पुष्प-मालाएं लहरा रही थीं। देव के नितम्ब पर पीताम्बर इस प्रकार शोभा दे रहा था कि मालूम होता था कि स्वर्ग ने सूर्य के तेज का परिधान धारण किया हो अथवा मेरु पर्वत सोने से ढंक दिया गया हो। जिस प्रकार कर्पूरगौर शंकर को कपूर मला गया हो अथवा कैलास के धवल गिरि पर पारे का लेप चढ़ाया गया हो अथवा क्षीर सागर को दूध के समान सफेद वस्त्र पहनाया गया हो अथवा चांदनी की तह लगाकर आकाश पर उसकी खोली चढ़ाई गई हो, उसी प्रकार चन्दन का उबटन प्रभु के सारे शरीर में लगा हुआ दिखाई दिया। जिस सुगन्ध से आत्मस्वरूप का तेज और भी अधिक प्रकाशमान् होता है, जिससे ब्रह्मानन्द का दाह शान्त होता है, जिससे पृथ्वी को चैतन्य प्राप्त होता है, विरक्त संन्यासी भी जिसकी संगति करते हैं और अनंग मदन भी जो अपने सारे अंग में लगाता है, उस सुगन्ध के महत्त्व का वर्णन भला कौन कर सकता है! इस प्रकार एक-एक शृंगार की शोभा देखता-देखता अर्जुन इतना घबरा गया कि उसे इस बात का भी अच्छी तरह पता नहीं चलता था कि प्रभु खड़े हैं अथवा बैठे है अथवा सोये हैं। बाहर के चर्म-चक्षु खोलकर देखने पर सब कुछ देवमूर्तिमय ही दिखाई देता था। और जब वह यह निश्चय करके आंखें बन्द कर लेता था कि मैं इन आंखों से देखूंगा ही नहीं, तब अन्दर भी उसे सब कुछ देवमय ही दिखाई देता था। सामने अपरम्पार मुख दिखाई देते थे, इसलिए जब अर्जुन डरकर पीछे की ओर देखने लगा, तब उसने देखा कि उधर भी देव के मुख, हाथ और पैर आदि सब कुछ वैसे ही हैं। यदि आंखें खोलकर देखने पर ये सब वस्तुएं दिखाई पड़ती हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? परन्तु सुनने योग्य विलक्षण बात यह है कि न देखने की अवस्था में भी, आंखें बन्द किये रहने पर भी, देव के वही दर्शन होते थे। प्रभु-कृपा की भी यह कैसी विलक्षण करनी है! अर्जुन की देखने की भी और न देखने की भी दोनों ही क्रियाएं नारायण ने पूर्ण रूप से व्याप्त कर रखी थीं और इसीलिए उन दोनों क्रियाओं में उसे नारायण के दर्शन ही होते थे। जब अर्जुन चमत्कार की एक बाढ़ मे से निकलकर जल्दी-जल्दी किनारे की ओर आ रहा था, तब इसी बीच में वह चमत्कार के एक-दूसरे महासागर मे जा पड़ा। इस प्रकार उस अनन्त-स्वरूपी नारायण ने अपने दर्शन की अलौकिक सामर्थ्य से अर्जुन को बिलकुल घबरा दिया। प्रभु तो स्वभावतः ही विश्वतोमुख (अर्थात् सर्वव्यापी) हैं; और तिस पर अर्जुन ने उनसे यह प्रार्थना की थी कि आप मुझे अपना विश्वरूप दिखलावें; इसलिए देव स्वयं ही सारे विश्व का रूप धारण करके उसके सामने प्रकट हुए थे। और फिर नारायण ने अर्जुन को कोई ऐसी स्थूल दृष्टि तो दी ही नहीं कि यदि दीपक अथवा सूर्य का प्रकाश हो तभी उसे दिखाई पड़े; और यदि दीपक अथवा सूर्य की सहायता न प्राप्त हो तो उस दृष्टि से दिखाई ही न पडे। अतः हे राजा धृतराष्ट्र, आप यह बात ध्यान में रखें कि अर्जुन चाहे अपनी आंखें बन्द रखता और चाहे खुली रखता, दोनों ही अवस्थाओं में अर्जुन के लिए देखने के सिवा और कोई उपाय ही नहीं था।'' यही बात हस्तिनापुर में संजय राजा धृतराष्ट्र से कर रहे हैं। संजय ने फिर कहा—''हे राजन्, और नहीं तो कम-से-कम इतना तो आप अवश्य ध्यान में रखें कि अर्जुन ने प्रभु का विश्वरूप देखा और वह रूप अनेक प्रकार के अलंकारों से भरा

रहने दिया था। पहले तो आत्मस्वरूप का इस प्रकार साक्षात्कार होने पर अर्जुन समाधान प्राप्त करके स्तब्ध हो रहा। फिर उसने सहज भाव से आंखें खोलीं तो उसे विश्वरूप के प्रत्यक्ष दर्शन हुए। अर्जुन के मन में जो इस बात की वहुत वड़ी कामना थी कि मै अपनी इन्ही आंखों से विश्वरूप देखूं, सो उसकी वह कामना श्रीकृष्ण ने इस प्रकार पूरी कर दी।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोयतायुधम् ॥१०॥

इस विश्वरूप में बहुत-से मुख थे। अर्जुन ने प्रभु के ऐसे सुन्दर-सुन्दर मुख देखे कि मानो वे लक्ष्मीपति के राजमंदिर थे अथवा सौन्दर्य-लक्ष्मी के अनेक भांडार थे अथवा वहार से भरे हुए आनन्द के वन अथवा लावण्य के साम्राज्य थे। परन्तु इन सुन्दर गुणों के साथ-ही-साथ उसने वीच-वीच में वहुत-से ऐसे दूसरे मुख भी देखे जो स्वभावतः बहुत भयंकर थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था कि मानो काल-रात्रि की सेना ही उमड़ पड़ी हो अथवा स्वयं मृत्यु के ही मुख निकल आये हों अथवा भय के गढ़ बनाये गये हों अथवा प्रलय की अग्नि के कुड ही खुल गये हों। उस विश्वमूर्ति में वीरश्रेष्ठ अर्जुन ने इस प्रकार के वहुत-से विलक्षण, विकराल और भयंकर मुख भी देखे। पर साथ ही उस मूर्ति में अलौकिक सजे-सजाये अथवा सौम्य मुख भी असंख्य थे। वास्तव में, उस ज्ञान-दृष्टि को भी कहीं उन मुखों का अन्त नहीं दिखाई देता था। फिर अर्जुन वड़े कौतुक से उस विश्वरूप के नेत्र देखने लगा। वे नेत्र अनेक प्रकार के विकसित कमलों के वन के समान थे। इस प्रकार सूर्य के रंग के ऐसे अनेक तेजस्वी नेत्र अर्जुन ने देखे। जिस प्रकार कल्पान्त के समय काले रंग के घने मेघ समूह में बिजली की चमक दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार उन काली और टेढ़ी भौंहों के नीचे अग्नि के समान पीले रंग की दृष्टि की किरणें शोभा पा रही थीं। इस प्रकार उस एक ही रूप में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक चमत्कार देखकर अर्जुन को उस रूप की अनेकता पूर्ण रूप से विदित हो गई। वह मन-ही-मन कहने लगा—"इसके पैर कहां हैं, मुकुट कहां है और हाथ कहां हैं !" इस प्रकार उसका विश्व रूप के दर्शनों का अनुराग उत्सुकता से वढ़ने लगा। उस अवसर पर अर्जुन मानो सौभाग्य का भांडार ही वन गया। फिर भला उसका कोई मनोरथ निष्फल कैसे हो सकता था ? क्या शंकर के तरकश में भी कभी व्यर्थ जाने वाले बाण होते हैं ? अथवा ब्रह्मा की जिह्वा पर कभी कोई मिथ्या बात आ सकती है ? बस अर्जुन को तत्काल ही उस अपार मूर्ति के सम्पूर्ण दर्शन होने लगे। जिनकी थाह वेदों को भी नहीं लगती, उनका एक-एक अंग अर्जुन अपनी दोनों आंखों से एक ही समय में और एक साथ ही देखने लगा। चरण से मस्तक तक उस स्वरूप का ऐश्वर्य देखते समय अर्जुन को ऐसा जान पड़ा कि वह मूर्ति नाना प्रकार के अलंकारों से विभूषित है। वह परब्रह्म-स्वरूप देव अपने शरीर पर धारण करने के लिए स्वयं ही अनेक प्रकार के अलंकार और आभूषण बन गए थे। भला यह कैसे वतलाया जा सकता है कि वे आभूषण कैसे और किसके समान थे ! जिस तेज से चन्द्रमा और सूर्य भी प्रकाशमान् होते हैं, और विश्व के जीवन-रूपी महातेज का जो जीवन-सर्वस्व है, वह तेज ही उस विश्वरूप का शृंगार था। भला उसका ज्ञान किसकी बुद्धि को हो सकता है ? वीर अर्जुन ने देखा कि ऐसा ही तेजस्वी शृंगार देव ने धारण किया है। जब अर्जुन ज्ञान-दृष्टि से उस विश्वरूप के सरल हाथ देखने लगा, तब उसे उन हाथों में ऐसे शस्त्र चमकते हुए दिखाई पड़े कि मानो उनमें से कल्पान्त की ज्वाला ही निकल रही हो। उस समय अर्जुन की समझ में यह बात आ गई कि इस रूप में अंग और अलंकार, हाथ और हथियार, जीव और शरीर की जोड़ियों में की दोनों वस्तुएं स्वयं देव ही हैं और इसी ठाट से देव ने सारा स्थावर-जंगम विश्व ठसाठस भरकर व्याप्त कर रखा है। उन हथियारों की किरणों की प्रबल अग्नि में नक्षत्र मानो भूने जाने वाले चनों की तरह फूट रहे थे और उसके ताप से अग्नि मानो घबराकर समुद्र में घुसने को तैयार हो रही थी। इसके उपरान्त

अर्जुन ने देव के ऐसे असंख्य हाथ देखे, जिनमें ऐसे शस्त्र थे जो मानो कालकूट विष की लहरों में बुझाये हुए थे अथवा प्रचंड विद्युत् से युक्त थे।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

मानों भयभीत होकर ही इन शस्त्रयुक्त हाथों की ओर से अर्जुन ने अपनी दृष्टि हटा ली और तब वह प्रभु का गला और मस्तक देखने लगा। जिनसे कल्पवृक्षों की उत्पत्ति हुई थी, जो आत्म-प्राप्ति के आदि स्थान ही हैं और जिनमें थकी हुई लक्ष्मी विश्राम लेती है, वे अत्यंत स्वच्छ और सुन्दर पुष्प उस गले और मस्तक पर धारण किये हुए दिखाई दिये। मस्तक पर गुच्छे, भिन्न-भिन्न अवयवों पर फूलों के जाल, गजरे और झालरें आदि और गले में दिव्य पुष्प-मालाएं लहरा रही थीं। देव के नितम्ब पर पीताम्बर इस प्रकार शोभा दे रहा था कि मालूम होता था कि स्वर्ग ने सूर्य के तेज का परिधान धारण किया हो अथवा मेरु पर्वत सोने से ढंक दिया गया हो। जिस प्रकार कर्पूरगौर शंकर को कपूर मला गया हो अथवा कैलास के धवल गिरि पर पारे का लेप चढ़ाया गया हो अथवा क्षीर सागर को दूध के समान सफेद वस्त्र पहनाया गया हो अथवा चांदनी की तह लगाकर आकाश पर उसकी खोली चढ़ाई गई हो, उसी प्रकार चन्दन का उबटन प्रभु के सारे शरीर में लगा हुआ दिखाई दिया। जिस सुगन्ध से आत्मस्वरूप का तेज और भी अधिक प्रकाशमान् होता है, जिससे ब्रह्मानन्द का दाह शान्त होता है, जिससे पृथ्वी को चैतन्य प्राप्त होता है, विरक्त संन्यासी भी जिसकी संगति करते हैं और अनंग मदन भी जो अपने सारे अंग में लगाता है, उस सुगन्ध के महत्त्व का वर्णन भला कौन कर सकता है! इस प्रकार एक-एक शृंगार की शोभा देखता-देखता अर्जुन इतना घबरा गया कि उसे इस बात का भी अच्छी तरह पता नहीं चलता था कि प्रभु खड़े हैं अथवा बैठे है अथवा सोये हैं। बाहर के चर्म-चक्षु खोलकर देखने पर सब कुछ देवमूर्तिमय ही दिखाई देता था। और जब वह यह निश्चय करके आंखें बन्द कर लेता था कि मैं इन आंखों से देखूंगा ही नहीं, तब अन्दर भी उसे सब कुछ देवमय ही दिखाई देता था। सामने अपरम्पार मुख दिखाई देते थे, इसलिए जब अर्जुन डरकर पीछे की ओर देखने लगा, तब उसने देखा कि उधर भी देव के मुख, हाथ और पैर आदि सब कुछ वैसे ही हैं। यदि आंखें खोलकर देखने पर ये सब वस्तुएं दिखाई पड़ती हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? परन्तु सुनने योग्य विलक्षण बात यह है कि न देखने की अवस्था में भी, आंखें बन्द किये रहने पर भी, देव के वही दर्शन होते थे। प्रभु-कृपा की भी यह कैसी विलक्षण करनी है! अर्जुन की देखने की भी और न देखने की भी दोनों ही क्रियाएं नारायण ने पूर्ण रूप से व्याप्त कर रखी थीं और इसीलिए उन दोनों क्रियाओं में उसे नारायण के दर्शन ही होते थे। जब अर्जुन चमत्कार की एक बाढ़ में से निकलकर जल्दी-जल्दी किनारे की ओर आ रहा था, तब इसी बीच में वह चमत्कार के एक-दूसरे महासागर मे जा पड़ा। इस प्रकार उस अनन्त-स्वरूपी नारायण ने अपने दर्शन की अलौकिक सामर्थ्य से अर्जुन को बिलकुल घबरा दिया। प्रभु तो स्वभावतः ही विश्वतोमुख (अर्थात् सर्वव्यापी) हैं; और तिस पर अर्जुन ने उनसे यह प्रार्थना की थी कि आप मुझे अपना विश्वरूप दिखलावें; इसलिए देव स्वयं ही सारे विश्व का रूप धारण करके उसके सामने प्रकट हुए थे। और फिर नारायण ने अर्जुन को कोई ऐसी स्थूल दृष्टि तो दी ही नहीं कि यदि दीपक अथवा सूर्य का प्रकाश हो तभी उसे दिखाई पड़े; और यदि दीपक अथवा सूर्य की सहायता न प्राप्त हो तो उस दृष्टि से दिखाई ही न पडे। अतः हे राजा धृतराष्ट्र, आप यह बात ध्यान में रखें कि अर्जुन चाहे अपनी आंखें बन्द रखता और चाहे खुली रखता, दोनों ही अवस्थाओं में अर्जुन के लिए देखने के सिवा और कोई उपाय ही नहीं था।" यही बात हस्तिनापुर में संजय राजा धृतराष्ट्र से कर रहे हैं। संजय ने फिर कहा—"हे राजन्, और नहीं तो कम-से-कम इतना तो आप अवश्य ध्यान में रखें कि अर्जुन ने प्रभु का विश्वरूप देखा और वह रूप अनेक प्रकार के अलंकारों से भरा

हुआ होने पर भी सर्वव्यापी था

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

"हे राजन्, मैं क्या बतलाऊं कि विश्वरूप के उन अंगों की कान्ति का अद्भुत दृश्य कैसा और किसके समान था! महाप्रलय के समय बारह सूर्य एकत्र होते हैं; यदि उस प्रकार के हजारों दिव्य सूर्य एक साथ उदय हों तो भी उन्हें उस विश्वरूप के तेज की महिमा की थाह नहीं लग सकती। यदि विश्व की सारी विद्युत् एकत्र की जाय और कल्पान्त की अग्नि का सारा मसाला एकत्र किया जाय और उनमें प्रसिद्ध दस महातेज भी सम्मिलित कर दिये जायं तो कदाचित् उस विश्वरूप की अंगप्रभा के तेज के सामने वे कुछ अल्प-से ही सिद्ध होंगे; परन्तु ऐसा तेज कदाचित् कहीं न मिलेगा जो ठीक तरह से उसका पासंग भी ठहरे। इस प्रकार का अपार महत्त्व इन श्रीकृष्ण में स्वाभाविक ही है। उनके सर्वांग का सर्वत्र फैलने वाला तेज जो मुझे देखने को मिला, वह महामुनि व्यास की ही कृपा का फल है।"

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

उसी विश्वरूप के एक कोने में यह सारा जगत् अपने सम्पूर्ण विस्तार के सहित उसी प्रकार पड़ा हुआ था, जिस प्रकार महासागरों में भिन्न-भिन्न बुलबुले दिखाई देते हैं, किंवा आकाश में भिन्न-भिन्न मेघ होते हैं, अथवा जमीन पर च्युंटियों के बने हुए घर होते हैं अथवा मेरु पर्वत पर बहुत से परमाणु रहते हैं। बस ठीक इसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व उन देव-देव के शरीर में उस समय अर्जुन देख रहा था।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

अर्जुन के मन में उस समय तक जो इस प्रकार का थोड़ा-सा भेदभाव बचा रह गया था कि यह विश्व एक अलग वस्तु है और मैं उससे भिन्न दूसरी वस्तु हूं, सो वह भेद-भाव भी अब नष्ट हो गया और अर्जुन का अन्तःकरण बिलकुल द्रवित हो गया। उसके अन्दर आनन्द का संचार हुआ और बाहरी शरीर के अवयवों का बल तत्काल बिलकुल नष्ट हो गया और नख से लेकर शिखा तक सारे शरीर में रोमांच हो आया। जिस प्रकार बरसात के पहले झोंके में पानी बह जाने के बाद पर्वत के सब भाग कोमल तृणों के अंकुरों से आच्छादित हो जाते हैं, उसी प्रकार अर्जुन के सारे शरीर पर रोमांच के अंकुर निकल आये। जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से चन्द्रकान्त मणि द्रवित होती है, उसी प्रकार उसका शरीर पसीने की बूंदों से भर गया। कमल के कोश में बन्द हो जाने वाले भौंरे के हिलने-डुलने से जिस प्रकार कमल की कली पानी पर हिलने लगती है, अन्तःकरण में सुख की लहरें उठने के कारण बाहर से उसका शरीर भी उसी प्रकार थरथर कांपने लगा। जिस प्रकार कपूर-कदली के दल खोलने पर उसमें दबे हुए कपूर के कण निकलकर गिरने लगते हैं, उसी प्रकार अर्जुन की आंखों से टपाटप आंसुओं की बूंदें गिरने लगीं। चन्द्रमा का उदय होने पर जिस प्रकार भरा हुआ समुद्र और भी अधिक भर जाता है, उसी प्रकार अर्जुन भी आनन्द की लहरों से और भी अधिक भर गया। इस प्रकार आठों सात्त्विक भाव मानों परस्पर प्रतिद्वन्द्विता करते हुए अर्जुन के अंगों में भर गये जिससे उसके जीव को ब्रह्मानन्द का साम्राज्य प्राप्त हो गया। परन्तु इस प्रकार के आत्मानन्द के अनुभव के उपरान्त भी उसकी दृष्टि में देव और भक्त के द्वैतभाव का अस्तित्व बना ही रहा। इसीलिए अर्जुन ने एक ठंडी सांस लेकर इधर-उधर देखा; और जिस ओर श्रीकृष्ण बैठे हुए थे, उस ओर उसने प्रभु को नमस्कार किया और तब हाथ जोड़कर उसने कहना आरम्भ किया।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

अर्जुन कहता है—"हे प्रभो, मैं आपका जय-जयकार करता हूं। सचमुच आपने मुझ पर बहुत ही विलक्षण कृपा की है, क्योंकि उसी कृपा के कारण आज मुझ सरीखे सामान्य जीव को भी यह अद्भुत विश्वरूप देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। परन्तु महाराज, आपने यह बहुत ही अच्छा काम किया है; और मुझे भी इससे बहुत ही सन्तोष हुआ है, क्योंकि आज मुझे यह बात प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ी है कि आप ही इस सृष्टि के आधार हैं। हे देव, जिस प्रकार मन्दार पर्वत के पठार पर जगह-जगह वनचर पशुओं के दल एकत्र रहते हैं, उसी प्रकार चौदहों भुवनों के अनेक संघ आपके शरीर पर लटके हुए दिखाई देते हैं। आकाश के विस्तार में जिस प्रकार तारों के समूह रहते हैं अथवा किसी विशाल वृक्ष में जिस प्रकार अनेक पक्षियों के घोंसले लटकते रहते हैं, उसी प्रकार, हे नारायण, आपके इस विश्वमय शरीर में स्वर्ग और उसमें के देवगण मुझे दिखाई पड़ रहे हैं। हे प्रभो, इस शरीर में महाभूतों के अनेक पंचक और भूत सृष्टि का प्रत्येक भूत-समुदाय मुझे दिखाई दे रहा है। हे महाराज, आपके सारे शरीर में सत्यलोक है; फिर भला यह कैसे हो सकता है कि उसमें दिखाई पड़ने वाले ब्रह्मा न हों ? यदि दूसरी ओर देखा जाय तो कैलास भी दिखाई देता है। हे देव, आपके शरीर के एक छोटे-से कोने में गौरी सहित श्रीशंकर भी दिखाई पड़ते हैं। केवल यही नहीं, हे नारायण, स्वयं आप भी अपने इस विश्व रूप में दिखाई देते हैं। इसमें कश्यप आदि समस्त ऋषियों के कुल और नाग-समुदाय के सहित पाताल भी दिखाई देता है। संक्षेप में यह कि, हे त्रिभुवन-नाथ, आपके रूप के एक-एक अवयव की भित्ति पर चौदहों भुवनों के चित्र अंकित दिखाई पड़ते हैं। इन भुवनों के प्रत्येक प्रकार के लोक भी इसमें चित्रित दिखाई देते हैं। इस प्रकार आपके अगाध महत्त्व की अलौकिकता आज मुझे दिखाई पड़ रही है।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

"दिव्यदृष्टि की सहायता से जो मैं चारों ओर देखता हूं तो मुझे यह दिखाई पड़ता है कि आपके बाहुदंडों से आकाश के अंकुरों के समान आपके अनेक अग्रहस्त निकले हुए हैं और उनमें से प्रत्येक अग्रहस्त सब प्रकार के व्यवहार तथा कार्य कर रहे हैं। जिस प्रकार अव्यक्त ब्रह्म के विस्तार में अनेक ब्रह्मांडों के भांडार खुले हुए दिखाई पड़ते हैं, उसी प्रकार के आपके ये अपार उदर मुझे जान पड़ते हैं। इस शरीर में एक ही समय में सहस्रशीर्षत्व की करोड़ों आवृत्तियां होती हैं; और ऐसा जान पड़ता है कि मानो परब्रह्म रूपी वृक्ष में ये हजारों मस्तक रूपी फल अपने भार से हिल रहे हैं। हे विश्वरूप देव, इस प्रकार के आपके जितने मुख हैं, वे सब मुझे दिखाई पड़ रहे हैं और उनमें की आंखों के रंगों के अनेक समुदाय भी मैं देख रहा हूं। केवल इतना ही नहीं, स्वर्ग, पाताल, भूमि, दिशा और आकाश आदि सभी बातों का यहां अन्त हो जाता है और सब यहां मूर्तिमान् ही दिखाई देते हैं। मैं चाहता हूं कि परमाणु के बराबर भी कोई ऐसा अवकाश दिखाई पड़े जिसमें आपका निवास न हो; परन्तु मेरा यह प्रयत्न व्यर्थ हो रहा है, क्योंकि आपने सभी को ओत-प्रोत रूप से व्याप्त कर रखा है। अनन्त प्रकार के इतने महाभूत इसमें एकत्र हैं जिनके विस्तार की गणना ही नहीं हो सकती; और हे अनन्त देव, उनका वह सारा विस्तार आप में ही समाया हुआ दिखाई देता है। इस प्रकार का महत्त्व रखने वाले आप कहां से आये, आप यहां बैठे हैं अथवा खड़े हैं, आप किस माता के गर्भ में थे, आपका स्थान कितना बड़ा था ! आपका रूप कैसा है, आपकी अवस्था कितनी है, आपके उस पार और क्या है, और आपका मूल आधार क्या है, आदि सब बातें जब मैं देखने और विचारने लगा तो मुझे यही दिखाई पड़ा और यही समझ में आया कि आप स्वयं ही अपने मूल आधार हैं और आपकी

उत्पत्ति किसी दूसरे से नहीं हुई है इस प्रकार आप अनादि और स्वयंसिद्ध है। आप न तो खड़े ही हैं और न बैठे ही हैं, आप न ऊंचे ही हैं और न ठिगने ही हैं। नीचे, तल पर और ऊपर, हे प्रभु, सब जगह आप ही हैं। हे देव अपना रूप, तारुण्य, पीठ और पेट सब कुछ स्वयं आप ही हैं। मैं और अधिक क्या कहूं ! हे अनन्त देव, बार-बार देखने पर मुझे यही जान पड़ता है कि अपना सब कुछ आप ही हैं। परन्तु प्रभु, आपके रूप में केवल एक कमी दिखाई देती है; और वह यह कि उसमें आदि, मध्य और अन्त इन तीनों में एक भी कहीं दिखाई नहीं पड़ता। आप सभी स्थानों में व्याप्त हैं; परन्तु इसका पता कहीं नहीं लगता। इसीलिए यहां निश्चित रूप से यह निर्णय होता है कि आपमें ये तीनों बातें बिलकुल नहीं हैं। इस प्रकार, हे आदि, मध्य और अन्त से रहित अनन्त विश्वनाथ, मैंने सचमुच आपका विश्वरूप देख लिया है। हे देव, आपकी इस प्रचंड मूर्ति में ही भिन्न-भिन्न सभी मूर्तियां प्रतिबिम्बित हैं और ऐसा जान पड़ता है कि आपने अनेक रंगों के ये अंगरखे ही पहन रखे हैं। अथवा ऐसा जान पड़ता है कि ये भिन्न-भिन्न मूर्तियां आपके शरीर-रूपी महापर्वत पर निकली हुई बेलें ही हैं और वे दिव्य अलंकार रूपी फूलों और फलों से भरी हुई हैं। अथवा हे देव, ऐसा जान पड़ता है कि आप महासागर हैं और इन मूर्ति-रूपी तरंगों से हिल रहे हैं अथवा आप कोई विशाल वृक्ष हैं और ये मूर्तियां उस वृक्ष में फलों के समान लगी हैं। हे प्रभो, जिस प्रकार भूत मात्र से भरा हुआ पृथ्वी-तल दिखाई पड़ता है अथवा नक्षत्रों से भरा हुआ आकाश होता है, उसी प्रकार अनन्त मूर्तियों से भरा हुआ आपका स्वरूप दिखाई देता है। जिन मूर्तियों में से एक-एक मूर्ति के अंगों से सम्पूर्ण त्रिभुवन उत्पन्न होते हैं और साथ ही उन्हीं के कारण लय को भी प्राप्त होते हैं, वे सब मूर्तियां आपके शरीर पर मानो रोमों के समान दिखाई देती हैं। अब यदि मैं यह जानना चाहूं कि इतना अधिक विस्तार रखने वाले आप हैं कौन, तो मुझे यह पता चलता है कि आप मेरे ही सारथी श्रीकृष्ण हैं। अतः हे मुकुन्द, विचार करने पर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आप सदा ऐसे ही व्यापक रहते हैं, परन्तु केवल भक्त के प्रेम के कारण इस प्रकार का प्रेममय और मधुर रूप धारण करते हैं। वह चार भुजाओं वाला सांवला स्वरूप देखते ही मन और नेत्र सभी शीतल हो जाते हैं, और यदि आलिंगन करने के लिए हाथ आगे बढ़ाये जायं तो वह रूप सहज में प्राप्त भी हो जाता है। हे विश्वरूप देव, इस प्रकार का सुन्दर रूप आप मुझ पर कृपा करने के लिए ही धारण करते हैं न ? अथवा मेरी वह दृष्टि ही दूषित है जिसे आप ऐसे सामान्य और मधुर दिखाई देते हैं ? जो हो, परन्तु अब तो मेरी दृष्टि का मल बिलकुल दूर हो गया है और आपने सहज में ही मेरे नेत्रों को दिव्य प्रकाशमय कर दिया है, और इसीलिए मैं आपकी वास्तविक महिमा का ठीक-ठीक स्वरूप देख सका हूं। आज मुझे स्पष्ट रूप से इस बात का पता चल गया है कि मेरे रथ के जूए के मकराकार मुख के पीछे की ओर बैठने वाले आप ही का यह सारा विश्वरूप है।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

"इतना ही नहीं, हे श्रीकृष्ण, आपके सिर पर इस समय भी वही मुकुट है जो सदा रहता है, परन्तु उसकी इस समय की प्रभा और विशालता कुछ विलक्षण ही है। और इस ऊपर वाले हाथ में आप उसी प्रकार चक्र धारण किये हुए हैं कि मानों अभी उसे चलाना ही चाहते हैं। हे विश्वरूप, परन्तु जो बात इनमें पहले सदा दिखाई देती थी, वह इस समय नहीं है। दूसरी ओर जो यह गदा है, क्या यह वही पुरानी और पहचानी हुई नहीं है ! और नीचे के ये दोनों शस्त्र-हीन और खाली हाथ घोड़ों की लगाम पकड़ने के लिए आगे बढ़ रहे हैं। और हे विश्वनाथ, अब यह बात भी मेरी समझ में आ गई है कि मेरे इच्छा करते ही और उतने ही वेग से जितना वेग उस इच्छा में था, आप एकदम से विश्वरूप हो गये। परन्तु यह कितना प्रचंड और अद्भुत चमत्कार है ! यह देखकर चकित होने के लिए विस्मय के जितने बल की आवश्यकता होती है, उतना बल भी मुझमें नहीं है। यह आश्चर्य देखकर चित्त

बिलकुल पागल ही हो जाता है। मन में इस बात का भी कुछ ठीक-ठीक निश्चय नहीं होता कि यह विश्वरूप यहां है अथवा नहीं है। इस मूर्ति की प्रभा की नवलता का भला मैं क्या वर्णन करूं ! यह सारा विश्व-समुदाय इसमें किस प्रकार भरा हुआ रखा है ! इस तेज की विलक्षण प्रखरता का ऐसा चमत्कार है कि इसके सामने अग्नि की दृष्टि भी झप जाती है और सूर्य भी खद्योत के समान फीका पड़ जाता है। इस प्रचंड तेज के सागर में मानों सारी सृष्टि डूब गई है अथवा कल्पान्तकाल की विद्युत् ने सारा आकाश व्याप्त कर रखा है, अथवा विश्व-प्रलय के समय की अग्निज्वाला को तोड़-मरोड़कर मानों हवा में यह ऊंचा मंडप बनाया गया है। मेरी दिव्य ज्ञानदृष्टि से भी यह दृश्य देखा नहीं जाता। इसकी देदीप्यामान प्रभा प्रति क्षण इतनी बढ़ रही है और उसका तेज तथा दाहकता इतनी विलक्षण है कि इसकी ओर देखने पर दिव्य नेत्र भी घबरा जाते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि महारुद्र के तीसरे नेत्र में महाप्रलय करने वाला अग्नि का जो भांडार गुप्त था, वही मानों उस नेत्र की कली खोलकर बाहर निकल पड़ा है। इस प्रकार फैले हुए दाहक प्रकाश में पंचाग्नि की ज्वाला के भंवर उटते ही मानो सारा ब्रह्मांड कोयला हो रहा है। हे देव, आपका इस प्रकार का अद्‌भुत पुंजवाला स्वरूप मैंने आज बिलकुल विलक्षण और नया ही देखा है। आपकी व्यापकता और तेजस्विता की सीमा ही नहीं दिखाई देती।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥१८॥

"हे देव, वेद जिसे ढूंढ़ने का प्रयत्न करते हैं, वह अक्षर और ओंकार की साढ़े तीन मात्राओं के उस पार की वस्तु आप ही हैं। जो सब आकारों का मूल है और जिसमें सारा विश्व समाया हुआ है, वह अक्षय, गूढ़ और नाशरहित तत्त्व आप ही हैं। आप ही धर्म के जीवन है, स्वयंसिद्धि तथा अविकृत हैं और सारे विश्व के नियन्ता है। आप ही छत्तीस तत्त्वों से आगे के सैतीसवें तत्व हैं। अब यह बात मेरी समझ में आई है कि जिसे पुराण-पुरुष कहते हैं, वह आप ही हैं।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥१९॥

"आप आदि, मध्य और अन्त सबसे रहित हैं, आप स्वयंसिद्ध और अपार हैं और आपकी बाहें तथा पैर विश्वव्यापी हैं। चन्द्रमा और सूर्य दोनों आपके नेत्र हैं और उनकी कृपा तथा कोप के खेल बराबर होते रहते हैं। आप किसी पर क्रोधपूर्ण नेत्रों से देखते हुए उस पर कोप करते हैं और किसी पर अपनी कृपा-दृष्टि की छाया करते हैं। हे देव, आपका इस प्रकार का स्वरूप ठीक तरह से मैं ही देख रहा हूं। आपका यह मुख मानों प्रलयकाल की भड़की हुई अग्नि का भांडार ही है। पर्वतों पर फैलने वाली दावाग्नि में से जिस प्रकार वस्तु मात्र को जलाती हुई ज्वाला की लपटें निकलती हैं, उसी प्रकार आपकी जीभ दाढ़ों को चाटती हुई बातों में लपलपा रही है। इस मुख के दाह और सारे शरीर के तेज से यह सारा विश्व उत्तप्त होने के कारण अत्यन्त क्षुब्ध हो रहा है।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥२०॥

"और मुझे दिखाई दे रहा है कि स्वर्ग, पाताल, पृथ्वी, अन्तराल, दसों दिशाएं और चारों ओर छाये हुए क्षितिज के वर्तुल, सबको आपने सहज में व्याप्त कर रखा है। परन्तु आकाश के सहित इन सबको इस भयानक रूप ने मानों निगल रखा है। अथवा आपके इस रूप के अद्‌भुत रस की लहरों में चौदहों भुवन आ पड़े हैं। फिर भला इस प्रकार के अद्‌भुत दृश्य का मेरी बुद्धि किस प्रकार आकलन कर सकती है ! यह विलक्षण व्यापकता किसी प्रकार मर्यादित नहीं की जा सकती और तेज की यह प्रखरता सहन नहीं की जा सकती। जगत् का सुख तो दूर रहा, वह

प्राण धारण ही बहुत कठिनता से कर रहा है। हे देव, यह बात भी अच्छी तरह समझ में नहीं आती कि आपका यह स्वरूप देखकर भय की बाढ़ क्यों आ जाती है। अब इस दुःख की लहरों में तीनों भुवन डूबे जा रहे हैं। यदि वास्तव में देखा जाय तो आपके इस माहात्म्य के दर्शन में भय का मिश्रण होने की क्या आवश्यकता है ? परन्तु आपके दर्शन के जिस गुण का अनुभव मुझे हो रहा है, इसमें सन्देह नहीं कि उसमें सुख बिलकुल नहीं है। जब तक आपका रूप दिखलाई नहीं पड़ता, तभी तक जगत् को सांसारिक सुख मधुर जान पड़ता है। परन्तु अब आपके विश्व रूप के दर्शन हो जाने पर विषय की इच्छा की ओर से विराग हो गया है और मन में उद्वेग उत्पन्न हुआ है। आपका यह रूप देखने पर क्या आपको प्रेमपूर्वक आलिंगन किया जा सकता है और यदि इस प्रकार आलिंगन न किया जा सकता हो तो फिर कोई इस शोक संकट में रह ही कैसे सकता है ? और यदि आपको छोड़कर कोई पीछे हटता है तो यह जन्म-मरण का अपरिहार्य संसार मुंह बाए हुए सामने खड़ा दिखाई देता है ! और उसे पीछे भी नहीं हटने देता और यदि वह आगे बढ़े तो आपका यह अद्भुत और अतर्क्य रूप सहन नहीं होता। इस प्रकार बीच में ही संकट में पड़ा हुआ बेचारा त्रिभुवन कष्ट पा रहा है। इस समय मेरे अन्तःकरण की ठीक-ठीक यही अवस्था हुई है। जैसे कोई आग से जल जाय और अपने शरीर की जलन दूर करने के लिए समुद्र की ओर जाय और वहां समुद्र में उठने वाली लहरें देखकर और भी अधिक भयभीत हो तथा घबरा जाय। बस ठीक वही दशा इस संसार की भी हो रही है। वह आपके दर्शन से केवल तलमला रहा है।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

"वह देखिये, इसी स्वरूप में उस ओर देवताओं के बड़े-बड़े जमाव हैं। ये आपकी अंग-प्रभा से अपने कर्मों के बीज नष्ट करके और आपका सद्रूप प्राप्त करके आपके स्वरूप में लीन हो रहे हैं। और इधर कुछ ऐसे हैं जो स्वभावतः डरे हुए हैं और ये सब प्रकार से आपकी ओर प्रवृत्त होकर और दोनों हाथ छोड़कर प्रार्थना कर रहे हैं। वे प्रार्थना करते हैं—'हे प्रभो, हम लोग माया-सागर में पड़े हुए हैं, विषयों के जाल में फंसे हुए हैं और स्वर्ग तथा संसार के बीच की विषम अवस्था में जकड़े हुए हैं। अब आपके सिवा इस संकट से हमारी रक्षा और कौन कर सकता है। इसलिए हम लोग शुद्ध हृदय से और सब प्रकार से आपकी शरण में आये हैं।" बस इसी प्रकार की बातें वे देवता आपसे कह रहे हैं। और इधर यह महर्षियों अथवा सिद्धों और अनेक विद्याधरों के समुदाय 'स्वस्ति-वचन' का उच्चारण करते हुए आपकी स्तुति कर रहे हैं।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्याविश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

"रुद्रों और आदित्यों के समूह, आठों वसु, एक से एक बढ़कर साध्य देव, दोनों अश्विनीकुमार, विश्वेदेव और वायु-देव ये सब अपने वैभव सहित और पितृ, देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और इन्द्र आदि देवता तथा सिद्ध आदि भी अपने-अपने स्थान से उत्सुक दृष्टि से आपकी यह दैदीप्यमान तथा विशाल आकृति देख रहे हैं। और देखते-देखते अपने हृदय में विस्मयपूर्ण होकर अपने मस्तक, हे प्रभो, आपके चरणों पर रख रहे हैं। वे अपने जय-जय शब्द के घोष से सातों स्वर्गों को गुंजा रहे हैं और दोनों हाथ जोड़कर अपने मस्तक पर रखकर आपको नमस्कार कर रहे हैं। इस विनय-वृक्षों के वन में सात्त्विक भावों का बसन्त-काल सुशोभित हो रहा है और उनके इन जोड़े हुए हस्त रूपी पल्लवों में आपका रूप-फल आपसे आप लटक रहा है।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

आज इनके नेत्रों के भाग्य जागे हैं और मन के लिए सुख का सु-समय आया है, क्योंकि इन्होंने आज आपके विश्वरूप के दर्शन किये हैं। तीनों लोकों को व्याप्त करने वाला आपका यह रूप देखकर देवता लोग भी चौंक पड़ते हैं; परन्तु आज उस स्वरूप के दर्शनों का सौभाग्य एक पामर को भी प्राप्त हो रहा है। इस प्रकार का यह रूप एक ही है, परन्तु नाना प्रकार के भयंकर मुखों, अनेक नेत्रों, शस्त्र धारण करने वाले असंख्य हाथों, असंख्य जांघों, असंख्य बाहुदंडों और चरणों. अनेक उदरों तथा नाना वर्णो से युक्त यह स्वरूप है। प्रत्येक मुख में कैसा आवेश भरा हुआ है ! मानो विश्व-प्रलय के अन्त में सन्तप्त यम ने जहां-तहां प्रलयाग्नि की भट्टियां सुलगा रखी हैं अथवा ये विश्व का संहार करने वाले रुद्र के शस्त्रास्त्र अथवा प्रलय उपस्थित करने वाले भैरवों की टोलिया अथवा ऐसे पात्र हैं जिनमें भूत मात्र की खिचड़ी पकाने की शक्ति है। बस, हे प्रभो, ठीक इसी प्रकार आपके प्रचंड मुख चारों ओर दिखाई दे रहे हैं। जिस प्रकार कोई विशाल सिह गुफा में न समाता हो और उसकी क्रोधपूर्ण मुद्रा गुफा के बहुत कुछ बाहर दिखाई पड़ती हो, उसी प्रकार आपके उग्र दांत मुख से बाहर निकले हुए दिखाई देते हैं। जिस प्रकार घोर अन्धकारपूर्ण रात्रि का आश्रय लेकर घातकी पिशाच बड़े आनन्द से संचार के लिए बाहर निकलते हैं, उसी प्रकार प्रलय के संहार के रक्त से सनी हुई आपकी दाढ़ें मुख से बाहर निकल रही हैं। केवल इतना ही नहीं, आपके मुख पर भयंकरता इस प्रकार दिखाई पड़ रही है कि मानों काल ने युद्ध को निमन्त्रण दिया हो अथवा प्रलय ने मृत्यु का पोषण किया हो। इस बेचारी दीन भूत-सृष्टि पर जब आपकी जरा-सी भी दृष्टि पड़ जाती है, तब वह उसी प्रकार दुःख से त्रस्त दिखाई पड़ती है जिस प्रकार यमुना के तट पर कालिय-विष से त्रस्त वृक्ष दिखाई पड़ते हैं। आप मानों महामृत्यु के सागर हैं और उसमें यह त्रिभुवन के जीवन की नौका शोक के बादलों से घिरी हुई और आंधी में पड़ी हुई बराबर हिल रही है। हे महाराज, यदि इस पर भी आप क्रुद्ध होकर यह कहें कि 'तुम्हें इन लोगों के लिए इतनी चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है ! तुम आनन्द से इस विश्वरूप के दर्शन का सुख भोगो।' तो हे देव, इसके उत्तर में मेरा निवेदन यह है कि मैंने इन लोगों की कहानी की ढाल व्यर्थ ही बीच में रख ली है। और यदि आप पूछें कि मैंने ऐसा क्यों किया है, तो इसका कारण यह है कि मारे भय के स्वयं मेरे ही प्राण थरथर कांप रहे हैं। यह ठीक है कि मुझसे संहार करने वाला रुद्र भी डरता है और मेरे भय से स्वयं यम भी छिप जाता है; पर वही मैं इस अवसर पर थरथर कांप रहा हूं। इस समय आपने मेरी ऐसी ही अवस्था कर रखी है। परन्तु हे दयालु प्रभो, सबसे बढ़कर विलक्षण बात यह है कि चाहे इसका नाम विश्वरूप भले ही हो, परन्तु वास्तव में यह एक महामारी ही है। इसने अपनी भयंकरता से स्वयं भय को भी हार मनवा दी है।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

"आपके ऐसे अनेक रागपूर्ण मुख हैं जो भयंकरता से भी स्पर्धा करते हैं। इनके विस्तार के आगे आकाश भी तुच्छ प्रतीत होता है। इनमें से वह जलती हुई भाप निकल रही है, जो गगन के विस्तार में भी नहीं समा सकती और जिसे त्रिभुवन के पवन भी घेर और रोक नहीं सकते; और वह भाप स्वयं अग्नि को भी जला रही है। फिर सब मुख एक-से नहीं हैं और उनमें वर्ण-भेद है। ऐसा जान पड़ता है कि प्रलयकाल की अग्नि विश्व का संहार करने के लिए मानों इन्हीं की सहायता लेती है। जिस स्वरूप के शरीर की तेजस्विता इतनी अधिक है कि उसके सामने त्रिभुवन जलकर भस्म हो सकते हैं, उसी स्वरूप में ये सब मुख हैं और उन मुखों में भी ऐसे विशाल और दृढ़ दांत और दाढ़ें है मानों वायु को ही धनुर्वात हो गया हो अथवा स्वयं समुद्र ही किसी बहुत बड़ी बाढ़ में पड़ गया हो अथवा बड़वानल को साथ लेकर विषाग्नि ही संहार करने के लिए उद्यत हुई हो अथवा हलाहल विष अग्नि को भक्षण कर रहा हो अथवा सबसे बढ़कर आश्चर्यजनक रूप में मृत्यु को ही किसी दूसरी मृत्यु की सहायता प्राप्त हुई हो; बस इसी प्रकार इस

सर्व-संहारक तेज में ये मुख निकले हुए जान पड़ते हैं। और मैं क्या बतलाऊं कि ये मुख कितने बड़े हैं ! ऐसा जान पड़ता है कि मानों अन्तराल ने टूटकर आकाश को चारों ओर से घेर लिया हो; अथवा पृथ्वी को बगल में दबाकर हिरण्याक्ष बिल में घुसा हो या पाताल के महादेव ने पाताल की गुफा खोल दी हो। बस इसी प्रकार का इन मुखों का विस्तार है। और ऐसे मुखों में जीभों की भयंकरता तो और भी विलक्षण है। ऐसा जान पड़ता है कि यह मूर्ति समझती है कि यह सारा विश्व मेरे लिए एक पूरा कौर भी नहीं है और इसीलिए वह कौतुक से ही इसे निगल नहीं रही है। जिस प्रकार पाताल के नागों की फुफकार के विष की ज्वाला आकाश तक जा पहुंचती है, उसी प्रकार इस फैले हुए मुख के गुफा सरीखे जबड़े में यह जीभ दिखाई पड़ती है। जिस प्रकार प्रलयकाल की विद्युत् के जाल में गन्धर्वनगर में के मेघों के समूह सजे हुए दिखाई देते हैं, उसी प्रकार इन होठों पर चमकने वाली ये टेढ़ी-तिरछी दाढ़ें दिखाई पड़ते हैं। और इस ललाट-पट पर की आंखें तो मानों स्वयं भय को भी भय दिखलाकर उसे दबा रही हैं। ऐसा जान पड़ता है कि महामृत्यु के दल घोर अन्धकार में छिपे हुए बैठे हैं। हे देव, ऐसा भयंकर स्वांग बनाकर आप कौन-सा कार्य सिद्ध करना चाहते हैं ? और तो कुछ मेरी समझ में नहीं आता, पर यह बात बिलकुल ठीक है कि मुझे अपने मरण का अवश्य भय हो रहा है। हे देव, आपके विश्वरूप के दर्शन करने की जो मैंने कामना की थी, उसका यथेष्ट फल मुझे मिल गया। हे महाराज, आपके दर्शन मुझे हो चुके और अब मेरे नेत्र यथेष्ट तृप्त हो गये हैं। यदि यह जड़ शरीर न रह जाय तो इससे मेरी कोई विशेष क्षति नहीं है; परन्तु अब तो मुझे इस बात की चिन्ता हो रही है कि मेरा यह चैतन्य भी बचता है या नहीं। और यदि यह बात न हो और भय से केवल शरीर ही कांपे, क्षण-भर के लिए मन भी बहुत अधिक सन्तप्त हो अथवा बुद्धि भी कदाचित् कुछ देर के लिए भयभीत हो जाय, अथवा अभिमान भी विस्मृत हो जाय, परन्तु इन सबसे भी अलग और जो केवल आनन्द की मूर्ति ही है, वह मेरी निश्चल अन्तरात्मा भी आज सिहिर उठी है। इस साक्षात्कार का कैसा चमत्कार है ! मेरा सारा बोध आज जाता रहा। अब कौन कह सकता है कि यह गुरु-शिष्य वाला सम्बन्ध भी किस प्रकार बना रह सकेगा ! हे देव, आपके इस स्वरूप के दर्शन से मेरे चित्त में जिस दुर्बलता का आविर्भाव हुआ है, उसे संभालने के लिए मैं उस पर धैर्य का जो आवरण डालना चाहता हूं, तो मुझे जान पड़ता है कि मेरा सारा धैर्य ही नष्ट हो गया है, क्योंकि उस धैर्य को भी आपके इस विश्वरूप के दर्शन हो गये हैं। परन्तु जो हो; फिर भी मुझे एक बहुत अच्छा उपदेश अवश्य मिला है। वह उपदेश यह है कि जीव विश्राम प्राप्त करने की इच्छा से इधर-उधर अनेक प्रकार से भटकता फिरता है, परन्तु उस बेचारे को यहां आकर कोई थाह ही नहीं मिलती। इस प्रकार इस विश्वरूप की महामारी से इस चराचर का जीवन नष्ट हो गया है। हे देव, यदि मैं ये सब बातें न कहूं तो मैं शान्त कैसे रह सकता हूं ?

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

"जिस प्रकार कोई महाभयंकर घड़ा फूटकर निरन्तर आंखों के सामने दिखाई पड़ता रहे, उसी प्रकार ये महाविकट और प्रचंड मुख मुझे अपने सामने फैले हुए दिखाई देते हैं। केवल यही नहीं उनमें दांतों और दाढ़ों का विलक्षण जमाव होने के कारण और होठों की आड़ में उनके न समा सकने के कारण दोनों होठों पर मानों अनेक प्रलयकारी शस्त्रों की बाढ़-सी लगी है। जिस प्रकार तक्षक को नवीन विष प्राप्त हो अथवा काली और अंधेरी रात में भूत संचार करें अथवा अग्नि के अस्त्र पर विद्युत् का पुट चढ़े, ठीक उसी प्रकार आपके भयंकर मुख में भरा हुआ आवेश बाहर निकल रहा है; और ऐसा जान पड़ता है कि इस आवेश के रूप से हम लोगों पर मृत्यु की लहर ही आ रही है। जिस समय विश्व का संहार करने वाली प्रचंड वायु और महाकल्पान्त करने वाली प्रलयाग्नि का मेल होता है, उस समय भला ऐसी कौन-सी वस्तु हो सकती है जो उन दोनों के योग से जल न जाय ! इसी प्रकार आपके ये

भयंकर बदन देखकर भला मेरा धैर्य मुझे छोडकर क्यों न चला जाय ? इस समय मैं इतना अधिक भ्रान्त हो गया हूं कि मुझे दिशाएं भी नहीं दिखाई पड़तीं और स्वयं अपना भी भान नहीं होता। मैंने अभी आपका थोड़ा-सा ही विश्वरूप देखा है और इसे देखते ही मेरे सारे सुखों का अन्त हो गया। बस हे देव, अब आप अपने इस अपरम्पार और फैले हुए विश्वरूप को समेट लें, हे प्रभो, इसे समेट लें। यद्यपि मैं यह बात जानता हूं कि आप शीघ्र ही अपना यह रूप-विस्तार समेट लेंगे, परन्तु यदि आप यह पूछें कि मैं इसके लिए इतना व्याकुल क्यों हो रहा हूं, तो मैं यही कहूंगा कि अब आप एक बार अपने इस स्वरूप की संहारक कृति से मेरे प्राणों की रक्षा करें। हे देव, यदि आप मेरे अनन्त-स्वरूप गुरु हों तो आप मेरे प्राणों की रक्षा के लिए अपनी ढाल आगे बढ़ावें और इस महामारी का प्रलयकारक प्रसार समेटकर फिर इसे पहले की ही तरह गुप्त रखें। हे प्रभो, हे देव-देव, आप मेरी बात पर ध्यान दें। इस विश्व को जीवित रखने वाले चैतन्य आप ही हैं। परन्तु यह बात भूलकर आज आपने उलटे संहार का ही कार्य आरम्भ कर दिया है। यह क्या बात है ? हे देव, अब आप शान्त और कृपालु हों। आप अपनी इस माया का अन्त करें और मुझे इस प्रचंड भय से मुक्त करें। मैं इतनी देर तक बार-बार आपसे बहुत ही दीनतापूर्वक प्रार्थना करता हूं। हे विश्वरूप देव, आज मैं इतना कायर बन गया हूं। और वही मैं पहले ऐसा था कि जब इंद्र की स्वर्गीय राजधानी पर शत्रु का आक्रमण हुआ था, तब मैंने अकेले ही वह आक्रमण रोका था और प्रत्यक्ष मृत्यु का मुख देखने पर भी मुझे आज तक कभी भय नहीं हुआ था। परन्तु, हे देव, आज की यह घटना कुछ ऐसी-वैसी नहीं है। इस समय तो आप काल को भी मात करके सारे विश्व के साथ मुझे भी पी जाना चाहते हैं। यदि वास्तव में देखा जाय तो यह कोई प्रलय का काल नहीं था। परन्तु न जाने क्यों बीच में ही आपके इस कालस्वरूप के दर्शन हो गये। और तत्काल ही यह बेचारा त्रिभुवन का गोला अल्पायु हो गया। दैव भी इसी समय कैसा उलटा हो गया ! मैंने तो शान्ति प्राप्त करने का प्रयत्न किया था, पर बीच में यह विघ्न आ उपस्थित हुआ। हाय-हाय ! अब तो निस्सन्देह विश्व का पूरा संहार हो गया। महाराज, आप क्या सचमुच विश्व को निगल जाना चाहते हैं ? क्या मुझे प्रत्यक्ष ही यह नहीं दिखाई पड़ रहा है कि आप अपने ये असंख्य मुख फैलाकर चारों ओर इन सेनाओं को निगल रहे हैं।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वेसहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

"देखिये, ये कौरव-कुल के सब वीर नष्ट होना चाहते हैं और अन्ध धृतराष्ट्र के लड़के परिवार-सहित आपके मुख में पड़ना ही चाहते हैं। और इनके मित्र जो अनेक देशों के राजे-रजवाड़े आये हुए हैं, उन सबको आप इस प्रकार निगल जाना चाहते हैं कि फिर पीछे कोई उनका नाम लेने वाला भी बाकी न रह जाय। हाथियों के झुंड के झुंड आप धड़ाधड़ निगलते चले जा रहे हैं और महाबलों की टोलियां भी खाते चले जा रहे हैं। तोपखानों के आदमी और पैदल सिपाहियों के झुंड भी आप बराबर अपने मुख में भरते चले जा रहे हैं। जो यम के भाई-बिरादर हैं और जिनमें से प्रत्येक सारे विश्व को निगल सकता है, उन करोड़ों शस्त्रों को भी आप स्वाहा करते जा रहे हैं। हाथी, घोड़े, रथ, पैदल सबकी चतुरंगिणी सेनाएं और घोड़े जुते हुए रथ आप बिना दांत गड़ाये ही बराबर निगलते चले जा रहे हैं। परन्तु हे देव, यह पता नहीं चलता कि इसमें कौन-सा बहुत बड़ा आनन्द मिलता है। सत्य और शौर्य गुण में जिनकी बराबरी का और कोई नहीं है, उन भीष्म को और ब्राह्मण द्रोणाचार्य को भी आप निगल रहे हैं। सूर्यपुत्र वीरश्रेष्ठ कर्ण भी इसमें समा गया। और मेरे पक्ष के मुख्य-मुख्य वीर तो, जान पड़ता है कि आप कूड़े-कर्कट की तरह साफ करते जा रहे हैं। हे परमेश्वर, आपके कृपा-प्रसाद का यह कैसा उलटा परिणाम हो रहा है ! मैं आपसे इतनी प्रार्थना करके इस बेचारे दीन जगत् पर अच्छा संकट बुला बैठा। पहले देवताओं ने आपकी दिव्य विभूति का थोड़ा-बहुत वर्णन करके उसे स्पष्ट किया था; परन्तु उतने से ही मेरी हवस पूरी नहीं होती थी।

और मैं और भी अधिक विभूति जानने का हठ कर बैठा। इसीलिए यह मानना पड़ता है कि भाग्य मे जो कुछ भोगना बदा होता है, वह कभी टलता नहीं। और यही बात ठीक है कि जो कुछ होने को होता है, उसी के अनुसार मनुष्य की बुद्धि भी हो जाती है। लोग मेरे ही सिर पर इसका ठीकड़ा फोड़ने को थे। फिर भला यह बात न कैसे होती ! प्राचीनकाल में जब देवताओं को अमृत प्राप्त हुआ था, तब उससे भी उनका सन्तोष नहीं हुआ था। इसीलिए जिस प्रकार अन्त में काल-कूट विष उत्पन्न हुआ था--परन्तु एक हिसाब से उस काल-कूट विष को भी छोटे ही दरजे का समझना चाहिए, क्योंकि उसका प्रतिकार हो सकता था और उस अवसर पर श्रीशंकरजी ने किसी प्रकार सब लोगों का उस संकट से निस्तार कर दिया था--परन्तु अब इस जलती हुई हवा को कौन रोक सकता है ? यह विष से भरा हुआ गगन अब कौन निगल सकता है ? महाकाल से साथ लड़ने की सामर्थ्य भला किसमे हो सकती है ? इस प्रकार दुःख से भरकर अर्जुन अपने अन्तःकरण में शोक कर रहा था, परन्तु श्रीकृष्ण का अभिप्राय उसे बिलकुल विदित नहीं हुआ। जो अर्जुन यह कह रहा था कि मैं मारने वाला हूं और ये सब कौरव मरने वाले हैं और इस प्रकार वह जो प्रबल मोह के पाश में पड़ा हुआ था, उसका वह मोह दूर करने के लिए ही उन अनन्तदेव ने अपना यह गुप्त रहस्य उस पर प्रकट किया था। श्रीकृष्ण उस समय विश्वरूप के बहाने से अर्जुन पर यह तत्व प्रकट कर रहे थे कि कोई किसी को मारता नहीं। मैं ही सबका संहार करता हूं। परन्तु अर्जुन को फिर भी इस बात का पता नहीं चलता था कि मेरा यह दुःख निष्कारण है। और इसीलिए उसका वह निष्कारण और निरर्थक कम्प भी बराबर बढ़ने लगा।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

अर्जुन कहने लगा--"वह देखिये, जिस प्रकार आकाश में बादल समा जाते हैं, उसी प्रकार दोनों पक्षों की सेनाएं तलवारों और कवचों के सहित आपके मुख में समा गईं। विश्व-प्रलय के अन्त में जब सृष्टि पर काल क्रोध करता है, तब वह जिस प्रकार इक्कीसों स्वर्गों को पातालों के सहित लपेटकर ग्रस लेता है अथवा दैव के प्रतिकूल होने पर जिस प्रकार कौड़ी-कौड़ी जमा करने वालों की सारी सम्पत्ति जहां-की-तहां आपसे आप नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार शस्त्रों-अस्त्रों से सजी हुई ये दोनों सेनाएं एक में मिलकर आपके मुख में समा गई हैं; परन्तु दैव की गति ऐसी है कि उनमें से एक भी इस मुख से छूटकर बाहर नहीं निकल रहा है। जिस प्रकार ऊंट के चबाने से अशोक के कोमल अंकुर बिलकुल व्यर्थ हो जाते हैं, उसी प्रकार ये लोग भी आपके मुख में पड़कर नष्ट हो रहे हैं। दांतों की कैंची में पड़े हुए मुकुटों के सहित सबके सिर किस प्रकार चूर्ण होते हुए दिखाई देते हैं ! उन मुकुटों के रत्नों में से कुछ रत्न इन्हीं दांतों में फंस गये हैं, कुछ चूर-चूर होकर जीभ के मूल पर फैल गये हैं और कुछ दाढ़ों के अगले भाग में लगे हुए हैं। यह सब देखने पर ऐसा जान पड़ता है कि विश्वरूप काल ने लोगों के शरीर बलपूर्वक निगल लिये हैं, परन्तु जीव-देह के केवल ये मस्तक बाकी रहने दिये हैं। इसी प्रकार सारे शरीर में ये मस्तक ही उत्तम थे और इसीलिए वे महाकाल के मुख में पड़कर भी अन्त तक बच रहे हैं।" इसके उपरान्त अर्जुन फिर कहने लगा--"जिसने जन्म लिया है, उसके वास्ते इसके सिवा और कोई मार्ग ही नहीं है। यह जगत् स्वयं ही इस गम्भीर मुख में प्रवेश कर रहा है। यह बात ठीक है या नहीं ? सभी प्रकार की सृष्ट वस्तुएं आपसे आप इस मुख के मार्ग में जा रही हैं और यह विश्वरूप महाकाल चुपचाप अपने स्थान पर पड़ा हुआ है; और जब ये सब वस्तुएं उसके पास आती हैं, तब वह स्वस्थ भाव से उन सबको निगलता चलता है। ब्रह्मा आदि सब ऊपर वाले ऊंचे मुख में प्रवेश कर रहे हैं और ये सामान्य भारतीय वीर इधर वाले छोटे मुख में प्रवेश कर रहे हैं। दूसरे कुछ भूत ऐसे भी हैं कि वे जहां उत्पन्न होते हैं, वहीं ग्रस लिये जाते हैं। परन्तु यह कहीं नहीं दिखाई पड़ता है कि कोई इस मुख की चपेट से बच निकला हो।

यथा नदीना बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

"जिस प्रकार बड़ी-बड़ी नदियों का प्रवाह बहुत शीघ्रता से चलता हुआ समुद्र के विस्तार में जाकर मिल जाता है, उसी प्रकार सब दिशाओं से आकर यह जगत् इसी मुख में प्रवेश कर रहा है। ये सभी प्राणी आयुष्य के मार्ग पर रात और दिन की सीढ़ियां बनाकर बड़े वेग से इस मुख में प्रवेश करने की साधना कर रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

"जिस प्रकार पतंगों के झुंड मोहवश नष्ट होने के लिए प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार ये सब लोग भी कूद-कूदकर इस मुख में गिर रहे हैं। परन्तु जिस प्रकार तपा हुआ लोहा पानी सोख लेता है, उसी प्रकार इस मुख में जो-जो पड़ते हैं, वे सब भस्म हो जाते हैं। उन सबके नाम-निशान व्यवहार-क्षेत्र से बराबर मिटते चले जा रहे हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

"लेकिन इतना अधिक अन्न खाकर भी इसकी भूख तनिक भी कम नहीं होती, बल्कि उसमें कुछ और भी विलक्षण तीव्रता ही आती है। जिस प्रकार कोई रोगी ज्वर से मुक्त होने पर अथवा कोई भिखारी अकाल पड़ने पर अपने होठ चाटता है, उसी प्रकार यह लपलपाती हुई जीभ भी होठ चाटती हुई जान पड़ती है। फिर इस मुख के सम्बन्ध में एक और बात है। कोई चीज ऐसी नहीं दिखाई देती जो इस मुख के लिए खाद्य न हो—जो कुछ इसके सामने आता है, उन सबको यह खा जाता है। यह भूख भी मनुष्य को बिलकुल चकित करने वाली और बहुत ही अनोखी है। हे प्रभु, आपके इस स्वरूप का कुछ ऐसा स्वाभाविक भुक्खड़पन दिखाई देता है कि मानों आप हरदम यही सोचते रहते हैं कि इस समुद्र को एक घूंट में पी जाऊं या इस पर्वत को एक ग्रास में निगल जाऊं या इस ब्रह्मांड को ही एकदम से अपनी दाढ़ के नीचे रख लूं या इन दसों दिशाओं को ही निगल जाऊं या इन तारों को ही चट कर जाऊं। जिस प्रकार विषयों के सेवन से काम का विकार बराबर और भी बढ़ता ही जाता है अथवा ईंधन डालने से आग और भी ज्यादा भड़कती है, उसी प्रकार बराबर भुक्खड़पन से खाते रहने वाले इस मुख का भुक्खड़पन भी बराबर बढ़ता हुआ ही दिखाई देता है। इनमें से एक ही मुख को देखिये कि वह कैसा खुला हुआ है। इसमें की जीभ पर पड़ा हुआ त्रिभुवन बड़वाग्नि में पड़े हुए कैथ के समान जान पड़ता है। इस स्वरूप में इस प्रकार के असंख्य मुख हैं; और यद्यपि इन सबके लिए यथेष्ट आहार मिलना सम्भव नहीं है, पर फिर भी कौन जाने, इनकी संख्या इतनी अधिक बढ़ी हुई क्यों है ! हे प्रभो, यह बेचारा जीवलोक इन मुखों की ज्वाला में उसी प्रकार फंस गया है, जिस प्रकार दावाग्नि के घेरे में हिरन पड़ जाते हैं। इस समय इस विश्व की ऐसी ही स्थिति हो रही है। ये देव नहीं हैं, कर्मों के भोग ही प्रकट हुए हैं। अथवा ऐसा जान पड़ता है कि जगत् रूपी मछलियों को काल रूपी जाल में फंसा लिया गया है। अब विश्वरूप के अंग के तेज के पाश से इन चराचर का किस प्रकार छुटकारा होगा ? ये विश्वरूप के मुख नहीं हैं, बल्कि जगत् के लिए जलते हुए लाक्षागृह ही हैं। स्वयं आग की समझ में कभी यह बात नहीं आ सकती कि आग में पड़कर जलना कैसा होता है और उससे कितना कष्ट होता है; परन्तु हां, जिसे उसका प्रखर ताप लगता है, उसे अवश्य ही अपने प्राण त्याग करने पड़ते हैं। इसके सिवा और किसी तरह उसका छुटकारा ही नहीं होता। अथवा जिस प्रकार शस्त्र को इस बात का ज्ञान नहीं रहता कि मेरी तीक्ष्णता के कारण दूसरों की कैसे मृत्यु होती है अथवा जिस प्रकार विष अपना मारक गुण नहीं जानता, उसी प्रकार, हे प्रभो, आपको अपनी भयानक तीव्रता का कुछ भी ज्ञान नहीं है। परन्तु इधर वाले इन मुखों से जगत् की बिलकुल खाई

बन गई है। हे देव, यदि आप सारे विश्व में व्याप्त करने वाले केवल आत्मस्वरूप ही हैं, तो फिर आज आप हम लोगों पर काल के समान घातक होकर क्यों टूट पड़े हैं ? ऐसा विकट प्रसंग आ उपस्थित हुआ है, इसलिए अब मैंने भी अपने प्राणों का मोह छोड़ दिया है और आप भी अब बिना किसी प्रकार के संकोच के अपने मन की सब बातें साफ-साफ कह डालें। यह भयंकर रूप अब और कितना बढ़ेगा ? हे महाराज, आप विश्व को पालन करने का अपना व्रत स्मरण करें; और नहीं तो कम-से-कम मुझ पर ही कृपा करें।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

"हे केवल वेदों के जानने योग्य, त्रिभुवन के मूल बीज और सर्व विश्व के वन्दनीय, एक बार मेरी विनती तो सुनें।" यह कहकर उस वीर पार्थ ने श्रीकृष्ण के चरणों पर अपना मस्तक रख दिया और फिर कहना आरम्भ किया—"हे सर्वेश्वर प्रभो, आप इधर ध्यान दें। मैंने तो केवल अपना समाधान करने के लिए आपसे यह निवेदन किया था कि मुझे अपने विश्वरूप के दर्शन कराइये। और आप तो ये तीनों भुवन एकदम से निगलने लग गये। ऐसी अवस्था में मैं यह जानना चाहता हूं कि आप कौन हैं। आपने ये असंख्य भयंकर मुख किसलिए निकाले हैं ? और अपने सब हाथों में आपने ये सब हथियार किसलिए धारण कर रखे हैं ? आप तो बढ़ते-बढ़ते इतने बड़े हो गये हैं कि आकाश भी अब आपके सामने ठिंगना जान पड़ता है। आप ये भयंकर नेत्र फैलाकर मुझे भय क्यों दिखला रहे हैं ? हे प्रभो, आपने इस समय सर्वभक्षक यम के साथ प्रतियोगिता करना क्यों आरम्भ कर दिया है ? अपने इस कृत्य का हेतु आप मुझे स्पष्ट रूप से बतलावें।" इस पर अनन्त स्वरूप श्रीकृष्ण ने कहा—"तुम यही जानना चाहते हो न कि मैं कौन हूं और इस प्रकार का उग्र रूप धारण करके क्यों इतना बढ़ता चला जा रहा हूं ?

श्रीभगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

"अच्छा, तो सुनो। मैं सचमुच काल हूं और लोगों का नाश करने के लिए ही बढ़ रहा हूं। यह देखो, मेरे असंख्य मुख फैले हुए हैं और अब वह समस्त चराचर मैं निगल जाऊंगा।" यह सुनकर अर्जुन ने अपने मन में कहा—"हाय-हाय ! मैं उस पहले संकट से ही इतना घबरा गया था और इसीलिए मैंने इनसे यह प्रार्थना की थी। पर अब यह उससे भी बढ़कर ऐसी उग्रता दिखला रहे हैं जिसके सामने पहले वाली उग्रता कोई चीज नहीं थी।" उधर श्रीकृष्ण ने भी अपने मन में सोचा कि मैंने जो यह कठोर उत्तर दिया है, इससे अर्जुन और भी अधिक निराश तथा दुःखी हो जायगा; इसलिए उन्होंने तुरंत ही यों कहना आरम्भ किया—"परन्तु हे अर्जुन, इन सब कृत्यों में एक निराली ही खूबी है। वह यह कि इस समय जो प्रलय उपस्थित होने को है, तुम पांडव लोग उससे बाहर हो।" यह सुनकर अर्जुन को कुछ धैर्य हुआ और उसके जो प्राण निकल जाना चाहते थे, उन्हें उसने किसी तरह संभालकर रोका। वह उस समय मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ था; पर अब उसके होश कुछ ठिकाने हुए और वह फिर श्रीकृष्ण की बातों की ओर अच्छी तरह ध्यान देने लगा। उस समय देव ने इस प्रकार कहना आरंभ किया—"हे अर्जुन, तुम पांडव लोग मेरे हो। यह बात तुम सदा अपने ध्यान में रखना। तुम लोगों को छोड़कर और बाकी सबको निगल जाने के लिए मैं इस समय तत्पर हुआ हूं। जिस प्रकार बड़वाग्नि में मक्खन की गोली डाली जाय, उसी प्रकार तुम देख रहे हो कि यह सारा जगत् मेरे मुख में पड़ा हुआ है। और इसमें कुछ भी मिथ्या नहीं है। ये सेनाएं बड़े अभिमान से अकड़ रही हैं, परन्तु इनकी सारी अकड़ निष्फल है। इस चतुरंगिणी सेना के बल का अभिमान मानों महाकाल से स्पर्धा कर रहा है। देखो, इन पर अंगों के बल का कैसा मद चढ़ा है ! वे कहते हैं—'हम एक-दूसरी सृष्टि का निर्माण

कर सकते हैं। प्रतिज्ञा करके उलटे मृत्यु को ही मार सकते हैं। और इस सारे जगत् को केवल एक ही घूंट में पी सकते हैं, सारी पृथ्वी को खा सकते हैं, आशक को ऊपर-ही-ऊपर जला सकते हैं और अपने बाणों के बल से वायु को भी एक ही जगह रोककर उसे जर्जर कर डालेंगे।' ये सैनिकों की टोलियां एकत्र होकर अपने शौर्य की कृतियों में फूली नहीं समातीं, और वीर अपनी सेनाओं की प्रशंसा करते हुए उन्हें यम से भी बढ़कर भयंकर बतलाते हैं। इनके शब्द हथियारों की अपेक्षा भी तीक्ष्ण हैं, इनकी मुद्रा आग से भी बढ़कर दाहक है और इनकी घातकता के सामने कालकूट विष मीठा ही जान पड़ता है। परन्तु ये सब आकाश में दिखाई पड़ने वाले बादलों के गन्धर्वनगर अथवा केवल पोले पिंड ही हैं। ये वीर वास्तव में चित्र में बने हुए फलों के ही समान हैं। हे अर्जुन, यह केवल मृग-जल की बाढ़ है। यह कोई सेना नहीं है, बल्कि कपड़े का बनाया हुआ सांप है अथवा सजाकर रखे हुए खिलौने या पुतलियां हैं।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

"वास्तव में, चैतन्य-तड़प दिखलाने वाली जो सेनाएं हैं, उन वास्तविक सेनाओं को तो मैं पहले ही निगल चुका हूं। और अब जो वीर बचे हुए दिखाई देते हैं, वे केवल कुम्हार के यहां के बने हुए निर्जीव पुतले हैं। जब कठपुतलियों को बांधकर रखने वाली और उन्हें उपयुक्त अवस्था में रखकर उनसे हाव-भाव और नाच कराने वाली डोरी टूट जाती है, तब वे कठपुतलियां आपसे आप उसी प्रकार धड़ाधड़ गिर पड़ती हैं, जिस प्रकार धक्का देने से कोई गिर जाता है और वे पुतलियां गिरकर उलटी-पुलटी हो जाती हैं। ठीक इसी प्रकार अब इन समस्त सेनाओं के उलटकर गिर पड़ने में कुछ भी विलम्ब न लगेगा। इसलिए, हे अर्जुन, अब तुम तुरंत उठो और कुछ बुद्धिमत्ता दिखलाओ। तुमने गो-ग्रहण के समय समस्त कौरव सेनाओं पर एकदम से मोहनास्त्र का प्रयोग किया था और जब उससे सारी सेनाएं मूर्च्छित हो गई थीं तब विराट के कायर पुत्र उत्तर के द्वारा तुमने सब शत्रुओं के वस्त्र छिनवा लिये थे और उन्हें नंगा करा दिया था। परन्तु इस समय का कार्य तो उससे भी कहीं सूक्ष्म हो गया है। इस रणक्षेत्र की ये सारी सेनाएं तो पहले ही मर चुकी हैं। अब इन पहले से मरी हुई सेनाओं का बाहर से संहार कर डालो और यह कीर्ति सम्पादन करो कि अकेले अर्जुन ने ही समस्त शत्रुओं को मारकर विजय प्राप्त की थी। और फिर तुम्हें यह कोरी कीर्ति ही नहीं प्राप्त होगी; बल्कि इसके साथ-ही-साथ समस्त राज्य-लक्ष्मी भी तुम्हारे हाथ आवेगी। बस अब इन सब कार्यों में, हे भाई अर्जुन, तुम्हें केवल निमित्त ही बनने की आवश्यकता है।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणेसपत्नान् ॥३४॥

"तुम द्रोण की परवाह मत करो, भीष्म का भय मत मानो और अपने मन में इस बात की शंका मत करो कि इस कर्ण पर मैं कैसे हथियार चलाऊं। अब तुम इस चिन्ता में मत पड़ो कि इस जयद्रथ के सामने अब मैं क्या करूं। इनके सिवा और भी जो बड़े-बड़े प्रसिद्ध वीर हैं, उन सबको तुम केवल चित्रों में अंकित प्रचंड सिंह के समान ही समझो। और इनका उसी प्रकार नाश कर डालो, जिस प्रकार चित्रों में अंकित सिंहों की पंक्तियां हाथों से पोंछ डाली जाती हैं। हे अर्जुन, क्या इतनी बातें बतला देने के बाद भी रणक्षेत्र में जमे हुए इन सैनिकों का कुछ महत्त्व बाकी रह जाता है ? अरे यह सब भ्रममात्र है। जो कुछ वास्तविक था, उन सबको तो मैं पहले ही खा चुका हूं। जिस समय तुमने इन वीरों को मेरे मुख में पड़ते हुए देखा था, उसी समय इनके आयुष्य का अन्त हो चुका था। अब यहां जो कुछ दिखलाई पड़ रहा है, वह सब केवल निःसत्त्व भूसा ही है। इसलिए अब तुम झटपट उठो। जो लोग पहले ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं, उन सबको अब तुम मार डालो। व्यर्थ ही कल्पित शोक में पड़कर चिन्ता मत करो। जिस प्रकार खेल में स्वयं ही कोई लक्ष्य बनाकर खड़ा किया जाता है और फिर स्वयं ही बाण से उसका

वेध किया जाता है उसी प्रकार मैं स्वयं ही इन सबका कर्ता भी हूं और मारने वाला भी हूं तुम्हें तो मैंने केवल दिखाऊ साधन बना रखा है हे सखे अर्जुन तुम्हें जिस बात की चिन्ता हो रही थी वह बात अब बिलकुल नहीं रह गई है। इसलिए अब तुम आनंद से उस यश का उपभोग करो जिसमें समस्त राज्य-सुख संचित है। हे भाई अर्जुन, तुम विश्व की जिह्वा पर इस प्रकार की लिपि लिखकर विजय संपादित करो कि स्वभावतः जो भाई-बन्धु अपने वैभव के कारण मत्त हो रहे थे और जो अपने बल के कारण संसार को भार के समान जान पड़ते थे, उन्हें बिलकुल सहज में और बिना किसी प्रकार के परिश्रम के ही अर्जुन ने बिलकुल नष्ट कर डाला।''

संजय उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

हे श्रोतागण, इस प्रकार की यह सारी कथा संजय उस निराश कौरवपति धृतराष्ट्र को सुना रहा है। जिस प्रकार सत्यलोक से छूटी हुई गंगा प्रचंड घोष से धड़धड़ाती हुई नीचे आई थी, उसी प्रकार गम्भीर वाणी से जब श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यह कहा अथवा जिस प्रकार भयंकर मेघों के समूह एकदम से सिर पर आकर गड़गडाने लगते हे अथवा जिस समय मन्दर पर्वत से क्षीर सागर का मन्थन किया गया था, उस समय उस मथनी को मथने से जैसा भीषण शब्द हुआ होगा उसी प्रकार की गम्भीर वाणी में जब विश्व के बीज-भूत श्रीकृष्ण ने अर्थात् उन अनत स्वरूप भगवान् ने इन वाक्यों का उच्चारण किया, उस समय भगवान् के शब्द अर्जुन को कुछ यों ही सुनाई पडे, ओर न जाने वे शब्द सुनने से उसे सुख हुआ अथवा भय जान पड़ा, पर यह ठीक है कि उस समय उसका सारा शरीर थरथर कांपने लगा। वह इतना झुक गया कि मानों उसके शरीर की पोटली बंध गई हो और वह उसी अवस्था में हाथ जोडकर बार-बार श्रीकृष्ण के चरणों पर अपना मस्तक रखने लगा। उसी समय उसके मन में यह भी आया कि मैं अब कुछ कहूं, परन्तु उसका गला इतना भर आया था कि उसके मुख से शब्द ही नहीं निकलता था। अब इसका विचार आप लोग स्वयं ही कर लें कि श्रीकृष्ण की बातें सुनकर उसे सुख हुआ था अथवा उसके मन में भय उत्पन्न हुआ था। यदि आप यह पूछें कि अर्जुन की उस समय की इस अवस्था का पता मुझे कैसे चला, तो मैं यह कहूंगा कि इस श्लोक के शब्दों से ही मुझे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि भगवान् की बातें सुनकर उस समय अर्जुन की ऐसी ही अवस्था हुई होगी।

अर्जुन उवाच—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥३६॥

फिर उसी प्रकार डरते-डरते चरण वन्दना करके अर्जुन ने कहा—''हे देव, आपने अभी यह कहा है कि—'हे अर्जुन मैं काल हूं और विश्व को खा जाना मेरा एक खेल है।' हे देव, मैं यह मानता हूं कि आपकी यह वाणी अटल सत्य है। परन्तु विचार की कसौटी पर यह बात कुछ ठीक नहीं उतरती कि आज विश्व की स्थिति या अस्तित्व का समय होने पर भी, प्रलय का समय न होने पर भी, आप अपना कालस्वरूप प्रकट करके सारे विश्व को ग्रस रहे है। अंगों में भरा हुआ तारुण्य किस प्रकार निकाला जा सकता है और उसके स्थान पर असमय में ही शरीर मे वृद्धावस्था भला किस प्रकार लाई जा सकती है ? इसीलिए आप जो कुछ कह रहे हैं, वह प्रायः असम्भव-सा जान पडता है। हे अनन्तस्वरूप देव, क्या चार पहर पूरे होने से पहले ही बीच में भी कभी सूर्य अस्त होता है ? यदि वास्तव में देखा जाय तो आप अ-स्खलित और सतत कालस्वरूप हैं और आपके तीन भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न समय नियत हैं। और उनमें से प्रत्येक समय अपने-अपने राज्य में सर्व-समर्थ रहता है। जिस समय

उत्पत्ति होने लगती है उस समय स्थिति और प्रलय का अभाव रहता है और स्थितिकाल मे उत्पत्ति और प्रलय के लिए कोई स्थान नहीं रहता। इसके उपरान्त जब प्रलय का समय आता है, तब उत्पत्ति और स्थिति का लोप हो जाता है। यह निश्चित शृंखला कभी किसी कारण से विस्खलित नहीं होती। वह अनादि है। और इस समय संसार का ठीक उपभोग का स्थितिकाल है; और इसीलिए यह बात मेरे मन में नहीं बैठती कि आप इस समय उसे ग्रस लेना चाहते हैं और उसका अन्त कर डालना चाहते हैं।'' उस समय श्रीकृष्ण ने संक्षेप में यह कहा कि—''हे अर्जुन, यह बात मैंने तुम्हें अभी प्रत्यक्ष करके दिखला दी है कि इन दोनों सेनाओं का आयुष्य पूरा हो गया है। परन्तु यदि वास्तव में देखा जाय तो यह बात अपने ठीक और उपयुक्त समय आने पर ही होगी।'' इन सूचक शब्दो का उच्चारण करने में श्रीकृष्ण को जितना समय लगा था, उतने समय में जब अर्जुन ने जरा पीछे की ओर मुड़कर देखा तो उसे सब बातें बिलकुल पहले की तरह और ज्यों-की-त्यों दिखाई पड़ीं। तब उसने भगवान् से कहा—''हे देव, आप इस विश्व के नाटक के सूत्रधार हैं। मैं देख रहा हूं कि संसार फिर अपनी पहले वाली अवस्था में आ गया है। परन्तु इस समय मुझे आपकी इस कीर्ति का भी स्मरण हो रहा है कि दुःख के समुद्र में गोते खाने वाले संसार का तारण करने वाले भी आप ही हैं। और समय-समय पर इस कीर्ति का स्मरण होने से जिस अपरम्पार सुख का अनुभव होता है, उसी सुख के अमृत की लहरों पर मैं इस समय लहरा रहा हूं। हे देव, जीवित रहने के कारण ही यह संसार आप पर प्रेमासक्त रहता है और दुष्टों का अधिकाधिक नाश होता है। वास्तव में त्रिभुवन के दुष्ट राक्षसों को आप बहुत ही भयंकर जान पड़ते हैं और इसीलिए वे सब दसों दिशाओं के भी बाहर भाग जाना चाहते हैं। और यहां आस-पास, हे देव, मानव, किन्नर केवल यही नहीं बल्कि सारा स्थावर और जंगम विश्व आपके दर्शन से आनन्दित होकर आपको नमस्कार कर रहा है।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥३७॥

''परन्तु, हे देव, इसका क्या कारण है कि ये राक्षस आपके चरणों में लीन नहीं हो रहे हैं और आपसे दूर भाग रहे हैं? परन्तु यह बात मैं आपसे ही क्यों पूछूं? यह तो मैं स्वयं भी समझ सकता हूं। भला सूर्य के सामने अन्धकार ठहर ही कैसे सकता है? हे देव, आप प्रकाश के उत्पत्ति-स्थान हैं और यदि आपके सामने ये राक्षस रूपी मल आपसे आप दूर हो जायं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इतने दिनों तक यह बात मेरी समझ में नहीं आई थी; परन्तु हे देव श्रीराम, अब आपकी सारी महिमा का मुझे पूरा-पूरा ज्ञान हो गया है। जिसमें से इस विविध सृष्टि की बेलें निकलती हैं, जिससे इस भूतमात्र की बेलों का विस्तार होता है, वह विश्व-बीज महद्ब्रह्म ही आपके महा-संकल्प से उत्पन्न हुआ है। हे देव, जो तत्त्व अमर्याद और सदा स्वयंसिद्ध है, वह तत्त्व आप ही हैं। आपके गुण अपार और अनन्त हैं। हे देव, आप ही अत्यन्त साम्य की अखंडित अवस्था हैं। आप समस्त देवताओं के अधिपति हैं। हे देव, आप ही इन तीनों भुवनों के जीवन हैं। आप अव्यय तथा नित्य मंगल-स्वरूप हैं। आप सत् और असत् इन दोनों से परे रहने वाले तत्त्व हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥३८॥

''प्रकृति और पुरुष के उद्गम-स्थान आप ही हैं। महत्तत्त्व जो माया है, उसकी मर्यादा भी आप ही हैं। स्वतः आप अनादिसिद्ध पुरातन हैं। आप सारे विश्व के जीवन और मूल कारण हैं। भूत और भविष्य का ज्ञान रखने वाले केवल आप ही हैं। हे भेदरहित प्रभो, वेद-रूपी नेत्रों के द्वारा आपके ही स्वरूप के दर्शनों से सुख होता है। त्रिभुवन के आधार-के-आधार आप ही हैं। इसीलिए लोग आपको 'परम महाधाम' कहते हैं। महद्ब्रह्म जो महामाया है, वह

ब्रह्म प्रलय के समय आपमें ही प्रवेश करके लीन होती है यदि संक्षेप में कहा जाय तो इस समस्त विश्व को आपने ही उत्पन्न करके उसका विस्तार किया है। फिर भला हे अनन्त प्रभो, आपका वर्णन कौन कर सकता है?

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

"ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसमें आप नहीं हैं? ऐसा कौन-सा स्थान है जहां आप नहीं हैं? परन्तु अब इन सब बातों को जाने देना चाहिए। आप चाहे जैसे हों, मैं आपको नमस्कार करता हूं। हे अनन्त, आप वायु हे, सबका नियमन करने वाले यम हैं और प्राणी मात्र में निवास करने वाले अग्नि भी हैं। वरुण, सोम, सृष्टिकर्ता ब्रह्मा और उस विश्व पितामह ब्रह्मा के जनक सब कुछ आप ही हैं। इसके सिवा और जो-जो रूप हों अथवा अ-रूप हों, वह सब भी आप ही हैं। ऐसे जगन्नाथ को मैं नमस्कार करता हूं।" पार्थ ने इस प्रकार प्रेमपूर्ण मन से श्रीकृष्ण को नमस्कार करके फिर कहना आरम्भ किया—"हे प्रभो, मै आपकी वन्दना करता हूं, वन्दन करता हूं।" इसके उपरान्त उसने श्रीकृष्ण की मूर्ति को सिर से पैरों तक अच्छी तरह देखकर बार-बार 'नमस्ते नमस्ते' कहा। उस मूर्ति के भिन्न-भिन्न अवयवों को देखकर उसे अत्यन्त समाधान हुआ और उसी तरह से उसने फिर कहना आरम्भ किया—'प्रभो, नमस्ते-नमस्ते।' इस स्थावर और जंगम जगत् के जीवमात्र में उन्हीं को देखकर उसने फिर कहा—'प्रभो, नमस्ते-नमस्ते।' उसे इस प्रकार प्रभु के अत्यन्त आश्चर्यजनक अनन्त स्वरूपों का ज्यों-ज्यों स्मरण होने लगा, त्यों-त्यों वह 'नमस्ते-नमस्ते' का गान करने लगा। उसकी समझ में ही नहीं आता था कि इसके सिवा प्रभु की और कौन-सी स्तुति की जाय; और उससे चुप भी नहीं रहा जाता था। साथ ही उसे इस बात का भी ध्यान नहीं रह गया कि प्रेम के आवेश में मैं क्या घोषणा कर रहा हूं। सब मिलाकर उसने इस प्रकार हजार बार नमस्कार किया। और इसके उपरान्त फिर भी उसने कहा—"हे श्रीहरि, मैं आपके सामने नमस्कार करता हूं। मुझे इस बात से कुछ भी मतलब नहीं है कि देव के पीठ और पेट हैं या नहीं। परन्तु फिर भी, हे महाराज, मैं आपके पृष्ठ भाग को भी नमस्कार करता हूं। आप मेरी पीठ पर मेरे पक्ष मे खड़े हैं इसीलिए मैं आपके पृष्ठ भाग का नाम लेता हूं; परन्तु वास्तव में आप न तो संसार के सामने ही हे और न उसकी पीठ के पीछे ही हैं। मैं आपके भिन्न-भिन्न अवयवों का रूप-भेद से पृथक्करण नहीं कर सकता, इसलिए हे सर्वात्मक देव, मैं आपके सर्वरूप को ही एकदम से नमस्कार करता हूं। हे देव, जिसके बल का प्रभाव अनन्त है, जिसके पराक्रम की कोई नाप-तौल नहीं है, जो भेदभाव-रहित तथा सर्वरूप है, उसे मेरा नमस्कार हे। जिस प्रकार आकाश ही सारे आकाश को व्याप्त करके अवकाश रूप से रहता है, उसी प्रकार आप भी अपने सर्वत्व के साथ सबमें व्याप्त रहते हैं। यहां तक कि आप ही समस्त विश्व हैं; परन्तु जिस प्रकार क्षीर सागर मे क्षीर की ही तरंगें उठती हैं, उसी प्रकार का यह सम्बन्ध है। इसलिए, हे देव, अब यह बात मेरे मन में अच्छी तरह बैठ गई है कि आप इस समस्त विश्व से भिन्न नहीं हैं और यह सब कुछ आप ही हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

"परन्तु हे महाराज, आपका यह स्वरूप मुझे अब तक बिलकुल ज्ञात नहीं था, इसीलिए मैं अब तक आपके साथ उसी प्रकार का व्यवहार करता था, जिस प्रकार का व्यवहार अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ किया जाता है। यह मुझसे कैसी अनुचित बात हुई! मैंने अमृत का उपयोग आंगन सींचने में कर डाला। मैंने कामधेनु को घोडे

का बछेड़ा समझ लिया। मुझे मिला तो था पारस पत्थर, पर उसे तोड़कर मैंने अपने घर की नींव में भर दिया। कल्पवृक्ष काटकर उसकी लकड़ी से खेत का घेरा बना डाला। जिस प्रकार चिन्तामणि की खान मिलने पर कोई अनजाने में उसमें की चिन्तामणियों को कंकड़-पत्थर समझकर उनका उपयोग ढोरों और पशुओं को हांकने में कर डालता है, उसी प्रकार मैंने भी आज तक आपकी संगति आपको केवल अपना सगा-सम्बन्धी समझकर ही की। भला और दूर क्यों जाऊं; यह आज का ही प्रत्यक्ष प्रसंग देखिये। यह कितना बड़ा युद्ध है और इसमें मैंने आपको अपना सारथी बनाया है ! इन कौरवों के द्वार पर मैंने आपको मध्यस्थता करने के लिए भेजा था। इस प्रकार, हे जगदीश्वर, स्वयं अपने लाभ के लिए मानो आपको मोल ही ले लिया था। योगी लोग समाधि में आपका ही ध्यान करके सुख भोगते हैं। परन्तु मुझ मूर्ख को इस बात का कुछ भी पता नहीं लगा। यहां तक कि मैं बराबर आपके सामने हंसी-मजाक भी किया करता था।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

"आप इस विश्व के स्वयंसिद्ध बीज हैं। पर जब आप सभा में बैठे रहते थे, तब मैं आपसदारी के नाते से विनोद और परिहास भी किया करता था। मैं कभी-कभी आपके घर भी जाया करता था और वहां आप मेरा जो आदर-सम्मान करते थे, उसका मैं भोग करता था। और यदि उस आदर-सम्मान में आप कभी अणुमात्र भी त्रुटि करते थे तो मैं अपने दुलार के कारण घराऊ व्यवहार और अति परिचय के कारण रूठ भी जाया करता था। हे देव शार्ङ्गधर, मैंने आपके साथ अनेक बार इसी प्रकार का व्यवहार किया है, जिसके लिए अब मुझे आपके चरणों पर गिरकर आपसे क्षमा मांगनी चाहिए। स्नेह के नाते मैं अनेक बार आपके सामने इस प्रकार उलटा-सुलटा बैठा हूं, जैसे मुझे नहीं बैठना चाहिए। परन्तु हे देव, क्या ऐसा करना मुझे कभी उचित था ! छीः-छीः। मैंने बहुत बड़ी भूल की। हे देव, कभी-कभी मैं आपके गले में बांहें डाल दिया करता था, अखाड़े में आपके साथ दंगा-मस्ती और उठा-पटक किया करता था और चौपड़ खेलते समय बेईमानी की चाल चलकर उलटे आपके साथ झगड़ा करता था। जब कोई अच्छी वस्तु देखता था, तब आपसे यह हठ करता था कि पहले यह चीज मुझको ही मिलनी चाहिए। हे भगवन्, यहां तक कि आपको अक्ल सिखाने में भी मैं कभी कमी नहीं की। और अनेक बार तो मैंने आपसे इस प्रकार की उपमर्दक और अपमानजनक बातें भी कही हैं कि—'हम तुम्हारे कौन होते हैं ?' मेरा यह अपराध इतना बड़ा है कि वह तीनों भुवनों में भी नहीं समा सकता। परन्तु हे देव, मैं आपके चरण छूकर कहता हूं कि मुझसे ये सब बातें बिलकुल अनजान में हुई हैं—अपनी अज्ञानता के कारण ही मैं आपके साथ इस प्रकार का व्यवहार करता था। हे देव, आप तो भोजन के समय मुझे स्मरण करते थे, परन्तु मुझमें इतनी कोरी शेखी थी कि मैं आपसे रूठकर बैठ जाया करता था। आपके विश्रामगृह में मैं आपके साथ आनन्द से खेला करता था और आपके बिछौने पर आपके साथ सटकर सोया करता था। मैं 'कृष्ण' कहकर आपको पुकारा करता था, आपको भी दूसरे यादवों के समान ही समझा करता था और जब आप मेरे पुकारने पर मेरी बात अनसुनी करके जाने लगते थे, तब मैं आपको अपनी शपथ देकर रोकता था; और ऐसा प्रायः किया करता था। आपके साथ सटकर एक ही आसन् पर बैठा करता था अथवा आपकी बातों पर ध्यान नहीं देता था और आपसदारी के विचार से इस प्रकार की धृष्टता मुझसे अनेक बार हुई है। हे देव, इस प्रकार की बातें मैं कहां तक कहूं ! मैं समस्त अपराधों की राशि ही हूं। इसलिए हे प्रभो, मैंने प्रत्यक्ष रूप से अथवा परोक्ष रूप से आपके साथ जो कुछ अनुचित आचरण या व्यवहार किये हों, उन सबको आप माता के समान अपनी ममता के उदर में रख लें और मुझे क्षमा करें। जब कभी कोई नदी गंदला पानी लेकर आती है, तब समुद्र को वह पानी भी ग्रहण करना ही पड़ता है। इसके सिवा उसके लिए और कोई उपाय नहीं होता। इसी प्रकार प्रीति से

अथवा भूल से मैन आपके विरुद्ध जो जो आचरण किये हा वे सब हे प्रभो मुकुन्द आपको अपने क्षमा गुण के कारण सहन करने ही पड़ेंगे। और हे देव, यदि आप क्षमावान् होंगे, तभी इस भूत-सृष्टि में यम का राज्य रह सकेगा। इसलिए हे पुरुषोत्तम, इस विषय में मैं आपसे चाहे कितनी ही प्रार्थना क्यों न करूं, पर वह सब थोड़ी ही होगी। इसलिए हे अतर्क्य भगवन्, मैं आपकी शरण में आया हूं और आप मुझे इन सब अपराधों के लिए क्षमा करें।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

"परन्तु हे देव, अब आपकी महिमा मेरी समझ में पूरी तरह से आ गई है। मैं समझ गया हूं कि आप इस स्थावर और जंगम से युक्त विश्व के मूल बीज हैं। हरि और हर आदि समस्त देवताओं में परम दैवत आप ही है। और वेदों को भी आपसे ही ज्ञान प्राप्त हुआ है। हे प्रभो श्रीराम, आप भूतमात्र के साथ समभाव से व्यवहार करते हे। आप सब गुणों में अप्रतिम और अद्वितीय हैं। भला यह कहने की क्या आवश्यकता है कि आपके समान और कोई नहीं है ? आप आकाश हैं और यह सारा विश्व आपमें ही समाया हुआ है। ऐसी अवस्था में यह कहना केवल लज्जास्पद ही है कि आपकी तरह का और भी कोई सर्वव्यापी है। अब इस विषय में और अधिक क्या कहा जाय। इसलिए त्रिभुवन में केवल आप ही अद्वितीय हैं। आपकी बराबरी का अथवा आपसे बढ़कर और कोई नही है। आपकी महिमा इतनी विलक्षण है कि उसका किसी प्रकार वर्णन ही नहीं किया जा सकता।"

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

अर्जुन ने ये सब बातें कहकर श्रीकृष्ण को दंडवत किया और तत्काल ही उसके शरीर में आठों सात्त्विक भावो का संचार हो गया। फिर वह गद्गद स्वर से कहने लगा—"हे देव, आप प्रसन्न हों। प्रसन्न हों। इस अपराध के समुद्र से मेरी रक्षा करें। आप सारे विश्व का हित करने वाले हैं। परन्तु केवल आपसदारी के विचार से मैंने कभी आपका विशेष सम्मान नहीं किया। हे विश्वेश्वर, आपके साथ मैंने ऐसा आश्चर्यजनक और लज्जास्पद व्यवहार किया है। यदि वास्तव में देखा जाय तो प्रशंसा के योग्य स्वयं आप ही थे। परन्तु आपने भरी सभा में मेरी प्रशंसा की और मै बड़े अभिमान से बैठा हुआ बड़ी-बड़ी बातें बघारता रहा। हे मुकुन्द, मेरे इस प्रकार के अपराधों का कहीं अन्त ही नहीं। इसलिए अब आप इन अपराधों से मेरी रक्षा करें। मुझमें तो इस प्रकार की क्षमा-याचना करने की भी योग्यता नहीं है। परन्तु जिस प्रकार बालक अपने पिता के सामने लाड़ से बोलता है और यदि बालक का घोर अपराध भी होता है, तो भी जिस प्रकार पिता मन में परायेपन का भाव न रखकर प्रेम से उसके सब अपराध क्षमा कर देता है; उसी प्रकार आप भी मेरे सब अपराध क्षमा करेंगे। मित्र का औद्धत्य मित्र ही सहन करते हैं। बस, इसी प्रकार आप भी मेरा औद्धत्य सहन करें। अपने प्रियजनों से कभी कोई साम्प्रदायिक मान-अपमान की अपेक्षा नहीं करता। इसी प्रकार, हे देव, आपने जो मेरे घर में जूठन उठाई और मैंने आपको उठाने दी, उसके लिए भी आप मुझे क्षमा करें। अथवा जब किसी बहुत घनिष्ठ और प्रिय मित्र से भेंट होती है, तब उससे संसार में अनुभव किये हुए सब संकटों का वर्णन करने में कोई संकोच नहीं होता। अथवा जब पति को ऐसी पतिव्रता स्त्री मिलती हे जो अपना मन, शरीर और आत्मा तीनों पूरी तरह से अपने पति को अर्पित कर चुकी होती है, तब उसके साथ बिना खुले दिल से बातें किये रहा ही नहीं जाता। इसी प्रकार, हे सद्गुरु महाराज, मैंने भी आपसे प्रार्थना की है। इसके सिवा ये सब बातें कहने का और भी एक कारण है।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

"हे देव, देखिये, मैंने बहुत धृष्टता करके आपसे यह आग्रह किया कि आप मुझे अपने विश्वरूप के दर्शन करावे और इस विश्व के आप माता-पिता ने बहुत प्रेम से मेरा यह आग्रह पूरा किया। मैंने इस प्रकार के अनेक हट किये कि मेरे घर के आंगन में बहुत-से कल्पवृक्ष लग जायं, कामधेनु के बछड़े मुझे खेलने को मिलें, मेरे चौपड़ खेलने के लिए नक्षत्रों के पांसे बने और मुझे खेलने के लिए चन्द्रमा का गेंद मिले; और एक प्रेमपूर्ण माता के समान आपने मेरे वे सभी हठ पूरे किये। जिस अमृत का एक छोटा-सा कण प्राप्त करने के लिए अपरम्पार कष्ट सहन करना पड़ता है, उस अमृत की आपने चातुर्मास भर वर्षा की और जमीन जोतकर मानों क्यारी-क्यारी में आपने चिन्तामणियों की बोआई कर दी। हे देव, आपने इस प्रकार से मुझे धन्य किया है और बड़े लाड़ से मेरा पालन किया है। जो विश्वरूप कभी शंकर और ब्रह्मा ने कानों से भी नहीं सुना था, उस विश्वरूप के आपने मुझे दर्शन कराये हैं। आपके जीवन का जो रहस्य देखना तो दूर रहा, पर जो उपनिषदों के विचार-क्षेत्र में भी नहीं आ सकता, वही रहस्य आज आपने गाठ खोलकर मेरे लिए स्पष्ट कर दिया है। हे महाराज, विश्व के आरम्भ से लेकर आज तक मैंने जो-जो जन्म धारण किये, यदि उन सब जन्मों को खूब ध्यानपूर्वक देखा जाय तो भी कहीं यह पता नहीं चलेगा कि मेरे लिए कभी यह रहस्य देखने या सुनने का प्रसंग आया था। और मेरे अन्तःकरण को कभी इस बात की गन्ध भी नहीं मिली थी। फिर ऐसी बात को आंखों से देखने का भी जिक्र ही क्या है ! सारांश यह कि मैंने आज तक कभी यह विश्वरूप देखा या सुना नहीं था। परन्तु वही विश्वरूप आज आपने मुझे प्रत्यक्ष दिखला दिया जिससे मेरा मन बहुत अधिक आनन्दित हुआ है। परन्तु मेरे मन में इस समय यह आता है कि मैं आपके साथ जी खोलकर बातें करूं, आपके पास रहूं और आपको गले लगा लूं। अब यदि मैं आपके इस विश्वरूप के साथ ये सब बातें करना चाहूं तो मेरी यह समझ में नहीं आता कि आपके इन असंख्य मुखों में से किस मुख के साथ मैं बातें करूं और किसे आलिंगन करूं, क्योंकि आपका यह स्वरूप अमर्याद है। ऐसी अवस्था में भला वायु के साथ कैसे दौड़ा जा सकता है; आकाश को किस प्रकार आलिंगन किया जा सकता है और अगाध समुद्र में किस प्रकार जलक्रीड़ा की जा सकती है ! हे देव, आपके इस स्वरूप से मुझे भय लगता है, इसलिए अब आप मेरी यह एक इच्छा और पूरी कर दें कि अपना यह स्वरूप आप समेट लें। कौतुक से इस स्थावर-जंगम विश्व का अवलोकन करने के उपरान्त जिस प्रकार यह जी चाहता है कि चुपचाप चलकर घर पर पड़े रहें, उसी प्रकार आपका जो सौम्य चतुर्भुज स्वरूप है, वह मुझे विश्राम-स्थल जान पड़ता है। यदि मैंने योगमार्ग का अभ्यास किया तो भी अन्त में मुझे यही अनुभव करना पड़ेगा। और यदि मैं शास्त्रों का अध्ययन करूंगा तो भी अन्त में यही सिद्धान्त मेरे पल्ले पड़ेगा। यदि मैं यज्ञ-याग करूं तो उनका भी अन्त में यही फल होगा। तीर्थयात्रा भी इसी के लिए की जाती है। इसके सिवा और भी जो-जो दान-पुण्य मैं करूंगा, उन सबका फल यही आपका चतुर्भुज रूप है। इस प्रकार उस रूप के दर्शन की मेरे मन में बहुत बड़ी कामना है और मैं उसके दर्शन करने के लिए बहुत अधीर हो रहा हूं। बस मेरी यह चिन्ता आप बहुत शीघ्र दूर कर दें। हे समस्त जीवों के मन की बात जानने वाले, हे सारे विश्व में व्याप्त रहने वाले, हे देवताओं के भी पूज्य, हे देवाधिदेव, अब आप प्रसन्न हों।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

"जिसके अंगों की कान्ति नीले कमल के लिए भी आदर्श है, जो आकाश के रंग की शोभा भी बढ़ाती है और नीलमणि में भी तेजस्विता लाती है, जिसकी कमर की शोभा से मदन की शोभा भी उसी प्रकार बढ़ती है, जिस प्रकार मरकत मणि में मानों सुगन्ध उत्पन्न हुई हो अथवा आनन्द में अंकुर निकले हों, जिसके सम्बन्ध में इस प्रकार की भ्रान्ति होती है कि मस्तक की शोभा मुकुट बढ़ा रहा है अथवा मुकुट की ही शोभा मस्तक से बढ़ रही है—क्योंकि उन अंग की शोभा ही शृंगार के लिए भूषण हो रही है—जिस प्रकार आकाश में इन्द्रधनुष पर मेघ

दिखलाइ पडते है उसी प्रकार जिस शागपाणि ने वैजयन्ती माना धारण कर रखी हे और दैत्यो तथा दानवा को भी मोक्ष दान देने में जो गदा इतनी उदार है और हे गोविन्द, जिसका चक्र अप्रतिम सौम्य तेज से चमक रहा है, वह सुन्दर रूप देखने के लिए मैं अधीर हो रहा हूं। इसलिए, हे देव, अब आप अपना वही रूप धारण करें। इस विश्वरूप के दर्शन करके मेरे नेत्र अत्यन्त तृप्त हो चुके हैं और अब वे आपकी सौम्य कृष्ण-मूर्ति को देखने के लिए बहुत उतावले हो रहे हैं ! अब इन नेत्रों को उस सुन्दर कृष्ण-मूर्ति के दर्शन करने के सिवा और कुछ भी अच्छा नहीं लगता। उस मूर्ति के सामने इन्हें इस विश्वरूप का कुछ भी महत्त्व नहीं जान पड़ता। हम लोगों को उस कृष्ण-मूर्ति के सिवा और कहीं भोग अथवा मोक्ष नहीं मिल सकता। इसलिए, हे देव, अब आप अपना यह विश्वरूप समेटकर वही पहले वाला सगुण रूप धारण करें।''

श्रीभगवानुवाच—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥४७॥

अर्जुन की ये सब बातें सुनकर उन विश्वरूपी भगवान् को बहुत अधिक आश्चर्य हुआ और उन्होंने कहा—''मैंने तुम्हारे समान अविचारी कहीं नहीं देखा। तुम्हें कैसी अलौकिक वस्तु प्राप्त हुई है ! परन्तु इस लाभ से भी तुम्हें सुख नहीं होता। न जाने तुम अपनी कायरता से ये सब बातें कह रहे हो या अपनी हेकड़ी के कारण ! जब मैं सहज रूप से प्रसन्न होता हूं, तब केवल इस जड़ मर्यादा तक ही सब कुछ प्रदान करता हूं; और जब तक सच्चा भक्त न मिले, तब तक यह गूढ़ रहस्य भला और किस पर प्रकट किया जा सकता है ! आज केवल तुम्हारे लिए मुझे अपना यह आन्तरिक रहस्य खोलकर यह विशाल विश्वरूप धारण करना पड़ा है। मेरी समझ में नहीं आता कि मैं तुम्हारे फेर मे क्यों इतना पड़ गया हूं। परन्तु यह बात बिलकुल ठीक है कि मैं तुम पर प्रसन्न होकर बिलकुल पागल-सा हो गया हू। और मैंने अपने भीतरी गूढ़ रहस्य की मूर्ति संसार के सामने प्रत्यक्ष रूप से खड़ी कर दी है। मेरा यह स्वरूप अपार से भी अपार है। कृष्ण आदि अवतार इसी स्वरूप से उत्पन्न हुए हैं। यह स्वरूप ज्ञान-तेज का सार-सार्वस्व है। यह विश्वरूप शुद्ध, अन्तहीन, निश्चल और सबका मूल बीज है। हे अर्जुन, तुम्हारे सिवा इससे पहले और किसी ने यह विश्वरूप नहीं देखा था और न कभी सुना ही था, क्योंकि यह स्वरूप किसी साधना से प्राप्त नहीं किया जा सकता।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥४८॥

''इस स्वरूप के मार्ग तक पहुंचते ही वेद मौन हो गये और यज्ञकर्ता लोग स्वर्ग से लौट आये। जब साधको को यह पता चला कि योग-साधन से भी यह रूप प्राप्त नहीं होता, बल्कि कष्ट ही होता है, तब उन्होंने योगाभ्यास ही छोड दिया। इसी प्रकार केवल अध्ययन से भी यहां कोई काम नहीं चलता। बिलकुल प्रथम कोटि के जो पुण्यकर्म हे, वे भी बड़े आवेश से चलकर जैसे-तैसे और मार-पीटकर केवल सत्यलोक तक ही पहुंच सके हैं। तप ने इस स्वरूप का केवल ऐश्वर्य ही देखा है और इतने से ही उसकी सारी उग्रता खड़े-खड़े न जाने कहां चली गई। इस प्रकार जो विश्वरूप तप के क्षेत्र के बाहर और उससे बहुत दूर है, वह विश्वरूप आज तुमको बिना परिश्रम के ही देखने को मिला है; और नहीं तो मनुष्यलोक में कभी किसी को इस रूप के दर्शन नहीं होते। इस संसार में केवल तुम्हीं इस रूप-सम्पत्ति के पात्र हुए हो। इस प्रकार का परम भाग्य स्वयं ब्रह्मा को भी प्राप्त नहीं हुआ है।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥४९॥

''इसलिए इस विश्वरूप के दर्शन करके तुम आनन्दित हो और इससे तिलमात्र भी मत डरो। अपने मन में इस बात

का तनिक भी विचार मत करो कि इससे बढ़कर और कोई दूसरा पदार्थ हो सकता है। यदि अमृत से भरा हुआ समुद्र अकस्मात् अपने ऊपर आ पड़े तो क्या कभी कोई इस भय से उससे दूर भागेगा कि मैं इसमें डूब जाऊंगा ! अथवा यदि किसी को सोने का पर्वत दिखाई पड़े तो क्या वह कभी यह समझकर उसकी अवज्ञा करेगा कि यह इतना बड़ा पहाड़ यहां से हटाकर कैसे ले जाऊंगा ! यदि सौभाग्य से चिंतामणि प्राप्त हो जाय तो उसे अंग पर धारण करना चाहिए या यह सोचकर उसे दूर कर देना चाहिए कि यह बोझ है ! क्या कभी कोई केवल इसीलिए कामधेनु को घर से बाहर निकाल देता है कि हमें इसका पालन-पोषण करना पड़ेगा और वह हमसे नहीं हो सकेगा ! यदि चन्द्रमा घर में आवे तो क्या कभी कोई उससे यह कह सकता है कि तुम यहां से निकल जाओ, तुमसे हमारा शरीर जल गया ! अथवा यदि घर में सूर्य आवे तो क्या उससे कोई यह कहेगा कि दूर हटो, तुम्हारी परछांही पड़ती है ! और यदि कोई ऐसा कहे तो क्या उसका ऐसा कथन बुद्धिमत्तापूर्ण समझा जायगा ? इसी प्रकार मेरे विश्वरूप का परम तेजस्वी ऐश्वर्य आज सहज में तुम्हें प्राप्त हुआ है। तुम इस प्रकार इससे घबरा क्यों रहे हो ? परन्तु तुम मूर्ख हो और यह बात तुम्हारी समझ में नहीं आ रही है। हे अर्जुन, अब मै तुम पर क्या क्रोध करूं। परन्तु तुम वास्तविक शरीर को छोडकर केवल छाया को ही आलिगन करना चाहते हो। तुम यह बात अच्छी तरह समझते हो कि यही मेरा वास्तविक स्वरूप है और वह वास्तविक स्वरूप नहीं है। और तुम मेरे इस वास्तविक स्वरूप से डरकर उस चतुर्भुज स्वरूप के साथ प्रेम करते हो जो ऊपरी और नकली है। तो भी, हे अर्जुन, अब तुम यह हठ छोड़ दो और इस फेर में मत पड़ो। यद्यपि यह विश्वरूप देखने में भयंकर जान पड़ता है और यद्यपि इसका विस्तार प्रचंड है, तो भी केवल यही स्वरूप वास्तविक और सच्चा है, यह बात तुम अपने मन में खूब अच्छी तरह समझ लो--इसे गांठ बांध लो। जिस प्रकार किसी भारी मक्खीचूस पुरुष का मन सदा द्रव्य में ही लगा रहता है और वह केवल शरीर से ही व्यवहार करता है अथवा जिस प्रकार पक्षिणी अपना जीवन घोंसले में पड़े हुए उन बच्चों के पास, जिनके पंख अभी नहीं फूटे हैं, छोड़कर आकाश में उड़ने के लिए जाती है अथवा गौ अपने बच्चे के पास अपना वात्सल्यपूर्ण मन छोड़कर जंगल में चरने के लिए जाती है, उसी प्रकार तुम भी अपना प्रेम इसी स्वरूप पर सदा के लिए स्थिर रखो। हा बाहरी मन से, केवल स्नेह-सुख के लाभ के लिए, उस चतुर्भुज कृष्ण-मूर्ति का ध्यान करो; परन्तु फिर भी मैं बार-बार तुमसे यही कहता हूं कि मेरा एक उपदेश कभी मत भूलो। और वह उपदेश यह है कि तुम मेरे इस विश्वरूप से कभी अपनी श्रद्धा मत हटने दो। तुम्हें इस स्वरूप से केवल इसलिए भय हो रहा है कि इसे तुमने पहले कभी नहीं देखा था। परन्तु तुम वह भय छोड़कर इसी स्वरूप पर अपना सारा प्रेम स्थिर करो।'' इसके उपरान्त श्रीकृष्ण ने कहा--''अब तुम जैसा कहते हो, मै वैसा ही करता हूं। वह मेरा पहले वाला रूप अब तुम खुशी से मन भरकर देखो।''

संजय उवाच--

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

भगवान् ने इन शब्दों का उच्चारण करते ही फिर वही मानवी रूप धारण कर लिया। इसमें तो आश्चर्य की कुछ भी बात नहीं है, परन्तु अर्जुन के प्रति उनके मन में जो प्रेम था, वह अवश्य ही आश्चर्यजनक है। श्रीकृष्ण मानो नगद कैवल्य धाम थे और उनका जो सार-सर्वस्व विश्वरूप था, वह उन्होंने अर्जुन को स्पष्ट रूप से दिखला दिया था। परन्तु उनका वह रूप अर्जुन को कुछ अच्छा नहीं लगा था। जिस प्रकार लोग पहले तो किसी से कोई वस्तु मांगते हैं और तब उसे उपेक्षापूर्वक अलग रख देते हैं अथवा कोई रत्न देखकर उसमें कुछ दोष निकालते हैं, अथवा विवाह के लिए कन्या को देखने जाते हैं, तो उसे देखकर नाक-भौंह सिकोड़ते हैं, ठीक उसी तरह का आचरण उस समय अर्जुन ने किया था। श्रीकृष्ण ने तो अर्जुन के प्रति अपना इतना अधिक प्रेम दिखलाया था कि अपने उपदेश का सारांश विश्वरूप तक उसे दिखला दिया था। भला इससे अधिक वे अर्जुन के लिए और क्या कर सकते थे ! सोने का टुकड़ा

गलाकर उससे अपनी इच्छा के अनुसार गहना बनाया जाता है; और यदि वह गहना पसन्द न आवे तो फिर से गल डालने के सिवा और उपाय ही क्या है ? बस अपने शिष्य अर्जुन के लिए भगवान् को भी उस समय ऐसा ही करन पड़ा था। पहले उनका चतुर्भुज कृष्णरूप था और उससे उन्होंने अपना विश्वरूप बनाया था। परन्तु वह रूप शिष्य को पसन्द नहीं आया, इसलिए उन्हें अब फिर से वही कृष्णरूप धारण करना पड़ा था। अपने शिष्य का हठ इस सीमा तक मानने वाले गुरु भला और किस देश में मिलेंगे ? संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—"परन्तु यह पता नहीं चलता कि अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण के मन में जो इतना अधिक प्रेम था, वह किसलिए था ?" इसके उपरान्त जो दिव्य तेज सारी सृष्टि को व्याप्त करके उसके चारों ओर फैला हुआ था, वह सब अब उस कृष्णरूप में समाविष्ट हो गया। जिस प्रकार आत्मविचार करते समय 'त्वम्' (या तू) पद का तत् (या उस) पद में समावेश हो जाता है अथवा समस्त वृक्षस्वरूप का सूक्ष्म बीज मे अन्तर्भाव होता है अथवा स्वप्न की सब बातें जीव के जागने पर लुप्त हो जाती हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने अपने सगुण स्वरूप में इस विश्वरूप का योग एकत्र करके रख लिया। यह बात भी उसी प्रकार हुई थी, जिस प्रकार सूर्य की कान्ति सूर्य में अथवा मेघ-समूह आकाश में अथवा समुद्र की बाढ़ समुद्र में लीन हो जाती है। कृष्णमूर्ति के आकार में विश्वरूप वस्त्र की तरह लगी हुई रखी हुई थी; उसे श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रेम से प्रेरित होकर खोलकर अर्जुन को दिखला दिया। पर जब उन्होंने देखा कि उस वस्त्र की लम्बाई-चौड़ाई और रंग आदि अच्छी तरह देख लेने पर गाहक को वह वस्त्र पसन्द नहीं आया, तब उन्होंने उस वस्त्र की फिर पहले की ही तरह तह लगा ली। इस प्रकार जिस स्वरूप ने अपने असीम विस्तार के कारण सब कुछ व्याप्त कर रखा था, वह स्वरूप अब शान्त, मनोहर और बिलकुल सौम्य हो गया। तात्पर्य यह कि उन अनन्त भगवान् ने फिर वही अपना पुराना छोटा रूप धारण कर लिया और भयभीत अर्जुन का फिर से समाधान किया। जिस प्रकार स्वप्न की अवस्था में कोई मनुष्य एक बार स्वर्ग मे जाकर सुखी होता है, परन्तु अकस्मात् जाग उठने पर वह विस्मित होता है, ठीक उसी प्रकार की अवस्था इस समय अर्जुन की हुई थी। अथवा जिस प्रकार सद्गुरु की कृपा होने पर सब सांसारिक प्रपंचों का ज्ञान नष्ट हो जाता है और वास्तविक तत्त्व का ज्ञान होता है, ठीक उसी प्रकार की अवस्था श्रीकृष्ण की मूर्ति के दर्शनों से उस समय अर्जुन की हुई थी। उस समय पार्थ को ऐसा जान पड़ा कि मेरी आंखों के सामने विश्वरूप का जो परदा आ पड़ा था, वह अब हट गया, यह बहुत ही अच्छा हुआ। उस विश्वस्वरूप के उपरान्त जब अर्जुन ने फिर से श्रीकृष्ण का वही पुराना रूप देखा, तब तुरन्त ही उसे इस प्रकार का अपरम्पार आनन्द हुआ कि मानों वह काल से बाजी जीतकर आया हो अथवा मेघ और वायु को भी प्रतिद्वन्द्विता में पीछे छोड़ आया हो अथवा हाथ से पानी चीरता हुआ सातों समुद्र पार कर आया हो। जिस प्रकार सूर्य के अस्त होने पर आकाश में तारे दिखाई पड़ने लगते हैं, उसी प्रकार उसे पृथ्वी और उसमें के सब लोग दिखाई पड़ने लगे। जब उसने अपने चारों ओर देखा, तब उसे पहले वाला कुरुक्षेत्र दिखाई पड़ा। उसने अपने दोनों ओर अपने सब भाई-बन्धुओं को भी देखा। उस रणक्षेत्र में सब शूरवीर एक-दूसरे पर शस्त्रों और अस्त्रों की वर्षा कर रहे थे। उन वीरों के बाणों के मंडप के नीचे उसने अपना रथ भी पहले की तरह खड़ा हुआ देखा। उसने यह भी देखा कि श्रीकृष्ण तो रथ के जुए पर बैठे हैं और मैं नीचे जमीन पर खड़ा हूं।

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

वीर्यशाली अर्जुन ने श्रीकृष्ण से जिस बात की प्रार्थना की, उसके उसे इस प्रकार दर्शन हुए। उसने कहा—"अब मेरी जान-में-जान आई। नहीं तो अब तक बुद्धि का ज्ञान नष्ट हो गया था और चारों ओर भय का जंगल दिखाई पड़ता था। और अहंभाव के सहित मन दूर भाग गया था। इन्द्रियां बिलकुल स्तब्ध और निश्चल

हो गई थीं। वाचा भी निष्प्राण होकर गूंगी बन गई थी। मेरे शरीर की इस प्रकार की दुर्दशा हो गई थी। परन्तु अब वह सारी जीवनावस्था अपनी ठीक स्थिति में आ गई है और मानो फिर से मुझे जीवन प्राप्त हो गया है। इस कृष्णमूर्ति के दर्शन से फिर मुझमें प्राण आ गये हैं।" इस प्रकार अपने मन के समाधान के उद्गार निकालकर उसने श्रीकृष्ण से कहा–"हे देव, मैंने आपका यह मानवी रूप देखा। हे देवराज, आपने अपना यह रूप मुझे दिखलाकर मुझ पर उसी प्रकार उपकार किया है, जिस प्रकार माता अपने अपराधी बालक को हृदय से लगाकर उसे स्तनपान कराती है। मैं उस विश्वरूप के दर्शन के समुद्र में दोनों हाथों से लहरों के साथ लड़ रहा था, पर अब आपकी इस सगुण मूर्ति रूपी तट पर आ पहुंचा हूं। हे द्वारकानाथ श्रीकृष्ण, आपने मुझे यह दर्शन नहीं दिये हैं, बल्कि सूखे हुए वृक्ष पर मेघवृष्टि की है। मैं स्वाभाविक तृषा से छटपटा रहा था। ऐसे समय में आपका यह सगुण आकार मुझे अमृत के समुद्र के समान ही मिला है। अब मुझे इस बात का भरोसा हो रहा है कि मैं जीवित हूं। मेरे अन्तःकरण की भूमि पर आनन्द की बेल लहरा रही है और मुझे अत्यन्त सुख प्राप्त हो रहा है।"

श्रीभगवानुवाच–

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥५२॥

अर्जुन की ये बातें सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा–"हे अर्जुन, तुम यह कैसी बातें कर रहे हो ! तुम्हें इस विश्वरूप के प्रति प्रेमभाव रखना चाहिए, और तब मेरी इस सगुण मूर्ति की निःशंक होकर सेवा करनी चाहिए। मैंने अभी जो बातें तुमको बतलाई हैं, क्या वे सब बातें तुम भूल गये ! हे अन्धे अर्जुन, तुम्हारे हाथों में तो मेरु पर्वत आ गया था, परन्तु तुमने उसे भूल से बहुत छोटा या तुच्छ समझ लिया। परन्तु मैंने अभी तुम्हें जिस विश्वरूप के दर्शन कराये हैं, वह रूप शंकर को भी अपनी सारी तपस्या के बल से प्राप्त नहीं हो सकता। योग के आठों अंगों के साधन का कष्ट करने वाले योगियों को भी जिस विश्वरूप के दर्शन नहीं हो सकते, उसके सम्बन्ध में देवताओं का समय भी इस बात की चिन्ता करते-करते बीत जाता है कि किसी प्रकार उस विश्वरूप का हमें भी थोड़ा-सा दर्शन प्राप्त हो जाय। जिस प्रकार आशा के हाथ अपने हृदय रूपी मस्तक पर जोड़कर (अर्थात् बहुत अधिक प्रार्थनापूर्वक और आशा रखकर) चातक मेघ की प्रतीक्षा में आकाश की ओर एकटक देखता है, उसी प्रकार सभी बडे-बड़े देवता जिस विश्वरूप के दर्शनों के लिए आठों पहर चिन्ता करते रहते हैं, परन्तु फिर भी जिसके उन्हें स्वप्न मे भी दर्शन नहीं होते वही विश्वरूप आज तुमने बहुत सहज में प्रत्यक्ष देख लिया है।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥५३॥

"हे अर्जुन, ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे इस विश्वरूप के समीप तक पहुंचने का मार्ग प्राप्त हो सकता हो। वेद भी और छहों शास्त्र भी इस विषय में हार गये हैं। हे अर्जुन, वड़े-बड़े तपों के द्वारा भी कोई मेरे विश्वरूप के मार्ग पर नहीं पहुंच सकता और दान आदि पुण्यकर्मों के द्वारा भी इस मार्ग तक पहुंचना बहुत ही कठिन है। तुम्हें मेरा इस समय जो ज्ञान हुआ है, वह यज्ञ-विधानों से भी किसी को सहज में नहीं हो सकता। जिस प्रकार आज मे तुमको प्राप्त हुआ हूं, उस प्रकार प्राप्त होने का एक ही मार्ग है। अब तुम यह सुनो कि वह मार्ग कौन-सा है। जब अन्तःकरण प्रेमपूर्ण भक्ति के अधीन होता है, तभी मैं इस प्रकार साध्य होता हूं।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥५४॥

"परन्तु यह भी सुन रखो कि वह भक्ति कैसी होनी चाहिए। जिस प्रकार वर्षा की छूटी हुई धारा पृथ्वी के

सिवा और कहीं जा ही नहीं सकती अथवा जिस प्रकार सारा पानी अपने साथ लेकर नदी समुद्र को ही ढूंढ़ती हुई आगे बढ़ती जाती है और रास्ते में बिना कहीं रुके सीधे समुद्र में ही जाकर मिलती है, उसी प्रकार भक्त को उचित है कि वह अपनी समस्त भावनाओं को एकत्र करके प्रेम के परिपूर्ण होकर मेरी ओर बढ़े, और मुझमें मिलकर मेरे साथ समरस हो जाय—मेरे साथ मिलकर एक हो जाय। और भक्त को जिस 'मैं' वाले स्वरूप में मिलकर एक हो जाना चाहिए, वह 'मैं' उसी प्रकार का हूं जिस प्रकार क्षीर सागर के तट पर भी क्षीर ही होता है और मध्य मे भी क्षीर ही होता है। सच्ची भक्ति वही है जिसमें मनुष्य छोटी-सी च्युंटी को भी 'मैं' ही समझे और समस्त स्थावर-जगम को भी मुझसे भिन्न न माने। बस इसके सिवा और किसी प्रकार की भक्ति सच्ची नहीं है। जिस समय इस प्रकार की ऐक्यवाली अवस्था प्राप्त होगी, उसी समय मेरे स्वरूप का ठीक-ठीक ज्ञान हो जायगा। और ज्यों ही किसी को स्वरूपज्ञान होगा, त्यों ही उसे स्वाभाविक रूप से मेरे दर्शन भी हो जायंगे। फिर जिस प्रकार लकड़ी में आग भडक उठती है और लकड़ी का कहीं नाम भी नहीं रह जाता, क्योंकि वह अग्नि का ही रूप हो जाती है, अथवा जब तक प्रकाश का आविर्भाव नहीं होता, तब तक सारा आकाश अन्धकारमय बना रहता है; परन्तु जब एक बार सूर्योदय हो जाता है, तब तुरन्त ही चारों ओर प्रकाश हो जाता है, उसी प्रकार मेरे स्वरूप का साक्षात्कार होते ही अहकार का अन्त हो जाता है और अहंकार का अन्त होते ही द्वैतभाव भी आपसे आप मिट जाता है। तब फिर ''मैं'' ओर 'वह' दोनों स्वभावतः मिलकर एक 'मैं' ही हो जाते हैं और वह भक्त मुझमें मिलकर एकरूप हो जाता है।

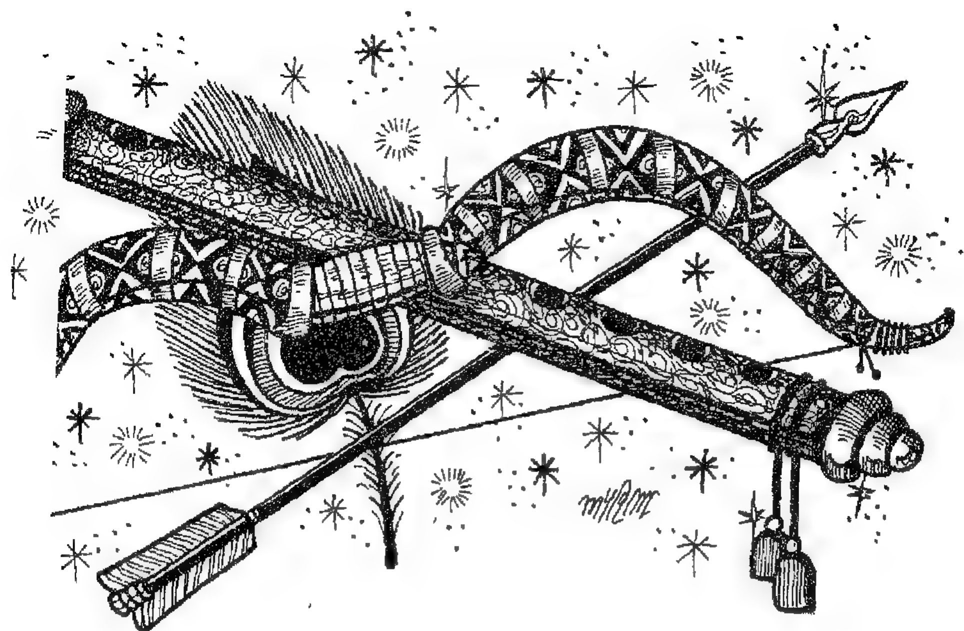
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

''जो केवल मेरे प्रीत्यर्थ ही समस्त कर्मो का आचरण करता है, जिसे संसार में मेरे सिवा और कुछ भी अच्छा नहीं लगता और जिसके लिए इहलोक और परलोक दोनों मैं ही हूं और जिसके जीवन को सार्थक करने वाला मै ही हूं, जो 'भूत' शब्द को ही बिलकुल भूल जाता है—क्योंकि उसकी दृष्टि में सब जगह मैं ही समाया हुआ जान पड़ता हू—और इस प्रकार जो अपने मन में वैरभाव को कुछ भी स्थान न देकर सबको सम बुद्धि से देखता है, उस भक्त का जब यह कफपित्त-वातात्मक त्रिधातुक जड़ शरीर नष्ट होता है, उस समय, हे अर्जुन, वह भक्त मेरे स्वरूप के साथ मिलकर एक हो जाता है।''

इतना कहकर संजय ने राजा धृतराष्ट्र से कहा—''जिसका उदर इतना बड़ा है, जिसमें सारा ब्रह्मांड समा जाय और जो दया के रस से भरे हुए हैं, उन श्रीकृष्णदेव ने अर्जुन से ये सब बातें कहीं। इसके उपरान्त उस अर्जुन को बहुत अधिक आनन्द हुआ। श्रीकृष्ण की सच्ची भक्ति करने की योग्यता इस संसार में केवल उस अर्जुन में ही है। उसने भगवान् की दोनों ही मूर्तियां बहुत अच्छी तरह देखी थीं और उसे विश्वरूप की अपेक्षा कृष्णमूर्ति अधिक प्रिय लगी थी। परन्तु देव ने उसके इस प्रेम या पसन्द का आदर नहीं किया, क्योंकि विश्वरूप तो व्यापक है और कृष्णमूर्ति एकदेशीय अर्थात् दिक् और काल आदि से मर्यादित है, इसे सिद्ध करने के लिए श्रीकृष्ण ने एक-दो अच्छे-अच्छे उदाहरण देकर इस विषय का निरूपण किया था। वह स्पष्टीकरण सुनकर सुभद्रा-पति अर्जुन अपने मन में कहने लगा कि अब मैं यह बात फिर पूछूगा कि इन दोनों स्वरूपों में से वास्तव में अधिक उत्तम स्वरूप कौन-सा है।'' इस प्रकार अपने मन में यह संकल्प करके उसने यह बात कैसी युक्ति से पूछी, यह कथा श्रोता लोग अगले अध्याय में सुनें। सीधे-सादे छन्दों में मैं यह कथा बहुत प्रेम से कहूगा और इस ज्ञानदेव की यह प्रार्थना है कि श्रोता लोग वह कथा आनन्द से सुनें। प्रेम की अंजलि में मैं इन पंक्तियों के फूल लेकर प्रभु के विश्वरूप के दोनों चरणों पर अर्पण करता हूं।



बारहवा अध्याय



भक्तियोग

द्दृष्टि, तू शुद्ध, सुप्रसिद्ध उदार और अखंड आनन्द की वर्षा करने वाली है। मैं तुझे नमस्कार
। सर्प के दंशन करने पर अवयव अकड़ने न लगें और विष का वेग उतर जाय, यह प्रताप तेरा
साद रस की लहरें उठने लगें और उसकी बाढ़ आने लगे तो फिर सन्ताप किसे सन्तप्त कर
ः किसे जला सकता है ! हे गुरु की कृपादृष्टि, तू अत्यन्त प्रेमपूर्ण होने के कारण अपने सेवकों
मना पूरी करती है और उनके आत्मसाक्षात्कार के हौसले भी पूरे करती है। मूलाधार चक्र-रूपी
उन शिष्य बालकों को लेकर तू प्रेमपूर्वक उनका संगोपन करती है और हृदयाकाश रूपी पालने
मज्ञान के झोंके देती है। तू जीवात्म वाले भावों को उन पर से निछावर करके मन और प्राणवायु
ए देती है और उनके अंगों पर आत्मानन्द के आभूषण चढ़ाती है। सत्रहवीं पूर्णामृत कला का
ती है, उनके मनोविनोद के लिए तू अनाहत नामक नादघोष के गीत गाती है और उन्हें
त्त करके सुलाती है। इसलिए समस्त साधकजनों का संगोपन करने वाली माता तू ही है। तेरे
व-कला उत्पन्न होती है, इसलिए मैं तेरी शीतल छाया कभी न छोड़ूंगा। हे सद्गुरु की कृपादृष्टि,
प्राप्त होता है, वह समस्त विद्याओं की निष्पत्ति करने के कामों में ब्रह्मा ही होता है। इसलिए
ृष्टि, तू वैभवशाली है और अपने सेवकों की कामना पूर्ण करने वाली कल्पलता है। तो भी तू
पण करने की आज्ञा दे। हे माता, तू मेरे द्वारा इस निरूपण में नौ रसों का सागर भरवा दे, उत्तम
यार होने दे और भगवन्त के सच्चे अर्थ का पर्वत उठने दे। इस देशी भाषा के प्रदेश में वाड्मय
बुलने दे और चारों ओर विवेक रूपी लताएं लगने दे। ऐसे महासिद्धान्त रूपी वृक्षों का घना और

भरा हुआ बगीचा रचन दे जिनमें एक-वाक्य रूपी फलों की समृद्धि हो। नास्तिकों की गुफाओं, वितंडावादियों के टेढ़े-मेढ़े रास्तों और तर्क करने वालों के हिंसक श्वापदों का पूरी तरह से नाश होने दे। तू मुझे ऐसी सामर्थ्य प्रदान कर जिसमें मैं श्रीकृष्ण के गुणों का ठीक-ठीक वर्णन कर सकूं और श्रोताओं को भी श्रवण के आनन्द का साम्राज्य प्राप्त होने दे। इस देशी भाषा के नगर में ब्रह्मविद्या की भरमार करके लोगों को इस विद्यानन्द का मनमाना लेन-देन करने दे। हे सद्गुरु की कृपादृष्टि, यदि तू मुझ पर अपने प्रेमपूर्ण आंचल की छाया करेगी और मेरे भाग्य में वह छाया प्राप्त करना बदा होगा, तो हे माता, यह सब कुछ मैं तत्काल ही निर्माण कर सकूंगा। दास की यह प्रार्थना सुनकर गुरु ने उसकी ओर प्रसन्न दृष्टि से देखा और कहा—"अब गीता के अर्थ का निरूपण आरम्भ करो, प्रस्तावना का अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नहीं।" इस पर शिष्य को स्वभावतः बहुत अधिक आनन्द हुआ और उसने कहा—"हे स्वामी, ठीक है, यह आपका महाप्रसाद ही है।" और तब उसने श्रोताओं से कहा—"अब मैं ग्रन्थ का निरूपण करता हूं। आप लोग इधर ध्यान दें।"

अर्जुन उवाच—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

फिर समस्त वीरों में श्रेष्ठ और सोम वंश की विजय-पताका पांडु-नन्दन अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा—"हे देव, आपने मेरी बात सुन ली न ? आपने मुझे जो विश्वरूप दिखलाया था, वह बहुत ही अद्भुत था, इसलिए मेरा मन बहुत घबरा गया था। और इस सुन्दर कृष्णमूर्ति से मैं सदा परिचित था, इसलिए मेरा जी यही चाहता था कि मैं इसी का आधार ग्रहण करूं। परन्तु आपने यह कहकर निषेध कर दिया कि ऐसा मत करो। परन्तु व्यक्त और अव्यक्त (अर्थात् सगुण और निर्गुण) दोनों आपके ही स्वरूप हैं। भक्ति से सगुण रूप का साधन होता है और योग से निर्गुण रूप का। हे वैकुण्ठाधिपति, ये दोनों ही मार्ग आपके पास तक पहुंचाने वाले हैं। सगुण और निर्गुण इन मार्गों के प्रवेश-द्वार हैं। कसौटी पर सौ भर सोने के पासे को कसने से जो कस आता है, वही कस उसमें से निकाले हुए रत्ती भर सोने का भी आता है। इसलिए एकदेशीय सगुण और सर्वव्यापक निर्गुण दोनों की योग्यता समान ही है। अमृत के सागर में जो सामर्थ्य देखने में आती है, वह सामर्थ्य अमृत की लहर के एक बुल्लू में भी होती है। हे महाराज, इस प्रकार का निश्चित ज्ञान अब मुझे हो गया है। परन्तु हे योगेश्वर देव, मैंने जो यह प्रश्न किया है, वह केवल इसीलिए कि आपने अभी थोड़ी देर के लिए जो विश्वव्यापक स्वरूप धारण किया था, उसके सम्बन्ध में मेरी यह समझने की इच्छा है कि वह स्वरूप वास्तविक था या केवल बनावटी। परन्तु एक तो वे भक्तियोगी होते हैं, जो सब काम केवल आपके प्रीत्यर्थ करते हैं, केवल आपको ही सर्वश्रेष्ठ समझते हैं, अपना समस्त मनोधर्म आपकी भक्ति से अंकित कर लेते हैं और सब प्रकार से आपको अपने हृदय में रखकर आपकी उपासना करते हैं। और दूसरे वे ज्ञानयोगी होते हैं, जो आत्मैक्य भाव से उस वस्तु की उपासना करते हैं जो ओंकार से भी परे है, जो स्पष्ट वाणी के लिए अलभ्य है, जिसकी किसी के साथ उपमा नहीं दी जा सकती और जो अविनाशी, निर्गुण, अवर्णनीय और स्थलहीन है। अतः हे अनन्त प्रभो, आप कृपाकर यह बतलावें कि उन भक्तियोगियों और इन ज्ञानयोगियों में से वास्तविक ज्ञान किसको होता है।" अर्जुन की यह बात सुनकर भगवान् को सन्तोष हुआ और उन्होंने कहा—"हे अर्जुन, तुम सचमुच यह बात बहुत अच्छी तरह जानते हो कि प्रश्न किस प्रकार करना चाहिए।

श्रीभगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

अच्छा सुना। पश्चिम की ओर अस्ताचल के पास पहुंच जाने पर और सूर्य के आड़ में हो जाने पर भी जिस प्रकार उस अदृश्य बिम्ब के पीछे भी सूर्य की किरणें संचार करती रहती हैं, अथवा हे पार्थ, जिस प्रकार वर्षा ऋतु के आने पर नदियों का जल बढ़ने लगता है, उसी प्रकार जब मनुष्य उपासना करता रहता है, तब उसकी श्रद्धा भी दिन-पर-दिन बढ़ती जाती है। परन्तु नदी जब समुद्र के पास पहुंच जाती है, तब भी उसके पीछे वाले प्रवाह का जोर बराबर ज्यों-का-त्यों बना रहता है। बस यही नदी के प्रवाह वाली सारी बात प्रेमभाव के सम्बन्ध में भी है। इसी प्रकार जो लोग अपनी समस्त इन्द्रियों समेत अपना मनोभाव मुझमें अर्पण करके रात और दिन, समय और असमय का कुछ भी विचार किये बिना, सदा मेरी उपासना करते हैं और इस प्रकार जो भक्त अपना सर्वस्व वहन करते हैं, उन्हीं को मैं परम योगमुक्त या श्रेष्ठ योगी समझता हूं।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

"हे अर्जुन, जो और दूसरे लोग आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करते हैं, वे निर्गुण अविनाशी तत्त्व को देखते हैं। जिसके पास तक मन पहुंच ही नहीं सकता और जिसमें बुद्धि की किरण का प्रवेश भी नहीं हो सकता, उसका साधन भला इन्द्रियों से कैसे हो सकता है ? केवल यही नहीं, वह तो ध्यान को भी प्राप्त नहीं होता और इसीलिए वह किसी एक स्थान पर प्राप्त नहीं हो सकता और न किसी आकार में ही हो सकता है। जो सभी स्थानों पर, सभी भावों से और सभी कालों में रहता है, परन्तु जिसकी कल्पना करते-करते चिन्तनशक्ति भी चिन्तित होने लगती है, जिसके सम्बन्ध में न तो यही कहा जा सकता है कि वह होता है और न यही कहा जा सकता है कि वह नहीं होता, जिसके सम्बन्ध में न तो यही कहा जा सकता है कि वह है और न यही कहा जा सकता है कि वह नहीं है और इसीलिए जिसकी साधना करने में कोई उपाय नहीं चलता, जो न तो चलता ही है और न हिलता ही है, जो न तो कभी समाप्त ही होता है और न कभी दूषित ही होता है, उसे जो लोग स्वयं अपनी सामर्थ्य से प्राप्त कर लेते हैं, जो वैराग्य की प्रखर अग्नि में विषय-समूह को जला देते हैं और इन्द्रियों को तपी हुई स्थिति में बड़े धैर्य से नियन्त्रित रखते हैं और फिर इन्द्रिय-संयम के बल पर जो लोग अपनी इन्द्रियों को मोड़कर अपने हृदय की गुफा में बन्द कर रखते हैं, अपना द्वार अच्छी तरह बन्द करके और अच्छी तरह आसन-मुद्रा का साधन करके मूलबन्ध का बुर्ज बांध लेते हैं, जो आशा से सब प्रकार का सम्बन्ध तोड़ लेते हैं, सब प्रकार के भय का नाश कर डालते हैं और अज्ञान-निद्रा की कालिमा अच्छी तरह दूर करके उसका नाश कर डालते हैं, जो वज्रायन की अर्थात् मूलबन्ध की अग्नि की ज्वालाओं से शरीर में रहने वाली सातों धातुएं जलाकर रोगों के मस्तक पर षट्चक्र की तोपें चलाते हैं और स्फुरित होने वाली कुंडलिनी की तेजस्वी दीअट आधारचक्र पर रखकर उसकी प्रभा से मस्तक तक अपना सारा शरीर देदीप्यमान कर लेते हैं और तब इन्द्रियों के नौ द्वारों पर निग्रह की कील लगाकर केवल सुषुम्ना नाड़ी की खिड़की खुली रखते हैं, प्राणवायु की शक्ति रूपी चामुण्डा के लिए संकल्प रूपी मेढ़े काटकर मन रूपी महिषासुर के मुण्ड का बलिदान करते हैं, जो चन्द्रमा और सूर्य अर्थात् इड़ा और पिंगला नाड़ियों का एकीकरण करके नाद घोष की सहायता से सत्रहवीं पूर्णामृत कला का जल शीघ्रतापूर्वक अपने अधिकार में कर लेते हैं और तब मध्यमा अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी के विवर रूपी मार्ग से चलकर अन्तिम ब्रह्मरन्ध्र तक जा पहुंचते हैं, केवल इतना ही नहीं, बल्कि जो मकार अर्थात् सुषुम्ना के विवर की सीढ़ियां चढ़कर और महदाकाश को बगल में दबाकर ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं और इस प्रकार समबुद्धि होकर जो लोग तत्काल ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त करने के लिए योग का बीहड़ मार्ग अपने अधिकार में कर लेते हैं और जो अपने मनोभाव के

बदले में निर्गुण निराकार शून्य स्वरूप ब्रह्म को चटपट प्राप्त कर लेते हैं, हे अर्जुन, वही लोग आकर मुझमें मिलते है। यह बात नहीं है कि उन लोगों को योग बल से इसके सिवा कुछ और अधिक प्राप्त होता हो। हां, यदि कुछ अधिक मिलता है तो वह केवल कष्ट ही मिलता है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥५॥

"जो लोग बिना भक्ति के ही उस निराधार तथा अव्यक्त तत्त्व की साधना करना चाहते हैं, जो समस्त भूतों का कल्याण करने वाला है, उसके मार्ग में महेन्द्र आदि पदों की वासनाएं बाधक होती हैं और ऋद्धि-सिद्धि भी उनके काम में विघ्न उपस्थित करती हैं। उनके मार्ग में काम-क्रोध के उपद्रव बहुत होते हैं और इन सब बातों के साथ-साथ उन्हें शून्य ब्रह्म के बल पर लड़ना पड़ता है। उन्हें प्यास से ही प्यास बुझानी पड़ती है और भूख से ही भूख को मारना पड़ता है और दिन-रात हाथों से हवा करनी पड़ती है। उन्हें दिन में जागने की अवस्था में ही सोना पड़ता है, इन्द्रिय-निग्रह का सुख भोगना पड़ता है और वृक्षों के साथ सख्यभाव रखना पड़ता है। उन्हें शीत और उष्णता को ही अपने वस्त्र और ओढ़ना-बिछौना बनाना पड़ता है और वर्षा की झड़ियों में ही अपना निवास-स्थान रखना पड़ता है। हे अर्जुन, तात्पर्य यह कि यह योग वैसा ही है, जैसा किसी स्त्री का उस अवस्था में सती बनकर चिता पर बैठना, जिस अवस्था में उसका कोई पति हो ही नहीं। इस योगमार्ग में न तो किसी स्वामी का कोई कार्य करना पड़ता है और न किसी प्रकार के कुलाचार का ही पालन करना पड़ता है। परन्तु हां, मृत्यु के साथ निरन्तर युद्ध करना पड़ता है। इस प्रकार यह मरण से भी तीव्र विष किसी प्रकार पिया जाय! यदि कोई पर्वत को निगलने के लिए अपना मुंह फैलावे तो क्या उसका मुंह फट न जायगा! इसीलिए जो लोग इस योग के मार्ग पर चलते हैं, उनके भाग्य में दुःख का बहुत अधिक अंश रखा रहता है। हे अर्जुन, देखो, जिसके दांत झड़ गये हों और मुंह पोपला हो गया हो, यदि उसे लोहे के चने चबाने पड़ें, तो तुम्हीं बतलाओ कि उसका पेट भरेगा या प्राण जायंगे! क्या केवल बांहों के बल से तैरकर कभी समुद्र पार किया जा सकता है! आकाश में कभी कोई पैरों के बल चल सकता है! रणक्षेत्र में कूद पड़ने के उपरान्त क्या कभी सम्भव है कि शरीर पर लकड़ी का एक भी वार सहे बिना कोई सूर्यलोक की सीढ़ी पर चढ़ सके! इसलिए हे अर्जुन, जिस प्रकार किसी पंगुल के लिए वायु के साथ प्रतिस्पर्धा करना उचित नहीं है, उसी प्रकार निर्गुण की उपासना के लिए शरीरधारियों का प्रयत्न करना उचित नहीं है। लेकिन फिर भी जो लोग इतनी धृष्टता और दुस्साहस करके शून्य को प्राप्त करने के लिए उद्यत होते हैं, उन्हें बहुत अधिक क्लेश सहन करने पड़ते हैं। परन्तु हे अर्जुन, जो योगी भक्तिमार्ग का अवलम्बन करते हैं, उन्हें इन सब दुःखों का कभी अनुभव नहीं करना पड़ता।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥६॥

"अपने वर्ण-भेद के अनुसार जो कर्म अपने हिस्से में आते हैं, वे सब कर्म जो लोग अपनी कर्मेन्द्रियों के द्वारा सुखपूर्वक करते हैं, सब शास्त्रोक्त कर्म करते रहते हैं और निषिद्ध कर्म छोड़ देते हैं और सब प्रकार के कर्म मुझे अर्पण करके उनके बन्धक गुणों का नाश कर डालते हैं और इस प्रकार, हे अर्जुन, समस्त कर्मो की मुझमें समाप्ति करके उनका नाश कर देते हैं और शरीर, वाचा तथा मन की जो और प्रवृत्तियां हैं, उन्हें भी जो मेरे सिवा और कहीं नहीं जाने देते और इस प्रकार जो मेरी अखंड उपासना करते हैं, जो ध्यान के निमित्त मेरे निरन्तर निवास-स्थान बन गये हैं, जो अपने प्रेमपूर्ण गुण से केवल मेरे साथ व्यवहार रखते हैं और विषय-भोग तथा मोक्षपद दोनों के ही दुर्बल तथा दरिद्र कुल छोड़ देते हैं, और इस प्रकार एकनिष्ठ भक्तियोग से जो अपने समस्त मनोभाव, अन्तःकरण और शरीर

केवल मेरे अधीन कर देते हैं, उनका मैं कहां तक वर्णन करूं ! उनकी समस्त कामनाएं मुझे पूरी करनी पड़ती हैं।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

"हे अर्जुन, तुम संक्षेप में यही समझ लो कि जो माता के पेट में आता है, वह माता को कितना अधिक प्रिय होता है ! इसी प्रकार वे भक्त भी चाहे जैसे हों, मुझे प्रिय होते हैं। कलिकाल की सब विघ्न-बाधाओं को उनसे दूर रखकर उनकी रक्षा करने का मानों मैंने पट्टा ही लिखा लिया है। और यदि ऐसा न हो, तो भी एक ओर तो मेरी भक्ति और दूसरी ओर संसार की चिन्ता, यह कैसी विलक्षण और असम्बद्ध कल्पना है ! क्या किसी सम्पन्न व्यक्ति की प्रिय स्त्री भी कभी रूखे-सूखे अन्न के लिए किसी से भिक्षा मांग सकती है ! इसी प्रकार मेरा भक्त भी मेरा प्रेमपात्र होता है। फिर भला क्या उसकी लज्जा मुझे न होगी ! जन्म और मृत्यु की लहरें सारी सृष्टि पर पड़ती हैं। यह देखकर मेरे मन में यह बात आई कि कौन ऐसा है जो इस संसार-सागर की लहरों से दुःखी न होता हो ! ऐसी अवस्था में सम्भव है कि मेरे भक्त भी डर जाते हों। इसीलिए, हे अर्जुन, मैं राम और कृष्ण आदि के रूपों में सगुण मूर्ति धारण करके उनके पास दौड़ा आता हूं। मेरे राम और कृष्ण आदि हजारों नामों को तुम हजारों नौकाएं ही समझो। इन नौकाओं को इस संसार-सागर में सजाकर मैं अपने उन भक्तों का तारक बन गया हूं। फिर मेरे जो भक्त संगहीन और सबसे अलग रहने वाले थे, उनके लिए मैंने अपने ध्यान का आधार प्रस्तुत किया और जो संसारी या गृहस्थ थे, उन्हें मैंने इन नौकाओं पर बैठाया। कुछ भक्तों के पेट के नीचे प्रेम की पेटी बांधी। और इस प्रकार अपने समस्त भक्तों को मैंने आत्मैक्य के तट पर ला लगाया। केवल इतना ही नहीं, जिन-जिन लोगों ने मेरी भक्ति की, उन सबको, फिर चाहे वे चतुष्पद और पशु ही क्यों न रहे हों, मैंने अपना भक्त मानकर उन्हें वैकुण्ठ के साम्राज्य का स्वामी बनाया। इसीलिए मेरे भक्तों को किसी प्रकार की चिन्ता कष्ट नहीं पहुंचाती और मैं उन्हें तारने के लिए सदा उद्यत रहता हूं। ज्यों ही भक्त लोग अपनी चित्त-वृत्ति मुझे अर्पित करते हैं, त्यों ही वे मानों अपने प्रपंच रूपी खेलों में मुझे भी अपना साथी बनाकर सम्मिलित कर लेते हैं। इसीलिए, हे अर्जुन, तुम निरन्तर इस मन्त्र का पाठ किया करो कि जिस समय जीव इस अनन्य भक्ति का मार्ग ग्रहण करता है, उसी समय वह श्रेष्ठ भक्त हो जाता है।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

"बुद्धि से निश्चय करके मन की समस्त वृत्तियां मेरे स्वरूप में स्थिर करो। हे अर्जुन, यदि बुद्धि और मन दोनों प्रेमपूर्वक पूर्ण रूप से मुझमें रमण करने लगें, तब तुम आकर मुझमें मिल जाओगे। क्योंकि यदि मन और बुद्धि दोनों मेरे स्वरूप में स्थिर होकर विहार करने लगें तो फिर भला 'मैं' और 'तुम' का भेद ही कहां बाकी रह जायगा ! जिस प्रकार आंचल से हवा करने पर दीपक बुझ जाता है और उसका तेज नष्ट हो जाता है अथवा सूर्य-बिम्ब के अस्त हो जाने पर उसका प्रकाश नहीं रह जाता अथवा जब जीव ऊपर की ओर चलने लगता है, तब उसकी इन्द्रियां भी शरीर को छोड़ देती हैं, उसी प्रकार मन और बुद्धि के साथ अहंकार भी आपसे आप मेरी ही ओर आने लगता है। इसलिए तुम अपने मन और बुद्धि को मेरे स्वरूप में प्रविष्ट करके उन्हें वहीं स्थिर करो और तब इस कृत्य की सहायता से तुम मेरा सर्वव्यापक स्वरूप प्राप्त करोगे। मैं स्वयं अपनी शपथ खाकर तुमसे कहता हूं कि इस सिद्धान्त में कोई अपवाद नहीं है।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥९॥

"यदि मन और बुद्धि समेत तुम अपना चित्त पूर्ण रूप से मेरे अधीन कर सकते हो तो तुम ऐसा करो कि दिन

और रात के आठ पहरों में से कम से कम एक अल्प क्षण भर के लिए ही मन और बुद्धि के सहित अपना चित्त मुझे अर्पण करते चलो। फिर जिन क्षणों में मेरा सुख भोगने को मिल सके, कम-से-कम उन क्षणों में तुम्हारे मन में विषयों की ओर से विराग उत्पन्न होगा। और तब जिस प्रकार शरत्-काल आने पर नदी धीरे-धीरे उतरने लगती है, उसी प्रकार तुम्हारा चित्त भी धीरे-धीरे प्रपंचों के वेग से बाहर निकलने लगेगा। फिर ऐसा होने पर जिस प्रकार पूर्णिमा से चन्द्रमा का बिम्ब दिन-पर-दिन घटता-घटता अन्त में अमावस्या के दिन आकर बिलकुल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार विषय-भोगों से बाहर निकलते-निकलते और मेरे स्वरूप में प्रवेश करते-करते, हे अर्जुन, तुम्हारा चित्त धीरे-धीरे मेरे ही स्वरूप के समान हो जायगा। जिसे अभ्यास-योग कहते हैं, वह यही है। और इस संसार में कोई बात ऐसी नहीं है जो इस अभ्यास-योग से न सध सकती हो ! इस अभ्यास के कारण ही कुछ लोग हवा में चलने लगते हैं, कुछ लोग बाघों और साँपों को अपने वश में कर लेते हैं, कुछ लोग विष पचा जाते हैं और कुछ लोग समुद्र पर पैरों से चलने लगते हैं। इसी अभ्यास के बल से कुछ लोग वेद-विद्या में पारंगत हो गये हैं। इसलिए ऐसी कोई बात नहीं है जो अभ्यास के साधन के लिए दुर्लभ हो। इसलिए तुम अभ्यास-योग से ही मेरी प्राप्ति कर लो।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

"अथवा यदि इस प्रकार का अभ्यास करने की सामर्थ्य भी तुममें न हो तो फिर तुम जिस स्थल पर और जिस प्रकार हो, उसी स्थल पर और उसी प्रकार रहो। इन्द्रियों को मत रोको, भोगों को मत छोड़ो और अपनी जाति का अभिमान भी मत छोड़ो। कुलाचार का पालन करते चलो और विधि-निषेध का ध्यान रखो। इस प्रकार का आचरण करने की तुम्हें खुली आज्ञा दे दी जाती है। परन्तु मन से, वाचा से और काया से जो-जो कर्म हों, उनके सम्बन्ध में तुम कभी यह मत कहो कि ये कर्म मैंने किये हैं। करना और न करना तो एकमात्र विश्वचालक परमात्मा ही जानता है। तुम अपने मन में कभी इस बात का विचार मत करो कि यह कर्म न्यून है और यह कर्म पूर्ण है और अपने मनोभाव स्वयं अपनी आत्मा के साथ एकरूप करके अपने जीवन के सब काम करो। माली जिस तरफ पानी ले जाता है, वह चुपचाप उसी तरफ चला जाता है। उसी प्रकार तुम भी अपने कर्तृत्व का अभिमान छोड़कर शान्त रहो। तात्पर्य यह कि प्रवृत्ति और निवृत्ति का बोझ अपने चित्त पर मत लादो। अपनी चित्तवृत्ति निरन्तर मुझमें ही स्थिर रखो। हे अर्जुन, जरा तुम्हीं इस बात को सोचो कि क्या रथ कभी इस बात का विचार करता है कि यह मार्ग सीधा-सादा है और यह मार्ग टेढ़ा-तिरछा है ! इस प्रकार अपने आपको अलग रखते हुए जो-जो कर्म होते चलें, उनके सम्बन्ध में न तो कभी यह कहो कि ये न्यून हैं और न यह कहो कि ये अधिक हैं और शान्तिपूर्वक वे सब कर्म मुझे अर्पित करते चलो। हे अर्जुन, यदि तुम्हारी भावना इस प्रकार की हो जायगी तो शरीरपात होने पर तुम मोक्ष प्राप्त कर लोगे।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

"और हे अर्जुन, यदि यह कर्म-समर्पण भी तुम्हारे किये न हो सके तो तुम मेरी भक्ति करो। यदि कर्म के आरम्भ और अन्त में अपनी सारी बुद्धि से मुझे स्मरण करना तुम्हें कठिन जान पड़ता हो, तो उसे भी रहने दो। यदि मेरा ध्यान एक ओर रख दिया जाय तो भी काम चल सकता है; परन्तु इन्द्रिय-निग्रह के सम्बन्ध में तुम्हारी बुद्धि अवश्य जाग्रत रहनी चाहिए। और तब जिस समय तुम्हारे द्वारा जो कर्म हों, उसी समय तुम उन सब कर्मों के फलों का त्याग करते चलो। जिस प्रकार वृक्ष अथवा बेलें अपने फलों को अन्त में नीचे गिरा देती हैं, उसी प्रकार जो-जो कर्म सिद्ध होते चलें उन सबका तुम त्याग करते चलो—उन्हें अपने से दूर और अलग करते चलो। केवल इतना ही नहीं, ये कर्म करते समय मेरा स्मरण करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है और उन्हें मेरे प्रीत्यर्थ अर्पित करने की भी कोई आवश्यकता

नहीं है। तुम आनन्द से उन कर्मों को उनके फलों सहित शून्य में विलीन हो जाने दो। जिस प्रकार पत्थर पर बरसा हुआ जल अथवा अग्नि में बोये हुए बीज निष्फल होते हैं, उसी प्रकार तुम अपने समस्त कर्मों को भी स्वप्नवत् निष्फल समझो। जिस प्रकार कोई अपनी कन्या के सम्बन्धन अपने मन में विषय-वासना नहीं रखता, ठीक उसी प्रकार तुम्हें भी अपने समस्त कर्मों के सम्बन्ध में सदा निष्काम रहना चाहिए। जिस प्रकार अग्नि की ज्वाला आकाश में पहुंचकर नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार तुम भी अपने समस्त कर्मों को शून्य में विलीन हो जाने दो। हे अर्जुन, यद्यपि कर्मफलों का यह त्याग देखने में सुगम जान पड़ता है, तो भी यह समस्त योगों में सबसे अधिक श्रेष्ठ योग है। इस फल-त्याग से जिन कर्मों का नाश होता है, वे कर्म कभी बढ़ते नहीं—उनमें कभी दूसरे कर्म उत्पन्न नहीं होते। जब बांस में एक बार बीज आ जाते हैं, तब वे बांस वन्ध्या हो जाते हैं और वहीं से उनका अन्त हो जाता है। ठीक इसी प्रकार फल-त्याग के द्वारा जब वर्तमान शरीर का नाश होता है, तब मनुष्य को फिर कभी शरीर नहीं धारण करना पड़ता। केवल यही नहीं, जन्म और मरण का चक्र ही सदा के लिए बन्द हो जाता है। हे अर्जुन, अभ्यास की सीढ़ियां चढ़कर ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और ज्ञान की साधना हो जाने पर ध्यान की प्राप्त की जा सकती है। फिर जब ध्यान से सारी वृत्तियां रंग जाती हैं, तब समस्त कर्म-समूह मनुष्य से अलग हो जाते हैं। इस प्रकार कर्मों के दूर हो जाने पर आपसे आप फल-त्याग हो जाता है और इस फल-त्याग से मनुष्य को अखंड शान्ति प्राप्त होती है। हे अर्जुन शान्ति प्राप्त करने का यह ऐसा मार्ग है जिसमें मनुष्य क्रम-क्रम से चलकर सीढ़ियां पार करता हुआ आगे बढ़ सकता है; इसलिए अभ्यास का अंगीकार ही उचित है।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

"हे अर्जुन, अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान की अपेक्षा ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यान की अपेक्षा कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है और कर्मफल-त्याग की अपेक्षा शान्ति-सुख की प्राप्ति श्रेष्ठ है। यही इस मार्ग की बराबर आगे बढ़ने वाली परम्परा है। हे पार्थ, इस प्रकार एक-एक कदम आगे बढ़ते हुए शान्ति अथवा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति की जा सकती है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

"जो मनुष्य भूत मात्र से कभी किसी प्रकार का द्वेष नहीं करता, जिसे चैतन्य की भांति यह भेद-भाव कभी स्पर्श ही नहीं करता कि यह अपना है और वह पराया है, जिसके मन में पृथ्वी माता की भांति यह विचार कभी नहीं आता कि उत्तम को तो आश्रय देना चाहिए और नीच को यों ही छोड़ देना चाहिए, जो प्राणवायु की तरह अपने मन में इस बात का कभी कोई भेदभाव नहीं रखता कि मैं राजा के शरीर में तो रहूंगी, परन्तु दरिद्र के शरीर को स्पर्श नहीं करूंगी, जो सदा सब पर कृपा रखता है, जिस प्रकार पानी कभी यह नहीं कहता कि मैं गौ की प्यास तो बुझाऊंगा, परन्तु बाघ के लिए मैं विष बनकर उसे मार डालूंगा, उसी प्रकार जो प्राणीमात्र को एकरूप समझकर उनके साथ मैत्री रखता है और समभाव से उन पर कृपा रखता है और जो यह बात कभी जानता ही नहीं कि यह मैं हूं और यह मेरा है, जिसे सुख-दुःख का विचार कभी कष्ट नहीं देता, जिसमें उतनी ही क्षमा होती है, जितनी सब कुछ सहने वाली पृथ्वी में होती है, जो सन्तोष को सदा अपनी गोद में खेलाता रहता है, जो स्वयं ही सन्तोष से उसी प्रकार ओत-प्रोत भरा रहता है, जिस प्रकार बिना बरसाती वर्षा के भी समुद्र लबालब भरा रहता है, जो अपने अन्तःकरण को प्रतिज्ञापूर्वक अपने अधीन रखता है, जिसका निश्चय सदा अखंड रहता है, जिसमें जीव और शिव दोनों पूर्ण रूप से एक होकर

एक साथ ही निवास करते हैं, और जो इस प्रकार योगयुक्त होकर अपना मन और बुद्धि पूर्ण रूप से मुझे अर्पित कर देता है, अन्दर और बाहर योग के उत्तम रीति से दृढ़ से हो जाने के कारण जो मेरी प्रेमपूर्ण भक्ति में रंग जाता है हे अर्जुन, उसी को भक्त, उसी को योगी और उसी को मुक्त समझना चाहिए। जिस प्रकार पति को पत्नी प्राणो से भी बढ़कर प्रिय होती है, उसी प्रकार वह भक्त भी मुझको प्राणों से बढ़कर प्रिय होता है। केवल यही नहीं, उसके प्रति मेरा जो प्रेम होता है, उसका स्वरूप पूर्ण रूप से इस उपमा से भी स्पष्ट नहीं होता कि वह मुझे प्राणों के समान प्रिय होता है। परन्तु यह प्रेम की कथा मानो भ्रम में डालने वाला जादू का खेल है। यह प्रेमकथा वास्तव में शब्दों में कही नहीं जा सकती। परन्तु यह थोड़ा-सा वर्णन केवल श्रद्धा के बल से किया गया है। और इसीलिए यह पति-पत्नी के प्रेम की उपमा मुंह से निकल गई है। परन्तु इस निस्सीम प्रेम का वास्तविक वर्णन करना किसी प्रकार सम्भव नही है। परन्तु हे अर्जुन, इस प्रकार की बातें बहुत हो चुकीं, क्योंकि जब प्रिय भक्त का प्रसंग चल पड़ा है, तब भक्त के प्रति मेरे मन का प्रेम दूने जोर से बढ़कर उछलने लगा है। तिस पर यदि श्रोता भी उसी प्रकार का प्रेमपूर्ण मिल जाय तो फिर ऐसा कांटा कहां मिलेगा, जिस पर इस विषय का माधुर्य तौला जा सके ! इसीलिए, हे अर्जुन, मैं तुमसे यह कहता हू कि वह प्रिय भक्त और प्रेमपूर्ण श्रोता तुम्हीं हो। तिस पर प्रिय भक्त के वर्णन का प्रसंग भी सहज में प्राप्त हो गया था, इसीलिए बातें करते-करते मैं स्वभावतः इस वर्णन के आनन्द में लीन हो गया।'' इतना कहकर देव तुरन्त ही प्रेमानन्द से झूमने लगे। फिर उन्होंने कहा—''हे अर्जुन, इस प्रकार के जिस भक्त के लिए मैं अपने अन्तःकरण में आसन बिछा देता हूं, अब उस भक्त के लक्षण सुनो।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

जिस प्रकार समुद्र के गर्जन से जलचरों को भय नहीं जान पड़ता और जिस प्रकार जलचर कभी समुद्र से घबराते या उकताते नहीं, वैसे ही जिसे इस जगत् की उन्मत्तता से कभी खेद नही होता और जिससे जगत् को भी कभी कोई कष्ट नहीं पहुंचता और, हे अर्जुन, जिस प्रकार शरीर कभी अपने अवयवों से नहीं घबराता, उसी प्रकार आत्मैक्य भाव से जो कभी जीव मात्र से दुःखी नहीं होता, जिसके मन में यह भावना रहती है कि यह सारा संसार अपना ही है, जिसके मन में प्रिय और अप्रिय का भेद नहीं रह जाता और दुजायगी का भाव न रह जाने के कारण जिसमें हर्ष और शोक का नाम भी नहीं रह जाता, इस प्रकार द्वन्द्व बुद्धि के जंजाल से छुटकारा पाकर जो भय और उद्वेग आदि विकारों से अलिप्त हो जाता है और साथ ही जो मेरा भक्त भी है, उस पुरुष के प्रति मेरे मन में मोह या प्रेम उत्पन्न होता है। उस मोहक प्रेम का भला मैं क्या वर्णन करूं ! वह तो मेरे जीव का भी जीव होता है। जो आत्मानन्द से तृप्त होता है, जो केवल स्वाभाविक परिणाम से जन्म को प्राप्त हुआ है, परन्तु जो पूर्णत्व को प्राप्त होकर मेरा प्रिय बन गया है, हे अर्जुन, जिसके अन्तःकरण मे वासना का कभी प्रवेश भी नहीं होता, जिसके अस्तित्व से ही सुख की वृद्धि होती है, वही मेरा प्रिय भक्त होता है। काशी-क्षेत्र उदारतापूर्वक मोक्ष प्राप्त करा देता है, परन्तु किसको ? उसी को जिसका उस क्षेत्र में शरीरपात होता है। हिमालय भी पापों का नाश करता है; परन्तु इस पापों के प्रक्षालन में प्राणों की हानि होती है। परन्तु सज्जनों में जो पवित्रता होती है, वह इस प्रकार की नहीं होती। गंगाजल अपने पावन गुण से पवित्र है और वह पाप के तापों का नाश करता है। परन्तु फिर भी उसके लिए उस गंगाजल में स्नान करना पड़ता है, जिसमे डूब जाने का भय होता है। परन्तु इस भक्ति-रूपी नदी की गहराई की थाह यद्यपि आज तक कभी किसी को नही मिली है, तो भी यह ऐसी है कि इसमें भक्त कभी डूबकर अपने प्राण नहीं गंवाता। वह मरता नहीं, बल्कि जीवित

अवस्था में ही उसे नगद मोक्ष की प्राप्ति होती है जिन सन्तों के संसर्ग से गंगा में शुचिता और पावनता आती है उन सन्तों की शुचिता कितनी श्रेष्ठ कोटि की होनी चाहिए ! तात्पर्य यह कि इस प्रकार जो अपनी शुचिता के कारण तीर्थों का भी आश्रय बनता है, जो अपने मन की मैल सब दिशाओं के उस पर पार भगा देता है, जो अन्दर और बाहर सूर्य के समान स्वच्छ तथा निर्मल है, जो तत्त्वार्थ का रहस्य उसी प्रकार जानता है, जैसे पैरों में दृष्टि की शक्ति रखने वाले को भूमि के अन्दर के द्रव्यों का खजाना साफ दिखाई पड़ता है, वही मेरा भक्त है। आकाश सबको व्याप्त कर लेता है, परन्तु फिर भी वह सबसे अलिप्त रहता है। ठीक इसी प्रकार जिसका मन सदा सर्वत्र व्यापक रहने पर भी सबसे उदासीन रहता है, जो संसार के तपों से उसी प्रकार छूट जाता है, जिस प्रकार कोई पक्षी किसी व्याधा के हाथ से छूट जाता है और इस प्रकार जो वैराग्य में पूर्ण पारंगत हो जाता है, सदा आत्मसुख में रंगे रहने के कारण जिसे किसी प्रकार का कष्ट दुःखी नहीं करता, जिसे लज्जा उसी प्रकार स्पर्श नहीं करती, जिस प्रकार किसी मृतक को स्पर्श नहीं करती, कोई कर्म आरम्भ करने के विषय में जिसे अहंकार की कुछ भी बाधा नहीं होती, ईंधन न मिलने के कारण अग्नि में जिस प्रकार की शान्ति आपसे आप आ जाती है, मोक्षप्राप्ति के लिए आवश्यक वही सहज शान्ति जिसके हिस्से में आ पड़ी है, हे अर्जुन, जो इस उच्चता तक पहुंचने के योग्य ब्रह्मैक्य भाव से ओत-प्रोत भरा हुआ है और द्वैत के उस पार के तट तक पहुंच चुका है, अथवा मुक्ति-सुख का अनुभव प्राप्त करने के लिए जो स्वयं ही दो भागों में विभक्त हो जाता है और एक भाग में तो स्वयं अपनी सेवकता रखता है और दूसरे भाग को 'मैं' अर्थात् 'देव' का नाम देता है और जो योगी भक्तिहीनों को भक्ति पर विश्वास करा देता है, उस योगी भक्त से मुझे बहुत अधिक प्रेम होता है। मैं स्वयं ही ऐसे भक्तों का ध्यान करता रहता हूं। ऐसे भक्त के प्राप्त होते ही मुझे बहुत समाधान होता है। ऐसे ही भक्तों के लिए मैं सगुण रूप धारण करता हूं, उनके लिए मैं इस संसार में विचरण करता हूं और वे मुझे इतने अधिक प्रिय होते हैं कि मैं उन पर जी-जान निछावर कर देता हूं।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

"जो यह मानता है कि आत्मस्वरूप की प्राप्ति के समान उत्तम बात और कोई नहीं है और इसीलिए जिसे किसी प्रकार के विषय-भोग से आनन्द नहीं होता, जिसे इस बात का ज्ञान हो जाता है कि मैं ही सारा विश्व हूं और इस ज्ञान के कारण सहज में ही जिसका भेदभाव नष्ट हो जाता है, जिसमें द्वेष नाम को भी नहीं रह जाता, जिसे इस बात का पूर्ण विश्वास हो जाता है कि हमारे जो वास्तविक तत्त्व हैं, वे कल्पान्त में भी नष्ट नहीं होंगे और इस विश्वास के कारण जो नित्य होते रहने वाली बातों का शोक नहीं करता, जिस आत्मस्वरूप से बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है, उस आत्मस्वरूप को प्राप्त कर चुकने के कारण जो और किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करता, जिसे अच्छे और बुरे का भेद उसी प्रकार कभी नहीं जान पड़ता, जिस प्रकार सूर्य के लिए रात्रि और दिन कभी नहीं होता और इस प्रकार जो ज्ञान की प्रत्यक्ष मूर्ति ही बन जाता है और उसमें भी जो मेरा प्रेमपूर्ण भक्त होता है, उस भक्त के समान मुझे और कुछ भी प्रिय नहीं होता। मैं तुम्हारी शपथ खाकर ये सब बातें बिलकुल सच-सच कह रहा हूं।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

"हे अर्जुन, जिसमें विषमभाव नाम को भी नहीं होता, जो शत्रुओं और मित्रों को समान समझता है, जो दीपक की तरह ही रहकर कभी यह विचार अपने मन में नहीं लाता कि मैं अपने घर के लोगों के लिए तो प्रकाश करूंगा

और बाहर वालो के लिए अंधेरा ही रखूगा वह मेरा परम प्रिय भक्त होता है कोई तो कुल्हाडी लेकर वृक्ष को काटने लग जाता है और कोई बीज बोकर वृक्ष लगाता है। परन्तु वृक्ष उन दोनों को ही समान रूप से अपनी शीतल छाया देता है। जो खेतिहर खेत में पानी डालकर ईख सींचता है, उसे भी ईख अपनी मिठास ही देती है और जो उसे कोल्हू में डालकर पेरता है, उसे भी वह मिठास ही देती है। यह बात नहीं होती कि वह जल सींचने वाले को तो मिठास दे और पेरने वाले को कड़ुई लगे। वह दोनों के लिए समान रूप से मीठी रहती है। इसी प्रकार जो अपने शत्रुओं के साथ भी और मित्रों के साथ भी एक ही प्रकार के और समभाव से व्यवहार करता है, जो मान और अपमान दोनों को समान समझता है, जो शीत और उष्णता आदि द्वन्द्वों में उसी प्रकार समान और एकरूप रहता है, जिस प्रकार आकाश तीनों ऋतुओं में समान और एकरूप रहता है, जो सहज भाव से प्राप्त होने वाले सुखों और दुःखों के मध्य में उसी प्रकार अचल और विकारहीन रहता है, जिस प्रकार दक्षिणी वायु और उत्तरी वायु दोनों के बीच में मेरु पर्वत अचल और विकारहीन रहता है, जो भूतमात्र के साथ उसी प्रकार समान भाव से आचरण करता है, जिस प्रकार चन्द्रमा की चन्द्रिका राजा और दरिद्र सबके साथ समान रूप से व्यवहार करके उन्हें प्रिय तथा मधुर लगती है, जिसको त्रिभुवन उसी प्रकार चाहते हैं जिस प्रकार सारा संसार पानी को चाहता है, जो अन्दर और बाहर विषयों की अभिलाषा का संग छोड़कर और स्वयं अपने आपमें ही रमण करता हुआ एकान्तवास करता है, जो निन्दा पर कुछ भी ध्यान नहीं देता और स्तुति से भी आनन्दित नहीं होता, जो इन सब बातों से उसी प्रकार निर्लिप्त रहता है, जिस प्रकार आकाश मेघ आदि से निर्लिप्त रहता है और निन्दा तथा स्तुति को एक ही कोटि में स्थान देता है, जो बस्ती में भी और निर्जन वन मे भी समान रूप से और अ-चंचल वृत्ति से विचरण करता है, जो न तो कभी मिथ्या ही बोलता है और न कभी सत्य ही बोलता है, बल्कि सदा मौन रहता है और उन्मनी नामक ब्रह्मस्थिति का अनुभव करता रहता है और कभी उससे विमुख नहीं होता, जो सदा समुद्र की तरह उसी प्रकार भरा-पूरा रहता है, जिस प्रकार वह वर्षा न होने पर भी भरा-पूरा रहता है, जो लाभ होने पर भी आनन्द से फूल नहीं जाता और हानि होने पर भी दुःख से दुःखी नहीं होता, और जो उसी प्रकार सारे विश्व को अपनी विश्रान्ति का स्थान बनाये रहता है, जिस प्रकार वायु निरन्तर सारे आकाश में विचरण करती रहती है, जो इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करके अपना मन सदा स्थिर रखता है कि यह सारा विश्व ही मेरा घर है, बल्कि जो यह जानता और समझता है कि संसार में जितने चराचर हैं, सब मैं ही हूं और हे पार्थ, ऐसी अवस्था में पहुंच जाने पर भी जिसे मेरी भक्ति का शौक और श्रद्धा रहती है, उसे मैं स्वयं अपने मस्तक पर मुकुट के समान धारण करता हूं। यदि किसी उत्तम और श्रेष्ठ व्यक्ति के सामने सिर झुकाया जाय तो इसमें आश्चर्य ही किस बात का है ! परन्तु त्रिभुवन भी उसके चरण रूपी तीर्थ बड़े आदर से अपने मस्तक पर रखता है। वह मैं अपने श्रद्धालु भक्त का कितना अधिक आदर करता हूं, यह ठीक तरह से समझने के लिए स्वयं सदाशिव जैसा ही सद्गुरु होना चाहिए। परन्तु इस सम्बन्ध में इतना ही कथन यथेष्ट है। क्योंकि यदि मैं श्रीशंकर के महत्त्व का वर्णन करूं तो मानो वह स्वयं अपनी ही स्तुति करने के समान होगा और इस प्रकार मानो अभिमान करना होगा।'' इसलिए रमापति कृष्ण ने कहा—''मैं इस बात का अधिक वर्णन नहीं करता। परन्तु हे अर्जुन, इतना अवश्य कह देता हूं कि ऐसे भक्त को मैं मस्तक पर धारण करता हूं। चौथा पुरुषार्थ जो मोक्ष है, उसे तो वह स्वयं अपने हाथों में ही लेकर भक्ति के मार्ग में प्रवेश करता है और तब सारे जगत् को वह मोक्ष देने लगता है। कैवल्य को तो वह अपने हाथ में ले लेता है और मोक्ष रूपी द्रव्य को वह जिस प्रकार चाहता है, उसी प्रकार खोलता और बांधता है और जिस तरह चाहता है, उसी तरह रखता-निकालता है। परन्तु फिर भी वह जल के प्रवाह की तरह अपने लिए तल का स्थान ही स्वीकार करता है और सदा नम्रता धारण करता है। इसीलिए मैं भी ऐसे भक्त को नमन करता हूं उसे मुकुट के समान अपने मस्तक पर धारण करता हूं और उसके लात की मार भी अपने वक्षस्थल पर सहन करता हूं। उसके गुणों का वर्णन करके

म अपनी वाणी का भूषित करता हूं और उसके गुण-श्रवण के कुंडल अपने कानों में धारण करता हूं। ऐसे भक्तों के दर्शन की बहुत अधिक इच्छा होने के कारण ही मैं चक्षु न होने पर भी चक्षुओं से युक्त हुआ हूं। इस हाथ का भूषण होने वाले कमल से मैं उसकी पूजा करता हूं। मैं जो अपनी दो भुजाओं के ऊपर और दो भुजाएं धारण करके आया हूं, इसका कारण यही है कि मैं ऐसे भक्त को दोनों भुजाओं से खूब अच्छी तरह आलिंगन करना चाहता हूं। ऐसे भक्त की संगति का सुख प्राप्त करने के लिए ही मैं देहहीन होने पर भी देह धारण करता हूं। किसी प्रकार की उपमा के द्वारा मैं यह बात नहीं बतला सकता कि ऐसा भक्त मुझे कितना अधिक प्रिय होता है। यदि ऐसे भक्त के साथ मेरी निर्मल मैत्री हो तो इसमें आश्चर्य ही किस बात का है ! जो लोग ऐसे भक्तों के चरित्र सुनते अथवा उनका गान करते हैं, इसमें सन्देह नहीं कि वे भी मुझे प्राणों से भी कहीं अधिक प्रिय होते हैं। हे अर्जुन, आज मैंने तुमको भक्तियोग नाम का जो यह सर्वश्रेष्ठ योग पूरी तरह से बतलाया है, यह वही योग है जिसके कारण मैं अपने भक्तों को प्रिय समझता हूं, अथवा उनका ध्यान करता हूं अथवा उन्हें अपने मस्तक पर धारण करता हूं।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

"जिस योग में इतना अधिक महत्त्व है, उस योग की मनोहर, पवित्र और अमृत की धारा के समान मधुर बात जो लोग सुनकर उसका अनुभव करते हैं, जो लोग अत्यन्त श्रद्धापूर्वक ऐसी बातों का विस्तार करते हैं और जो इस बात को निरन्तर अपने हृदय में रखकर इसके अनुसार आचरण करते हैं, ऊपर बतलाई हुई पूरी-पूरी मन की स्थिति होने पर उपजाऊ भूमि में बोये हुए बीजों से उत्पन्न होने वाले उत्तम फल मिलने पर भी जो मुझे अत्यन्त श्रेष्ठ समझते हैं और मेरी भक्ति के प्रति अपना प्रेम रखकर उसी को अपना सर्वस्व मानते हैं, हे अर्जुन, इस संसार में वही सच्चे भक्त और सच्चे योगी हैं। मुझे निरन्तर उन्हीं की उत्कंठा लगी रहती है। जिन पुरुषों को भक्ति-सम्बन्धी कथाओं का प्रेमपूर्ण अनुराग होता है, वही तीर्थ और वही क्षेत्र हैं और वही इस संसार में वास्तव में पवित्र हैं। मैं उन्हीं का ध्यान करता हूं, वही मेरे देवार्चन हैं और उनसे बढ़कर अच्छा मुझे और कोई दिखाई नहीं पड़ता। मुझे उन्हीं का व्यसन रहता है और वहीं मेरे द्रव्य के कोष हैं। यहां तक कि ऐसे भक्तों के प्राप्त हुए बिना मेरे मन को समाधान ही नहीं होता। हे अर्जुन, जो लोग ऐसे प्रेमी भक्तों की कथाओं का गान करते हैं, उनका मैं श्रेष्ठ देवताओं के समान आदर करता हूं।" भक्तों को आनन्द देने वाले और समस्त जगत् के मूल कारण भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से ये सब बातें कहीं। ये सब बातें कहकर संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—"हे राजा धृतराष्ट्र, जो भगवान् श्रीकृष्ण शुद्ध, दोषहीन, दयालु, शरणागत का प्रतिपालन करने वाले और रक्षक हैं, जो देवताओं की सदा सहायता करते है, लोकों का लालन-पालन करते हैं, जगत् का पालन करना ही जिनका सदा का खेल है, जिनका पवित्र यश अत्यन्त निर्मल है, जो सरल और अपरम्पार उदार हैं, जिनका बल असीम है और जो बलिष्ठों को बिना अपनी आज्ञा में लाये नहीं छोड़ते, जो भक्तों के साथ प्रेम करने वाले, अपने प्रेमियों के साथ स्नेह करने वाले, सत्य का पक्ष लेने वाले और समस्त कला-कौशल के आगार हैं, वे भक्तों के सम्राट् वैकुण्ठाधिपति श्रीकृष्ण स्वयं ही इस प्रकार की बातें कह रहे थे और वह भाग्यशाली अर्जुन ये सब बातें सुन रहा था। अब मैं इसके आगे की कथा का निरूपण करता हूं। आप सुनें।" इस प्रकार संजय ने धृतराष्ट्र से ये सब बातें कहीं। संजय की कही हुई वह रसपूर्ण कथा अब देशी भाषा में कही जायगी। श्रोता लोग इस कथा की ओर ध्यान दें। श्रीनिवृत्तिनाथ का शिष्य ज्ञानदेव श्रोताओं से प्रार्थना करता है कि हे महाराज, स्वामी निवृत्तिदेव ने मुझे यही शिक्षा दी है कि मैं आप सन्तजनों की सेवा में आकर आप लोगों की सेवा करूं।



तेरहवा अध्याय



क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग

जिनका स्मरण करते ही शिष्य में समस्त विद्याएं आ जाती हैं, उन श्रीगुरुचरणों की मैं वन्दना करता हूं। जिनका स्मरण करते ही काव्यशक्ति आ जाती है, सब प्रकार की रसाल वक्तृताएं जिह्वा के अग्र भाग पर आकर उपस्थित होती हैं, जिनके स्मरण से वक्तृत्व की मधुरता के आगे अमृत भी फीका पड जाता है, प्रत्येक अक्षर के सामने सब रस सेवकों की भांति हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं, उद्दिष्ट अर्थ खुल जाता है, रहस्य का ज्ञान हो जाता है और सम्पूर्ण आत्मबोध हस्तगत हो जाता है, वे श्री गुरु-चरण ज्यों ही आकर अन्तःकरण में स्थिर होते हैं, त्यों ही ज्ञान का प्रकाश अपने वैभव को प्राप्त होता है। इसीलिए उन गुरु-चरणों को नमस्कार करके अब मैं यह बतलाता हूं कि जगत् के पितामह अर्थात् ब्रह्मा के भी जनक रमावल्लभ श्रीकृष्ण ने क्या कहा।

श्रीभगवानुवाच—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

श्रीकृष्ण ने कहा—"हे अर्जुन, सुनो। देह को 'क्षेत्र' कहते हैं और जिसे इस क्षेत्र का ज्ञान होता है, उसे क्षेत्रज्ञ समझना चाहिए।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

"परन्तु इस प्रसंग में निस्सन्देह रूप से तुम यह समझ रखो कि 'क्षेत्रज्ञ' मैं ही हूं, क्योंकि मैं ही समस्त क्षेत्रों अर्थात् शरीरों का पोषण करता हूं। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो सच्चा ज्ञान है, वही मेरे मत से सबसे उत्तम ज्ञान है।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

''अब मैं यह बतलाता हूं कि इस शरीर को 'क्षेत्र' कहने का उद्देश्य क्या है। सुनो। इसे क्षेत्र क्यों कहते हे, यह कैसे और कहां उत्पन्न होता है और किन-किन विकारों से इसका विस्तार होता है ! यह क्षेत्र यही साढ़े तीन हाथ का छोटा-सा ही है ! या बड़ा है तो कितना बड़ा है और किस आकार का है ! यह अनुर्वर है अथवा उर्वर है ! इसका स्वामी कौन है ! आदि-आदि इस विषय के जितने प्रश्न हैं, अब मैं उन सबका सांगोपांग स्पष्टीकरण करता हूं, इसलिए तुम इन सब बातों की ओर ध्यान दो। हे अर्जुन, इन्हीं प्रश्नों की मीमांसा करने के लिए वेद बड़बड़ाते रहते हैं और तर्क का शाब्दिक चरखा सदा चलता रहता है। इन्हीं प्रश्नों का निराकरण करते-करते षट् दर्शनों का अन्त हो गया, तो भी आज तक वे एकमत नहीं हो सके हैं। इन्हीं बातों के सम्बन्ध मे शास्त्रों में आपस में झगड़े होते हैं और सारे जगत् में इन्हीं बातों के सम्बन्ध में अखंड वाद-विवाद होते रहते हैं। इन विषयों में किसी की बात दूसरों की बातों से नहीं मिलती, कोई किसी का मुंह नहीं देखता, मतों में आपस में नहीं पटती, ऊहापोह की दुर्दशा हो गई है और चारों ओर केवल गड़बड़ी फैली हुई है। अभी तक इस बात का किसी को पता नहीं चला कि इस क्षेत्र का स्वामी कौन है। परन्तु अहम्मन्यता का लोभ इतना प्रबल होता है कि घर-घर इसी विषय के झगड़े होते रहते हैं। नास्तिकों का मुकाबला करने के लिए वेदों ने बड़े-बड़े आडम्बर रचकर खड़े किये हैं और पाखंडियो ने वेदों के विरुद्ध उलटी-सीधी वाचालता आरम्भ कर दी है। पाखंडी कहते हैं—'इन वेदों का कोई आधार ही नहीं है, ये झूटमूठ के शाब्दिक जाल फैलाते हैं। यदि तुम हमारी बात को झूट समझते हो तो इसे सिद्ध करने के लिए हमने यह प्रतिज्ञा का बीड़ा रखा है। यदि साहस हो तो इसे उठा लो। हम भी देख लें।' बहुत से लोगों ने पाखंड में प्रवेश करके वस्त्रों का परित्याग करके लुटिया डुबोई है, परन्तु उनके वितंडावाद आपसे आप स्वयं उन्हीं को परास्त कर देते हैं। मृत्यु की परम प्रबल सामर्थ्य देखकर योगी इस भय से कुछ और आगे बढ़े कि मृत्यु आने पर यह देह-क्षेत्र व्यर्थ हो जायगा। मृत्यु से घबराने वाले वे योगी मनुष्यों की बस्ती से दूर और एकान्त स्थानों में रहने लगे और उन्होंने यम-नियमों के झगड़े अपने साथ लगा लिये। इसी देह-क्षेत्र की विवेचना करने के लिए श्रीशंकर ने शिवलोक का परित्याग किया और चारों ओर उपाधियां देखकर केवल श्मशान-भूमि में आश्रय लिया। शंकर की प्रतिज्ञा इतनी प्रबल थी कि केवल दिगम्बर होकर काम या मदन को इसलिए भस्म कर डाला कि वह लोगों को प्रलोभनों में फंसाने वाला है। सामर्थ्य बढ़ाने के लिए ब्रह्मा को एक के बदले चार मुख प्राप्त हुए, परन्तु फिर भी इस विषय का उन्हें कोई ज्ञान नहीं हुआ।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥

''कुछ लोग कहते हैं कि यह देह-क्षेत्र वास्तव में पूर्ण रूप से जीव का ही खेत है और प्राण उसमें खेती-बारी करने वाला खेतिहर या असामी है। इस प्राण के घर में अपान, व्यान, समान और उदान ये चार भाई काम-धन्धा करने वाले हैं और मन, उन सब पर मुख्य हल चलाने वाला और बीज आदि बोने वाला है। इस मन के पास खेत जोतने के लिए इन्द्रिय-रूपी बैल हैं। यह मन न तो दिन को दिन और न रात को रात समझता है और हरदम विषयों के खेत में परिश्रम करता रहता है। वह इस प्रकार की जोताई करके जो मिट्टी ऊपर-नीचे करता है, उसके कारण उसमें से कर्तव्य कर्म के आचरण का तत्त्व निकल जाता है और तब वह खेतिहर इस तत्त्व का नाश करके अन्याय के बीज बोता है और कुकर्मों की खाद डालता है। तब उन्हीं बीजों और खाद के उपयुक्त पापों की फसल पैदा होती है जिससे जीव को करोड़ों जन्मों तक दुःख भोगना पड़ता है। परन्तु ऐसा न करके यदि कर्तव्य-कर्मों के तत्त्व

त्र स्थिर रहने दिए जायं और सत्कर्मों के बीज बोये जायं तो वही जीव सैकड़ों जन्मों तक सुख भोगता है। इस पर कुछ और लोग यह कहते हैं कि यह बात बिलकुल नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह देह-क्षेत्र केवल जीव का ही है। इस क्षेत्र के सम्बन्ध में सब बातें हमें जाननी चाहिए। यह जीव तो केवल एक प्रवासी है। यह घूमता-फिरता आता है और रास्ते में कुछ समय के लिए इस क्षेत्र में निवास कर लेता है। प्राण इस क्षेत्र का अधिकारी है और वह सदा जागकर इसका पहरा देता रहता है। सांख्य शास्त्र में जिसे अनादि प्रकृति कहते हैं, वास्तव में उसी को इस क्षेत्र की वृत्ति प्राप्त है। इस घर के जितने झगड़े-बखेड़े या प्रपंच हैं, वे सब उसी के हैं। इसलिए इस क्षेत्र की जोताई-बोआई आदि उसी के कर्मचारी करते हैं। इस संसार में इस खेती-बारी का काम करने वाले जो मुख्य तीन गुण हैं, वे इसी प्रकृति के पेट से जनमे हुए हैं। रजोगुण जोताई करता है, सत्त्वगुण पैदावार की रखवाली करता है और तमोगुण वह फसल काटकर और उसे बरसाकर इकट्ठा करता है। फिर महत्त्व का खलिहान तैयार किया जाता है और केवल कालस्वरूप बैलों के द्वारा उस फसल की दंवाई होती है। प्रायः इसी समय अव्यक्त का सायंकाल हो जाता है।'' इस पर कुछ दूसरे समझदार आपत्ति करते हुए कहते हैं—''ये सब बातें तो बहुत हाल की हैं। वास्तव में परतत्त्व ब्रह्म ही है। फिर उस ब्रह्म के सामने प्रकृति को कौन पूछता है ! तुम्हारा यह क्षेत्र-सम्बन्धी विचार सुनना मानो व्यर्थ की बकवाद सुनना है। शून्यब्रह्म के शयनागार ने सत्य वाली अवस्था के पलंग पर जो आदि संकल्प सोया हुआ था, वह एकाएक जाग उठा। वह बहुत चंचल और उद्यमी था, इसलिए उसने अपने मन की मौज के अनुसार वह विश्व का ढांचा तैयार किया। निर्गुण परब्रह्म का मैदान त्रिभुवन के बराबर बडा था। उसे इस आदि संकल्प की करनी से रंग-रूप प्राप्त हुआ। फिर महाभूतों का जो बहुत बड़ा बंजर पड़ा हुआ था, उसके चार रेखांकित भाग हुए। ये भाग जारज, स्वेदज, अंडज और उद्भिज नामक चार भूत-ग्राम थे। फिर पचमहाभूतों का जो एक पिंड था, उसे तोड़कर और उसके अलग-अलग विभाग करके पांच भौतिक सृष्टि की रचना की गई। फिर कर्म और अकर्म रूपी पत्थरों को एकत्र करके दोनों ओर से बांध बांधे गये और उन्हीं में ऊसर जमीनें और जंगल बने। इस प्रदेश में आने-जाने का क्रम सदा चलता रखने के लिए जन्म और मृत्यु की दो सुरंगें खोदी गईं। उस आदिसंकल्प ने इन सुरंगों की रचना इस प्रकार की थी कि ये सृष्टि से चलकर निरालम्ब ब्रह्म तक पहुंच जायं। फिर इस आदिसंकल्प ने अहंकार के साथ मेल मिलाकर बुद्धि की मध्यस्थता से ऐसी योजना की कि इस क्षेत्र का क्रम सदा चलता रहे। इस प्रकार आरम्भ में उस निर्गुण निरालम्ब ब्रह्म में ही आदिसंकल्प का अंकुर निकला था, इसलिए यह निश्चित होता है कि इस प्रपंच का मूल वही आदिसंकल्प है।'' जब इस प्रकार संकल्पवादियों ने अपने मतरूपी मुक्ताफल प्रस्तुत किये, तब तुरन्त ही एक दूसरे मत वाले आगे बढ़कर कहने लगे—''महाराज, आप तो बहुत अच्छे चिकित्सक दिखाई देते हैं ! यदि परब्रह्म के यहां आदिसंकल्प के शयनागार की ही कल्पना करनी हो तो फिर सांख्य मत की उस पर ब्रह्म वाली प्रकृति को ही वास्तविक और ठीक मान लेने में क्या हर्ज है ? परन्तु इन सब बातों को जाने देना चाहिए, क्योंकि यह निश्चित है कि ये बातें ठीक नहीं हैं। भाइयो, तुम लोग इन सब बातों के फेर में मत पड़ो। इस प्रश्न की समस्त वास्तविक उत्पत्ति अब हम बतलाते हैं। उसे सुनो। आकाश में मेघों के समूह को कौन भरता है ! आकाश में तारों के समूह को कौन सजाकर स्थापित करता है ! आकाश की छत किसने और कब बनाई ! यह आज्ञा किसने दी कि वायु को सदा बहते ही रहना चाहिए ! केशों या रोमों की उत्पत्ति किसने की ! समुद्र को किसने भरा ! वर्षा की धाराएं कौन चलाता है ! जिस प्रकार ये सब बातें अपने स्वाभाविक धर्म से हुआ करती हैं, उसी प्रकार यह देह-क्षेत्र भी स्वभाव-सिद्ध है। यह किसी की कोई खास जागीर नहीं है। इसमें जो परिश्रम करता है, उसी को उसका फल प्राप्त होता है, दूसरे को वह फल प्राप्त नहीं होता।'' जब स्वभाववादी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे थे, तब कुछ लोग बड़े ताव से आगे बढ़कर बोले—''यदि यह सब

वन्न मान ली जाय तो फिर इस ६६ क्षेत्र पर एकमात्र काल का ही निरन्तर सत्ता क्यों रहती है ? आप यह बात तो अच्छी तरह जानते हैं कि इस काल की सत्ता अनिवार्य है। परन्तु फिर भी आप अपने मत का झूठा अभिमान करते हैं। यह तो मानो क्रुद्ध मृत्यु या सिंह की गुफा है। परन्तु किया क्या जाय ? आप सरीखे बकवादियों को यह बात भला कैसे ठीक जान पड़े ? यह काल-सिंह महाकल्प के उस पार पहुंचकर ब्रह्मलोक-रूपी हाथी पर भी आक्रमण कर बैठता है। यह काल-सिंह स्वर्ग के वन में घुस जाता है और वहां पहुंचकर नये-नये लोकपालों और दिग्गजों के समूह का भी संहार कर डालता है। और दूसरे जो जीवरूपी हिरन आदि होते हैं वे इस काल-सिंह के शरीर की केवल हवा लगने से ही निर्जीव होकर जन्म और मृत्यु रूपी गड्ढों में घूमते-फिरते हैं। देखो, इस काल-सिंह का जबड़ा, कितना फैला हुआ है ! इस जबड़े में विश्व के आकार का हाथी भी समा जाता है और उसका कहीं पता नहीं लगता। इसीलिए हम कालवादियों का यह सिद्धान्त है कि इस क्षेत्र पर एकमात्र काल की ही सत्ता है।" हे अर्जुन, इस देह-क्षेत्र के सम्बन्ध में इस तरह के अनेक पक्ष प्रस्तुत हो चुके हैं। नैमिषारण्य में ऋषियों ने इस विषय में बहुत कुछ भवति न भवति की है और पुराण ग्रन्थों में भी इस विषय की ऊहापोह प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है। अनुष्टुप आदि छन्दों में इस विषय की जो विविध प्रकार की चर्चाएं की गई हैं, अब भी बड़े आवेश से उनका आधार ग्रहण किया जाता है। वेदों में ज्ञान की दृष्टि से बृहत्सामसूत्र बहुत अधिक पवित्र है, परन्तु उसे भी इस क्षेत्र का पूरा-पूरा पता नहीं लगा। इसके सिवा और भी बहुत-से दूरदर्शी महाकवियों ने इस क्षेत्र का विचार करने में अपनी बुद्धि रूपी सम्पत्ति व्यय की है। परन्तु आज तक किसी की समझ में यह बात ठीक तरह से नहीं आई कि यह क्षेत्र इस प्रकार का है अथवा इसका इतना विस्तार है और वह वास्तव में केवल अमुक का है। अब मैं इस क्षेत्र का आदि से अन्त तक सारा स्वरूप तुम्हें बतलाता हूं।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

"पांचों महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त प्रकृति और दसों इन्द्रियां और इनके सिवा एक मन, दसों विषय और सुख-दुःख, द्वेष, संघात, इच्छा, चेतना और धृति इन सबका व्यक्त स्वरूप ही क्षेत्र है। मैंने क्षेत्र के तत्त्वों की यह नामावली तुमको बतला दी है। अब मैं तुमको अलग-अलग यह बतलाता हूं कि महाभूत कौन हैं, विषय कौन हैं और इन्द्रियों का क्या स्वरूप होता है। पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश इन पांचों को महाभूत समझना चाहिए। और जाग्रति की अवस्था में जिस प्रकार स्वप्न की अवस्था का अभाव होता है, अथवा जिस प्रकार दिन के समय चन्द्रमा अदृश्य रहता है अथवा प्रौढ़ावस्था के पास पहुंचे हुए लड़कों में जिस प्रकार तारुण्य दबा हुआ रहता है अथवा बन्द कली में जिस प्रकार सुगन्ध बन्द रहती है अथवा लकड़ी में अग्नि जिस प्रकार गुप्त रूप से निवास करती है, उसी प्रकार जो प्रकृति या माया के पेट में छिपा रहता है और फिर शरीर को रुधिर आदि धातुओं मे छिपा हुआ ताप कुपथ्य के निमित्त की प्रतीक्षा किया करता है और कुपथ्य का वह निमित्त प्राप्त होते ही तत्काल रोगी का अन्दर और बाहर सब कुछ व्याप्त कर लेता है, उसी प्रकार जब पांचों महाभूत एकत्र होते हैं और इस देह का आकार बनता है, तब जो इस देह को चारों ओर नचाने लगता है, हे अर्जुन, उसी को अहंकार समझो। इस अहंकार की बातें बहुत ही विलक्षण हैं। यह अज्ञानी लोगों के पीछे तो बहुत ज्यादा नहीं लगता, परन्तु ज्ञानी लोगों को खूब जोर से आलिंगन करता है और उन्हें अनेक प्रकार के कष्टों में डालकर नचाता रहता है। अब जिसे बुद्धि कहते हैं, उसे आगे बतलाये हुए लक्षणों से पहचानना चाहिए। हे अर्जुन, मैं तुमको वह लक्षण बतलाता हूं।

सुना। जब काम-वासना बलवती होती है, तब इन्द्रियों की वृत्तियों का भेद करके विषय-समूह अन्दर घुसते हे। इसके उपरान्त जीव को सुखों और दुःखों का जो अनुभव करना पड़ता है, उस व्यवहार में सुखों और दुःखों की जो ठीक-ठीक नाप-जोख करती है, जो इस बात का निर्णय करती है कि यह सुख है और यह दुःख है, यह पुण्य है और यह पाप है, यह भला और यह बुरा है, जिसकी सहायता से अच्छे-बुरे, बड़े-छोटे आदि का ज्ञान होता है और जिसकी दृष्टि के द्वारा जीव को विषयों की परख होती है, जो ज्ञान-तेज का मूल कारण और सत्त्व गुण की चढ़ती-बढ़ती अवस्था है, जो जीव और शिव का सम्बन्ध स्थापित करती है, हे अर्जुन, उसी को बुद्धि समझना चाहिए। अब अव्यक्त प्रकृति के जो दो प्रकार हैं, वे पहले (सातवें अध्याय में) तुमको बतलाये जा चुके हैं। उनमे से दूसरी परा-प्रकृति जो जीव दशा (ज्ञान देवी) है, उसी का यहां दूसरा नाम 'अव्यक्त' है। जिस प्रकार रात्रि का अन्त होते ही सब नक्षत्र आकाश में ही लुप्त हो जाते हैं, अथवा दिवस का अन्त होने पर जिस प्रकार प्राणीमात्र का चलना-फिरना बन्द हो जाता है अथवा, हे अर्जुन, जिस प्रकार देह के नष्ट होने पर किये हुए कर्मों में देह आदि समस्त विकार गुप्त रहते हैं अथवा जिस प्रकार बीज के स्वरूप में सारा वृक्ष गूढ स्थिति में समाया रहता है अथवा जिस प्रकार तन्तु वस्त्र के रूप में रहते हैं, उसी प्रकार समस्त स्थूल धर्म छोड़कर महाभूत और भूत सृष्टि लय को प्राप्त होकर सूक्ष्म रूप से जिसमें निवास करती है, हे अर्जुन, उसी का नाम अव्यक्त है। अब इन्द्रियों का भेद सुनो। कान, आंख, त्वचा, नाक और जीभ इन पांचों को ज्ञानेन्द्रिय समझना चाहिए। जब ये पांचों इन्द्रियां एकत्र होती हैं, तब इन्हीं के द्वारा बुद्धि सुख-दुःख का विचार करती है। इनके सिवा वाणी, हाथ, पैर, गुदाद्वार और शिश्न ये पांच पदार्थ और हैं। इन्हें कर्मेन्द्रिय कहते हैं। हे अर्जुन, प्राणों की प्रिय सखी और शरीर में रहने वाली जो क्रिया शक्ति है, वह इन्हीं पांचों द्वारों से होकर आया-जाया करती है। इस प्रकार पांचों ज्ञानेन्द्रियां और पांचों कर्मेन्द्रियां तुमको बतला दीं। अब हे अर्जुन, मैं तुमको स्पष्ट करके यह बतलाता हूं कि मन क्या है। सुनो। इन्द्रियों और बुद्धि के बीच की सन्धि पर रजोगुण के कन्धे पर चढ़कर जो बराबर खेलता रहता है और आकाश के नीले रंग अथवा सूर्य की किरणों में के मृग-जल की भांति जो केवल भासमान होने वाली वायु की चमक है, वही मन है। पुरुष के शुक्र और स्त्री के शोणित के एक स्थान पर मिलने से पंचमहाभूतों की जो रचना होती है, उसमें वायु तत्त्व के दस प्रकार होते हैं। फिर उन दशविध वायुओं का शरीर के दस भागों में अवस्थान होता है और वे अपने विशिष्ट धर्मों से युक्त होकर अलग-अलग रहती हैं। परन्तु उन सबमें एक प्रकार की चंचलता रहती है जिससे उन्हें रजोगुण का बल प्राप्त होता है। यह चंचलता बुद्धि के बाहर, परन्तु अहंकार की सीमा पर अर्थात् बीच वाले प्रदेश में प्रबल होती है। इसी का नाम मन रख दिया गया है। परन्तु यदि वास्तव में देखा जाय तो वह केवल कल्पना की ही मूर्ति है। जिसकी संगति के कारण ब्रह्म को जीव वाली दशा प्राप्त होती है, जो मया का मूल है, जिससे काम-वासना को बल प्राप्त होता है, जो सदा अहंकार को उत्तेजित करता रहता है, जो इच्छाओं को तो पूर्ण करता है, परन्तु आशाओं को बढ़ाता है और भय को पुष्ट करता है, जो द्वैतभाव का उत्थान करता है, अविद्या को बढ़ाता है और इन्द्रियों को विषय-भोग में फंसाता है, जो केवल कल्पना से ही सृष्टि की रचना करता है और रची हुई सृष्टि को पुनः नष्ट कर देता है, जो मनोरथों के घड़े बनाता और फिर उन्हें तोड़ डालता है, जो भ्रम का आगार तथा वायु का सार है, जो बुद्धि का द्वार बन्द कर देता है, हे अर्जुन, उसी को मन समझना चाहिए। इसमें, संशय के लिए कुछ भी स्थान नहीं है। अब विषयों की बातें सुनो। स्पर्श, शब्द, रूप, रस और गन्ध ये पांच प्रकार के विषय ज्ञानेन्द्रियों के हैं। जिस प्रकार हरा चारा देखकर कोई पशु उत्कण्ठा से विह्वल होकर उसकी ओर दौड़ पड़ता है, उसी प्रकार इन पांचों द्वारों से ज्ञान भी बाहर की तरफ दौड़ता रहता है। अब स्वर, व्यंजन और विसर्ग का उच्चारण करना, किसी पदार्थ को पकड़ना या छोड़ना, चलना और मल का उत्सर्ग करना, ये पांचों कर्मेन्द्रियों के विषय हैं।

इन्द्रों की मचान या भरती के आधार पर क्रियाओं की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार इस शरीर में दस विषय हैं। अब मैं इच्छा का वर्णन करता हूं। कोई बीती हुई बात स्मरण होने पर अथवा उसके सम्बन्ध की कोई बात सुनाई पडने पर जो भावना क्षुब्ध होती है, इन्द्रियों और विषयों का संयोग होते ही जो तुरन्त काम का हाथ पकड़कर उठ खडी होती है, जिसके उठते ही मन इधर-उधर दौड़ने लगता है और जिस स्थान पर कभी पैर भी नही रखना चाहिए, उस स्थान पर इन्द्रियां मुंह डालने लगती हैं, जिस भावना के फेर मे पड़कर बुद्धि पागलों के समान हो जाती है और जिसे विषयों की बहुत अधिक लालसा या चसका रहता है, हे अर्जुन, वही भावना इच्छा है। और जब इन्द्रियों को उनकी इच्छा के अनुसार विषयों का उपभोग प्राप्त नहीं होता, तब इस प्रकार का जो हठपूर्ण विकार उत्पन्न होता है कि यह विषय हमें अवश्य प्राप्त होना चाहिए, उसी विकार को द्वेष कहना चाहिए। अब यह सुनो कि सुख किसे कहते हैं। जिसके कारण जीव और सब बातों को भूल जाता है, जो मन, वाचा और देह को शपथ देकर बांध देता है, जो देह की स्मृति को निराधार कर देता है, जो जन्म लेते ही प्राणों को पंगु बना देता है, परन्तु जो सात्त्विक भावों का दोहरा लाभ कराता है, इसके सिवा जो समस्त इन्द्रियों की वृत्तियों को थपकी देकर हृदय में शान्त भाव से सुला देता है और जिस अवस्था में जीव को आत्मस्वरूप का मार्ग प्राप्त होता है, उस अवस्था में जो भासमान होता है, उसी का नाम सुख है। और हे अर्जुन, जिस अवस्था में यह योग नहीं होता, उसी को तुम पूर्ण रूप से दुःख की अवस्था समझो। जब तक संकल्प-विकल्प रहते हैं, तब तक सुख कभी हो ही नहीं सकता। परन्तु ज्यों ही संकल्प-विकल्पों का नाश होता है, त्यों ही सुख स्वयं-सिद्ध रूप से प्राप्त होता है। अतएव संकल्प-विकल्पों के होने और न होने के दो कारणों से ही क्रमशः दुःख और सुख होता है। हे अर्जुन, इस शरीर में जो संगहीन तथा उदासीन चैतन्य की शक्ति रहती है, उसी का नाम चेतना है। जो नख से लेकर शिख तक सारे शरीर में समान रूप से जाग्रत रहती है, जो जाग्रति आदि तीनों अवस्थाओं में अखंड रहती है, जो मन और बुद्धि आदि में जीवता लाती है और उनको हरा-भरा रखती है, जो प्रकृति रूपी वन की स्वयं वसन्त लक्ष्मी है, जो सजीव और निर्जीव पदार्थों में भी अंश-भेद से (अर्थात् कहीं कम और कहीं अधिक) सदा संचार करती रहती है, वही चेतना है। हे अर्जुन, इसमें तिलमात्र भी असत्यता नहीं है। हे अर्जुन, राजा को अपने सैनिकों का व्यक्तिशः या अलग-अलग ज्ञान नहीं होता; परन्तु फिर भी उसकी आज्ञा परकीय अथवा शत्रु के चक्र का पराभव करती है। अथवा जब चन्द्रमा अपनी समस्त कलाओं से पूर्ण होता है, तब समुद्र में आपसे आप ज्वार आता है। अथवा जब चुम्बक पत्थर पास रहता है, तब लोहा आपसे आप हिलने लगता है। अथवा जिस समय सूर्य प्रकट होता है, उस समय लोग आपसे आप जाग उठते हैं। अथवा जिस प्रकार कछुए की मादा अपने बच्चों के मुख के साथ मुख नहीं लगाती और केवल उसकी दृष्टि से ही उन बच्चों का पोषण होता है, उसी प्रकार चेतना भी आत्मा की संगति से इस शरीर में रहकर जड़ को सजीव करती है। यह चेतना का वृत्तान्त हुआ। अब हे अर्जुन, धृति का वर्णन सुनो। इन पांच महाभूत नामक तत्त्वों में स्वभावतः सदा वैर रहता है। यह कभी नहीं होता कि पानी से पृथ्वी का नाश न हो। पानी को तेज सुखा देता है, तेज का वायु के साथ झगड़ा होता रहता है और गगन बहुत सहज में वायु को निगल जाता है। इसी प्रकार आकाश किसी दूसरे तत्त्व के साथ नहीं मिलता; परन्तु फिर भी वह सबमें घुसा रहता है और हर जगह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। इस प्रकार इन पांचों भूतों की एक-दूसरे के साथ नहीं पटती; परन्तु फिर भी ये पांचों भूत इस देह-क्षेत्र में एकत्र होकर मिलते हैं। वे अपना स्वाभाविक वैर छोड़कर देह में एक ही जगह रहते है और सब अपने-अपने गुणों से एक-दूसरे का पोषण करते हैं। जिस धैर्य के कारण उनमें सहसा न होने वाला इस प्रकार का मेल होता है और बना रहता है, उसी धैर्य का नाम धृति है। और हे अर्जुन, जीव के साथ इन छत्तीसों तत्त्वों का जो मेल होता है, उसी को इस प्रकरण में संघात कहते हैं। इस प्रकार मैंने तुमको छत्तीसों तत्त्वों के लक्षण

स्पष्ट करके बतला दिये हैं। इन्हीं सबके योग को क्षेत्र कहते हैं। जिस प्रकार रथ के भिन्न-भिन्न भागों की सजावट या योग को ही रथ कहते हैं, ऊपर और नीचे के समस्त अवयवों के समूह को जिस प्रकार 'देह' कहते हैं, अथवा हाथी-घोड़ों आदि के संघटन को जिस प्रकार 'सेना' कहते हैं अथवा अक्षरों के समूह को जिस प्रकार 'वाक्य' कहते हैं अथवा मेघों के समुदाय को जिस प्रकार 'अभ्र' तथा समस्त लोक-समुदाय को 'जगत्' कहते हैं अथवा तेल-वत्ती और अग्नि तीनों का संयोग होने पर जिस प्रकार 'दीपक' होता है उसी प्रकार जिसके कारण ये छत्तीसों तत्त्व एकरूप होते हैं, उसी एकरूप को सामुदायिक दृष्टि से 'क्षेत्र' कहते हैं। और इन्हीं महाभूतों के एकरूप होकर कार्य करने से इसमें पाप और पुण्य की फसल होती है और इसीलिए हम भी आलंकारिक दृष्टि से इसे 'क्षेत्र' ही कहते हैं। कुछ लोग इसी को 'देह' भी कहते हैं। परन्तु इन बातों का विस्तार करने की आवश्यकता नहीं। यदि सच पूछो तो इसके अनन्त नाम हैं। परन्तु परब्रह्म के इस पार और स्थावर या जड़ जगत् की सीमा तक जो-जो पदार्थ उत्पन्न तथा नष्ट होते हैं, वे सब क्षेत्र ही हैं। परन्तु उनमें देव, मानव और नाग आदि जो योनि-भेद या भिन्न-भिन्न वस्तुओं के वर्ग होते हैं, वे सब सत्त्व, रज और तम गुणों और कर्मों की संगति से उत्पन्न होते हैं। हे अर्जुन, इन गुणों की व्यवस्था मैं तुमको आगे चलकर बतलाऊंगा। अभी मैं तुमको ज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करके बतलाता हूं। क्षेत्र और उसके विकारों का सम्पूर्ण स्वरूप तुमको बतला चुका हूं और अब यह बतलाता हूं कि निर्मल तथा श्रेष्ठ ज्ञान क्या है। जिस ज्ञान की प्राप्ति के लिए योगी लोग स्वर्ग का टेढ़ा-तिरछा मार्ग पार करके आकाश को भी निगल जाते हैं, ऋद्धि-सिद्धि के मोह में न पड़कर योग-साधना सरीखी दुर्घट बात भी सहन करते हैं, तपों के कठिन पर्वत पार करते हैं, करोड़ों यज्ञ-यागों को निछावर कर देते हैं और सारा कर्मकांड उलट-पुलट डालते हैं अथवा बड़े आवेश से भजन-मार्ग में कूद पड़ते हैं और कोई-कोई सुषुम्ना की सुरंग तक में प्रवेश कर जाते हैं; इस प्रकार जिस ज्ञान की प्राप्ति के लिए मुनियों की आशापूर्ण इच्छा वेद-रूपी वृक्ष के पत्ते-पत्ते पर चक्कर लगाया करती है और, हे अर्जुन, जिस ज्ञान के लिए इस आशा से सैकड़ों जन्म गुरु की सेवा में बिताये जाते हैं कि कभी तो वे कृपा करेंगे, जिस ज्ञान के प्राप्त होने पर मोह पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है, जो ज्ञान जीव को शिव के साथ एक कर दिखलाता है, जो ज्ञान इन्द्रियों का द्वार बन्द करता है, प्रवृत्ति की टांगें तोड़ डालता है और मन का दुःख दूर कर देता है, जिसके कारण द्वैत का अकाल पड़ जाता है और सम भावना या ऐक्य का सुकाल होता है, जो ज्ञान मद का आधार ही नष्ट कर डालता है, प्रबल मोह को निगल जाता है और द्वैत का यह भाव कहीं रहने नहीं देता कि यह मैं हूं और वह दूसरा या पराया है, जो संसार को समूल उखाड़कर फेंक देता है, संकल्प का कीचड़ धोकर साफ कर देता है और ज्ञेय वस्तु अर्थात् परमात्म तत्त्व से उसकी भेंट करा देता है, जिसका साधारणतः आकलन करना भी बहुत ही कठिन होता है, जिसका उदय होते ही जगत् को संचालित करने वाले प्राण पंगुल (नितान्त निर्बल) हो जाते हैं, जिस ज्ञान के प्रकाश से बुद्धि की आंखें खुल जाती हैं और जीव आनन्द की राशि पर लोटने लगता है, जो ज्ञान अत्यन्त पवित्र है, जिसके कारण दोषों से भरा हुआ मन निर्मल हो जाता है, जिसके योग से आत्मा को लगा हुआ जीवभाव वाला क्षय रोग बिलकुल अच्छा हो जाता है, यद्यपि उस ज्ञान का निरूपण करना सम्भव नहीं है, परन्तु फिर भी मैं उसका निरूपण करता हूं। ज्ञान का निरूपण सुनकर बुद्धि से ही उसे समझना चाहिए, क्योंकि बिना बुद्धि के केवल आंखों से वह कभी दिखलाई ही नहीं पड़ सकता। परन्तु जब एक बार बुद्धि के द्वारा वह जान लिया जाता है और इस शरीर पर वह अपनी सत्ता चलाने लगता है, तब वह इन्द्रियों की क्रियाओं के रूप में नेत्रों को भी दिखाई देने लगता है। जिस प्रकार वृक्षों के हरे-भरे और तेजयुक्त होने से बसन्त के आगमन का पता चलता है, उसी प्रकार इन्द्रियों की अवस्था देखकर ज्ञान का भी अनुमान किया जा सकता है। वृक्षों की जड़ को पृथ्वी के गर्भ में भी पानी मिल जाता है और तब वह पानी डालियों के पत्तों में भी अपनी झलक दिखलाता है। अथवा पृथ्वी में रहने वाली

सुन्दर अंकुरों को भी देखने से जानी जाती है। अथवा कुलीन पुरुषों का महत्त्व उनके आचरण से ही समझ में आ जाता है। जब मनुष्य किसी का आदर-सत्कार करने से बहुत अधिक व्यस्त होता है, तब उसकी उसी व्यस्तता से उसका स्नेह प्रकट होता है अथवा शान्त और भव्य आकृति से मनुष्य के पुण्यशील होने का पता चलता है। अथवा जब कपूर-कदली में कपूर भर जाता है, तब चारों ओर फैलने वाली सुगन्ध से ही इस बात का पता चल जाता है कि उसमें कपूर भर गया है। अथवा कांच की कन्दील में रखे हुए दीपक का प्रकाश चारों ओर बाहर फैल जाता है। इसी प्रकार जब मनुष्य के हृदय में ज्ञान आकर उपस्थित होता है, तब बाहर भी उसके बहुत-से चिह्न प्रकट होने लगते हैं। अब मैं वही लक्षण तुमको बतलाता हूं। ध्यान देकर सुनो।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥

"जिसे किसी लौकिक विषय में पूरी तरह से रंगा जाना अच्छा नहीं लगता, लोगों में अपने बड़प्पन के साथ मिलना जिसे संकट के समान जान पड़ता है, जो अपने गुणों की स्तुति या प्रशंसा होने पर, अपने सम्मान का आयोजन होने पर अथवा विशेष योग्यता को अपने साथ सम्बद्ध होते देखकर उसी प्रकार घबराता है, जिस प्रकार किसी व्याध के हाथ में पड़ने पर हिरन घबराता और व्याकुल होता है अथवा कोई तैरने वाला किसी भंवर में पड़ने पर व्याकुल होता है; हे अर्जुन, जिसे लोगों के द्वारा किया जाने वाला अपना सम्मान संकट के समान कष्टदायक जान पड़ता है, जो लौकिक महत्त्व को अपने साथ स्पर्श भी नहीं होने देता, जो अपना सम्मान अपनी आंखों से नहीं देख सकता, जो अपनी लौकिक कीर्ति नहीं सुन सकता, जिसे यह भी सहन नहीं होता कि लोगों को मेरा स्मरण हो और वे मेरी चर्चा करें, फिर आदर-सत्कार की तो भला बात ही क्या है, जिसे उस समय अपनी मृत्यु ही सामने दिखाई पड़ती है, जिस समय लोग उसे नमस्कार करते हैं, जो बृहस्पति के समान ज्ञानवान् होने पर भी अपने महत्त्व के भय से पागलों के समान हो जाता है, जो लौकिक प्रसिद्धि से घबराता है, जो शास्त्रों के सम्बन्ध में बकवाद करना छोड़कर चुपचाप एकान्त में पड़ा रहना पसन्द करता है, जो हृदय से यह चाहता है कि संसार मेरा अपमान और उपेक्षा करे और मेरे सगे-सम्बन्धी मेरी ओर आंख उठाकर देखें भी नहीं, जो अपना आचरण प्रायः ऐसा ही रखता है कि उसमें हीनता और तुच्छता ही शोभा दे और अंगों पर हीनता के ही भूषण चढ़ें, जो सदा इस बात की इच्छा करता है कि मेरे सम्बन्ध में लोगों की यही भावना रहे कि यह जीवित नहीं है, यह बिलकुल है ही नहीं, इसका कोई अस्तित्व ही नहीं है, जिसकी चाल-ढाल ऐसी होती है कि लोगों को देखकर यह भ्रम होता है कि यह चलता है या हवा के साथ लुढ़कता-पुढ़कता चला जा रहा है, जो सदा यही चाहता है कि मेरा अस्तित्व ही न रह जाय, मेरा नाम और रूप भी नष्ट हो जाय, मुझे देखकर भूतमात्र भयभीत होकर दूर भाग जायं, जो सदा एकान्त में ही रहता है और निर्जन प्रदेश की कल्पना से ही जिसकी जान-में-जान आती है, जिसकी केवल वायु के साथ ही पटती है, जिसे आकाश के साथ बातें करना ही अच्छा लगता है और वृक्ष ही जिसे सबसे ज्यादा अच्छे लगते हैं, हे अर्जुन, जिस पुरुष में तुम्हें ये सब लक्षण दिखाई पड़ें, उसके सम्बन्ध में यह समझ लो कि वह ज्ञान में तल्लीन हो गया है। इन्हीं लक्षणों से यह जानना चाहिए कि किसी पुरुष में अमानित्व है या नहीं। अब मैं तुम्हें यह बतलाता हूं कि 'अदंभित्व' की पहचान किस प्रकार की जानी चाहिए। अदंभित्व भी ऊपर बतलाये हुए प्रकार का ही होता है। हे अर्जुन, जिस प्रकार लोभी मनुष्य प्राण जाने पर भी यह नहीं बतलाता कि मैंने अपने द्रव्य का संग्रह कहां छिपाकर रखा है, उसी प्रकार जिसमें अदंभित्व होता है, जिसमें दम्भ का अभाव होता है, वह प्राणों पर संकट आने पर भी कभी यह नहीं बतलाता कि मैंने कौन-कौन-से पुण्यकर्म किये हैं। हे अर्जुन, जिस प्रकार दुष्ट गौ स्तन में आया हुआ दूध भी चुरा लेती है अथवा वेश्या अपनी उतरती हुई उमर छिपाती है, जंगल में रास्ता भूल जाने वाला

स्पष्ट करके बतला दिय है। इन्हीं सबके योग को क्षेत्र कहते है। जिस प्रकार रथ के भिन्न-भिन्न भागों की सजावट या योग को ही रथ कहते हैं, ऊपर और नीचे के समस्त अवयवों के समूह को जिस प्रकार 'देह' कहते हैं, अथवा हाथी-घोड़ों आदि के संघटन को जिस प्रकार 'सेना' कहते हैं अथवा अक्षरों के समूह को जिस प्रकार 'वाक्य' कहते हैं अथवा मेघों के समुदाय को जिस प्रकार 'अभ्र' तथा समस्त लोक-समुदाय को 'जगत्' कहते हैं अथवा तेल-बत्ती और अग्नि तीनों का संयोग होने पर जिस प्रकार 'दीपक' होता है उसी प्रकार जिसके कारण ये छत्तीसों तत्त्व एकरूप होते हैं, उसी एकरूप को सामुदायिक दृष्टि से 'क्षेत्र' कहते हैं। और इन्हीं महाभूतों के एकरूप होकर कार्य करने से इसमें पाप और पुण्य की फसल होती है और इसीलिए हम भी आलंकारिक दृष्टि से इसे 'क्षेत्र' ही कहते हैं। कुछ लोग इसी को 'देह' भी कहते हैं। परन्तु इन बातों का विस्तार करने की आवश्यकता नहीं। यदि सच पूछो तो इसके अनन्त नाम हैं। परन्तु परब्रह्म के इस पार और स्थावर या जड़ जगत् की सीमा तक जो-जो पदार्थ उत्पन्न तथा नष्ट होते हैं, वे सब क्षेत्र ही हैं। परन्तु उनमें देव, मानव और नाग आदि जो योनि-भेद या भिन्न-भिन्न वस्तुओं के वर्ग होते हैं, वे सब सत्त्व, रज और तम गुणों और कर्मों की संगति से उत्पन्न होते हैं। हे अर्जुन, इन गुणों की व्यवस्था मैं तुमको आगे चलकर बतलाऊंगा। अभी मैं तुमको ज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करके बतलाता हूं। क्षेत्र और उसके विकारों का सम्पूर्ण स्वरूप तुमको बतला चुका हूं और अब यह बतलाता हूं कि निर्मल तथा श्रेष्ठ ज्ञान क्या है। जिस ज्ञान की प्राप्ति के लिए योगी लोग स्वर्ग का टेढ़ा-तिरछा मार्ग पार करके आकाश को भी निगल जाते हैं, ऋद्धि-सिद्धि के मोह में न पड़कर योग-साधना सरीखी दुर्घट बात भी सहन करते हैं, तपों के कठिन पर्वत पार करते हैं, करोड़ों यज्ञ-यागों को निछावर कर देते हैं और सारा कर्मकांड उलट-पुलट डालते हैं अथवा बड़े आवेश से भजन-मार्ग में कूद पड़ते हैं और कोई-कोई सुषुम्ना की सुरंग तक में प्रवेश कर जाते हैं; इस प्रकार जिस ज्ञान की प्राप्ति के लिए मुनियों की आशापूर्ण इच्छा वेद-रूपी वृक्ष के पत्ते-पत्ते पर चक्कर लगाया करती है और, हे अर्जुन, जिस ज्ञान के लिए इस आशा से सैकड़ों जन्म गुरु की सेवा में बिताये जाते हैं कि कभी तो वे कृपा करेंगे, जिस ज्ञान के प्राप्त होने पर मोह पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है, जो ज्ञान जीव को शिव के साथ एक कर दिखलाता है, जो ज्ञान इन्द्रियों का द्वार बन्द करता है, प्रवृत्ति की टांगें तोड़ डालता है और मन का दुःख दूर कर देता है, जिसके कारण द्वैत का अकाल पड़ जाता है और सम भावना या ऐक्य का सुकाल होता है, जो ज्ञान मद का आधार ही नष्ट कर डालता है, प्रबल मोह को निगल जाता है और द्वैत का यह भाव कहीं रहने नहीं देता कि यह मैं हूं और वह दूसरा या पराया है, जो संसार को समूल उखाड़कर फेंक देता है, संकल्प का कीचड़ धोकर साफ कर देता है और ज्ञेय वस्तु अर्थात् परमात्म तत्त्व से उसकी भेंट करा देता है, जिसका साधारणतः आकलन करना भी बहुत ही कठिन होता है, जिसका उदय होते ही जगत् को संचालित करने वाले प्राण पंगुल (नितान्त निर्बल) हो जाते हैं, जिस ज्ञान के प्रकाश से बुद्धि की आंखें खुल जाती हैं और जीव आनन्द की राशि पर लोटने लगता है, जो ज्ञान अत्यन्त पवित्र है, जिसके कारण दोषों से भरा हुआ मन निर्मल हो जाता है, जिसके योग से आत्मा को लगा हुआ जीवभाव वाला क्षय रोग बिलकुल अच्छा हो जाता है, यद्यपि उस ज्ञान का निरूपण करना सम्भव नहीं है, परन्तु फिर भी मैं उसका निरूपण करता हूं। ज्ञान का निरूपण सुनकर बुद्धि से ही उसे समझना चाहिए, क्योंकि बिना बुद्धि के केवल आंखों से वह कभी दिखलाई ही नहीं पड़ सकता। परन्तु जब एक बार बुद्धि के द्वारा वह जान लिया जाता है और इस शरीर पर वह अपनी सत्ता चलाने लगता है, तब वह इन्द्रियों की क्रियाओं के रूप में नेत्रों को भी दिखाई देने लगता है। जिस प्रकार वृक्षों के हरे-भरे और तेजयुक्त होने से बसन्त के आगमन का पता चलता है, उसी प्रकार इन्द्रियों की अवस्था देखकर ज्ञान का भी अनुमान किया जा सकता है। वृक्षों की जड़ को पृथ्वी के गर्भ में भी पानी मिल जाता है और तब वह पानी डालियों के पत्तों में भी अपनी झलक दिखलाता है। अथवा पृथ्वी में रहने वाली

सुन्दर अङ्कुरों को भी देखने से जानी जाती है। अथवा कुलीन पुरुषों का महत्त्व उनके आचरण से ही समझ में आ जाता है। जब मनुष्य किसी का आदर-सत्कार करने से बहुत अधिक व्यस्त होता है, तब उसकी उसी व्यस्तता से उसका स्नेह प्रकट होता है अथवा शान्त और भव्य आकृति से मनुष्य के पुण्यशील होने का पता चलता है। अथवा जब कपूर-कदली में कपूर भर जाता है, तब चारों ओर फैलने वाली सुगन्ध से ही इस बात का पता चल जाता है कि उसमें कपूर भर गया है। अथवा कांच की कन्दील में रखे हुए दीपक का प्रकाश चारों ओर बाहर फैल जाता है। इसी प्रकार जब मनुष्य के हृदय में ज्ञान आकर उपस्थित होता है, तब बाहर भी उसके बहुत-से चिह्न प्रकट होने लगते हैं। अब मैं वही लक्षण तुमको बतलाता हूं। ध्यान देकर सुनो।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥

''जिसे किसी लौकिक विषय में पूरी तरह से रंगा जाना अच्छा नहीं लगता, लोगों में अपने बड़प्पन के साथ मिलना जिसे संकट के समान जान पड़ता है, जो अपने गुणों की स्तुति या प्रशंसा होने पर, अपने सम्मान का आयोजन होने पर अथवा विशेष योग्यता को अपने साथ सम्बद्ध होते देखकर उसी प्रकार घबराता है, जिस प्रकार किसी व्याध के हाथ में पड़ने पर हिरन घबराता और व्याकुल होता है अथवा कोई तैरने वाला किसी भंवर में पड़ने पर व्याकुल होता है; हे अर्जुन, जिसे लोगों के द्वारा किया जाने वाला अपना सम्मान संकट के समान कष्टदायक जान पड़ता है, जो लौकिक महत्त्व को अपने साथ स्पर्श भी नहीं होने देता, जो अपना सम्मान अपनी आंखों से नहीं देख सकता, जो अपनी लौकिक कीर्ति नहीं सुन सकता, जिसे यह भी सहन नहीं होता कि लोगों को मेरा स्मरण हो और वे मेरी चर्चा करें, फिर आदर-सत्कार की तो भला बात ही क्या है, जिसे उस समय अपनी मृत्यु ही सामने दिखाई पड़ती है, जिस समय लोग उसे नमस्कार करते हैं, जो बृहस्पति के समान ज्ञानवान् होने पर भी अपने महत्त्व के भय से पागलों के समान हो जाता है, जो लौकिक प्रसिद्धि से घबराता है, जो शास्त्रों के सम्बन्ध में बकवाद करना छोड़कर चुपचाप एकान्त में पड़ा रहना पसन्द करता है, जो हृदय से यह चाहता है कि संसार मेरा अपमान और उपेक्षा करे और मेरे सगे-सम्बन्धी मेरी ओर आंख उठाकर देखें भी नहीं, जो अपना आचरण प्रायः ऐसा ही रखता है कि उसमें हीनता और तुच्छता ही शोभा दे और अंगों पर हीनता के ही भूषण चढ़ें, जो सदा इस बात की इच्छा करता है कि मेरे सम्बन्ध में लोगों की यही भावना रहे कि यह जीवित नहीं है, यह बिलकुल है ही नहीं, इसका कोई अस्तित्व ही नहीं है, जिसकी चाल-ढाल ऐसी होती है कि लोगों को देखकर यह भ्रम होता है कि यह चलता है या हवा के साथ लुढ़कता-पुढ़कता चला जा रहा है, जो सदा यही चाहता है कि मेरा अस्तित्व ही न रह जाय, मेरा नाम और रूप भी नष्ट हो जाय, मुझे देखकर भूतमात्र भयभीत होकर दूर भाग जायं, जो सदा एकान्त में ही रहता है और निर्जन प्रदेश की कल्पना से ही जिसकी जान-में-जान आती है, जिसकी केवल वायु के साथ ही पटती है, जिसे आकाश के साथ बातें करना ही अच्छा लगता है और वृक्ष ही जिसे सबसे ज्यादा अच्छे लगते हैं, हे अर्जुन, जिस पुरुष में तुम्हें ये सब लक्षण दिखाई पड़ें, उसके सम्बन्ध में यह समझ लो कि वह ज्ञान में तल्लीन हो गया है। इन्हीं लक्षणों से यह जानना चाहिए कि किसी पुरुष में अमानित्व है या नहीं। अब मैं तुम्हें यह बतलाता हूं कि 'अदंभित्व' की पहचान किस प्रकार की जानी चाहिए। अदंभित्व भी ऊपर बतलाये हुए प्रकार का ही होता है। हे अर्जुन, जिस प्रकार लोभी मनुष्य प्राण जाने पर भी यह नहीं बतलाता कि मैंने अपने द्रव्य का संग्रह कहां छिपाकर रखा है, उसी प्रकार जिसमें अदंभित्व होता है, जिसमें दम्भ का अभाव होता है, वह प्राणों पर संकट आने पर भी कभी यह नहीं बतलाता कि मैंने कौन-कौन-से पुण्यकर्म किये हैं। हे अर्जुन, जिस प्रकार दुष्ट गौ स्तन में आया हुआ दूध भी चुरा लेती है अथवा वेश्या अपनी उतरती हुई उमर छिपाती है, जंगल में रास्ता भूल जाने वाला

सम्पन्न व्यक्ति जिस प्रकार किसी पर अपनी सम्पन्नता नहीं प्रकट होने देता, कुलीन स्त्री जिस प्रकार अपने सब अंग खूब अच्छी तरह छिपाये रखती है अथवा खेतिहर जिस प्रकार जमीन में बोये हुए अपने बीज मिट्टी के नीचे अच्छी तरह छिपा देता है, उसी प्रकार जो अपने दान आदि पुण्यकर्म सदा गुप्त रखता है, जो शरीर के दिखावटी चोंचले नहीं करता, जो लोगों को प्रसन्न करने के झगड़े में नहीं पड़ता और अपने धार्मिक कृत्यों की चर्चा नहीं छेड़ता, जो अपने किये हुए उपकारों का कभी मुंह से उच्चारण भी नहीं करता, जो अपनी सीखी हुई विद्या लोगों को दिखाता नहीं फिरता और अपना संपादित किया हुआ ज्ञान लौकिक कीर्ति के लिए नहीं बेचता, जो शारीरिक विषयों का उपभोग करने के लिए कानी कौड़ी भी खर्च नहीं करता, परन्तु धार्मिक कृत्यों के लिए अपना सारा धन व्यय करने में भी जो आगा-पीछा नहीं करता, जिसके घर में तो प्रत्येक बात में दरिद्रता दिखाई दे और शरीर बिलकुल दुर्बल तथा दीन-हीन दिखाई पड़े, परन्तु जो दान देने में स्वयं कल्पतरु के साथ भी प्रतिज्ञापूर्वक स्पर्धा करता हो; तात्पर्य यह कि जो अपने धार्मिक कृत्यों में बहुत चतुर हो, दान के समय अत्यन्त उदार हो और अध्यात्म चर्चा में प्रवीण हो, परन्तु और सब विषयों में पागल-सा दिखाई दे, उसी को दम्भहीन समझना चाहिए। केले का तना हलका और अन्दर से पोला जान पड़ता है, परन्तु रस से भरे हुए बड़े-बड़े फल उसी में लगते हैं। बादल इतने पतले और हलके होते हैं कि जरा-सी हवा के झोंके से उड़ जाते हैं; परन्तु आश्चर्य की बात यह कि उन्हीं बादलों में से जल की बड़ी-बड़ी धाराएं बरसती हैं। इसी प्रकार वह परम साधना का मार्ग तो पूरी तरह से जानता है, परन्तु मौखिक बातों में बिलकुल दीन-हीन दिखाई पड़ता है। हे अर्जुन, जिसमें ये सब लक्षण अच्छी तरह दिखाई पड़ें, उसके सम्बन्ध में समझना चाहिए कि ज्ञान उसकी मुट्ठी में आ गया है। यह अदंभित्व का वर्णन हुआ। अब यह सुनो कि अहिंसा किसे कहते हैं। पहले यह बात समझ रखो कि अहिंसा की व्याख्या अनेक प्रकार से की जाती है। सब लोग अपने-अपने मत के अनुसार उसका वर्णन करते हैं। परन्तु उन वर्णनों में इतनी विक्षिप्तता है कि मानो किसी वृक्ष की शाखाएं काटकर उसके तने के चारों ओर बांध दी गई हों अथवा हाथ तोड़कर उनका मांस पकाया गया हो और फिर उसी से अपनी भूख शान्त की गई हो अथवा देवमन्दिर तोड़कर देवताओं के बैठने के लिए मिट्टी का चबूतरा बनाया गया हो। इसी प्रकार पूर्व मीमांसा में कुछ इस तरह का विलक्षण निर्णय किया गया है कि हिंसा करके अहिंसा का साधन करना चाहिए। उनका मत है कि जिस समय अवर्षा का संकट सामने हो, और वह संकट सारे संसार में फैलता हुआ दिखाई पड़े, तो वर्षा कराने के लिए अनेक प्रकार के यज्ञ करने चाहिए। परन्तु उन यज्ञों में स्पष्ट रूप से पशुओं की हिंसा होती है। फिर वहां अहिंसा का प्रवेश कैसे हो सकता है ! शुद्ध हिंसा के बीज बोकर अहिंसा की फसल कैसे काटी जा सकती है ! परन्तु इन याज्ञिकों का साहस भी कुछ विलक्षण ही है। और हे अर्जुन, जिसे आयुर्वेद कहते हैं, वह भी इसी मार्ग से चलता है। उसका सिद्धान्त ही यह है कि एक जीव के प्राण बचाने के लिए एक दूसरे जीव का घात करना चाहिए। अनेक प्रकार के दुःखों से पीड़ित और रोगों में पड़कर लोटने वाले जीवों को देखकर उनकी हिंसा का निवारण करने के लिए रोग की चिकित्सा करना तो ठीक है; परन्तु वह चिकित्सा करने के लिए पहले तो किसी वनस्पति का कन्द खोदा जाय और दूसरी किसी वनस्पति के पत्ते जड़ समेत उखाड़े जायं, किसी वनस्पति को बीच से ही तोड़ लिया जाय और किसी वृक्ष की छाल छील ली जाय और कुछ वनस्पतियों के कोमल अंकुरों को बर्तन में उबाला जाय, तब कहीं जाकर लोगों की चिकित्सा होती है। जो वृक्ष जन्म से ही कभी किसी के साथ वैर नहीं करते, उनका रस निकालने के लिए उनके सर्वांग में चीरे लगाये जाते हैं और, हे अर्जुन, इस प्रकार वृक्षों के प्राण लेकर रोगियों को रोगों से मुक्त किया जाता है। और जंगमों अर्थात् सजीव प्राणियों को भी चीरकर उनके शरीर में से पित्त आदि पदार्थ निकालकर और उन्हीं से औषध प्रस्तुत करके कुछ रोगियों के जाते हुए प्राण बचाए जाते हैं। रहने के लिए बने हुए पक्के मकान तोड़कर उनके मसाले से मन्दिर

बनाना, रोजगार में गरीबों को लूटकर अन्नसत्र चलाना, सिर ढंककर घुटने नंगे करना, घर तोड़कर मंडप बनाना, कपड़े जलाकर उनकी आग सेंकना अथवा हाथी को नहलाना अथवा बैल बेचकर मकान बनाना अथवा तोते को उड़ाकर पिंजरा बनाना आदि-आदि काम है या दिल्लगी ! इन सब बातों को देखकर कोई कहां तक न हंसे ! कुछ लोग पानी छानकर पीते हैं और इसे पुण्यकर्म का मार्ग कहते हैं। परन्तु पानी को छानने के फेर में ही बहुत-से जीवों की हत्या हो जाती है। कुछ लोग हिंसा के भय से अन्न का एक कण भी नहीं खाते। परन्तु भूखे रहने के कारण उनके प्राण छटपटाते रहते हैं। यह भी हिंसा ही है। इसलिए, भाई अर्जुन, कर्मकांड का जो यह सिद्धान्त है कि हिंसा ही अहिंसा है सो वह सिद्धान्त इसी प्रकार का है। पहले जब हमने इस अहिंसा का नाम लिया था, तभी यह सहज स्फूर्ति हुई थी कि इस मत का स्वरूप स्पष्ट कर दें। उस समय ऐसा जान पड़ा कि यह मत भी सहज में ध्यान में आ गया है। फिर उसका स्पष्टीकरण क्यों छोड़ दिया जाय ! यही समझकर हमने ये सब बातें कही हैं। और हमारा अभिप्राय यह है कि तुम भी उसी दृष्टि से यह बात समझ लो। इसके सिवा, हे अर्जुन, ऊपर कही हुई बातों का अहिंसा के विषय के साथ मुख्य रूप से सम्बन्ध है। यदि यह बात न होती तो हम इस टेढ़े-तिरछे रास्ते पर चलकर इस विषय का व्यर्थ इतना विस्तार क्यों करते ! और हे अर्जुन, एक बात यह भी है कि अपने मत को अच्छी तरह स्पष्ट करने के लिए सामने आये हुए दूसरे मतों का उचित रूप से विवेचन करना भी आवश्यक ही होता है। इसलिए अब जो निरूपण किया है, वह इसी कारण से किया है। अब इसके उपरान्त मैं स्वयं अपने मत का प्रतिपादन करूंगा। जिस अहिंसा का बाना धारण करने पर अन्तर का ज्ञान व्यक्त होता है, उस अहिंसा का स्वरूप अब स्पष्ट किया जायगा। परन्तु इस बात का पता आचरण से ही चलता है कि किसी में अहिंसा भाव पूर्ण रूप से आया है या नहीं। जिस प्रकार कसौटी पर सोने का कस आता है, उसी प्रकार जब ज्ञान का मन के साथ मेल होता है, तब तुरन्त ही मन में अहिंसा का उदय होता है। अब सुनो कि अहिंसा का यह उदय किस प्रकार होता है। तरंगों को बिना तोड़े, पानी को बिना हिलाये-डुलाये, वेग-सहित परन्तु फिर भी बिलकुल हलके पैरों से केवल आमिष (अर्थात् मछली) की ओर ध्यान रखकर जिस प्रकार बगुला बहुत ही सावधानी से पानी में पैर रखता है, अथवा भ्रमर इस डर से कमल पर बहुत ही धीरे से पैर रखता है कि कहीं उसके अन्दर का पराग टूट न जाय, उसी प्रकार अपने मन में यह समझना कि प्रत्येक परमाणु के साथ बहुत ही छोटे-छोटे जीव लगे रहते हैं और इसीलिए बहुत ही धीरे-धीरे पैर रखना अहिंसा का लक्षण है। ऐसा मनुष्य जिस मार्ग से चलता है, वह मार्ग कृपा से पूर्ण हो जाता है और वह जिस दिशा में देखता है, उस दिशा को दया तथा प्रेम से भर देता है। दूसरे जीवों की रक्षा करने के लिए सदा अपना जीवन अर्पित करने के लिए प्रस्तुत रहता है। हे अर्जुन, ऐसे पुरुष के ध्यानपूर्वक चलने का किसी प्रकार के शब्दों से वर्णन नहीं हो सकता और उसके लिए कोई नाप पूरी नहीं हो सकती। प्रेम से भरकर बिल्ली जब अपने बच्चों को अपने मुंह से पकड़ती है, उस समय वह अपने दांतों की नोंकों को जितना हलका रखती होगी, अथवा प्रेमपूर्ण माता जब अपने बच्चों की प्रतीक्षा करती है, उस समय उसकी दृष्टि में जितनी अधिक कोमलता आ जाती है अथवा कमल के पत्ते हिलाने से उसकी हवा आंखों को जितनी कोमल लगती है, उतनी ही कोमलता से उसके पैर भी जमीन पर पड़ते हैं। वे पैर जहां पड़ते हैं, वहां रहने वाले जीवों को भी सुख ही होता है। हे अर्जुन, इस प्रकार धीरे-धीरे पैर रखने के समय यदि उसे रास्ते में कहीं कीड़ा-मकोड़ा दिखाई पड़ता है तो वह धीरे से पीछे हट जाता है। वह पैर मानों यह कहता है कि यदि मैं जोर से चलूंगा तो स्वामी की आत्मसमाधि टूट जायगी और उनकी स्थिर प्रकृति को आघात लगेगा। इसी चिन्ता से वह पैर पीछे हट जाता है, परन्तु वह किसी जीव को दबा नहीं देता। जहां इतना अधिक ध्यान हो कि मनुष्य तृण को भी जीव समझे और इसीलिए उसे अपने पैरों से न दबने दे, वहां लापरवाही से पैर रखने का कोई जिक्र ही नहीं हो सकता। च्युंटी से

जिस प्रकार मेरु पर्वत लांघा नहीं जा सकता अथवा मच्छर से जैसे तैरकर समुद्र पार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मार्ग में पड़ने वाला जीव उसके पैरों से दब नहीं सकता। जिसके चलने में इतनी अधिक कृपा भरी रहती है, उसकी वाणी में तो तुम्हें मूर्तिमती और जीती-जागती दया ही दिखाई देगी। उसके श्वास भी बहुत ही मन्द तथा कोमल होते हैं। उसकी मुद्रा मानों प्रेम का मायका (जन्म-स्थान) होती है। उसके दांत माधुर्य के अंकुर ही होते हैं। जब ऐसे मनुष्य के मुख से अक्षर निकलते हैं, तब मानो उन अक्षरों के आगे-आगे स्नेह पसीजता चलता है। उसका ऐसा ढंग रहता है कि कृपा आगे-आगे चलती है और उसके मुख से निकले हुए शब्द पीछे-पीछे रहते हैं। साधारणतः तो वह कुछ बोलता ही नहीं, परन्तु यदि वह कभी अपने मन में बोलने का कुछ विचार करता है, तो उसके शब्द इतने कोमल होते हैं कि उनसे कभी किसी को कुछ भी कष्ट नहीं पहुंचता। जब वह बोलने लगता है, तब कभी-कभी बहुत अधिक भी बोल जाता है, परन्तु उसकी बातों से कभी किसी के मन को कुछ भी कष्ट नहीं होता और किसी को उससे डर नहीं लगता। उसे सदा इस बात का ध्यान रहता है कि कहीं मेरे बोलने से किसी की कोई बनी-बनाई बात न बिगड़ जाय, कहीं कोई मुझसे डर न जाय या चौंक न पड़े अथवा कहीं कोई मेरे शब्दों का तिरस्कार या अपमान न करे, इसलिए मुझसे कोई ऐसी बात नहीं होनी चाहिए जिससे किसी को क्लेश हो। मुझसे किसी का बाल भी बांका न होने पावे। और इन्हीं सब बातों का ध्यान रखकर वह प्रायः कुछ बोलता ही नहीं। यदि किसी के बहुत अधिक कहने-सुनने पर वह कभी कुछ बोलता भी है, तो श्रोताओं को ऐसा जान पड़ता है कि हमारे माता-पिता बोल रहे हैं। उसके शब्द इतने शुद्ध और सरल होते हैं कि उन्हें सुनते ही ऐसा जान पड़ता है कि मानो स्वयं नाद-ब्रह्म का अवतार हुआ है अथवा गंगा-जल ही उछल रहा है अथवा पतिव्रता को वृद्धावस्था प्राप्त हुई है। उसके वे नपे-तुले और मधुर शब्द अमृत की तरंगों के समान जान पड़ते हैं। उलटा तर्क या बातों का क्रम, हठवाद, जीव को सन्ताप देने वाली कठोरता, परिहास, छलवाद, मर्मस्पर्शी बातें, दूसरों का विरोध करना या किसी की बातों में बाधक होना, चिढ़ना, कटुता, आशा दिखलाना, कुशंकाएं निकालना और बहुत बढ़-बढ़कर बोलना आदि दुर्गुण उसकी बातों में बिलकुल नहीं होते। और हे अर्जुन, उसका दृष्टिपात भी ऐसा होता है कि उसकी भौंहें बिलकुल ढीली छुटी हुई दिखाई देती हैं और उनमें बल नही पड़े होते। इसका कारण यही है कि वह यह समझता है कि भूतमात्र में परब्रह्म का निवास है; और इसीलिए वह किसी वस्तु की ओर इस भय से दृष्टि गड़ाकर नहीं देखता कि कहीं मेरी वह दृष्टि किसी को चुभ न जाय। उसकी सदा की यही वृत्ति रहती है, इसलिए यदि वह अपने हृदय से उछलने वाली कृपा के बल से प्रसन्न होने वाली आंखें खोलकर किसी की ओर एकाध बार देखता है, तब जिसकी ओर वह देखता है, उसका उसी प्रकार समाधान होता है, जिस प्रकार चन्द्र-बिम्ब से निकलने वाली अमृत-धारा देखते ही चकोर का पेट तुरन्त भर जाता है और उसका समाधान हो जाता है। उसकी कृपादृष्टि पड़ते ही सब जीवों की यही दशा होती है। यह प्रसिद्ध है कि कछुई की दृष्टि बहुत ही प्रेमपूर्ण होती है। परन्तु जो बात ऐसे सत्पुरुष की दृष्टि में होती है, वह कछुई की दृष्टि में नहीं दिखाई देती। भूतमात्र के सम्बन्ध मे जिसकी दृष्टि इस प्रकार की होती है, उसके हाथ भी ठीक इसी प्रकार के होते हैं। कृतार्थ हो जाने के कारण जिस प्रकार सिद्ध पुरुषों के समस्त मनोरथ जहां-के-तहां शान्त हो जाते हैं, उसी प्रकार जिसके हाथ निश्चल और निष्क्रिय होते हैं, जिसके हाथ ऐसे होते हैं कि एक तो पहले से ही कार्य करने में असमर्थ हों और तिस पर उन्होंने संन्यास या कार्य न करने की प्रतिज्ञा ग्रहण कर ली हो अथवा जो हाथ उस ईंधन के समान होते हैं कि पहले तो जलने का नाम ही नहीं जानता और तिस पर जिसमें की आग बुझी हुई रहती है, अथवा उसकी अवस्था ऐसे मनुष्य के समान होती है जो एक तो पहले से ही गूंगा हो और ऊपर से उसने मौन व्रत धारण कर लिया हो; इसी प्रकार जिसके हाथों को कुछ भी करना बाकी नहीं रह जाता—क्योंकि वे हाथ एक नितान्त व्यापारशून्य और निष्क्रिय पुरुष के

शरीर में लगे हुए होते हैं—जो अपने हाथों को इस भय से हिलने भी नहीं देता कि इससे वायु को धक्का लगेगा अथवा आकाश में नख गड जायगा, फिर यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं है कि वह अपने शरीर पर बैठने वाली मक्खी को उड़ावेगा अथवा आंखों में घुसने वाले पतिंगे को झाड़कर दूर करेगा अथवा पशु-पक्षियों को डराकर भगावेगा। हे अर्जुन, जो कभी अपने हाथ में डंडा या छड़ी भी न रखता हो, उसके सम्बन्ध में यह कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं है कि वह शस्त्रों को कभी छूता भी नहीं। वह कमल या पुष्पमाला को उछालने के खेल भी नहीं खेलता, क्योंकि उसे डर रहता है कि कहीं मेरे हाथ का कमल या पुष्पमाला किसी के ऊपर न जा गिरे और उसे चोट न लग जाय। वह अपने अंग पर इसलिए हाथ नहीं फेरता कि इससे रोम दबेंगे और नखों को कष्ट से बचाने के लिए उन्हें कटवाता भी नहीं और उन्हें इस प्रकार बढ़ाता चलता है कि उंगलियों पर उनके कुंडल बन जाते हैं। इस प्रकार ऐसे पुरुष के सम्बन्ध में कार्यों का केवल अभाव ही रहता है। लेकिन इतना होने पर भी यदि उसके लिए किसी कार्य के उपक्रम का प्रसंग आता है तो अपने हाथों को ऊपर बतलाये हुए प्रकार से ही कार्य करने का अभ्यस्त होता है। उसके हाथ किसी को अभय देने के लिए ही ऊपर उठते हैं, किसी को आश्रय देने के लिए ही आगे बढ़ते हैं और किसी दुःखी को कोमलतापूर्वक स्पर्श करने के लिए ही हिलते हैं। और ये सब काम भी उसके द्वारा सिर्फ लाचारी की हालत में ही होते हैं। परन्तु दुःखितों का भय दूर करने में उसकी जो शीतलता दिखाई देती है, वह शीतलता चन्द्रमा की किरणों में भी देखने में नहीं आती। वे हाथ पशु पर इतने प्रेम से फेरे जाते हैं कि उनका स्पर्श मानों सुगन्धित और शीतल मलय वायु के स्पर्श के समान होता है। वे हाथ सदा निर्लेप और स्वतन्त्र रहते हैं और यद्यपि चन्दन की शीतल शाखाओं की भांति उनमें कभी फल तो नहीं आते, परन्तु फिर भी वे हाथ कभी निष्फल नहीं होते; क्योंकि उनकी शीतलता या प्रेमार्द्रता बहुमूल्य, अक्षय तथा सर्वव्यापी होती है। परन्तु यह शब्द-विस्तार बहुत हो चुका। हे अर्जुन, तुम यही समझ लो कि उसकी हथेलियां साधु-सन्तों के शुद्ध और शीतल शील के समान होती हैं। अब ऐसे पुरुष के मन का भी कुछ वर्णन होना चाहिए। परन्तु अब तक मैंने ऐसे पुरुष के जिस आचार का वर्णन किया है, वह आचार क्या उसके मन का नहीं है? शाखाएं क्या वृक्ष की नही होती हैं? बिना पानी के समुद्र कैसे हो सकता है? क्या तेज और तेजस्वी पदार्थ दोनों कभी एक-दूसरे से भिन्न होते हैं? अवयव और शरीर अथवा रस और पानी कभी अलग-अलग रह सकते हैं? इसीलिए अब तक मैंने ऐसे पुरुष के बाह्य आचार के सम्बन्ध में जो बातें बतलाई हैं, उन्हें तुम इन अवयवों से युक्त उस मन की ही बातें समझो। जमीन में बीज बोया जाता है, वही वृक्ष के रूप में बाहर प्रकट होता है। इसी प्रकार तुम यह भी समझ लो कि अन्दर का मन ही इन इंद्रियों के द्वारा बाहर प्रकट होता है। क्योंकि यदि मन में ही अहिंसा की कमी हो तो फिर वह मन के बाहर निकलकर कैसे प्रकट हो सकती है? हे अर्जुन, तुम यह बात ध्यान में रखो कि अहिंसा की भावना सबसे पहले मन में ही उत्पन्न होती है और तब वह वाणी, दृष्टि तथा हाथों में प्रकट होती है। और नहीं तो जो बात मन में ही न हो, वह भला प्राणी में किसी प्रकार प्रकट हो सकती है? क्या बिना बीज के भी कभी जमीन में अंकुर निकलते हैं? इसीलिए जब मन का मनत्व नष्ट होता है, उसके पहले ही इंद्रियां बिलकुल दुर्बल हो जाती हैं, क्योंकि सूत्रधार के बिना कठपुतलियां व्यर्थ हो जाती हैं। यदि किसी झरने का उद्‌गम ही सूख जाय तो फिर उसके प्रवाह में पानी कहां से आ सकता है? जब जीव ही चला गया, तब फिर देह के व्यापार कहां से बाकी रह सकते हैं? इसी प्रकार, हे अर्जुन, इन्द्रियों के समस्त व्यापारों का मूल मन ही है। इंद्रियों के द्वारा मन ही सब व्यापार करता है। अन्तःस्थ मन जिस समय जिस स्थिति में होता है, उस समय उसी स्थिति में वह क्रियाओं के रूप में इन्द्रियों के द्वारा प्रकट होता है। जिस प्रकार पके हुए फल की सुगन्ध वेगपूर्वक बाहर निकलती है, उसी प्रकार मन की वास्तविक अहिंसा भी दबने पर आवेशपूर्वक बाहर निकलती है। और तब उसी अहिंसा की पूंजी

लेकर इद्रिया अहिसा क लेन देन का व्यापार आरम्भ करती है जिस समय समुद्र मे ज्वार आता है उस समय उसका जल खाडियो को भर दता है ठीक इसी पकार मन भी अपनी सम्पत्ति स इद्रियो को सम्पन्न कर देता है परन्तु अब इस विषय का अधिक विस्तार करन की आवश्यकता नही जिस प्रकार गुरुजी लडके का हाथ पकडकर स्वय ही अक्षर लिखत हे उसी प्रकार मन भी हाथ पैर आदि इन्द्रिया मे प्रवेश करके उसके द्वारा दयापूर्ण कृत्य कराता है और उनसे अहिंसा का आचरण कराता है। इसलिए, हे अर्जुन, अभी मैंने इन्द्रियों की क्रियाओं का जो वर्णन किया है, वह वास्तव में मन के व्यवहारों का ही वर्णन है। इसलिए जिस पुरुष में मन से, शरीर से और वाचा से किया हुआ हिंसा का पूर्ण त्याग तुम्हें दिखाई पड़े, वास्तव में उसी पुरुष को ज्ञान-विलासी अथवा ज्ञान का निवासस्थान ही समझना चाहिए। केवल यही नहीं, बल्कि यह समझना चाहिए कि वह मूर्तिमान् ज्ञान ही है। जिस अहिंसा की महिमा हम कानों से सुनते हैं और ग्रंथों में जिसका वर्णन होता है, उस अहिंसा को यदि प्रत्यक्ष देखने की तुम्हारी इच्छा हो तो तुम्हें पुरुष को देखना चाहिए। बस इसी से तुम्हारा काम हो जायगा।'' इस प्रकार श्रीकृष्णदेव ने अर्जुन से ये सब बातें कहीं। वास्तव में, इन सब बातों का मुझे बहुत ही थोड़े शब्दों में वर्णन करना चाहिए था; परन्तु विवेचन के आवेश में बहुत अधिक विस्तार हो गया। इसके लिए आप लोग मुझे क्षमा करें। हे श्रोतागण, कदाचित् आप लोग कहेंगे—''हरा चारा देखकर जिस प्रकार पशु अपना पिछला मार्ग भूल जाता है अथवा वायु के झोंके के साथ उड़ने वाले पक्षी जिस प्रकार बराबर आकाश में आगे की ओर बढ़ते चलते हैं, उसी प्रकार जब एक बार इसके प्रेम का स्फुरण होता है और यह रसाल भावनाओं के प्रवाह में पड़ जाता है, तब इसका चित्त इसके वश में नहीं रहता।'' परन्तु हे श्रोतागण, वास्तव में मेरे सम्बन्ध में यह बात ठीक नहीं है। इस विस्तार का कुछ और ही कारण है। यदि वास्तव में देखा जाय तो 'अहिंसा' शब्द तीन ही अक्षरों का है। अतः ऊपर से देखने में ऐसा जान पड़ेगा कि इसका अर्थ बहुत ही थोड़े में समझाया जा सकता है। परन्तु अहिसा का पूर्ण, स्पष्ट तथा निःशंक अर्थ बतलाने के लिए अनेक भिन्न-भिन्न मतों का खंडन करने की आवश्यकता होती है। और नहीं तो भिन्न-भिन्न मत सामने दिखाई देते हैं। अब यदि मैं अपने अभिमान के कारण उन सब मतों को एक ओर रख दू और केवल अपना ही विवेचन कर चलूं तो वह विवेचन आप लोगों को ठीक नहीं जान पड़ेगा। यदि कोई जौहरियो के निवासस्थान में जाय तो उसे उचित है कि वह वहां रत्नों को परखने की गंड की शिला (अर्थात् शालिग्राम) निकालकर सब लोगों के सामने रखे। वहां स्फटिक मणि की प्रशंसा करने से क्या लाभ हो सकता है ? इसके विपरीत जहां आटे की भी बिक्री न होती हो, वहां कपूर की सुगन्धि वाली चीज का क्या आदर हो सकता है ? इसीलिए यदि आप सरीखे जानकार सन्तों की सभा में वक्तृता पर कुछ अधिक रंग चढ़ गया तो महाराज, उसमे दोष के लिए कुछ विशेष स्थान नहीं रह जाता। यदि सामान्य श्रोताओं और विशेष अधिकारी श्रोताओं का संस्कृति-भेद ध्यान में न रखा जाय और यदि मैं सरसरी तौर पर उन सबको एक ही माला में पिरोकर निरूपण कर चलूं, तो फिर आप लोग उस विवेचन को अपने कानों का स्पर्श भी न होने देंगे। यदि शुद्ध सिद्धान्त के निरूपण में शंकाओं का समाधान न हो और विषय जटिल-का-जटिल ही रह जाय अथवा उसकी जटिलता और बढ़ जाय, तो श्रोताओं का विषय की ओर जाने वाला लक्ष्य पिछले पैरों वहां से भाग जाता है। जिस जल में सेवार भरी हुई रहती है, उसकी ओर हंस कभी उलटकर भी नहीं देखता। अथवा यदि चन्द्रमा मेघों की आड़ में हो जाता है, तो चकोर पक्षी अपना चंचुपुट उत्सुकता से ऊपर की ओर उठाकर नहीं देखता। इसी प्रकार यदि मैं निर्विवाद और निःशंक रूप से अपना निरूपण न करूं तो आप लोग भी श्रवण के विषय में अपना आदर न दिखलावेंगे—इस ग्रन्थ को हाथ न लगावेंगे। केवल इतना ही नहीं, बल्कि उलटे आप लोग और भी क्रुद्ध हो जायंगे। जिस विवेचन में दूसरे मतों का निराकरण न होगा और जिसमें आक्षेपों का मुंह बन्द न किया जायगा, वह विवेचन आप लोगों को कभी

ग्राह्य न होगा। और मैं जो इस ग्रन्थ का गुम्फन कर रहा हूं, इसमें मेरा उद्देश्य यह है कि आप सन्तजन मुझे सदा प्रेम और कृपा की दृष्टि से देखें। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो आप ही लोग इस गीतार्थ के निकट सम्बन्धी हैं; और यही जानकर मैंने इस गीता को अपने हृदय से लगाया है। और इसीलिए मैं यह भी समझता हूं कि आप लोग अपना ज्ञान-सर्वस्व देकर इसे मेरे पास से छुड़ा ले जायंगे। यह गीता कोई ग्रन्थ नहीं है, बल्कि यह मेरे पास धरोहर के रूप में रखी हुई आप लोगों की वस्तु है। और यदि आप लोग अपने लोभीपन के कारण अपना ज्ञान-सर्वस्व मुझसे चुराकर रखेंगे और इस गीता को मेरे पास इसी प्रकार रेहन पड़ी रहने देंगे, तो इस गीता का और मेरा एक ही परिणाम होगा। सारांश यह कि मैं आप लोगों की कृपा सम्पादित करना चाहता हूं और इसी उद्देश्य से मैंने ग्रन्थ-रचना का यह केवल बहाना किया है। इसीलिए मुझे ऐसा शुद्ध और निर्दोष निरूपण करना पड़ता है जो आप लोगों को अच्छा लगे। और इसीलिए मैं भिन्न-भिन्न मतों का ऊहापोह करने के फेर में पड़ गया था। परन्तु ऐसा करने में बहुत अधिक विस्तार हो गया और मूल श्लोक का अर्थ कहां-का-कहां चला गया। तो भी आप लोगों को उचित है कि आप इस बालक को क्षमा करें। अन्न के ग्रास में पड़ी कंकड़ी निकालने में यदि समय लगे तो इसमें कुछ दोष नहीं है; क्योंकि कंकड़ी निकालना तो आवश्यक ही है। यदि बालक को रास्ते में ठग मिल जायं और उन ठगों से अपना छुटकारा कराके घर आने में उस बालक को कुछ देर हो जाय, तो माता को उस बालक पर क्रोध करना चाहिए अथवा उस पर से राई-नोन उतारकर उसे गले लगाना चाहिए ? परन्तु अब इस विषय का और अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नहीं। आपने मुझे क्षमा कर दिया, बस इसी से मुझे सब कुछ मिल गया। अब आप लोग यह सुनें कि श्रीकृष्णदेव ने क्या कहा।

भगवान् ने कहा—"भाई अर्जुन, ज्ञानार्जन के कारण तुम्हारी दृष्टि खुल तो गई है, परन्तु अब तुम सावधान हो जाओ। अब मैं तुमको वास्तविक ज्ञान का परिचय कराता हूं। जिसमें इस प्रकार की क्षमा विराजती हो, जिसमें खेद का कहीं नाम भी न हो, तुम समझ लो कि उसी को सच्चा और वास्तविक ज्ञान प्राप्त है। हे अर्जुन, जिस प्रकार गहरे सरोवरों में कमल अथवा भाग्यवान् पुरुषों के घरों में सम्पत्ति होती है, उसी प्रकार सच्चे ज्ञानी पुरुष में क्षमा भरी हुई रहती है। इस क्षमा को पहचानने के लक्षण अब मैं तुमको स्पष्ट रूप से बतलाता हूं; सुनो। जिस प्रकार कोई बहुत अच्छा लगने वाला आभूषण हम बड़े चाव से अपने शरीर पर धारण करते हैं, उसी प्रकार चाव से वह पुरुष सब बातें सहन करता है। यदि तीनों प्रकार के तापों का पर्वत भी उस पर आ गिरे, तो भी वह तनिक विचलित नहीं होता। इष्ट वस्तु की ही भांति अनिष्ट वस्तु भी वह बहुत ही आदरपूर्वक स्वीकृत करता है। वह मान और अपमान सब सहन करता है, सुख और दुःख सबको समान समझता है और निन्दा अथवा स्तुति से चल-विचल नहीं होता। वह न तो गरमी से तप्त होता है और न सर्दी से कांपता है; और चाहे कैसा ही विकट प्रसंग क्यों न आवे, परन्तु न तो वह भागता ही है और न डरता ही है। जिस प्रकार मेरु पर्वत को अपने शिखर का भार कुछ भी मालूम नहीं होता अथवा जिस प्रकार नारायण के तीसरे अवतार यज्ञ-वराह पृथ्वी के भार को कुछ भी नहीं समझते अथवा असंख्य भूतों के भार से जिस प्रकार पृथ्वी नहीं दबती, उसी प्रकार सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों के शरीर पर आ पड़ने से वह बिलकुल नहीं घबराता। जिस प्रकार बहुत-सी नदियों और नदों के समुदाय के साथ आने वाले अपरम्पार जल-समूह के लिए समुद्र अपना पेट बड़ा कर लेता है और उन सबको अपने उस पेट में स्थान देता है, उसी प्रकार उसके सम्बन्ध में कभी कोई ऐसी बात नहीं होती जो वह सहन न करे। और इतना होने पर भी इस बात का कभी भान भी नहीं होता कि मैं अमुक-अमुक बातें सहन करता हूं। जो कुछ प्राप्त होता है, वह सब आत्मस्वरूप मानकर सहन करता है और उसके लिए उस सहनशीलता का अभिमान करने का कोई कारण नहीं होता। हे सखे अर्जुन, इस प्रकार की भेदभाव-रहित क्षमा जिस पुरुष में विराजती हो, समझ लो कि उस पुरुष के

कारण स्वय ज्ञान का ही महत्त्व बढ़ता है। हे पार्थ, ऐसा पुरुष ज्ञान का आधार ही होता है। अच्छा अब मैं आर्जव का निरूपण करता हूं, सुनो। प्राणीमात्र के सम्बन्ध में जिस प्रकार प्राणतत्त्व एक ही प्रकार का सौजन्य दिखलाता है, उसी प्रकार आर्जव भी सबके साथ भेदभाव-रहित व्यवहार कराता है। जिस प्रकार सूर्य कभी किसी का मुह देखकर (अर्थात् किसी को प्रिय समझकर) उस पर अपने प्रकाश का विस्तार नहीं करता अथवा आकाश तत्त्व जिस प्रकार समस्त आकाश को समभाव से व्याप्त रखता है, उसी प्रकार जिसमें आर्जव होता है, उसका मन अलग-अलग मनुष्यों के साथ अलग-अलग प्रकार का व्यवहार नही करता, बल्कि सबके साथ बिलकुल एक-सा व्यवहार करता है। बात यह है कि ऐसा पुरुष जगत् की स्थिति बहुत अच्छी तरह जान चुका होता है और उसे इस बात का पूरा-पूरा ज्ञान हो चुका रहता है कि जगत् के साथ मेरा आत्मैक्य का बहुत ही पुराना और बहुत ही निकट सम्बन्ध है। और इसीलिए अपने और पराये का उसे कभी भान भी नहीं हो सकता। वह पानी की तरह हर एक आदमी के साथ मिल जाता है, वह अपने मन में किसी के विषय में भी बुरा नहीं मानता, उसके विचार सदा वायु के प्रवाह के समान बिलकुल सरल रूप से चलते हैं और उसे किसी प्रकार की शंका या और कोई भाव स्पर्श ही नहीं करता। जिस प्रकार माता के सामने जाने में बालक को किसी तरह की शंका नहीं होती, उसी प्रकार लोगों के सामने अपनी मनोवृत्ति प्रकट करने में भी उसे किसी तरह की शका नहीं जान पड़ती। हे अर्जुन, जब कमल एक बार खिल जाता है, तब फिर उसका कोई भाग बन्द नहीं रह जाता। ठीक इसी प्रकार उसका मन भी बिलकुल खुला रहता है और उसमें कहीं कोई बन्द या छिपा हुआ अंश नहीं रह जाता। जिस प्रकार कोई रत्न एक तो पहले से ही स्वच्छ हो और ऊपर से उस पर तेजस्वी किरण पड़े, उसी प्रकार उसका मन एक तो पहले से ही बिलकुल निर्मल होता है और फिर उस मन के साथ होने वाली क्रियाएं भी उतनी ही निर्मल होती हैं। उसे कभी किसी बात के सम्बन्ध में इस प्रकार का आगा-पीछा नहीं होता कि मैं बात कहूं या न कहूं; और वह अपना वास्तविक अनुभव बिलकुल ठीक-ठीक प्रकट कर देता है। अपने मन की आधी बात छिपाना और आधी प्रकट करना वह बिलकुल जानता ही नहीं। उसकी दृष्टि में कपट नाम को भी नहीं रहता और उसकी बात में न तो कोई दुराव ही होता है और न अस्पष्टता ही होती है। वह किसी के साथ तुच्छता का व्यवहार नहीं करता। उसकी दसों इन्द्रियां बिलकुल निष्कपट, सरल और शुद्ध ही होती हैं और दिन-रात उसके प्राणों के पांचों द्वार बिलकुल खुले रहते हैं। उसका अन्तरंग अमृत की धारा के समान सरल होता है। तात्पर्य यह है कि जिस पुरुष में ये सब लक्षण खूब अच्छी तरह दिखाई देते हों, हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, उसके सम्बन्ध में तुम यह बात अच्छी तरह समझ लो कि वह आर्जव गुण का पुतला है और उसमें ज्ञान अपना घर बनाकर रहता है। हे चतुरश्रेष्ठ अर्जुन, अब मैं तुमको यह बतलाता हूं कि गुरु की भक्ति किस प्रकार की जानी चाहिए। ध्यान देकर सुनो। यह गुरुसेवा मानों भाग्य की जननी है, क्योंकि जिस जीव की स्थिति परम शोचनीय हो, उसे भी यह ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति करा देती है। इसी गुरु-भक्ति के सम्बन्ध की सब बातें मैं तुमको स्पष्ट रूप से बतलाना चाहता हूं; इसलिए तुम अपना अवधान बिलकुल एकाग्र करो। जिस प्रकार समस्त जल की सम्पत्ति अपने साथ लेकर नदी समुद्र की ओर जाती है अथवा समस्त महासिद्धान्तों के साथ वेद-विद्या ब्रह्मपद में स्थिर होती है अथवा जिस प्रकार सती स्त्री अपने पांचों प्राण एकत्र करके अपने समस्त गुणों और अवगुणों के सहित अपने प्रिय पति को अर्पण करती है, उसी प्रकार जो अपना सर्वस्व गुरु-कुल में अर्पित कर देता है जो स्वयं गुरु-भक्ति का मायका (जन्म-स्थान) बन जाता है, जो गुरु-गृह के स्थान का उसी प्रकार चिन्तन करता है, जिस प्रकार विरहिणी स्त्री अपने पति का चिन्तन करती रहती है, गुरु-गृह के स्थान की ओर से हवा को आते हुए देखकर जो उसका सम्मान करने के लिए दौड़कर उसके आगे जा खड़ा होता है और उसके सामने जमीन पर लोटकर उससे प्रार्थना करता है कि—'मेरे घर में आओ।' सच्चे प्रेम के कारण जिसे गुरु-गृह की दिशा के साथ ही

बात करना अच्छा लगता है और जो अपने जीव को गुरु-गृह का हकदार बना रखता है, जिसका शरीर गुरु की आज्ञा के साथ बंधा होने के कारण गुरु से दूर और अपने घर रहने पर भी उसी प्रकार बन्धन में पड़ा रहता है, जिस प्रकार बछड़ा रस्सी से बंधा हुआ गौशाला में पड़ा रहता है, परन्तु फिर भी उसी बछड़े की तरह जो निरन्तर अपने मन में यही कहता रहता है कि यह रस्सी का बन्धन किस प्रकार टूटेगा और किस प्रकार कब मुझे गुरुदेव के दर्शन मिलेंगे, जिसे अपने गुरु के विरह का प्रत्येक क्षण युग से भी बढ़कर जान पड़ता है और ऐसी अवस्था में यदि उसके गुरु के निवासस्थान से कोई आता है अथवा उसका गुरु किसी को उसके पास भेजता है तो उसे वैसा ही आनन्द प्राप्त होता है, जैसा किसी मरणोन्मुख व्यक्ति को आयुष्य प्राप्त होने पर होता है अथवा सूखे हुए अंकुर को जिस प्रकार अमृत की वर्षा होने के कारण प्राप्त होता है अथवा किसी छोटे-से गड्ढे में रहने वाली मछली को समुद्र में पहुंच जाने पर होता है अथवा किसी परम दरिद्र को कहीं कोई गड़ा हुआ खजाना दिखाई पड़ने पर होता है अथवा अन्धे को दृष्टि प्राप्त होने पर होता है अथवा किसी दरिद्र को इन्द्र-पद प्राप्त होने पर होता है। इसी प्रकार वह गुरुकुल का नाम सुनते ही सुख के रस से ओत-प्रोत होकर इतना फूल जाता है कि वह आकाश को भी सहज में आलिंगन कर लेता है। गुरुकुल के प्रति इस प्रकार का प्रेम जिस व्यक्ति में तुमको दिखाई पड़े, हे अर्जुन, उसके सम्बन्ध में तुम यह बात अच्छी तरह समझ लो कि उसको सेवा का ज्ञान निरन्तर सिद्ध रहता है। वह अपने प्रेम-गुण की सामर्थ्य से अपने अन्तःकरण में अपने गुरुदेव की मूर्ति स्थापित करके ध्यान के द्वारा उसी की उपासना करता है। वह अपने हृदय की निर्मलता के कोट में अपने आराध्य गुरुदेव को दृढ़तापूर्वक स्थापित करके स्वयं बहुत ही भक्तिभाव से उनका सारा परिवार बन जाता है। ज्ञान के चबूतरे पर आत्मानन्द के मन्दिर में अपने गुरुदेव की मूर्ति स्थापित करके वह ध्यान रूपी अमृत की धारा चढ़ाता है। ब्रह्मबोध का सूर्योदय होते ही अपनी बुद्धि-रूपी टोकरी सात्त्विक भावों से भरकर अपने गुरुदेव रूपी शंकर पर उन्हीं भावों की लखौरी चढ़ाता है, दिवस के तीनों कालों अर्थात् प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल के शास्त्रोक्त समयों में जीवभाव का धूप जलाकर ज्ञान के दीपक से वह सदा गुरुदेव की आरती करता है। फिर उन्हें समस्त ब्रह्मैक्य का नैवेद्य अर्पित करता है। इस प्रकार वह स्वयं ही पुजारी बनता है और अपने गुरु को आराध्य देवता बनाता है। कभी-कभी उसकी बुद्धि जीव की शैया पर गुरुराज की पति के रूप में कल्पना करके उनकी संगति का सुख भोगती है और प्रेम के आनन्द का अनुभव करती है। कभी-कभी उसके अन्तरंग में प्रेम की ऐसी लहर उठती है कि वह उसका नाम क्षीर-समुद्र रख देता है। उसके इस प्रेम-समुद्र में ध्यान-सुख के निर्मल शेष-मंचक पर उसके गुरु-रूपी नारायण जल-संचय में निद्रा लेते रहते हैं। फिर इन गुरु-रूपी नारायण के पैर दबाने वाली लक्ष्मी वह स्वयं ही बनता है और हाथ जोड़कर पास खड़ा रहने वाला गरुड़ भी वह आप ही बनता है। उन गुरु-रूपी नारायण के नाभि-कमल से जन्म लेने वाले ब्रह्मा की भी वह अपने आपमें ही कल्पना करता है। इस प्रकार वह गुरु-मूर्ति में प्रेम के मानसिक ध्यानसुख का अनुभव करता है। कभी-कभी वह यह भी कल्पना करता है कि श्रीगुरुदेव मेरी माता हैं; और तब वह उनकी गोद में लोटता है और उनके स्तन-पान का भी कल्पित सुख भोगता है। अथवा हे अर्जुन, कभी-कभी वह यह भी कल्पना करता है कि ज्ञानरूपी वृक्ष की शीतल छाया में श्रीगुरुदेव धेनु माता के समान हैं और मैं उनका बछड़ा हूं। अथवा कभी-कभी वह यह समझता है कि गुरुदेव की कृपा तो जल है और मैं उसमें की मछली हूं। अथवा गुरु की कृपा तो जल की वर्षा है और मैं उस वर्षा से बढ़ने वाला सेवावृत्ति-रूपी पौधा हूं। तात्पर्य यह कि अनुराग के इन प्रकारों का कहीं अन्त ही नहीं है। वह कभी-कभी ऐसी कल्पना भी करता है कि मैं पक्षी का एक ऐसा बच्चा हूं, जिसकी चोंच और पंख अभी अच्छी तरह खुले नहीं हैं और गुरु मेरी माता पक्षिणी हैं और उनकी चोंच में से मैं चारा लेता हूं। कभी वह यह कल्पना करता है कि गुरुदेव नौका हैं और मैं उन्हीं के आश्रय में पड़ा हुआ हूं। तात्पर्य यह कि

जिस प्रकार ज्वार आने पर समुद में बराबर लहरें उठती हैं, उसी प्रकार उसके प्रेम की लहरें भी ध्यान की परम्परा बराबर चलाती चलती हैं। सारांश यह कि किस प्रकार वह अपने मन में निरन्तर गुरु की मूर्ति का उपभोग करता रहता है। अब यह सुनो कि वह अपने गुरुदेव की दृश्य या प्रत्यक्ष सेवा किस प्रकार करता है। उसके मन में सदा यही भाव बना रहता है कि मैं अपने गुरुदेव की ऐसी सेवा करूं कि वे प्रसन्न होकर कहें—"वाह-वाह रे शिष्य, तुझे जो वर चाहिए हो, वह वर मांग।" वह सोचता है कि जब गुरुदेव सचमुच इस प्रकार प्रसन्न हो जायं, तब मैं उनसे विनयपूर्वक कहूं—"हे महाराज, मेरी यह इच्छा है कि आपका जो कुछ परिवार हो, वह सारा परिवार एक मैं ही होऊं। और आपके उपयोग में आने वाले जो-जो उपकरण हैं, उन सबके रूप भी मैं ही धारण करूं।" और जब मैं स्वामी से इस प्रकार का वर मांगूं, तब वे प्रसन्न होकर 'तथास्तु' कहें और एकमात्र मैं ही उनका सारा परिवार बन जाऊं। वह सोचता है कि जब गुरुदेव की सेवा के समस्त उपकरण मैं ही बन जाऊंगा, तभी मुझे गुरु की सेवा का वास्तिवक कौतुक देखने को मिलेगा। यों तो गुरुदेव सभी की माता हैं, परन्तु मैं उन पर ऐसा दबाव डालूंगा कि वे केवल मेरी ही माता होकर रहें। उनके प्रेम को भी मैं इस प्रकार बंधूंगा कि वे मेरे साथ एक-पत्नी-व्रतवाला आचरण करें और उनसे क्षेत्र संन्यास के व्रत का इस प्रकार आचरण कराऊंगा कि उनका प्रेम निरन्तर मेरी ही सीमा में रहे। जिस प्रकार नित्य बहने वाली वायु चारों दिशाओं की सीमा के बाहर नहीं जाती, उसी प्रकार मैं भी पिंजरा बनाकर गुरुदेव की समस्त कृपा को केवल अपने में ही आबद्ध रखूंगा। गुरुसेवा रूपी स्वामिनी को मैं अपने समस्त सद्गुणों के नगों से सजाऊंगा। केवल यही नहीं, बल्कि मैं ही गुरुभक्ति का सारा आच्छादन बन जाऊंगा और दूसरे किसी को वह आच्छादन नहीं बनने दूंगा। जब गुरु के प्रसाद की वर्षा होने लगेगी, तब केवल मैं ही पृथ्वी बनाकर उसके नीचे रहूंगा। वह अपने मन में सदा इसी प्रकार के अनेक मनोरथों की रचना करता है। वह कहता है कि मैं गुरुदेव का घर बनूंगा और उस घर में आप ही दास के समान रहकर उनके सब काम करूंगा। उदार और दाता गुरुदेव आने-जाने में डेवढ़ियां लांघेंगे, वह डेवढ़ियां भी मैं ही बनूंगा और द्वारपाल बनकर मैं ही द्वार पर पहरा भी दूंगा। मैं ही उनकी पादुका बनूंगा और मैं ही उन्हें वह पादुका पहनाऊंगा। मैं ही उनके ऊपर छाया करने के लिए छाता भी बनूंगा और छत्र लगाने वाले की सेवा भी मैं ही करूंगा। मैं ही रास्ते की ऊंची-नीची भूमि बतलाने वाला चोबदार बनूंगा। मैं ही हाथ पकड़ने वाला बनूंगा और मैं ही उनके आगे मशाल लेकर चलने वाला मशालची बनूंगा। मैं ही उनकी झारी बनूंगा और मैं ही उन्हें कुल्ला भी कराऊंगा; और वे जो कुछ कुल्ला करके मुंह से फेंकेंगे, उसे धारण करने वाला पीकदान भी मैं ही बनूंगा। मैं ही उनका पानदान बनूंगा और पान खाकर जब वह थूकेंगे, वह भी मैं ही लूंगा। उनके स्नान की तैयारी भी मैं ही करूंगा। मैं ही उनका आसन, अलंकार, वस्त्र और चन्दन आदि उपचार भी बनूंगा। मैं ही उनका रसोइया बनकर उनके आगे अन्न का महानैवेद्य लगाऊंगा और मैं ही अपनी आत्मा से उनकी आरती उतारूंगा। जिस समय श्रीगुरुदेव भोजन करने बैठेंगे, उस समय उनकी पंक्ति में मैं ही बैठूंगा और भोजन के उपरान्त मैं ही आगे बढ़कर उन्हें बीड़े दूंगा। उनकी जूठी थाली और बर्तन आदि भी मैं ही उठाऊंगा, मैं ही उनका बिस्तर बिछाऊंगा और मैं ही उनके पैर दबाऊंगा। मैं ही उनके बैठने के लिए मंच या सिंहासन बनूंगा और जब उस मंच पर गुरु महाराज बैठेंगे, तब अपनी गुरुसेवा को पराकाष्ठा समझूंगा। जिन चमत्कारपूर्ण बातों और मनोविनोद आदि में गुरुदेव का मन रमेगा, वे सब बातें भी मैं ही बनूंगा। जिस समय उनका ग्रंथ-श्रवण होगा, उस समय शब्दों का समूह भी मैं ही बनूंगा; और जिस समय वे अपना कोई अंग खुजलावेंगे उस समय उनके स्पर्श-ज्ञान का रूप भी मैं ही धारण करूंगा। जिन-जिन रूपों को गुरुदेव स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखेंगे, वे सब रूप भी मै ही बनूंगा। उनकी जिह्वा को जो-जो रस अच्छे लगेंगे और उनकी नाक को जो-जो सुगन्धियां अच्छी लगेंगी, वे रस और सुगन्धियां भी मैं ही बनूंगा। इस प्रकार शिष्य अपनी दृश्य सेवा के सम्बन्ध में अपने मन में बराबर यही

कहता रहता है कि अपने गुरु के उपयोग की समस्त वस्तुएं मैं ही बनूंगा और समस्त गुरुसेवा को मैं अकेला ही व्याप्त कर लूंगा। जब तक शरीर रहता है, तब तक तो इस प्रकार सेवा की जाती है; और जब देहपात हो जाता है, तब गुरुसेवा का कुछ और ही प्रकार उसकी बुद्धि को सूझता है। वह कहता है कि देहपात होने पर मैं अपने इस शरीर की मिट्टी उसी भूमि में मिलाऊंगा जिस पर गुरु अपने चरण रखकर खड़े होंगे। मेरे गुरुदेव जिस पानी को सहज में स्पर्श करेंगे, उसी पानी में मैं अपने शरीर का जलीय अंश मिला दूंगा। जिस दीपक से गुरुदेव आरती करेंगे अथवा जो दीपक उनके घर में जलेगा, उस दीपक के तेज में मैं अपने शरीर का तेज वाला अंश मिला दूंगा। गुरुदेव के चंवर या पंखे में मैं अपनी प्राणवायु रखूंगा जिससे मुझे गुरुदेव की सेवा और स्पर्श दोनों का ही सौभाग्य प्राप्त होगा। जिन-जिन स्थलों में गुरुमूर्ति रहेगी, उन-उन स्थलों के आकाश तत्त्व में मैं अपने शरीर का आकाश वाला अंश लीन करूंगा। चाहे मैं जीता रहूं और चाहे मैं मर जाऊं, परन्तु गुरुसेवा का यह व्रत मैं कभी न छोड़ूंगा। मैं इस प्रकार की सेवा कल्पान्त कोटि तक करता रहूंगा और क्षणभर के लिए भी वह सेवा किसी दूसरे को करने न दूंगा। जिस शिष्य में इस प्रकार का धैर्य होता है और जिसकी गुरुसेवा के लिए स्थल या काल की कोई सीमा अथवा मर्यादा नहीं होती, जो सेवा करने में रात और दिन का कुछ भी ध्यान नहीं करता और उसके सम्बन्ध में कभी यह नहीं कहता कि यह सेवा थोड़ी हुई या बहुत; उलटे गुरुदेव के बतलाये हुए कार्य की कठिनता से और भी ताजा और हृष्ट-पुष्ट होता है, गुरु का बतलाया हुआ काम चाहे आकाश से भी बड़ा हो, परन्तु फिर भी जो अकेला ही वह काम पूरा कर डालता है, किसी कार्य के सम्बन्ध में गुरुदेव की आज्ञा होते ही मन से पहले जिसका शरीर आगे दौड़ पड़ता है, उसे पूरा करने के लिए मन के साथ प्रतियोगिता करके जो चटपट काम पूरा कर डालता है, गुरु के मुंह से केवल परिहास में निकली हुई बात पूरी करने के लिए जो अपना सारा जीवन निछावर कर देता है, जो गुरु की सेवा में ही अपना शरीर कृश कर डालता है और फिर गुरु के प्रेम से ही पुष्ट होता है, जो गुरु की आज्ञा के लिए अकेला ही आधार बनता है, जो गुरुकुल के द्वारा ही अपने आपको कुलीन समझता है, जो अपने गुरुभाइयों के साथ सौजन्यपूर्ण व्यवहार करने में ही सुजनता मानता है, जिसे केवल गुरु की सेवा का ही व्यसन होता है, गुरु-सम्प्रदाय का नियम ही जिसके लिए वर्णाश्रम धर्म होता है, गुरुभक्ति ही जिसका नित्य कर्म है, जो गुरु को ही क्षेत्रदेवता और माता-पिता आदि सब कुछ मानता है और जो आत्मकल्याण के लिए गुरुसेवा के सिवा और कोई कार्य जानता ही नहीं, गुरु का द्वार ही जिसके लिए सार और सर्वस्व है—वास्तविक सत्य तत्त्व है—जो अपने गुरु के सेवकों के साथ सगे भाइयों का-सा प्रेमपूर्ण व्यवहार करता है, जिसके मुख पर सदा गुरु के नाम का मन्त्र रहता है और गुरु के वाक्यों को छोड़कर जो और किसी शास्त्र पर ध्यान नहीं देता, जो गुरु के चरणों के जल को ही त्रिभुवन के समस्त तीर्थों से श्रेष्ठ समझता है, जो किसी अवसर पर गुरु का जूठा अन्न मिल जाने पर उसके सामने आत्मसमाधि का भी कोई महत्त्व नहीं समझता, हे अर्जुन, गुरुदेव के चलने के समय उनके पैरों से धूल के जो कण पीछे की ओर उड़ते रहते हैं, उनमें का एक कण भी जो मोक्षसुख के बदले में ग्रहण करने के लिए उत्सुक रहता है, वही वास्तव में गुरु का सच्चा सेवक और शिष्य होता है। परन्तु इन सब बातों का कहां तक विस्तार किया जाय ! वास्तव में गुरु की भक्ति की कोई सीमा ही नहीं है। गुरु-भक्ति का प्रसंग आ जाने के कारण इतना अधिक विस्तार करना पड़ा है। परन्तु बहुत विस्तार हो चुका। हे अर्जुन, जिसके मन में इस भक्ति के लिए अनुराग होता है, जिसके मन में इसके लिए उत्कंठा होती है, जिसे गुरुसेवा के सिवा और कुछ भी अच्छा नहीं लगता, वही पुरुष तत्त्व-ज्ञान का आधार है और उसके कारण ज्ञान का अस्तित्व होता है। केवल यही नहीं, वह ज्ञानी भक्त प्रत्यक्ष देवता ही होता है। वास्तव में, ऐसे भक्त के पास ज्ञान अपने सब द्वार मुक्त करके रहता है और उसका ज्ञान इतना अधिक रहता है कि वह सारे संसार को भरने के उपरान्त भी बाकी रहता है।'' हे श्रोतागण,

भलीभांति अपने बन्धन में रखता है, जो उस समय भी अपनी इन्द्रियों को भलीभांति निग्रह में रखता है, जिस समय सजीव देह बहुत कृश हो जाता है और प्राण जाने की नौबत आ जाती है, जो अपने मन के मुख्य द्वार पर अथवा वृत्ति के पहरे पर अपने शरीर रूपी दुर्ग में शम-दम को सदा पहरेदारों की भांति नियुक्त और जाग्रत रखता है, जो मूलाधार, मणिपुर या नाभि-स्थान और विशुद्ध या कंठ-स्थान के तीन चक्रों में वज्र, उड्डीयान और जालन्धर नामक तीनों बन्धों की गश्त बैठाकर अपने चित्त को इड़ा और पिंगला दोनों नाड़ियों की सन्धि में प्रविष्ट करता है, समाधि की शैया पर अपने ध्यान को अच्छी तरह सुलाये रखता है, और जिसका चित्त चैतन्य के साथ एकरूप होकर सदा उसी में रमता रहता है, उसके सम्बन्ध में तुम यह समझ लो कि उसने अपने अन्तःकरण का पूर्ण रूप से निग्रह कर लिया है। अन्तःकरण का इस प्रकार का निग्रह मानों ज्ञान की विजय ही है। जिस पुरुष की आज्ञा उसका अन्तःकरण बिलकुल चुपचाप और सम्मानपूर्वक पालन करता है, उस पुरुष को मूर्तिमान् ज्ञान ही समझना चाहिए।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

जिसके मन में विषयों के प्रति पूर्ण रूप से विरक्ति जाग्रत रहती है, वही ज्ञानी होता है। जिस प्रकार वमन किये हुए पदार्थ को देखकर किसी की जीभ से लार नहीं टपकती अथवा जिस प्रकार किसी मृत पुरुष को आलिंगन करने के लिए कोई आगे नहीं बढ़ता अथवा विष को कोई नहीं निगलता अथवा जलते हुए घर में कोई प्रवेश नहीं करता अथवा बाघ की गुफा में कोई अपना निवास-स्थान नहीं बनाता अथवा गले हुए लोहे के खौलते हुए रस में कोई नहीं कूदता अथवा अजगर को तकिया बनाकर कोई उस पर नहीं सोता, उसी प्रकार विषय की बातें जिसे अच्छी नहीं लगतीं और जो इन्द्रियों के द्वारा किसी विषय का ग्रहण नहीं करता, जिसका मन विषयों की ओर से सदा उदासीन रहता है, जिसका शरीर अत्यन्त कृश रहता है और शम-दम के सम्बन्ध में जिसके मन में बहुत अधिक उत्साह रहता है, हे अर्जुन, जिसमें समस्त तपोव्रत एकत्र रहते हैं और गांव या नगर की भरी हुई बस्ती में रहना जिसे कल्पान्त के समान दुःखद जान पड़ता है, जिसे योगाभ्यास की बहुत अधिक लालसा रहती है, जो निर्जन और एकान्त स्थान की ओर दौड़ता हुआ जाता है और मनुष्यों के समाज का जिसे नाम भी अच्छा नहीं लगता, जो ऐहिक विषयों के भोग-विलास को उतना ही बुरा और त्याज्य समझता है, जितना बाणों की शैया पर सोना अथवा पीव के कीचड़ में लोटना, जो स्वर्ग के सुखों का वर्णन सुनकर उन सुखों को कुत्तों के सड़े हुए मांस के समान समझता है, उसका वैराग्य ही उसके लिए आत्मलाभ का वैभव होता है। इसी प्रकार के वैराग्य के द्वारा जीव ब्रह्मानन्द का सुख भोगने का पात्र बनता है। इस प्रकार जिसमें ऐहिक और पारलौकिक सुखों के उपभोग के सम्बन्ध में पूरी-पूरी विरक्ति दिखलाई पड़े, उसके सम्बन्ध में तुम यह समझ लो कि उसी में विपुल ज्ञान निवास करता है। जो किसी स-काम मनुष्य की भांति ही कुएं और घाट आदि बनवाने के सभी लोकोपयोगी काम करता है, परन्तु उनके कर्तृत्व का अभिमान अपने शरीर को छूने भी नहीं देता, जो वर्णाश्रम धर्म के पालन के लिए आवश्यक नित्य और नैमित्तिक कर्म किये बिना नहीं रहता, परन्तु फिर भी जिसमें इस प्रकार की भावना तिलमात्र भी नहीं रहती कि मैंने अमुक कार्य सिद्ध किया है, वही सच्चा ज्ञानी है। जिस प्रकार वायु अपने स्वाभाविक गुण के कारण सभी स्थानों में संचार करती है अथवा सूर्य अहंकाररहित बुद्धि से उदय होता है अथवा वेद सहज रूप से ज्ञान का कथन करते हैं अथवा गंगा बिना किसी हेतु के ही सदा बहती रहती है, उसी प्रकार जो अभिमानरहित होकर सब प्रकार के आचरण और व्यवहार करता है, जो ठीक उसी प्रकार अहंभाव से रहित होकर नित्य कर्मो का आचरण करता है, जिस प्रकार उपयुक्त ऋतु आने पर वृक्ष फल देते हैं, परन्तु इस प्रकार का अहंकारपूर्ण ज्ञान उन्हें नहीं होता कि हम दूसरों को फल दे रहे हैं और इस प्रकार जिसके मन, कर्म और वचन में अहंकार का पूर्ण रूप

प्रकार विवाह के योग्य कन्या पहले से ही अपने मायके के वियोग के लिए तैयार हो जाती है अथवा संन्यास लेने वाला पुरुष मरने से पहले ही संसार का त्याग करने के लिए तैयार रहता है, उसी प्रकार जो पुरुष मरने से पहले ही मृत्यु पर ध्यान रखकर अपने सद व्यवहार और आचरण करता है और इस प्रकार जो पुरुष अपने इसी जन्म से अपने समस्त भावी जन्मों का और इसी जन्म में होने वाली मृत्यु से भावी जन्मों की मृत्यु का अन्त कर डालता है और स्वयं केवल आत्मस्वरूप से बचा रहता है, उसके घर में ज्ञान की कभी कोई कमी नहीं रहती। जिसके लिए जन्म और मृत्यु का कोई खटका नहीं रह जाता, जिसके शरीर को वृद्धावस्था कभी स्पर्श नहीं करती और इसीलिए जो सदा अपने आपको यौवनावस्था की उमंगों में ही रखता है, वही ज्ञानी है। वह अपने आपसे कहता है कि आज मेरे जिस शरीर मे पुष्टि दिखाई देती है, वह शीघ्र ही सूखी हुई कचरी के समान हो जायगा, अभागे पुरुष के व्यवहार की तरह कभी-न-कभी ये हाथ-पैर थककर व्यर्थ हो जायंगे और इस बल की अवस्था ऐसे राजा के समान हो जायगी, जिसे परामर्श देने वाला कोई मन्त्री नहीं होता। जिस मस्तक को आजकल फूलों का इतना शौक है, वही यह समस्त शीघ्र ही ऊंट के घुटने के समान हो जायगा। आषाढ़ मास की हवा लगने के कारण पशुओं के खुरों की रोगी होने से जैसी दुर्दशा हो जाती है, वैसी ही दुर्दशा मेरे इस मस्तक की भी होगी। आज तो मेरे ये नेत्र कमल की पंखुड़ियों के साथ स्पर्धा कर रहे हैं, परन्तु शीघ्र ही ये पके हुए चिचड़े के समान निस्तेज हो जायंगे। ये भौंहों के परदे पुरानी छाल के समान लटकने लगेंगे और यह वक्षस्थल नेत्रों के जल से भीगकर सड़ने लगेगा। जिस प्रकार बबूल के पेड़ पर आने-जाने वाले गिरगिट गोंद से लिपटे रहते हैं, उसी प्रकार मेरा यह मुख भी थूक से लिथड़ा रहेगा। जिस प्रकार रसोईघर के सामने के गड्ढे गन्दे और राख के पानी से भरे रहते हैं, उसी प्रकार यह नाक कफ से भरी रहेगी। जिस मुख के होठों को मैं रंगता हूं, हंसते समय जिसमें के दांत दिखलाता हूं और जिससे मैं सुन्दर-सुन्दर बातें कहता हूं, उसी मुख से कल को लार का प्रवाह बहने लगेगा और सब दांतों के साथ-साथ दाढ़ें भी गिर जायंगी। जिस प्रकार ऋण के भार से दबे हुए खेतिहर अथवा बरसात की झड़ी के कारण पशु चुपचाप दबे हुए पड़े रहते हैं और किसी प्रकार उठना जानते ही नहीं, उसी प्रकार लाख प्रयत्न करने पर भी यह जीभ किसी तरह हिल या उठ न सकेगी। जिस प्रकार सूखी हुई घास के पूले हवा के झोंकों से जमीन पर इधर-उधर उड़ते रहते हैं, उसी प्रकार की दुर्दशा मुंह के अन्दर ही दाढ़ों की होगी। जिस प्रकार आकाश की वर्षा के कारण पहाड़ियों के शिखरों पर से पानी के झरने बहते रहते हैं, उसी प्रकार मेरे मुंह की खिड़की में से लार की नदियां बहने लगेंगी। वाचा कुछ बोल न सकेगी, कान बहरे हो जायंगे और सारा शरीर एक बहुत बड़े बन्दर के समान दिखाई देने लगेगा। जिस प्रकार घास-फूस का बनाया हुआ और खेत में खड़ा किया हुआ पुतला हवा के झोंकों से बराबर आगे और पीछे की तरफ हिलता या झूलता रहता है, उसी प्रकार मेरा यह सारा शरीर भी थरथर कांपने लगेगा। चलने में पैर टेढ़े-तिरछे पड़ेंगे, हाथ टेढ़े और बेकाम हो जायंगे और तब मानो सौन्दर्य का एक बढ़िया स्वांग खड़ा होकर नाचने लगेगा। मल और मूत्र के द्वारों में निरोध की शक्ति नहीं रह जायगी और सब लोग यही मनाने लगेंगे कि मैं किसी तरह मर जाऊं जिससे उनका पीछा छूटे। सारा संसार मेरी ओर देखकर थूकने लगेगा, मृत्यु से बार-बार कहना पड़ेगा कि तू किसी तरह जल्दी आकर मुझे उठा ले जा और मेरे सगे-सम्बन्धी भी मुझसे ऊब जायंगे। स्त्रियां मुझे भूत कहेंगी और लड़के-बच्चे मुझे देखकर घबरा और डर जायंगे और इस प्रकार मैं सबकी घृणा का पात्र बन जाऊंगा। कफ की प्रबलता होने पर जब मैं खों-खों करके खांसूंगा, तब अड़ोसी-पड़ोसियों की नींद टूट जायगी और वह कहने लगेंगे कि यह बुड्ढा अभी न जाने और कितने लोगों को सतावेगा। इस प्रकार जो व्यक्ति युवावस्था में ही अपनी भावी वृद्धावस्था के लक्षणों का ध्यान रखता है और तब अपने मन में उन सब लक्षणों से घृणा करने लगता है, वही ज्ञानी है। वह अपने मन में कहता है कि अन्त में शरीर की इस प्रकार की दुर्दशापूर्ण अवस्था होगी और शारीरिक भोगों

कुछ भाग चलने के उपरान्त इस शरीर का अन्त हो जायगा, तब अपने कल्याण का साधन करने के लिए मेरे पास रह ... क्या जायगा। इसीलिए जब तक बहरापन न आवे, उससे पहले ही सब कुछ सुन लेना चाहिए और जब तक शरीर में पंगुता न आवे, तब तक सब जगह की यात्रा आदि कर लेनी चाहिए। जब तक नेत्रों में दृष्टि है, तब तक जो कुछ देखते बने वह देख लेना चाहिए और जब तक वाचा मूक न हो, तब तक मधुर भाषण कर लेना चाहिए। हमें यह बात अभी से अच्छी तरह मालूम हो गई है कि आगे चलकर हमारे ये हाथ लूले हो जायंगे। लेकिन उन हाथों के लूले होने से पहले ही दान आदि समस्त पुण्य कर्म इन हाथों से करा लेने चाहिए। आगे चलकर जब इस प्रकार की हीन अवस्था आवेगी, तब चित्त बिलकुल पागलों के समान हो जायगा। इसलिए ऐसी अवस्था आने से पहले ही शुद्ध ज्ञान का संग्रह कर लेना आवश्यक है। यदि आज हमें यह पता चल जायगा कि कल चोर आकर हमारी सारी सम्पत्ति लूट ले जायंगे, तो अच्छा यही है कि आज ही हम उसकी रक्षा की व्यवस्था कर लें। दीपक के बुझने से पहले ही उसे हवा से बचाने के लिए ढंक देना चाहिए। जब वृद्धावस्था आवेगी, तब यह सारा शरीर व्यर्थ हो जायगा, इसलिए आज से इस शरीर से बिलकुल निर्लिप्त होकर रहना आरम्भ कर देना ही उचित है। जो यह जानता है कि आगे नाकेबन्दी या रक्षा का प्रबन्ध नहीं है अथवा यह देखता है कि आकाश में मेघ घिर रहे हैं, लेकिन फिर जो इन सब बातों की ओर ध्यान न देकर घर से बाहर निकल पड़ता है, उसका अवश्य ही घात होगा। इसी प्रकार जब वृद्धावस्था आवेगी तब यह शरीर धारण करना बिलकुल व्यर्थ हो जायगा। ऐसी अवस्था में यदि मनुष्य की आयु सौ वर्षों की भी हो तो भी यह समझ में नहीं आता कि उसके इतने दीर्घजीवी होने से क्या लाभ है! जिन तिलों के डंठलों में से एक बार झाड़े जाने के कारण तिल निकल जाते हैं, वे डंठल यदि फिर झाड़े जायं तो उनमें से तिल नहीं निकलते। अग्नि भले ही हो, परन्तु वह राख को नहीं जला सकती। इसलिए जब एक बार वृद्धावस्था आ जाती है, तब उस मनुष्य के हाथ से भी कुछ भी नहीं हो सकता जिसकी आयु सौ वर्षों की होती है। इसलिए जो मनुष्य सदा यह स्मरण रखता है कि वृद्धावस्था आने वाली है और यौवन काल में ही इस बात का प्रयत्न करता है कि मैं उस वृद्धावस्था के हाथों में न पड़ने पाऊं, उसी पुरुष के सम्बन्ध में यह समझना चाहिए कि इसमें सच्चा ज्ञान है। इसीलिए जब तक नाना प्रकार के रोग आकर सामने खड़े नहीं हो जाते, तब तक वह अपने इस नीरोग शरीर का पूरा-पूरा उपयोग कर लेता है। जिस प्रकार सांप के मुंह से उगली हुई अन्न की गोली बुद्धिमान् मनुष्य दूर फेंक देता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी वह सारा ऐहिक ममत्व दूर फेंक देता है, जिसके वियोग से दुःख, संकट और शोक आदि का पोषण होता है और वह आत्मसुख से पूर्ण होकर तथा निस्पृह होकर रहता है। कर्मों के जिन द्वारों से होकर दोष इस शरीर में प्रवेश करते हैं, उन सब द्वारों को वह यम-नियमों की सहायता से बिलकुल बन्द कर देता है। इस प्रकार जो बहुत युक्ति से और सावधान होकर सब काम करता है, केवल उसी को ज्ञान-रूपी सम्पत्ति का स्वामी समझना चाहिए। हे अर्जुन, अब मैं तुमको एक और लक्षण बतलाता हूं, सुनो।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

"जो अपने इस शरीर की ओर से उसी प्रकार उदासीन रहता है, जिस प्रकार यात्री उस धर्मशाला से उदासीन रहता है जिसमें वह जाकर एक-दो दिन के लिए निवास करता है और मार्ग में चलते समय वृक्ष की छाया के साथ मनुष्य का जितना ममत्व होता है, उतना ममत्व भी जिसे इस घर अथवा शरीर के सम्बन्ध में नहीं होता, जिसे स्त्री का उसी प्रकार बिलकुल लोभ नहीं होता, जिस प्रकार किसी को सदा अपने साथ रहने वाली छाया का लोभ नहीं होता और कभी उसका स्मरण भी नहीं होता, जो अपने आगे बाल-बच्चों के रहते हुए भी उनके सम्बन्ध में सदा यही समझता है कि ये मार्ग चलने वाले यात्रियों की तरह कुछ समय के लिए मेरे पास आ ठहरे हैं अथवा जो उन

भलीभांति अपने बन्धन मे रखता है, जो उस समय भी अपनी इन्द्रियों को भलीभांति निग्रह में रखता है, जिस समर सजीव देह बहुत कृश हो जाता है और प्राण जाने की नौबत आ जाती है, जो अपने मन के मुख्य द्वार पर अथव वृत्ति के पहरे पर अपने शरीर रूपी दुर्ग में शम-दम को सदा पहरेदारों की भांति नियुक्त और जाग्रत रखता है, जे मूलाधार, मणिपुर या नाभि-स्थान और विशुद्ध या कंठ-स्थान के तीन चक्रों में वज्र, उड्डीयान और जालन्धर नामक तीनों बन्धों की गश्त बैठाकर अपने चित्त को इड़ा और पिंगला दोनों नाड़ियों की सन्धि में प्रविष्ट करता है, समाधि की शैया पर अपने ध्यान को अच्छी तरह सुलाये रखता है, और जिसका चित्त चेतन्य के साथ एकरूप होकर सदा उसी में रमता रहता है, उसके सम्बन्ध में तुम यह समझ लो कि उसने अपने अन्तःकरण का पूर्ण रूप से निग्रह कर लिया है। अन्तःकरण का इस प्रकार का निग्रह मानों ज्ञान की विजय ही है। जिस पुरुष की आज्ञा उसका अन्तःकरण बिलकुल चुपचाप और सम्मानपूर्वक पालन करता है, उस पुरुष को मूर्तिमान् ज्ञान ही समझना चाहिए।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

जिसके मन में विषयों के प्रति पूर्ण रूप से विरक्ति जाग्रत रहती है, वही ज्ञानी होता है। जिस प्रकार वमन किये हुए पदार्थ को देखकर किसी की जीभ से लार नहीं टपकती अथवा जिस प्रकार किसी मृत पुरुष को आलिंगन करने के लिए कोई आगे नहीं बढ़ता अथवा विष को कोई नहीं निगलता अथवा जलते हुए घर में कोई प्रवेश नहीं करता अथवा बाघ की गुफा में कोई अपना निवास-स्थान नहीं बनाता अथवा गले हुए लोहे के खौलते हुए रस में कोई नहीं कूदता अथवा अजगर को तकिया बनाकर कोई उस पर नहीं सोता, उसी प्रकार विषय की बातें जिसे अच्छी नहीं लगतीं और जो इन्द्रियों के द्वारा किसी विषय का ग्रहण नहीं करता, जिसका मन विषयों की ओर से सदा उदासीन रहता है, जिसका शरीर अत्यन्त कृश रहता है और शम-दम के सम्बन्ध में जिसके मन में बहुत अधिक उत्साह रहता है, हे अर्जुन, जिसमें समस्त तपोव्रत एकत्र रहते हैं और गांव या नगर की भरी हुई बस्ती में रहना जिसे कल्पान्त के समान दुःखद जान पड़ता है, जिसे योगाभ्यास की बहुत अधिक लालसा रहती है, जो निर्जन और एकान्त स्थान की ओर दौड़ता हुआ जाता है और मनुष्यों के समाज का जिसे नाम भी अच्छा नहीं लगता, जो ऐहिक विषयों के भोग-विलास को उतना ही बुरा और त्याज्य समझता है, जितना वाणों की शैया पर सोना अथवा पीब के कीचड़ में लोटना, जो स्वर्ग के सुखों का वर्णन सुनकर उन सुखों को कुत्तों के सड़े हुए मांस के समान समझता है, उसका वैराग्य ही उसके लिए आत्मलाभ का वैभव होता है। इसी प्रकार के वैराग्य के द्वारा जीव ब्रह्मानन्द का सुख भोगने का पात्र बनता है। इस प्रकार जिसमें ऐहिक और पारलौकिक सुखों के उपभोग के सम्बन्ध में पूरी-पूरी विरक्ति दिखलाई पड़े, उसके सम्बन्ध में तुम यह समझ लो कि उसी में विपुल ज्ञान निवास करता है। जो किसी स-काम मनुष्य की भांति ही कुएं और घाट आदि बनवाने के सभी लोकोपयोगी काम करता है, परन्तु उनके कर्तृत्व का अभिमान अपने शरीर को छूने भी नहीं देता, जो वर्णाश्रम धर्म के पालन के लिए आवश्यक नित्य और नैमित्तिक कर्म किये बिना नहीं रहता, परन्तु फिर भी जिसमें इस प्रकार की भावना तिलमात्र भी नहीं रहती कि मैंने अमुक कार्य सिद्ध किया है, वही सच्चा ज्ञानी है। जिस प्रकार वायु अपने स्वाभाविक गुण के कारण सभी स्थानों में संचार करती है अथवा सूर्य अहंकाररहित बुद्धि से उदय होता है अथवा वेद सहज रूप से ज्ञान का कथन करते हैं अथवा गंगा बिना किसी हेतु के ही सदा बहती रहती है, उसी प्रकार जो अभिमानरहित होकर सब प्रकार के आचरण और व्यवहार करता है, जो ठीक उसी प्रकार अहंभाव से रहित होकर नित्य कर्मों का आचरण करता है, जिस प्रकार उपयुक्त ऋतु आने पर वृक्ष फल देते हैं, परन्तु इस प्रकार का अहंकारपूर्ण ज्ञान उन्हें नहीं होता कि हम दूसरों को फल दे रहे हैं और इस प्रकार जिसके मन, कर्म और वचन में अहंकार का पूर्ण रूप

से नाश हो जाता है, वही सच्चा ज्ञानी है। जिस प्रकार किसी हार को पिरोने वाली डोरी निकल जाती है अथवा आकाश में मेघों के इधर-उधर चलते रहने पर भी आकाश पर उन मेघों का दाग नहीं लगता, उसी प्रकार जिसके शरीर से कर्म तो हो जाते हैं, परन्तु फिर भी जो उन कर्मो से निर्लिप्त रहता है, जिस प्रकार मद्यपान करने वाले को अपने शरीर पर के वस्त्रों की अथवा चित्र को अपने हाथ में रखे हुए शस्त्र की अथवा बैल को अपनी पीठ पर लदे हुए शास्त्रीय ग्रन्थों की कुछ भी सुध नहीं होती, उसी प्रकार जिसका अहंभाव बिलकुल व्यर्थ हो जाता है और उस अहभाव का जिसे स्मरण भी नहीं रह जाता, उस पुरुष की इस स्थिति को निरहंकारता कहते हैं। जिस मनुष्य मे इस प्रकार की निरहंकारता पूर्ण रूप से दिखाई देती है, उसी में ज्ञान का निवास होता है, इसमें तिलमात्र भी सन्देह नही। जो जन्म और मृत्यु आदि दुःखों को और रोग तथा वृद्धावस्था आदि संकटों को अपने शरीर में लगने नहीं देता और निर्लिप्त होकर उन सबकी ओर देखता रहता है और वह भी किस प्रकार देखता है जिस प्रकार कोई साधक पुरुष पिशाच को, योगी पुरुष उपाधि को अथवा साहुल की सहायता से मिस्त्री दीवार की सीध को बिना स्वयं अपने स्थान से हटे हुए देखता रहता है, उसी प्रकार जो मृत्यु और रोग आदि को निर्विकार होकर देखता रहता हे, जो अपने पिछले जन्म के दोषों का उसी प्रकार स्मरण करता रहता है, जिस प्रकार सांप अपने मन में पिछले जन्म का भी वैर बनाये रखता है और उसे किसी प्रकार दूर नहीं होने देता, जिसे पूर्व जन्म के दुःख आदि उसी प्रकार खटकते रहते हैं, जिस प्रकार आंखों में बालू का कण खटकता रहता है, अथवा घाव में बाण की मासी खटकती रहती है, जो निरन्तर यही कहता रहता है कि मैं पीब के गड्ढे में पड़ा था, मूत्र-द्वार से मैं बाहर निकला हूं और हाय-हाय, मैंने स्तन पर का पसीना बड़े स्वाद से चाटा है और इन्हीं सब बातों का विचार करके जिसे जीवन से सदा घृणा बनी रहती है और जो अपने मन में इस बात का निश्चय कर लेता है कि अब मैं ऐसा काम कभी नही करूंगा जिससे मुझे फिर से जन्म धारण करना पड़े, जिस प्रकार गंवाया हुआ धन फिर से प्राप्त करने के लिए जुआरी फिर दांव लगाने के लिए तैयार हो जाता है अथवा अपने पिता के वैर का बदला चुकाने के लिए पुत्र सदा अवसर ढूंढ़ता रहता है अथवा मारने से चिढ़कर जिस प्रकार कोई क्रोधपूर्वक मारने वाले का पीछा करता रहता है और उससे उस मार का बदला चुकाना चाहता है, उसी प्रकार जो हाथ धोकर और आवेशपूर्वक जन्म का बन्धन तोडने के पीछे पड़ा रहता है अथवा जन्म धारण करने की लज्जा जिसके मन में सदा उसी प्रकार खटकती रहती है, जिस प्रकार किसी प्रतिष्ठित पुरुष के मन में अपनी मान-हानि खटकती रहती है अथवा, हे अर्जुन, जब किसी तैरने वाले से यह कह दिया जाता है कि आगे बहुत गहरा गड्ढा है, उस समय वह तैरने वाला जिस प्रकार किनारे पर ही खूब अच्छी तरह अपनी लांग कस लेता है और जल में उतरने का विचार छोड़ देता है अथवा जिस प्रकार बुद्धिमान् पुरुष रण में जाकर खड़े होने से पहले ही अपने होश-हवास ठिकाने कर लेता है अथवा घाव लगने से पहले ही जिस प्रकार ढाल आगे करनी पड़ती है अथवा जिस प्रकार यह पता लगने पर कि प्रवास में कल हम जहा चलकर ठहरेंगे, वहां कोई भारी आपत्ति आने की सम्भावना है, मनुष्य एक दिन पहले से ही सावधान हो जाता है अथवा प्राण निकलने से पहले ही जिस प्रकार औषध के लिए दौड़-धूप करनी पड़ती है, इसी प्रकार जो यह समझकर तत्काल ही सावधान हो जाता है कि मृत्यु चाहे आज हो और चाहे कल्पान्त में हो, परन्तु वह होगी अवश्य, और यदि इस प्रकार मनुष्य पहले से ही सावधान न हो तो उसकी अवस्था उसी मनुष्य के समान हो जाती है, जो जलते हुए घर में पड़ा रह जाता है और जिसे फिर उस समय कुआं खोदने का अवसर नहीं मिलता और वह डरकर उसी तरह जहां-का-तहां रह जाता है, जिस तरह गहरे जल में फेंका हुआ पत्थर चुपचाप पड़ा रह जाता है और किसी को उसकी पुकार भी नहीं सुनाई पड़ती और इसीलिए जो उसी प्रकार आठों पहर सावधान रहता है, जिस प्रकार वह पुरुष सावधान रहता है, जिसका किसी बड़े बलवान के साथ बहुत प्रबल वैर हो जाता है अथवा जिस

प्रकार विवाह के योग्य कन्या पहले से ही अपने मायके के वियोग के लिए तैयार हो जाती है अथवा संन्यास लेने वाला पुरुष मरने से पहले ही संसार का त्याग करने के लिए तैयार रहता है, उसी प्रकार जो पुरुष मरने से पहले ही मृत्यु पर ध्यान रखकर अपने सब व्यवहार और आचरण करता है और इस प्रकार जो पुरुष अपने इसी जन्म से अपने समस्त भावी जन्मों का और इसी जन्म में होने वाली मृत्यु से भावी जन्मों की मृत्यु का अन्त कर डालता है और स्वयं केवल आत्मस्वरूप से बचा रहता है, उसके घर मे ज्ञान की कभी कोई कमी नहीं रहती। जिसके लिए जन्म और मृत्यु का कोई खटका नहीं रह जाता, जिसके शरीर को वृद्धावस्था कभी स्पर्श नहीं करती और इसीलिए जो सदा अपने आपको यौवनावस्था की उमंगों में ही रखता है, वही ज्ञानी है। वह अपने आपसे कहता है कि आज मेरे जिस शरीर में पुष्टि दिखाई देती है, वह शीघ्र ही सूखी हुई कचरी के समान हो जायगा, अभागे पुरुष के व्यवहार की तरह कभी-न-कभी ये हाथ-पैर थककर व्यर्थ हो जायंगे और इस वल की अवस्था ऐसे राजा के समान हो जायगी, जिसे परामर्श देने वाला कोई मन्त्री नहीं होता। जिस मस्तक को आजकल फूलों का इतना शौक है, वही यह समस्त शीघ्र ही ऊंट के घुटने के समान हो जायगा। आषाढ़ मास की हवा लगने के कारण पशुओं के खुरों की रोगी होने से जैसी दुर्दशा हो जाती है, वैसी ही दुर्दशा मेरे इस मस्तक की भी होगी। आज तो मेरे ये नेत्र कमल की पंखुडियों के साथ स्पर्धा कर रहे हैं, परन्तु शीघ्र ही ये पके हुए चिचड़े के समान निस्तेज हो जायंगे। ये भौंहों के परदे पुरानी छाल के समान लटकने लगेंगे और यह वक्षस्थल नेत्रों के जल से भींगकर सड़ने लगेगा। जिस प्रकार बबूल के पेड़ पर आने-जाने वाले गिरगिट गोंद से लिपटे रहते हैं, उसी प्रकार मेरा यह मुख भी थूक से लिथड़ा रहेगा। जिस प्रकार रसोईघर के सामने के गड्ढे गन्दे और राख के पानी से भरे रहते हैं, उसी प्रकार यह नाक कफ से भरी रहेगी। जिस मुख के होठों को मैं रंगता हूं, हंसते समय जिसमें के दांत दिखलाता हूं और जिससे मैं सुन्दर-सुन्दर बातें कहता हूं, उसी मुख से कल को लार का प्रवाह बहने लगेगा और सब दांतों के साथ-साथ दाढ़ें भी गिर जायंगी। जिस प्रकार ऋण के भार से दबे हुए खेतिहर अथवा वरसात की झड़ी के कारण पशु चुपचाप दवे हुए पड़े रहते हैं और किसी प्रकार उठना जानते ही नहीं, उसी प्रकार लाख प्रयत्न करने पर भी यह जीभ किसी तरह हिल या उठ न सकेगी। जिस प्रकार सूखी हुई घास के पूले हवा के झोंकों से जमीन पर इधर-उधर उड़ते रहते हैं, उसी प्रकार की दुर्दशा मुंह के अन्दर ही दाढों की होगी। जिस प्रकार आकाश की वर्षा के कारण पहाड़ियों के शिखरों पर से पानी के झरने बहते रहते हैं, उसी प्रकार मेरे मुंह की खिड़की में से लार की नदियां बहने लगेंगी। वाचा कुछ बोल न सकेगी, कान वहरे हो जायंगे और सारा शरीर एक बहुत बड़े बन्दर के समान दिखाई देने लगेगा। जिस प्रकार घास-फूस का बनाया हुआ और खेत में खड़ा किया हुआ पुतला हवा के झोंकों से बराबर आगे और पीछे की तरफ हिलता या झूलता रहता है, उसी प्रकार मेरा यह सारा शरीर भी थरथर कांपने लगेगा। चलने में पैर टेढ़े-तिरछे पड़ेंगे, हाथ टेढ़े और बेकाम हो जायंगे और तब मानो सौन्दर्य का एक बढ़िया स्वांग खड़ा होकर नाचने लगेगा। मल और मूत्र के द्वारों में निरोध की शक्ति नहीं रह जायगी और सब लोग यही मनाने लगेंगे कि मैं किसी तरह मर जाऊं जिससे उनका पीछा छूटे। सारा संसार मेरी ओर देखकर थूकने लगेगा, मृत्यु से बार-बार कहना पड़ेगा कि तू किसी तरह जल्दी आकर मुझे उठा ले जा और मेरे सगे-सम्बन्धी भी मुझसे ऊब जायंगे। स्त्रियां मुझे भूत कहेंगी और लड़के-बच्चे मुझे देखकर घबरा और डर जायंगे और इस प्रकार मैं सबकी घृणा का पात्र बन जाऊंगा। कफ की प्रबलता होने पर जब मैं खों-खों करके खांसूंगा, तब अड़ोसी-पड़ोसियों की नींद टूट जायगी और वह कहने लगेंगे कि यह बुड्ढा अभी न जाने और कितने लोगों को सतावेगा। इस प्रकार जो व्यक्ति युवावस्था में ही अपनी भावी वृद्धावस्था के लक्षणों का ध्यान रखता है और तब अपने मन में उन सब लक्षणों से घृणा करने लगता है, वही ज्ञानी है। वह अपने मन में कहता है कि अन्त में शरीर की इस प्रकार की दुर्दशापूर्ण अवस्था होगी और शारीरिक भोगों

का नाश चुकने के उपरान्त इस शरीर का अन्त हो जायगा, तब अपने कल्याण का साधन करने के लिए मेरे पास बच ही क्या जायगा ! इसलिए जब तक बहरापन न आवे, उससे पहले ही सब कुछ सुन लेना चाहिए और जब तक शरीर में पंगुता न आवे, तब तक सब जगह की यात्रा आदि कर लेनी चाहिए। जब तक नेत्रों में दृष्टि है, तब तक जो कुछ देखते बने वह देख लेना चाहिए और जब तक वाचा मूक न हो, तब तक मधुर भाषण कर लेना चाहिए। हमें यह बात अभी से अच्छी तरह मालूम हो गई है कि आगे चलकर हमारे ये हाथ लूले हो जायगे। लेकिन उन हाथों के लूले होने से पहले ही दान आदि समस्त पुण्य कर्म इन हाथों से करा लेने चाहिए। आगे चलकर जब इस प्रकार की हीन अवस्था आवेगी, तब चित्त बिलकुल पागलों के समान हो जायगा। इसलिए ऐसी अवस्था आने से पहले ही शुद्ध ज्ञान का संग्रह कर लेना आवश्यक है। यदि आज हमें यह पता चल जायगा कि कल चोर आकर हमारी सारी सम्पत्ति लूट ले जायंगे, तो अच्छा यही है कि आज ही हम उसकी रक्षा की व्यवस्था कर लें। दीपक के बुझने से पहले ही उसे हवा से बचाने के लिए ढंक देना चाहिए। जब वृद्धावस्था आवेगी, तब यह सारा शरीर व्यर्थ हो जायगा, इसलिए आज से इस शरीर से बिलकुल निर्लिप्त होकर रहना आरम्भ कर देना ही उचित है। जो यह जानता है कि आगे नाकेबन्दी या रक्षा का प्रबन्ध नहीं है अथवा यह देखता है कि आकाश में मेघ घिर रहे हैं, लेकिन फिर जो इन सब बातों की ओर ध्यान न देकर घर से बाहर निकल पड़ता है, उसका अवश्य ही घात होगा। इसी प्रकार जब वृद्धावस्था आवेगी तब यह शरीर धारण करना बिलकुल व्यर्थ हो जायगा। ऐसी अवस्था में यदि मनुष्य की आयु सौ वर्षों की भी हो तो भी यह समझ में नहीं आता कि उसके इतने दीर्घजीवी होने से क्या लाभ है ! जिन तिलों के डंठलों में से एक बार झाड़े जाने के कारण तिल निकल जाते हैं, वे डंठल यदि फिर झाड़े जायं तो उनमें से तिल नहीं निकलते। अग्नि भले ही हो, परन्तु वह राख को नहीं जला सकती। इसलिए जब एक बार वृद्धावस्था आ जाती है, तब उस मनुष्य के हाथ से भी कुछ भी नहीं हो सकता जिसकी आयु सौ वर्षों की होती है। इसलिए जो मनुष्य सदा यह स्मरण रखता है कि वृद्धावस्था आने वाली है और यौवन काल में ही इस बात का प्रयत्न करता है कि मैं उस वृद्धावस्था के हाथों में न पड़ने पाऊ, उसी पुरुष के सम्बन्ध में यह समझना चाहिए कि इसमें सच्चा ज्ञान है। इसीलिए जब तक नाना प्रकार के रोग आकर सामने खड़े नहीं हो जाते, तब तक वह अपने इस नीरोग शरीर का पूरा-पूरा उपयोग कर लेता है। जिस प्रकार सांप के मुंह से उगली हुई अन्न की गोली बुद्धिमान् मनुष्य दूर फेंक देता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी वह सारा ऐहिक ममत्व दूर फेंक देता है, जिसके वियोग से दुःख, संकट और शोक आदि का पोषण होता है और वह आत्मसुख से पूर्ण होकर तथा निस्पृह होकर रहता है। कर्मों के जिन द्वारों से होकर दोष इस शरीर में प्रवेश करते हैं, उन सब द्वारों को वह यम-नियमों की सहायता से बिलकुल बन्द कर देता है। इस प्रकार जो बहुत युक्ति से और सावधान होकर सब काम करता है, केवल उसी को ज्ञान-रूपी सम्पत्ति का स्वामी समझना चाहिए। हे अर्जुन, अब मैं तुमको एक और लक्षण बतलाता हूं, सुनो।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

"जो अपने इस शरीर की ओर से उसी प्रकार उदासीन रहता है, जिस प्रकार यात्री उस धर्मशाला से उदासीन रहता है जिसमें वह जाकर एक-दो दिन के लिए निवास करता है और मार्ग में चलते समय वृक्ष की छाया के साथ मनुष्य का जितना ममत्व होता है, उतना ममत्व भी जिसे इस घर अथवा शरीर के सम्बन्ध में नहीं होता, जिसे स्त्री का उसी प्रकार बिलकुल लोभ नहीं होता, जिस प्रकार किसी को सदा अपने साथ रहने वाली छाया का लोभ नहीं होता और कभी उसका स्मरण भी नहीं होता, जो अपने आगे बाल-बच्चों के रहते हुए भी उनके सम्बन्ध में सदा यही समझता है कि ये मार्ग चलने वाले यात्रियों की तरह कुछ समय के लिए मेरे पास आ ठहरे हैं अथवा जो उन

बाल बच्चा को वृक्ष की छाया में आकर खडे होने वाले पशुओं के झुंड के समान समझता है हे अर्जुन सम्पत्ति की राशि पर लोटते रहने पर भी जो केवल मार्ग चलने वाले पराये आदमी की तरह उसका साक्षी मात्र रहता है, जो पिंजरे में बन्द रहने वाले तोते की तरह वेदों की आज्ञा और मर्यादा का पालन करता हुआ नीतिपूर्वक आचरण और व्यवहार करता है, परन्तु फिर भी जो स्त्री और बाल-बच्चों की माया और ममता के जाल में नहीं फंसता, उसी के सम्बन्ध में समझना चाहिए कि वह ज्ञान का पालन करने वाला है। समुद्र जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में भी और वर्षा काल में भी समान रूप से भरा रहता है, उसी प्रकार जो अनिष्ट और इष्ट सब कुछ होने पर भी सदा अविकृत रहता है, वही ज्ञान से सम्पन्न है। लोग दिन के तीन भाग करते हैं, परन्तु सूर्य उन तीनों भागो में कभी तीन तरह का नहीं होता। इसी प्रकार सुख और दुःख के कारण जिसमें भिन्नत्व उत्पन्न नहीं होता, जिसमें गगन के समान ही सदा पूरा-पूरा समभाव दिखाई देता है, हे अर्जुन, उसी के सम्बन्ध में तुम समझ लो कि उसका ज्ञान पूरा है और सदा ठीक रहता है।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

मेरे सम्बन्ध में जिस मनुष्य ने अपने मन में यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि मुझ (अर्थात् श्रीकृष्ण) से बढकर संसार में और कोई नहीं है, जिसका शरीर, वाणी और मन इस दृढ़ निश्चय का सत्त्व पान कर चुके होते है और जो मेरे सिवा किसी दूसरे की ओर नहीं देखता, अन्तःकरण निरन्तर मेरे समीप रहने के कारण जो मेरे साथ एक ही शैया पर सोता है, जो मेरे पास उसी प्रकार खुले मन से आता है, जिस प्रकार कोई धर्मपत्नी अपने पति के पास खुले मन से और बेधड़क होकर जाती है, जो मेरे स्वरूप के साथ ठीक उसी प्रकार समरस हो जाता है, जिस प्रकार गंगाजल जाकर समुद्र में मिल जाता और उसके जल के साथ समरस हो जाता है, जो पूर्ण रूप से मेरी ही भक्ति करता है, सूर्य के साथ-ही-साथ उदित होने और उसके साथ-ही-साथ अस्त होने के कारण सूर्य की प्रभा को सूर्य के साथ जिस प्रकार की एकता शोभा देती है, और जिस प्रकार पानी के पृष्ठभाग पर का अंश यदि सहज रूप से हिलता है, तो उसी को लोग 'लहर' कहते हैं, परन्तु वास्तव में वह पानी ही होता है, ठीक उसी प्रकार जो एकनिष्ठ भक्त मेरे साथ एकरूप होकर मेरी सेवा करता है, वह केवल ज्ञान का पुतला ही होता है। जिस पुरुष को तीर्थो, पवित्र नदियों के किनारों, शुद्ध तपोवनों, जंगलों की गुफाओं और इसी प्रकार के दूसरे एकान्त स्थानो मे रहने का शौक होता है, जो पर्वत-मालाओं की गुफाओं या सरोवरों के पास के प्रदेशों का बहुत आदरपूर्वक सेवन करता है और जो नगरों में कभी नहीं आता, जिसे एकान्तवास बहुत अच्छा लगता है और मनुष्यों की बस्ती से जो सदा दूर रहना चाहता है, उस पुरुष को मनुष्य-देहधारी ज्ञान ही समझना चाहिए। हे अर्जुन, तुम्हें ज्ञान का अच्छी तरह स्पष्टीकरण कराने के लिए मैं एक और लक्षण बतलाता हूं।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

"जिस ज्ञान की सहायता से परमात्मा अर्थात् वह एकमेवाद्वितीय वस्तु दिखाई देती है, केवल वही ज्ञान सच्चा है। इसके सिवा संसार और स्वर्ग आदि के सम्बन्ध के जो ज्ञान हैं, उन सबको जो अपने मन में निश्चयपूर्वक वास्तव में अज्ञान समझ लेता है, जो स्वर्ग सम्बन्धी ज्ञान को तिलांजलि दे देता है, जो सांसारिक विषयों की बातों को कभी अपने कानों तक पहुंचने ही नहीं देता और केवल निर्मल भावना से अध्यात्म-ज्ञान मे निमग्न रहता है, जो और सब ज्ञानों को एक ओर रखकर अपनी बुद्धि को ठीक उसी प्रकार अध्यात्म-ज्ञान के मार्ग में आगे की ओर बढ़ाता है, जिस प्रकार कोई यात्री मार्ग भूल जाने पर टेढ़ी-तिरछी गलियां छोड़कर

ज्ञानमार्ग पर चलना आरम्भ करता है जो अपने मन में कहता है "यही एकमात्र सत्य है और दूसरे समस्त विषयों का ज्ञान कोरा भ्रम है।" और यही समझकर जो दृढ़ निश्चयपूर्वक अपने मन में मेरु पर्वत के समान स्थिर रहता है, इस प्रकार आकाश के ध्रुव नक्षत्र के समान जिसका निश्चय अध्यात्म-ज्ञान के द्वार पर अचल रूप से स्थिर रहता है, उसी में ज्ञान का निवास होता है। इस वचन में कभी कोई बाधा नहीं आ सकती, क्योंकि जब किसी का मन ज्ञान में स्थिर हो जाय, तभी यह समझना चाहिए कि वह ज्ञान-स्वरूप हो गया है। भोजन पर बैठने के कुछ देर के बाद जो कुछ होता है (अर्थात् भोजन का जो स्वाद और आनन्द आता है) उसका पता भोजन पर बैठने के समय तुरन्त ही नहीं लग जाता। परन्तु फिर भी पुरुष की मति ज्ञान में स्थित होते ही उसकी जो स्थिति होती है, वह प्रायः पूर्ण ज्ञानवान् की स्थिति के समान ही होती है। इसके सिवा शुद्ध तत्त्वज्ञान का जो एकमात्र फल ज्ञेय वस्तु है, वह उसे सहज में दिखाई देने लगती है। और नहीं तो ज्ञान का बोध हो जाने पर भी यदि मन को ज्ञेय वस्तु न दिखाई दे तो यह नहीं माना जा सकता कि ज्ञान का लाभ हुआ। यदि अन्धा अपने हाथ में दीपक ले ले तो उसके लिए उसका क्या उपयोग हो सकता है ! इसी प्रकार यदि ज्ञेय वस्तु न दिखाई पड़े तो फिर यही समझना चाहिए कि सारा ज्ञान निश्चय व्यर्थ ही गया। यदि ज्ञान के प्रकाश से परमात्म तत्त्व न दिखाई पड़े तो वह ज्ञान-स्फूर्ति ही बिलकुल अन्धी ठहरती है। इसलिए बुद्धि मे इतनी निर्मलता आनी चाहिए कि ज्ञान जो-जो वस्तुएं दिखलावे, वे सब परमात्म वस्तु के स्वरूप में ही दिखलाई पड़ें। इसीलिए जिसे इस प्रकार की स्फूर्ति हो जाती है, उसे निर्दोष ज्ञान का दिखलाया हुआ पर-तत्त्व दिखाई देने लगता है। जिसे इतना विशद ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि वह उसकी सहायता से परमात्म-तत्त्व को देख सके, उसकी बुद्धि भी उतनी ही विशद होती है। और ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध में फिर स्पष्ट शब्दों में यह कहने की विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती कि वह पुरुष ज्ञानस्वरूप हो जाता है। वास्तव में, ज्ञान-तेज के साथ जिसकी बुद्धि ज्ञेय वस्तु तक जा पहुंचती है, वह मानो आत्मतत्त्व को प्रत्यक्ष हाथ से ही स्पर्श कर लेता है। ऐसी अवस्था में हे अर्जुन, यदि ऐसे पुरुष को प्रत्यक्ष ज्ञान ही कहा जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? सूर्य तो सूर्य ही ठहरा। भला उसके स्पष्टीकरण की भी कभी कोई आवश्यकता होती है ?"

इतनी बातें सुनकर श्रोताओं ने कहा—"अब इस विषय का बहुत अधिक विस्तार न करो। ग्रन्थ के निरूपण में ये इधर-उधर की और फालतू बातें क्यों लाते हो ? तुमने ज्ञान के विषय में इतने विस्तार के साथ जो कुछ कहा, उससे हम लोगों का वाग्विलास से यथेष्ट आतिथ्य हो चुका। कवियों का यह मन्त्र तुमने सीख लिया है कि निरूपण में रसालता की खूब अधिकता होनी चाहिए। परन्तु हम लोगों को निमन्त्रित करके ठीक और उपयुक्त प्रसंग आने पर इधर-उधर की बातें बढ़ाकर हमें अपना शत्रु बनाने का विचार तुम क्यों करते हो ? जब बैठकर भोजन करने का समय हो, तब जो व्यक्ति आगे परोसा हुआ अन्न लेकर भाग जाता हो उसका और प्रकार से किया हुआ आदर-सत्कार भला किस काम आ सकता है ? जिस गौ में और सब बातें तो ठीक हो, परन्तु सन्ध्या को दूध दुहने के समय जो दुहने वाले को अपने थन के पास बैठने भी न देती हो, उस केवल लात चलाने वाली गौ को भला कौन पालेगा ? इसी प्रकार ज्ञान में बुद्धि का प्रवेश न होने के कारण दूसरे निरूपणकर्ता तरह-तरह की बातें कह जाते हैं और यह भी नहीं समझते कि हम क्या कह गये। परन्तु इन सब बातों को जाने दो। तुम्हारा निरूपण अवश्य अच्छा हुआ है। जिस ज्ञान का एक कण प्राप्त करने के लिए भी लोग योग-साधन आदि अनेक प्रकार के कष्ट सहते हैं, वास्तव में वही ज्ञान समाधानकारक होता है। और तिसमें भी तुम्हारे समान रसपूर्ण निरूपण हो तो फिर भला कहना ही क्या है ! यदि अमृत-वर्षा की झड़ी लग जाय तो उसमें बुराई ही क्या है ? यदि सुख के करोड़ों दिन प्राप्त हों तो क्या कभी कोई इस विचार से वे दिन गिनने

बैठता है कि ये दिन कब समाप्त होंगे ? यदि पूर्णिमा की रात पूरे युग भर बनी रहे तो क्या चकोर पक्षी उसकी ओर टक लगाकर निरन्तर देखता नहीं रहेगा ? इसी प्रकार ज्ञान का विषय और फिर उसका ऐसा रसपूर्ण निरूपण यदि सुनने को मिले तो क्या कभी कोई यह कहेगा कि "महाराज अब बस करो। रहने दो।" जब ऐसा उत्तम योग हो कि कोई भाग्यवान् अतिथि आवे और अच्छी सुघड़ परोसने वाली हो तो फिर भोजन कितनी ही देर तक क्यों न होता रहे, तो भी वह समय थोड़ा ही जान पड़ता है। बस ठीक वही प्रसंग आज भी उपस्थित हुआ है, क्योंकि एक तो पहले से ही हम लोगों को ज्ञान की लालसा थी और तिस पर आपको भी निरूपण करने का उत्साह है। इसलिए इस कथा के प्रति हम लोगों का अवधान चौगुना हो गया है। और इसीलिए हम लोगों से यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि तुम ज्ञानद्रष्टा हो। इसलिए अब तुम अपनी बुद्धि में प्रवेश करके उसके प्रभाव से इसके आगे वाले 'अज्ञानं यदतोऽन्यथा' पद का उपयुक्त निरूपण करो।

सन्तजनों की ये बातें सुनकर निवृत्तिनाथ के दास ज्ञानदेव ने कहा—"महाराज, मेरे मन में भी यही बात है। तिस पर आप सब समर्थ सन्तों ने भी यही आज्ञा दी है। तो अब मैं व्यर्थ वक्तृता का विचार नहीं करना चाहता।" इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ज्ञान के अठारह लक्षण बतलाये थे। श्रीकृष्ण ने कहा—"मेरा मत है कि इन्हीं लक्षणों से ज्ञान की पहचान करनी चाहिए। और समस्त ज्ञानियों का भी यही मत है। जिस प्रकार हथेली पर रखा हुआ आंवला स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, उसी प्रकार मैंने तुम्हें यह बतला दिया है कि ज्ञान को किस प्रकार स्पष्ट रूप से देखना और पहचानना चाहिए। अब, हे अर्जुन, जिसे लोग 'अज्ञान' कहते हैं, उसका स्वरूप भी मैं तुमको लक्षणों के सहित बतलाता हूं। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो जब मनुष्य की समझ में ज्ञान का स्वरूप अच्छी तरह आ जाता है, तब सहज में ही यह बात भी उनकी समझ में आ जाती है कि अज्ञान किसे कहते हैं, क्योंकि हे अर्जुन, जो 'ज्ञान' नहीं है, वह आपसे आप 'अज्ञान' सिद्ध हो जाता है। जब दिन समाप्त हो जाता है, तब फिर रात की ही बारी आती है; उस समय और किसी तीसरी बात का होना सम्भव ही नहीं होता। इस प्रकार जहां ज्ञान हो, वहां समझ लेना चाहिए कि अज्ञान ही वर्तमान है। तो भी मैं तुम्हें अज्ञान को पहचानने के कुछ फुटकर लक्षण बतला देता हूं। जो केवल महत्त्व या प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ही जीता है, जो केवल मान की ही प्रतीक्षा करता रहता है और आदर-सत्कार होने से ही जिसका सन्तोष होता है, जो पर्वत के शिखर की भांति सदा ऊपर ही रहना चाहता है और अपने उच्च पद से कभी नीचे नहीं उतरना चाहता, उसके सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए कि उसमें अज्ञान की ही समृद्धि है। जिस प्रकार लोग रस्सी में पीपल के पत्ते बांधकर तोरण बनाते हैं, उसी प्रकार जो अपने दान आदि पुण्य-कर्मो का तोरण बड़े-बड़े शब्दों से प्रस्तुत करके टांगता है (आडम्बरपूर्ण शब्दों में अपने पुण्य-कर्मो की घोषणा करता रहता है), जो जान-बूझकर मन्दिर की चंवरी की तरह सदा सिर उठाये खड़ा ही रहता है, जो अपनी विद्या का विस्तृत वर्णन करता रहता है, अपने पुण्य-कर्मो का ढिंढोरा पीटता रहता है और प्रत्येक कार्य केवल लौकिक कीर्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से ही करता है, जो अपने शरीर का ऊपरी ठाट-बाट बहुत बढ़िया रखता है, परन्तु उन लोगों को सदा धोखे में रखता है जो उसके फेर में पड़ते या उसके अनुगामी बनते है, उसे अज्ञान की खान ही समझना चाहिए। जिस समय वन में दावाग्नि फैलने लगती है, उस समय जिस प्रकार उस वन में रहने वाले समस्त प्राणियों और वनस्पतियों को समान रूप से उसका दाह सहन करना पड़ता है, उसी प्रकार जिसके आचरण से सारे संसार को दुःख भोगना पड़ता है, जिसका सहज भाषण भी सब लोगों पर कुल्हाड़ी की तरह आघात करता है और जो अपने छिपे हुए उद्देश्य की सिद्धि करने के लिए विष से भी बढ़कर घातक होता है, उसके सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए कि उसमें बहुत अधिक अज्ञान भरा हुआ है; बल्कि उसे अज्ञान का भांडार ही समझना चाहिए,

क्योंकि उसका जीवन केवल हिंसामय होता है जिस प्रकार वायु के अन्दर भर जाने पर भाथी फूल जाती है और दबाने से वह फिर पचक जाती है, उसी प्रकार जो संयोग और वियोग के कारण बराबर उठता और गिरता या बढ़ता और घटता रहता है जो अपनी स्तुति होने पर उसी तरह आनन्द से आकाश पर चढ़ जाता है, जिस प्रकार हवा के झोंके के कारण धूल आकाश में पहुंच जाती है, परन्तु अपनी जरा-सी भी निन्दा सुनाई पड़ने पर जो सिर पर हाथ रखकर बैठ जाता है, मान और अपमान के कारण जिसकी अवस्था उसी कीचड़ के समान हो जाती है जो पानी की दो-चार बूंदें पड़ने पर तो भीग जाता है और जरा-सी हवा लगने से फिर सूख जाता है, तात्पर्य यह कि जो किसी प्रकार का मनोविकार बिलकुल सहन नहीं कर सकता, उसके सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए कि उसमें पूरा-पूरा अज्ञान भरा हुआ है। जिसके मन में गांठ रहती है, जो ऊपर से तो खूब खुलकर बातें करता और देखता है, परन्तु एक को आलिंगन करता है और अन्तःकरण से दूसरे की सहायता करता है, जो उसी प्रकार दिखावटी सरलता और अनुराग दिखलाकर दूसरों के अन्तःकरण अपने वश में कर लेता है, जिस प्रकार मृग आदि पशुओं की हत्या करने के विचार से व्याधा उन्हें लुभाने के लिए उनके आगे चारा डालकर उन्हें अपने अधिकार में कर लेता है, जिसकी दिखावटी वृत्ति उसी प्रकार भली और सीधी-सादी होती है, जिस प्रकार सेवार से ढंका हुआ पत्थर होता है अथवा पककर पीली हो जाने वाली नीम की कौड़ी होती है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं कि उसमें अज्ञान पूरी तरह से भरा रहता है। अपने गुरुकुल का ध्यान करने से जिसे लज्जा होती है, जिसे गुरुभक्ति अच्छी नहीं जान पड़ती, जो गुरु से विद्या प्राप्त करके उलटे उन्हीं से अपनी विद्या का अभिमान करता है, मुंह से उसका नाम लेना भी मानों शूद्र का अन्न खाने के समान होता है; परन्तु ये लक्षण बतलाने के लिए फिर भी उसका नाम विवश होकर लेना ही पड़ता है। अब मैं गुरुभक्तों का नाम लेकर इस दूषित जिह्वा का प्रायश्चित करता हूं क्योंकि गुरुभक्तों का नाम सूर्य की तरह चारों ओर प्रकाश का विस्तार करता है। गुरुद्रोही मनुष्य के नाम का उच्चारण करने से पाप का जो भार आ पड़ा है, उस भार से वाणी को मुक्त करने के लिए इतना प्रायश्चित्त करना आवश्यक है। आज तक गुरुद्रोहियों के नाम का उच्चारण करने से जितना पाप हुआ होगा, वह सब गुरुभक्तों के नाम का उच्चारण करने से साफ धुल जायगा। अच्छा, अब अज्ञान के दूसरे लक्षण सुनो। उच्चारण में जो सदा विचलित और अस्थिर रहता है, जो सदा संशय से भरा रहता है, जो मनुष्य अन्दर और बाहर जंगल के उस कुएं की तरह घृणित और त्याज्य रहता है, जिसके ऊपर तो झाड़-झंखाड़ और कांटे होते हैं और जिसके अन्दर केवल हड्डियां ही भरी रहती हैं, जो द्रव्य प्राप्त करने के लोभ में पड़कर अपने और पराये का उसी तरह कोई विचार नहीं करता, जिस तरह उदर की ज्वाला से व्याकुल कुत्ता खुले और ढंके हुए अन्न का कोई विचार नहीं करता और जहां जो कुछ मिलता है, वह सब खा जाता है; जो कुत्ते की ही तरह नीति और अनीति का कुछ भी विचार नहीं करता और अविचारपूर्वक जहां चाहता है, वहीं रमण करने लग जाता है, जो कर्तव्य-कर्म का समय चूक जाने पर अथवा नित्य और नैमित्तिक कर्मों के छूट जाने पर भी मन में तनिक भी दुःखी नहीं होता, जिसे पाप का आचरण करने में कुछ भी लज्जा नहीं जान पड़ती, पुण्य के लिए जिसमें कुछ भी उत्साह नहीं रहता और जिसके चित्त में सदा संशय बना रहता है, स्पष्ट रूप से अज्ञान का पुतला ही समझना चाहिए। जिसकी दृष्टि सदा धन की प्राप्ति पर रहती है, जो जरा-से स्वार्थ के लिए उसी प्रकार धैर्य से विचलित हो जाता है, जिस प्रकार च्युंटी के जरा-से धक्के से घास का बीज हिल जाता है, जो भय का नाम सुनते ही उसी प्रकार विचलित हो जाता है, जिस प्रकार पैर रखते ही गड्ढे का पानी गंदला हो जाता है, जो अपने मनोरथों की लहरों के साथ अपने मन को उसी तरह बहाये चलता है, जिस तरह बाढ़ में पड़ी हुई तूंबी बहती है, जो दुःख की बात सुनते ही उसी प्रकार अपने निश्चित स्थान से बहुत

दूर पहुंच जाता या विचलित हो जाता है जिस प्रकार हवा का झोका लगने से धूल बहुत दूर चली जाती है जो कभी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता और बादलों की तरह इधर-उधर हटता-बढ़ता रहता है, जिसके मन में कभी किसी क्षेत्र, तीर्थ या नगर में रहने का विचार नहीं आता या जो कभी एक जगह नहीं ठहरता, जो सदा उसी प्रकार व्यर्थ इधर-उधर घूमता रहता है, जिस प्रकार पागल गिरगिट कभी वृक्ष की फुनगी पर चढ़ जाता है और कभी वहां से उतरकर नीचे जड़ के पास आ जाता है, जिसकी अवस्था उस मिट्टी की नांद की तरह होती है जो केवल उसी अवस्था में स्थिर रहती है, जब कि वह जमीन में गाड़ दी जाती है और नहीं तो बराबर इधर-उधर लुढ़कती रहती है और इसी कारण जो केवल उसी अवस्था में एक स्थान पर स्थिर रहता है, जब कि वह लेटा रहता है और नहीं तो बराबर इधर-उधर घूमता रहता है, उसी में अज्ञान खूब अच्छी तरह भरा रहता है। वह बन्दर के समान चंचल होता है। और हे धनुर्धर, जिसके अन्तःकरण में निग्रह का बल नहीं होता, जो निषेध को सामने पाकर उससे उसी प्रकार भयभीत नहीं होता, जिस प्रकार नाले में आई हुई पानी की बाढ़ बालू के बांध से कुछ भी भयभीत नहीं होती और उसे बहा ले जाती है, जो अपने आचार से व्रत का खंडन करता है, अपने धर्म को पैरों से कुचलता है और यम-नियमों को निराश करता है, जो पाप से बिलकुल नहीं डरता और पुण्य के प्रति जिसका अनुराग नहीं होता, जो लज्जा की बेल को जड़ से ही उखाड़ फेंकता है, जो अपनी कुल-परम्परा की कुछ भी परवाह नहीं करता, जो वेदों की आज्ञा को अपने से सदा दूर ही रखता है और इस बात का निर्णय करना कभी जानता ही नहीं कि कौन-सा काम करने योग्य है और कौन-सा करने योग्य नहीं है, जो उसी प्रकार मनमाने नाच नाचता है, जिस प्रकार सांड़ बिना किसी बन्धन के चारों तरफ नाचता फिरता है अथवा वायु विस्तारपूर्वक बहती रहती है अथवा निर्जन स्थान में नदी-नाले मनमाने ढंग से बहते रहते हैं जिसका चित्त विषयों में उसी तरह सब प्रकार के बन्धनों को तोड़कर भरमता रहता है जिस प्रकार अन्धा हाथी चारों तरफ घूमता रहता है अथवा पर्वत पर दावाग्नि चारों तरफ जलती रहती है, वही पूरा-पूरा अज्ञानी होता है। भला कूड़ेखाने में कौन-सी चीज नहीं फेंकी जाती ? जंगली पशुओं को कौन पकड़ता है ? गांव की सीमा कौन नहीं लांघता ? अन्नसत्र का अन्न जो चाहे, वह जाकर खा सकता है; और जब वेश्या में तारुण्य का तेज आता है, तब उसका आनन्द जो चाहे, वह भोग सकता है और बनिये की खुली हुई दुकान में जो चाहे, वही जा सकता है। इसी प्रकार जिसका अन्तःकरण हो, उसमें सभी प्रकार के अज्ञान की समृद्धि होती है। यह बात तुम ध्यान में रखो। जो चाहे जीता रहे और चाहे मर जाय, परन्तु फिर भी विषय-वासना किसी अवस्था में नहीं छोड़ता, जो यह सोचकर इसी लोक में सब विषयों का सुख भोग लेता है कि आगे चलकर स्वर्ग में तो विषयों का भोग करना ही पड़ेगा, जो सदा विषय-भोगों का ही जप करता है, जिसका अनुराग सदा सकाम कर्मों के आचरण करने की ओर ही रहता है और जो विरागी मनुष्यों के दर्शन होते ही इतना बुरा मानता है कि अपने सब कपड़े धोकर स्नान कर डालता है, जो उस दशा में भी विषयों का भोग करता रहता है, जब कि स्वयं विषय ही उससे विरक्त हो जाते हैं और विषयों का उसी प्रकार सेवन करता रहता है, जिस प्रकार कोई महारोगी अपने हाथ सड़ जाने पर भी उस सड़े हुए हाथ से बराबर अन्न खाता रहता है और जो कभी अपने कल्याण के विषय में सावधान नहीं होता, जो उसी तरह विषयों के पीछे लगा रहता है जिस तरह गधा अन्धा होकर गधी के पीछे लगा रहता है और गधी के बार-बार लात मारने पर भी पीछे नहीं हटता, जो विषयों का भोग करने के लिए जलती हुई आग में भी कूद पड़ता है और अनेक प्रकार के व्यसनों को अलंकारों की भांति धारण करता है, विषयों की प्राप्ति के लिए जिसकी अवस्था उस मृग के समान होती है जो पानी के लालच में तब तक दौड़ता रहता है, जब तक उसकी छाती फट नहीं जाती, परन्तु फिर भी जिसके मन में कभी

इस बात का विश्वास नहीं होता कि यह जल नहीं है, बल्कि मृगजल की माया है, जो जन्म से लेकर मृत्यु तक विषयों से अनेक प्रकार से पीड़ित होने पर भी कभी उससे उकताता नहीं, बल्कि उलटे उन्हें और भी अधिक प्रेमपूर्वक प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है, वही अज्ञानी है। पहले तो बाल्यावस्था में उसके सिर पर माता-पिता का पागलपन सवार रहता है; और जब वह पागलपन हट जाता है, तब वह स्त्री के देह के फेर में पड़ जाता है; और जब स्त्री की संगति में बहुत-सा समय बिता चुकने के उपरान्त वृद्धावस्था आने लगती है, तब उसके सिर पर बाल-बच्चों का प्रेम और पागलपन सवार होता है। बिल्ली या कुतिया के बच्चे जब जन्म लेते हैं, तब वे उस समय तक चुपचाप मुंह-सिर छिपाये और लुंड-मुंड बने पड़े रहते हैं, जब तक उनकी आंख नहीं खुलती। इसी तरह जो सदा अपनी स्त्री और बच्चों के फेर में ही पड़ा रहता है और फिर भी जब तक मर नहीं जाता, तब तक विषयों से बिलकुल नहीं उकताता, हे अर्जुन, यह समझ रखो कि उस मनुष्य के अज्ञान की सीमा ही नहीं है। अब मैं अज्ञान के कुछ और भी लक्षण बतलाता हूं। जो अपने मन में यह भाव रखकर कर्म का आरम्भ करता है कि देह ही आत्मा है, जो अपने आचरण किए हुए अच्छे और बुरे सभी तरह के कर्मों का ध्यान करके हर्ष से प्रफुल्लित हो जाता है, जो अपनी विद्या और यौवनावस्था के कारण उसी प्रकार तनकर चलने लगता है, जिस प्रकार कोई भक्त उस समय गर्व से तनकर चलने लगता है, जिस समय उसके सिर पर देवता की प्रतिमा रख दी जाती है, जो बराबर यही कहता है—"मेरी बराबरी का कोई नहीं है। यदि सम्पत्तिशाली हूं तो केवल मैं ही हूं। भला मुझसे बढ़कर उत्तम आचरण करने वाला और कौन है ? मेरे समान बड़ा और कोई नहीं है। मैं सर्वज्ञ हूं और जो कुछ मैं कहता हूं वही सब जगह माना जाता है।" और इस प्रकार जो गर्व से अपने विषय के समाधान से फूला नहीं समाता, जो उसी प्रकार किसी दूसरे की भलाई नहीं देख सकता, जिस प्रकार व्याधिग्रस्त मनुष्य को किसी प्रकार का भोग सहन नहीं होता, जो गुण अर्थात् अच्छी भावनाओं को उसी प्रकार नष्ट करता है, जिस प्रकार दीपक गुण (अर्थात् सूत की बत्ती) को नष्ट करता है, जो स्नेह (अर्थात् प्रेम) को उसी प्रकार जलाता है, जिस प्रकार दीपक स्नेह (अर्थात् तेल) को जलाता है और जो उसी प्रकार चारों तरफ दुःख की कालिमा फैलाता है, जिस प्रकार दीपक किसी स्थान पर रखे जाने पर चारों ओर अपनी कालिमा फैलाता है, जिसकी अवस्था उस दीपक के समान होती है जो पानी के छींटे पड़ने पर चट-चट करता है, जरा-सी हवा लगने से बुझ जाता है और सहज में यदि किसी चीज के साथ लग जाय तो सारे घर को जलाकर राख कर देता है और एक तिनका भी बाकी नहीं छोड़ता, जो लाख समझाने पर भी किसी तरह नहीं मानता उलटे लड़ाई-झगड़ा करने लगता है और अवसर मिलते ही दूसरों का घात करने से नहीं चूकता, जो अपनी केवल थोड़ी-सी विद्या के कारण ही उसी प्रकार सब लोगों के लिए असह्य हो जाता है, जिस प्रकार थोड़ा-सा प्रकाश करने वाला दीपक भी केवल उतने ही प्रकाश से भारी ताप उत्पन्न करता है, गुणी होने पर भी मत्सर के कारण जिसकी अवस्था उस दूध के समान होती है जो औषध रूप से पिए जाने पर भी नए ज्वर को कुपित कर देता है अथवा जो उस दूध के समान विषाक्त होता है जो सर्प के आगे रखा जाता है, तात्पर्य यह कि जो इस प्रकार सद्गुणी होने पर भी सबके साथ मत्सर करता है, ज्ञानी होने पर भी अहंकार करता है और जिसे अपनी तपस्या तथा ज्ञान का अपरम्पार गर्व होता है, जो गर्व से उसी प्रकार फूला रहता है, जिस प्रकार अन्त्यज राजगद्दी पर बैठने से फूल जाता है अथवा अजगर खम्भा निगलकर फूल जाता है, जो बेलन के समान कभी किसी के आगे नहीं झुकता और पत्थर की तरह कभी नहीं पसीजता और जो उसी प्रकार किसी गुणी मनुष्य के दबाव में नहीं रहता, जिस प्रकार फुफकारने वाला सांप किसी मान्त्रिक या झाड़-फूंक करने वाले के वश में नहीं रहता, हे अर्जुन, तात्पर्य यह कि मैं तुम्हें निश्चित रूप से यह बतलाता हूं कि जिस पुरुष में ये सब बातें होती हैं,

उसमें ऐसा अज्ञान भरा रहता है जो सदा बढ़ता ही जाता है। और हे अर्जुन, जो इस शरीर-रूपी घर का ही सदा लालन-पालन करता रहता है और अपने पिछले अथवा भावी जन्मों का कभी कोई विचार ही नहीं करता वही अज्ञानी है। कृतघ्न मनुष्य के साथ किया हुआ उपकार, चोर के हाथ में दिया हुआ धन अथवा निर्लज्ज पुरुष को दी हुई चेतावनी जिस प्रकार व्यर्थ जाती है, जिस प्रकार घर में घुस आने वाले कुत्ते को यदि उसके कान और दुम काटकर घर से भगा दिया जाय तो भी वह कुत्ता कान और दुम का रक्त सूखने से पहले ही फिर उसी प्रकार निर्लज्जतापूर्वक घर में घुस आता है अथवा जिस प्रकार सांप के मुख में जाते समय भी मक्खियो को पकड़ने के लिए मेंढक अपनी जीभ बाहर निकाले रहता है, उसी प्रकार जिस पुरुष को उस अवस्था मे भी खेद नहीं होता, जबकि उसके शरीर की नौ इन्द्रियों के द्वार बराबर बहते रहते हैं, और शरीर में नाशक घुन लगा रहता है, जो माता के पेट रूपी गुफा में मल-मूत्र में नौ महीने तक पड़ा रहने पर भी गर्भावस्था दु:खो अथवा जन्म-धारण करने के समय होने वाले कष्टों का भी स्मरण नहीं करता, जो बच्चों को मल-मूत्र के कीचड मे लोटते हुए देखकर भी घृणा नहीं करता और इस तरह की बातों से नहीं घबराता या उकताता, जो कभी इस बात का विचार नहीं करता कि अभी कल ही पिछला जन्म समाप्त हुआ है और फिर कल ही नया जन्म आने वाला है, जिसे अपने जीवन के अच्छे दिनों में मृत्यु का स्मरण नहीं होता, जो अपने मन में सदा यही विश्वास रखता है कि मैं इस समय जैसी अच्छी अवस्था में हूं, वैसी ही अच्छी अवस्था में सदा बना रहूंगा ओर इसी विश्वास के कारण जिसकी समझ में ही नहीं आता कि मृत्यु भी कोई चीज है, जिसकी अवस्था किसी छोटे-से गड्ढे में रहने वाली उस मछली के समान होती है जो यह समझती है कि यह गड्ढा कभी सूखेगा ही नही ओर यही सोचकर जो किसी गहरे दह में नहीं जाती अथवा जिसकी अवस्था उस हिरण के समान होती है, जो शिकारी के गीत में ही इतना मग्न हो जाता है कि उस शिकारी को देखना भी भूल जाता है अथवा उस मछली के समान होती है जो बंसी में का कांटा नहीं देखती और उस पर का आमिष खाने का प्रयत्न करती है अथवा जिसकी अवस्था उस पतंग के समान होती है जो दीपक की लौ देखते ही इतना भूल जाता है कि उसे इस बात का ध्यान ही नहीं रह जाता कि यह दीपक मुझे जला डालेगा, वही अज्ञानी है। जिस प्रकार घर के जलने के समय भी मूर्ख मनुष्य सोता ही रहता है अथवा अनजान में विष मिला हुआ अन्न खा जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष भी राजस सुख में मग्न होकर यह नहीं जानता कि इस जीवन के रूप में मुझ पर यह मृत्यु का ही वार हुआ है। वह दिन-रात अपने शरीर का पालन-पोषण करता रहता है और विपय-सुख के वैभव को ही सच्चा मानता है। परन्तु उस बेचारे मूढ़ की समझ में यह वात नहीं आती कि वेश्या को अपना सर्वस्व अर्पण करना ही मानो अपना नाश करना है अथवा ठग के साथ मित्रता करना ही अपने प्राण गंवाना है अथवा दीवार पर रंग से बनाये हुए चित्र को स्वच्छ करने के लिए धोना ही मानो उस चित्र को मिटाना है और पांडु रोग के कारण अंगों का फूलना मानो उनका नष्ट होना है। बस ठीक इसी प्रकार वह आहार, निद्रा मे भूलकर बुद्धिहीन हो जाता है। जिस प्रकार सामने खड़ी की हुई सूली की ओर दौड़ने वाले के लिए प्रत्येक पग पर मृत्यु पास आती जाती है, उसी प्रकार ज्यों-ज्यों उसका शरीर बढ़ता है, ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते हे और ज्यों-ज्यों विषय-भोग का सुभीता होता जाता है, त्यों-त्यों आयुष्य पर मृत्यु की छाया बराबर बढ़ती जाती है। जिस प्रकार पानी से नमक गल जाता है, उसी प्रकार यह जीवन भी गलता जा रहा है और मृत्यु समीप आती जाती है। परन्तु फिर भी यह प्रत्यक्ष बात उसकी समझ में नहीं आती। हे अर्जुन, सारांश यह कि जिसे विषयों के फेर में सदा शरीर के साथ लगी रहने वाली मृत्यु नहीं दिखाई देती, उसके विषय में इसके सिवा और कोई मत हो ही नहीं सकता कि वह पुरुष अज्ञान के राज्य का अधिपति है। जिस प्रकार ऐसे मनुष्य को

जीवन के सुखों के फेर में मृत्यु का स्मरण ही नहीं होता, उसी प्रकार पर्वत की चोटी पर से उलटी हुई गाडी अथवा पहाड़ के ऊपर से गिरा हुआ पत्थर वह नहीं देखता कि सामने क्या है, उसी प्रकार वह भी सामने से आने वाली वृद्धावस्था को नहीं देखता! अथवा जब जंगल के नाले में पानी बहुत बढ़ने लगता है और बाढ आने लगती है अथवा जब भैंसे मस्त हो जाते हैं, तब उन्हें अपने सामने की कोई चीज नहीं दिखाई देती और व मनमाने तौर पर चारों तरफ दौड़ने लगते हैं। इसी प्रकार वह भी यौवन के मद में अन्धा हो जाता है। यद्यपि उसके अंग निर्बल होते जाते हैं, तेज कम हो जाता है, मस्तक झूमने लगता है, दाढ़ी पक जाती है और गरदन हिलने लगती है, परन्तु फिर भी वह अपनी माया या धन-सम्पत्ति का विस्तार करता ही जाता है। जैसे अन्धे आदमी को सामने से आने वाला मनुष्य तब तक दिखलाई नहीं देता, जब तक वह अपनी छाती पर नहीं आ जाता अथवा आलसी मनुष्य उस समय भी आनन्द से पड़ा रहता है, जिस समय घर में लगी हुई आग की चिनगारियां आकर उसके मुंह पर गिरने लगती हैं, उसी प्रकार जिस पुरुष को आज की युवावस्था का भोग करते समय कल आने वाली वृद्धावस्था दिखलाई नहीं देती, हे अर्जुन, वह पुरुष मूर्तिमान अज्ञान ही होता है। जो किसी अशक्त अथवा कुबड़े को देखकर अभिमानपूर्वक उसे चिढ़ाने और उसकी नकल उतारने लगता है, परन्तु जो यह नहीं समझता कि आगे चलकर मेरी भी यही अवस्था होने वाली है और मृत्यु की सूचना देने वाले वृद्धावस्था के लक्षण शरीर में दिखाई पड़ने पर भी जिसका यौवनकाल का भ्रम दूर नहीं होता, उस पुरुष को अज्ञान का जन्म-स्थान ही समझना चाहिए। हे अर्जुन अज्ञान के कुछ और भी लक्षण सुनो। जिस प्रकार कोई पशु किसी ऐसे जंगल में जाकर चर आता है जिसमें बाघ रहता है और जो भाग्यवश किसी प्रकार बाघ से बचकर लौट आता है और इसी भरोसे पर वह फिर उसी जंगल में चरने के लिए जाता है अथवा जिस प्रकार कोई मनुष्य एक बार सांप के बिल में रखा हुआ धन सांप के दंश से किसी प्रकार बचकर उठा लाता है और तब वह कहने लगता है कि उस बिल में सांप है ही नहीं अथवा यदि वह है भी तो काटता ही नहीं, उसी प्रकार जो एक-दो बार कुपथ्य करके भी यह देखता है कि मेरा शरीर स्वस्थ है और इसीलिए जो रोग का अस्तित्व ही नहीं मानता अथवा जो अपने वैरी को सोया हुआ देखकर स्वस्थ और निश्चिन्त हो जाता है और सोचता है कि अब तो उसके साथ मेरा वैर भी और उससे होने वाला संकट भी दूर हो गया है और अन्त में अपने बाल-बच्चों के प्राणों के साथ अपने भी प्राण गंवा बैठता है, अथवा जो आदमी तब तक रोग की ओर से निश्चिन्त रहता है, जब तक उसका आहार और निद्रा नियमित रूप से चलती रहती है और रोग उसके शरीर में पूरी तरह से घर नहीं कर लेता, वही अज्ञानी होता है। वह अपनी स्त्री, पुत्र, परिवार आदि के साथ ज्यों-ज्यों अपनी सम्पत्ति के द्वारा अधिकाधिक विषय सम्पादित करता जाता है, त्यों-त्यों उसकी धूल से वह और भी अधिक अन्धा हो जाता है। जिसे यह भावी दुःख दिखाई नहीं देता कि अचानक इन विषयों के साथ मेरा वियोग होगा और एक क्षण में मुझ पर भारी आपत्ति आ पड़ेगी, अर्जुन, वह पुरुष केवल अज्ञान ही है। और वह पुरुष भी अज्ञान ही है जो इन्द्रियों का उदर विषय रूपी अन्न से खूब मनमाने ढंग से भरता रहता है। जो यौवनावस्था के आवेश और सम्पत्ति की संगति से सेव्य और असेव्य कुछ भी विचार नहीं करता और सबका अन्धाधुन्ध सेवन करता चलता है, जिसका मन वही काम करता है जो करना नहीं चाहिए, जो असम्भव बातों की आशा करता है और जो ऐसी बातों का चिन्तन करता है, जिसका कभी विचार भी नहीं करना चाहिए, जहां शरीर और मन को प्रवेश नहीं करना चाहिए, वहां उन्हें प्रविष्ट करता है, जो नहीं लेना चाहिए, वह मांगता है, जिसे भूलकर भी नहीं छूना चाहिए, उसी का निरन्तर स्पर्श करता रहता है, जो वहीं जाता है जहां नहीं जाना चाहिए, जो नहीं देखना चाहिए, उसी को देखता है, जो नहीं खाना चाहिए, उसको खाकर आनन्दित होता है, जिसका

सग नही करना चाहिए उसी का सग करता ह जिसके साथ सलग्न न्ही होना चाहिए, उसी के साथ संलग्न हाता हे जिस माग पर नही जाना चाहिए, उसी मार्ग पर जाता है, जो न सुनने योग्य बातें सुनता और न कहने योग्य बातें कहता है और यह नहीं जानता कि इस प्रकार के आचरण में कितना दोष होता है, हे अर्जुन, जो किसी बात के केवल मन को रुचने के कारण ही इस बात का कभी तिलमात्र भी विचार नहीं करता कि अमुक काम करने के योग्य है अथवा नहीं करने के योग्य है, जो ऐसे-वैसे काम अपना कर्तव्य मानकर करता है, परन्तु जो इस बात का कुछ भी विचार नहीं करता कि अमुक कार्य करने से मुझे पाप होगा और आगे चलकर नरक की यातना भोगनी पड़ेगी, उस पुरुष की संगति से इस संसार में अज्ञान इतना अधिक बलवान् हो जाता है कि वह ज्ञानी लोगों के साथ भी दो-चार हाथ लड़ सकता है। परन्तु अब इस विषय को छोड़ देना चाहिए। अब मैं कुछ और ऐसे लक्षण बतलाता हूं जिससे अज्ञान की बिलकुल ठीक-ठीक पहचान हो सके। तुम वह लक्षण सुनो। घर-गृहस्थी में जिसकी प्रीति उसी प्रकार लगी हो, जिस प्रकार नये निकाले हुए सुगन्धित पराग में भृंगी की रहती है, जिसकी इच्छा उसी प्रकार स्त्री की आज्ञा के अनुसार या मरजी के मुताबिक काम करने की होती है, जिस प्रकार चीनी पर बैठी हुई मक्खी की सदा चीनी पर ही बैठे रहने की होती है और उस पर से उसका किसी तरह उठने को जी नहीं चाहता, जिसका जीव, मन और प्राण घर-गृहस्थी के झमेलों से उसी प्रकार बाहर नहीं निकल सकते, जिस प्रकार पानी के गड्ढे से मेंढक नहीं निकलना चाहता अथवा मच्छर जिस प्रकार नाक से निकले हुए कफ को नहीं छोड़ना चाहता अथवा ढोर जिस प्रकार सदा कीचड़ में ही पड़ा रहना चाहता है, जो घर-गृहस्थी को उसी प्रकार पकड़कर बैठा रहता है, जिस प्रकार सांप किसी बंजर या खाली जमीन पर जमकर पड़ा रहता है और वहां से किसी तरह हटना नहीं चाहता, जो अपनी घर-गृहस्थी को उसी प्रकार खूब जोरों से पकड़कर बैठा रहता है, जिस प्रकार कोई स्त्री अपने प्राणनाथ को अपनी सारी शक्ति से आलिंगन करके बैठी रहती है, जो घर-गृहस्थी की रक्षा के लिए निरन्तर उसी प्रकार परिश्रम करता रहता है, जिस प्रकार मधु प्राप्त करने के उद्देश्य से भृंग सदा परिश्रम करता रहता है, जिसका घर-गृहस्थी पर उतना ही अधिक अनुराग होता है, जितना उन माता-पिता का अपने उस एकलौते पुत्ररत्न पर होता है, जो उन्हें दैवयोग से वृद्धावस्था में प्राप्त होता है और जो अपनी स्त्री के सिवा और किसी को कुछ जानता या समझता ही नहीं, जो केवल स्त्री के ही शरीर का भजन और उपासना करता है और इस बात का जिसे नाम को भी ज्ञान नहीं होता कि मैं कौन हूं और मुझे क्या करना चाहिए, जो अपनी समस्त इन्द्रियों से उसी प्रकार स्त्री में एकाग्र भाव से अपना अनुराग रखता है, जिस प्रकार महाज्ञानी पुरुषों का चित्त केवल ब्रह्म में ही रमण करता है और उस ब्रह्म के सामने उसके दूसरे समस्त व्यवहारों का लोप हो जाता है, जो स्त्री-सम्बन्धी अनुराग के सामने लज्जा अथवा हानि को कोई चीज ही नहीं समझता और न लोकापवाद ही सुनता है, जो सदा स्त्री की इच्छा की आराधना करता है (अर्थात् स्त्री की ही इच्छा के अनुसार चलता है) और उसके फेर में पड़कर उसी प्रकार नाचता है जिस प्रकार मदारी का बन्दर नाचता है, जो दान-पुण्य में उसी प्रकार कंजूसी करता है जिस प्रकार कोई बड़ा भारी लोभी स्वयं कष्ट उठाकर अपने इष्ट-मित्रों को भी दुःखी करके कौड़ी जमा करता है, जो अपने रिश्ते-नाते के लोगों को तो धोखा देता है और उनके आदर-सत्कार में त्रुटि करता है, परन्तु अपनी स्त्री की सभी इच्छाएं पूरी करता है और उसमें रत्ती भर भी कमी नहीं होने देता, जो बहुत ही थोड़े-से व्यय में आराध्य देवताओं को सन्तुष्ट करना चाहता है, गुरुजनों को यों ही चकमा देता है और अपने माता-पिता के सामने भी व्यय करने में अपनी असमर्थता ही प्रकट करता है, परन्तु अपनी स्त्री के उपयोग के लिए वह जो उत्कृष्ट वस्तु देखता है, उसे बहुत अधिक व्यय करके भी प्राप्त करता है, जो अपनी स्त्री की उसी प्रकार उपासना करता है, जिस प्रकार कोई प्रेमपूर्ण

भक्त अपने कुलदेवता की उपासना और भजन करता है, जो असल और बढ़िया चीजें तो अपनी स्त्री के लिए रख छोड़ता है और दूसरों को सामान्य निर्वाह के योग्य भी कोई वस्तु नहीं देता, जो यह समझता है कि यदि कोई मेरी स्त्री की ओर आंख उठाकर देखेगा या उसका विरोध करेगा तो मानो प्रलय के समान अनर्थ हो जायगा, जो अपनी स्त्री की बहुत छोटी-सी बात भी उसी प्रकार आग्रहपूर्वक करता है, जिस प्रकार दाद या चकत्ते होने के डर से लोग देवी को चांदी के नाग चढ़ाने की मन्नत आग्रहपूर्वक पूरी करते हैं, हे अर्जुन, तात्पर्य यह कि जो अपनी स्त्री को ही सब कुछ समझता है और जिसका प्रेम केवल उन्हीं बाल-बच्चों के हिस्से में पड़ता है जो उस स्त्री के गर्भ से उत्पन्न होते हैं और जिसे अपनी स्त्री का सारा वैभव अपने प्राणों से भी बढ़कर प्रिय होता है, वह पुरुष अज्ञान का मूल होता है, जिसके कारण अज्ञान का तेज बढ़ता है और वह प्रत्यक्ष अज्ञान ही होता है। जिस प्रकार विक्षुब्ध समुद्र में बिलकुल खुली और छूटी हुई नाव लहरों के साथ ऊपर-नीचे होती रहती है, उसी प्रकार प्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर तो जिसकी ऐसी अवस्था हो जाती है कि वह सारे आकाश में भी नहीं समा सकता, परन्तु कोई अप्रिय बात होने पर जो दुःखी होकर मानों रसातल में पहुंच जाता है और इस प्रकार जिसका अन्तःकरण भेद-भावना के बन्धन में पड़ा रहता है, फिर वह चाहे कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो, उसे अज्ञान का स्वरूप ही समझना चाहिए। जो अपने मन में किसी प्रकार के फल की आशा रखकर मेरी भक्ति उसी प्रकार करता है जिस प्रकार कोई द्रव्य सम्पादित करने के उद्देश्य से वैराग्य का वेष धारण करता है अथवा जिस प्रकार कोई व्यभिचारिणी स्त्री अपने यार के पास जाने का सुभीता पाने के लिए अपने पति का सन्तोष करके और उसका मन भरकर उसे झूठा विश्वास दिलाने के लिए ऊपर से अपना शुद्ध व्यवहार और आचरण दिखलाती है, उसी प्रकार हे अर्जुन, जो ऊपर से दिखलाने के लिए तो मेरी भक्ति करता है, परन्तु वास्तव में जिसकी सारी दृष्टि विषय-सुखों को सम्पादित करने की ओर रहती है और जब इस प्रकार की भक्ति करने पर इच्छित विषय प्राप्त नहीं होता, तब जो यह कहकर तत्काल ही मेरी भक्ति छोड़ देता है कि यह सारी भक्ति निरर्थक है, जो उसी प्रकार नित्य नये-नये देवताओं की आराधना करता है, जिस प्रकार कोई कृषक नित्य नई-नई जमीनें लेकर जोतता है और अपने प्रत्येक नये देवता की अपने पुराने देवता की ही तरह सेवा करता है, जो किसी नये गुरु-सम्प्रदाय का विशेष ठाट-बाट देखकर उसी के फेर में पड़ जाता है और उसी का मन्त्र लेता है और दूसरों को क्षुद्र समझकर उनका स्वीकार नहीं करता, जो सजीव प्राणियों के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करता है, परन्तु वृक्ष और पाषाण आदि स्थावर पदार्थों को देवता समझकर उनकी पूजा करता है और इस प्रकार जिसकी एकनिष्ठ श्रद्धा किसी पर नहीं होती, जो मेरी मूर्ति तो प्रस्तुत करता है परन्तु उस मूर्ति को अपने मकान के किसी कोने में स्थापित करके स्वयं दूसरे देवताओं के दर्शन और यात्रा के लिए निकल जाता है, जो सदा मेरा पूजन करता है, परन्तु मंगल कार्यों में कुल-देवताओं का अर्चन करता है और कुछ विशेष पर्वों के समय दूसरे देवताओं की आराधना करता है, जो घर में तो मेरी मूर्ति स्थापित करता है, परन्तु मन्नतें दूसरे देवताओं की मानता है और फिर श्राद्ध के समय अपने पितरों का भक्त हो जाता है, जो एकादशी के दिन मेरा जितना मान करता है, उतना ही श्रावण शुक्ल पंचमी के दिन नागों का भी मान करता है, जो भाद्रपद की शुक्ला चतुर्थी के दिन गणपति का भक्त हो जाता है और चतुर्दशी आने पर दुर्गा की भक्ति करने लग जाता है, जो नवमी का आयोजन करके नवचंडी का अनुष्ठान करने बैठ जाता है और रविवार को कालभैरव का खिचड़ा बांटने लगता है, और फिर सोमवार आने पर बेलपत्र लेकर शिवलिंग की ओर दौड़ पड़ता है, तात्पर्य यह कि इस प्रकार जो पुरुष नाना प्रकार के और सभी देवताओं की आराधना और उपासना करता है और इस प्रकार की धांधली से जो निरन्तर भक्ति करता है और क्षण-भर भी शान्त नहीं रहता और बराबर सभी देवताओं की ओर दौड़ता



संग नहीं करना चाहिए, उसी का संग करता है, जिसके साथ संलग्न नहीं होना चाहिए, उसी के साथ संलग्न होता है, जिस मार्ग पर नहीं जाना चाहिए, उसी मार्ग पर जाता है, जो न सुनने योग्य बातें सुनता और न कहने योग्य बातें कहता है और यह नहीं जानता कि इस प्रकार के आचरण में कितना दोष होता है, हे अर्जुन, जो किसी बात के केवल मन को रुचने के कारण ही इस बात का कभी तिलमात्र भी विचार नहीं करता कि अमुक काम करने के योग्य है अथवा नहीं करने के योग्य है, जो ऐसे-वैसे काम अपना कर्तव्य मानकर करता है, परन्तु जो इस बात का कुछ भी विचार नहीं करता कि अमुक कार्य करने से मुझे पाप होगा और आगे चलकर नरक की यातना भोगनी पड़ेगी, उस पुरुष की संगति से इस संसार में अज्ञान इतना अधिक बलवान् हो जाता है कि वह ज्ञानी लोगों के साथ भी दो-चार हाथ लड़ सकता है। परन्तु अब इस विषय को छोड़ देना चाहिए। अब मैं कुछ और ऐसे लक्षण बतलाता हूं जिससे अज्ञान की बिलकुल ठीक-ठीक पहचान हो सके। तुम वह लक्षण सुनो। घर-गृहस्थी में जिसकी प्रीति उसी प्रकार लगी हो, जिस प्रकार नये निकाले हुए सुगन्धित पराग में भृंगी की रहती है, जिसकी इच्छा उसी प्रकार स्त्री की आज्ञा के अनुसार या मरजी के मुताबिक काम करने की होती है, जिस प्रकार चीनी पर बैठी हुई मक्खी की सदा चीनी पर ही बैठे रहने की होती है और उस पर से उसका किसी तरह उठने को जी नहीं चाहता, जिसका जीव, मन और प्राण घर-गृहस्थी के झमेलों से उसी प्रकार बाहर नहीं निकल सकते, जिस प्रकार पानी के गड्ढे से मेंढक नहीं निकलना चाहता अथवा मच्छर जिस प्रकार नाक से निकले हुए कफ को नहीं छोड़ना चाहता अथवा ढोर जिस प्रकार सदा कीचड़ में ही पड़ा रहना चाहता है, जो घर-गृहस्थी को उसी प्रकार पकड़कर बैठा रहता है, जिस प्रकार सांप किसी बंजर या खाली जमीन पर जमकर पड़ा रहता है और वहां से किसी तरह हटना नहीं चाहता, जो अपनी घर-गृहस्थी को उसी प्रकार खूब जोरो से पकड़कर बैठा रहता है, जिस प्रकार कोई स्त्री अपने प्राणनाथ को अपनी सारी शक्ति से आलिंगन करके बैठी रहती है, जो घर-गृहस्थी की रक्षा के लिए निरन्तर उसी प्रकार परिश्रम करता रहता है, जिस प्रकार मधु प्राप्त करने के उद्देश्य से भृंग सदा परिश्रम करता रहता है, जिसका घर-गृहस्थी पर उतना ही अधिक अनुराग होता है, जितना उन माता-पिता का अपने उस एकलौते पुत्ररत्न पर होता है, जो उन्हें दैवयोग से वृद्धावस्था में प्राप्त होता है और जो अपनी स्त्री के सिवा और किसी को कुछ जानता या समझता ही नहीं, जो केवल स्त्री के ही शरीर का भजन और उपासना करता है और इस बात का जिसे नाम को भी ज्ञान नहीं होता कि मैं कौन हू और मुझे क्या करना चाहिए, जो अपनी समस्त इन्द्रियों से उसी प्रकार स्त्री में एकाग्र भाव से अपना अनुराग रखता है, जिस प्रकार महाज्ञानी पुरुषों का चित्त केवल ब्रह्म में ही रमण करता है और उस ब्रह्म के सामने उसके दूसरे समस्त व्यवहारों का लोप हो जाता है, जो स्त्री-सम्बन्धी अनुराग के सामने लज्जा अथवा हानि को कोई चीज ही नहीं समझता और न लोकापवाद ही सुनता है, जो सदा स्त्री की इच्छा की आराधना करता है (अर्थात् स्त्री की ही इच्छा के अनुसार चलता है) और उसके फेर में पड़कर उसी प्रकार नाचता है जिस प्रकार मदारी का बन्दर नाचता है, जो दान-पुण्य में उसी प्रकार कंजूसी करता है जिस प्रकार कोई बड़ा भारी लोभी स्वयं कष्ट उठाकर अपने इष्ट-मित्रों को भी दुःखी करके कौड़ी जमा करता है, जो अपने रिश्ते-नाते के लोगों को तो धोखा देता है और उनके आदर-सत्कार में त्रुटि करता है, परन्तु अपनी स्त्री की सभी इच्छाएं पूरी करता है और उसमे रत्ती भर भी कमी नहीं होने देता, जो बहुत ही थोड़े-से व्यय में आराध्य देवताओं को सन्तुष्ट करना चाहता है, गुरुजनों को यों ही चकमा देता है और अपने माता-पिता के सामने भी व्यय करने में अपनी असमर्थता ही प्रकट करता है, परन्तु अपनी स्त्री के उपयोग के लिए वह जो उत्कृष्ट वस्तु देखता है, उसे बहुत अधिक व्यय करके भी प्राप्त करता है, जो अपनी स्त्री की उसी प्रकार उपासना करता है, जिस प्रकार कोई प्रेमपूर्ण

भक्त अपने कुलदेवता की उपासना और भजन करता है जो असल ओर बढिया च ने तो अपनी स्त्री के लिए रख छोड़ता हे और दूसरा को सामान्य निर्वाह के योग्य भी काइ वस्तु नही देता, जो यह समझता है कि यदि कोई मेरी स्त्री की ओर आंख उठाकर देखेगा या उसका विरोध करेगा तो मानो प्रलय के समान अनर्थ हो जायगा, जो अपनी स्त्री की बहुत छोटी-सी बात भी उसी प्रकार आग्रहपूर्वक करता है, जिस प्रकार दाद या चकत्ते होने के डर से लोग देवी को चांदी के नाग चढ़ाने की मन्नत आग्रहपूर्वक पूरी करते हैं, हे अर्जुन, तात्पर्य यह कि जो अपनी स्त्री को ही सब कुछ समझता है और जिसका प्रेम केवल उन्हीं बाल-बच्चों के हिस्से में पड़ता है जो उस स्त्री के गर्भ से उत्पन्न होते हैं और जिसे अपनी स्त्री का सारा वैभव अपने प्राणों से भी बढ़कर प्रिय होता है, वह पुरुष अज्ञान का मूल होता है, जिसके कारण अज्ञान का तेज बढ़ता है और वह प्रत्यक्ष अज्ञान ही होता है। जिस प्रकार विक्षुब्ध समुद्र में बिलकुल खुली और छूटी हुई नाव लहरों के साथ ऊपर-नीचे होती रहती है, उसी प्रकार प्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर तो जिसकी ऐसी अवस्था हो जाती है कि वह सारे आकाश मे भी नहीं समा सकता, परन्तु कोई अप्रिय बात होने पर जो दुःखी होकर मानों रसातल में पहुंच जाता है और इस प्रकार जिसका अन्तःकरण भेद-भावना के बन्धन में पड़ा रहता है, फिर वह चाहे कितना ही बुद्धिमान् क्यो न हो, उसे अज्ञान का स्वरूप ही समझना चाहिए। जो अपने मन में किसी प्रकार के फल की आशा रखकर मेरी भक्ति उसी प्रकार करता है जिस प्रकार कोई द्रव्य सम्पादित करने के उद्देश्य से वैराग्य का वेष धारण करता है अथवा जिस प्रकार कोई व्यभिचारिणी स्त्री अपने यार के पास जाने का सुभीता पाने के लिए अपने पति का सन्तोष करके और उसका मन भरकर उसे झूठा विश्वास दिलाने के लिए ऊपर से अपना शुद्ध व्यवहार और आचरण दिखलाती है, उसी प्रकार हे अर्जुन, जो ऊपर से दिखलाने के लिए तो मेरी भक्ति करता है, परन्तु वास्तव में जिसकी सारी दृष्टि विषय-सुखों को सम्पादित करने की ओर रहती है और जब इस प्रकार की भक्ति करने पर इच्छित विषय प्राप्त नहीं होता, तब जो यह कहकर तत्काल ही मेरी भक्ति छोड़ देता है कि यह सारी भक्ति निरर्थक है, जो उसी प्रकार नित्य नये-नये देवताओं की आराधना करता है, जिस प्रकार कोई कृषक नित्य नई-नई जमीनें लेकर जोतता है और अपने प्रत्येक नये देवता की अपने पुराने देवता की ही तरह सेवा करता है, जो किसी नये गुरु-सम्प्रदाय का विशेष ठाट-बाट देखकर उसी के फेर में पड़ जाता है और उसी का मन्त्र लेता है और दूसरों को क्षुद्र समझकर उनका स्वीकार नहीं करता, जो सजीव प्राणियों के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करता है, परन्तु वृक्ष और पाषाण आदि स्थावर पदार्थो को देवता समझकर उनकी पूजा करता है और इस प्रकार जिसकी एकनिष्ठ श्रद्धा किसी पर नहीं होती, जो मेरी मूर्ति तो प्रस्तुत करता है परन्तु उस मूर्ति को अपने मकान के किसी कोने में स्थापित करके स्वयं दूसरे देवताओं के दर्शन और यात्रा के लिए निकल जाता है, जो सदा मेरा पूजन करता है, परन्तु मंगल कार्यो में कुल-देवताओं का अर्चन करता है और कुछ विशेष पर्वों के समय, दूसरे देवताओं की आराधना करता है, जो घर में तो मेरी मूर्ति स्थापित करता है, परन्तु मन्नतें दूसरे देवताओं की मानता है और फिर श्राद्ध के समय अपने पितरों का भक्त हो जाता है, जो एकादशी के दिन मेरा जितना मान करता है, उतना ही श्रावण शुक्ल पंचमी के दिन नागों का भी मान करता है, जो भाद्रपद की शुक्ला चतुर्थी के दिन गणपति का भक्त हो जाता है और चतुर्दशी आने पर दुर्गा की भक्ति करने लग जाता है, जो नवमी का आयोजन करके नवचंडी का अनुष्ठान करने बैठ जाता है और रविवार को कालभैरव का खिचड़ा बांटने लगता है, और फिर सोमवार आने पर बेलपत्र लेकर शिवलिंग की ओर दौड़ पड़ता है, तात्पर्य यह कि इस प्रकार जो पुरुष नाना प्रकार के और सभी देवताओं की आराधना और उपासना करता है और इस प्रकार की धांधली से जो निरन्तर भक्ति करता है और क्षण-भर भी शान्त नहीं रहता और बराबर सभी देवताओं की ओर दौड़ता

सग नही करना चाहिए उसी का सग करता है जिसके साथ सलग्न नही होना चाहिए, उसी क साथ संलग्न होता है जिस माग पर नही जाना चाहिए, उसी मार्ग पर जाता है, जो न सुनने योग्य बातें सुनता और न कहने योग्य बातें कहता है और यह नहीं जानता कि इस प्रकार के आचरण में कितना दोष होता है, हे अर्जुन, जो किसी बात के केवल मन को रुचने के कारण ही इस बात का कभी तिलमात्र भी विचार नहीं करता कि अमुक काम करने के योग्य है अथवा नहीं करने के योग्य है, जो ऐसे-वैसे काम अपना कर्तव्य मानकर करता है, परन्तु जो इस बात का कुछ भी विचार नहीं करता कि अमुक कार्य करने से मुझे पाप होगा और आगे चलकर नरक की यातना भोगनी पड़ेगी, उस पुरुष की संगति से इस संसार में अज्ञान इतना अधिक बलवान् हो जाता है कि वह ज्ञानी लोगों के साथ भी दो-चार हाथ लड़ सकता है। परन्तु अब इस विषय को छोड़ देना चाहिए। अब मैं कुछ और ऐसे लक्षण बतलाता हूं जिससे अज्ञान की बिलकुल ठीक-ठीक पहचान हो सके। तुम वह लक्षण सुनो। घर-गृहस्थी में जिसकी प्रीति उसी प्रकार लगी हो, जिस प्रकार नये निकाले हुए सुगन्धित पराग में भृंगी की रहती है, जिसकी इच्छा उसी प्रकार स्त्री की आज्ञा के अनुसार या मरजी के मुताबिक काम करने की होती है, जिस प्रकार चीनी पर बैठी हुई मक्खी की सदा चीनी पर ही बैठे रहने की होती है और उस पर से उसका किसी तरह उठने को जी नहीं चाहता, जिसका जीव, मन और प्राण घर-गृहस्थी के झमेलों से उसी प्रकार बाहर नहीं निकल सकते, जिस प्रकार पानी के गड्ढे से मेंढक नहीं निकलना चाहता अथवा मच्छर जिस प्रकार नाक से निकले हुए कफ को नहीं छोड़ना चाहता अथवा ढोर जिस प्रकार सदा कीचड़ में ही पड़ा रहना चाहता है, जो घर-गृहस्थी को उसी प्रकार पकड़कर बैठा रहता है, जिस प्रकार सांप किसी बंजर या खाली जमीन पर जमकर पड़ा रहता है और वहां से किसी तरह हटना नहीं चाहता, जो अपनी घर-गृहस्थी को उसी प्रकार खूब जोरों से पकड़कर बैठा रहता है, जिस प्रकार कोई स्त्री अपने प्राणनाथ को अपनी सारी शक्ति से आलिंगन करके बैठी रहती है, जो घर-गृहस्थी की रक्षा के लिए निरन्तर उसी प्रकार परिश्रम करता रहता है, जिस प्रकार मधु प्राप्त करने के उद्देश्य से भृंग सदा परिश्रम करता रहता है, जिसका घर-गृहस्थी पर उतना ही अधिक अनुराग होता है, जितना उन माता-पिता का अपने उस एकलौते पुत्ररत्न पर होता है, जो उन्हें दैवयोग से वृद्धावस्था में प्राप्त होता है और जो अपनी स्त्री के सिवा और किसी को कुछ जानता या समझता ही नहीं, जो केवल स्त्री के ही शरीर का भजन और उपासना करता है और इस बात का जिसे नाम को भी ज्ञान नहीं होता कि मैं कौन हूं और मुझे क्या करना चाहिए, जो अपनी समस्त इन्द्रियों से उसी प्रकार स्त्री में एकाग्र भाव से अपना अनुराग रखता है, जिस प्रकार महाज्ञानी पुरुषों का चित्त केवल ब्रह्म में ही रमण करता है और उस ब्रह्म के सामने उसके दूसरे समस्त व्यवहारों का लोप हो जाता है, जो स्त्री-सम्बन्धी अनुराग के सामने लज्जा अथवा हानि को कोई चीज ही नहीं समझता और न लोकापवाद ही सुनता है, जो सदा स्त्री की इच्छा की आराधना करता है (अर्थात् स्त्री की ही इच्छा के अनुसार चलता है) और उसके फेर में पड़कर उसी प्रकार नाचता है जिस प्रकार मदारी का बन्दर नाचता है, जो दान-पुण्य में उसी प्रकार कंजूसी करता है जिस प्रकार कोई बड़ा भारी लोभी स्वयं कष्ट उठाकर अपने इष्ट-मित्रों को भी दुःखी करके कौड़ी जमा करता है, जो अपने रिश्ते-नाते के लोगों को तो धोखा देता है और उनके आदर-सत्कार में त्रुटि करता है, परन्तु अपनी स्त्री की सभी इच्छाएं पूरी करता है और उसमें रत्ती भर भी कमी नहीं होने देता, जो बहुत ही थोड़े-से व्यय में आराध्य देवताओं को सन्तुष्ट करना चाहता है, गुरुजनों को यों ही चकमा देता है और अपने माता-पिता के सामने भी व्यय करने में अपनी असमर्थता ही प्रकट करता है, परन्तु अपनी स्त्री के उपयोग के लिए वह जो उत्कृष्ट वस्तु देखता है, उसे बहुत अधिक व्यय करके भी प्राप्त करता है, जो अपनी स्त्री की उसी प्रकार उपासना करता है, जिस प्रकार कोई प्रेमपूर्ण

भक्त अपने कुलदेवता की उपासना और भजन करता है, जो असल और बढ़िया चीज़ें तो अपनी स्त्री के लिए रख छोड़ता है और दूसरों को सामान्य निर्वाह के योग्य भी कोई वस्तु नहीं देता, जो यह समझता है कि यदि कोई मेरी स्त्री की ओर आंख उठाकर देखेगा या उसका विरोध करेगा तो मानो प्रलय के समान अनर्थ हो जायगा, जो अपनी स्त्री की बहुत छोटी-सी बात भी उसी प्रकार आग्रहपूर्वक करता है, जिस प्रकार दाद या चकत्ते होने के डर से लोग देवी को चांदी के नाग चढ़ाने की मन्नत आग्रहपूर्वक पूरी करते हैं, हे अर्जुन, तात्पर्य यह कि जो अपनी स्त्री को ही सब कुछ समझता है और जिसका प्रेम केवल उन्हीं बाल-बच्चों के हिस्से में पड़ता है जो उस स्त्री के गर्भ से उत्पन्न होते हैं और जिसे अपनी स्त्री का सारा वैभव अपने प्राणों से भी बढ़कर प्रिय होता है, वह पुरुष अज्ञान का मूल होता है, जिसके कारण अज्ञान का तेज बढ़ता है और वह प्रत्यक्ष अज्ञान ही होता है। जिस प्रकार विक्षुब्ध समुद्र में बिलकुल खुली और छूटी हुई नाव लहरों के साथ ऊपर-नीचे होती रहती है, उसी प्रकार प्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर तो जिसकी ऐसी अवस्था हो जाती है कि वह सारे आकाश में भी नहीं समा सकता, परन्तु कोई अप्रिय बात होने पर जो दुःखी होकर मानों रसातल में पहुंच जाता है और इस प्रकार जिसका अन्तःकरण भेद-भावना के बन्धन में पड़ा रहता है, फिर वह चाहे कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो, उसे अज्ञान का स्वरूप ही समझना चाहिए। जो अपने मन में किसी प्रकार के फल की आशा रखकर मेरी भक्ति उसी प्रकार करता है जिस प्रकार कोई द्रव्य सम्पादित करने के उद्देश्य से वैराग्य का वेष धारण करता है अथवा जिस प्रकार कोई व्यभिचारिणी स्त्री अपने यार के पास जाने का सुभीता पाने के लिए अपने पति का सन्तोष करके और उसका मन भरकर उसे झूठा विश्वास दिलाने के लिए ऊपर से अपना शुद्ध व्यवहार और आचरण दिखलाती है, उसी प्रकार हे अर्जुन, जो ऊपर से दिखलाने के लिए तो मेरी भक्ति करता है, परन्तु वास्तव में जिसकी सारी दृष्टि विषय-सुखों को सम्पादित करने की ओर रहती है और जब इस प्रकार की भक्ति करने पर इच्छित विषय प्राप्त नहीं होता, तब जो यह कहकर तत्काल ही मेरी भक्ति छोड़ देता है कि यह सारी भक्ति निरर्थक है, जो उसी प्रकार नित्य नये-नये देवताओं की आराधना करता है, जिस प्रकार कोई कृषक नित्य नई-नई जमीनें लेकर जोतता है और अपने प्रत्येक नये देवता की अपने पुराने देवता की ही तरह सेवा करता है, जो किसी नये गुरु-सम्प्रदाय का विशेष ठाट-बाट देखकर उसी के फेर में पड़ जाता है और उसी का मन्त्र लेता है और दूसरों को क्षुद्र समझकर उनका स्वीकार नहीं करता, जो सजीव प्राणियों के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करता है, परन्तु वृक्ष और पाषाण आदि स्थावर पदार्थों को देवता समझकर उनकी पूजा करता है और इस प्रकार जिसकी एकनिष्ठ श्रद्धा किसी पर नहीं होती, जो मेरी मूर्ति तो प्रस्तुत करता है परन्तु उस मूर्ति को अपने मकान के किसी कोने में स्थापित करके स्वयं दूसरे देवताओं के दर्शन और यात्रा के लिए निकल जाता है, जो सदा मेरा पूजन करता है, परन्तु मंगल कार्यों में कुल-देवताओं का अर्चन करता है और कुछ विशेष पर्वों के समय दूसरे देवताओं की आराधना करता है, जो घर में तो मेरी मूर्ति स्थापित करता है, परन्तु मन्नतें दूसरे देवताओं की मानता है और फिर श्राद्ध के समय अपने पितरों का भक्त हो जाता है, जो एकादशी के दिन मेरा जितना मान करता है, उतना ही श्रावण शुक्ल पंचमी के दिन नागों का भी मान करता है, जो भाद्रपद की शुक्ला चतुर्थी के दिन गणपति का भक्त हो जाता है और चतुर्दशी आने पर दुर्गा की भक्ति करने लग जाता है, जो नवमी का आयोजन करके नवचंडी का अनुष्ठान करने बैठ जाता है और रविवार को कालभैरव का खिचड़ा बांटने लगता है, और फिर सोमवार आने पर बेलपत्र लेकर शिवलिंग की ओर दौड़ पड़ता है, तात्पर्य यह कि इस प्रकार जो पुरुष नाना प्रकार के और सभी देवताओं की आराधना और उपासना करता है और इस प्रकार की धांधली से जो निरन्तर भक्ति करता है और क्षण-भर भी शान्त नहीं रहता और बराबर सभी देवताओं की ओर दौड़ता

हुआ दिखाइ देता ह, उसके सम्बन्ध में तुम निश्चित रूप से यह समझ लो कि वह भक्त मूर्तिमान् अज्ञान ही है। निर्जन और स्वच्छ तपोवन, तीर्थ और नदी-तट को देखकर जिसके मन में घृणा या अरुचि उत्पन्न होती है, वह भी मूर्तिमान् अज्ञान ही है। जिसे मनुष्यों की भीड़-भाड़ में भी रहना अच्छा लगता है, जो सांसारिक झगडो में ही भूला रहता है और जो लौकिक विषयों के सम्बन्ध में अनुरागपूर्वक बातें करता है, वह भी मूर्तिमान् अज्ञान ही है। जिस विद्या के द्वारा आत्मदर्शन की प्राप्ति होती है, उस विद्या की चर्चा होने पर जिस विद्वान् में उसका उपहास करने की बुद्धि होती है, जो उपनिषदों की ओर कभी भूल कर भी नहीं देखता, योगशास्त्र जिसे अच्छा नहीं लगता और अध्यात्म ज्ञान की ओर जिसके मन की प्रवृत्ति नहीं होती, जिसमें आत्माचर्चा, सम्बन्धी श्रद्धा का नितान्त अभाव होता है और जो यह समझता है कि यह विषय विचार करने के योग्य ही नहीं है और जिसका मन रस्सा तुड़ाकर भागने वाले पशु की तरह मुक्त और स्वेच्छाचारी रहता है, जो कर्मकांड में निपुण होता है, जिसे सब पुराण कंठस्थ होते हैं और जो ज्योतिष में भी पारंगत होता है, जो शिल्प-कर्मो में चतुर होता है, पाक विद्या में निष्णात होता है और अथर्ववेद के अघोरी मन्त्र-तन्त्रों में कुशल होता है, जिसके लिए कामशास्त्र की कोई बात सीखने के लिए बाकी नहीं होती, जिसे महाभारत की सब बाते ज्ञात होती हैं, और मूर्तिमान् वेद ही जिसके हाथ में आ जाते हैं, जिसे नीतिशास्त्र का ज्ञान होता है, वैद्यक का ज्ञान होता है और काव्यों तथा नाटकों के ज्ञान में जिसके मुकाबले का और कोई नहीं होता, जो स्मृतियों की चर्चा करता है, गारुड़ी विद्या का मर्म जानता है और शब्दकोश को जिसने अपनी बुद्धि का मानों दास ही बना रखा है, व्याकरण-शास्त्र में जिसका नाम अगाध है, तात्पर्य यह कि जो सभी विषयों का बहुत ज्ञाता है, परन्तु फिर भी एकमात्र अध्यात्मविद्या में जो सचमुच जन्मान्ध है, जो अध्यात्म-शास्त्र को छोड़कर बाकी सभी शास्त्रों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर सकता है, उसके इस प्रकार के ज्ञान में आग लग जाय। ऐसे ज्ञान के किसी को उसी लड़के के समान दर्शन तक न होने चाहिए जो माता-पिता का घात करने वाले मूल नक्षत्र में जन्म लेता है। मोर के सारे शरीर में पंख होते हैं और उन सभी पंखों पर नेत्र भी होते हैं। परन्तु जिस प्रकार उन सभी नेत्रों में दृष्टि का अभाव होता है, उसी प्रकार इस ज्ञान में भी वास्तविक दृष्टि का अभाव होता है। यदि संजीवनी बेल की जरा-सी जड़ भी हाथ लग जाय तो फिर दूसरी औषधियों तथा वनस्पतियों की गाड़ियां लादने की क्या आवश्यकता है ! यदि सौन्दर्य के बत्तीसों लक्षण हों, परन्तु एकमात्र आयुष्य न हो अथवा यदि बहुत-से आभूषण आदि तो हों परन्तु मस्तक ही न हो अथवा बहुत-से बाजे बजाने वाले और बधाइयां देने वाले तो हों परन्तु वर और वधू ही न हों तो उन सबका भला क्या उपयोग हो सकता है ? इसी प्रकार एक अध्यात्मशास्त्र के बिना दूसरे समस्त शास्त्र अपनी अपूर्णता के कारण केवल निष्फल और भ्रामक होते हैं। इसलिए, हे अर्जुन, जिस पढ़े-लिखे मूर्ख को अध्यात्म-ज्ञान का बोध न हो उसके शरीर को अज्ञान का मन्दिर ही समझना चाहिए। उसके समस्त ज्ञान एकमात्र अज्ञान रूपी वल्ली के ही फल होते हैं। उसके प्रत्येक वचन को अज्ञान का पुष्प ही समझना चाहिए और जो पुण्य-फल उसे प्राप्त होते हैं, वे भी अज्ञान ही होते हैं। जिसके मन में अध्यात्मशास्त्र के सम्बन्ध में आदर नहीं होता, उसके सम्बन्ध में यह बतलाने की आवश्यकता ही नहीं है कि उसे ज्ञान-वस्तु कभी दिखाई ही नहीं देती। जो नदी के इस पार वाले तट पर भी न आता हो और पीछे की ओर लौटकर भाग जाता हो, भला उसे उस पार की बातों का कैसे ज्ञान हो सकता है ? अथवा दरवाजे की ड्योढ़ी पर ही जिसका सिर दबा दिया गया हो, भला उस घर के अन्दर की बातें कैसे मालूम हो सकती हैं ? इसी प्रकार, हे अर्जुन, जिसका अध्यात्म-ज्ञान के साथ कुछ भी परिचय न हो, उसके लिए सत्य ज्ञान प्राप्त होने की जगह ही कहां बाकी रह जाती है ? इसीलिए, हे अर्जुन, अब बहुत ही अधिक विवेचनापूर्वक तुम्हें यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसे पुरुष को

वास्तविक ज्ञान का कुछ भी तत्त्व ज्ञात नहीं होता। जिस प्रकार गर्भिणी स्त्री के आगे अन्न परोसने का फल यही होता है कि उसके पेट में रहने वाला पिंड या बालक बढ़ता है, उसी प्रकार ऊपर बतलाये हुए ज्ञान-पदों में ही अज्ञान-पद का विवेचन या अन्तर्भाव हो जाता है। जिस प्रकार यदि किसी अन्धे को निमन्त्रण दिया जाय तो वह अपने साथ किसी सुझाखे आदमी को लेकर आता है, उसी प्रकार जब अज्ञान के लक्षण बतलाये जाते है, तब उनके साथ-साथ ज्ञान के लक्षण भी आपसे आप ही समझ में आने लगते हैं। इसीलिए प्रस्तुत प्रकरण मे अमानित्व आदि ज्ञान के लक्षणों के विपरीत ही अज्ञान के लक्षणों का भी प्रतिपादन किया गया है। ऊपर ज्ञान के जो अठारह लक्षण बतलाये गये हैं, वे सब यदि उलट दिये जायं तो वे आपसे आप अज्ञान के लक्षण हो जाते हैं।" पिछले श्लोक के एक (अर्थात् चौथे) चरण में श्रीकृष्ण ने यह बतलाया था कि यदि ज्ञान के लक्षणों को उलट दिया जाय तो वे आपसे आप अज्ञान के लक्षण हो जाते हैं। इसीलिए मैंने इस प्रणाली का अनुकरण करके इस विषय का स्पष्टीकरण किया है। मूल में इस प्रणाली का अनुकरण नहीं किया गया था, परन्तु फिर भी पानी डालकर दूध बढ़ाने वाले सिद्धान्त के अनुसार अपनी ओर से व्यर्थ की बातें बढ़ाकर मै विषय का विस्तार न करता। मैंने तो मूल श्लोकों के शब्दों की मर्यादा न छोड़कर मूल में ध्वनित किये हुए अर्थ का ही स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न किया है। यह सुनकर श्रोताओं ने कहा—"यह स्पष्टीकरण बहुत हो चुका। इस प्रकार के समर्थन की कुछ भी आवश्यकता नही है। हे कविपोषक, तुम्हें व्यर्थ ही यह भय क्यों हुआ कि तुम्हारे इस विवरण-विस्तार के कारण लोग उकता गये हैं ! तुम्हें तो श्रीकृष्ण ने आज्ञा दी है कि गीता मे मैने जो अर्थ गर्भित कर रखे हैं, उन्हें तुम स्पष्ट करके लोगों को बतला दो। तुम भगवान् का वही मनोरथ आज पूर्ण कर रहे हो। परन्तु यदि यही बात तुमसे कही जाय तो तुम्हारा चित्त प्रेम से गद्गद हो जायगा। इसीलिए हम लोग ये सब बातें तुमसे नहीं कह रहे हैं। तो भी इतना कह देना आवश्यक है कि इस श्रवणसुख के द्वारा आज हम लोगों को ज्ञान-रूपी नौका प्राप्त हुई है। अब तुम जल्दी हमें यह बतलाओ कि इसके उपरान्त श्रीहरि ने क्या कहा।" सन्तों के ये वचन सुनते ही श्रीनिवृत्तिनाथ के दास ज्ञानदेव ने कहा—"हे श्रोतागण, सुनिये।" श्रीकृष्ण देव ने कहा—"हे अर्जुन, तुम्हें अन्त में जो लक्षण मैंने बतलाये हैं, सब अज्ञान के ही हैं। तुम इसी अज्ञान की ओर से मुंह मोड़कर ज्ञान के विषय में दृढ़ निश्चय करो।" जब इस प्रकार ज्ञान का स्पष्टीकरण हो गया, तब अर्जुन की यह जानने की इच्छा हुई कि मन को उस ज्ञेय की प्राप्ति कैसे होती है। उस समय सर्वान्तरसाक्षी श्रीकृष्ण ने अर्जुन के संकेत या अभिप्राय को समझकर उससे कहा—"अब मैं तुमको यह बतलाता हू कि ज्ञेय क्या है। सुनो।"

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥
सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

"ब्रह्म वस्तु को लोग जो ज्ञेय कहते हैं उसका कारण केवल यही है कि ज्ञान के सिवा और किसी उपाय से उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। और जिसका ज्ञान हो जाने पर फिर और कोई कार्य बाकी नहीं रह जाता, जिसका ज्ञान हो जाने पर उसी के साथ तद्रूपता उत्पन्न हो जाती है, जिसका ज्ञान हो जाने पर संसार को तीर पर रखकर ज्ञानी लोग नित्यानन्द के सागर में गोता लगाकर उसी में मिल जाते हैं, वह ज्ञेय ऐसा है कि उसका कोई आदि नही है (अर्थात् वह सनातन है)। परन्तु उसका कोई नाम भी होना चाहिए. इसलिए लोग उसे परब्रह्म कहते हैं। यदि कोई कहे कि वह है ही नहीं, तो हम कहते हैं कि वह विश्व के रूप में प्रत्यक्ष दिखाई देता है। और यदि उसे विश्व

कहे तो यह विश्व केवल मायिक और अशाश्वत है। जिसमें आकार, रंग आदि भेद, और दृश्यत्व तथा द्रष्टत्व आदि भाव ही न हों, उसके सम्बन्ध में भला कोई यह कैसे कह सकता है कि उसका अस्तित्व है। और यदि वह वास्तव में न हो, तब यह प्रश्न होता है कि उसके बिना महत्तत्त्व का स्फुरण कहां से और किससे होता है ? इसीलिए कहते हैं कि जिसका ज्ञान हो जाने पर 'है' अथवा 'नहीं है' का कोई झगड़ा या प्रश्न ही नहीं रह जाता और विचारशक्ति जिसके पास तक पहुंच ही नहीं सकती, जो सभी पदार्थों और सभी आकारों में ठीक उसी प्रकार निवास करता है, जिस प्रकार हांड़ी, मटके और घड़े आदि में पृथ्वी तत्त्व स्वयं उन्हीं पदार्थों के आकार में रहता है, स्थल और काल से बिना भिन्न हुए समस्त स्थलों और समस्त कालों में जो क्रिया स्थूल और सूक्ष्म सभी भूतों के द्वारा होती है, वह क्रिया जिस ब्रह्म-वस्तु के हाथ में है, उसी वस्तु को विश्वबाहु कहते हैं। और इसका कारण यही है कि वह ब्रह्मवस्तु ही सर्वाकार होकर सदा सब क्रियाएं करती रहती है। और हे अर्जुन, वह वस्तु सभी स्थानों में और सदा एक साथ ही प्राप्त होती है और इसीलिए उसे विश्वांघ्रि भी कह सकते हैं। जिस प्रकार सूर्य के बिम्ब में नेत्र के रूप में कोई अलग अंग नहीं होता, बल्कि सारा बिम्ब ही प्रकाशैक स्वरूप होता है, उसी प्रकार जो वस्तु अपने सारे स्वरूप से विश्व की द्रष्टा होती है (अर्थात् विश्व को प्रकाशमान करके देखती है), उसी अ-चक्षु (अर्थात् नेत्रहीन) ब्रह्मवस्तु को वेदों ने अत्यन्त आदरपूर्वक 'विश्वतश्चक्षु' के नाम से सम्बोधन किया है। विश्व के मस्तक पर जो सदा-सर्वदा आत्मसत्ता से विराजमान रहता है, उसी को विश्वमूर्धा कहते हैं। जिस प्रकार अग्नि की सारी मूर्ति ही उसका मुख होती है, उसी प्रकार जो अपने सर्वत्व से शेष भूत मात्र का उपयोग करता है, उसी को, हे अर्जुन, विश्वतोमुख कहना उचित होता है। और जिस प्रकार वस्तुओं से आकाश व्याप्त रहता है, उसी प्रकार जो वस्तु शब्दमात्र में व्याप्त रहती है, उसी ब्रह्म-वस्तु को हम 'सब कुछ सुनने वाला' कहते हैं। इसी प्रकार जो वस्तु समस्त विश्व में व्याप्त रहती है और सबको देखती रहती है, वही 'विश्वतश्चक्षु' है। हे बुद्धिमान् अर्जुन, यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो वेदों आदि ने उसको 'विश्वतश्चक्षु' कहकर उसका जो वर्णन किया है, वह केवल ब्रह्मवस्तु की व्यापकता दिखलाने के लिए और केवल रूपक के तौर पर किया है (अर्थात् अमूर्त का मूर्ततत्त्व के रूप में आलंकारिक वर्णन किया है)। बात यह है कि उस ब्रह्मवस्तु में वास्तव में हाथ-पैर, आंख आदि अंग बिलकुल नहीं हैं, इसलिए इन सबसे सम्बन्ध रखने वाली बातें उसके लिए प्रयुक्त ही नहीं हो सकतीं। केवल यही नहीं, यदि शून्यत्व या अभाव के रूप में उसका वर्णन किया जाय तो वह वर्णन भी उसके लिए ठीक-ठीक उपयुक्त नहीं होता। उदाहरण के लिए यदि हम यह बात किसी तरह समझ लें कि जल की एक तरंग ने दूसरी तरंग को निगल लिया, तो भी क्या उस निगलने वाली और दूसरी निगली जाने वाली तरंग में स्वरूपतः कोई भेद होता है ? इसी प्रकार जबकि वह एक ब्रह्मवस्तु ही सत्य है, तो फिर उसमें व्याप्त करने वाले और व्याप्त होने वाले का भेद भला कहां से आ सकता है ! परन्तु फिर भी केवल इसीलिए इस प्रकार का भेद करना पड़ता है कि कहने या समझाने में सुभीता हो। देखो, यदि किसी को शून्य दिखलाना होता है तो इसके लिए एक बिन्दी बनानी या लिखनी पड़ती है। इसी प्रकार यदि शब्दों के द्वारा अद्वैत या निरूपण करना हो तो द्वैत की भाषा का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है। हे अर्जुन, यदि ऐसा न किया जाय तो गुरु और शिष्य के सम्प्रदाय का ही लोप हो जायगा और सब प्रकार के कथनों का ही अन्त हो जायगा। इसीलिए वेदों ने अद्वैत का वर्णन करने के लिए द्वैत वाली आलंकारिक भाषा का प्रयोग करने की परिपाटी चलाई है। इसलिए अब मैं तुमको यह बतलाता हूं कि इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य होने वाले जितने आकार हैं, उन सबमें वह ब्रह्मवस्तु किस प्रकार व्याप्त है। सुनो।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

हे अर्जुन, जिस प्रकार अवकाश को आकाश व्याप्त कर लेता है अथवा पट के रूप में भासमान होकर जिस प्रकार तन्तु उस पट को व्याप्त किये रहते हैं, उसी प्रकार यह ब्रह्मवस्तु भी सारे विश्व को व्याप्त किये रहती है। उदक के रूप में रस-तत्त्व जिस प्रकार उदक में रहता है, दीपक के रूप में प्रकाश-तत्त्व जिस प्रकार दीपक में रहता है, कपूर के रूप में गन्ध-तत्त्व जिस प्रकार कपूर में रहता है, शरीर के रूप में कर्म-तत्त्व जिस प्रकार शरीर में रहता है, सारांश यह कि हे अर्जुन, सोने के कण में जिस प्रकार सोना ही रहता है, उसी प्रकार वह ब्रह्मवस्तु भी सर्व-स्वरूप होकर सबमें अन्दर और बाहर व्याप्त रहती है। परन्तु सोना जब तक रवे के रूप रहता है, तब तक हम उसे सोने का रवा ही कहते हैं; परन्तु जब उसका वह रवे वाला रूप नष्ट हो जाता है, तब वह रवा ही सोना हो जाता है। अथवा प्रवाह का रूप भले ही टेढ़ा-तिरछा हो, परन्तु पानी फिर सदा सरल ही रहता है। अथवा जब अग्नि से तपाये जाने पर लोहा लाल हो जाता है, तब अग्नि कभी लोहा नहीं बन जाती। मटके के गोल आकार के कारण उसमें का आकाश भी गोल दिखाई देता है और झोंपड़ी की चौकोर बनावट के कारण वह चौकोर दिखाई देती है। परन्तु वह गोल अथवा चौकोर आकार वास्तव में आकाश का नहीं होता। इसी प्रकार यदि ब्रह्मवस्तु में किसी तरह का विकार दिखाई दे तो भी वास्तव में वह कभी विकारयुक्त नहीं होती। हे अर्जुन, ऊपर से देखने में ऐसा जान पड़ता है कि यह ब्रह्मवस्तु मन आदि इन्द्रियों और सत्व आदि तीनों गुणों के कारण भिन्न-भिन्न आकारों के रूप में दिखाई देती है। परन्तु जिस प्रकार गुड़ की मिठास उसके भेली वाले आकार में नहीं होती, उसी प्रकार गुण तथा इन्द्रियां वास्तव में असली ब्रह्मतत्त्व नहीं हैं। जब तक दूध का वास्तविक स्वरूप बना रहता है, तब तक घी भी उसी दूध के आकार में रहता है, परन्तु फिर भी कोई यह नहीं कह सकता कि घी भी वही है जो दूध है। इसी प्रकार, हे अर्जुन, यह बात तुम अच्छी तरह अपने ध्यान में रखो कि गुण और इन्द्रियों के कारण ब्रह्मवस्तु में जो विकार दिखाई देते हैं, उनके कारण वास्तव में ब्रह्मवस्तु में कभी कोई विकार नहीं होता। सोने को अनेक प्रकार के आकार देकर हम उन आकारों को फूल-पत्ते आदि या अलग-अलग गहने आदि कहते हैं। परन्तु जो वास्तविक सोना होता है, वह चाहे जिस आकार में रहे सदा सोना ही रहता है। तात्पर्य यह कि हे अर्जुन, यदि हम सीधी-सादी और सबके समझने योग्य भाषा में कहें तो ब्रह्मवस्तु वास्तव में गुणों और इन्द्रियों से बिलकुल भिन्न और स्वतन्त्र ही है। नाम और रूप आदि सम्बन्ध और जाति तथा क्रिया आदि के भेद आकारों में ही होते हैं और उन आकारों के सम्बन्ध में जो बातें कही जाती हैं वे ब्रह्मवस्तु पर कभी ठीक नहीं घटतीं। वह ब्रह्मगुण नहीं है। उसमें तो गुण की गन्ध भी नहीं होती। बात केवल इतनी ही है कि वे गुण ब्रह्म में केवल भासमान् हैं। परन्तु, हे अर्जुन, इसी भासमान् होने के कारण मोह में फंसे हुए लोग यह मानते हैं कि वे सब विकार ब्रह्म में ही होते हैं। परन्तु ब्रह्म में ये सब विकार उसी प्रकार होते हैं, जिस प्रकार आकाश में बादल आते हैं अथवा दर्पण में प्रतिबिम्ब आता है अथवा पानी जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब धारण करता है अथवा किरणें मृगजल का रूप धारण करती हैं। वह निर्गुण ब्रह्म भी सब प्रकार के विकारों को बिना उसके साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध रखे धारण करता है। परन्तु ब्रह्म में होने वाले सब विकार निष्फल ही होते हैं और ये केवल दृष्टि को दिखाई देते हैं, परन्तु वास्तव में वे असत्य होते हैं। और निर्गुण जो गुणों का भोग करता है, वह उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार कोई दरिद्र व्यक्ति स्वप्न में किसी राज्य पर शासन करता है। इसीलिए निर्गुण के सम्बन्ध में कभी यह नहीं कहना चाहिए कि गुणों के साथ उसका किस प्रकार का सम्बन्ध है अथवा वह गुणों का उपभोग करता है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

"हे अर्जुन, जो स्थावर और जंगम आदि सभी भूतों में रहता है और जो सभी पदार्थों तथा जीवों में उसी

प्रकार शाश्वत रूप से और सूक्ष्म अवस्था में व्याप्त रहता है, जिस प्रकार अग्नियां चाहे भिन्न-भिन्न हों, परन्तु उन सबमें उष्णता समान रूप से वर्तमान रहती है, उसी को इस प्रकरण में 'ज्ञेय' समझना चाहिए। जो केवल एक होने पर भी अन्दर और बाहर, पास और दूर सब जगह रहता है और जिसके स्वरूप में कभी कोई अन्तर नहीं होता, वही 'ज्ञेय' है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

''यह बात नहीं है कि क्षीर-सागर का माधुर्य उसके गहरे और मध्य भाग में तो अधिक होता हो और किनारे के पास कम होता हो। इस प्रकार जो सर्वत्र समान रूप से व्याप्त रहता है, जो जारज, अंडज, स्वदेज और उद्भिज्ज इन चारों प्रकार के जीवों में सदा पूर्णरूप से व्याप्त रहता है और फिर भी इस व्यापकता के कारण जिसकी स्थिति में कभी कोई भाग या खंड नहीं होता, इसके सिवा, हे श्रोतृ-शिरोमणि अर्जुन, हजारों मटकों के पानियों में चन्द्रमा के प्रकाश के प्रतिबिम्बित होने पर भी जिस प्रकार उस प्रकाश में कभी किसी तरह का कोई भेदभाव नहीं उत्पन्न होता अथवा नमक की सभी राशियों में से प्रत्येक राशि में व्याप्त रहने वाले खारापन या नमकीनी एक ही प्रकार की रहती है अथवा ऊख के गट्ठे में के प्रत्येक ऊख में एक ही प्रकार की मधुरता रहती है, उसी प्रकार जो भिन्न-भिन्न सभी भूतों में एक रूप से वर्तमान रहता है, और हे सुज्ञ अर्जुन, जो इस विश्वरूपी कार्य का मूल कारण है और ये नाम-रूपात्मक भूतमात्र जिससे उसी प्रकार उत्पन्न हुए हैं, जिस प्रकार सागर में तरंगें उत्पन्न होती हैं, उन सबका वह ब्रह्म उसी प्रकार आधार है, जिस प्रकार उन तरंगों का आधार सागर होता है। जिस प्रकार बाल, तारुण्य और वृद्धत्व इन तीनों ही अवस्थाओं में शरीर एक ही रहता है, उसी प्रकार भूतमात्र के आदि, मध्य और अवसान इन तीनों ही अवस्थाओं में वह अभिन्न रूप में रहता है। जिस प्रकार सन्ध्याकाल, प्रातःकाल और मध्याह्न आदि दिनमान के क्रमशः चलते रहने पर भी आकाश में कभी किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म में भी कभी किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। हे सखे अर्जुन, विश्व की उत्पत्ति के समय जिसका नाम ब्रह्मा पड़ा था, विश्व की स्थिति के समय जिसे विष्णु कहते हैं और अन्त में इस नाम-रूपात्मक विश्व का लोप होने के समय जिसे रुद्र कहते हैं और इन तीनों गुणों के लुप्त हो जाने पर जो शून्य के रूप में बाकी रह जाता है और जो गगन का शून्यत्व नष्ट करके और सत्त्व आदि तीनों गुणों का लोप करके शून्य रूप में अवशिष्ट रह जाता है, वही वेदों द्वारा प्रतिपादित महाशून्य है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

''जो अग्नि का प्रकाश और चन्द्रमा का प्रभा-रहस्य है, जिसके द्वारा सूर्य में देखने की शक्ति आती है, जिसके तेज से तारा-गण चमकते हैं और जिनके आधार पर महातेज सुखपूर्वक सारे संसार में प्रकाशित होता है, जो आदि का भी आदि, वृद्धि की भी वृद्धि करने वाला, बुद्धि की भी बुद्धि, जीव का भी जीव, मन का भी मन, नेत्रों का भी नेत्र, कानों का भी कान, वाचा की भी वाचा, प्राणों का भी प्राण, गति के भी पैर, क्रिया की भी क्रिया-शक्ति, आकारों का भी आकार, विस्तारों का भी विस्तार, संहारों का भी संहार, पृथ्वी की भी पृथ्वी, जल का भी जल, तेज का भी तेज, वायु का भी श्वासोच्छ्वास और गगन का भी गगन है, अर्थात् हे अर्जुन, जो इन सबका चैतन्य बीज है और जिसके कारण इन सबका स्फुरण होता है, हे अर्जुन, जो एकमात्र होकर भी सबमें सर्वस्वरूप है और जिसमें द्वैत की गन्ध का होना भी सम्भव नहीं है, जिसके दर्शन होते ही दृश्य और द्रष्टा आपस में मिलकर एकरस हो जाते हैं, वही ज्ञान होता है। फिर वही ज्ञान और ज्ञेय दोनों हो जाता है और ज्ञान के द्वारा लोग जिस स्थल को प्राप्त करना चाहते हैं, वह स्थल भी वही हो जाता है। जब कोई हिसाब ठीक तरह से लग जाता है, तब उन

भिन्न-भिन्न अंकों में कोई भिन्नता या भेद नहीं रह जाता, जिन अंकों के द्वारा वह हिसाब लगाया जाता है। ठीक इसी प्रकार जब उस ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है, तब साध्य और साधन आदि सभी मिलकर एक हो जाते हैं। हे अर्जुन, जिसके विषय में द्वैत का कोई उल्लेख ही नहीं किया जा सकता और जो सबके हृदयों में निवास करता है वही ब्रह्म है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

"हे सुज्ञ अर्जुन, इस प्रकार मैंने तुमको पहले यह बात स्पष्ट करके बतला दी है कि क्षेत्र किसे कहते हैं। साथ ही क्षेत्र के प्रकरण में ज्ञान के लक्षण भी बतला दिये हैं। फिर अज्ञान के स्वरूप का भी मैंने इतने विस्तार के साथ वर्णन किया है कि जिसे सुनते-सुनते तुम चकित हो गये। और अब मैंने खूब अच्छी तरह और स्पष्ट करके तुम्हें ज्ञेय का स्वरूप भी बतला दिया है। हे अर्जुन, जब ये सब बातें बहुत अच्छी तरह समझ में आ जाती हैं, तब मेरे भक्तों के मन में मुझे प्राप्त करने की उत्कंठा उत्पन्न होती है। जो लोग शरीर आदि समस्त विषयों का संन्यास या परित्याग करके अपने प्राण मेरी सेवा में अर्पित कर देते हैं, हे अर्जुन, वे मेरा ब्रह्मस्वरूप पहचानकर अन्त में अपना व्यक्तित्व भी भूल जाते हैं, और मेरे रूप में मिलकर मद्रूप हो जाते है। तुम यह बात अच्छी तरह अपने ध्यान में रखो कि मैंने तुम्हें मद्रूप होने का बहुत सीधा उपाय बतला दिया है। जिस प्रकार शिखर आदि पर चढ़ने के लिए सीढ़िया बनानी पड़ती हैं अथवा ऊंचे होने के लिए मंच बनाना पड़ता है अथवा बाढ़ आने पर डूबने से बचने के लिए नाव की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मद्रूप होने के लिए भी ये सब काम करने पड़ते हैं। नहीं तो हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, यदि केवल यह कह दिया जाय कि सब कुछ आत्मा ही है, तो इस प्रकार के कथन से तुम्हारे मन को कभी सन्तोष न होगा। इसीलिए मैंने तुम्हारी बुद्धि की मन्दता का ध्यान रखकर एक ही परब्रह्म के चार विभाग करके उन सबका अलग-अलग वर्णन किया है। जिस प्रकार बच्चों को भरमाने के लिए एक ही ग्रास के दस-बीस अलग-अलग छोटे-छोटे ग्रास बनाने पड़ते हैं, उसी प्रकार मैंने एक ब्रह्म के चार विभाग करके उन सबका अलग-अलग वर्णन किया है। तुम्हारी ग्रहण-शक्ति का अनुमान करके मैंने ब्रह्म के क्षेत्र, ज्ञान, ज्ञेय और अज्ञान ये चार विभाग किये हैं। और हे अर्जुन, यदि इतना करने पर भी यह व्यवस्था ठीक तरह से तुम्हारी समझ में न आई हो तो मैं फिर एक बार तुमको बतलाता हूं। परन्तु अब मैं ब्रह्म के वे चार विभाग नहीं करता और उन चारों की एकता का भी प्रतिपादन नहीं करता, बल्कि आत्मा और अनात्मा का एक साथ ही विचार करता हूं। परन्तु मैं जो कुछ मांगता हूं, वह देने के लिए तुम्हें तैयार रहना चाहिए। मेरी मांग केवल यही है कि तुम खूब अच्छी तरह मन लगाकर और कान देकर मेरी बात सुनो।" श्रीकृष्ण की ये बातें सुनकर अर्जुन को मारे आनन्द के रोमांच हो आया। उस समय देव ने कहा—"तुम शान्त हो और इस प्रकार प्रेम से विह्वल मत हो जाओ।" जब इस प्रकार अर्जुन का हृदय भर आया, तब श्रीकृष्ण ने कहा—"अब मैं तुमको प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध की कुछ बातें बतलाता हूं। तत्त्वज्ञान के जिस सम्प्रदाय या प्रणाली को योगी लोग सांख्ययोग कहते हैं और जिसका महत्त्व प्रसिद्ध करने के लिए मैंने कपिल का अवतार धारण किया था, अब तुम प्रकृति और पुरुष का वही निर्दोष प्रसंग सुनो।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

"तुम यह बात समझ रखो कि दिन और रात की जोड़ी की तरह पुरुष और प्रकृति ये दोनों भी अनादि हैं। हे अर्जुन, रूप मिथ्या नहीं है, परन्तु सच्चे रूप के साथ-ही-साथ उसकी छाया भी आती ही है। अथवा फसल के दानों में अनाज के कणों के साथ-साथ उसका ऊपरी छिलका भी बराबर बढ़ता ही रहता है। इसी प्रकार पुरुष और

प्रकृति दोनों एक-दूसरे के साथ बहुत ही घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं और उनका यह सम्बन्ध अनादि-सिद्ध है। इसी प्रकार 'क्षेत्र' शब्द से जो कुछ प्रदर्शित किया गया है, वह सब भी प्रकृति ही है। और इसलिए अब तुम्हें अलग से यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती कि जो कुछ क्षेत्रज्ञ है, वह पुरुष ही है। यद्यपि इनके ये अलग-अलग नाम हैं, तो भी इनमें निरूपण का जो तत्त्व है, वह एक ही है। यह बात भूलनी नहीं चाहिए; इसीलिए मैं बार-बार तुमको बतलाता हूं। हे अर्जुन, इसमें जो सत्ता अर्थात् सत्य का अंश है, उसी को पुरुष समझना चाहिए और उसके आधार पर होने वाली क्रिया को प्रकृति समझना चाहिए। बुद्धि, इन्द्रियां, अन्तःकरण आदि विकार उत्पन्न करने वाली शक्ति और सत्त्व आदि जो तीन गुण हैं, उन सबका समूह प्रकृति से ही हुआ है और यही सब प्रकार की क्रियाओं का मूल है।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

"इस अवस्था में प्रकृति सबसे पहले अहंकार के साथ-साथ इच्छा और बुद्धि उत्पन्न करती है और तब उन्हें कारण की धुन में लगा देती है। फिर इस प्रकार आरम्भ किए कर्म को सिद्ध करने के लिए जो भिन्न-भिन्न युक्तियों के धागे और डोरे तानने पड़ते हैं, उन्हीं का नाम कार्य है। फिर इच्छा के उन्माद के द्वारा वह प्रकृति मन को संचालित करती है और तब वह चलायमान मन इन्द्रियों को संचालित करता है। इसी को प्रकृति का कर्तृत्व कहते है।" इसीलिए सिद्धजनों में श्रेष्ठ श्रीकृष्ण कहते हैं कि कार्य, कर्तृत्व और कारण इन तीनों का मूल केवल प्रकृति ही है। इस प्रकार इस त्रिपुटी के द्वारा प्रकृति कर्म का रूप धारण करती है, परन्तु सत्त्व आदि तीनों गुणों में से जिस गुण का विशेष उत्कर्ष हुआ रहता है, उसी गुण से वह रंगी रहती है। जो कर्म सत्त्व गुण से होते हैं, वे सत्कर्म कहलाते हैं; रजोगुण से जो कर्म होते हैं, वे मध्यम कर्म कहलाते हैं; और जो कर्म केवल तमोगुण से होते हैं, वे अधम कर्म होते हैं और उन सबको निषिद्ध समझना चाहिए। इस प्रकार भले और बुरे सभी प्रकार के कर्म प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं और उन्हीं कर्मों से सुख तथा दुःख उत्पन्न होते हैं। दुष्ट या बुरे कर्मों से दुःख उत्पन्न होते हैं और सत्कर्मों से सुख उत्पन्न होते हैं; और पुरुष उन दोनों का ही उपभोग करता है। जब तक ये सुख और दुःख सत्य-से जान पड़ते हैं, तब तक प्रकृति उन सुखों और दुःखों की उत्पत्ति का काम बराबर करती रहती है और पुरुष भी बराबर उन सबका उपभोग करता रहता है। यदि इन पुरुष और प्रकृति के घर की व्यवस्था बतलाई जाय तो वह बहुत ही विचित्र है। इसमें स्त्री जो कुछ उपार्जन करती है, वह पति चुपचाप बैठ खाता है। ये पत्नी और पति कभी एक साथ मिलकर नहीं रहते और इनकी कभी ठीक तरह से संगति नहीं होती। परन्तु फिर भी यह कितने बड़े आश्चर्य की बात है कि उसी स्त्री के पेट से सारा संसार उत्पन्न होता है !

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

"यह जो वर या पुरुष है, वह निराकार, निष्क्रिय, केवल, निर्गुण और पुराना, पुराना क्या बल्कि पुराने से भी पुराना है। उसको यों ही नाममात्र के लिए पुरुष कहते हैं। परन्तु यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो वह स्त्री भी नहीं है और नपुंसक भी नहीं है। बल्कि सच तो यह है कि यह भी निश्चय नहीं है कि वह क्या है। उसे आंख, कान, हाथ, पैर, वर्ण, नाम आदि कुछ भी नहीं है। हे अर्जुन, इस प्रकार जिसके सम्बन्ध में यह कहा ही नहीं जा सकता कि उसे कुछ है, वही प्रकृति का पति या पुरुष है और उस प्रकृति के कारण उसके पति या पुरुष को भी सुख-दुःख आदि भोगने पड़ते हैं। स्वयं पति या पुरुष तो कुछ भी नहीं करता, क्योंकि वह बिलकुल उदासीन रहता है और उसे भोग की कुछ भी वासना नहीं होती; परन्तु यह पतिव्रता प्रकृति ही बलपूर्वक उससे भोग भोगवाती है।

यह अपने रूप और गुणों के कारण थोड़ी सी चुलबुलाहट दिखलाती है और जिस प्रकार के नाच चाहती है उस प्रकार के नाच उसे नचाती है। उस प्रकृति का नाम ही गुणमयी है; बल्कि कहा जा सकता है कि वह गुणों की प्रत्यक्ष मूर्ति ही है। वह क्षण-क्षण पर अपने रूप और गुणों के नये-नये ढंग दिखलाती है और उसी के कारण जड़ पदार्थ भी मत्त हो जाते हैं। वही नामों को प्रसिद्ध करती है, वही प्रेम को प्रेमपूर्ण बनाती है और वही इन्द्रियों को जगाती है। इस मन को हम नपुंसक कैसे कहें ? क्योंकि यह प्रकृति इस मन को तीनों लोकों के भोग भोगवाती है। इस स्त्री का चरित्र कुछ ऐसा ही विलक्षण है। यह भ्रम का असीम प्रदेश है, अमर्यादा की मूर्ति है और सभी प्रकार के विकार उत्पन्न करती है। यह वासना रूपी वल्ली की वह छतरी या मंडप है जिस पर वह बेल चढ़ती और फलती-फूलती है; यह भ्रान्ति के वन की वसन्त-लक्ष्मी है और इसीलिए इसका सुप्रसिद्ध नाम दैवी माया रखा गया है। शब्द-सृष्टि का विस्तार यही करती है, नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि भी यही करती है और सब प्रकार के प्रपंचों की रचना भी बराबर यही करती रहती है। कला, विद्या, इच्छा, ज्ञान और क्रिया आदि सबकी उत्पत्ति इसी से होती है। नाद रूपी सिक्के ढालने वाली टकसाल यही है, चमत्कार का मन्दिर भी यही है, यहां तक कि सारे विश्व के नाटक की रचना भी इसी ने की है। विश्व की उत्पत्ति और लय मानों इस प्रकृति की प्रातः-सन्ध्या और सायं-सन्ध्या है। तात्पर्य यह कि यह प्रकृति एक अद्भुत मोहिनी है। यह अद्वैत की जोड़ीदार है और संगरहितों की रिश्तेदार है, क्योंकि यह शून्य में घर बनाकर उसी में आनन्दपूर्वक निवास करती है। इसकी सामर्थ्य का विस्तार इतना अधिक है कि जिस पुरुष का सहसा आकलन भी नहीं किया जा सकता, उसी पुरुष को यह अपने वश में करके रखती है। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो उस पुरुष में कुछ भी नहीं है और वह पूर्ण रूप से उदासीन रहता है। परन्तु यह प्रकृति स्वयं ही उसका सब कुछ बन जाती है। उस स्वयंभू की उत्पत्ति, उस निराकार की मूर्ति और स्थिति यह प्रकृति ही होती है। यह प्रकृति ही उस वासना-रहित की वासना, स्वयंपूर्ण का सन्तोष, अजात की जाति और गोत्र, अनामी का नाम, अजन्मा का जन्म, निष्कर्मी का कर्म, निर्गुण का गुण, चरणहीन के चरण, अकर्ण के कान, नयनहीन के नेत्र, अभाव का भाव, अवयवरहित के अवयव, यहां तक कि उस पुरुष का सब कुछ यह प्रकृति आप ही बन जाती है। इस प्रकार इस प्रकृति के व्यापक विस्तार के कारण यह विकारहीन पुरुष भी विकारों से लिप्त हो जाता है। इस पुरुष में जो पुरुषत्व रहता है, वह केवल इस प्रकृति के अस्तित्व के ही कारण होता है। जिस प्रकार अमावस्या के हाथ में पड़ने पर चन्द्रमा भी काला हो जाता है अथवा बहुत ही खरे सोने में भी रत्ती भर रांगा या जस्ता आदि मिलने पर उस सारे सोने का कस हलका होकर पन्द्रह से पांच पर आ पहुंचता है अथवा जिस प्रकार पिशाच का संचार होने पर सज्जन पुरुष भी निन्दनीय तथा घृणित आचार-व्यवहार करने लगता है अथवा मेघों की संगति के कारण सुदिन भी दुर्दिन हो जाता है अथवा जिस प्रकार पशु के पेट के अन्दर दूध छिपा रहता है अथवा लकड़ी के अन्दर अग्नि दबी रहती है अथवा रत्नदीप वस्त्र से ढंका रहता है अथवा राजा जैसे दूसरे आदमियों के फेर में पड़ जाता है अथवा सिंह किसी रोग से जर्जर हो जाता है, उसी प्रकार इस प्रकृति की संगति में पड़कर पुरुष भी अपना सारा तेज गंवा बैठता है। जिस प्रकार जागा हुआ मनुष्य एकदम से निद्रा के वश में होकर स्वप्न की वासनाओं के चक्कर में पड़ जाता है, उसी प्रकार इस प्रकृति के संसर्ग के कारण पुरुष को भी गुणों का भोग भोगना पड़ता है। जिस प्रकार विरक्त पुरुष भी स्त्री के योग से सारिकसां बन्धनों से जकड़ा जाता है, उसी प्रकार यह जन्मरहित, शाश्वत पुरुष भी प्रकृति के योग से अनेक प्रकार के बन्धनों में बंध जाता है और गुणों के संग के कारण उस पर भी जन्म और मृत्यु के वार होते रहते हैं। परन्तु हे अर्जुन, यह बात कुछ उसी प्रकार की है, जिस प्रकार तपाये हुए लोहे पर घन की जो चोटें पड़ती हैं, उनके सम्बन्ध में साधारण लोग यही समझते है कि ये चोटें अग्नि पर पड़ती हैं; अथवा जिस प्रकार पानी के हिलने पर उसमें चन्द्रमा के एक प्रतिबिम्ब के बदले

मे अनेक प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ते हैं, और उन प्रतिबिम्बों के अनेकत्व का अविचारी लोग उस प्रतिबिम्बित होने वा चन्द्रमा में आरोप करते हैं। अथवा जिस प्रकार दर्पण के बहुत समीप होने पर प्रतिबिम्ब के कारण उसमें एक के बदले दो मुख दिखाई पड़ते हैं अथवा कुंकुम लग जाने के कारण स्वच्छ स्फटिक में भी कुछ लाली और कुछ कालिमा दिखाई देने लगती है, उसी प्रकार गुणों के संग के कारण ऐसा जान पड़ता है कि उस अजन्मा के भी अनेक जन्म होते हैं। परन्तु जब गुणों के साथ उसका संग नहीं होता, तब यह बात नहीं होती। यों तो संन्यासी जातिहीन होता है, परन्तु कभी-कभी स्वप्न में उसे इस प्रकार का भी भास हो सकता है कि मैं अन्त्यज आदि किसी जाति का हूं। इसी प्रकार तुम समझ लो कि उस पुरुष के सम्बन्ध में भी ऐसा भास होता है कि वह उच्च और नीच योनियो में आता-जाता है। इसीलिए वास्तव मे वह केवल-रूपी और निस्संग पुरुष कभी किसी प्रकार का भोग नहीं भोगता। इस भोग-प्रकरण का सारा मूल बीज गुणों का संग ही है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

"जूही की बेल को संभाले रहने वाला खम्भा जिस प्रकार बिलकुल सीधा खड़ा रहता है, उसी प्रकार यह पुरुष भी प्रकृति की माया में सदा बिलकुल सीधा खड़ा रहता है। इसमें और प्रकृति में आकाश और पाताल का अन्तर है। प्रकृति रूपी नदी के तट पर पुरुष मेरु पर्वत के समान रहता है। प्रकृति का तो जन्म और नाश होता रहता है, परन्तु पुरुष शाश्वत होता है और इसीलिए वह ब्रह्मा से लेकर कीड़े-मकोड़ों तक सभी का शास्ता और नियन्ता होता है। प्रकृति को इसी पुरुष से जीवन की प्राप्ति होती है और इसी की सामर्थ्य से वह संसार की उत्पत्ति करती है। वही प्रकृति का भर्ता है। हे अर्जुन, काल के अखंड प्रवाह में प्रकृति जो-जो सृष्टियां उत्पन्न करती रहती है, वे सब कल्पान्त के समय इसी पुरुष के पेट में लीन हो जाती हैं। यह महद्‌ब्रह्म उस प्रकृति का स्वामी है और इस ब्रह्मांड के सब सूत्र ही इस महद्‌ब्रह्म के हाथ में रहते हैं। इसकी व्यापकता इतनी असीम है कि वह इन समस्त प्रपंचों का माप कर सकता है। इस शरीर मे रहने वाली जिस वस्तु को लोग परमात्मा कहते हैं, वह यही पुरुष है। हे अर्जुन, लोग जो यह कहा करते हैं कि इस प्रकृति से परे एक और वस्तु है, वह वस्तु वास्तव में यही पुरुष है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

"जो मनुष्य इस पुरुष को स्पष्ट रूप से जानता है और साथ ही जो इस बात का ध्यान रखता है कि त्रिगुणात्मक सृष्टि इसी प्रकृति रूपी माया से उत्पन्न हुई है और, हे अर्जुन, जो इस प्रकार निर्णय कर सकता है कि यह मूल वस्तु है और यह उसका प्रतिबिम्ब है और यह माया-रूपी पानी या मृगजल है और इस प्रकार जो प्रकृति और पुरुष की व्यवस्था खूब अच्छी तरह समझ लेता है, वह मनुष्य इस देहप्राप्ति के कारण भले ही सब प्रकार के कर्म किया करे, परन्तु फिर भी वह कर्म से ठीक उसी प्रकार अलग और निर्लिप्त रहता है, जिस प्रकार आकाश कभी धूल से मैला नहीं होता और सदा उससे अलग और निर्लिप्त रहता है। जब तक उसका यह शरीर रहता है, तब तक वह कभी इस शरीर के मोह में नहीं फंसता; और जब उसका देहपात होता है, तब फिर दोबारा उसका जन्म भी नहीं होता। इसलिए प्रकृति और पुरुष का जो विवेक इतने अधिक कल्याण का साधन करने वाला है, वह विवेक या विचार तुम सदा करते रहो। ऐसे अनेक उपाय हैं जिनसे इस विवेक का अन्तःकरण में सूर्य के प्रकाश के समान उदय हो। अब वे उपाय मैं तुमको बतलाता हूं; सुनो।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, कुछ लोग विचार की आग सुलगाकर आत्मा और अनात्मा के हलके सोने पर ज्ञान का अच्छा सोना चढ़ाते हैं और इस प्रकार भिन्न-भिन्न छत्तीस कसों के भेद बिलकुल मिटाकर उसमें से ब्रह्मतत्त्व का निर्मल सोना ढूंढ़ निकालते हैं और तब वे आत्मध्यान की दृष्टि से उस ब्रह्मतत्त्व में स्वयं अपने आपको ही देखने लगते हैं। कुछ लोग दैववशात् सांख्य योग के अनुसार ब्रह्मतत्त्व की ओर ध्यान लगाते हैं और कुछ लोग कर्म को अंगीकार करके उस साध्य की साधना करते हैं।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

"इस प्रकार यह बात ठीक है कि लोग भिन्न-भिन्न मार्गों से इस भवभ्रम के चक्कर से बाहर निकलते हैं। परन्तु कुछ लोग ऐसा भी करते हैं कि सब प्रकार का अभिमान छोड़कर श्रद्धापूर्वक किसी के उपदेश को अपना आधार और आश्रय बना लेते हैं। जिन सत्पुरुषों को हित और अहित स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, जो परम दयालु होते हैं, जो दूसरों से पूछ-पूछकर उनके क्लेश हरण करते हैं और उन्हें सुख देते हैं, उन सत्पुरुषों के मुख से जो उपदेश निकलते हैं, वे उपदेश वे लोग बहुत ही शुद्ध आदरपूर्वक तथा श्रद्धा से सुनकर अपनी मनोवृत्ति तद्रूप करते हैं। वे श्रद्धापूर्वक यह बात मानते हैं कि इस उपदेश-श्रवण में ही सब कुछ है और उपदेशों के अक्षरों के अनुसार पूरा-पूरा आचरण करते हैं। हे अर्जुन, इस प्रकार के श्रद्धावान् श्रवण-मार्गी भी इस जन्म-मरण के सागर से अच्छी तरह उस पार पहुंचकर सुरक्षित हो जाते हैं। इसलिए उस एक ही ब्रह्म को प्राप्त करने के अनेक भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। परन्तु इन सब बातों का बहुत कुछ विस्तार हो चुका। इस प्रकार के सारे मन्थन से महासिद्धान्त का जो सारभूत नवनीत निकलता है, वही अब मैं तुम्हारे हाथ पर रख देना चाहता हूं और उसी से सब काम हो जायंगे। हे अर्जुन, इतने से ही तुम्हें बहुत सहज में ब्रह्म का अनुभव हो जायगा और तुम्हारे लिए और किसी प्रकार का आयास करने की आवश्यकता न रह जायगी। इसीलिए अब मैं उसी बात का विवेचन करता हूं और नाना प्रकार के मतों के बाद तोड़कर सबके अन्दर का बिलकुल शुद्ध और सत्य सिद्धान्त तुमको बतलाता हूं।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतवर्षभ ॥२६॥

"मैंने क्षेत्रज्ञ नाम का जो आत्मतत्त्व तुम्हें बतलाया है और जिन सबको क्षेत्र बतलाया है, उन दोनों के सम्मेलन से ही भूतमात्र की उत्पत्ति हुई है। जिस प्रकार वायु के संयोग से पानी में लहरें उठती हैं और सूर्य के तेज और रेतीली जमीन के संयोग से मृगजल की लहरों का आभास होता है अथवा मेघ की धारा के पृथ्वी पर बरसने से जैसे अनेक प्रकार की वनस्पतियों के अंकुर उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार वे सब स्थावर और जंगम, जिन्हें हम लोग जीव कहते हैं, इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के योग से उत्पन्न होते हैं। इसलिए हे महाबाहो, इनमें से जो प्रधान या मुख्य तत्त्व क्षेत्रज्ञ है, उससे यह नामरूपात्मक भूत सृष्टि अलग नहीं है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

"पटत्व वास्तव में तन्तु नहीं है, परन्तु फिर भी उसका भास तन्तुओं के ही कारण होता है। इसी प्रकार इस क्षेत्रज्ञ की एकता को बहुत गम्भीर दृष्टि से देखना चाहिए। तुम्हें इस बात का अनुभव करना चाहिए कि ये सब भूत उस एक के ही अनेक रूप हैं और वे सब वास्तव में एक ही हैं। इन सब भूतों के अलग-अलग नाम हैं और इनकी स्थिति-गति और इनके रूप-रंग सब अलग-अलग दिखाई देते हैं। परन्तु हे अर्जुन, यदि ये सब विभेद देखकर तुम अपने मन में भेदभाव को स्थान दोगे तो फिर करोड़ों जन्म धारण करने पर भी इस संसार से कभी बाहर न

हो सकोगे। जिस प्रकार तूंबी या लौकी की बेल में लम्बे, टेढे और गोल आदि अनेक प्रकार के उपयोग में आने वाले फल लगते हैं अथवा जिस प्रकार बेर के फल चाहे टेढ़े-तिरछे और बेढंगे हों और चाहे सरल हों, परन्तु फिर भी वे बेर के ही फल कहे जाते हैं और उनका नाम नहीं बदलता, उसी प्रकार भूत चाहे कितने ही भिन्न-भिन्न आकार और प्रकार के क्यों न हों, परन्तु उन सब भूतों का आधार और मूल कारण जो परम वस्तु है, वह बिलकुल सरल और सीधी-सादी ही है। अंगारों के कण चाहे कितने ही अधिक भिन्न-भिन्न क्यों न हों, परन्तु जिस प्रकार उष्णता उन सबमें समान ही होती है, उसी प्रकार जीव चाहे कितने ही अधिक प्रकार के क्यों न हों; परन्तु फिर भी परमात्मा एक-रूप ही है। पावस की धाराएं चाहे आकाश भर में क्यों न फैली हुई हों, परन्तु जल उन सबमें एकरूप ही रहता है। ठीक इसी प्रकार सब भूतों के भिन्न-भिन्न आकारों में वह परमात्मा भी सब जगह समान रूप से रहता है। भूतो का यह समुदाय चाहे भिन्न-भिन्न रूप-रंगों का क्यों न हो, परन्तु फिर भी उन सबमें वह परमात्मा उसी प्रकार समान रूप से रहता है, जिस प्रकार घट और मठ आदि सबमें आकाश समान रूप से रहता है। जिस प्रकार बाहु-भूषण आदि अलकार अलग-अलग बनावट के और समय-समय पर बदलते रहने वाले होते हैं, परन्तु उनमें का सोना सदा सोना ही रहता है और कभी बदलता नहीं, उसी प्रकार यद्यपि भासमान् होने वाला भूतों का नामरूपों वाला यह खेल नश्वर है, परन्तु फिर भी उन सबमें निवास करने वाली आत्मा शाश्वत ही है। इस प्रकार जो मनुष्य आत्मतत्त्व को जीव-धर्म से अलिप्त परन्तु फिर भी जीव से अभिन्न समझता है, उसी को समस्त ज्ञानियों में वास्तविक नेत्रों वाला और वास्तविक देखने वाला समझना चाहिए। हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, वह पुरुष ज्ञान की दृष्टि ही होता है और उसे समस्त देखने वालों में से वास्तविक देखने वाला समझना चाहिए। यह स्तुति कोई अतिशयोक्ति नहीं है। वह मनुष्य वास्तव में बहुत बड़ा भाग्यशाली होता है।

समं पश्यन्ति सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

"यह शरीर गुणों और इन्द्रियों की थैली है और इसमें कफ, वात और पित्त तीनों धातुओं का त्रिकूट है। इसी मे पांचों महाभूतों का मिश्रण हुआ है और यह बहुत ही भयंकर है। स्पष्टतः यह पांच डंकों वाले बिच्छू के समान है अथवा इसे पांच तरफों से सुलगने वाली भयंकर आग ही समझना चाहिए। अथवा इस जीव रूपी हिंसक सिंह को मानों गरीब हिरनों के रहने की जगह ही मिल गई है। इस प्रकार के शरीर में रहकर भला कौन ऐसा होगा जो नित्य बुद्धि की छुरी अनित्य भाव के पेट में भोंककर निश्चिन्त न हो जायगा ? परन्तु हे अर्जुन, जो मनुष्य ज्ञानी होता है, वह जब तक इस शरीर में निवास करता है, तब तक कभी आत्मा का घात नहीं करता और शरीरपात होने पर वह उसी आत्मतत्त्व में मिलकर एकरूप हो जाता है। योगीजन अपने योगज्ञान की सामर्थ्य से करोड़ों जन्मों का उल्लंघन करके जिस स्थान में प्रवेश करते हैं और कहते हैं कि हम इस स्थान से फिर निकलकर बाहर नहीं जायंगे, जो नाम-रूपात्मक भूत सृष्टि से परे या उस पार है, जो नाद के उस पार का और तुरीयावस्था का जन्म-स्थान है, जिसे परब्रह्म कहते हैं, जिसमें उसी प्रकार मोक्ष आदि समस्त परम गति लीन हो जाती है, जिस प्रकार सब नदियां समुद्र में लीन हो जाती हैं, उस परब्रह्म की प्राप्ति का आनन्द और सुख आपसे आप उन लोगों के चरण धोने के लिए आ पहुचता है जो भूतों के भेदभाव को अपने मन में स्थान नहीं देते और आत्मबुद्धि के द्वारा सबके साथ समभाव से व्यवहार करते हैं। जिस प्रकार करोड़ों दीपकों में तेज एक-सा और समभाव से निवास करता है, उसी प्रकार वह अनादि परमात्मा भी सदा और सर्वत्र समान रूप से निवास करता है। हे अर्जुन, जो पुरुष अपनी जीवन-अवस्था में ही इस प्रकार की समता का अनुभव करता है, वह फिर कभी जन्म और मरण के बन्धन में नहीं पड़ता। इसीलिए मैं भी उस भाग्यवान् पुरुष की बार-बार स्तुति करता हूं, क्योंकि उसकी दृष्टि सदा समभाव पर ही लगी रहती है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

"जो मनुष्य सचमुच और अच्छी तरह यह बात जानता है कि मन और बुद्धि आदि समस्त कर्मेन्द्रियों के द्वारा प्रकृति ही सब कर्म करती है, जो यह जानता है कि जिस तरह घर में रहने वाले आदमी ही सब काम-धन्धे करते हैं और स्वयं घर कोई काम नहीं करता अथवा जिस प्रकार आकाश में मेघ तो खूब मनमाना संचार करते हैं, परन्तु स्वयं आकाश हिलता-डुलता नहीं, उसी प्रकार प्रकृति भी आत्मा के तेज से और त्रिगुणों की सहायता से अनेक प्रकार के खेल खेलती है, परन्तु उन खेलों में आत्मा केवल केन्द्रीय स्तम्भ की भांति उदासीन रहती है और वह इन सब खेलों को बिलकुल जानती ही नहीं; और इस प्रकार के निश्चित ज्ञान का प्रकाश जिसके अन्तःकरण पर पड़ा हो, उसी के सम्बन्ध में यह समझना चाहिए कि उसे इस कर्तृत्वहीन आत्मा का वास्तविक तत्त्व ज्ञात है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

"हे अर्जुन, यदि वास्तव में देखा जाय तो जिस समय मनुष्य की दृष्टि में भूतसंघ की आकृतियों का नानात्व या भेद नहीं रह जाता और वे सब आकृतियां एकरूप दिखाई देने लगती हैं, उसी समय ऐसा प्रतीत होता है कि वे सब ब्रह्मस्वरूप ही हैं। जिस प्रकार पानी में लहरें, स्थल में पार्थिव द्रव्यों के कण, रवि-मंडल से किरणें, शरीर में अवयव, मन में भिन्न-भिन्न भाव अथवा एक ही अग्नि में अनेक साकार चिनगारियां होती हैं, ठीक उसी प्रकार जब ज्ञानदृष्टि को यह दिखलाई पड़ने लगता है कि ये सब भूताकार एक ही आत्मा के हैं, तभी मनुष्य को ब्रह्म-सम्पत्ति का जहाज हाथ आता है। उस समय मनुष्य जिधर देखता है, उधर ही उसे केवल ब्रह्म का स्वरूप दिखाई देता है और उससे अपरम्पार सुख की प्राप्ति होती है। हे अर्जुन, केवल इतना ही विवेचन करके मैंने तुम्हें प्रकृति और पुरुष की व्यवस्था समझा दी है और उसकी प्रत्येक दिशा का यथा-स्थित अवस्थान दिखला दिया है। तुम यह समझ लो कि जिस प्रकार अमृत का चुल्लू प्राप्त होता है अथवा कहीं छिपाकर रखा हुआ धन दिखलाई पड़ता है, उसी प्रकार तुम्हें यह परम योग्यता का लाभ हुआ है। परन्तु हे अर्जुन, जब तक तुम्हें इस बात का ठीक-ठीक अनुभव न हो जाय, तब तक तुम्हारे मन में इसका दृढ़ निश्चय नहीं हो सकता। तो भी मैं तुमको महत्त्व की एक-दो बातें बतला देना चाहता हूं। परन्तु पहले तुम अपना ध्यान मेरी ओर करो और तब मेरी बातें सुनो।" जब श्रीकृष्ण ये सब बातें कहकर और आगे की बातें कहने लगे, तब अर्जुन भी चित्त को एकाग्र करके सुनने लगा।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

श्रीकृष्ण ने कहा—"हे अर्जुन, जिसे परमात्मा कहते हैं, वह ऐसा है, जैसा वह सूर्य जिसका प्रतिबिम्ब तो पानी में पड़ता है, परन्तु फिर भी जिस पर उस पानी का लेप नहीं होता। और इसका कारण यह है कि सूर्य तो पानी के पीने से पहले भी था और उसके बाद भी रहेगा, और हे अर्जुन, केवल बीच वाले समय में वह प्रतिबिम्ब के रूप में दूसरे लोगों को पानी में पड़ा हुआ जान पड़ता है, परन्तु वह स्वयं जैसे का तैसा रहता है। इसी प्रकार यह कहना भी ठीक नहीं है कि आत्मा शरीर में रहती है, क्योंकि वह तो सदा जहां-की-तहां, स्वयं अपने आप में और अपने स्थान पर रहती है। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ने पर लोग कहते हैं कि दर्पण में मुख है, उसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि शरीर में आत्मा रहती है। यह कहना बिलकुल निरर्थक है कि आत्मा के साथ शरीर का सम्बन्ध होता है। भला क्या कभी वायु और बालू का भी संयोग हो सकता है ? भला वह ऐसा कौन-सा डोरा है जिसमें आग और कपास दोनों को एक साथ ही पिरो या बांध सकें ? आकाश और पाताल का सम्बन्ध भला कैसे बैठाया जा सकता

है ? इनमें से एक का गति पूव की ओर है और दूसरे की पश्चिम की ओर। बस शरीर और आत्मा का भी उसी प्रकार सम्बन्ध है, जिस प्रकार दो विपरीत दिशाओं में जाने वाले यात्रियों का मार्ग में आमना-सामना हो जाता है। प्रकाश और अन्धकार या जीवित और मृत में जितनी समानता है, उतनी ही समानता शरीर और आत्मा में भी है। रात और दिन या सोने और कपास में जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर शरीर और आत्मा में भी है। यह शरीर पांच भूतो से बना हुआ है, कर्म के बन्धनों से जकड़ा हुआ है और जन्म तथा मृत्यु के चक्कर पर सदा घूमता रहता है। काल रूपी अग्नि के मुख में पड़ी हुई मक्खन की छोटी-सी ही गोली के ही समान यह शरीर है। मक्खी को पंख झाड़ने मे जितनी देर लगती है, उतनी ही देर में इसका नाश हो जाता है। यदि यह शरीर संयोग से आग में पड़ जायगा तब तो भस्म ही हो जायगा; पर यदि कहीं कौओं और कुत्तों के हाथ में जा पड़ा तो फिर यह विष्ठा के ही रूप में होकर रहेगा। और यदि इन दोनों में से एक भी बात न हुई तो फिर यह कीड़ों की राशि हो जायगा। परन्तु हे अर्जुन, शरीर का इनमें से चाहे जो परिणाम हो, परन्तु वह होता बुरा ही है। बस यही इस शरीर की कहानी है। परन्तु आत्मा ऐसी है कि वह अनादि होने के कारण शाश्वत और स्वयंपूर्ण है। वह निर्गुण होने के कारण न तो कला-सहित या पूर्ण ही है और न कला-रहित या अपूर्ण ही है। वह अक्रिय भी नहीं है और सक्रिय भी नहीं है, सूक्ष्म भी नहीं है और स्थूल भी नहीं है। वह अरूप है, इसलिए हम उसे आभास अथवा निराभास, प्रकाश अथवा अप्रकाश, अल्प अथवा विस्तृत आदि कुछ भी नहीं कह सकते। वह शून्य स्वरूप है और इसीलिए वह खोखली भी नहीं है और ठोस भी नहीं है, किसी के सहित भी नहीं है और किसी से विरहित भी नहीं है, मूर्तिमान भी नहीं है और अमूर्त भी नहीं है। वह केवल आत्मरूप है और इसीलिए उसमें आनन्द भी नहीं है और आनन्द का अभाव भी नहीं है, एकता भी नहीं है और अनेकता भी नहीं है, वह मुक्त भी नहीं है और बद्ध भी नहीं है। वह अलक्ष्य है, इसलिए उसके सम्बन्ध में यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह इतनी है या उतनी है, वह आपसे आप बनी हुई है या किसी की बनाई हुई है और बोलती है अथवा गूंगी है। न तो वह सृष्टि के साथ उत्पन्न ही होती है और न उसके संहार के साथ उसका नाश ही होता है, क्योंकि वह उत्पत्ति और नाश दोनों का लय-स्थान है। वह अव्यय है, इसलिए न तो वह नापी ही जा सकती है और न उसका वर्णन ही किया जा सकता है; वह न तो बढ़ती है और न घटती ही है, न वह फीकी ही पड़ती है और न कभी समाप्त ही होती है। ऐसी अवस्था में जब कि आत्मा का स्वरूप ऐसा है, तब जो लोग यह कहते हैं कि वह शरीर में रहती है, उनका कथन, हे सखे अर्जुन, वैसा ही है, जैसा मठ के आकार के अनुसार आकाश का नामकरण करना। आत्मा भी उसी आकाश की तरह सर्वव्यापक है। शरीर की आकृतियां तो बनती-बिगड़ती रहती हैं, परन्तु आत्मा सदा ज्यों-की-त्यों रहती है। जिस प्रकार दिन और रात का सदा आना-जाना लगा रहता है, उसी प्रकार आत्मा की सत्ता से शरीर भी सदा बनते और नष्ट होते रहते हैं। इसीलिए वह आत्मा इस शरीर में रहने पर भी न तो कुछ कराती ही है और न करती ही है, और न सामने आये हुए कर्मों के साथ ही उसका किसी प्रकार सम्बन्ध होता है। इसीलिए उसके स्वरूप में न तो कभी किसी प्रकार की त्रुटि ही होती है और न पूर्णता ही आती है; और वह शरीर में रहने पर भी शरीर के भावों से कभी लिप्त नहीं होती।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

"कभी ऐसा नहीं होता कि आकाश किसी स्थान पर न हो; परन्तु फिर भी किसी स्थान का मल या दोष कभी उसको मलिन या दूषित नहीं कर सकता। इसी प्रकार आत्मा भी सभी स्थानों और सभी शरीरों में ओत-प्रोत है, परन्तु फिर भी वह कभी किसी स्थान अथवा शरीर के संग-दोष के कारण मलिन नहीं होती। मैं बार-बार इस लक्षण को इसलिए स्पष्ट करता हूं कि तुम्हारी समझ में यह बात अच्छी तरह आ जाय कि क्षेत्रज्ञ वास्तव में क्षेत्रहीन है।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥३३॥

चुम्बक पत्थर का संसर्ग होने के कारण लोहा हिलता है, परन्तु लोहा कभी चुम्बक पत्थर नहीं हो जाता। ठीक यही बात क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के सम्बन्ध में भी है। दीपक के प्रकाश में घर के सब कामकाज होते हैं, परन्तु फिर भी दीपक और घर में अपार अन्तर है। हे अर्जुन, लकड़ी के अन्दर अग्नि रहती है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि अग्नि ही लकड़ी है। बस इसी दृष्टि से क्षेत्रज्ञ का भी विचार करना चाहिए। आकाश और मेघ, या सूर्य और मृगजल में जो अन्तर है, अच्छी तरह विचार करने पर यह बात समझ में आ जाती है कि क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र में भी वही अन्तर है। परन्तु इस विषय की यथेष्ट बातें हो चुकीं। आकाश में रहने वाला सूर्य जिस प्रकार भिन्न-भिन्न समस्त भुवनों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ भी भासमान् होने वाले समस्त क्षेत्रों को प्रकाशित करता है। अब इस पर और कोई प्रश्न या शंका करने की जगह बाकी नहीं रह जाती।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥३४॥

''जिस बुद्धि को क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर का ज्ञान हो जाता है, वही बुद्धि वास्तव में दृष्टि से युक्त होती है और वही शब्दार्थ का ठीक-ठीक सारांश ग्रहण कर सकती है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद जानने के लिए ही बड़े-बड़े बुद्धिमान् लोग ज्ञानीजनों के द्वार की पूजा करते और उनका आश्रय लेते हैं। इसी की प्राप्ति के लिए सन्त लोग शान्ति रूपी धन का संचय करते हैं और शास्त्रों का अध्ययन करते हैं। इसी ज्ञान की आशा से कुछ लोग योगाभ्यास के आकाश में उड़ने का साहस करते हैं। कुछ लोग शरीर आदि समस्त परिग्रहों को तिनके के समान समझकर सन्तों की चरण-सेवा में रत होते हैं। इस प्रकार लोग भिन्न-भिन्न मार्गों से ज्ञान की लालसा से प्रेरित होकर आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं। फिर भी इस प्रकार के प्रयत्नों के द्वारा जो लोग सचमुच क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, उनकी मैं बड़े प्रेम से आरती करता हूं। और महाभूत आदि के अनेक भेदभावों से युक्त जो यह मायावी प्रकृति विस्तृत है, जो शुक-नलिका न्याय से वास्तव में बन्धक न होने पर भी अपनी-अपनी भावनाओं के अनुसार उन लोगों के लिए बन्धक होती है, जो अपने अन्तःकरण में यह बात उसी प्रकार पूरी तरह से समझ लेते हैं कि प्रकृति वास्तव में पुरुष से भिन्न और अलग है। जिस प्रकार माला के सम्बन्ध में होने वाला व्यर्थ का सर्पाभास दूर हो जाने पर नेत्रों को इस बात का सत्य ज्ञान हो जाता है कि यह वास्तव में माला ही है अथवा जिस प्रकार सीपी के सम्बन्ध में चांदी के होने का भ्रम दूर हो जाने पर सत्य रूप से यह दिखाई पड़ने लगता है कि यह वास्तव में सीपी ही है, वही लोग ब्रह्म का स्वरूप प्राप्त करते हैं। जो आकाश से भी विशाल है, जो अव्यक्त प्रकृति के उस पार वाले तट पर है, जिसके प्राप्त हो जाने पर साम्य और असाम्य का कुछ भी भेदभाव बाकी नहीं रह जाता, उसमें आकार, जीवत्व और द्वैत कभी रह ही नहीं सकता, जो शुद्ध द्वैतहीन है, उस परम तत्त्व का स्वरूप वही लोग प्राप्त करते हैं जो आत्म और अनात्म की व्यवस्था जानते हैं और जो राजहंस की भांति असार में से भी केवल सार ग्रहण कर सकते हैं।''

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अपने परम प्रिय अर्जुन को आत्म और अनात्म का तत्त्व सभी तरह से स्पष्ट करके समझा दिया। जिस प्रकार एक कलश का जल किसी दूसरे कलश में उंड़ेला जाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने अपना सारा आत्मज्ञान, उसमें से कुछ भी बिना अपने पास बाकी रखे, अर्जुन को दे दिया। परन्तु आखिर यहां देने वाला कौन है और लेने वाला कौन है ? क्योंकि नर अर्थात् अर्जुन भी नारायण ही हैं और इसलिए इन दोनों में किसी प्रकार का भेद नहीं किया जा सकता। फिर श्रीकृष्ण भी स्वयं ही यह बात कहते हैं कि अर्जुन भी मैं ही हूं। परन्तु जाने दो; इस

व्यर्थ के विषय विस्तार की कोइ आवश्यकता नही जब यह बात कोइ पूछता ही नही तब म क्यो बतलाऊ साराश यही है कि इस प्रसंग में भगवान् ने अपना ज्ञान-सर्वस्व ही अर्जुन को अर्पित कर दिया। परन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि अर्जुन के मन को किसी प्रकार तृप्ति ही नहीं होती थी। उसकी ज्ञान-श्रवण की लालसा बराबर और भी अधिक होने लगी। जिस प्रकार कजली झाड़ देने पर और तेल भर देने पर दीपक का प्रकाश और भी अधिक हो जाता है उसी प्रकार इस श्रवण से अर्जुन के अन्तःकरण की उत्सुकता भी और अधिक हो गई। जब भोजन परोसने वाली गृहिणी चतुर, सुघड़ और उदार होती है और भोजन करने वाले भी भोजन के रसज्ञ होते हैं, तब परोसने वाली के हाथ भी और खाने वालों के हाथ भी बराबर चलते रहते हैं। बस ठीक वही अवस्था इस समय श्रीकृष्ण की हुई थी। अर्जुन की श्रवण-सम्बन्धी उत्सुकता देखकर भगवान् को भी व्याख्यान देने की चौगुनी स्फूर्ति हो आई। जिस प्रकार अनुकूल पवन चलने पर बहुत-से मेघ आकर आकाश में एकत्र हो जाते हैं, अथवा चन्द्रमा के दर्शन से जिस प्रकार समुद्र मे ज्वार आता है, उसी प्रकार श्रोताओं के उत्साह दिखलाने पर वक्ता को भी स्फूर्ति होती है। उस समय संजन ने कहा—"हे राजा धृतराष्ट्र, अब श्रीकृष्ण सारे विश्व को आनन्द से परिपूर्ण करने को हैं। आप उसका वृत्तान्त सुने।" इस प्रकार महाभारत में श्री व्यासदेव ने अपनी अगाध बुद्धि से जो कथा भीष्म पर्व में कही है, उसमें का यह श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद मैं सुन्दर और शिष्ट देशी भाषा में स्पष्ट करके बतलाता हूं। अब मैं जो कुछ कहने को हू, वह शुद्ध शान्तरस की कथा है; परन्तु इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि वह श्रृंगाररस को भी अपने सामने तुच्छ सिद्ध करेगी। मेरी भाषा तो देशी होगी, परन्तु फिर भी मैं उसकी योजना ऐसे कौशल से करूंगा कि वह ललित साहित्य की संजीवनी ही होगी और अपने माधुर्य के सामने अमृत को भी फीका कर देगी। देशी भापा में कही हुई ये बाते अपनी रसार्द्र शीतलता के कारण चन्द्रमा की बराबरी की ठहरेंगी और इसकी रसालता के चक्कर में पड़कर स्वय नादब्रह्म भी लीन हो जायगा। इस शब्द-रचना से पिशाच तक के अन्तःकरण में भी सात्विक वृत्ति का स्रोत उमड़ पड़ेगा ओर इसके श्रवण से सन्तों के मन की तो आत्मसमाधि लग जायगी। मैं इस समय ऐसा वाग्विलास प्रकट करूंगा जिससे यह सारा विश्व गीतार्थ से ओत-प्रोत भर जायगा; और मैं सारे संसार के लिए एक आनन्दमय मन्दिर ही खड़ा कर दूगा। इस समय मैं ऐसा व्याख्यान करूंगा जिसे सुनकर विवेक भी बोलने लगे; कान और मन सार्थक हो जायं, हर किसी को ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति हो सके, सब लोगों को इन्हीं आंखों से परमात्म तत्त्व के दर्शन होने लगें, सबके लिए सुख का पर्व हो और सारे विश्व को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का सुभीता हो जाय। बात यह कि परम श्रेष्ठ श्रीनिवृत्तिनाथ का कृपाप्रसाद मुझे प्राप्त हुआ है। इसलिए मैं उपमा और श्लेष आदि के ढेर लगा दूंगा और ग्रन्थ के प्रत्येक पद का अर्थ बिलकुल स्पष्ट कर दूंगा। इस उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए मेरे परम सम्पन्न गुरुदेव ने मुझे वाणी की प्रगल्भता और अर्थज्ञान से परिपूर्ण कर दिया है। अपने गुरुदेव की कृपा की सहायता से मैं जो कुछ कहता हूं वह सभी मान्य होता है; और इसीलिए आज आप सरीखे अधिकारी श्रोताओं के सामने भी गीतार्थ का प्रवचन करने के लिए उद्यत हुआ हूं। जिस पर मैं आप सन्तजनों के चरणों के समीप आया हूं; और इसीलिए अब मेरे मार्ग में कोई अड़चन नही रह गई है। महाराज, भला क्या सरस्वती के पेट से कभी भूल से भी गूंगा बालक उत्पन्न हो सकता है ? क्या यह भी कभी सम्भव है कि प्रत्यक्ष लक्ष्मी में सामुद्रिक के किसी शुभ लक्षण की कमी हो ! इसीलिए आप सरीखे सन्तजनो के पास आने पर अज्ञान की बात भी कभी मुंह से नहीं निकालनी चाहिए। इसीलिए मैं कहता हूं कि मैं अपने व्याख्यान से नौ रसों की बिलकुल झड़ी ही लगा दूंगा। आप लोग मुझे बोलने का अवसर मात्र प्रदान करें; फिर यह ज्ञानदेव गीता ग्रन्थ का सारा अर्थ अच्छी तरह स्पष्ट करके कह डालेगा।



चौदहवां अध्याय



गुणत्रयविभागयोग

मैं आपका जय-जयकार करता हूं। सब देवों में आप ही श्रेष्ठ हैं। बुद्धि रूपी प्रभात
द्र का उदय आपसे ही होता है। सबके विश्राम के स्थान आप ही हैं। आत्मभावना
हैं। इस नाना स्वरूप वाली पंचभूतात्मक सृष्टि की लहरें जिस समुद्र पर उठती हैं,
ऐसे स्वरूप का मैं जय-जयकार करता हूं। हे दुःखितों के बान्धव, अखंड कृपा के
प्रिय स्वामी तथा गुरुदेव, आप सुनें। आप जिनकी दृष्टि में दिखाई नहीं देते, उन्हीं
देखलाते हैं और उन्हीं पर यह नाम-रूपात्मक वस्तु-जात प्रकट करते हैं। दूसरे की दृष्टि
जरबन्दी कहते हैं। परन्तु आपका यह अद्भुत कौशल ऐसा है कि आप स्वयं अपना ही
आप ही इस विश्व के सर्वस्व हैं। यह सब आपका ही नाटक है जो आप किसी को
और किसी को आत्मबोध कराते हैं। आपके ऐसे स्वरूप को मैं नमस्कार करता हूं
आता है कि इस संसार में जिसे 'अप' (जल) कहते हैं, उसे आपके ही शब्दों से म
मा वाला गुण भी आपसे ही प्राप्त हुआ है। सूर्य, चन्द्रमा आदि जो तेजस्वी सिपाही
तेज को आपकी प्रभा से ही तेज प्राप्त होता है। वायु की चंचलता भी आपकी ही
भी आपका ही आश्रय पाकर यह आंखमिचौली का खेल खेलता है। सारांश यह
सारी माया उत्पन्न होती है और ज्ञान को दृष्टि प्राप्त होती है। परन्तु अब इस वर्णन
क्योंकि वेद भी इस प्रकार का वर्णन करते-करते थक जाते हैं। जब तक आपके
, तब तक तो वेदों की वर्णन-शक्ति ठीक तरह से काम देती है; परन्तु जब आपके

पास की कोई मंजिल या पड़ाव आ जाता है, तब फिर वेद भी और मैं भी दोनों मूक होकर एक ही पंक्ति में बैठ जाते हैं—दोनों की अवस्था समान हो जाती है। जिस समय चारों ओर सागर-ही-सागर फैल जाता हो और एक बुलबुला भी अलग न दिखाई देता हो, उस समय बड़ी-बड़ी नदियों का पता लगाने की तो बात ही नहीं छेड़नी चाहिए। जब सूर्य उदय होता है, तब चन्द्रमा जुगनूं की तरह फीका पड़ जाता है। इसी प्रकार आपके आत्मस्वरूप में वेद और मैं दोनों ही एक-से हो जाते हैं। फिर जहां द्वैत का नाम-निशान भी मिट जाता हो और परा वाणी के साथ वैखरी वाणी का भी लोप हो जाता हो, वहां भला मैं किस मुंह से आपका वर्णन कर सकता हूं ! इसीलिए अब मैं आपकी स्तुति करने के फेर में नहीं पड़ता और निःशब्द होकर आपके चरणों पर सिर झुकाना ही अच्छा समझता हूं। इसीलिए हे गुरुदेव, आपका चाहे जो स्वरूप हो, मैं उसी स्वरूप की वन्दना करता हूं। हे स्वामी, आप मुझ पर ऐसी कृपा करें जिसमें मैं इस ग्रन्थ-रचना के उद्योग में सफल हो सकूं। अब आप अपनी कृपा रूपी पूंजी खोल दें और उसे मेरी बुद्धि रूपी थैली में भर दें और मुझे ज्ञानपद की प्राप्ति करा दें। फिर इस प्राप्ति के आधार पर मैं व्यवहार में आगे पैर बढ़ाऊंगा और सन्तजनों के कानों में विवेक-वचन रूपी कर्ण-भूषण पहनाऊंगा। आप गीता के गूढ़ अर्थ का भांडार खोल दें, यही मेरी इच्छा है। आप मेरे नेत्रों में अपना कृपारूपी दिव्य अंजन लगावें। आप अपनी निर्मल करुणा के सूर्य का इस प्रकार उदय करें, जिसमें मेरी बुद्धि के नेत्र अच्छी तरह खुल जायं और साहित्य रूपी सम्पत्ति मुझे स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगें। हे समस्त स्नेह करने वालों में श्रेष्ठ, आप स्वयं ही ऐसा बसन्तकाल बन जायं जिसके प्रभाव से मेरी बुद्धि रूपी बेल में काव्यरूपी फल लगने लगें। हे महाराज, आप अपनी उदार कृपादृष्टि से ऐसी वर्षा करें जिसमें मेरी बुद्धि रूपी गंगा नदी में तत्त्व-सिद्धान्त की लहरों की भरपूर बाढ़ आ जाय। हे विश्व के विश्रामस्थल श्रीगुरुदेव, आपके अनुग्रह रूपी चन्द्रमा से मुझे स्फूर्ति की पूर्णिमा प्राप्त हो। और उस पूर्णिमा के दर्शन होते ही मेरे ज्ञान रूपी सागर में ऐसी ज्वार आवे जो मेरे नौ रसों के स्रोत को पूरी तरह से भरकर ऊपर उछल पड़े और बाहर निकलकर बहने लगे। यह सुनकर श्रीगुरुदेव ने कहा—"प्रार्थना करने के बहाने से तुमने फिर मेरी स्तुति करना आरम्भ कर दिया है। परन्तु अब इस व्यर्थ की स्तुति को रहने दो। ज्ञान की सुगन्धि से भरा हुआ अपना ग्रन्थ और आगे चलाओ और व्यर्थ हमारी उत्सुकता खंडित मत करो।" श्रीगुरुदेव के ये वचन सुनकर मैंने कहा—"ऐसा क्यों ? महाराज, मैं तो इसी बात की प्रतीक्षा कर रहा था कि आपके श्रीमुख से ये शब्द निकलें कि तुम अपना ग्रन्थ आगे चलाओ।" एक तो दूर्वा के अंकुर स्वभावतः अमर होते हैं; तिस पर यदि उनके ऊपर अमृत की लहर आ जाय तो फिर पूछना ही क्या है ! ठीक वही बात यहां भी है। तो भी मैं आपके कृपाप्रसाद से विस्तारपूर्वक तथा स्पष्ट रूप से मूल ग्रन्थ के शब्दों का विवरण करता हूं। परन्तु अब मेरी यही इच्छा है कि गुरुकृपा के घर की भिक्षा से मेरी वाणी में इस प्रकार की मधुरता प्रतिबिम्बित हो जिसके कारण जीव के मन में रहने वाली सन्देह की नौका डूब जाय और तब श्रवण के सम्बन्ध में लोगों की उत्सुकता बढ़े।" अस्तु; पिछले (तेरहवें) अध्याय में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यह कहा है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से जगत् का निर्माण होता है; और गुणों का संग होने के कारण आत्मा संसारी बनती है। और प्रकृति के चंगुल में फंसने पर वही आत्मा सुख और दुःख भोगती है और अपने कैवल्य स्वरूप से वह आत्मा गुणों से बिलकुल परे की है। ऐसी अवस्था में इस असंग को संग की प्राप्ति किस प्रकार होती है ? क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात् पुरुष और प्रकृति का मेल या संयोग किस प्रकार होता है ? उस क्षेत्रज्ञ को सुख और दुःख आदि भोग किस प्रकार भोगने पड़ते हैं ? गुण कितने हैं ? उनका स्वरूप क्या है और वे किस प्रकार बन्धक होते हैं ? और गुणातीत के लक्षण कौन-से हैं ? बस इस चौदहवें अध्याय में इन्हीं सब प्रश्नों का स्पष्टीकरण किया गया है। अब आप लोग यह सुनें कि इस विषय में वैकुण्ठपति श्रीकृष्णदेव क्या कहते हैं।

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥१॥

भगवान् कहते हैं—"हे अर्जुन, अपना लक्ष्य बिलकुल एकाग्र करके इस ज्ञान से भिड़ना पड़ता है। इस ज्ञान के सम्बन्ध की बहुत-सी बातें मैंने अनेक युक्तिवादों के द्वारा तुम्हें बतलाई हैं, परन्तु अब मैं फिर से तुमको उनकी उपपत्ति बतलाता हूं और इसीलिए मैं उस 'पर' की उपपत्ति भी तुम्हें फिर से बतलाता हूं जिसे वेदों ने बार-बार सबके परे बतलाया है। यदि वास्तव में देखा जाय तो यह ज्ञान स्वयं अपना ही है; परन्तु वह इसलिए पर अर्थात् परकीय हो गया है कि लोगों ने व्यर्थ ही इहलोक और स्वर्गलोक का एक झगड़ा लगा रखा है। और मैं इसे पर अर्थात् सबसे उत्तम भी कहता हूं; और इसका कारण यही है कि और सब प्रकार के ज्ञान तो तिनकों के समान हैं और ज्ञान उन सबको जलाकर भस्म कर देने वाली अग्नि के समान है। जो ज्ञान मृत्युलोक और स्वर्गलोक को सत्य मानते हैं और यह कहते हैं कि केवल यज्ञकर्म ही अच्छे हैं, और भेदभाव के कारण जिन्हें द्वैत ही सत्य के समान जान पड़ता है, वे सब ज्ञान इस ज्ञान के हो जाने पर स्वप्न के समान मिथ्या सिद्ध होते हैं। जिस प्रकार हवा के झोंके अन्त में आकाश में जाकर लीन हो जाते हैं अथवा जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर चन्द्रमा आदि का तेज फीका पड़ जाता है अथवा प्रलयकाल के जल का प्रसार होने पर जिस प्रकार समस्त नद और नदियां उसी में लीन हो जाती हैं, और उनका कहीं पता भी नहीं रह जाता, उसी प्रकार इस ज्ञान का उदय होने पर बाकी और सब प्रकार के ज्ञान बिलकुल विलीन हो जाते हैं। इसीलिए हे अर्जुन, इस ज्ञान को और सब ज्ञानों से उत्तम समझना चाहिए। हे पांडव, हमारी जो मूल की स्वयंसिद्ध मुक्त स्थिति है, उसी को मोक्ष कहते हैं। जिसके योग से यह मोक्ष हमें प्राप्त होता है, वही यह ज्ञान है और उस ज्ञान का अनुभव हो जाने पर विचारवान् शूर पुरुष जन्म और मृत्यु रूपी संसार को सिर ऊपर नहीं उठाने देते। जो लोग मन से ही मन का निग्रह करके स्वाभाविक विश्रान्ति प्राप्त कर लेते हैं, वे देहधारी होने पर भी देह के अधीन नहीं होते। वे देह के बन्धन से बिलकुल छूट जाते हैं और मेरी बराबरी के हो जाते हैं।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥२॥

"हे पार्थ, ऐसे लोग मेरी नित्यता से ही नित्य होते हैं और मेरी परिपूर्णता से ही परिपूर्ण होते हैं। मैं जिस प्रकार शाश्वत आनन्द से वास्तव में पूर्ण रूप से सिद्ध हूं, उसी प्रकार वे भी सिद्ध हो जाते हैं। फिर मुझमें और उन लोगों में कोई भेद बाकी नहीं रह जाता। मेरा स्वरूप जैसा और जितना होता है, उनका स्वरूप भी वैसा और उतना ही हो जाता है। जिस प्रकार घट के फूट जाने पर उसमें का आकाश भी आकाश तत्त्व में ही मिल जाता है अथवा दीपक की अनेक ज्योतियों के बुझने पर वे सब ज्योतियां उस मूल ज्योति या तेज में मिल जाती हैं, उसी प्रकार, हे अर्जुन, द्वैत के सब झगड़ों के मिट जाने पर और हम तथा तुम आदि का भेद नष्ट हो जाने पर समस्त नाम-रूपात्मक पदार्थ आकर एक ही पंक्ति में बैठ जाते हैं और सब एक-से हो जाते हैं। इसीलिए जब फिर से पहली सृष्टि उत्पन्न होती है, तब भी उन्हें उसके फेर में नहीं फंसना पड़ता—उस नई सृष्टि में भी उन्हें जन्म नहीं धारण करना पड़ता। फिर आदि सृष्टि के समय ही जिन्हें देहबद्ध नहीं होना पड़ता, भला प्रलयकाल में उनके लिए मृत्यु कहां से आ सकती है ? हे अर्जुन, इसीलिए जो लोग इस ज्ञान का अनुसरण करते हैं, वे जन्म और मृत्यु की परम्परा से उस पार पहुंच जाते हैं और मेरे स्वरूप में विलीन हो जाते हैं।"

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने ज्ञान का महत्त्व इसलिए बड़े प्रेम से अर्जुन को बतलाया जिससे उसके मन में इस ज्ञान

को प्राप्त करने की उत्सुकता और अनुराग बढ़े। श्रीकृष्ण के मुख से यह वर्णन सुनकर इधर अर्जुन की कुछ विलक्षण ही अवस्था हो रही थी। ऐसा जान पड़ता था कि मानों उसके रोम-रोम में कान उत्पन्न हो गये हैं और उनकी एकाग्रता के कारण वह तन्मय हो रहा था। अब भगवान् के प्रेम ने अर्जुन को इस प्रकार व्याप्त कर लिया था कि उसके निरूपण की मर्यादा आकाश में भी नहीं समाती थी। फिर देव ने अर्जुन से कहा—"हे बुद्धिमान् अर्जुन, आज मेरा वक्तृत्व धन्य हुआ है, क्योंकि मेरी वाणी के योग्य श्रोता एक तुम्हीं मुझे आज मिले हो। अच्छा अब मैं तुमको यह बतलाता हूं कि यह त्रिगुण रूपी पारधी मूल के एक स्वरूप अर्थात् मुझको किस प्रकार देह के पाश में फंसाता है और माया के संग के कारण मैं ही किस प्रकार अनेक जगतों का निर्माण करता हूं। तुम ध्यान देकर सुनो।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥

"प्रकृति को क्षेत्र कहने का कारण यह है कि वह मेरे संग रूपी बीज से भूत रूपी फसल उत्पन्न करती है। इसी प्रकृति का नाम महद्ब्रह्म है; और इसका कारण यह है कि महत् आदि जितने तत्त्व हैं, उन सबका यह विश्रान्ति स्थान है। हे अर्जुन, इसी के कारण विकारों को नाना प्रकार के बल प्राप्त होते हैं; और इसीलिए इसको महद्ब्रह्म कहते हैं। अव्यक्तवादी इसी को अव्यक्त कहते हैं और सांख्य मत की प्रकृति भी यही है। वेदान्ती लोग इसी को माया कहते हैं। परन्तु हे ज्ञाता अर्जुन, इस प्रकार के नाम और अभिमान व्यर्थ कहां तक बतलाये जाय। तुम समझ लो कि यह प्रकृति ही अज्ञान है। हे अर्जुन, अपने आत्मस्वरूप की विस्मृति हो जाना ही ऐसा अज्ञान का स्वरूप है। इसके सिवा इसमें एक दूसरो विशेषता यह है कि जिस प्रकार दीपक जलाकर देखने पर अन्धकार नहीं दिखाई देता, उसी प्रकार विचार का स्फुरण होने पर अज्ञान भी नहीं ठहरता। यदि दूध को आग पर रखकर चलाते रहें तो उसकी मलाई नष्ट हो जाती है; परन्तु यदि दूध को स्थिर रहने दिया जाय तो उस पर मलाई जम जाती है। जिस प्रकार गाढ़ निद्रा की अवस्था होती है, जिसमें न तो जाग्रति ही होती है, न स्वप्न ही होता है और न आत्मस्वरूप समाधि ही होती है अथवा वायु का संचार न होने पर जिस प्रकार आकाश तत्त्व बिलकुल शान्त और स्थिर रहता है, उसी प्रकार इस अज्ञान की भी अवस्था है। सामने जो कुछ दिखाई पड़ता है, उसके सम्बन्ध मे दृढ़ निश्चय तो होता ही नहीं कि वह खम्भा है या मनुष्य है, केवल यही भावना होती है कि कुछ दिखाई पडता है, पर न जाने वह क्या है। इसी प्रकार आत्मवस्तु का यथार्थ ज्ञान तो होता ही नहीं, पर साथ ही इस बात का भी कोई दृढ़ निश्चय नहीं होता कि वह ठीक अमुक वस्तु ही है। जिस प्रकार सन्ध्या के समय न तो पूरा दिन ही रहता है और न पूरी रात ही रहती है, उसी प्रकार यह अज्ञान भी न तो आत्मवस्तु के विरुद्ध ही होता है और न अनुकूल ही होता है। इस प्रकार सत्य ज्ञान और विरुद्ध ज्ञान के बीच की जो सन्देह वाली अवस्था होती है, उसी को अज्ञान कहते हैं; और इस अज्ञान में फंसे हुए आत्मतत्त्व को ही क्षेत्रज्ञ कहते हैं। अज्ञान की वृद्धि करने और आत्मस्वरूप को विस्मृत करने को ही क्षेत्रज्ञ कहते हैं। अज्ञान की वृद्धि करने और आत्मस्वरूप को विस्मृत करने को ही क्षेत्रज्ञ का विशिष्ट लक्षण समझना चाहिए। हे अर्जुन, प्रकृति और पुरुष अथवा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का योग जिसे कहते हैं, वह यही है। यह योग आत्मतत्त्व का स्वाभाविक धर्म ही है। अब इस अज्ञान का अनुसरण करके आत्मा आत्मस्वरूप को ही देखती है, परन्तु उसे उसके अनेक रूपों का भास होता है। और उसकी समझ में यह बात नहीं आती कि इनमें से कौन-सा स्वरूप सच्चा और वास्तविक है और कौन-सा मिथ्या या अवास्तविक। जैसे कोई दरिद्र पागल होकर यह कहने लगे कि—'जा रे जा, मैं ही राजा हूं।' अथवा मूर्च्छित होने वाला मनुष्य सावधान होने पर कहने लगे कि—'मैं तो स्वर्गलोक से हो आया।' उसी प्रकार एक बार दृष्टि के भ्रमपूर्ण होने पर जो-जो

पदार्थ भासमान् होते है, उन्ही सबका नाम सृष्टि है यह सृष्टि मुझसे अर्थात् मूल आत्मतत्त्व से उत्पन्न होती है जिस प्रकार स्वप्न में एक ही आदमी भ्रम से यह समझने लगता है कि हम बहुत-से आदमी हैं, उसी प्रकार की दशा आत्मस्वरूप का विस्मरण होने पर आत्मा की भी होती है। अब मैं यही सिद्धान्त ऐसे ढंग से स्पष्ट करता हूं जिसमे तुम्हें कुछ भी शंका न रह जाय। तो भी तुम स्वयं इसका अनुभव करो। मेरी यह अविद्या नाम की कान्ता अनादि, सदा युवती रहने वाली और अवर्णनीय गुणों से युक्त है। यह कभी और किसी तरह नहीं कहा जा सकता कि इसका स्वरूप केवल अमुक प्रकार का ही है, इसके सिवा और किसी प्रकार का नहीं है। इसकी व्यापकता असीम और अपरम्पार है। यह सोये हुए लोगों के पास रहती है और जागे हुए लोगों से दूर रहती है। जब मैं स्वयं सोया रहता हू, तभी यह जागती रहती है और आत्मसत्ता के साथ संयोग होने पर ही यह गर्भ धारण करती है। फिर यह मूल माया अपने उदर में प्रकृतिजन्य आठ विकारों के गर्भ की वृद्धि करती है। इन प्रकृति और पुरुष का संयोग होने पर पहले बुद्धि-तत्त्व उत्पन्न होता है और तब उस बुद्धि-तत्त्व से ओत-प्रोत भरा हुआ मन जन्म लेता है। जब इस मन की यौवनावस्था आती है, तब यह अहंकार तत्त्व को उत्पन्न करता है और उस अहंकार से महाभूतों का अस्तित्व होता है। भूतों का यह स्वभाव ही है कि वे विषयों और इन्द्रियों के साथ आपसे आप संलग्न रहते हैं और इसीलिए भूतों के साथ-ही-साथ इन्द्रियां और विषय भी उत्पन्न होते हैं। जब इस प्रकार विकारों की वृद्धि होती है, तब तीनो गुण उनकी पीठ पर आपसे आप खड़े रहते हैं और उनके साथ-ही-साथ वासना भी जन्म धारण करती है। जिस प्रकार पानी मिलते ही बीज का कण वृक्ष उत्पन्न करने का उपक्रम करने लगता है, उसी प्रकार मेरे संग की प्राप्ति होते ही अविद्या या मूल माया आपसे आप अनेक नाम-रूपात्मक जगतों के अंकुर उत्पन्न करने लगती है। अब हे सुजनश्रेष्ठ, तुम यह सुनो कि उस गर्भ को रूप किस प्रकार प्राप्त होता है। उसमें अंडज, स्वेदज, उद्भिज्ज और जारज ये चार विभाग उत्पन्न होते हैं। आकाश और वायु के योग से मणिज या अंडज नाम का विभाग उत्पन्न होता है। जब उदर में तम और रज नामक गुणों से युक्त होकर तेज के साथ जल-तत्त्व की प्रबलता होती है, तब स्वेदज विभाग उत्पन्न होता है। जल और पृथ्वी नामक तत्त्वों की प्रबलता होने पर जब उसमें केवल तमोगुण रहता है, तब निम्न कोटि का स्थावर वर्ग उत्पन्न होता है; और उसी को उद्भिज्ज नामक विभाग समझना चाहिए। जब पांचों कर्मेन्द्रियां और पांचों ज्ञानेन्द्रियां परस्पर सहायक होने लगती हैं और मन तथा बुद्धि आदि से युक्त हो जाती है, तब जारज विभाग सिद्ध होता है। इस प्रकार मूल माया के घर एक ऐसा विलक्षण पुत्र उत्पन्न होता है। जिसके ये चारों विभाग चार सरल हाथ-पैर समझने चाहिए, और मूल की अष्टधा प्रकृति को जिसका मस्तक मानना चाहिए, प्रवृत्ति जिसका बढ़ा हुआ पेट है, निवृत्ति सीधी पीठ है, आठ देवयोनियां जिसके शरीर के ऊपरी भाग हैं, स्वर्ग जिसका विकसित होने वाला कंठप्रदेश है, मृत्युलोक जिसकी कमर है और पाताललोक जिसका कमर से नीचे का नितम्ब वाला भाग है। तीनों लोकों का विस्तार इस बालक की बढ़ती हुई बाल्यावस्था है। चौरासी लाख योनिया उसकी हड्डियों और पसलियों की सन्धियां हैं। बस यह बालक दिन-पर-दिन बढ़ने लगा। यह माया उस बालक के अंगों पर नाना प्रकार के नाम-रूपों के अलंकार पहनाकर उसे नित्य नया अज्ञान रूपी दूध पिलाने लगी। उस बालक के हाथों में उसने भिन्न-भिन्न सृष्टि रूपी अंगूठियां पहनाईं। उनमें से प्रत्येक अंगूठी की चमक कुछ निराली ही है। इस प्रकार अपने इस एकलौते चराचर स्वरूप और अप्रतिम सुन्दर बालक का प्रसव करके वह प्रकृति अपने आपको धन्य समझने लगी। इस बालक का प्रभातकाल ब्रह्मा है, मध्याह्नकाल विष्णु है और सन्ध्याकाल शंकर है। जब यह बालक खेल खेलकर थक जाता है, तब महाप्रलय के बिछौने पर स्वस्थ होकर सोता है; और फिर जब नवीन कल्प का उदय होता है, तब विपरीत ज्ञान से अर्थात् अज्ञान के मोह से जाग्रत होता है। हे अर्जुन, इस प्रकार अज्ञान के घर में यह बालक क्रीड़ाएं और कौतुक करता हुआ युग-परंपरा के डग भरने लगता है। संकल्प और विकल्प इस

बालक के प्रिय मित्र हैं और अहंकार खेल खेलने में इसका साथी है। इस बालक का अन्त केवल सत्य ज्ञान से ही होता है। परन्तु इस विषय का बहुत अधिक विस्तार हो चुका। इस प्रकार माया ने इस विश्व की रचना की है और इस काम में मेरी सत्ता का उसने उपयोग किया है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

''इसलिए, हे अर्जुन, मैं तो पिता हूं, महद्ब्रह्म मूल माया माता है और यह भासमान् जगत् हम लोगों का लड़का है। परन्तु तुम संसार में अनेक प्रकार के शरीर देखकर अपने मन में भेदभाव मत उत्पन्न होने दो, क्योंकि मन और बुद्धि आदि सब एकरूप ही हैं। क्या एक ही शरीर में भिन्न-भिन्न अवयव नहीं हुआ करते ! इसी प्रकार नाना रूपों में भासमान् होने वाला यह विश्व मूलतः एक ही है। जिस प्रकार एक ही बीज से वृक्ष की बड़ी और छोटी अनेक प्रकार की टहनियां उत्पन्न होती हैं, अथवा जिस प्रकार के सम्बन्ध के कारण मिट्टी से घट नामक बालक उत्पन्न होता है अथवा कपास के तन्तुओं के गर्भ से पट नामक पोता उत्पन्न होता है अथवा जिस सम्बन्ध के द्वारा सागर को तरंगों के रूप में सन्तानें होती हैं, इस चराचर जगत् के साथ मेरा भी उसी प्रकार का सम्बन्ध है। इसीलिए जिस प्रकार अग्नि और ज्योति दोनों केवल अग्नि ही हैं, उसी प्रकार यह सारा विश्व भी मैं ही हूं। यह सच्चा और निर्दोष ज्ञान तुम अपने मन में खूब अच्छी तरह बैठा लो। मैं स्वयं अपने आपको ही भिन्न-भिन्न शरीर में अलग-अलग भासित कराता हूं, और यह बात तुम अपने ध्यान में रखो कि इसका कारण मेरा उत्पन्न किया हुआ तीनों गुणों का बन्धन ही है। हे अर्जुन, जिस प्रकार हम स्वप्न में स्वयं अपना ही मरण भोगते हैं अथवा जिस प्रकार कमल रोग होने पर पीली तो स्वयं रोगी की आंखें होती हैं, परन्तु उसे संसार की सभी वस्तुएं पीली दिखाई देने लगती हैं अथवा सूर्य का प्रकाश प्रकट होने पर मेघ दिखाई देते हैं और जब मेघों से सूर्य ढंक जाता है, तब भी वे मेघ सूर्य के प्रकाश से ही दिखाई देते हैं अथवा स्वयं हमसे जो छाया उत्पन्न होती है, उसी को देखकर हम डर जाते हैं, परन्तु वास्तव में वह छाया हमसे भिन्न नहीं होती, उसी प्रकार मैं ही अनेक प्रकार के शरीर दिखलाकर भेदभाव को प्राप्त होता हूं। इस कार्य में मेरे लिए एक बन्धन होता है; वह भी सुन लो। हमारे आत्मस्वरूप के अज्ञान के कारण ही यह प्रश्न होता है कि मैं बद्ध हूं अथवा मुक्त हूं। इसलिए, भइया अर्जुन, अब तुम यह भी सुन लो कि किन गुणों के कारण मैं स्वयं अपने आपको बद्ध के समान दिखाई पड़ता हूं। अब तुम यह सारा रहस्य सुनो कि गुण कितने हैं, उनके धर्म कौन-कौन-से हैं, उनके लक्षण तथा नाम क्या हैं और उनकी उत्पत्ति कहां से होती है।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६॥

''ये गुण तीन हैं, और इनके नाम सत्त्व, रज और तम हैं। इनकी उत्पत्ति प्रकृति से ही होती है। इनमें से सत्त्व गुण उत्तम है, रजोगुण मध्यम है, और तमोगुण अधम है। ये तीनों गुण एक ही मनोवृत्ति में भी हो सकते हैं, जिस प्रकार एक ही शरीर में बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था तीनों ही विकार दिखाई पड़ते हैं, अथवा खरे सोने में ज्यों-ज्यों खोट अधिक मिलाया जाता है, त्यों-त्यों कसौटी पर कसने से उसका कस मद्धिम पड़ता जाता है और पन्द्रह कस का सोना अन्त में पांच ही कस का बन जाता है अथवा जब सावधानता आलस्य में डूब जाती है, तब निद्रा आकर अपना अधिकार जमा लेती है, उसी प्रकार अज्ञान का आलिंगन करके जो वृत्ति विस्मृत होती है, वह

सत्त्वगुण और रजोगुण से अंकित होकर अन्त में तमोगुण से भी पूर्ण हो जाती है। हे अर्जुन, इनका नाम तो गुण है ही, परन्तु अब यह भी सुन लो कि ये गुण बन्धक किस प्रकार होते हैं। जब आत्मा क्षेत्रज्ञ वाली दशा में अर्थात जीवात्म स्वरूप में शरीर में जरा-सा भी प्रवेश करती है, तब वह यही कहना आरम्भ करती है कि यह शरीर ही मैं हूं। फिर जन्म से लेकर मरणपर्यन्त सभी देह-धर्मों के विषयों में उसका सदा यही अभिमान बना रहता है। मछली के मुंह में ज्यों ही आमिष पड़ता है, त्यों ही मछुआ उसे पकड़कर खींच लेता है। ज्यों ही इस प्रकार का तनिक भी अभिमान होता है, त्यों ही सत्त्व रूपी व्याधा सुख और ज्ञान का जाल खींचने लगता है और जीवात्मा उस जाल में हिरन की भांति अच्छी तरह फंस जाती है। वह ज्ञान के अभिमान से बड़बड़ाती है, ज्ञातृत्व के कारण झटपटाती है और हाथ में आया हुआ आत्मसुख गंवा बैठती है। उस अवस्था में यदि कोई उसकी विद्वत्ता का आदर करता है तो उसको बहुत सन्तोष होता है, यदि उसे थोड़ा-सा सुख प्राप्त होता है तो बहुत आनन्द होता है और तब उसे इस बात का अभिमान होने लगता है कि मैं वास्तव में खूब सुखी हूं। उस समय जीवात्मा कहता है—'क्या सचमुच यह मेरा सौभाग्य नहीं है ! भला मेरे समान और कौन सुखी है !' इस तरह की बातें कहते-कहते ही उसमें आठों सात्त्विक भावों का वेगपूर्वक संचार होने लगता है। परन्तु यह गाड़ी यहीं नहीं रुक जाती। इसके मार्ग में एक और अड़चन आ खड़ी होती है। वह यह कि विद्वत्ता के भूत की हवाएं उसके अंगों में खेलने लगती हैं। उसे इस बात का कुछ भी दुःख नहीं होता कि मैं मूलतः ज्ञान-स्वरूप था और मैंने अपना वह मूल स्वरूप नष्ट कर दिया है। और इसका कारण यही है कि वह स्वयं अपने ही ज्ञान से फूलकर आकाश के समान हो जाता है। जिस प्रकार कोई राजा स्वप्न में भिखारी हो जाता है और उस दीनावस्था में स्वयं अपनी राजधानी में प्रवेश करके अन्न और भिक्षा मिलने पर गर्व से कहने लगता है—"क्या मैं इन्द्र के समान भाग्यवान् नहीं हूं ?" उसी प्रकार निराकार केवलात्मा जब देहवान् जीवात्मा का रूप धारण कर लेती है, तब वह भी बाह्य ज्ञान से भ्रमित हो जाती है। वह व्यवहार-शास्त्र में चतुर हो जाती है, याज्ञिकी विद्या का उसे अच्छा ज्ञान हो जाता है; केवल यही नहीं बल्कि अपने ज्ञान के गर्व के कारण उसे स्वर्ग भी तुच्छ जान पड़ने लगता है। फिर वह शेखी हांकती है कि मेरे सिवा और कोई ज्ञानी नहीं है। जिस प्रकार आकाश में चन्द्रमा विलास करता है उसी प्रकार मेरे चित्त में चातुर्य विलास करता है। इस प्रकार सत्त्वगुण जीवात्मा को सुख और ज्ञान की डोरी में बांध लेता है और उसकी दशा अपाहिज के बैल के समान कर देता है। अब मैं तुमको यह बतलाता हूं कि वही शरीरधारी जीवात्मा रजोगुण से किस प्रकार बांधा जाता है। सुनो।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥

"इसे रज कहने का कारण यह है कि इससे जीवात्मा का रंजन होता है। यह सदा विषय-वासनाओं से लिप्त रहता है। जब यह रज बहुत ही थोड़ी मात्रा में भी जीवात्मा में अपना प्रवेश कर लेता है, तब वह विषय-भोग की इच्छा के मार्ग पर चल पड़ता है और वासना की वायु पर आरूढ़ हो जाता है। जिस प्रकार घी से सींचा हुआ और दहकते हुए अंगारों से भरा हुआ होम-कुंड सदा थोड़ा-बहुत सुलगता ही रहता है, उसी प्रकार विषयों के प्रति होने वाला अनुराग भी बराबर बना रहता और बढ़ता चलता है, दुःखमिश्रित विषय भी मीठे लगने लगते हैं और यदि स्वयं इन्द्र का भी वैभव प्राप्त हो जाय तो वह भी थोड़ा ही जान पड़ता है। जब यह तृष्णा अच्छी तरह प्रवल हो जाती है, तब यदि मेरु पर्वत भी हाथ आ जाय, तो विषयों की प्राप्ति के लिए जीव उससे भी कहीं अधिक भयंकर साहस का कृत्य करने को उद्यत हो जाता है। इस प्रकार के कार्यों के लिए वह अपने प्राणों को बिलकुल तुच्छ समझकर उन्हें निछावर कर देने के लिए तैयार हो जाता है; और यदि उस प्रयत्न में एक तिनका भी उसके हाथ आ जाता है तो वह अपना जन्म सार्थक मानने लगता है। वह सोचता है कि मेरे हाथ में इस समय जो कुछ है,

जाती है कि यदि उसे कोई प्रत्यक्ष अमृत भी देने लगे तो उसे इतना होश भी नहीं होता कि उठकर वह अमृत हाथ में ले सके। यदि कभी बहुत जबरदस्ती उसे कोई काम भी करना पड़ता है तो वह क्रोध से मानों अन्धा हो जाता है। उस समय उसकी समझ में कुछ भी नहीं आता कि अब किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, किसके साथ किस तरह की बातें करनी चाहिए और अमुक कार्य हो सकने के योग्य है या नहीं। जिस प्रकार कोई पतिंगा केवल अपने पंखों की सहायता से ही जंगल में लगी हुई आग बुझाने का हौसला अपने मन में रखता है, उसी प्रकार वह भी साहस में प्रवृत्त होता है और धृष्टतापूर्वक असम्भव कार्यों में हाथ डाल बैठता है। केवल अविचार करना ही उसे अच्छा लगता है। इस प्रकार निद्रा, आलस्य और अविचार के तीनों बन्धनों से तमोगुण उस आत्मा को कसकर बांध लेता है जो मूलतः निरजन और शुद्ध होती है। जब किसी लकड़ी में आग लग जाती है, तब वह आग उस लकड़ी के आकार और रूप में ही भासमान होती है और घड़े के अन्दर समाया हुआ आकाश घट के आकार का ही भासमान होता है और उसे लोग घटाकाश ही कहते हैं। भरे हुए सरोवर में चन्द्रमा का बिम्ब पड़ा हुआ दिखाई देता है। ठीक इसी प्रकार इन गुणों से युक्त होने पर आत्मतत्त्व भी बद्ध-सा जान पड़ता है।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु ममः प्रमादे संजयत्युत ॥९॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

"जब कफ और वात को निर्बल करके शरीर में पित्त प्रबल होता है, तब शरीर में ताप हो जाता है। जब पावस और ग्रीष्म का बल तोड़कर शीतलता आती है, तब वातावरण में शीत का संचार होता है। जब स्वप्न और जाग्रति दोनों ही अवस्थाओं का लोप हो जाता है और केवल सुषुप्ति की ही दशा बाकी रह जाती है, तब चित्तवृत्ति कुछ देर के लिए सुषुप्तिमय ही हो जाती है। ठीक इसी प्रकार जब सत्त्व गुण प्रबल होता है, तब वह रज और तम दोनों को दबा देता है और जीव के मुख से इस प्रकार का उद्‌गार निकलता है कि—'मैं कितना अधिक सुखी हूं!' ठीक इसी प्रकार जब सत्त्व और रज को दबाकर तमोगुण बढ़ जाता है, तब वह जीव को सहज में ही प्रमाद के वश में कर देता है। इसी प्रकार जब सत्त्व और तम को दबाकर रजोगुण प्रबल होता है, तब देह का स्वामी जीवात्मा यह मानने लगता है कि कर्म से बढ़कर अच्छी और कोई बात नहीं है।" इन तीनों गुणों की वृद्धि का विषय तीन श्लोक में बतलाया गया है। तो भी आप लोग अब सावधान होकर यह सुनें कि सत्त्व आदि तीनों गुणों की वृद्धि किस प्रकार होती है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

वह सब यदि मैं आज ही व्यय कर दूं तो भी हर्ज नहीं है, पर कल क्या करूंगा ! और इस प्रकार की विलक्षण आशा मन में रखकर वह अपने व्यवहार का विस्तार करता है। वह कहता है कि स्वर्ग जाना तो उचित ही है, परन्तु स्वर्गलोक में जाने पर वहां खाऊंगा क्या ! और आगे की इसी चिन्ता के कारण वह यज्ञ-कर्मों के फेर में पड़ता हे। अब वह व्रतों का क्रम आरम्भ करता है और सार्वजनिक कुएं और तालाब आदि बनवाता और इष्टपूर्ति के कृत्य करता है। परन्तु मन में कामिक वासना रखे बिना वह कभी कोई काम नहीं करता। हे अर्जुन, जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु की वायु विश्राम करना जानती ही नहीं, उसी प्रकार वह जीव भी विश्राम करना नहीं जानता और दिन-रात व्यवहार की धुन में लगा रहता है। वासनाओं से पूर्ण रूप से लिप्त वह जीव इतनी तीव्रता और वेग से अपने उद्देश्य की सिद्धि में लगता है कि उसके सामने मछली की चंचलता भी अथवा कामिनी के कटाक्ष की चंचलता भी कोई चीज नहीं है। इस प्रकार की विलक्षण धांधली और वेग से ऐहिक और पारलौकिक विषयों का लोभी वह जीव क्रिया-कर्मो की अग्नि में कूद पड़ता है। इस प्रकार वह देहधारी जीवात्मा वास्तविक शरीर से भिन्न होने पर भी स्वयं ही वासनाओं की बेड़ियां डाल लेता है और नाना प्रकार के व्यवसायों की शृंखलाएं अपने गले में पहन लेता है। इस प्रकार रजोगुण का भयंकर बन्धन इस देह में रहने वाले और इसे धारण करने वाले जीवात्मा को कसकर बाध लेता है। अब तुम तमोगुण की बन्धक शक्ति का वर्णन सुनो।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

"जिस परदे के कारण व्यवहार-ज्ञान की दृष्टि भी मन्द हो जाती है, जो मोह रूपी अंधेरी रात के घर काले मेघों के समान हैं, जिसमें अज्ञान का ही जीवन सदा लगा रहता है, जिसके भुलावे में पड़कर यह विश्व मदान्ध होकर नाचता रहता है, जो अविचार का मूल मन्त्र है, जो मूर्खता रूपी मदिरा का प्याला है, यहां तक कि जो जीवो के लिए केवल मोहनास्त्र हो गया है, हे अर्जुन, वही तम है। वह अपनी युक्ति से देहाभिमानियों को चारों ओर से खूब कसकर जकड़ लेता है। जब वह अकेला ही स्थावर और जंगम में एक बार बढ़ने लगता है, तब वहां और किसी गुण का कुछ भी वश नहीं चलता है। इसके कारण सब इन्द्रियों में जड़ता आ जाती है, मूर्खता आकर मन को दबा लेती है और आलस्य की वृद्धि होने लगती है। तब वह जीव अपने अंगो को ऐंठने लगता है, काम-धन्धे की ओर से उसे अरुचि हो जाती है और उसे केवल जंभाइयों पर जंभाइयां आने लगती हैं। हे अर्जुन, उस अवस्था मे आंखें खुली रहने पर भी उस जीव को कुछ भी दिखाई नहीं देता; और यदि उसे कोई आवाज न भी दे, तो भी वह इतना अधिक भ्रमिष्ठ हो जाता है कि व्यर्थ आप ही 'हां' कहकर उठ खड़ा होता है। जिस प्रकार पत्थर एक बार जमीन पर गिरने के उपरान्त कभी अपने स्थान से हिलना-डुलना नहीं जानता उसी प्रकार जब वह मनुष्य एक बार पड़ जाता है, तब फिर वह करवट बदलना भी नहीं जानता। पृथ्वी चाहे धंसकर पाताल चली जाय और चाहे ऊपर उठकर आकाश तक पहुंच जाय, परन्तु वह पत्थर की तरह अपनी जगह पर खड़ा रहता है और उठने का नाम भी नहीं लेता। जब वह एक बार चुपचाप आराम से पड़ जाता है, तब उसे इस बात का भी ध्यान नहीं रह जाता कि उचित क्या है और अनुचित क्या है। उसके मन में केवल यह इच्छा रह जाती है कि मैं जहां-का-तहा पडा हुआ लोटता रहूं। वह या तो हाथ उठाकर उस पर गाल रख लेता है और या घुटनों में ही अपना सिर छिपा लेता है। उसे निद्रा की इतनी अधिक लालसा रहती है कि जब एक बार उसे नींद आ जाती है, तब वह यही समझने लगता है कि मानों मुझे स्वर्ग ही मिल गया। उसका केवल यही जी चाहता है कि मुझे ब्रह्मा के समान आयुष्य प्राप्त हो और मैं वह सारा आयुष्य केवल सोने में बिता दूं। यदि वह रास्ता चलते समय बीच में कहीं जरा-सा रुक जाता है, तो वहीं बैठकर ऊंघने लगता है। जब एक बार वह निद्रा के वश में हो जाता है, तब उसकी ऐसी अवस्था हो

जह सब यदि मैं आज ही व्यय कर दूं तो भी हर्ज नहीं है, पर कल क्या करूंगा ! और इस प्रकार की विलक्षण आशा मन में रखकर वह अपने व्यवहार का विस्तार करता है। वह कहता है कि स्वर्ग जाना तो उचित ही है, परन्तु स्वर्गलोक में जाने पर वहां खाऊंगा क्या ! और आगे की इसी चिन्ता के कारण वह यज्ञ-कर्मों के फेर में पड़ता है। अब वह व्रतों का क्रम आरम्भ करता है और सार्वजनिक कुएं और तालाब आदि बनवाता और इष्टपूर्ति के कृत्य करता है। परन्तु मन में कामिक वासना रखे विना वह कभी कोई काम नहीं करता। हे अर्जुन, जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु की वायु विश्राम करना जानती ही नहीं, उसी प्रकार वह जीव भी विश्राम करना नहीं जानता और दिन-रात व्यवहार की धुन में लगा रहता है। वासनाओं से पूर्ण रूप से लिप्त वह जीव इतनी तीव्रता और वेग से अपने उद्देश्य की सिद्धि में लगता है कि उसके सामने मछली की चंचलता भी अथवा कामिनी के कटाक्ष की चंचलता भी कोई चीज नहीं है। इस प्रकार की विलक्षण धांधली और वेग से ऐहिक और पारलौकिक विषयों का लोभी वह जीव क्रिया-कर्मों की अग्नि में कूद पड़ता है। इस प्रकार वह देहधारी जीवात्मा वास्तविक शरीर से भिन्न होने पर भी स्वयं ही वासनाओं की बेड़ियां डाल लेता है और नाना प्रकार के व्यवसायों की शृंखलाएं अपने गले में पहन लेता है। इस प्रकार रजोगुण का भयंकर वन्धन इस देह में रहने वाले और इसे धारण करने वाले जीवात्मा को कसकर बांध लेता है। अब तुम तमोगुण की बन्धक शक्ति का वर्णन सुनो।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

"जिस परदे के कारण व्यवहार-ज्ञान की दृष्टि भी मन्द हो जाती है, जो मोह रूपी अंधेरी रात के घर काले मेघों के समान हैं, जिसमें अज्ञान का ही जीवन सदा लगा रहता है, जिसके भुलावे में पड़कर यह विश्व मदान्ध होकर नाचता रहता है, जो अविचार का मूल मन्त्र है, जो मूर्खता रूपी मदिरा का प्याला है, यहां तक कि जो जीवों के लिए केवल मोहनास्त्र हो गया है, हे अर्जुन, वही तम है। वह अपनी युक्ति से देहाभिमानियों को चारों ओर से खूब कसकर जकड़ लेता है। जब वह अकेला ही स्थावर और जंगम में एक बार बढ़ने लगता है, तब वहां और किसी गुण का कुछ भी वश नहीं चलता है। इसके कारण सब इन्द्रियों में जड़ता आ जाती है, मूर्खता आकर मन को दबा लेती है और आलस्य की वृद्धि होने लगती है। तब वह जीव अपने अंगो को ऐंठने लगता है, काम-धन्धे की ओर से उसे अरुचि हो जाती है और उसे केवल जंभाइयों पर जंभाइयां आने लगती हैं। हे अर्जुन, उस अवस्था में आंखें खुली रहने पर भी उस जीव को कुछ भी दिखाई नहीं देता; और यदि उसे कोई आवाज न भी दे, तो भी वह इतना अधिक भ्रमिष्ठ हो जाता है कि व्यर्थ आप ही 'हां' कहकर उठ खड़ा होता है। जिस प्रकार पत्थर एक बार जमीन पर गिरने के उपरान्त कभी अपने स्थान से हिलना-डुलना नहीं जानता उसी प्रकार जब वह मनुष्य एक बार पड़ जाता है, तब फिर वह करवट बदलना भी नहीं जानता। पृथ्वी चाहे धंसकर पाताल चली जाय और चाहे ऊपर उठकर आकाश तक पहुंच जाय, परन्तु वह पत्थर की तरह अपनी जगह पर खड़ा रहता है और उठने का नाम भी नहीं लेता। जब वह एक बार चुपचाप आराम से पड़ जाता है, तब उसे इस बात का भी ध्यान नहीं रह जाता कि उचित क्या है और अनुचित क्या है। उसके मन में केवल यह इच्छा रह जाती है कि मैं जहां-का-तहां पड़ा हुआ लोटता रहूं। वह या तो हाथ उठाकर उस पर गाल रख लेता है और या घुटनों में ही अपना सिर छिपा लेता है। उसे निद्रा की इतनी अधिक लालसा रहती है कि जब एक बार उसे नींद आ जाती है, तब वह यही समझने लगता है कि मानों मुझे स्वर्ग ही मिल गया। उसका केवल यही जी चाहता है कि मुझे ब्रह्मा के समान आयुष्य प्राप्त हो और मैं वह सारा आयुष्य केवल सोने में बिता दूं। यदि वह रास्ता चलते समय बीच में कहीं जरा-सा रुक जाता है, तो वहीं बैठकर ऊंघने लगता है। जब एक बार वह निद्रा के वश में हो जाता है, तब उसकी ऐसी अवस्था हो

जाता है कि यदि उसे कोई प्रत्यक्ष अमृत भी देने लगे तो उसे इतना होश भी नहीं होता कि उठकर वह अमृत हाथ में ले सके। यदि कभी बहुत जबरदस्ती उसे कोई काम भी करना पड़ता है तो वह क्रोध से मानों अन्धा हो जाता है। उस समय उसकी समझ में कुछ भी नहीं आता कि अब किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, किसके साथ किस तरह की बातें करनी चाहिए और अमुक कार्य हो सकने के योग्य है या नहीं। जिस प्रकार कोई पतिंगा केवल अपने पंखों की सहायता से ही जंगल में लगी हुई आग बुझाने का हौसला अपने मन में रखता है, उसी प्रकार वह भी साहस में प्रवृत्त होता है और धृष्टतापूर्वक असम्भव कार्यों में हाथ डाल बैठता है। केवल अविचार करना ही उसे अच्छा लगता है। इस प्रकार निद्रा, आलस्य और अविचार के तीनों बन्धनों से तमोगुण उस आत्मा को कसकर बांध लेता है जो मूलतः निरंजन और शुद्ध होती है। जब किसी लकड़ी में आग लग जाती है, तब वह आग उस लकड़ी के आकार और रूप में ही भासमान होती है और घड़े के अन्दर समाया हुआ आकाश घट के आकार का ही भासमान होता है और उसे लोग घटाकाश ही कहते हैं। भरे हुए सरोवर में चन्द्रमा का बिम्ब पड़ा हुआ दिखाई देता है। ठीक इसी प्रकार इन गुणों से युक्त होने पर आत्मतत्त्व भी बद्ध-सा जान पड़ता है।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥९॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

"जब कफ और वात को निर्बल करके शरीर में पित्त प्रबल होता है, तब शरीर में ताप हो जाता है। जब पावस और ग्रीष्म का बल तोड़कर शीतलता आती है, तब वातावरण में शीत का संचार होता है। जब स्वप्न और जाग्रति दोनों ही अवस्थाओं का लोप हो जाता है और केवल सुषुप्ति की ही दशा बाकी रह जाती है, तब चित्तवृत्ति कुछ देर के लिए सुषुप्तिमय ही हो जाती है। ठीक इसी प्रकार जब सत्त्व गुण प्रबल होता है, तब वह रज और तम दोनों को दबा देता है और जीव के मुख से इस प्रकार का उद्‌गार निकलता है कि–'मैं कितना अधिक सुखी हूं !' ठीक इसी प्रकार जब सत्त्व और रज को दबाकर तमोगुण बढ़ जाता है, तब वह जीव को सहज में ही प्रमाद के वश में कर देता है। इसी प्रकार जब सत्त्व और तम को दबाकर रजोगुण प्रबल होता है, तब देह का स्वामी जीवात्मा यह मानने लगता है कि कर्म से बढ़कर अच्छी और कोई बात नहीं है।" इन तीनों गुणों की वृद्धि का विषय तीन श्लोक में बतलाया गया है। तो भी आप लोग अब सावधान होकर यह सुनें कि सत्त्व आदि तीनों गुणों की वृद्धि किस प्रकार होती है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

जिस समय रज और तम को दबाकर सत्त्व इस शरीर पर अपना एकतन्त्री सत्ता स्थापित कर लेता है, उस समय मनुष्य में नीचे लिखे लक्षण दिखाई देने लगते हैं। वसन्त-ऋतु में कमल की सुगन्ध स्वयं कमल में ही न समाकर जिस प्रकार चारों ओर फैलने लगती है, उसी प्रकार उस मनुष्य का ज्ञान अन्दर न समा सकने के कारण बाहर निकलने लगता है। सभी इन्द्रियों में विवेक-बुद्धि बसी रहती है; और हम यह भी कह सकते हैं कि उसके कारण हाथों और पैरों को एक अद्भुत दृष्टि प्राप्त हो जाती है। यदि राजहंस के सामने यह प्रश्न उपस्थित हो कि दूध कौन-सा है और पानी कौन-सा है, तो जिस प्रकार उसकी चोंच ही इस प्रश्न का निर्णय कर देती है, उसी प्रकार योग्य और अयोग्य, पाप और पुण्य आदि को परखकर उनका निर्णय करने का काम उसकी इन्द्रियां आपसे आप करने लगती हैं और नियम अर्थात् इन्द्रिय-निग्रह तो मानों उसका सेवक ही हो जाता है। जो बात सुनने के योग्य नहीं होती उसे उसके कान आपसे आप टाल जाते हैं, जो चीज नहीं देखने के योग्य होती, उसका बहिष्कार उसकी दृष्टि स्वयं ही कर देती है और जो बात नहीं कहने के योग्य होती, उसकी ओर उसकी जीभ कभी प्रवृत्त ही नही होती। जिस प्रकार दीपक की ज्योति के सामने से अन्धकार भाग जाता है, उसी प्रकार निषिद्ध कर्म भी उसकी इन्द्रियों के सामने ठहरते ही नहीं और तुरन्त भाग जाते हैं। जिस प्रकार वर्षा-ऋतु में कोई बड़ी नदी खूब बढ़ जाती है, उसी प्रकार उसकी बुद्धि भी सब शास्त्रों में पूर्ण रूप से संचार करती है। जिस प्रकार पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा की प्रभा खूब जोरों से आकाश में फैलती है, वैसे ही उसकी वृत्ति भी ज्ञान के प्रान्त मे खूब स्वतन्त्रापूर्वक चारों ओर विहार करती है। वासना-वृत्ति एक स्थान में स्थिर हो जाती है, प्रवृत्तियां आगे की ओर बढ़ने से रुक जाती हैं और मन विषय-भोगों की ओर से विरक्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि जब सत्त्व गुण की वृद्धि होती है, तब मनुष्य मे यही सब लक्षण स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगते हैं। और यदि इसी अवस्था में उसकी मृत्यु हो जाय तो मानों वैसा ही आनन्द का योग उपस्थित होता है, जैसा सुकाल पड़ने पर और घर में उत्तम पक्वान्न बनने पर और स्वर्ग मे किसी प्रिय अतिथि के आ जाने पर होता है। घर में जैसी सम्पत्ति होती है, यदि अन्तरंग की वृत्ति भी वैसी उदार और धीर हो तो भला परलोक-साधन के साथ-ही-साथ इहलोक साधन भी क्यों न हो ? हे अर्जुन, भला ऐसे पुरुष की उपमा कहां मिल सकती है ? इसी प्रकार जो सत्त्वगुण से सम्पन्न हो, उसकी इसके सिवा और कौन-सी गति हो सकती है ? कारण यह है कि जीवात्मा जब चरम सीमा तक पहुंचा हुआ शुद्ध सत्त्व साथ लेकर यह भोग-साधक देह रूपी घोंसला छोड़कर बाहर निकलता है और इस प्रकार की सत्व-सम्पन्न स्थिति में अकस्मात् इस शरीर से छूटता है, वह केवल सत्त्व की ही मूर्ति होता है और आगे चलकर वह ज्ञानीजन में जन्म लेता है। हे अर्जुन, यदि राजा अपना सारा वैभव अपने साथ लेकर किसी पर्वत पर चला जाय तो तुम्हीं बतलाओ कि क्या वहां उसके महत्त्व में किसी तरह की कमी हो सकती है ? अथवा हे अर्जुन, यदि एक गांव का दीपक उठाकर किसी दूसरे गांव में पहुंचा दिया जाय तो भी क्या वह दीपक ही नहीं बना रहता ? ठीक इसी प्रकार उस शुद्ध सत्व के कारण ज्ञान की विलक्षण वृद्धि होती है और बुद्धि विवेक रूपी सागर में तैरने लगती है। फिर महद् आदि समस्त तत्त्वों का यथा सांग विचार करके अन्त में जो जीव आत्मस्वरूप में मिलकर समरस हो जाता है और उस शुद्ध ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, जो छत्तीसों तत्त्वों से भी परे का सैंतीसवां तत्त्व है (देखो तेरहवें अध्याय का आरम्भ) अथवा जो सांख्य में बतलाये हुए चौबीसों तत्त्वो से भी परे का पचीसवां तत्त्व है, जो गुण-त्रय, देह-त्रय और अवस्था-त्रय आदि सबसे आगे या परे का और चौथा है और जो शुद्ध सत्त्व है, वह उस सर्वोत्तम सत्त्व के बल पर ऐसा शरीर प्राप्त करता है, जिसकी इस संसार में कोई उपमा ही नहीं है। इसी प्रकार तम और सत्त्व इन दोनों गुणों को दबाकर जब रजोगुण बलवान् होता है, तब वह अपने कार्यक्रम से इस देह-रूपी ग्राम में धमाचौकड़ी मचा देता है। उस समय मनुष्य में जो लक्षण उत्पन्न होते हैं, वह भी सुन लो। जिस प्रकार आंधी आरम्भ होने पर बहुत-सी चीजों को एकत्र करके

आसमान में उड़ा ले जाती है, उसी प्रकार जब रजोगुण का आवेश या प्रबलता होती है, तब वह इन्द्रियों को विषयों का भोग करने के लिए बिलकुल मुक्त कर देता है। पराई स्त्री पर कामुकतापूर्ण दृष्टि से देखने को वह नीति-विरुद्ध नहीं समझता और बकरी के मुंह की तरह वह अपनी इन्द्रियों को अनिर्बंध रूप से चारों ओर चरने देता है। उसकी विषय-लालसा इतनी अधिक बढ़ जाती है कि उससे केवल वही चीज बच सकती है, जो किसी तरह उसके हाथ में नहीं आ सकती। हे अर्जुन, उसके सामने जो उलटा-सीधा काम आता है, उसकी प्रवृत्ति उस कार्य की ओर हुए बिना नहीं रहती। कभी-कभी उसके सिर पर ऐसी बेढब धुन भी सवार हो जाती है कि कोई बहुत बड़ा भवन या मन्दिर बनवाना चाहिए अथवा अश्वमेध यज्ञ करना चाहिए। वह यह भी सोचता है कि कोई नगर बसाना चाहिए, वापी या जलाशय आदि बनवाने चाहिए अथवा अनेक प्रकार के बड़े-बड़े बाग लगवाने चाहिए। वह इस प्रकार के बहुत बड़े-बड़े कार्य आरम्भ करता है और उसकी पारलौकिक तथा ऐहिक सुखों की लालसा कभी पूरी नहीं होती। उसके अन्तःकरण में सुख की ऐसी अपरम्पार और प्रचंड अभिलाषा सदा भरी रहती है जिसके सामने महासागर का असीम विस्तार और गहराई कोई चीज नहीं होती और जिसके आगे अग्नि की दाहक शक्ति का भी कोई मूल्य या महत्त्व नहीं रह जाता। उसके मन के आगे-आगे भोग-लालसा आशा के वशीभूत होकर बराबर दौड़ लगाती रहती है और वह भोग-लालसा भटकती हुई बड़े शौक से सारे संसार को अपने पैरों तले रौंद डालती है। जब इस प्रकार मनुष्य में रजोगुण का विस्तार होता है, तब ऊपर बतलाये हुए सब चिह्न मनुष्य में सहज में ही उत्पन्न हो जाते हैं; और इस प्रकार गड़बड़ी मचने पर जब देह-पात होता है, तब वह इन सब गड़बड़ियों को अपने साथ लेकर ही दूसरे शरीर में प्रवेश करता है, परन्तु उसे मनुष्य-योनि ही प्राप्त होती है। यदि कोई भिखारी सब प्रकार के सुखों और वैभवों से युक्त होकर किसी राज-भवन में जा बैठे तो भी क्या वह कभी राजा हो सकता है ? बैल को खाने के लिए सदा कड़बी ही मिलेगी, फिर चाहे वह बैल किसी बहुत बड़े सम्पन्न और धनवान व्यक्ति की बारात में ही क्यों न आया हो। इसलिए वह केवल ऐसे ही लोगों की पंक्ति में बैठाया जाता है, जिनके सांसारिक व्यवहार रात-दिन चलते रहते हैं और जिन्हें कभी क्षण-भर का भी विश्राम नहीं मिलता। तात्पर्य यह कि जो मनुष्य रजोगुण की वृत्तियों में मग्न रहने की अवस्था में मृत्यु को प्राप्त होता है, वह फिर भी कर्मठों में ही जन्म धारण करता है। इसी प्रकार रज और सत्त्व दोनों को स्वाहा करके तमोगुण बलवान् होता है। उस अवस्था में शरीर के अन्दर और बाहर जो लक्षण दिखाई देते हैं, वह भी सुन लो। इस तमोगुण के कारण मन अमावास्या की रात्रि के उस आकाश के समान हो जाता है जिसमें न तो सूर्य ही होता है और न चन्द्रमा ही। उसी अमावास्या की रात्रि के आकाश की भांति उसका अन्तःकरण शून्य, निश्चेतन और उदासीन रहता है। उस अवस्था में उसके मन में विचार के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता। उसकी बुद्धि की मृदुता इतनी अधिक नष्ट हो जाती है कि कठोरता में पत्थर भी उसकी बराबरी नहीं कर सकता। उसकी स्मरण-शक्ति तो बिलकुल ही भ्रष्ट हो जाती है। अविचार का उद्दाम और प्रबल वेग उसके सारे शरीर में अन्दर और बाहर सब जगह भरा रहता है। वह जीव निरन्तर केवल मूर्खता का ही लेन-देन करता रहता है। सदाचार का उल्लंघन सदा मूर्तिमान होकर उसकी इन्द्रियों के सामने खड़ा रहता है और इसीलिए चाहे उसे मरण के तुल्य यातना भी क्यों न प्राप्त हो, परन्तु फिर भी वह अपनी अनाचारपूर्ण और घात की क्रियाएं बराबर करता रहता है। इसमें एक और मजे की बात यह है कि जैसे उल्लू को केवल अंधेरे में ही दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार उस तामस जीव को सदा दुष्ट कर्म करने में ही सबसे अधिक आनन्द मिलता है। इसी प्रकार यदि कभी उससे कह दिया जाय कि अमुक कार्य निषिद्ध है तो फिर वही कार्य करने की उत्कट कामना उसके मन में उत्पन्न होती है और उस कामना के साथ-ही-साथ उसकी इन्द्रियां भी वह काम करने की ओर दौड़ पड़ती हैं। ऐसा जीव बिना मद्य पिये हुए भी मद्यपों की तरह झोंके खाता रहता है, शरीर में वायु का वेग न रहने

पर भी बडबड़ाता रहता है और हृदय में प्रेम न होने पर भी पागलों की तरह मोह में फंसा रहता है। यह ठीक है कि उसका चित्त ठिकाने नहीं रहता, पर साथ ही वह उन्मनी अवस्था में भी नहीं रहता। इस प्रकार वह सदा मादक मोह से आक्रान्त रहता है। तात्पर्य यह कि जिस समय तमोगुण अपने परिवार के सहित बलवान् रहता है, उस समय वह ये सब चिह्न प्रबल रूप से उत्पन्न करता है। और यदि उसी अवस्था में उस जीव के लिए मृत्यु का आमन्त्रण आवे तो वह अपने सिर पर इस तमोगुण का भार लिये हुए ही इस शरीर से निकलता है। राई अपना राईपन (अर्थात् अपना विशिष्ट गुण) और स्वरूप अपने बीज में रखकर स्वयं सूख और मर जाती है। पर फिर जब वह बीज अंकुरित होता है, तब क्या उसमें से राई के सिवा कभी और कुछ भी उत्पन्न हो सकता है ? जिस अग्नि से दीपक की ज्योति जलती है, वह मूल अग्नि यदि बुझ जाय तो क्या हो सकता है ! जब तक उसकी जलाई हुई दीपक की ज्योति जलती रहती है, तब तक उस मूल अग्नि का सारा स्वरूप उस ज्योति में वर्तमान रहता है। इसी प्रकार जब जीव अपने संकल्पों को तम की गठरी में बांधकर और अपने सिर पर वह गठरी लादकर इस शरीर से बाहर निकलता है, तब वह फिर तामस शरीर ही प्राप्त करता है। परन्तु अब इस विषय का व्यर्थ और अधिक विस्तार करने से क्या लाभ ! तमोगुण बढ़े रहने की अवस्था में जो मनुष्य मरता है, वह पशु-पक्षी अथवा कीड़े-मकोड़े की योनि में जाता है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

"इसीलिए श्रुति कहती है कि जो सत्त्व गुण से उत्पन्न होता है, वह कृत अर्थात् पुण्य कृत्य है। और इसीलिए उस निर्मल सत्त्व और ज्ञान का जो अपूर्व फल सहज में प्राप्त होता है, उसे सात्त्विक फल कहते हैं। रजोगुण की क्रिया अर्थात् फल को इन्द्रायण के फल के समान समझना चाहिए, क्योंकि वह फल इन्द्रायण के फल के समान ही बाहर से तो सुन्दर सुखों से युक्त दिखाई देता है, परन्तु अन्त में वह इन्द्रायण फल के समान ही कटु दुःखों से युक्त सिद्ध होता है। अथवा नीम का फल जिस प्रकार ऊपर से देखने में तो बहुत अच्छा रहता है, परन्तु अन्दर से विषाक्त और कड़ुआ होता है, उसी प्रकार राजस क्रियाओं के फल भी ऊपर से देखने में अच्छे, पर अन्दर से बहुत ही बुरे होते हैं। जिस प्रकार विषाक्त वृक्ष के फल भी विषाक्त ही होते हैं, उसी प्रकार तामस कर्मो का फल भी अज्ञान ही होता है।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

"इसीलिए, हे भाई अर्जुन, जिस प्रकार दिन-मान का कारण सूर्य होता है, उसी प्रकार ज्ञान का कारण सत्त्वगुण है। इसी प्रकार जैसे आत्मस्वरूप की विस्मृति से द्वैत की उत्पत्ति होती है, वैसे ही रजोगुण से लोभ की उत्पत्ति होती हे। और हे सुविज्ञ अर्जुन, मोह, अज्ञान और प्रमाद आदि जो बहुत-से दोष एकत्र दिखाई देते हैं, उन सबका कारण सदा तमोगुण ही होता है। जिस प्रकार हाथ पर रखा हुआ आंवला स्पष्ट दिखाई देता है, उसी प्रकार इन तीनों गुणों के लक्षण मैंने अलग-अलग इस तरह तुम्हें बतला दिए हैं कि वे भी तुम्हें हाथ पर रखे हुए आंवला के समान ही स्पष्ट दिखाई दें। रज और तम का अधःपात केवल सत्त्व ही कर सकता है। सत्त्व के सिवा और कोई गुण जीवात्मा को ज्ञान की ओर नहीं ले जा सकता। इसीलिए जिस प्रकार कुछ लोग अपना सर्वस्व परित्याग करके तुरीर्था भक्ति अर्थात् संन्यास भक्ति को अंगीकार करते हैं, उसी प्रकार बहुत-से लोग जन्म-भर केवल सात्त्विक वृत्ति के ही व्रत का आचरण करते हैं।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

"इसी प्रकार जो लोग केवल सात्त्विक वृत्ति से ही अपने सब व्यवहार करते हैं, वे देहपात होने पर स्वर्ग के राजा होते हैं। जो लोग रजोगुण में ही जीवित रहते और उसी में मरते हैं, वे मरने पर फिर इसी मर्त्यलोक में मनुष्य योनि में जन्म लेते हैं। वे लोग इस लोक में एक ही थाली में से सुख और दुःख की खिचड़ी खाते हैं और उनके मार्ग में बाधक होने वाली मृत्यु कभी अपने स्थान से हटती ही नहीं। अर्थात् उनके सुख सदा दुःखों से मिश्रित रहते है, और वे मृत्यु से कभी बच नहीं सकते। सदा जन्म लेते और मरते रहते हैं। और जो लोग तमोगुण में ही बड़े होते हैं और उसी तमोगुण वाली अवस्था में जिनके इस भोग-क्षम शरीर का पात होता है, वे तामस स्थिति को प्राप्त होते हैं और उन्हें मानों सदा नरक भूमि में रहने का पट्टा ही मिला रहता है—वे कभी नरक से मुक्त नहीं होते। हे अर्जुन, इस प्रकार ब्रह्म की सत्ता से उत्पन्न होने और बढ़ने वाले इन तीनों गुणों के स्वरूप और शक्तियां मैंने तुमको स्पष्ट रूप से बतला दी है। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो ब्रह्म के स्वरूप में कभी कोई भेद होता ही नहीं; परन्तु वह ब्रह्म ही स्वयं भिन्न-भिन्न अवसरों पर इन गुणों के लक्षणों के अनुसार क्रिया करता है। जब कभी कोई पुरुष स्वप्न में राजा होता है और तब यह देखता है कि मुझ पर किसी दूसरे राजा ने आक्रमण किया है ओर तब स्वप्न में ही वह विजयी अथवा पराजित होता है, तब स्वयं वह पुरुष ही उस राज्य और जय अथवा पराजय का भोग करता है। इसी प्रकार इन गुणों के मैंने जो उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन वृत्ति-भेद बतलाये हैं, वे केवल ऊपरी और दिखावटी हैं, और यदि वास्तव में देखा जाय तो वह ब्रह्म इन भेद-दृष्टियों से बिलकुल अलग, अचंचल और शुद्ध ही है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥१९॥

"परन्तु अब इस विस्तार का यहीं अन्त हो जाना चाहिए। बात केवल यह है कि उस एक ब्रह्म के अतिरिक्त तुम और किसी वस्तु को मत मानो। अब मैं पहले बतलाई हुई बात ही तुम्हें फिर से बतलाता हूं; सुनो। तुम यह बात ध्यान में रखो कि ये तीनों गुण इस देह को निमित्त बनाकर ही अपनी-अपनी सामर्थ्य दिखलाते हैं। अग्नि जिस प्रकार वही रूप धारण करती है जो रूप ईंधन का होता है अथवा पृथ्वी के अन्दर रहने वाला रस जिस प्रकार वृक्ष के रूप में दिखाई देता है, अथवा दही के रूप में जिस प्रकार दूध रूपान्तरित होता है अथवा मधुरता जिस प्रकार ऊख को निमित्त बनाकर और उसके रूप में प्रकट होती है, उसी प्रकार ये तीनों गुण भी अन्तःकरण से युक्त इस शरीर का रूप धारण करते हैं और इसीलिए वे बन्धन के कारण बनते हैं। हे अर्जुन, इसमें एक बहुत बड़ी विलक्षण बात यह है कि इन तीनों गुणों का शरीर के साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, उसके कारण जीवात्मा की सहज स्वतन्त्रता में कभी नाम को भी कमी नहीं होती। ये तीनों गुण अपने-अपने धर्मों के अनुसार शरीर में संचित ओर क्रियमाण कर्मों का आचरण करते रहते है, परन्तु फिर भी उनके कारण निर्गुण आत्मतत्त्व में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आने पाती। अब मैं तुमको यह बतलाना चाहता हूं कि इन गुणों के झमेले बने रहने पर भी जीवात्मा को सहज में मुक्ति प्राप्त हो सकती है। और इसका कारण यह है कि तुम ज्ञान रूपी कमल में रमण करने वाले रसिक भृंग हो। मैंने तुम्हें पहले (अध्याय तेरह का आरम्भ) यह रहस्य बतलाया है कि गुणों के मध्य में रहने पर भी चैतन्य तत्त्व कभी गुणों के समान नहीं होता। बस, ठीक वही बात यहां भी है। इसलिए हे अर्जुन, जिस समय जीव को आत्मबोध होता है, उस समय वह यह बात समझने लगता है। जिस प्रकार जाग्रत होने पर स्वप्न का मिथ्यात्व प्रतीत होता है अथवा जब हम तट पर शान्तिपूर्वक बैठे रहते हैं, तब इस बात का ज्ञान होता है कि जल की लहरों में जो कुछ हिलता हुआ दिखाई देता है, वह हमारा शरीर नहीं है बल्कि उसका प्रतिबिम्ब है अथवा अभिनय-कला में अत्यन्त निपुण होने पर भी जिस प्रकार स्वयं नट कभी अपने सम्बन्ध में धोखा नहीं खाता और

यह नहीं समझता कि मैं वही व्यक्ति हूं, जिसका मैं इस समय अभिनय कर रहा हूं, उसी प्रकार जीवात्मा को भी उचित है कि वह अपने आपको इन तीनों गुणों से अलग रहकर देखे। आकाश भिन्न-भिन्न तीनों ऋतुओं का अंगीकार करता है, परन्तु फिर भी जिस प्रकार वह स्वयं अपने स्वरूप में कभी किसी तरह की भिन्नता या मिथ्यात्व नहीं आने देता, उसी प्रकार जो इन तीनों गुणों में रहकर भी उनसे परे या अलग रहता है, वह स्वयंसिद्ध आत्मतत्त्व सदा अहं ब्रह्माऽस्मि के मूल पीठ पर आरूढ़ रहता है। उस मूल पीठ पर से देखता हुआ वह आत्मतत्त्व कहता है—"मैं केवल साक्षी हूं और मैं कुछ भी नहीं करता। ये गुण ही इन कर्मों के व्यूह की रचना करते हैं।" सत्त्व, रज और तम के भिन्न-भिन्न लक्षणो से कर्म की व्यापकता का विस्तार होता रहता है और यह कर्मकांड मानों इन गुणो का ही विकार है। और गुणों तथा कर्मो के मिश्रण में मैं किस प्रकार हूं ? ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार वन मे दिखाई पड़ने वाली वन-शोभा का मूल कारण वसन्त होता है अथवा जिस प्रकार नक्षत्र पहले तो फीके पड़ते हुए दिखाई देते हैं और तब अदृश्य हो जाते हैं अथवा जिस प्रकार सूर्य-कान्त मणि प्रज्वलित होती है अथवा कमल फूलते हैं अथवा अन्धकार नष्ट होता है अथवा सूर्योदय होने पर उसके साथ होने वाले इसी प्रकार के और कार्य होते हैं। जिस प्रकार सूर्योदय के साथ होने वाले ये सब कार्य कभी सूर्य के अंग नहीं होते उसी प्रकार मैं भी अपनी सामर्थ्य से सब प्रकार के कर्मो का हेतु होने पर भी सदा अकर्ता रहता हूं और मुझमें इन कर्मो का लेप नहीं होता। मेरे प्रकट करने के कारण ही गुण प्रकट होते हैं और उनमें मैं ही सामर्थ्य उत्पन्न करता हूं; परन्तु इन गुणों के निःशेष होने पर जो तत्त्व बाकी रह जाता है, वह निर्गुण और शाश्वत तत्त्व मैं ही हूं। हे अर्जुन, जो पुरुष इस प्रकार की विवेक-बुद्धि से उत्पन्न होता है, वह परम गति प्राप्त करके गुणों की सीमा के उस पार पहुंच जाता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

"ऐसा पुरुष उस स्वतन्त्र तत्त्व को बिलकुल पूरी तरह से जानता है जो सब गुणों से परे है, और इसका कारण यह है कि उस पर ज्ञान की छाप पूरी तरह से पड़ी रहती है। हे अर्जुन, सारांश यही है कि जिस प्रकार कोई नदी समुद्र में मिलकर उसके साथ एकरस हो जाती है, उसी प्रकार ऐसा ज्ञानी पुरुष मेरे साथ एकरस होकर सारूप्य प्राप्त करता है। नलिका-यन्त्र के भ्रमण से छुटकारा पाने वाला तोता जिस प्रकार स्वतन्त्रतापूर्वक वृक्ष की शाखा पर जा बैठता है, उसी प्रकार वह ज्ञानी जीव माया से छुटकारा पाकर अहं ब्रह्माऽस्मि के मूल अहं तत्त्व पर स्थित हो जाता है। और हे अर्जुन, इसका कारण यह है कि अब तक अज्ञान की निद्रा में पड़ा हुआ जो जोर-जोर से खर्राटे ले रहा था, वही अब आत्मस्वरूप का बोध प्राप्त करके जाग उठता है। हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, जब बुद्धि-भेद उत्पन्न करने वाला मोह का दर्पण उसके हाथ से गिर पड़ता है, तब उसे प्रतिबिम्ब का आभास कभी हो ही नहीं सकता। जब देहाभिमान रूपी पवन के झोंके बन्द हो जाते हैं, तब लहरों और सागर के समान जीव और शिव दोनों मिलकर एकरूप हो जाते हैं। इसीलिए जिस प्रकार वर्षा-ऋतु के अन्त में मेघ आकाश में लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा भी ब्रह्म तत्त्व में लीन होकर तद्रूप हो जाता है। और इस प्रकार ब्रह्म-भाव की प्राप्ति हो जाने पर यदि वह देहान्त होने तक इसी शरीर में रहता है, तो भी शरीर से उत्पन्न होने वाले गुणों की बातों के फेर में वह कभी नहीं पड़ता। जिस प्रकार कांच अथवा अबरक के आच्छादन से दीपक का प्रकाश कभी रोका नहीं जा सकता अथवा समुद्र के जल से जिस प्रकार बड़वाग्नि कभी बुझ नहीं सकती, उसी प्रकार गुणों के संचार के कारण जीव का बोध भी मलिन नहीं हो सकता। जिस प्रकार आकाश का चन्द्रमा जल में प्रतिबिम्बित होने पर भी जल से सदा निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार चाहे वह देह में रहता हुआ भले ही दिखाई पड़े, परन्तु फिर भी उसमें देह के धर्म नहीं लगते। तीनों गुण अपनी-अपनी सामर्थ्य से शरीर के स्वांग प्रस्तुत करके उसे नचाते रहते हैं, परन्तु ज्ञानी पुरुष उनकी ओर

देखने के लिए कभी भूलकर भी अपना अहं ब्रह्माऽस्मि वाला भाव क्षणमात्र के लिए भी अपने से अलग नहीं करते। उनके अन्तःकरण में आत्मस्वरूप का निश्चय इतना अधिक दृढ़ होता है कि उन्हें कभी इस बात का भान भी नहीं होता कि हम इस शरीर में रहकर कुछ करते भी हैं या नहीं। जब सांप एक बार अपनी केंचुली छोड़कर अपने गहरे बिल में चला जाता है, तब फिर उस केंचुली का वह भला कब ध्यान करता है ! ठीक वही बात यहां की होती है। अथवा जब कोई सुगन्धित कमल खिलता है, तब उसकी सारी सुगन्धि आकाश में मिलकर लीन हो जाती है और वह फिर कभी लौटकर उस कमल-कोश में नहीं आती। इस प्रकार जब ब्रह्म का सारूप्य प्राप्त हो जाता है, तब इस बात का भान ही नहीं रह जाता कि यह शरीर क्या है और इसके धर्म क्या हैं। इसीलिए शरीर के जन्म, जरा, मरण आदि जो छः गुण हैं, वे शरीर में ही रहते हैं और ज्ञानी जीव के साथ उनका सम्पर्क नहीं होता। जब घड़ा टूट जाय और छोटे-छोटे ठीकरों के रूप में परिवर्तित हो जाय तब यही समझना चाहिए कि घटाकाश आपसे आप तत्काल ही महदाकाश में सम्मिलित होकर उसी का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार जब देह का अभिमान लुप्त हो जाय और अपने आत्मस्वरूप का स्मरण हो जाय, तब भला उस आत्मस्वरूप के अतिरिक्त और क्या बाकी रह सकता है ? इस अत्यन्त श्रेष्ठ आत्मबोध से युक्त होकर जो वह शरीर में निवास करता है, इसी से मैं उसे गुणातीत कहता हूं।" भगवान् के वचन सुनकर अर्जुन को उसी प्रकार का अत्यन्त आनन्द हुआ, जिस प्रकार का आनन्द उस मोर को होता है जिसे मेघ स्वयं ही गरजकर पुकारता है।

अर्जुन उवाच—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

इस प्रकार का सन्तोष प्राप्त करके अर्जुन ने पूछा—"हे भगवान्, जिसे इस प्रकार का आत्मबोध हो जाता है; उसमें कौन-से लक्षण दिखाई पड़ते हैं ? वह अपनी वृत्ति को किस प्रकार निर्गुण रखता है ? वह गुणों के सम्बन्ध से किस प्रकार छूटता है ? हे कृपानिधि, आप ये सब बातें मुझे बतला दें।" षड्गुणों के ऐश्वर्य से सम्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन की इन शंकाओं का समाधान करते हुए कहने लगे—"हे अर्जुन, मुझे इस बात का बहुत ही आश्चर्य हो रहा है कि तुमने केवल ये सब शंकाएं की हैं। तुम गुणातीत के आचरण के सम्बन्ध में पूछते हो। परन्तु जिसमें आचार हो, क्या उसे गुणातीत कहना ही अनुचित नहीं है ! जिसे गुणातीत कह सकते हों, वह गुणों के क्षेत्र में कभी जाता ही नहीं। अथवा यदि वह कदाचित् गुणों के क्षेत्र में आचरण करता हुआ दिखाई पड़े तो भी वह कभी गुणों के हाथों में नहीं पड़ता। हां, यदि तुम्हारे मन में यह शंका हो कि गुणों के सब व्यापारों के चलते रहने पर भी और उन गुणों के मध्य में रहकर सब प्रकार के कार्य करने पर भी वह किस प्रकार गुणों के हाथों में नहीं पड़ता, तो इसके सम्बन्ध में अवश्य ही तुम प्रसन्नतापूर्वक पूछ सकते हो। अब तुम इसी शंका का उत्तर सुनो।

श्रीभगवानुवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥२२॥

"रजोगुण की रंगत चढ़ने पर शरीर में कर्म के अंकुर उत्पन्न होते हैं और जीव प्रवृत्तियों से घिर जाता है। उस अवस्था में जिस व्यक्ति को इस प्रकार का अभिमान छू भी नहीं जाता कि केवल मैं ही कर्म करने वाला हूं अथवा अपने कर्मों के निष्फल होने पर भी जिसे कोई दुःख नहीं होता अथवा जिस समय सत्त्व-गुण की वृद्धि होने के कारण समस्त इन्द्रियों पर ज्ञान के तेज का प्रसार होता है, उस समय विद्या के अभिमान अथवा सन्तोष से जो फूल नहीं जाता अथवा तमोगुण की वृद्धि होने पर भी जो मोह के फेर में नहीं पड़ता और मन में अज्ञान का खेद नहीं

करता, जो मोह का प्रसग पड़ने पर ज्ञान के लिए उत्कंठित नहीं होता और ज्ञान का प्रसंग पड़ने पर कर्मो का परित्याग नहीं करता और अपने हाथों से कर्म हो जाने पर भी दुःखी नहीं होता, जो ठीक उसी प्रकार कोई भेद नहीं करता, जिस प्रकार सूर्य प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल का कोई काल-भेद नहीं करता, उस पुरुष में ज्ञान उत्पन्न करने के लिए भला किसी दूसरे के ज्ञान रूपी प्रकाश की क्या आवश्यकता है ? क्या कभी समुद्र को भरने के लिए वर्षा-ऋतु की भी आवश्यकता हुआ करती है ? अथवा यदि वह कर्मो का आचरण भी करे तो क्या कभी कर्मठता उसके साथ संलग्न हो सकती है ? हे अर्जुन, तुम्हीं बतलाओ कि क्या हिमालय भी कभी सरदी से कांपता है ? अथवा मोह का प्रसंग प्राप्त होने पर वह कभी ज्ञान का परित्याग कर सकता है ? ग्रीष्म चाहे कितना ही अधिक उग्र और तीव्र क्यों न हो, परन्तु क्या वह कभी अग्नि को भी जला सकता है ?

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

"ठीक इसी प्रकार इन गुणों का कार्य भी आपसे आप ही होता है और वे आत्मसत्तात्मक हैं, इसीलिए वह उन गुणों का विश्लेषण या विवेचन करने के फेर में नहीं पड़ता। उसे इस प्रकार का पूर्ण ज्ञान हो चुका रहता है, इसलिए वह इस शरीर में उसी प्रकार आश्रय लेता है, जिस प्रकार यात्री रास्ता चलते समय मार्ग में किसी धर्मशाला में कुछ समय के लिए ठहर जाता है। जिस प्रकार युद्ध की भूमि हार और जीत में किसी प्रकार सम्मिलित नही होती, उसी प्रकार वह भी लाभ और हानि का हिस्सेदार नहीं होता। न तो वह गुणों के साथ मिलता ही है और न कर्तृत्व का ही अंगीकार करता है। जिस प्रकार शरीर में रहने वाले प्राण अथवा दूसरे के घर में अतिथि के रूप में जाकर रहने वाला ब्राह्मण अथवा चौरस्ते पर गड़ा हुआ खम्भा अपने आस-पास और चारों तरफ होने वाली बातों की ओर से सदा बिलकुल उदासीन रहता है, उसी प्रकार वह ज्ञानी भी अपने शरीर में बिलकुल उदासीन भाव से रहता है। और हे अर्जुन, जिस प्रकार मृगजल की लहरों से मेरु पर्वत विचलित नहीं होता, उसी प्रकार गुणों के मनमाने उपद्रव से वह ज्ञानी पुरुष विचलित नहीं होता। अब यह बात और अधिक विस्तार करके कहां तक बतलाई जाए। वायु के झोंकों से आकाश कभी उड़ाया नहीं जा सकता और अन्धकार से सूर्य को कभी छिपाया नहीं जा सकता। स्वप्न कभी जागते हुए मनुष्य को धोखा नहीं दे सकता। ठीक इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष को गुण भी कभी बांध नहीं सकते। वह कभी गुणों के हाथ में नहीं पड़ता; परन्तु जिस समय दूर से तटस्थ होकर उनकी ओर देखता है, उस समय उसका गुणों का अवलोकन उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार नाटकगृह के दर्शक तटस्थ होकर कठपुतलियों का नाच देखते हैं। सत्य सदा शुद्ध कर्मो में, रज सदा वैषयिक कर्मो में और तम सदा मोह और अज्ञान आदि में ही विहार करता है; पर यह रहस्य स्पष्ट रूप से समझ रखो कि गुणों का यह विहार केवल आत्मतत्त्व की सत्ता ही होता है। और इसकी उपमा या उदाहरण यही है कि सूर्य सब लोगों के व्यापारों और व्यवहारों का संचालन तो करता ही है, पर उन सबको वह बिलकुल तटस्थ रहकर देखता है। अथवा जब चन्द्रमा का उदय होता है, तब समुद्र में बाढ़ आती है, चन्द्रकान्त मणि पसीजने लगती है और कुमुद विकसित होते हैं; परन्तु चन्द्रमा उन सबसे अलग और निर्लिप्त रहता है। वायु चाहे खूब जोरों से बहे और चाहे शान्त भाव से धीरे-धीरे चले, परन्तु आकाश सदा अविचल और अविकृत ही रहता है। ठीक इसी प्रकार गुणों के संसर्ग के कारण ज्ञानी पुरुष कभी विचलित नहीं होता। हे अर्जुन, गुणातीत को इन्हीं सब लक्षणों से पहचानना चाहिए। अब यह सुनो कि उसका आचरण कैसा होता है।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

"हे अर्जुन, जिस प्रकार वस्त्र के अन्दर और बाहर सूतों के सिवा और कुछ भी नहीं होता, ठीक उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी यह देखता है कि यह स्थावर और जंगम विश्व आत्मतत्त्व के सिवा और कुछ भी नहीं। जिस प्रकार परमेश्वर अपने वैरियों को भी और भक्तों को भी एक ही प्रकार की परम गति देता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी सुख और दुःख दोनों को एक समान समझता है। वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो यदि जीव इस शरीर में उसी प्रकार विहार करे, जिस प्रकार मछली जल में विहार करती है, तो उसे सुख और दुःख का ही अनुभव होना चाहिए। परन्तु ज्ञानी पुरुष सुख और दुःख सबको पूरी तरह से छोड़ चुका होता है और सदा आत्मस्वरूप में निमग्न रहता है। जब खेत में फसल तैयार हो जाती है, तब जिस प्रकार बालों में दाने भरकर बाहर निकलने लगते हैं अथवा जिस समय नदी अपना प्रवाह छोड़कर समुद्र में मिल जाती है, उस समय जिस प्रकार उसकी सारी उछल-कूद ठंडी पड़ जाती है, उसी प्रकार मनुष्य जिस समय आत्मस्वरूप में रमण करने लगता है, उस समय उसे शरीर के सुख और दुःख का भान ही नहीं होता और वे तब उसके लिए समान हो जाते हैं। जिस प्रकार किसी खम्भे के लिए रात और दिन दोनों समान होते हैं उसी प्रकार आत्मस्वरूप में रमण करने वाले मनुष्य के लिए शरीर के सुख और दुःख; हानि और लाभ आदि द्वन्द्व एक-से हो जाते हैं। जो मनुष्य गहरी नींद में सोया रहता है, उसके लिए सर्प का स्पर्श भी वैसा ही होता है, जैसा उर्वशी सरीखी किसी अप्सरा के अंग का स्पर्श। ठीक इसी प्रकार आत्मस्वरूप में मग्न रहने वाले पुरुष के लिए शारीरिक द्वन्द्व भी समान ही होते हैं। इसीलिए ऐसे पुरुष की दृष्टि में सोने और गोबर अथवा हीरे और पत्थर में कोई भेद नहीं रह जाता। चाहे स्वर्ग का सुख स्वयं चलकर उसके घर आ पहुंचे और चाहे उस पर बाघ आकर आक्रमण करे, परन्तु उसकी ब्रह्मैक्य वाली स्थिति में तनिक भी अन्तर नहीं पड़ता। जो आदमी मारकर गिरा दिया जाता है, वह फिर कभी उठकर खड़ा नहीं होता; और जो बीज एक बार भून डाला जाता है, वह फिर कभी अंकुरित नहीं हो सकता। इसी प्रकार उसकी वृत्ति की समता भी कभी भंग नहीं होती। चाहे कोई उसे 'ब्रह्मा' कहकर उसकी खूब स्तुति करे और चाहे उसे 'नीच' कहकर उसकी बहुत अधिक निन्दा करे, परन्तु वह राख के ढेर की तरह न तो कभी जलता ही है और न कभी बुझता ही है। जिस प्रकार सूर्य के घर में न तो कभी अंधेरा ही रहता है और न कभी दीपक ही जलता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष के लिए न तो निन्दा का ही कुछ अर्थ होता है और न स्तुति का ही।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

"चाहे कोई उसे 'ईश्वर' कहकर उसकी पूजा करे और चाहे उसे 'चोर' कहकर उसकी निन्दा करे, चाहे उसे बैलों और हाथियों के घेरे में रखे और चाहे राजा बना दे, चाहे उसके पास उसके मित्र आकर एकत्र हों और चाहे बहुत-से शत्रु आकर उसे चारों ओर से घेर लें, तो भी उसका मन उसी तरह कभी विषमता से मलिन नहीं होता, जिस तरह सूर्य के तेज के लिए न तो कभी रात ही होती है और न कभी तड़का ही होता है; अथवा जिस प्रकार बसन्त आदि छहों ऋतुओं के आने-जाने पर भी आकाश सदा निर्लेप ही रहता है। आचार का एक और लक्षण उसमें यह दिखाई देता है कि उसे इस बात का कभी भास ही नहीं होता कि वह कोई व्यापार अथवा कार्य कर रहा है। वह समस्त कर्मों को हटाकर दूर फेंक देता है और प्रवृत्ति का मूल ही नष्ट कर डालता है। इसके कर्मों के समस्त फल जलकर राख हो जाते हैं, क्योंकि अपने ज्ञान के कारण वह स्वयं अग्नि के ही समान हो जाता है। किसी प्रकार की ऐहिक अथवा पारलौकिक कामना उसके मन में कभी उत्पन्न ही नहीं होती, इसलिए उसे सहज में अथवा स्वाभाविक रूप से कुछ मिल जाता है, उसे वह उदासीनतापूर्वक अंगीकार कर लेता है। वह न तो सुख से सुखी ही होता है और न दुःख से दुःखी ही होता है। उसका मन पत्थर के समान होता है और वह सब प्रकार के

करता, जो माह का प्रसग पड़ने पर ज्ञान के लिए उत्कंठित नहीं होता और ज्ञान का प्रसंग पड़ने पर कर्मो का परित्याग नहीं करता और अपने हाथों से कर्म हो जाने पर भी दुःखी नहीं होता, जो ठीक उसी प्रकार कोई भेद नहीं करता, जिस प्रकार सूर्य प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल का कोई काल-भेद नहीं करता, उस पुरुष में ज्ञान उत्पन्न करने के लिए भला किसी दूसरे के ज्ञान रूपी प्रकाश की क्या आवश्यकता है ? क्या कभी समुद्र को भरने के लिए वर्षा-ऋतु की भी आवश्यकता हुआ करती है ? अथवा यदि वह कर्मो का आचरण भी करे तो क्या कभी कर्मठता उसके साथ संलग्न हो सकती है ? हे अर्जुन, तुम्हीं बतलाओ कि क्या हिमालय भी कभी सरदी से कांपता है ? अथवा मोह का प्रसंग प्राप्त होने पर वह कभी ज्ञान का परित्याग कर सकता है ? ग्रीष्म चाहे कितना ही अधिक उग्र और तीव्र क्यों न हो, परन्तु क्या वह कभी अग्नि को भी जला सकता है ?

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

"ठीक इसी प्रकार इन गुणों का कार्य भी आपसे आप ही होता है और वे आत्मसत्तात्मक हैं, इसीलिए वह उन गुणों का विश्लेषण या विवेचन करने के फेर में नही पड़ता। उसे इस प्रकार का पूर्ण ज्ञान हो चुका रहता है, इसलिए वह इस शरीर में उसी प्रकार आश्रय लेता है, जिस प्रकार यात्री रास्ता चलते समय मार्ग में किसी धर्मशाला में कुछ समय के लिए ठहर जाता है। जिस प्रकार युद्ध की भूमि हार और जीत में किसी प्रकार सम्मिलित नहीं होती, उसी प्रकार वह भी लाभ और हानि का हिस्सेदार नहीं होता। न तो वह गुणों के साथ मिलता ही है और न कर्तृत्व का ही अंगीकार करता है। जिस प्रकार शरीर में रहने वाले प्राण अथवा दूसरे के घर में अतिथि के रूप में जाकर रहने वाला ब्राह्मण अथवा चौरस्ते पर गड़ा हुआ खम्भा अपने आस-पास और चारों तरफ होने वाली बातों की ओर से सदा बिलकुल उदासीन रहता है, उसी प्रकार वह ज्ञानी भी अपने शरीर में बिलकुल उदासीन भाव से रहता है। और हे अर्जुन, जिस प्रकार मृगजल की लहरों से मेरु पर्वत विचलित नहीं होता, उसी प्रकार गुणों के मनमाने उपद्रव से वह ज्ञानी पुरुष विचलित नहीं होता। अब यह बात और अधिक विस्तार करके कहां तक बतलाई जाए। वायु के झोंकों से आकाश कभी उड़ाया नहीं जा सकता और अन्धकार से सूर्य को कभी छिपाया नहीं जा सकता। स्वप्न कभी जागते हुए मनुष्य को धोखा नहीं दे सकता। ठीक इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष को गुण भी कभी बांध नहीं सकते। वह कभी गुणों के हाथ में नहीं पड़ता; परन्तु जिस समय दूर से तटस्थ होकर उनकी ओर देखता है, उस समय उसका गुणों का अवलोकन उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार नाटकगृह के दर्शक तटस्थ होकर कठपुतलियों का नाच देखते हैं। सत्व सदा शुद्ध कर्मों में, रज सदा वैषयिक कर्मों में ओर तम सदा मोह और अज्ञान आदि में ही विहार करता है; पर यह रहस्य स्पष्ट रूप से समझ रखो कि गुणों का यह विहार केवल आत्मतत्त्व की सत्ता ही होता है। और इसकी उपमा या उदाहरण यही है कि सूर्य सब लोगों के व्यापारों और व्यवहारों का संचालन तो करता ही है, पर उन सबको वह बिलकुल तटस्थ रहकर देखता है। अथवा जब चन्द्रमा का उदय होता है, तब समुद्र में बाढ़ आती है, चन्द्रकान्त मणि पसीजने लगती है और कुमुद विकसित होते हैं; परन्तु चन्द्रमा उन सबसे अलग और निर्लिप्त रहता है। वायु चाहे खूब जोरों से बहे और चाहे शान्त भाव से धीरे-धीरे चले, परन्तु आकाश सदा अविचल और अविकृत ही रहता है। ठीक इसी प्रकार गुणों के संसर्ग के कारण ज्ञानी पुरुष कभी विचलित नहीं होता। हे अर्जुन, गुणातीत को इन्हीं सब लक्षणों से पहचानना चाहिए। अब यह सुनो कि उसका आचरण कैसा होता है।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

"हे अर्जुन, जिस प्रकार वस्त्र के अन्दर और बाहर सूतों के सिवा और कुछ भी नहीं होता, ठीक उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी यह देखता है कि यह स्थावर और जंगम विश्व आत्मतत्त्व के सिवा और कुछ भी नहीं। जिस प्रकार परमेश्वर अपने वैरियों को भी और भक्तों को भी एक ही प्रकार की परम गति देता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी सुख और दुःख दोनों को एक समान समझता है। वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो यदि जीव इस शरीर में उसी प्रकार विहार करे, जिस प्रकार मछली जल में विहार करती है, तो उसे सुख और दुःख का ही अनुभव होना चाहिए। परन्तु ज्ञानी पुरुष सुख और दुःख सबको पूरी तरह से छोड़ चुका होता है और सदा आत्मस्वरूप में निमग्न रहता है। जब खेत में फसल तैयार हो जाती है, तब जिस प्रकार बालों में दाने भरकर बाहर निकलने लगते हैं अथवा जिस समय नदी अपना प्रवाह छोड़कर समुद्र में मिल जाती है, उस समय जिस प्रकार उसकी सारी उछल-कूद ठंडी पड़ जाती है, उसी प्रकार मनुष्य जिस समय आत्मस्वरूप में रमण करने लगता है, उस समय उसे शरीर के सुख और दुःख का भान ही नहीं होता और वे तब उसके लिए समान हो जाते हैं। जिस प्रकार किसी खम्भे के लिए रात और दिन दोनों समान होते हैं, उसी प्रकार आत्मस्वरूप में रमण करने वाले मनुष्य के लिए शरीर के सुख और दुःख; हानि और लाभ आदि द्वन्द्व एक-से हो जाते हैं। जो मनुष्य गहरी नींद में सोया रहता है, उसके लिए सर्प का स्पर्श भी वैसा ही होता है, जैसा उर्वशी सरीखी किसी अप्सरा के अंग का स्पर्श। ठीक इसी प्रकार आत्मस्वरूप में मग्न रहने वाले पुरुष के लिए शारीरिक द्वन्द्व भी समान ही होते हैं। इसीलिए ऐसे पुरुष की दृष्टि में सोने और गोबर अथवा हीरे और पत्थर में कोई भेद नहीं रह जाता। चाहे स्वर्ग का सुख स्वयं चलकर उसके घर आ पहुंचे और चाहे उस पर बाघ आकर आक्रमण करे, परन्तु उसकी ब्रह्मैक्य वाली स्थिति में तनिक भी अन्तर नहीं पड़ता। जो आदमी मारकर गिरा दिया जाता है, वह फिर कभी उठकर खड़ा नहीं होता; और जो बीज एक बार भून डाला जाता है, वह फिर कभी अंकुरित नहीं हो सकता। इसी प्रकार उसकी वृत्ति की समता भी कभी भंग नहीं होती। चाहे कोई उसे 'ब्रह्मा' कहकर उसकी खूब स्तुति करे और चाहे उसे 'नीच' कहकर उसकी बहुत अधिक निन्दा करे, परन्तु वह राख के ढेर की तरह न तो कभी जलता ही है और न कभी बुझता ही है। जिस प्रकार सूर्य के घर में न तो कभी अंधेरा ही रहता है और न कभी दीपक ही जलता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष के लिए न तो निन्दा का ही कुछ अर्थ होता है और न स्तुति का ही।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

"चाहे कोई उसे 'ईश्वर' कहकर उसकी पूजा करे और चाहे उसे 'चोर' कहकर उसकी निन्दा करे, चाहे उसे बैलों और हाथियों के घेरे में रखे और चाहे राजा बना दे, चाहे उसके पास उसके मित्र आकर एकत्र हों और चाहे बहुत-से शत्रु आकर उसे चारों ओर से घेर लें, तो भी उसका मन उसी तरह कभी विषमता से मलिन नहीं होता, जिस तरह सूर्य के तेज के लिए न तो कभी रात ही होती है और न कभी तड़का ही होता है; अथवा जिस प्रकार बसन्त आदि छहों ऋतुओं के आने-जाने पर भी आकाश सदा निर्लेप ही रहता है। आचार का एक और लक्षण उसमें यह दिखाई देता है कि उसे इस बात का कभी भास ही नहीं होता कि वह कोई व्यापार अथवा कार्य कर रहा है। वह समस्त कर्मों को हटाकर दूर फेंक देता है और प्रवृत्ति का मूल ही नष्ट कर डालता है। इसके कर्मों के समस्त फल जलकर राख हो जाते हैं, क्योंकि अपने ज्ञान के कारण वह स्वयं अग्नि के ही समान हो जाता है। किसी प्रकार की ऐहिक अथवा पारलौकिक कामना उसके मन में कभी उत्पन्न ही नहीं होती, इसलिए उसे सहज में अथवा स्वाभाविक रूप से कुछ मिल जाता है, उसे वह उदासीनतापूर्वक अंगीकार कर लेता है। वह न तो सुख से सुखी ही होता है और न दुःख से दुःखी ही होता है। उसका मन पत्थर के समान होता है और वह सब प्रकार के

ल्प-विकल्प छोड़ चुका होता है। परन्तु अब यह वर्णन बहुत विस्तारपूर्वक हो चुका जिसमें इस प्रकार के चार दिखलाई दे, उसी को वास्तव में गुणातीत समझना चाहिए।'' इसके उपरान्त भगवान् श्रीकृष्ण ने ा--''अब तुम वे उपाय सुनो जिनसे जीव गुणातीत हो सकता है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

''हे अर्जुन, जो पुरुष अव्यभिचार भाव से और भक्तियोग से मेरी सेवा करता है, वही इन सब गुणों को जला ता है। अब इन सब बातों का विवेचन कर देना आवश्यक जान पड़ता है कि इसमें कहा हुआ 'मैं' कौन है, ो भक्ति' किस प्रकार की होती है और 'अव्यभिचार भाव' का अर्थ क्या है। तो भी हे अर्जुन, मैं तुमको यह ना देता हूं कि जिस प्रकार रत्न की प्रभा और रत्न दोनों एक ही होते हैं, उसी प्रकार इस विश्व में 'मैं' हूं। अथवा र प्रकार पाताल का अर्थ पानी या अवकाश का अर्थ आकाश या मधुरता का अर्थ शक्कर अथवा ज्वाला का अग्नि अथवा दल का अर्थ कमल अथवा डालियों और फलों आदि का अर्थ वृक्ष अथवा हिम की राशि का हिमालय अथवा जमे हुए दूध का अर्थ दही होता है, उसी प्रकार इस विश्व का अर्थ भी ''मैं'' ही है अर्थात् ही यह विश्व हूं। जिस प्रकार चन्द्रमा के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए चन्द्रमा के बिम्ब को छीलने आवश्यकता नहीं होती, अथवा जमा हुआ घी यदि गरम करके पिघलाया न जाय तो भी वह घी ही होता है ा कंकण यदि गलाया न जाय तो भी वह सोना ही होता है अथवा वस्त्र की तह यदि खोली न जाय तो भी मूलतः तन्तुओं का समूह ही होता है अथवा घट यदि तोड़ा-फोड़ा न जाय तो भी जैसे वह सदा मिट्टी का ही है, उसी प्रकार यह सारा विश्व भी 'मैं' ही हूं। इसीलिए यह बात नहीं है कि पहले यह विश्व-भावना नष्ट ाय और तब मेरा लाभ या प्राप्ति हो, क्योंकि यह सब कुछ केवल 'मैं' ही हूं। इस प्रकार का ज्ञान होना ही मेरी अव्यभिचारी भक्ति है। यदि इस ज्ञान में किसी प्रकार का भेदभाव या न्यूनता हो तो वही व्यभिचार है। लिए सब प्रकार के भेदभाव छोड़कर बिलकुल एकाग्र मन से अपने सहित मुझे जानना चाहिए। हे अर्जुन, यदि का दाना सोने पर ही बैठाया जाय तो उसमें किसी प्रकार की भिन्नता नहीं हो सकती। ठीक इसी प्रकार विश्व पने से भिन्न मानना उचित नहीं है। तेज का जो अंश तेज से निकलकर फिर तेज में ही लीन हो जाता है, को किरण कहते हैं। बस ठीक इन्हीं किरणों की ही तरह आत्मरूप भी है। पृथ्वी-तल में जिस प्रकार सूक्ष्म होते हैं अथवा हिमालय में जिस प्रकार हिम के कण होते हैं, उसी प्रकार मुझमें 'अहं' है। बस यह बात तुम तरह अपने ध्यान में रखो। लहर चाहे कितनी ही छोटी क्यों न हो, परन्तु वह सागर से कभी भिन्न नहीं होती। सी प्रकार 'मैं' भी ईश्वर से भिन्न नहीं है। इस प्रकार की एकता की भावना से दृष्टि की जो आनन्दपूर्ण वृत्ति है उसी को मैं भक्ति कहता हूं। समस्त ज्ञान का सार और योग का सर्वस्व यही प्रफुल्लित दृष्टि है। जिस सागर और मेघों के बीच में अखंड धाराओं की वृष्टि होने के कारण वे दोनों एक दिखाई देते हैं, उसी प्रकार, न, यह उल्लासपूर्ण वृत्ति भी होती है। कुएं के मुख या ऊपरी भाग और आकाश में कोई जोड़ नहीं लगा परन्तु फिर भी वे दोनों एक में मिले हुए रहते हैं। ठीक इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी बिना किसी प्रकार के ा सन्धि के उस परम पुरुष के साथ मिला हुआ रहता है। जिस प्रकार प्रतिबिम्ब से लेकर बिम्ब तक सरल प्रभा फैली हुई रहती है, उसी प्रकार यह सोऽहं वृत्ति भी जीवात्मा से लेकर परमात्मा तक पहुंची हुई होती इस प्रकार की सोऽहं वृत्ति एक बार बन जाती है, तब मनुष्य उस वृत्ति के सहित आपसे आप परमात्म-तत्त्व न हो जाता है। जिस प्रकार नमक का ढेला जब एक बार समुद्र में पड़कर गल जाता है, तब फिर उसका बन्द हो जाता है अथवा, हे अर्जुन, जिस प्रकार तिनकों को जला चुकने के उपरान्त स्वयं अग्नि भी बुझ

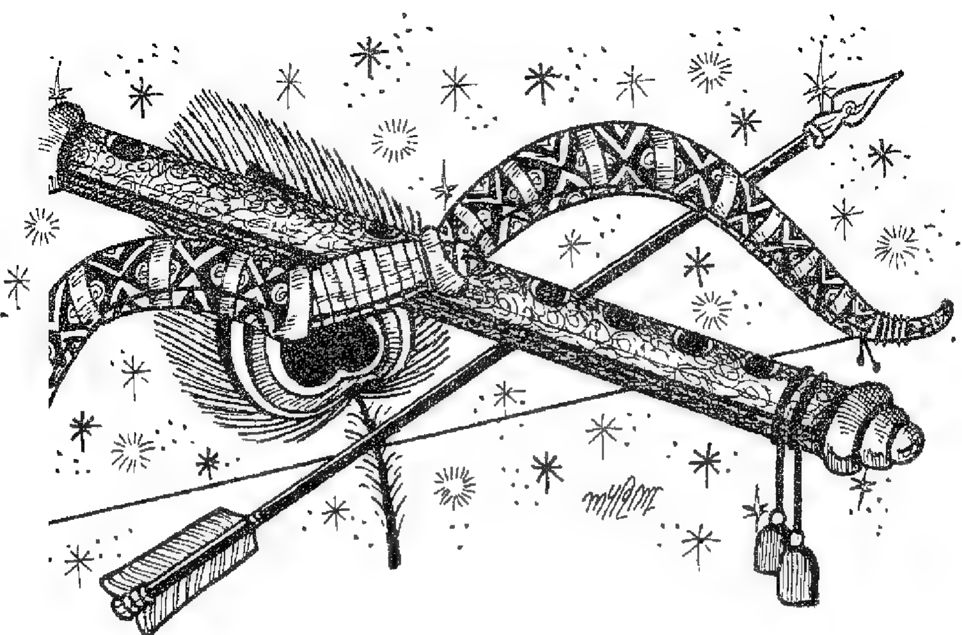
नगी है उसी प्रकार जब एक बार ज्ञान के द्वारा भेद बुद्धि नष्ट हो जाती है, तब फिर वह ज्ञान भी बाकी नहीं रह जाता। तब यह कल्पना नष्ट हो जाती है कि 'मैं' परे अथवा उस पार का है और यह भावना भी नष्ट हो जाती है कि भक्त इधर या इस पार का है और उन दोनों की जो मौलिक शाश्वत एकता है, केवल वही बाकी रह जाती है। हे अर्जुन, जब इस प्रकार ब्रह्मैक्य का आलिंगन हो जाता है तब फिर गुणों को जीतने की कोई बात ही बाकी नहीं रह जाती। भाई मर्मज्ञ अर्जुन, इसी स्थिति को ब्रह्मत्व कहते हैं, और यही ब्रह्मत्व मेरे भक्तों को प्राप्त होता है। मैं फिर तुमसे यह बात कहता हू कि इस संसार में मेरा जो इस प्रकार का भक्त होगा, उसकी सेवा यह ब्राह्मी अवस्था पतिव्रता स्त्री के समान करेगी। जिस प्रकार नदी में जोरों से बहने वाले पानी के लिए सागर के अतिरिक्त ओर कोई उपयुक्त स्थान नहीं होता, उसी प्रकार जो ज्ञानपूर्ण दृष्टि से मेरी सेवा करता है, वह बिना ब्रह्मत्व वाली दशा को सुशोभित किये नहीं रह सकता। इसी ब्रह्मत्व को सायुज्य कहते हैं और इसी को चौथा पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष कहते हैं। यह ठीक है कि मेरी सेवा ही ब्रह्मत्व की प्राप्ति का साधन है, परन्तु इतने से ही तुम यह न समझो कि मैं साधनमात्र हूं। सम्भव है कि तुम्हारे मन में इस प्रकार की भावना उत्पन्न हो, इसीलिए मैं तुमको बतला देता हू कि ब्रह्म कभी 'मैं' से भिन्न नहीं है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

"हे अर्जुन, 'ब्रह्म' का अर्थ 'मैं' है और इस प्रकार के सब शब्दों से मेरा ही अभिप्राय होता है। भाई मर्मज्ञ अर्जुन, जिस प्रकार चन्द्रमा और उसका मंडल दोनों अलग-अलग पदार्थ नहीं होते, उसी प्रकार 'मैं' और 'ब्रह्म' मे अणुमात्र का भी भेद नहीं है। जो वस्तु शाश्वत, अचल, स्पष्ट, धर्म-स्वरूप, आनन्दमय, अपार और एकमेवाद्वितीय है, समस्त कामनाओं को छोड़कर विवेक जो पद प्राप्त करता है और ज्ञान की जो परम सीमा है, वह सब 'मैं' ही हू।" भक्तों का पक्ष लेने वाले और उनकी सहायता करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार की बातें अर्जुन से कह रहे थे। यह सुनकर राजा धृतराष्ट्र ने कहा—"हे संजय, ये सब बातें तो तुमसे किसी ने पूछी भी नहीं थीं। फिर तुम ये सब निरर्थक बातें क्यों कह रहे हो ? इस समय मेरे मन में जो चिन्ता हो रही है, पहले वह चिन्ता तुम दूर करो। तुम पहले मेरे दुर्योधन की विजय-वार्ता मुझे सुनाओ।" इस पर संजय ने अपने मन में कहा—"विजय की बातों को इस समय रहने दो।" धृतराष्ट्र की ये बातें सुनकर संजय के मन में बहुत अधिक आश्चर्य हुआ। उसने मन-ही-मन कहा—"हाय हाय ! इसके मन में भगवान् के प्रति कितना द्वेष बैठा हुआ है। फिर भी वे कृपालु देव इस पर कृपा करें और यह विवेक रूपी औषध का पान करे जिसमें इसका मोह रूपी महारोग नष्ट हो जाय।" जब संजय के मन में यह विचार आया, तब श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद की बातें स्मरण करते-करते उसके अन्तःकरण में आनन्द का विलक्षण उद्रेक हो आया। इसलिए अब भी वह बराबर बढ़ते हुए उत्साह से श्रीकृष्ण का भाषण ही कथन करेगा। उस भाषण के शब्दों का भावार्थ मैं आप लोगों के मन में बैठाने का प्रयत्न करूंगा। हे श्रोतागण, श्रीनिवृत्तिनाथ का दास यह ज्ञानदेव आप लोगों से प्रार्थना करता है कि आप लोग इस ओर ध्यान दें।



पन्द्रहवा अध्याय



पुरुषोत्तमयोग

को चौकी बनाकर उस पर श्रीगुरुदेव के चरणों की स्थापना करता हूं। समस्त इन्द्रियों के यही
फूल ऐक्यभाव से अपनी अंजली में भरकर यह पुष्पांजलि मैं अर्घ्य के रूप में श्रीगुरुदेव को अर्पित
निष्ठ वासना अनन्य भक्ति-रस से शुद्ध हो चुकी है, उसी को चन्दन के रूप में मानकर मैं
का अखंड तिलक लगाता हूं। निर्मल प्रेम रूपी खरे सोने के नूपुर मैं श्रीगुरुदेव के सुकुमार चरणो
दृढ और प्रबल प्रेम अव्यभिचार भाव से शुद्ध हो चुका है, उसी के छल्ले वनाकर मैं उन चरणो
नाता हूं। आनन्द की सुगन्ध से सुगन्धित अष्ट सात्त्विक भावों का खिला हुआ अष्ट-दल कमल
हूं। अब मैं उनके आगे अहंकार रूपी धूप जलाकर उन गुरु-चरणों के आगे सोऽहं रूपी दीपक से
र समरस भाव से निरन्तर उन्हें आलिंगन करता हूं। मैं अपने शरीर और प्राण दोनों के खड़ाऊ
देव के चरणों के नीचे रखता हूं और भोग तथा मोक्ष का राई-नोन उन पर से उतारता हूं। अपने
सेवा करने से मुझमें इतनी पात्रता आ जाय कि समस्त पुरुषार्थ के अधिकार मुझे उसी में प्राप्त
तत्व के विश्राम धाम तक मेरे ज्ञान का तेज इस प्रकार सहज में और सीधा जा पहुंचे कि उसके
सुधा के समुद्र की मधुरता आ जाय। उस समय मेरे विवेचन के प्रत्येक अक्षर को ऐसी मधुरता
क्तृत्व पर से करोड़ों पूर्ण चन्द्र निछावर किये जा सकें। जिस प्रकार पूर्व में सूर्य का उदय होने पर
को प्रकाश का साम्राज्य अर्पित करता है, उसी प्रकार यह वाणी भी श्रोताओं के समाज को
काश दिखला सके। जिस सौभाग्य से ऐसे शब्द मुंह से निकलते हैं कि उनके सामने स्वयं वेद भी
टे के दिखाई देते हैं, और कैवल्य तत्त्व उनकी बराबरी नहीं कर सकता, जिस सौभाग्य से वाणी

की बेल इस प्रकार लहलहाने लगती है कि श्रवण-सुख के मंडप के नीचे सारे विश्व को अखंड बसन्त की शोभा का अनुभव होता है, जिस सौभाग्य के कारण ऐसा चमत्कार दिखाई देता है कि जिस परमात्मा का पता न लगने के कारण मन के साथ वाचा को भी निराश होकर लौट आना पड़ता है, वही परमात्मा शब्दों के लिए भी गोचर हो जाता है, जिस सौभाग्य से उस इन्द्रियातीत ब्रह्म-तत्त्व का शब्दों में वर्णन किया जा सकता है जो साधारणतः ज्ञान के लिए अगम्य और ध्यान के लिए असाध्य होता है, वही परम सौभाग्य श्रीगुरुदेव के चरण कमलों की धूल का एक कण प्राप्त होते ही वाणी में आ सकता है। अब इससे अधिक मैं और क्या कहूं ! मैं ज्ञानदेव स्पष्ट रूप से कहता हूं कि इस गुरु-प्रेम के समान प्रेम माता के सिवा और कहीं या किसी में प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि मैं बहुत ही छोटे-से बालक के समान हूं और श्रीगुरुदेव ऐसी माता के समान हैं जिसका एक ही एकलौता लड़का होता है; इसलिए उनकी कृपा का प्रवाह सदा समान रूप से होकर एकमार्गी होकर मेरी ओर बहता रहता है। हे श्रोतागण, जिस प्रकार मेघ अपनी सारी जल-सम्पत्ति चातकों के लिए उलट देता है, उसी प्रकार श्रीगुरुदेव ने भी मुझ पर अपनी करुणा की वर्षा की है। इसी का यह परिणाम है कि जब मैं व्यर्थ की बकवाद करने लगा, तब उस बकवाद में से भी गीता का मधुर रहस्य निकल पड़ा। यदि भाग्य अनुकूल हो तो बालू भी रत्न हो जाता है; और यदि आयु अभी पूरी न हुई हो तो मारने वाला भी दया और प्रेम करने लगता है। जब जगदीश्वर अपने मन में किसी का पेट भरने का सुभीता करना चाहता है, तब यदि अदहन में कंकड़-पत्थर भी डाल दिये जायं, तो वे भी अमृत के समान मधुर चावल बन जाते हे। ठीक इसी प्रकार यदि श्रीगुरुदेव भी कृपापूर्वक अंगीकार कर लें तो यह सारा संसार ही मोक्षमय हो जाता है। देखिये, उन जगत् के वन्दनीय पुराण-पुरुष नारायण के अवतार भगवान् श्रीकृष्ण ने पांडवों के लिए कभी किसी बात की कोई कमी न होने दी थी ! ठीक इसी प्रकार श्रीनिवृत्तिनाथजी महाराज ने मेरे अज्ञान को भी ज्ञान की बराबरी का बना दिया है। परन्तु इस प्रकार की बातें यथेष्ट हो चुकीं। बोलते-बोलते मेरा प्रेम बहुत अधिक उमड़ पड़ा है। परन्तु यदि वास्तव में देखा जाय तो ऐसा ज्ञान भला किसका हो सकता है जो गुरुदेव के महत्त्व का यथार्थ वर्णन कर सके ? अब उन्हीं गुरुदेव के प्रसाद से मैं आप सन्त श्रोताओं के चरणों में गीता का अर्थ समर्पित करना चाहता हूं। अभी जो चौदहवां अध्याय समाप्त हुआ है, उसके अन्त में कैवल्य-धाम श्रीकृष्ण ने यह सिद्धान्त बतलाया था कि जिस प्रकार स्वर्ग की सम्पत्ति का स्वामी इन्द्र होता है, उसी प्रकार मुक्ति का स्वामी और अधिकारी ज्ञानी पुरुष होता है। अथवा सैकड़ों जन्मों तक जो ब्रह्मकर्म करता रहता है, वही अन्त में ब्रह्मा होता है, दूसरा कोई ब्रह्मा नहीं हो सकता। और सूर्य के प्रकाश का अनुभव जिस प्रकार आंखों वाले आदमी को हो सकता है, उस प्रकार बिना आंखों वाले को कभी हो ही नहीं सकता। ठीक इसी प्रकार मोक्ष का परमानन्द भी केवल ज्ञान के ही हिस्से में आता है। अब जब भगवान् इस बात का विचार करने लगे कि ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता किसमें होती है, तब उन्हें इसके लिए केवल एक पुरुष योग्य दिखाई दिया। आंखों में दिव्य अंजन लगा लेने पर पृथ्वी के अन्दर रखा हुआ गुप्त धन स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है; परन्तु साथ ही उस गुप्त धन को देखने के लिए ऐसा आदमी होना चाहिए जो पैरों के बल और उलटा जनमा हो। ठीक इसी प्रकार यह भी सत्य है कि ज्ञान से निस्सन्देह मोक्ष की प्राप्ति होती है परन्तु जिस मन में ज्ञान रह सके, वह मन भी अत्यन्त शुद्ध होना चाहिए। और फिर भगवान् ने बहुत ही विचारपूर्वक यह सिद्धान्त भी बतला रखा है कि बिना विरक्ति के ज्ञान कभी स्थिर रह ही नहीं सकता। फिर भगवान् ने इस बात का भी विचार किया है कि मन में किस प्रकार पूर्ण रूप से विरक्ति आती है। यदि भोजन करने वाले को यह बात मालूम हो कि विष मिलाकर भोजन तैयार किया गया है, तो वह थाली एक तरफ खिसकाकर भोजन पर से उठ जाता है। ठीक इसी प्रकार जब मन में यह बात अच्छी तरह बैठ जाती है कि यह संसार अ-शाश्वत और नश्वर है, उस समय यदि कोई विरक्ति को अपने पास से हटा भी दे तो भी वह आपसे आप पीछे हो लेती है। अब इस पन्द्रहवें अध्याय

भगवान् एक वृक्ष के रूपक क द्वारा यह बतलाते हैं कि इस संसार की अनित्यता कैसी है। यदि किसी वृक्ष को जड़ मेत उखाड़ लिया जाय और उसकी जड़ ऊपर की ओर करके यह उलटा रख दिया जाय तो वह सूख जाता है। रन्तु इस संसार रूपी वृक्ष के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। इस प्रकार एक रूपक के कौशल से ही भगवान् इस संसार ा आवागमन बन्द कर रहे हैं। इस पन्द्रहवें अध्याय का कथन इसी उद्देश्य से किया गया है कि संसार की निरर्थकता ाद्ध हो जाय और स्व-स्वरूपी अहं ब्रह्माऽस्मि वाली अवस्था स्थायी और दृढ़ हो जाय। अब ग्रन्थ का यह गूढ़ रहस्य बहुत ही मन लगाकर स्पष्ट करना चाहता हूं; तो भी आप लोग ध्यानपूर्वक सुनें। अब परमानन्द के समुद्र में ज्वार त्पन्न करने वाले पूर्ण चन्द्रमा भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकाधीश कहने लगे—''भाई अर्जुन, मेरे स्वरूप की प्राप्ति के मार्ग जो विश्व-भ्रम बाधक होता है, उसे यह विश्व ही न समझ लेना चाहिए। तुम यही समझ रखो कि यह संसार एक चंड वृक्ष है। परन्तु सामान्य वृक्षों की भांति इस वृक्ष की जड़ें नीचे और डालियां ऊपर नहीं हैं और इसीलिए यह बात हसा किसी की समझ में नहीं आती कि यह भी कोई वृक्ष है। यदि किसी वृक्ष की जड़ में आग लग जाय या ल्हाड़ी का प्रहार हो तो फिर चाहे उस वृक्ष का ऊपरी विस्तार कितना ही अधिक क्यों न हो, परन्तु वह जड़ से ही खड़ जाने के कारण सहज में गिर पड़ता है। परन्तु यह संसार रूपी वृक्ष इस प्रकार सहज में नहीं गिराया जा सकता। अर्जुन, इस संसार के सम्बन्ध में यह एक बहुत अद्भुत और चमत्कारपूर्ण बात है कि इसका विस्तार बराबर नीचे ी ओर ही खूब बढ़ता जाता है। जिस प्रकार सूर्य बहुत अधिक ऊंचाई पर होता है और उसकी किरणों का जाल चे की ओर फैलता है, उसी प्रकार इस संसार रूपी वृक्ष का भी बहुत ही चमत्कारिक रूप से बराबर नीचे की ओर विस्तार बढ़ता जाता है। जिस प्रकार प्रलयकाल का जल सारे आकाश को व्याप्त कर लेता है, उसी प्रकार यह सार रूपी वृक्ष इस विश्व के कोने-कोने को भर देता है। अथवा जिस प्रकार सूर्य के अस्त होने पर रात्रि अन्धकार भर जाती है, उसी प्रकार सारा आकाश भी संसार रूपी वृक्ष से ठसाठस भरा हुआ और पूर्ण रूप से व्याप्त है। यदि ना चाहें तो इसमें कोई फल नहीं होता और यदि सूंघना चाहें तो कोई फूल नहीं होता। हे अर्जुन, यह केवल :-ही-वृक्ष है। इसकी जड़ तो ऊपर की ओर ही है, पर यह कोई उखाड़कर उलटा रखा हुआ वृक्ष नहीं है और ीलिए यह सदा खूब हरा-भरा रहता है। और यही कारण है कि उसे ऊर्ध्वमूल कहते हैं। यद्यपि इसके सम्बन्ध में : बात बिलकुल ठीक है, तथापि नीचे की ओर भी इसकी असंख्य जड़ें रहती हैं। आस-पास और चारों ओर फलने वाली कोंपलों के बल से बड़ और पीपल की तरह इसके भी बीजों और कोंपलों से बहुत-सी नई-नई शाखाएं फलती हैं। और हे अर्जुन यह बात नहीं है कि इस संसार रूपी वृक्ष में केवल नीचे की ओर ही डालें होती हों, बल्कि ार की ओर भी इसकी अनगिनत शाखाएं फैली हुई होती हैं। इसे देखने पर ऐसा जान पड़ता है कि मानों आकाश पल्लवित हुआ है अथवा वायु ने ही वृक्ष का आकार धारण कर रखा है अथवा उत्पत्ति, स्थिति और लय इन तीनों वस्थाओं ने ही यह अवतार धारण कर रखा है। इस प्रकार यह एक विश्व-रूपी प्रचंड ऊर्ध्वमूल वृक्ष अस्तित्व में या है। अब इस 'ऊर्ध्व''का क्या अर्थ है, इसकी जड़ों के लक्षण क्या हैं, यह अधोमुख अर्थात् उलटा क्यों है, की शाखाएं कैसी हैं, अथवा नीचे की ओर इस वृक्ष की जो शाखाएं हैं, वे कौन-सी हैं, इसमें ऊपर की ओर जो खाएं हैं, उनका स्वरूप क्या है, और इसका नाम अश्वत्थ क्यों रखा गया है, इत्यादि प्रश्नों का निर्णय आत्मश्रेष्ठों किया है। अब मैं यही बातें ऐसे स्पष्ट शब्दों में तुमको बतलाता हूं जिसमें ये सब तुम्हारी समझ में खूब अच्छी तरह जायं। भइया भाग्यशाली अर्जुन, यह प्रकरण तुम्हारे ही सरीखे लोगों के सुनने योग्य है, इसलिए तुम हृदय को ध करके और इस प्रकार एकाग्रचित्त तथा सावधान होकर सुनो, मानों तुम्हारे प्रत्येक अवयव में श्रवण शक्ति आ हो।'' जब यादव-श्रेष्ठ भगवान् ने इस प्रकार प्रेमरस में भरकर ये सब बातें कहीं, तब अर्जुन मानों सावधानता मूर्तिमान् रूप ही बन गया। उस समय अर्जुन की श्रवण करने की कामना इतनी अधिक बढ़ गई कि मानों वह

आकाश की दसों दिशाओं को गाढ़ आलिंगन करना चाहता हो, और इसीलिए भगवान् का किया हुआ निरूपण उसे बहुत ही अल्प जान पड़ने लगा। यद्यपि श्रीकृष्ण की उक्ति समुद्र के समान अनन्त और असीम थी, परन्तु फिर भी यह अर्जुन एक नये अगस्त ऋषि के रूप में उत्पन्न हुआ था; और इसीलिए वह भगवान् के समस्त वचन-सागर को एक ही घूंट में पान कर जाने का विचार करने लगा। उस समय अर्जुन के हृदय की उत्कंठा इतनी अधिक बढ़ी कि कुछ कहा ही नहीं जा सकता। जब भगवान् ने उसकी यह अवस्था देखी, तब उन्होंने अत्यन्त सन्तोषपूर्वक उसकी बलाएं लीं।

श्रीभगवानुवाच—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥१॥

इसके उपरान्त भगवान् ने कहा—"हे अर्जुन, वह ब्रह्म ही इस वृक्ष का ऊर्ध्व है और इसी वृक्ष के सम्बन्ध के कारण उसे वह ऊर्ध्वता या उच्चता प्राप्त हुई है। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो जो एकरूप, अद्वैत, कैवल्य तत्त्व है, उसमें ऊर्ध्व, मध्य और अध (अर्थात् ऊपरी भाग, बीच का भाग और नीचे का भाग) का कोई भेद हो नहीं सकता, जो ऐसा नाद है जो कभी कानों से सुना ही नहीं जा सकता, जो मकरन्द की ऐसी सुगन्ध है जिसका घ्राणेन्द्रिय कभी अनुभव कर ही नहीं सकती, जो ऐसा आनन्द है जो बिना विषयों का सेवन किये हुए ही प्राप्त होता है, जो अपने इस पार भी और उस पार भी, अपने आगे भी और पीछे भी केवल स्वयं ही है, जो अदृश्य रहता है और बिना देखने वाले के ही दिखाई देता है, जो उपाधि के सम्बन्ध से ही नाना-रूपात्मक विश्व होता है, जो ज्ञाता और ज्ञान-वस्तु के बिना ही ज्ञान है, जो सुख से पूर्ण रूप से भरा हुआ होने पर भी शून्य गुण आकाश ही है, जो कार्य भी नहीं है और कारण भी नहीं है, जो द्वैत भी नहीं है और अद्वैत भी नहीं है, जो केवल स्वयं ही और आत्मस्वरूप रहता है, वही अद्वितीय तत्त्व इस संसार रूपी वृक्ष का ऊर्ध्व है। अब मैं तुमको बतलाता हूं कि इस ऊर्ध्व जड़ में अंकुर किस प्रकार उत्पन्न होते हैं। वन्ध्या के पुत्र के वर्णन की तरह जिसे झूठ-मूठ और व्यर्थ ही माया कहते हैं, जो सत् भी नहीं है और असत् भी नहीं है, जो विचार के सामने नहीं ठहरता (अर्थात् विचार में नहीं आ सकता) परन्तु इतना होने पर भी जिसे अनादि कहते हैं, जो भेदभाव का सन्दूक है, जिसमें ये नाना लोक उसी प्रकार रहते हैं, जिस प्रकार आकाश में मेघ रहते हैं, जो समस्त साकार वस्तु रूपी वस्त्र की असली तह है, जो संसार रूपी वृक्ष का सूक्ष्म बीज है, जो प्रपंच की जन्मभूमि और मिथ्या ज्ञान (अर्थात् मोह) की प्रकाशमान् ज्योति है, वह माया उस निर्गुण ब्रह्म में इस प्रकार रहती है कि मानों है ही नहीं; और फिर वह जो-जो व्यवहार करती है, वह सब उस ब्रह्म के तेज के प्रभाव से ही करती है। जिस समय हमें नींद आती है, उस समय जिस प्रकार हम स्वयं ही अपने आपको ज्ञानशून्य कर लेते हैं अथवा दीपक जिस प्रकार कजली उत्पन्न करके स्वयं ही अपनी प्रभा मन्द कर लेता है अथवा जिस प्रकार स्वप्न में कोई पुरुष यह देखता है कि मेरे सामने सोई हुई तरुणी जाग उठी है और वह वास्तव में आलिंगन न होने पर यही कल्पना करता है कि वह तरुणी मुझे आलिंगन कर रही है और तब वह काम-विकार से क्षुब्ध होता है, ठीक उसी प्रकार हे अर्जुन, उस निर्गुण ब्रह्म में जो माया उत्पन्न हुई है और अपने मूल स्वरूप की जो विस्मृति हुई है, वही इस संसार-रूपी वृक्ष की पहली जड़ है। मूल वस्तु को जो यह अपने वास्तविक स्वरूप की विस्मृति हुई है, वही, इस वृक्ष की ऊंचाई पर रहने वाला प्रधान स्कन्द है; और इसी को वेदान्त में 'बीजभाव' कहते हैं। जो पूर्ण अज्ञानमय और सुषुप्ति वाली अवस्था है, उसी का नाम बीजांकुर भाव है। दूसरी जो स्वप्न और जाग्रति वाली दशाएं हैं, उन्हें उस सुषुप्ति का फलभाव कहते हैं। इस सम्बन्ध में वेदान्त के निरूपण की यह परिभाषा है। अस्तु; इस समय केवल इतना ही कहना है कि इस संसार रूपी वृक्ष का मूल अज्ञान है। इसका

ो ऊर्ध्व भाग है, वह निर्मल आत्मा है, और उसके नीचे की जो जड़ें बतलाई गई हैं, वह माया के योग से बनन
ाले थांवले में खूब अच्छी तरह बढ़ी और फैली हुई हैं; इसके उपरान्त और भी नीचे की ओर अनेक प्रकार के
ासंख्य शरीर उत्पन्न होते हैं और उनके चारों ओर अंकुर निकलते हैं जो नीचे की ओर बराबर बढ़ते जाते हैं। इस
कार इस संसार-रूपी वृक्ष की जड़ अपने ऊर्ध्व भाग में अद्वैत ब्रह्म से बल प्राप्त करके नीचे की ओर केवल
ंकुर-ही-अकुर निकालती चलती है। इनमें से पहला अंकुर अन्तःकरण की वृत्ति का होता है। यही महत्तत्त्व का
वकसित कोमल पत्ता है। फिर इसमें से नीचे की ओर तीन पत्तों वाला एक अंकुर निकलता है। यही अंकुर अहंकार
और सत्त्व, रज तथा तम इसके तीनों पत्ते हैं। यही अहंकार का अंकुर आगे चलकर बुद्धि की डाली या शाखा
त्पन्न करता है और अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न भावों को बढ़ाकर मन की शाखा हरी-भरी रखता है। इस प्रकार
स संसार-रूपी वृक्ष में ऊपर वाले मूल की सामर्थ्य से विकल्प-रस से भरा हुआ चित्त-चतुष्टय का अंकुर उत्पन्न होता
। फिर आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी इन पांचों महाभूतों के रूप में सुन्दर और सीधी कोंपलें इसमें निकलती
। फिर इन्हीं कोंपलों में कर्ण आदि पांचों इन्द्रियां और उनकी विषय भी अनेक प्रकार की और विचित्र कोमल
त्तियों के रूप में उत्पन्न होते हैं। जब उसमें शब्द-कर्ण का अंकुर निकलता है, तब कर्णेन्द्रिय की वृद्धि दूनी हो जाती
और भिन्न-भिन्न वासनाओं के समूह सामने आने लगते हैं—अनेक प्रकार की बातें सुनने की वासनाएं उत्पन्न होती
। अंग रूपी बेल और त्वचा के पल्लवों में स्पर्श-ज्ञान के अंकुर निकलते हैं जिससे बहुत-से नये-नये विकार उत्पन्न
ते हैं। इसके उपरान्त रूप के पल्लव उत्पन्न होते हैं और चक्षुरिन्द्रिय दूर तक दौड़ लगती है जिससे मोह और
ान्ति की उत्पत्ति होती है। जब रस की शाखा वेग से और खूब बढती है, तब जिह्वा पर लालसा के असंख्य पल्लव
ाकल आते हैं। ठीक इसी प्रकार जब गन्ध का अंकुर बढ़ता है, तब घ्राण रूपी शाखा बढ़कर खम्भे के समान हो
ाती है और उसके नीचे लोभ आकर आनन्दपूर्वक निवास करने लगता है। इस प्रकार महत्तत्त्व, अहंकार, मन और
हाभूत इस संसार-रूपी वृक्ष को खूब जोरों से बढ़ाते चलते हैं। बस महत्तत्त्व आदि आठ अंगों में ही इसके
धिकाधिक अंकुर निकलते हैं। परन्तु जब सीपी को देखकर चांदी का भ्रम होता है, तो वह चांदी उतनी ही बड़ी
खाई देती है, जितनी बड़ी सीपी होती है। अथवा सागर का जितना अधिक विस्तार होता है, उतनी ही दूर तक
रंगें भी उठती हैं। ठीक इसी प्रकार वह अद्वैत ब्रह्म इस अज्ञानजन्य संसार-वृक्ष का रूप धारण करता है। जिस
कार स्वप्न में हम अकेले रहने पर भी स्वयं ही अपना सारा परिवार बन जाते हैं, ठीक उसी प्रकार इस संसार-वृक्ष
ा विस्तार और प्रसार वह ब्रह्मतत्त्व ही है। परन्तु वे सब बातें बहुत हो चुकीं। इस प्रकार ऐसे ठाट का यह विलक्षण
क्ष उत्पन्न होता है और इसमें महत्तत्त्व आदि अंकुर निकलने के कारण नीचे की ओर इसकी शाखाएं बराबर बढ़ती
ाती हैं। अब मैं तुमको यह बतलाता हूं कि ज्ञाता लोग इसको अश्वत्थ क्यों कहते हैं। तुम ध्यान देकर सुनो। श्वः
ा अर्थ है उषा या प्रभातकाल; और यह संसार-रूपी वृक्ष दूसरे प्रभातकाल तक भी एक-सा नहीं रहता। जिस प्रकार
ण-भर बीतने पर ही मेघ में एक के अनेक रंग हो जाते हैं अथवा विद्युत् जिस प्रकार पल-भर भी अखंड या शान्त
हीं रह सकती अथवा सदा कांपता रहने वाला कमल का पत्ता जल पर क्षण-भर भी शान्त होकर नहीं रहता अथवा
ास प्रकार पीड़ित या व्याकुल व्यक्ति का चित्त कभी स्थिर नहीं हो सकता, उसी प्रकार यह संसार-रूपी वृक्ष भी
भी स्थिर या एक-सा नहीं रहता। यह क्षण-क्षण पर नष्ट होता रहता है और इसीलिए इसे अश्वत्थ कहते हैं।"
छ लोग इस प्रसंग में अश्वत्थ का अर्थ सामान्य पीपल का वृक्ष बतलाते हैं, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण का कभी यह
भिप्राय नहीं है। परन्तु यदि इसे पीपल ही कहा जाय तो भी इस प्रसंग में इसकी अच्छी संगति बैठाई जा सकती
। परन्तु इन सब बातों को जाने दो, क्योंकि लौकिक बातों के झगड़े में पड़ने से हमें क्या मतलब ? इसलिए हे
ोतागण, अब आप लोग यह अलौकिक ग्रन्थ ही सुनें। "इसकी क्षणभंगुरता के कारण ही इस संसार-रूपी वृक्ष को

अश्वत्थ कहते है। इस ससार-रूपी वृक्ष की 'अक्षय' के नाम से भी अधिक ख्याति है, परन्तु इसका जो कुछ गर्भित अर्थ है, वह भी सुन लो। जिस प्रकार समुद्र एक ओर से तो मेघों के द्वारा सोखा जाता है और दूसरी ओर से नदियों के द्वारा भरा जाता है और इसीलिए न वह कभी घटता ही है और न बढ़ता ही है, हां मेघों और नदियों का भ्रम नहीं खुलना चाहिए (तात्पर्य यह कि यदि वर्षा का होना और नदियों का मिलना बन्द हो जाय तब पता चले कि समुद्र कैसे नहीं सूखता है।) इसी प्रकार इस संसार-रूपी वृक्ष की स्थिति और लय बहुत जल्दी-जल्दी होने के कारण लोगों की समझ में नहीं आता और इसीलिए लोग इसे 'अव्यय' या 'अक्षय' कहते हैं। जिस प्रकार दानशील पुरुष अपना धन व्यय करके ही पुण्य संचय करता है, उसी प्रकार यह वृक्ष भी अपना व्यय करते रहने के कारण ही अव्यय जान पड़ता है। रथ का पहिया जब बहुत जोरों से घूमता है, तब ऐसा जान पड़ता है कि मानों वह घूमता ही नहीं अथवा जमीन में ही लगा हुआ है। इसी प्रकार जब काल के प्रभाव से इस संसार-रूपी वृक्ष की कोई भूतशाखा सूखकर गिर जाती है, तथा उसी स्थान पर करोड़ों दूसरी शाखाएं उत्पन्न हो जाती हैं। परन्तु जिस प्रकार आषाढ़ के मेघों के सम्बन्ध में यह पता नहीं चलता कि कब एक मेघ हटता है और कब उसके स्थान पर और बहुत-से मेघ आ जाते हैं, उसी प्रकार इस संसार-वृक्ष के सम्बन्ध में भी यह पता नहीं चलता कि कब इसकी एक शाखा टूटी और कब उसके स्थान पर करोड़ों नई शाखाएं उत्पन्न हुई। महाकल्प के अन्त में अस्तित्व धारण करने वाली सारी सृष्टि लय को प्राप्त हो जाती है, परन्तु उसके साथ ही बहुत-सी नई सृष्टियों का भी जंगल बन जाता है। प्रलय के समय संहार करने वाली वायु के कारण ज्यों ही विश्व की एक छाल भस्म हो जाती है, त्यों ही नवीन कल्पों को आरम्भ करने वाली नई-नई पत्तियों के समूह निकल आते हैं। जिस प्रकार ऊख के एक कांड में से ही और बहुत से नये कांड उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार एक मनु के उपरान्त दूसरा मनु और एक वंश के उपरान्त दूसरा वंश उत्पन्न होता है; और इस प्रकार मन्वन्तरों और वंशान्तरों की परम्परा बराबर बढ़ती चलती है। कलियुग के अन्त में ज्यों ही युगों की चौकड़ी की नीरस छाल गिर जाती है, त्यों ही कृतयुग की नई छाल तुरन्त उत्पन्न हो जाती है। जब प्रचलित वर्ष का अन्त होता है, तब वह आने वाले वर्ष को मानों निमन्त्रण देता है। जिस प्रकार यह बात स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आती कि आज का दिन समाप्त हो रहा है और कल का दिन आ रहा है, अथवा जिस प्रकार वायु के झोंकों में कहीं कोई सन्धि नहीं दिखाई देती, उसी प्रकार यह बात भी समझ में नहीं आती कि कब और कहां से इस वृक्ष की कितनी शाखाएं गिरती हैं और कब कहां कितनी नई शाखाएं उत्पन्न होती हैं। जब एक शरीर का अंकुर टूटता है, तब अनेक नये शरीरों के अंकुर उत्पन्न होते हैं। और इसीलिए यह संसार-रूपी वृक्ष अव्यय या अक्षय-सा जान पड़ता है। जिस प्रकार बहता हुआ पानी बराबर आगे की ओर बढ़ता रहता है, पर साथ ही उसके पीछे आने वाला पानी तुरन्त ही आकर उसका स्थान ले लेता है, ठीक उसी प्रकार की बात सदा इस वृक्ष के सम्बन्ध में भी होती रहती है; और इसीलिए लोग इस नश्वर को भी शाश्वत मानते हैं। जितनी देर में एक बार पलक झपकती है, उतनी ही देर में समुद्र में करोड़ों तरंगें उठती हैं और इसीलिए अज्ञानियों को तरंगें नित्य या अक्षय-सी जान पड़ती हैं। कौए की आंखें तो दो होती हैं, परन्तु पुतली एक ही होती है; परन्तु उस पुतली को वह कौआ एक ही क्षण में दोनों आंखों में समान रूप से घुमाता रहता है और इसीलिए लोगों को यह भ्रम होता है कि कौए की दोनों पुतलियां होती हैं। जब लट्टू खूब जोर से घूमता हुआ किसी एक ही स्थान पर खड़ा होकर घूमने लगता है, तब देखने वालों को यह भ्रम होता है कि वह जमीन पर सीधा खड़ा हुआ है और बिलकुल स्तब्ध है। परन्तु इस भ्रम का कारण यही होता है कि वह लट्टू उस समय बहुत अधिक वेग से घूमता है। दूर क्यों जायं, जब घेरे में बनेठी खूब जोर से घुमाई जाती है, तब प्रकाश की केवल एक चक्राकार रेखा ही दिखाई देती है। ठीक इसी प्रकार सहज में इस बात का पता नहीं चलता कि इस संसार-रूपी वृक्ष की शाखाएं कब टूटती हैं और कब नई निकलती हैं; और

इसीलिए मूढ़ लोग इसे अव्यय समझते हैं। परन्तु जिसकी समझ में इसका वेग आ जाता है, उसे इसकी क्षणभंगुरता का भली-भांति ज्ञान हो जाता है। ज्ञानी लोग यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि एक ही निमेष में इसमें करोड़ों बार स्थिति और लय के विकार होते हैं। जिसकी समझ में यह बात आ जाती है कि इस संसार-रूपी वृक्ष का मूल अज्ञान के सिवा और कुछ भी नहीं है, इसका अस्तित्व मिथ्या है और यह वृक्ष ही क्षणभंगुर है, हे अर्जुन, उसी को मैं सर्वज्ञ ज्ञानी कहता हूं। वेदों के सिद्धान्त का भी वही ज्ञान विषय है। सारा योग-साधन केवल इसी प्रकार के ज्ञानी के लिए उपयोगी होता है। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि ऐसा पुरुष ही ज्ञान को जीवित रखता है। परन्तु अब इस विषय का अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नहीं। जो यह जानता है कि यह संसार रूपी वृक्ष क्षणभंगुर है, उसका वर्णन भला कौन कर सकता है !

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

"इसके अतिरिक्त नीचे की ओर शाखाएं निकालने वाले इस संसार-रूपी वृक्ष की सीधी ऊपर की ओर जाने वाली शाखाएं भी बहुत-सी हैं। फिर नीचे की ओर जो शाखाएं आई हैं, उनमें भी जड़ें निकली हैं और उन जड़ों के नीचे भी बेलें और पत्तियां निकलकर फैल रही हैं। यह बात अभी आरम्भ में बतलाई जा चुकी है। पर इस समय वही बात और अधिक स्पष्ट करके बतलाई जाती है। इस वृक्ष का जो दृढ़ मूल अज्ञान है, जिससे महत्तत्त्व आदि आठ प्रकार की माया उत्पन्न होती है और ज्ञान के घोर जंगल निकल आते हैं। परन्तु पहले इस वृक्ष की जड़ में स्वेदज, जारज, उद्भिज और अंडज ये चार प्रबल शाखाएं निकलती हैं। फिर इनमें से एक-एक शाखा में से ये चौरासी लाख योनियां उत्पन्न होती हैं, और फिर इस वृक्ष की जीवों वाली शाखा पर अंकुरों के रूप में अपरम्पार जीवों के समूह उत्पन्न होते हैं। कुछ शाखाएं सीधी जाती हैं और उनमें टेढ़ी-तिरछी और नाना प्रकार की सृष्टियों की जो टहनियां निकलती हैं, वही जीवों की भिन्न-भिन्न जातियों की परंपराएं होती हैं। वे जीव नाना प्रकार के आकारों के कारण अपने आपमें स्त्री, पुरुष और नपुंसक के भेद लगाने लगते हैं। जिस प्रकार वर्षा के दिनों में आकाश को घोर काले मेघ व्याप्त कर लेते हैं, उसी प्रकार अज्ञान की दशा में सब जीव साकार बनने लगते हैं। फिर इस संसार-रूपी वृक्ष की शाखाएं अपने भारी बोझ के कारण नीचे की ओर झुकने लगती हैं और एक-दूसरी में खूब अच्छी तरह उलझ जाती हैं, जिसके गुण क्षुब्ध हो जाते हैं और उन क्षुब्ध गुणों की हवाएं चारों तरफ बहने लगती हैं। फिर उन गुणों के प्रचंड झोंकों में पड़कर यह ऊर्ध्व मूल वृक्ष तीन जगहों से चिर जाता है। इनमें से रजोगुण की वायु का झोंका बहुत जोरों से आता है जिसके कारण मानव जाति वाली शाखा खूब जोरों से मजबूत और बड़ी होने लगती है। वह न तो ऊपर की ओर ही जाती और न नीचे की ओर ही झुकती है, बल्कि बीच में रुकी रहती है और उसमें से चातुर्वर्ण्य की टेढ़ी-तिरछी शाखाएं निकलती हैं। उसमें विधि और निषेध आदि के पत्तों से विस्तृत होने वाली वेद-वचनों की मधुर और लहलहाती हुई शाखाएं निकलने लगती हैं। अर्थ और काम का भी यथेष्ट विस्तार होता है और उनमें नये-नये अंकुर निकलते हैं जिससे ऐहिक सुखोपयोग के नये-नये परन्तु क्षणभंगुर स्थलों का निर्माण होता है। उनमें प्रवृत्ति बहुत अधिक बढ़ी हुई होती है, जिसके कारण उनमें भले और बुरे क्रिया-कर्मों की जो अनेक शाखाएं निकलती हैं, उनकी कोई गिनती ही नहीं हो सकती। जो शरीर अपना भोग भोगकर दुर्बल और पुराने हो जाते हैं, वे सूखी हुई डालों के समान गिर पड़ते हैं और उनके स्थान पर बहुत-से नये शरीर उत्पन्न होकर सुशोभित होते हैं। इसी प्रकार शब्द आदि विषयों के स्वाभाविक रंगों से चमकने वाले नित्य नये-नये सुन्दर पल्लव उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार रजोगुण की वायु के भयंकर झोंके से मानव शाखाओं की खूब अधिकता हो जाती है जिससे मनुष्यलोक सज जाता है। फिर जब रजोगुण के ये बादल कुछ शान्त होते हैं,

तब तमोगुण का घोर प्रभजन चलने लगता है। उस समय इसी मानव शाखा पर नीचे की ओर अधम वासनाओं की पत्तियां निकलने और दुष्कर्मों की शाखाएं फैलने लगती हैं। फिर कुमार्ग की कोंपलें निकलती हैं जो सीधी होने पर भी मजबूत होती हैं और उनमें पत्तों से भरी हुई दोषों की डालियां लहलहाती हुई दिखाई देती हैं। विधि और निषेध का विधान करने वाले ऋक्, यजुः और साम ये तीनों वेद इस शाखा के सिरे पर झूलने वाले पत्ते ही माने जाने चाहिए। जारण और मारण के बीच मन्त्रों का उपदेश देकर पर-पीड़क होने वाले अथर्ववेद के पल्लव इसके बाद निकलते हैं जिससे वासना की बेल हरी-भरी होती है। ज्यों-ज्यों ये सब बातें होती चलती हैं, त्यों-त्यों कुकर्मों की बेलें विस्तृत होती जाती हैं और जन्म वाली शाखा बराबर आगे बढ़ती चलती है। फिर चांडाल आदि हीन और दुष्कर्मी जातियों की एक अच्छी और बड़ी शाखा निकलती है और भ्रम में पड़े हुए कर्म-भ्रष्ट लोग इस शाखा के जाल में फंसते हैं। अब पशु-पक्षी, सूअर, बाघ, बिच्छू, सांप आदि असंख्य जीवों की टेढ़ी-तिरछी शाखाओं का भी विस्तार होता है। हे अर्जुन, इस प्रकार ये शाखाएं सब जगह हरी-भरी दिखाई देती हैं और इन पर नरक-भोग के फल लद जाते हैं। निरन्तर हिंसा आदि कर्मों का संचालन करने वाले ये अंकुर अनेक जन्मों तक समान रूप से लहलहाते रहते हैं। इसी प्रकार वृक्ष, तृण, लोहा, मिट्टी पत्थर आदि की शाखाएं भी उत्पन्न होती हैं और उन पर भी इसी प्रकार के फल लगते हैं। हे अर्जुन, इस प्रकार मानव शाखा से लेकर नीचे वाली शाखाओं के स्थावर वर्ग तक वृद्धि होती है। इसलिए वहीं से यह संसार-रूपी वृक्ष नीचे की ओर बढ़ने लगता है। नहीं तो, हे अर्जुन, यदि ऊर्ध्व भाग में रहने वाले इसके आरम्भिक मूल का ध्यान रखा जाय तो ये नीचे की ओर की शाखाएं मध्य में रहने वाली शाखाएं ही गिनी जानी चाहिए। परन्तु सदसद् क्रिया-रूपी जो तमोगुण और सत्त्व गुण की शाखाएं इस वृक्ष में ऊपर और नीचे की ओर फैली हुई हैं और वेद-त्रयी की जो शाखा विकसित है, उसका, हे अर्जुन, मनुष्य के बिना अस्तित्व ही नहीं हो सकता। इसलिए मानव-तन यद्यपि ऊपर के मूल से निकली हुई शाखा है, तो कर्म की वृद्धि का मूल कारण यही शाखा होती है। दूसरे वृक्षों की भी यही अवस्था होती है। ज्यों-ज्यों उनकी शाखाएं बढ़ती जाती हैं, त्यों-त्यों उनकी जड़ भी बराबर और नीचे की ओर जाती और मजबूत होती चलती है। और ज्यों-ज्यों जड़ मजबूत होती चलती है, त्यों-त्यों वृक्ष का विस्तार भी बढ़ता जाता है। यही बात इस शरीर के सम्बन्ध में भी है। जब तक कर्म रहते हैं, तब तक देह की परम्परा भी रहती है और जब तक देह का अस्तित्व रहता है, तब तक कर्मों का कभी खंड नहीं होता—कर्म भी बराबर होते और चलते रहते हैं। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह मानव शरीर ही संसार के विस्तार का मूल है। जब तमोगुण के प्रचंड झोंके कुछ शान्त होते हैं, तब सत्त्वगुण की जोरों की आंधी शुरू होती है। उस समय उसी मानव शाखा में सुवासना के अंकुर उत्पन्न होते हैं और उसमें सत्कर्मों की बहुत-सी कोंपलें लगने लगती हैं। ज्ञान का यथेष्ट प्रकाश हो जाने के कारण बुद्धि की तीव्र सामर्थ्य से एक ही क्षण में बहुत-सी नई-नई शाखाएं उत्पन्न हो जाती हैं। बुद्धि की सरल और दृढ़ शाखाएं निकलती हैं और उनमें स्फूर्ति के अंकुर उत्पन्न होते हैं और बुद्धि का प्रकाश विवेक-विचार का आश्रय लेता हुआ आगे बढ़ता है। फिर बुद्धि के रस से भरे हुए भक्ति के पल्लवों में से सद्वृत्ति के सुन्दर और कोमल अंकुर निकलते हैं। इस सदाचार के विपुल अंकुरों के अग्र भाग पर वेद-वचनों का घोष होता रहता है। फिर शिष्टाचार वेदोक्त-विधि और यज्ञादि कर्मों के असंख्य पत्तों में से और भी अनेक नये-नये पत्ते निकलने लगते हैं। फिर तपस्या की ऐसी शाखाएं निकलती हैं जिनमें यम-दम आदि लटकते रहते हैं और आगे चलकर वही कोमल परन्तु विशाल वैराग्य की शाखाएं उत्पन्न करते हैं। फिर धैर्य-रूपी अंकुर के तीक्ष्ण सिरे पर भिन्न-भिन्न व्रतों की टहनियां निकलती हैं और वे सीधी ऊपर की ओर बहुत अधिक ऊंचाई तक चली जाती हैं। इन्हीं में वेदों की बहुत बड़ी शाखा रहती है; और जिस समय सत्त्वगुण की हवाएं बहुत जोरों से चलने लगती हैं, उस समय यह टहनी सुविधा की सरसराहट करती रहती है। फिर धर्म

की शाखा बढ़ने लगती है और उसी में से जन्म वाली सरल शाखा निकलती है और साथ ही स्वर्ग-सुख आदि की टेढ़ी-तिरछी शाखाएं भी निकलकर खूब बढ़ती और फैलती हैं। इसी प्रकार सूर्य और चन्द्रमा आदि ग्रह, पितर, ऋषि, विद्याधर आदि की उपशाखाओं का भी प्रसार होने लगता है। इनके और ऊपर बहुत अधिक ऊंची और फलों से लदी हुई इन्द्रलोक आदि की शाखाएं होती हैं। और इनसे भी ऊपर मरीचि और कश्यप आदि ने तपोज्ञान के बल से अपनी विशाल शाखाएं ऊंची कर रखी हैं। इस प्रकार एक-पर-एक ऐसी बहुत-सी शाखाएं बराबर अधिकाधिक फैलती जाती हैं जो मूल की ओर तो बहुत छोटी होती हैं, परन्तु जो आगे चलकर बहुत बड़ी हो जाती हैं और जिनमें फलों की खूब बहार रहती है और जो अत्यन्त महत्त्व की तथा विशाल होती हैं। इसके अतिरिक्त इन ऊपर जाने वाली शाखाओं में जो बहुत-से फल लगते हैं, उनके अग्रभाग से, हे अर्जुन, ब्रह्मा और शंकर आदि तक समस्त अंकुर निकलते हैं। फिर फलों के बहुत अधिक भार के कारण ये शाखाएं झुककर दोहरी हो जाती हैं और अपने मूल पर ही आ ठहरती हैं। साधारण वृक्षों में भी यही बात होती है। जब उनकी शाखाओं पर फलों का भार बहुत अधिक हो जाता है, तब शाखाएं आपसे आप झुकने लगती हैं और जड़ पर ही आ ठहरती हैं। ठीक इसी प्रकार, हे अर्जुन, जिस मूल से इस संसार-रूपी वृक्ष की उत्पत्ति होती है, उसी मूल पर बढ़ते हुए ज्ञान के भार के कारण उसका विस्तार फिर आकर ठहरता है। इसीलिए ब्रह्मलोक और शिवलोक के आगे जीव की वृद्धि या उन्नति के लिए और कोई गति नहीं होती और इन लोकों की प्राप्ति होने पर जीव ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। परन्तु अब इन बातों को जाने दो। वे ब्रह्मा आदि देवता भी अपनी सामर्थ्य से उस ऊर्ध्व-मूल की बराबरी तक नहीं पहुंच सकते। इनसे भी ऊपर सनकादिक नाम की और भी अनेक प्रसिद्ध शाखाएं हैं। परन्तु उन शाखाओं पर फलों का भार नहीं होता और इसीलिए वे मूल की ओर न लौटकर सीधी ऊपर-ही-ऊपर चलकर ब्रह्म में प्रवेश करती हैं। इस प्रकार मनुष्य से लेकर ऊपर ब्रह्मा आदि तक इन शाखाओं की वृद्धि बहुत अधिक ऊंचाई तक हुई है। हे अर्जुन, ये ऊपर की ओर ब्रह्मा आदि की जो शाखाएं हैं, उनकी उत्पत्ति मानव शाखा से ही हुई है। और इसीलिए मानव शाखा को नीचे वाला मूल या जड़ कहा गया है। इस प्रकार मैंने तुम्हें इस अलौकिक संसार रूपी वृक्ष की कहानी कह सुनाई है, जिसकी शाखाएं ऊपर की ओर भी गई हैं और नीचे की ओर भी और जिसके ऊपरी भाग में मुख्य मूल या जड़ है। साथ ही इस वृक्ष के जो मूल या जड़ें नीचे की ओर हैं, उनका भी मैंने स्पष्ट रूप से विवेचन कर दिया है। अब तुम यह सुनो कि यह संसार-रूपी वृक्ष किस प्रकार उखाड़कर फेंका जा सकता है।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥

"परन्तु, हे अर्जुन, कदाचित् तुम्हारे मन में यह शंका उत्पन्न होगी कि क्या कोई ऐसा साधन भी हो सकता है कि जिससे यह इतना बड़ा और विशाल वृक्ष उखाड़कर फेंका जा सकता है। यदि ऊपर की ओर जाने वाली इसकी शाखाओं को देखा जाय तो वे ब्रह्मलोक तक जा पहुंची हैं और इनका मूल तो स्वयं निर्गुण में ही है। अपनी नीचे वाली शाखाओं के कारण यह वृक्ष स्थावर के अन्तिम भाग तक पहुंचा हुआ है और इसके मध्य भाग में जो मानव रूपी मूल हैं, वे अलग। इतने दृढ़ और विशाल वृक्ष का भला कौन नाश कर सकता है ? परन्तु इस प्रकार का दुर्बल विचार तुम अपने मन में नाम को भी मत घुसने दो। यह वृक्ष भले ही बहुत दृढ़ और विशाल हो, परन्तु फिर भी इसका उन्मूलन करने में बहुत बड़े श्रम की क्या आवश्यकता है ? भला बच्चों को क्या कभी इस बात की आवश्यकता होती है कि वे हौवे को भगाकर दूसरे देश में पहुंचा दें ! क्या कभी किसी को गन्धर्वनगरी गिराने की, खरगोश के सींग तोड़ने की अथवा आकाश-कुसुम तोड़ने की भी कोई चिन्ता करनी पड़ती है ? ठीक इसी प्रकार, हे अर्जुन यह संसार-रूपी वृक्ष भी बिलकुल वास्तविक या सचमुच का नहीं है। फिर भला इसे उखाड़ फेंकना

कौन बहुत बड़ी बात है ? मैंने इसके मूल और शाखाओं का जो वर्णन किया है उसे वन्ध्या के पुत्र से घर भरने के वर्णन के समान ही समझना चाहिए। स्वप्न में होने वाली कोई घटना हमारे जाग्रत होने पर भला हमारा क्या बिगाड़ सकती है ? इसी प्रकार तुम इस वृक्ष की सारी कहानी को भी बिलकुल निर्मूल ही समझो। क्योंकि यदि यह बात न मानी जाय और इस वृक्ष का मैंने जैसा वर्णन किया है, उसी के अनुसार यह वृक्ष और इसका मूल वास्तव में इतना ही प्रबल और दृढ़ हो, तो फिर भला ऐसा कौन माई का लाल हो सकता था जो इसे उखाड़ सकता ? अरे फूंक मारकर कभी आकाश भी उड़ाया जा सकता है ? इसीलिए हे अर्जुन, मैं तुमको बतलाता हूं कि कछुवी को भी दूध ही नहीं होता; और इसीलिए इस संसार-रूपी वृक्ष का अभी मैंने जो वर्णन किया है, वह वैसा ही माया से पूर्ण है, जैसा यह कहना कि कछुवी के दूध का मक्खन निकालकर और उसका घी तैयार करके किसी राजा के आगे खाने के लिए परोसा गया था। दूर से मृगजल से भरे हुए जलाशय तो अवश्य दिखाई देते हैं, परन्तु क्या उस जल की सहायता से धान के पौधे रोपे जा सकते हैं या केले के पौधे लगाये जा सकते हैं ? यदि मूलतः अज्ञान ही मिथ्या है तो फिर उस अज्ञान के द्वारा होने वाला कार्य भला कहां तक मिथ्या न होगा ? और इसीलिए जब इस संसार-रूपी वृक्ष का भलीभांति विचार किया जाता है, तब यह बिलकुल मिथ्या ही सिद्ध होता है। और जो लोग यह कहते हैं कि इस वृक्ष का कहीं अन्त ही नहीं है और न कभी इसका नाश होता है, उनका कहना भी एक दृष्टि से ठीक ही है। जब तक मनुष्य जाग्रत नहीं होता, तब तक क्या कभी निद्रा का अन्त होता है ? जब तक रात्रि समाप्त न हो, तब तक भला क्या कभी तड़का हो सकता है ? ठीक इसी प्रकार जब तक विवेक से माया को उडा नहीं दिया जाता, तब तक इस संसार-रूपी अश्वत्थ का कभी अन्त नहीं होता। जोरों से बहने वाली हवा जब तक शान्त नहीं होती, तब तक सागर की तरंगें बराबर अनन्त ही जान पड़ती हैं। इसीलिए जब सूर्य का अस्त होता है, तभी मृगजल भी अदृश्य होता है अथवा जब दीपक बुझाया जाता है, तभी प्रभा नष्ट होती है। ठीक इसी प्रकार जब मूल माया को मिटा डालने वाला ज्ञान आकर उपस्थित होता है, तभी इस संसार-रूपी वृक्ष का अन्त होता है; और नहीं तो कभी अन्त नहीं होता। इस संसार को जो अनादि कहा जाता है, वह भी कुछ मिथ्या नहीं है। ऐसा कथन भी ऊपर के विवेचन के आधार पर ठीक है। क्योंकि जब यह संसार-रूपी वृक्ष स्वयं ही वास्तविक या सत्य नहीं है, तो फिर भला इसका आरम्भ कहां हो सकता है और कौन हो सकता है ? जो वास्तव में किसी स्थान पर उत्पन्न होता है, उसके सम्बन्ध में तो यह कहना अवश्य शोभा देता है कि इसका आदि है, परन्तु जो बिलकुल है ही नहीं, उसका भला मूल या आदि कहां हो सकता है ! जिसका कभी जन्म ही न होता हो, उसके सम्बन्ध में भला यह कैसे बतलाया जा सकता है कि इसकी माता कौन है ? तात्पर्य यह कि यह संसार-रूपी वृक्ष वास्तव में बिलकुल है ही नहीं और इसीलिए यह अनादि ठहरता है। भला वन्ध्या के पुत्र की जन्मपत्री कहां से आ सकती है ? आकाश में नीले रंग की पृथ्वी की कल्पना किस प्रकार की जा सकती है ? हे अर्जुन, आकाश-पुष्प का डंठल भला कौन तोड़ सकता है ? जिस संसार का वास्तव में अस्तित्व ही न हो, उसका आदि, आरम्भ या जन्म कहां से हो सकता है ? जिस प्रकार घट का मिथ्यात्व स्वयंसिद्ध है, उसी प्रकार यह मूल सहित संसार-रूपी वृक्ष मिथ्या होने के कारण अनादि है। हे अर्जुन, तुम यह बात ध्यान में रखो कि न तो इसका आदि ही है और न अन्त ही है। मध्य में यह कुछ-कुछ अवश्य भास होता है, परन्तु वह भास भी मिथ्या ही है। मृगजल का स्रोत न तो किसी पर्वत से निकलता ही है और न जाकर किसी समुद्र में गिरता ही है। हां, मध्य में ही उसका कुछ भास होता है। उसी मृगजल की भांति इस संसार का भी न तो कोई आदि ही है और न अन्त ही और न कभी वास्तव में इसका कोई अस्तित्व ही होता है। इस संसार का मिथ्या वैलक्षण्य केवल मध्य में ही भासमान् होता है। जिस प्रकार इन्द्र-धनुष अनेक प्रकार के रंगों से रंगा हुआ होता है, उसी प्रकार अज्ञान से यह संसार रंगा और सजा हुआ दिखाई देता है। जिस

प्रकार चतुर नट अपने वेष से लोगों को भ्रम में डालता है, उसी प्रकार यह संसार भी अपने मध्य वाले आभास के द्वारा लोगों को भ्रम में रखता है। आकाश में वास्तव में कुछ भी न होने पर कभी-कभी गन्धर्व नगर दिखाई देता है, परन्तु क्षण ही भर में वह फिर नष्ट हो जाता है। स्वप्न में दिखाई देने वाले मिथ्या दृश्यों को भी यदि सत्य मान लिया जाय तो भी क्या जाग्रत अवस्था के व्यवहार में उनका कोई उपयोग हो सकता है ? इसी प्रकार क्षण-भर के लिए होने वाला यह आभास वास्तव में बिलकुल मिथ्या ही है। बन्दर को जल में अपना प्रतिबिम्ब तो अनेक प्रकार की चेष्टाएं करता हुआ दिखाई देता है, परन्तु जब वह उसे पकड़ने लगता है, तब उसके हाथ में कुछ भी नहीं आता। इसी प्रकार यह संसार भी दिखाई तो पड़ता है, परन्तु वास्तव में इसका कोई अस्तित्व नहीं है। यह आभास इतनी जल्दी होता है और इतनी जल्दी इस आभास का लोप होता है कि इसके सामने तरंगों की चंचलता तुच्छ होती है और विद्युत् भी इसकी बराबरी नहीं कर सकती। जिस प्रकार वर्षाकाल के आरम्भ की वायु चारों तरफ से चलती है और इस बात का पता नहीं चलता कि यह हवा सामने की तरफ से आ रही है या पीछे की तरफ से, उसी प्रकार इस संसार-रूपी वृक्ष की भी वास्तविक और सच्ची स्थिति नहीं है। न तो इसका आदि है, न अन्त है, न स्थिति है और न रूप है। फिर भला इसे उखाड़ फेंकने के लिए बहुत अधिक परिश्रम या प्रयत्न की क्या आवश्यकता है ? यह केवल हमारे अज्ञान के कारण ही इतना बलवान् है, इसलिए इस पर आत्मज्ञान की कुल्हाड़ी से प्रहार करके इसे गिरा देना चाहिए। एक ज्ञान को छोड़कर इसे गिराने के लिए तुम और जितने उपाय करोगे, वे सभी तुम्हें इस वृक्ष में और भी अधिक फंसावेंगे। फिर तुम इसकी शाखा-शाखा पर ऊपर-नीचे कहां तक घूमते रहोगे ? हां, यदि तुम सत्य ज्ञान के साधन से इसके मूल में रहने वाला अज्ञान ही नष्ट कर डालोगे तो सारा काम आपसे आप हो जायगा। रस्सी को सांप समझकर उसे मारने के लिए लकड़ी लेकर इधर-उधर घूमने की ही तरह क्या यह सारा परिश्रम व्यर्थ नहीं है ? जो मृगजल को नदी समझकर उसे पार करने के लिए नाव तैयार करने के उद्देश्य से जंगल में इधर-उधर भटकता है, वह सचमुच ही किसी नाले में गिरकर डूब जाता है। ठीक इसी प्रकार, हे अर्जुन, इस मिथ्या संसार का नाश करने के लिए जो अनेक प्रकार की विवेचनाएं करता है, जो आत्मज्ञान से रहित होकर रहता है, उसका संसार-सम्बन्धी भ्रम बराबर और भी बढ़ता ही जाता है। इसीलिए, हे अर्जुन, जिस प्रकार स्वप्न में लगने वाले घाव को अच्छा करने का उपाय केवल जाग्रत होना है, उसी प्रकार इस अज्ञान मूल का नाश करने के लिए केवल ज्ञान ही कुठार है। और यह कुठार ज्यों-ज्यों सहज में चलाया जाता है, त्यों-त्यों बुद्धि को वैराग्य की नई-नई शक्ति प्राप्त होती है। ज्यों ही वैराग्य का आविर्भाव होता है, त्यों ही धर्म, अर्थ और काम के त्रिवर्ग से मनुष्य का उसी प्रकार छुटकारा हो जाता है, जिस प्रकार कुत्ता बहुत गरम अन्न खाकर तुरन्त ही उसे वमन करके उसके ताप से मुक्त हो जाता है। हे अर्जुन, यह वैराग्य इतना प्रबल होना चाहिए कि मनुष्य को प्रत्येक पदार्थ से अत्यन्त घृणा हो जाय। इसके उपरान्त देहाभिमान का वेष्टन एकदम से फेंककर यह शस्त्र प्रत्यग्बुद्धि अर्थात् आत्मभावना के हाथ में खूब मजबूती के साथ पकड़ लेना चाहिए। विवेक की सान पर चढ़ाया हुआ और अहं ब्रह्माऽस्मि के आत्मबोध पर खूब अच्छी तरह चोखा किया हुआ यह शस्त्र पूर्ण बोध के चूर्ण के साथ खूब अच्छी तरह रगड़ना चाहिए। और इसके उपरान्त यह देखने के लिए कि हमारे निश्चय की मुट्ठी में कितनी शक्ति है, एक-दो बार इसका प्रयोग भी करके देखना चाहिए। फिर मनन के बल से यह शस्त्र तौलकर धारण करना चाहिए। इसके उपरान्त जब निदिध्यासन के साधन से यह शस्त्र और हम दोनों बिलकुल एकरूप हो जायं, तब फिर इसके प्रहार के सामने कुछ भी नहीं ठहर सकता। अद्वैत तेज के निर्णय से आत्मज्ञान का यह शस्त्र संसार-रूपी वृक्ष को कहीं न रहने देगा। जिस प्रकार शरद्-ऋतु के आरम्भ की वायु आकाश में बादलों का कूड़ा-करकट नहीं रहने देती अथवा उदित होने वाले सूर्य जिस प्रकार सारी कालिमा और अन्धकार को निगल जाता है अथवा जिस

प्रकार जाग्रत होते ही स्वप्न क समस्त खेलों का अन्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्मज्ञान की तीक्ष्ण धार भी बहुत जल्दी अपना काम करती है। जिस प्रकार चन्द्रमा के प्रकाश में मृगजल नहीं दिखाई देता है, उसी प्रकार इस संसार-रूपी वृक्ष की न तो ऊपर वाली जड़ ही कहीं दिखाई देती है और न नीचे की ओर उसकी शाखाओं का फैला हुआ जाल ही कहीं रह जाता है। हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, इस प्रकार आत्मज्ञान के शास्त्र से इस उर्ध्वमूल संसार-वृक्ष को तोड़ डालना चाहिए।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

"इतना हो जाने पर मनुष्य को उस आत्मस्वरूप का प्रत्यय होता है, जिसके सम्बन्ध में यह निर्देश नहीं किया जा सकता कि यह 'यह है' या 'वह है' और जो अपने बिना ही स्वयं-सिद्ध होता है। परन्तु दर्पण का आधार लेकर मूर्ख लोग यह समझते हैं कि एक मुख की जगह दो मुख हैं। ठीक यही बात द्वैत की भी होती है। इसलिए तुम द्वैत का कभी अंगीकार मत करो। इस आत्मस्वरूप को ठीक तरह से देखने का ढंग यही है। कुआं खोदने से पहले भी जमीन के अन्दर पानी का सोता अपनी जगह पर मौजूद रहता है। अथवा जब पानी हट जाता है या नहीं रह जाता तब पानी में पड़ने वाला प्रतिबिम्ब भी फिर लौटकर अपने मूल बिम्ब में आकर लीन हो जाता है; अथवा घट के फूट जाने पर जिस प्रकार घटाकाश फिर आकाश में मिल जाता है अथवा जलना समाप्त होने पर जिस प्रकार अग्नि फिर अपने मूल स्वरूप में जाकर लीन हो जाती है, उसी प्रकार, हे अर्जुन, यह आत्मस्वरूप भी देखना चाहिए। यह बात भी ठीक उसी प्रकार की है, जिस प्रकार जीभ स्वयं अपना ही स्वाद चखे अथवा नेत्र स्वयं अपनी ही पुतली देखे। अथवा जिस प्रकार तेज में तेज मिल जाता है, आकश में आकाश समा जाता है अथवा जलाशय में जल जा मिलता है, उसी प्रकार अद्वैत की दृष्टि से अपना आत्मस्वरूप भी देखा जाता है। जिसे बिना देखे और बिना द्रष्टा बने देखना चाहिए और जिसे न जानते हुए भी जानना चाहिए और जिस वस्तु को आद्य पुरुष कहते हैं, उसके सम्बन्ध में उपाधि का आश्रय लेकर श्रुति ग्रंथ व्यर्थ ही तरह-तरह की बातें बनाते हैं; और फिर व्यर्थ ही उसके नामों और रूपों का वर्णन करने लगते हैं। जो मुमुक्षु लौकिक सुखों से भी और स्वर्ग के सुखों से भी बिलकुल ऊब जाते हैं, वे इस बात की प्रतिज्ञा करके योगज्ञान की ओर प्रवृत्त होते हैं कि हम इस स्वरूप में प्रवेश करके फिर कभी लौटकर इधर नहीं आवेंगे। ऐसे लोग वैराग्य की बाजी जीतकर संसार के बखेड़ों से बहुत दूर निकल जाते हैं और ब्रह्मलोक का पर्वत पार करके उससे भी बहुत आगे पहुंच जाते हैं। फिर वे लोग अहंकार आदि भावनाओं से बिलकुल रहित होकर जिस स्थान पर जाने का आज्ञापत्र प्राप्त करते हैं, जिस मूल वस्तु से आगे मनुष्य की सूखी आशा के समान इतनी बड़ी विश्व-मालिका का विस्तार बाहर निकलता है, जिस वस्तु का ज्ञान न होने के कारण ही इस संसार की, जो वास्तव में बिलकुल मिथ्या है, इतनी अपरम्पार व्याप्ति दिखाई देती है, और 'मैं' तथा 'तुम' का द्वैत अपना प्रभाव दिखलाता है, हे अर्जुन, उस आद्य वस्तु को, उस अपने आत्मस्वरूप को स्वयं इस प्रकार देखना चाहिए, जिस प्रकार बरफ से ही बरफ जमाते हैं। हे अर्जुन, इस स्वरूप को पहचान लेने का एक और लक्षण है; और वह यह कि जब एक बार इस स्वरूप के दर्शन हो जाते हैं, तब फिर मनुष्य उस स्वरूप से लौटकर कभी आ ही नहीं सकता। परन्तु अब प्रश्न यह है कि इस स्वरूप के दर्शन होते किसे हैं ? सो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार प्रलयकाल का जल सभी जगह ओत-प्रोत भरा रहता है, उसी प्रकार जिस मनुष्य के अंग-अंग में ज्ञान बिलकुल पूरी तरह से भरा रहता है, उसी को इस आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

जिस प्रकार वर्षा-ऋतु के अन्त में आकाश में बादल बिलकुल नहीं रह जाते, उसी प्रकार जिन पुरुषों के मन में मान और मोह आदि विकार बिलकुल नहीं रह जाते, जो लोग विकारों के फेर में उसी प्रकार नहीं पड़ते, जिस प्रकार किसी दरिद्र और निष्ठुर मनुष्य के फेर में उसके नाते-रिश्ते के लोग भी नहीं पड़ते, आत्मप्राप्ति के कारण जिनकी समस्त क्रियाएं धीरे-धीरे उसी प्रकार नष्ट हो जाती हैं, जिस प्रकार फल लगते ही केले के वृक्ष के जीवन का अन्त हो जाता है, जिन्हें सब प्रकार के संकल्प-विकल्प उसी प्रकार छोड़ देते हैं, जिस प्रकार कटे हुए वृक्ष को पक्षी लोग छोड़ देते हैं, जिनमें उस भेद-बुद्धि का नाम भी नहीं होता, जिस भेद-बुद्धि की भूमि पर दोषों की वनस्पति बहुत जोरों से उत्पन्न होती है, जिनकी देहाभिमान-बुद्धि अविद्या के सहित उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस प्रकार सूर्य का उदय होते ही रात्रि नष्ट हो जाती है, जो लोग अज्ञानमय द्वैत को उसी प्रकार छोड़ देते हैं, जिस प्रकार शरीर उस जीव को अकस्मात् छोड़ जाता है, जिसकी आयुष्य समाप्त हो जाती है, जिनके लिए द्वैतभाव का सदा उसी प्रकार अकाल रहता है, जिस प्रकार पारस के लिए लोहे का अथवा सूर्य के लिए अन्धकार का अकाल होता है, जिनके सामने देह को जान पड़ने वाले सुखों और दुःखों का द्वन्द्व क्षणमात्र भी नहीं ठहरता, जिन पर हर्ष और शोक का उसी प्रकार कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जिस प्रकार जाग्रत होने पर मनुष्य पर स्वप्न में होने वाले राज्यलाभ अथवा मरण के प्रसंग का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जिन पर सुखों और दुःखों के द्वन्द्व उसी प्रकार कोई प्रहार नहीं कर सकते, जिस प्रकार गरुड़ पर सर्प कभी प्रहार नहीं कर सकता, जो अनात्म पदार्थ रूपी जल को अलग करके और आत्मानन्द रूपी दूध पीकर सुविचार के राजहंस बन जाते हैं, जो अज्ञान के कारण चारों ओर फैली हुई आत्मवस्तु को ज्ञान की दृष्टि से अखंड स्वरूप में उसी प्रकार एकत्र करते हैं, जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी-तल पर जल की वर्षा करके उसे फिर अपनी किरणों के द्वारा अपने ही बिम्ब में ले आता है, आत्मनिर्णय में जिनका विवेक उसी प्रकार समरस हो जाता है, जिस प्रकार समुद्र में मिलकर गंगा का जल समरस हो जाता है, जिन्हें सब जगह केवल आत्मस्वरूप ही दिखाई देता है और जिनके लिए आत्मस्वरूप से बाहर निकलना उसी प्रकार सम्भव नहीं है, जिस प्रकार आकाश के लिए यहां से और कहीं जाना सम्भव नहीं है, और इसीलिए जिनके साथ विषय-वासनाओं का कभी कोई सम्पर्क नहीं हो सकता, जिनके हृदय में विकारों का उसी प्रकार कभी उदय नहीं होता, जिस प्रकार ज्वालामुखी पर्वत पर बीजों में अंकुर नहीं उत्पन्न होते, जिनका चित्त काम आदि विकारों से उसी प्रकार रहित और निश्चल होता है, जिस प्रकार क्षीर सागर उस समय निश्चल हुआ था, जिस समय घर्र-घर्र घूमने वाला मन्दराचल उसमें से निकाल लिया गया था, जिनमें काम आदि का कोई दोष उसी प्रकार नहीं दिखाई देता, जिस प्रकार सोलहों कलाओं से युक्त होने पर चन्द्रमा के किसी अंग में कोई न्यूनता नहीं दिखाई देती। परन्तु इस विस्तृत वर्णन का और कहां तक विस्तार किया जाय, सारांश यह कि जिनके सामने विषयों का उसी प्रकार ठिकाना नहीं लगता, जिस प्रकार वायु के सामने सूक्ष्म कण का ठिकाना नहीं लगता और इस प्रकार जो लोग ज्ञान की अग्नि से अपने सारे दोषों और मलों को जलाकर पूर्ण रूप से निर्मल हो जाते हैं, वे खरे सोने में खरे सोने के ही समान पूरी तरह से वहां जाकर मिल जाते हैं। यदि तुम यह पूछो कि मेरे इस कथन में 'वहां' का क्या मतलब है, तो तुम यही समझ लो कि वहां का अर्थ है—उस अव्यय वस्तु में। यह वस्तु ऐसी है जो कभी दृष्टि का विषय नहीं होती (अर्थात् कभी देखने में नहीं आती) और न कभी ज्ञान का ही विषय होती है। उसके सम्बन्ध में कभी यह नहीं कहा जा सकता कि वह अमुक वस्तु है।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥६॥

"दीपक के उज्ज्वल प्रकाश में जो कुछ दिखाई देता है अथवा चन्द्रमा जिसे प्रकाशित करता है अथवा जो

वस्तु सूर्य की प्रखर प्रभा से चमकती है उन सब वस्तुओं की दृश्यता उस वस्तु के न दिखाई पड़ने के कारण भासमान् होती है (अर्थात् ये सब सांसारिक वस्तुएं तभी तक दिखाई देती हैं, जब तक वह अव्यय वस्तु नहीं दिखाई देती)। वह वस्तु स्वयं अदृश्य रहकर सारे विश्व को प्रकाशित करती है। ज्यों-ज्यों सीपी के भाव का ज्ञान मन्द होता जाता है, त्यों-त्यों उसमें होने वाले चांदी का भास ठीक और वास्तविक जान पड़ने लगता है अथवा ज्यों-ज्यों रस्सी के ज्ञान का लोप होता है, त्यों-त्यों उसके सम्बन्ध में होने वाला सांप का भ्रम दृढ़ होता जाता है। ठीक इसी प्रकार जिस वस्तु का प्रकाश पड़ने के कारण ही चन्द्रमा और सूर्य आदि प्रचंड तेज से प्रकाशित होते हैं, वह वस्तु केवल तेज की राशि ही है। वह समस्त भूतों में व्याप्त है और चन्द्रमा तथा सूर्य को भी प्रकाश देती है। चन्द्रमा और सूर्य अपना जो प्रकार फैलाते हैं, वह प्रकाश वे इसी ब्रह्म नामक वस्तु से प्राप्त करते हैं; और इसीलिए चन्द्रमा तथा सूर्य आदि तेजस्वी पिंडों का तेज उस ब्रह्मवस्तु का ही एक अंश है। सूर्योदय होने पर जिस प्रकार चन्द्रमा के साथ-साथ ओर सब नक्षत्रों का भी लोप हो जाता है, उसी प्रकार इस ब्रह्मवस्तु के प्रकाश के उदित होते ही उस प्रकाश मे सूर्य और चन्द्रमा के साथ सारे जगत् का लोप हो जाता है। अथवा जिस प्रकार जाग्रत होने की अवस्था में स्वप्न की सारी धूमधाम का अन्त हो जाता है अथवा जिस प्रकार सन्ध्याकाल होते ही कहीं मृगजल बाकी नहीं रह जाता, उसी प्रकार जिस वस्तु का प्रकाश होते ही और किसी वस्तु के आभास के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता, वही वस्तु मेरा मुख्य स्थान है। जो लोग उस स्थान पर जा पहुंचते हैं, वे सागर में लीन होने वाले जल-प्रवाह के समान फिर कभी वहां से लौटकर नहीं आते। अथवा जिस प्रकार नमक की बनाई हुई हाथी की मूर्ति खारे समुद्र में डालने पर फिर किसी प्रकार लौटकर बाहर नहीं आ सकती अथवा अग्नि की ज्वाला आकाश में चली जाने पर फिर लौटकर नहीं आती अथवा तपे हुए लोहे पर डाला हुआ पानी, जिस प्रकार फिर हाथ नहीं आ सकता, ठीक उसी प्रकार जो व्यक्ति शुद्ध ज्ञान से आकर मुझमें मिलता और एकरूप हो जाता है, उसका फिर वापस लौटना सदा के लिए बन्द हो जाता है।" श्रीकृष्ण की ये बातें सुनकर बुद्धिमान् अर्जुन ने कहा—"हे देव, आपने मुझ पर बहुत बड़ी कृपा की है। परन्तु फिर भी आपसे मेरी एक प्रार्थना है। उसकी ओर आप ध्यान दें। जो लोग आपमें मिलकर एकरूप हो जाते हैं और फिर लौटकर वापस नहीं आते, वे आपसे भिन्न रहते हैं या अभिन्न रहते हैं ? यदि वे अनादि परम्परा से भिन्न रहते हों तो यह बात ठीक नहीं सिद्ध होती कि वे फिर लौटकर नहीं आते; क्योंकि जो भ्रमर फूलों के पास जाते हैं, वे क्या फूल ही हो जाते हैं ? बाण जिस पर छोड़े जाते हैं, उससे वे भिन्न होते हैं और जिस पर छोड़े जाते हैं उससे जाकर स्पर्श करते हैं और फिर पीछे लौटकर गिर पड़ते हैं। ठीक इसी प्रकार वे जीव भी आपको स्पर्श करके फिर अवश्य लौट आवेंगे। अथवा यदि आप और वे जीव स्वभावतः एक ही हों तो फिर कौन किसमे मिलता है ? शस्त्र आप ही अपने आपको कैसे काट सकता है ? इसीलिए जिस प्रकार शरीर के साथ अवयवों के होने वाले संयोग और वियोग की बात नहीं कही जा सकती, ठीक उसी प्रकार जो जीव आपसे भिन्न ही नहीं है, उनका आपके साथ संयोग और वियोग होने की बात समझ में नहीं आती। और जो सदा आपसे भिन्न ही हैं, वे कभी आपमें मिलकर एकरूप नहीं हो सकते। और ऐसी अवस्था में इस बात का विचार करना बिलकुल व्यर्थ ही होता है कि वे आपके पास से लौटकर आते हैं या नहीं। इसीलिए हे देव, आप यह बात मुझे स्पष्ट रूप से बतलावे कि जो आपके साथ मिलकर एक हो जाते हैं और फिर लौटकर नहीं आते, वे कौन हैं ?" अर्जुन का यह प्रश्न सुनकर उन सर्वज्ञ-श्रेष्ठ भगवान् को बहुत अधिक सन्तोष हुआ, क्योंकि अपने शिष्य के इस प्रश्न से उनको उसकी बुद्धिमत्ता अच्छी तरह दिखाई देने लगी। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—"भाई बुद्धिमान् अर्जुन, जो लोग मुझ तक पहुचकर फिर नहीं लौटते, वे भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं। यदि विवेकपूर्वक गम्भीर विचार किया जाय तो मै और वे स्वभावतः बिलकुल एक ही हैं—हम दोनों अभिन्न ही हैं। लेकिन यदि केवल ऊपरी दृष्टि से विचार किया

जाय तो यह भी जान पडता है कि वे मुझसे अलग है जिस प्रकार जल पर उठने की अवस्था में तरंगें उससे भिन्न जान पडती है, परन्तु यदि वास्तव मे विचार किया जाय तो यही मानना पड़ता है कि वे लहरें भी पानी ही हैं अथवा जिस प्रकार अलंकार सोने से भिन्न दिखाई देते हैं, परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो अलंकार भी बिलकुल सोना ही होते हैं, ठीक उसी प्रकार हे अर्जुन, यदि ज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो वे मुझसे अभिन्न ही हैं; और जो भिन्नता दिखाई देती है, वह केवल अज्ञान के कारण है। और यदि ब्रह्म-वस्तु का ठीक-ठीक विचार किया जाय तो ऐसी कौन-सी वस्तु हो सकती है जो मुझ एकमेवाद्वितीय से भिन्न मानी जा सके और भिन्नता के विचार से मुझसे अलग की जा सके ! यदि सूर्य का बिम्ब सारे आकाश को व्याप्त करके एक ही गोला बन जाय तो फिर उसका प्रतिबिम्ब कहां पड़ेगा ? और उसकी किरणें जायंगी तो कहां जायंगी ? प्रलयकाल के सर्वव्यापी जल में भी क्या कभी छोटी-छोटी धाराएं आकर मिलती हैं ? ठीक इसी प्रकार मुझ विकारहीन तथा एकमेवाद्वितीय के अंश कैसे हो सकते हैं ? परन्तु सीधा बहने वाला पानी भी जो धाराओं के एक जगह मिलने पर कुछ टेढ़ा हो जाता है अथवा जल की उपाधि के कारण सूर्य भी प्रतिबिम्ब रूप से एक की जगह दो दिखाई देने लगता है। भला यह कैसे कहा जा सकता है कि आकाश चौकोर है या गोल है ? परन्तु जब वही आकाश किसी घट या मठ में व्याप्त रहता है, तब हम उसे गोल या चौकोर भी कह सकते हैं। जब कोई मनुष्य स्वप्न में यह देखता है कि मैं राजा हो गया हूं, तब निद्रा के बल पर क्या वह अकेला ही सब व्यक्ति और सब वस्तुएं नहीं बन जाता और सारे संसार को अपने ही आपसे नहीं भर देता ? घटिया सोना या और कोई मेल मिलाने पर जिस प्रकार चोखा सोना भी कुछ और ही प्रकार का कस दिखलाने लगता है ठीक उसी प्रकार मेरा शुद्ध स्वरूप भी जब माया से वेष्टित हो जाता है, तब अज्ञान की उत्पत्ति होती है। वह अज्ञान—'कोऽहं' (अर्थात् मैं कौन हूं)। इसी अज्ञान से मन में यह विकल्प उत्पन्न होता है कि मैं कौन हूं, और तब इसी बात पर विचार करके जीव यह निश्चय करता है कि—मैं देह हूं"।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

"इस प्रकार आत्मज्ञान जब शरीर से मर्यादित होता है, तब अल्पता के कारण उस शरीर में मेरा अंश भासमान् होता है। हवा चलने के कारण समुद्र तरंगमय दिखाई देता है; और इसीलिए संकुचित विचारों वाले जीवों को ऐसा जान पड़ता कि वे तरंगें भी समुद्र का अंश ही हैं। इसी प्रकार जड़ को चैतन्य प्रदान करने वाला और देह का अभिमान उत्पन्न करने वाला मैं भी इस जीवलोक में जीव के रूप में ही भासमान् होता हूं। जीव की मर्यादित बुद्धि को अपने आस-पास जो अनेक प्रकार के व्यापार होते हुए दिखाई देते हैं, उन्हीं के लिए 'जीवलोक' शब्द का व्यवहार होता है। जन्म लेने और मरने को वास्तविक और सच्चा मानने को ही मैं जीवलोक अथवा संसार कहता हूं। अब यह सुनो कि इस जीवलोक में तुम मुझे कैसे देख सकते हो। पानी में प्रतिबिम्बित होने वाला चन्द्रमा वास्तव में पानी के बाहर का ही रहता है, अथवा यदि स्फटिक मणि को कुंकुम पर रख दें तो सामान्य मनुष्य को वह लाल रंग का जान पड़ता है, परन्तु वास्तव में वह लाल रंग का नहीं होता। ठीक इसी प्रकार बिना अपनी अनादिता और क्रियाहीनता में कोई बाधा पहुंचाये ही मैं जो कर्ता और भोक्ता के रूप में भासमान् होता हूं, उसे केवल भ्रम ही समझना चाहिए। इन सब बातों का तात्पर्य यही है कि शुद्ध आत्मब्रह्म की प्रकृति के साथ मिलकर स्वयं ही इस मायिक संसार का प्रवाह आरम्भ करता है। फिर वह आत्मा यही समझकर अनेक सब व्यवहार करने लगता है कि मन आदि छहों इन्द्रियां और कान आदि मायाजनित अवयव सब मेरे ही हैं। जिस प्रकार कोई संन्यासी स्वप्न में स्वयं ही अपना परिवार बन जाता है और फिर उस परिवार की चिन्ता के कारण लोभ में पड़कर इधर-उधर दौडने लगता तथा अनेक प्रकार के सांसारिक व्यवहार करने लगता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी स्वयं अपने आपको

भूल जाता है और तब अपने आपको प्रकृति अथवा माया के समान ही समझकर उसी में अनुरक्त हो जाता है और उसी के हित के सब काम करने लगता है। इसके उपरान्त वह मन के रथ पर बैठता है, कान के रन्ध्रो में प्रवेश करता है और शब्दों के वन में घुसकर चक्कर में पड़ जाता है। उसी प्रकृति की बागडोर पकड़कर जीवात्मा त्वचा के मार्ग पर चल पड़ता है और स्पर्श विषयों के घोर जंगल में प्रवेश करता है। कभी-कभी वह नेत्रों में प्रवेश करके रूप-विषय के पर्वतों में मनमाना भटकता है। अथवा, हे अर्जुन, वह जिह्वा में संचार करके अपने आपको रस-विषय की गुफा में पहुंचा देता है। अथवा जब यह देहाभिमानी जीवात्मा घ्राणेन्द्रिय में प्रवेश करता है, तब वह गन्ध-विषय के प्रचंड वन में भी चला जाता है। इसी प्रकार यह देहाभिमानी जीव मन को गले लगाकर शब्दादिक विषय-समुदायों का उपयोग करता है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

"परन्तु जिस समय जीवात्मा एक से अधिक शरीरों में संचार करता है, उस समय उसे ऐसा जान पड़ता है कि मैं ही कर्ता और भोक्ता हूं। हे अर्जुन, जिस समय कोई पुरुष राजकीय विलासों से सम्पन्न किसी स्थान मे निवास करता है, उस समय उसे देखने से ऐसा जान पड़ता है कि वह बहुत धनवान् और विलासी है। ठीक इसी प्रकार जीवात्मा जब शरीर का आश्रय ग्रहण करता है, तब उसकी अहंकर्ता वाली भावना बहुत अधिक बलवती हो जाती है और विषयों तथा इन्द्रियों की धमाचौकड़ी आरम्भ हो जाती है। अथवा जब जीवात्मा शरीर का त्याग करता है, तब वह इन्द्रियों का सारा साज-सामान भी अपने साथ ही लेता जाता है। जिस प्रकार अतिथि का अपमान होने पर वह उस गृहस्थ की पुण्य की सम्पत्ति हरण कर ले जाता है, जिसका वह अतिथि होता है अथवा कठपुतलियों का चलना-फिरना आदि उनको चलने वाली डोरी अपने साथ ले जाती है अथवा अस्त होने वाला सूर्य जिस प्रकार लोगों के नेत्रों का प्रकाश भी अपने साथ ही लेता जाता है अथवा वायु जिस प्रकार फलों और फूलो का परिमल लूट ले जाती है, ठीक उसी प्रकार, हे अर्जुन, शरीर को छोड़कर जाने के समय उसका स्वामी जीवात्मा भी मन और श्रोत्र आदि छहों इन्द्रियों को अपने साथ ही लेता जाता है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

"फिर इस मृत्युलोक में अथवा स्वर्गलोक में जहां कहीं और जो शरीर वह जीवात्मा धारण करता है, वहीं और उसी शरीर में वह उन्हीं मन आदि इन्द्रियों का विस्तार करता है। हे अर्जुन, जिस प्रकार बुझने पर दीपक अपनी प्रभा अपने साथ ही लेता जाता है, परन्तु फिर से जलाने पर वह वही प्रभा लेकर प्रकट होता है, ठीक उसी प्रकार इस जीवात्मा और शरीर के सम्बन्ध में भी होता है। तात्पर्य यह कि जो लोग गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं करते, हे अर्जुन, उन लोगों की दृष्टि में व्यवहार का यही प्रकार दिखाई देता है। कारण यह है कि वे लोग मानते हैं कि आत्मा सचमुच इस शरीर में आती है, सचमुच वह विषयों का भोग करती है और सचमुच फिर इस शरीर को छोड़कर चली जाती है। परन्तु यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो स्वयं आत्मा यही मानती है कि यह सब आना, जाना, करना और भोगना आदि केवल माया है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

परन्तु लोग जब यह देखते हैं कि शरीर का आकार सामने उपस्थित है, उसमें चेतना-शक्ति आई है और उस चेतना-शक्ति के कारण वह चलता-फिरता है, तब वे ही कहते हैं कि शरीर में आत्मा आई है। इसी प्रकार, हे अर्जुन इस शरीर की संगति से भिन्न-भिन्न इन्द्रियां अपने विषयों में जो संचार करती हैं, इसी को लोग भोगना कहते है। इसके उपरान्त भोग के कारण क्षीण हो जाने वाला शरीर जब आपसे आप निश्चेष्ट हो जाता है, तव यह पुकार मचाई जाती है कि--'अरे जीव चला गया ! जीव चला गया !' परन्तु हे अर्जुन, जिस समय वृक्ष हिलता हो, केवल उसी समय यह समझना कि हवा चल रही है और जिस समय वृक्ष हिलता न हो, उस समय यह समझना कि हवा नहीं चल रही है, क्या कभी ठीक और युक्तियुक्त हो सकता है ? अथवा जिस समय दर्पण सामने रखा हो, क्या कभी उसी समय यह मानना चाहिए कि हमारा रूप हमें प्राप्त हुआ है और इससे पहले हमारा रूप था ही नहीं ! अथवा जिस समय वह दर्पण दूर हटा दिया जाता है और उसमें दिखाई पड़ने वाले प्रतिबिम्ब का आभास नष्ट हो जाता है, उस समय क्या मनुष्य को यह समझना चाहिए कि हमारे रूप का ही वास्तव में लोप हो गया ! शब्द वास्तव मे आकाश का गुण है, परन्तु जब मेघों की गड़गड़ाहट सुनाई देती है, तब उस गड़गड़ाहट का आरोप मेघों में किया जाता है। अथवा वास्तव में तो बादल ही चन्द्रमा के सामने वेगपूर्वक दौड़ते हैं, परन्तु साधारणतः यही समझा जाता है कि चन्द्रमा ही दौड़ रहा है। ठीक इसी प्रकार जो लोग अन्धे होते हैं, वे केवल भ्रम के कारण उस विकारहीन स-आत्मसत्ता पर शरीर के जन्म लेने और मरने का बिलकुल व्यर्थ ही आरोप करते हैं। इन सभी अवस्थाओं में आत्मा निरन्तर अपने ही स्थान पर रहती है और शरीर के धर्म शरीर में ही रहते हैं। परन्तु इन सब बातों को ठीक तरह से और वास्तविक रूप में देखने वाले विवेकशील पुरुष कुछ दूसरे ही होते हैं। ज्ञान प्राप्त हो जाने के कारण जिनके नेत्र इस शरीर के ऊपरी आवरण में ही नहीं फंसे रहते, ग्रीष्मकाल के सूर्य की किरणों की भांति विवेक का विस्तार होने के कारण जिनके अन्दर स्वरूप का स्फुरण हो चुका होता है, केवल वही ज्ञानी पुरुष उस शुद्ध आत्मा को जानते हैं। नक्षत्रों से भरे हुए आकाश का जब समुद्र में प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब यह बात स्पष्ट रूप से समझ में आती है कि आकाश टूटकर समुद्र में नहीं आ पड़ा है, बल्कि यह केवल उसका प्रतिबिम्ब है। आकाश जहां रहना चाहिए और जहां सदा रहता है, वहीं है, और नीचे दिखाई देने वाला उसका यह आभास केवल मिथ्या जान पड़ता है। ठीक इसी प्रकार आत्मा यद्यपि इस शरीर के साथ सम्बद्ध दिखाई देती है, परन्तु फिर भी उसका ऐसा दिखाई देना केवल आभास है। प्रवाह में जो हलचल दिखाई देती है, वह प्रवाह भर में ही होती है; और यद्यपि उस प्रवाह में चन्द्रमा की चन्द्रिका हिलती-डुलती दिखाई देती है, तो भी वास्तव में वह चन्द्रिका स्वयं चन्द्रमा में ही स्थित रहती है। अथवा पानी का गड्ढा कभी तो भर जाता है और कभी सूख जाता है। जब वह भरा रहता है, तब उसमें सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है; और जब वह सूख जाता है, तब उसमें प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता। परन्तु सूर्य सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। ठीक इसी प्रकार ज्ञानी लोग यह देखते और समझते हैं कि शरीर चाहे जन्म ले और चाहे मर जाय, पर मैं सदा ज्यों-का-त्यों और अविकृत रहता हूं। घट अथवा मठ चाहे बने और चाहे नष्ट हो जाय, परन्तु आकाश सदा ज्यों का त्यों और स्वयं सिद्ध ही रहता है। ठीक इसी प्रकार आत्मसत्ता भी सदा अखंड और अव्यय रहती है और केवल अज्ञान के द्वारा कल्पित शरीर ही जन्म लेता और मरता है; और ज्ञानी लोग ही वास्तव में यह बात जानते हैं। ज्ञानी लोग अपने निर्मल आत्मज्ञान के कारण यह समझते हैं कि चैतन्य न तो किसी में भरा ही जाता है और न किसी में से निकलता ही है और न वह कोई कर्म करता ही है और न कराता ही है। अब चाहे कितना ही अधिक ज्ञान क्यों न प्राप्त हो जाय, परमाणु का भी पता लगाने वाली सूक्ष्म बुद्धि क्यों न प्राप्त हो जाय और समस्त शास्त्रों में पारंगतता क्यों न प्राप्त हो जाय, परन्तु जब तक इस प्रकार की विद्वत्ता के जोड़ का वैराग्य मन में न उत्पन्न हो, तब तक मेरे सर्वात्मक स्वरूप की कभी प्राप्ति नहीं हो सकती। हे अर्जुन, यदि ऐसी अवस्था हो कि

मनुष्य मुह से तो विवेक की बहुत-सी बातें करता हो, परन्तु उसके अन्तःकरण में विषयों का दृढ़ और स्थायी निवास हो, तो यह बात निश्चित है कि मेरे स्वरूप की कभी प्राप्ति नहीं हो सकती। भला स्वप्न में बड़बड़ाने वाले मनुष्य के रचे हुए ग्रन्थ से क्या कभी व्यवहार की समस्याओं का निराकरण हो सकता है ? अथवा क्या कभी किसी पुस्तक को हाथ लगाने से ही उसे पढ़ने का फल प्राप्त हो सकता है ? अथवा क्या आंखें बन्द करके और केवल नाक के साथ मोती लगाकर उसका दाम आंका जा सकता है ? ठीक इसी प्रकार यदि चित्त में अहंकार भरा हो और मनुष्य सब प्रकार के शास्त्रों की चर्चा करता हो, तो करोड़ों बार जन्म लेने पर भी कभी मेरी प्राप्ति नहीं हो सकती। जो एकमात्र मैं ही समस्त भूतों में व्याप्त रहता हूं, वह अपनी व्याप्ति मैं तुम्हें स्पष्ट रूप से बतलाता हूं; सुनो।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चंद्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

"सूर्य में स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, वह सब तेज मेरा ही है। हे अर्जुन, तब सूर्य जल का अंश सुखाकर अस्त हो जाता है, तब सूखे हुए जगत् को जो चन्द्रमा आर्द्रता पहुंचाता है, उस चन्द्रमा की चन्द्रिकाएं भी मेरा ही तेज हैं। और अग्नि का जो बढ़ता हुआ तेज जलाने और सिझाने आदि के अनेक कार्य करता है, वह तेज भी मेरा ही है।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१२॥

"मैं ही इस पृथ्वी-तल में प्रवेश करके उसे संभाले रहता हूं, और इसीलिए वह मिट्टी के ढेले के रूप में होने पर भी महासागर के जल में गल नहीं जाती। और पृथ्वी अपनी जिस शक्ति के कारण असंख्य भूतों का भार सहन करती है, वह शक्ति भी मैं ही उसमें प्रवेश करके उसे प्रदान करता हूं। हे अर्जुन, आकाश में चन्द्रमा के रूप में मैं ही अमृत के चलते-फिरते सरोवर के समान हुआ हूं। वहां से मेरी जो किरणें नीचे की ओर आती हैं, उन्हें मैं ही अमृत से भरकर समस्त वनस्पतियों का पोषण करता हूं। इस प्रकार मैं धान्य आदि का सुकाल करके अन्न के द्वारा भूतमात्र के जीवन का निर्वाह करता हूं। यद्यपि इस प्रकार अन्न की तो यथेष्ट प्रचुरता हो जाती है, परन्तु उस अन्न को पचाकर जीवों को सुखी करने वाली जठराग्नि की जो शक्ति है, वह कहां से आती है ?

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

"इसीलिए प्राणीमात्र के शरीर में नाभि कन्द पर अंगीठी सुलगाकर उनके जठर में मैं ही अग्नि बनकर रहता हूं। और प्राण तथा अपान वायु की भाथियां दिन-रात चलाकर प्राणियों के जठरों में मैं जितने पदार्थ पचाता हूं, उनकी कोई गिनती ही नहीं है, कड़े, मुलायम, अच्छी तरह पके हुए और भूने हुए इस प्रकार चारों तरह के अन्न मैं पचाता हूं। तात्पर्य यह कि ये जितने जीव हैं, वे सब मैं ही हूं और इन जीवों को जो जीवन प्राप्त है, वह जीवन भी मैं ही हूं। और उस जीवन को चलाने वाली जठराग्नि भी मैं ही हूं। इस अवस्था में मैं अपनी व्यापकता का चमत्कार तुम्हें कहां तब बतलाऊं ! बात यह है कि इस विश्व में मेरे सिवा और कुछ है ही नहीं। केवल मैं ही सब जगह हूं। कदाचित् तुम्हारे मन में यह प्रश्न उत्पन्न होता हो कि यही बात है, तो फिर क्या कारण है कि कुछ जीव तो सदा सुखी रहते हैं और कुछ जीव सदा दुःखों में ही डूबे रहते हैं ? यदि सारे नगर में एक ही दीपक का प्रकाश है, तो फिर कुछ स्थानों में अन्धकार और कालिमा क्यों दिखाई देती है ? इसलिए अब मैं तुम्हारी इस शंका का भी समाधान कर देता हूं। यदि वास्तव में देखा जाय तो सब जगह केवल मैं ही हूं और इस संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो मुझसे भिन्न हो। परन्तु प्राणियों की कल्पना में मैं उन्हें उनकी बुद्धि के अनुसार ही भासता हूं।

आकाश का ध्वनि नामक गुण एक रूप ही है, परन्तु वाद्यों के भेदों के अनुसार आपसे आप भिन्न-भिन्न प्रकार के नाद उत्पन्न होते हैं। लोगों के व्यवहारों से बिलकुल अलिप्त और अलग रहने वाला सूर्य उदित होता है और वह सबसे बिलकुल दूर और अलग रहता है, परन्तु फिर भी वह लोक व्यवहार चलाने में उपयोगी होता है। बीजों के धर्म के अनुसार ही जल किसी वृक्ष के रूप में रूपान्तरित होता है। ठीक इसी प्रकार जीव के रूप में मेरा स्वरूप परिणत होता है। एक पुरुष मूर्ख है और दूसरा बुद्धिमान् है। दोनों के सामने नीलमणियों का एक दो-लड़ा हार रखा है। मूर्ख को तो वह सांप जान पड़ता है और उसको भयभीत करने का कारण होता है। परन्तु बुद्धिमान् की समझ में उसका वास्तविक स्वरूप आ जाता है और उसके लिए वह हार आनन्ददायक होता है। जिस प्रकार स्वाती नक्षत्र का जल सीपी में पहुंचकर मोती होता है, परन्तु सांप के शरीर में पहुंचकर वही जल विष होता है, ठीक उसी प्रकार मैं ज्ञानियों के लिए सुख हो जाता हूं और अज्ञानियों के लिए दुःख बन जाता हूं।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

"यदि वास्तव में देखा जाय तो प्राणियों के मन में दिन-रात यह बात आती है कि—"मैं अमुक हूं, यह अमुक वस्तु मैं ही हूं।" परन्तु सन्तों की संगति करने से, योग-ज्ञान का अभ्यास करने से और वैराग्य से सम्पन्न होकर गुरु के चरणों की सेवा करने से और इस प्रकार के दूसरे सत्कर्मों का आचरण करने से जिन लोगों का अशेष अज्ञान नष्ट हो जाता है और जिनका अहंभाव मुझमें आकर रमण करने लगता है, वे लोग आपसे आप मुझे पहचान लेते हैं और मुझे अर्थात् आत्मतत्त्व को पहचानकर सुखी होते हैं। उन्हें इस प्रकार की सुख-सम्पन्न स्थिति में पहुंचाने के लिए भला मेरे सिवा दूसरा और कौन कारण हो सकता है ? सूर्य का उदय होने पर जिस प्रकार हम लोग उस सूर्य के प्रकाश से ही उसे देखते हैं, उसी प्रकार मेरे ही साधन से मेरा ज्ञान होता है। इसके विपरीत देहाभिमान से जकड़े रहने के कारण और सदा संसार की ही बड़ाई सुनते रहने के कारण जिनकी अहं भावना शरीर में ही डूबी रहती है, वे लोग ऐहिक तथा पारलौकिक सुख प्राप्त करने के लिए कर्मकांड की अनेक क्रियाएं करने लगते हैं; और इसलिए उनके हिस्से में दुःख का ही विशिष्ट अंश पड़ता है। परन्तु जिस प्रकार जाग्रत अवस्था में देखी हुई बातें ही स्वप्न का कारण होती हैं, ठीक उसी प्रकार, हे अर्जुन, उनके इस अज्ञानजन्य भ्रम का भी मैं ही कारण और आधार हूं। मेघों के कारण दिन में अन्धकार छा जाता है, परन्तु वे मेघ भी दिन के कारण ही दिखाई पड़ते हैं। ठीक इसी प्रकार मेरा स्वरूप जो परदे से ढंक जाता है और प्राणियों को केवल सांसारिक विषय ही दिखाई देते हैं, वह भी मेरी ही सत्ता के आधार से दिखाई देते हैं। हे अर्जुन, जिस प्रकार निद्रा का भी और जाग्रति का भी हेतु जाग्रत अवस्था ही है, ठीक उसी प्रकार इन जीवों के ज्ञान का भी और अज्ञान का भी मैं ही मूल कारण हूं। जिस प्रकार सर्प के आभास का भी और डोरी के ज्ञान का भी मूल कारण डोरी ही होती है, ठीक उसी प्रकार यह बात भी सिद्ध है कि ज्ञान का भी और अज्ञान का भी तथा अज्ञान के कारण दिखाई देने वाले समस्त सांसारिक प्रसार का भी मैं ही मूल कारण हूं। इसीलिए हे अर्जुन, वास्तव में मेरा जो स्वरूप है, उस स्वरूप की कल्पना न होने पर जिस समय वेद मुझे जानने के लिए आगे बढ़ें, उस समय उनमें भिन्न-भिन्न शाखाएं निकलने लगीं। तो भी यही समझना चाहिए कि वे भिन्न-भिन्न शाखाएं भी मेरी ही ज्ञान कराती हैं, क्योंकि चाहे पूर्व-गामिनी नदी हो और चाहे पश्चिम-गामिनी नदी हो, दोनों ही अन्त में समुद्र में जाकर मिलती हैं। जिस प्रकार सुगन्धि के सहित हवा के झोंके आकाश में लीन होते हैं, ठीक उसी प्रकार शब्दों के सहित श्रुतियां भी अहंब्रह्माऽस्मि वाले महा सिद्धान्त में लीन होती हैं। और फिर इस प्रकार समस्त श्रुतियां जो लज्जित होकर स्तब्ध हो जाती हैं सो यह कार्य भी मेरे ही प्रकाश से होता है। इसके उपरान्त जो निर्मल ज्ञान होने पर श्रुतियों के सहित सारा जगत् लीन हो जाता है, उस ज्ञान को

जानने वाला भी मैं ही हूं। जिस प्रकार सोकर उठने पर स्वप्न की कोई बात मनुष्य में नहीं रह जाती और वह समझ लेता है कि केवल मैं ही हूं, ठीक उसी प्रकार बिना किसी तरह के द्वैत का भास हुए मैं स्वयं अपनी अद्वैतता जानता हूं। और आत्मबोध का कारण भी मैं ही हूं। इतना होने पर जिस प्रकार कपूर में अग्नि लगने पर, हे अर्जुन, न तो काजल ही बाकी रह जाता है और न अग्नि ही बची रहती है, उसी प्रकार जो ज्ञान समस्त अविद्या को भस्म कर डालता है, स्वयं वह ज्ञान ही जिस समय लुप्त हो जाता है, उस समय होना और न होना या जन्म और मरण कुछ बाकी नहीं रह जाता। जो चोर अपने साथ सारे विश्व को ही चुरा ले गया हो, भला उसका पता कैसे लगाया जा सकता है ? ठीक इसी प्रकार की जो एक अवर्णनीय शुद्ध अवस्था है, वह अवस्था भी मैं ही हूं। इस प्रकार जब केवल स्वरूपी ब्रह्म जड़ और अ-जड़ सबको व्याप्त कर लेता है, तब उस अनुपाधिक निरंजन आत्मस्वरूप तक पहुंच हो जाती है।" श्रीकृष्ण ने जो ये सब बातें बतलाई थीं, उनकी छाप अर्जुन के अन्तःकरण पर उसी प्रकार पड़ी, जिस प्रकार दुग्ध के समुद्र में आकाश के चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ता है अथवा जिस प्रकार किसी चमकती हुई दीवार पर उसके सामने के चित्र का प्रतिबिम्ब पड़ता है। बस ठीक इसी प्रकार भगवान् के उपदेश का अर्जुन के अन्तःकरण पर प्रतिबिम्ब पड़ रहा था। परन्तु ब्रह्मज्ञान में एक ऐसा विलक्षण गुण है कि ज्यों-ज्यों वह ज्ञान होता जाता है, त्यों-त्यों उसका चसका भी बराबर बढ़ता जाता है। इसलिए अनुभव-सिद्धों में श्रेष्ठ अर्जुन ने भगवान् से कहा—"हे महाराज, अपनी व्यापकता का विवेचन करते समय बातों के आवेश में आप अपने जिस उपाधिरहित स्वरूप का उल्लेख कर गये, उस स्वरूप का आप मेरे लिए एक बार बिलकुल निर्दोष तथा स्पष्ट रूप से वर्णन करें।" इस पर द्वारकाधीश श्रीकृष्ण ने कहा—"हे अर्जुन, तुमने बहुत अच्छी बात पूछी है। यदि सच पूछो तो, हे अर्जुन, मुझमें भी प्रेमपूर्वक निरंतर बोलते रहने की बहुत चाह रहती है। परन्तु क्या करूं, तुम्हारे समान प्रश्न करने वाला मुझे कोई मिलता ही नहीं। आज तुम्हारे रूप में मुझे अपने मनोरथ का फल प्राप्त हुआ है; क्योंकि तुम बिना संकोच किये मुझसे जी भरकर प्रश्न करते हो। अद्वैत तक पहुंचने पर ही जिस निर्मल अनुपाधिक स्वरूप का अनुभव हो सकता है, उसी स्वरूप के सम्बन्ध में आज तुमने प्रश्न करके मुझे परम सुखी किया है। जिस दर्पण के सामने आने पर स्वयं ही अपने नेत्र दिखाई देते हैं, ठीक उसी दर्पण के समान तुम्हारे समान प्रश्न-कुशल और निर्मल श्रेष्ठ साथी आज मुझे बातचीत करने के लिए मिला है। हे सखे अर्जुन, यह बात नहीं है कि तुम तो अज्ञान बनकर सब बातें पूछो और मैं शिक्षक बनकर तुम्हें सब बातें सिखलाऊं।" यह कहकर भगवान् ने अर्जुन को आलिंगन किया और तब उन्होंने उसकी ओर कृपापूर्वक देखकर जो कुछ कहा, वह सुनो। श्रीकृष्ण ने कहा—"हे अर्जुन, चाहे बोलने वाले होठ दो हों, परन्तु फिर भी उन दोनों से बात एक ही निकलती है; और चलने वाले पांव चाहे दो हों, परन्तु उनमें से केवल एक ही का चलना होता है। ठीक इसी प्रकार तुम्हारा प्रश्न करना और मेरा समाधान करना दोनों एक ही है। तुम और मैं दोनों एक ही अर्थ या अभिप्राय पर दृष्टि रखते हैं, इसलिए इस समय प्रश्न करने वाला और उत्तर देने वाला दोनों एक ही हैं।" इतना कहते-कहते भगवान् प्रेम से पूर्ण हो गये और उन्होंने अर्जुन को फिर गले लगा लिया। परन्तु फिर वे जरा डरकर अपने मन में कहने लगे—"प्रेम का यह मोह दूर करना चाहिए। यद्यपि गुड़ में मिठास-ही-मिठास होती है; परन्तु फिर भी उस मिठास को नष्ट होने से बचाने के लिए उसमें थोड़ा-सा क्षार (दक्षिण-प्रान्त में गुड़ में क्षार मिलाया जाता है।) मिलाना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार यदि प्रेम का यह मोह इस समय दूर न किया जायगा तो हाथ में आया हुआ यह संवाद-सुख गंवाना पड़ेगा। पहले से ही यह नर है और मैं नारायण हूं। हम दोनों में भेद के लिए बिलकुल स्थान नहीं है। परन्तु फिर भी प्रेम का यह आवेश इस समय मुझे अन्दर-ही-अन्दर रोकना चाहिए।" यह सोचकर भगवान् ने चट अर्जुन से पूछा—"भाई अर्जुन, तुम क्या पूछ रहे थे ?" यह सुनते ही जो अर्जुन अद्वैत-प्रेम से भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप में लीन होने का उपक्रम कर रहा था,

उसके हाश फिर ठिकाने आ गये और वह फि प्रश्नावली की ओर प्रवृत्त हुआ उसने गद्‌गद होकर कहा महाराज मैंने यही कहा था कि आप मुझे अपना उपाधिहीन स्वरूप बतलाव . यह सुनकर भगवान् शाङ्गधर ने पहले उपाधि के दो प्रकारों का वर्णन करना आरम्भ किया। इस पर कुछ लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि जब अर्जुन ने उपाधिरहित वस्तु के सम्बन्ध में प्रश्न किया था, तब भगवान् ने इस प्रकरण में उपाधियों का झगड़ा क्यों खड़ा कर दिया ? इसका उत्तर यह है कि मठे में से सारांश निकालना ही मक्खन निकालना कहलाता है और निकृष्ट अंश को जलाना ही सोने को तपाकर खरा करना है। जब सेवार हाथ से हटाकर एक तरफ कर दी जाती है, तभी पानी मिल सकता है। मेघ जब नहीं रह जाते, तब केवल आकाश अवशिष्ट रह जाता है। जब ऊपर की भूसी हटा दी जाय, तब अनाज का कण प्राप्त होने में क्या विलम्ब हो सकता है ? ठीक इसी प्रकार जब विचार के द्वारा उपाधियुक्त वस्तु की उपाधियों का अन्त होता है, तब किसी को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि निरुपाधिक क्या है। जब किसी युवती स्त्री से भिन्न-भिन्न अनेक नामों का उच्चारण करने के लिए कहा जाता है, तब उस प्रकरण में यदि कहीं उसके पति का नाम आ जाता है, तो वह उस नाम का उच्चारण नहीं करती बल्कि चट समझ जाती है कि मुझे लज्जित करने के लिए ही मेरे पतिदेव का नाम मेरे सामने लाया गया है। ठीक इसी प्रकार उस निर्गुण, निरुपाधिक और निराकार आत्मा का स्वरूप वाणी केवल स्तब्ध होकर प्रकट करती है। इसीलिए जो बात कही नहीं जा सकती, जब वही बात कहने का प्रसंग आया तब भगवान् ने पहले उपाधियों का ही विवेचन आरम्भ किया। प्रतिपदा के चन्द्रमा की सूक्ष्म रेखा दिखलाने के लिए जिस प्रकार किसी ऊंचे वृक्ष की शाखा का उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार इस अवसर पर उपाधियों की चर्चा का उपयोग होगा।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरँश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

भगवान् ने कहा—"भाई अर्जुन, इस संसार-रूपी नगर की बस्ती बहुत ही छोटी अर्थात् केवल दो पुरुषो की है। जिस प्रकार सारे आकाश में केवल दिन और रात यही दोनों रहते हैं, उसी प्रकार इस संसार-रूपी नगर में भी केवल दो ही पुरुष रहते हैं। एक और तीसरा पुरुष भी है, परन्तु उसे इन दोनों का नाम भी अच्छा नहीं लगता। जब उस पुरुष का उदय होता है, तब वह इन दोनों को नगर समेत खा जाता है। परन्तु इन सब बातों को जाने दो। इस समय तो इन्हीं दोनों पुरुषों की कहानी सुनो। ये दोनों पुरुष इसी संसार-रूपी नगर में निवास करने के लिए आये हैं। इनमें से एक तो अन्धा, मूढ़ और पंगु है और दूसरा सब अंगों से दुरुस्त और हट्टा-कट्टा है। परन्तु एक ही नगर में निवास करने के कारण इन दोनों में स्नेह हो गया है। इनमें से पहले को क्षर और दूसरे को अक्षर कहते हैं। इन्हीं दोनों ने यह संसार खूब कसकर भर दिया है। अब मैं तुमको स्पष्ट करके यह बतलाता हूं कि क्षर कौन है और अक्षर कौन है। हे अर्जुन, महत्तत्त्व से लेकर तृण के अग्रभाग तक जितनी छोटी-बड़ी चराचर वस्तुएं इस संसार में हैं अथवा मन या बुद्धि में जितने विषय आ सकते हैं, जो-जो वस्तुएं पंच-महाभूतों से बनी हैं, जिन-जिन का नाम और रूप है, जो-जो तीनों गुणों की व्याप्ति में आती हैं, जिस सोने के भूतमात्र रूपी सिक्के बनते है, जिन कौड़ियों के सहारे काल-रूपी जुआरी का खेल होता है; विपरीत ज्ञान अर्थात् भ्रम या मोह से जिन-जिन बातों का ज्ञान होता है, जो कुछ प्रत्येक क्षण में उत्पन्न होता या नष्ट होता रहता है, जिस भ्रान्ति रूपी जंगल को छानकर न होने पर भी सृष्टि का रूप खड़ा किया जाता है, तात्पर्य यह कि जिसे लोग जगत् कहते हैं, जो प्रकृति या माया के कारण आठ प्रकार के भेदों से युक्त हुआ है, जो देह-क्षेत्र के द्वारा उन छत्तीस भिन्न-भिन्न तत्त्वों से बना है जिनका पहले वर्णन हो चुका है—उनका अब और कहां तक वर्णन किया जाय—अभी संसार के वृक्ष वाले रूपक मे जिन सबका वर्णन हुआ है, उन सबके सम्बन्ध में यह कल्पना कर लेनी चाहिए कि यह हमारे रहने का नगर

है और तब यह समझ लेना चाहिए कि चैतन्य ने ही ये सब आकार धारण किये हैं। जिस प्रकार सिंह का प्रतिबिम्ब किसी कुएं में पड़ता है और उस प्रतिबिम्ब को देखकर वह सिंह यह समझता है कि यह दूसरा सिंह है और यही समझकर वह क्रोध से आकर गुर्राता है और उस कुएं में कूद पड़ता है, अथवा जिस प्रकार पानी में रहने वाले आकाश तत्त्व पर ही आकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार अद्वैत भी द्वैत को स्वीकार करता है। हे अर्जुन, इस प्रकार साकार नगर की कल्पना करके आत्मा अपने मूल स्वरूप को भूल जाती है और उसी विस्मृति में सो जाती है। फिर जिस प्रकार कोई स्वप्न में शयनागार देखे और उसी में सो जाय, उसी प्रकार आत्मा भी इस कल्पित नगर में सो जाती है। फिर उसी निद्रा के आवेश में वह यह समझने लगती है कि मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं। और तब स्वप्न में ही अहंता के शब्दों में बड़बड़ाने लगती है। वह सोचने लगती है कि यह पिता है, यह माता है। मैं गोरा हूं अथवा बहुत ही दीन और दुर्बल हूं। यह पुत्र है, यह स्त्री है। क्या ये सब मेरे ही नहीं हैं ? इसी स्वप्न में पड़कर वह इहलोक और परलोक के स्वप्न में पड़ती है। हे अर्जुन, इसी चैतन्य को 'क्षर पुरुष' कहते हैं। अब जिसे 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं, जिसकी अवस्था को जगत् के सब लोग जीव कहते हैं, जो अपने आपको भूलकर भूतमात्र के गुण-धर्म के अधीन होकर व्यवहार करता है, उसी आत्मा को 'क्षर पुरुष' कहते हैं। जिस दृष्टि से वह पूर्ण रूप से ब्रह्म ही है, उस दृष्टि से उसे 'पुरुष' नाम शोभा देता है। इसके अतिरिक्त वह शरीर भर में निद्रावस्था में रहता है और इसलिए भी वह पुरुष कहलाने का पात्र है। परन्तु वह उपाधि से अंकित होता है और इसीलिए उस पर व्यर्थ ही क्षरता, सव्ययता या नश्वरता की छाप लगाई गई है। जिस प्रकार लहराते हुए पानी के साथ चन्द्रमा का प्रकाश भी आगे और पीछे की ओर झोंके खाता हुआ दिखाई देता है, उसी प्रकार यह भी उपाधि के विकारों के कारण चंचल-सा दिखाई देता है। परन्तु जब वह लहराने वाला पानी सूख जाता है, तब उसमें प्रतिबिम्बित होने वाला चन्द्रमा का प्रकाश भी लुप्त हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जब उपाधि का नाश हो जाता है, तब उसके उपाधिजन्य विकार भी लुप्त हो जाते हैं। इस प्रकार उपाधि की सामर्थ्य से ही इसे क्षणभंगुरता प्राप्त होती है और इसी दुर्बलता के कारण लोग इसे 'क्षर' कहते हैं। इसीलिए जीव या चैतन्य जीवात्मा को क्षर पुरुष समझना चाहिए। अब मैं तुमको स्पष्ट करके यह बतलाता हूं कि अक्षर पुरुष किसे कहते हैं। हे वीर अर्जुन, अक्षर नाम का जो यह दूसरा पुरुष है, वह केवल उसी प्रकार मध्यस्थ और साक्षी रूपी से देखने वाला है, जिस प्रकार पर्वतों में मेरु है। जिस प्रकार पृथ्वी, पाताल और स्वर्ग के स्थल-भेदों के अनुसार मेरु कभी तीन प्रकार का नहीं होता, उसी प्रकार यह अक्षर पुरुष भी ज्ञान और अज्ञान के अंगों में लिप्त नहीं होता। न तो वह शुद्ध ज्ञान से एकता ही प्राप्त करता है और न ज्ञान के कारण उसमें द्वैतभाव ही आता है। इस प्रकार केवल ज्ञातृत्व से युक्त तटस्थता ही इसका स्वरूप है। जब मिट्टी का मिट्टीपन नष्ट हो जाता है, तब उससे घड़े या पुरवे आदि बरतन कभी बन नहीं सकते। ठीक उसी मिट्टीपन से रहित पिंड की तरह यह मध्यस्थ पुरुष है। जिस प्रकार सागर या जलाशय सूख जाने पर उसमें उत्पन्न होने वाली लहरें और पानी दोनों समाप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार सूखे हुए सरोवर के समान ही इस मध्यस्थ की निराकार स्थिति है। हे अर्जुन, इसे निद्रा की उसी झपकी के समान समझना चाहिए, जिसमें जाग्रति तो चली जाती है, परन्तु स्वप्न वाली अवस्था पूरी तरह से नहीं आती। जो केवल उस अज्ञान वाली अवस्था में रहता है, जिसमें विश्वाभास मिट जाता है, परन्तु आत्मज्ञान का तब तक उदय नहीं होता, उसी को 'अक्षर' कहना चाहिए। सोलहों कलाओं से विरहित अमावास्या के चन्द्रमा का जो रूप होता है, उसी के समान इस अक्षर के लक्षण भी समझने चाहिए। समस्त उपाधियों का नाश हो जाने पर जीव-दशा जिसमें लीन होती है, उपाधियां नष्ट हो जाने पर जिसमें उसी प्रकार लीन होकर रहती हैं, जिस प्रकार फल लगने पर वृक्ष बीज रूप से उसमें समाविष्ट रहता है, उसी को अव्यक्त कहते हैं। गाढ़ अज्ञान को सुषुप्ति कहते हैं और स्वप्न तथा जाग्रति को उसके फलों के रूप में

समझना चाहिए वेदान्त में जिस बीज स्थिति कहते हैं वह इस अक्षर पुरुष का ही स्थान है जहां से विपरीत ज्ञा उत्पन्न होकर जाग्रति और स्वप्न के द्वारा अनेक तर्क वितर्कों के वन में संचार करता है और हे अर्जुन जहां स विश्वास का उत्थान होता है और जहां व्यक्त तथा अव्यक्त का मेल होता है वही अवस्था अक्षर पुरुष की है। दूसरा जो क्षर पुरुष है, वही इस विश्व में जाग्रति और स्वप्न के खेल खेलता है। जाग्रति और स्वप्न की दोनों अवस्थाए जहां से उत्पन्न होती हैं और ब्रह्म-प्राप्ति की अपेक्षा कुछ निम्न कोटि की जो अवस्था है और जो अज्ञान की गाढ़ निद्रा के नाम से प्रसिद्ध है और, हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, यदि इसके उपरान्त स्वप्न और जाग्रति वाली अवस्थाओं की उत्पत्ति न हुई होती तो यथार्थतः जिस अवस्था का नाम ब्राह्मी स्थिति रखा जाता, परन्तु जिसके आकाश में प्रकृति और पुरुष ये दोनों मेघ उत्पन्न होते हैं और जिसमें क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का स्वप्नाभास होता है, तात्पर्य यह कि अपनी शाखाओं का प्रसार करने वाले इस संसाररूपी वृक्ष का जो मूल है, उसी को इस अक्षर पुरुष का स्वरूप समझना चाहिए। परन्तु जब यह पूर्ण रूप से आत्मस्वरूप में रहता है, तब इसे पुरुष क्यों कहते हैं ? इसका उत्तर यह है कि यह माया के नगरों में सोया रहता है और इसीलिए पुरुष कहलाता है। इसी प्रकार विकारों की जो हलचल होती है, वह भी अज्ञान का ही एक प्रकार है। जिस अवस्था में उस अज्ञान की अनुभूति नहीं होती, वही इसकी सुषुप्ति वाली अवस्था है। इसीलिए यह स्वयं कभी नष्ट नहीं होता और ज्ञान के अतिरिक्त और किसी बात से इसका नाश नहीं किया जा सकता। इसीलिए वेदान्त ने महा-सिद्धान्त के प्रान्त में इसकी 'अक्षर' के नाम से प्रसिद्धि की है। सारांश यह कि जीव-रूपी कार्य का जो कारण है और माया की संगति जिसका लक्षण है, उसी को अक्षर पुरुष अर्थात् स्वयं चैतन्य ही समझना चाहिए।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

"अब इस विपरीत ज्ञान से लोगों में जाग्रति और स्वप्नों की जो दो अवस्थाएं उत्पन्न होती हैं, वह मूल गाढ़ अज्ञान में लीन हो जाती हैं। और जब उस मूल अज्ञान का ज्ञान में लोप हो जाता है और ज्ञान सामने आकर उपस्थित होता है, तब ज्ञान भी उसी प्रकार अज्ञान का नाश कर डालता है, जिस प्रकार अग्नि लकड़ी को जला देती है; और तब वह ज्ञान आत्मवस्तु की प्राप्ति कराके स्वयं भी उसी प्रकार अपने आपको नष्ट कर डालता है, जिस प्रकार लकड़ी को जलाकर अग्नि अन्त में स्वयं भी नष्ट हो जाती है। और उस अवस्था में ज्ञान के अतिरिक्त और जो कुछ बाकी रह जाता है, उसी को हे अर्जुन, उत्तम पुरुष समझना चाहिए। पहले तो क्षर और अक्षर नाम के दो पुरुष बतलाये गये हैं, अन्त में यही सिद्धान्त आकर स्थिर होता है कि यह उन दोनों से भिन्न एक तीसरा ही पुरुष है। हे अर्जुन, सुषुप्ति और स्वप्न इन दोनों अवस्थाओं से भिन्न जाग्रत अवस्था होती है--जाग्रति इन दोनों से अलग एक तीसरी ही अवस्था को कहते हैं। किरण और मृगजल दोनों से भिन्न ही सूर्य-मंडल का विस्तार होता है। ठीक यही बात उत्तम पुरुष के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए--वह भी क्षर और अक्षर दोनों से भिन्न होता है। केवल इतना ही नहीं बल्कि जिस प्रकार काठ में रहने वाली अग्नि काठ से भिन्न होती है, उसी प्रकार यह उत्तम पुरुष भी क्षर और अक्षर दोनों से भिन्न है। जिस प्रकार प्रलयकाल में प्रलय का जल एक अनन्त रूप धारण कर लेता है और समस्त सीमाओं को पार करके समस्त नदों और नदियों को एकरूप कर देता है, उसी प्रकार जिसके सामने स्वप्न, सुषुप्ति और जाग्रति तीनों अवस्थाओं की कहीं गन्ध भी बाकी नहीं रह जाती, जो समस्त अवस्थाओं का उसी प्रकार लय कर देता है, जिस प्रकार प्रलयकाल अपने संहारक तेज से दिन और रात दोनों को निगल जाता

है और इसीलिए जिसमें कहीं द्वैत और अद्वैत का भान भी नहीं होता उसी को उत्तम पुरुष समझना चाहिए परन्तु परमात्मा को भी केवल उसी अवस्था में उत्तम पुरुष कहा जा सकता है, जबकि बिना उसमें मिले जीव-दशा का आश्रय लिया जाय। हे अर्जुन, पानी में डूबने की बात तभी कही जा सकती है, जब मनुष्य स्वयं पानी में न डूबे और किनारे पर खड़ा रहकर किसी को डूबते हुए देखे। ठीक इसी प्रकार वेद भी विवेक के किनारे पर खड़े होकर इस पार और उस पार की अथवा उत्तम और कनिष्ठ की बात कह सकते हैं। इसीलिए वे क्षर और अक्षर दोनों पुरुषों को निम्न कोटि के मानकर और इन दोनों से ऊपर रहने वाले इस पुरुष को परमात्म-रूप कहते हैं। हे अर्जुन, इस प्रकार तुम यह बात ध्यान में रखो कि 'परमात्मा' शब्द से पुरुषोत्तम का ही बोध कराया जाता है। यदि वास्तव मे कहा जाय तो जो ऐसी वस्तु है, जिसमें न बोलना ही बोलने के समान होता है, कुछ न जानना ही जिसमें ज्ञान होता है और कुछ न होना ही जिसमें होना होता है, जिसमें सोऽहं वाली भावना भी नहीं रह जाती, जिसमें कथन करने वाला कथित के साथ और ज्ञाता ज्ञेय के साथ मिलकर एकरूप हो जाता है, जिसमें द्रष्टा और दृश्य दोनो का ही लय हो जाता है, वही वह उत्तम पुरुष है। बिम्ब और प्रतिबिम्ब के बीच की प्रभा यदि हमारे देखते-देखते नष्ट हो जाय तो भी हमें यह नहीं कहना चाहिए कि वह प्रभा है ही नहीं अथवा नष्ट हो गई है। अथवा यदि घ्राणेन्द्रिय और फूल में रहने वाली सुगन्ध हमें दिखाई न देती हो तो हमारे लिए यह कहना उचित नहीं है कि वह सुगन्ध बिलकुल है ही नहीं। ठीक इसी प्रकार यह कहना भी प्रमाण-सिद्ध नहीं है कि द्रष्टा और दृश्य का लोप हो जाने पर फिर कुछ भी बाकी नहीं रह जाता। और इसीलिए ऐसी अवस्था में जो कुछ अनुभव में आता है, उसी को उस उत्तम पुरुष का स्वरूप समझना चाहिए। जो प्रकाशित होने के योग्य नहीं है, बल्कि प्रकाश है, जो नियमित नहीं किया जा सकता, बल्कि नियन्ता है, जो स्वतः ही अवकाश बनकर फिर उसी अवकाश को व्याप्त करता है, जो नाद का भी नाद, स्वाद का भी स्वाद और आनन्द का भी आनन्द होता है, जो पुरुषोत्तम पूर्णता की भी पूर्णता और विश्रान्ति की भी विश्रान्ति है, जो सुख का भी सुख, तेज का भी तेज और शून्य का भी शून्य है, जो विकास को भी पूर्ण करके बाकी बच रहता है, जो ग्रास को भी ग्रस लेता है जो बहुत-से भी बहुत अधिक है और जो बिना अपना स्वरूप छोड़े और बिना विश्व में मिले ही उसी प्रकार विश्वाभास का आधार होता है, जिस प्रकार सीपी चांदी न होने पर भी अज्ञानियों को चांदी का प्रत्यय करा देती है, अथवा सोना बिना अपना सोनापन छिपाये ही अलंकारों का रूप धारण करता है, अथवा जो इस भासमान् होने वाले जगत् का उसी प्रकार स्वयं ही आधार बना है, जिस प्रकार पानी और उसमें उत्पन्न होने वाली लहरें एक होती हैं और उनमें कोई भेद नहीं होता, वही वह उत्तम पुरुष है। पानी में पड़ने वाले अपने प्रतिबिम्ब के संकोच और विकास का मुख्य कारण जिस प्रकार स्वयं चन्द्रमा का बिम्ब होता है, उसी प्रकार यह भी विश्व के रूप में कुछ-कुछ प्रकट होता है। परन्तु हां, जब विश्व का लोप हो जाता है, तब स्वयं इसका लोप नहीं होता। जिस प्रकार रात और दिन के कारण सूर्य में कभी कहीं दो प्रकार का भाव नहीं उत्पन्न होता, जिसका किसी स्थान पर दूसरे किसी के साथ व्यय नहीं हो सकता, जिसके साथ तुलना करने के लिए स्वयं उसके सिवा और कोई नहीं है, हे अर्जुन, जो स्वयं ही अपने आपको प्रकाशित करता है, और अधिक कहां तक कहा जाय, जिसमें दूसरी कोई बात या और कुछ है ही नहीं, वही मैं उपाधिहीन क्षर तथा अक्षर से श्रेष्ठ और एकमेवाद्वितीय हूं। और इसीलिए वेद तथा लोग मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

"परन्तु इन बातों का यथेष्ट विस्तार हो चुका। हे अर्जुन, जिन लोगों के लिए ज्ञानरूपी सूर्य का उदय हो चुका है और इसलिए जिन्होंने यह समझ लिया है कि मैं पुरुषोत्तम हूं, ज्ञान की जाग्रति होने पर जिन्हें यह दृश्य

जगत् स्वप्न के समान मिथ्या जान पड़ने लगा है अथवा जो मेरा सत्य ज्ञान हो जाने के कारण मिथ्या प्रपंचो के फेर से उसी प्रकार दूर रहते हैं, जिस प्रकार माला हाथ में ले लेने पर उसके कारण होने वाला सर्प का आभास तत्काल दूर हो जाता है, जिन्होंने मेरा सच्चा स्वरूप जानकर भेदभाव का उसी प्रकार परित्याग कर दिया है, जिस प्रकार वह मनुष्य अलंकारत्व को मिथ्या कहता है जो यह जानता है कि अलंकार सोने का है, जो यह कहता है कि मैं ही सर्वव्यापक, अद्वितीय और स्वयंसिद्ध सच्चिदानन्द हूं, जो स्वयं अपने आपको मुझसे भिन्न नहीं समझता और जो मेरा आत्म-स्वरूप पहचानता है, उसी के सम्बन्ध में यह समझना चाहिए कि उसने सब कुछ जान लिया है। परन्तु यह कहना भी यथेष्ट नहीं है; क्योंकि शब्दों का विषय होने वाला जो द्वैत है, वह उसमें बिलकुल बाकी नहीं रह जाता। इसलिए, हे अर्जुन, ऐसा ही पुरुष मेरी भक्ति करने के योग्य होता है। देखो, आकाश में अच्छी तरह से मिल जाने के लिए केवल आकाश ही उपयुक्त होता है। जिस प्रकार क्षीर सागर का आतिथ्य केवल क्षीर सागर ही कर सकता है अथवा अमृत में ही अमृत मिलकर एकरस हो सकता है अथवा चोखा सोना जब चोखे सोने में मिलाया जाता है, तब उन दोनों का मिश्रण भी चोखा सोना ही होता है, ठीक उसी प्रकार जो मद्रूप होता है, वही मेरी भक्ति कर सकता है। देखो, यदि नदी सागर में मिलकर एकरूप न हो सकती तो वह भला उसमें कैसे मिल सकती ? इसी प्रकार जो मेरे स्वरूप में मिलकर ऐक्य नहीं प्राप्त कर सकता, वह मेरे साथ भक्ति का सम्बन्ध कैसे स्थापित कर सकता है ? तरंग जिस प्रकार सागर में सभी तरह से तन्मय हो जाती है, उसी प्रकार, हे अर्जुन, जो अनन्य होकर मेरा भजन करता है, उसकी भक्ति का मेरे साथ जो सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध की उपमा प्रभा और सूर्य से ही अच्छी तरह दी जा सकती है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

"इस प्रकार इस अध्याय के आरम्भ से यहां तक समस्त शास्त्रों से समस्त महा-तत्त्व प्रतिपादित किया गया है जो कमलों की सुगन्ध के समान, उपनिषदों को सुगन्धित करता है, जो शब्द-ब्रह्म के आलोड़न से प्राप्त होने वाला अर्थ सर्वस्व है, वह श्रीमान् व्यास ऋषि की बुद्धि की सहायता से निकाला हुआ सार मैंने आप लोगों की सेवा में उपस्थित किया है। यह ज्ञान-रूपी अमृत की गंगा है अथवा आनन्द-रूपी चन्द्रमा की सत्रहवीं कला है अथवा विचार-रूपी क्षीर सागर से निकली हुई नई लक्ष्मी ही है। इसीलिए वह अपने पद (शब्द-समूह), वर्ण (अक्षर) और अर्थ-रूपी जीवन से मेरे सिवा और कुछ जानती ही नहीं। इस लक्ष्मी के सामने क्षर और अक्षर दोनों ही खड़े रहते हैं, परन्तु यह भूलकर भी उनकी ओर नहीं देखती और उसने अपना सर्वस्व मुझ पुरुषोत्तम को ही अर्पित कर दिया है। इसीलिए इस संसार में यह गीत मेरी (अर्थात् आत्मा की) एकनिष्ठ पतिव्रता है और उसी का श्रवण आज तुमने किया है। यह गीता-शास्त्र मुख से कहने के योग्य नहीं है, परन्तु संसार को जीतने वाला यही एक शस्त्र है। जिन मन्त्राक्षरों से आत्मा का स्फुरण होता है, वे इसी गीता के हैं। परन्तु हे अर्जुन, आज जो मैंने तुमको यह शास्त्र बतलाया है, सो यह कृत्य कैसा हुआ है ? आज मैं मानों अपने गुप्त धन का संग्रह तुम्हारे सामने खोल बैठा हूं। चैतन्य रूपी शंकर के मस्तक पर जो गीता रूपी गंगा मैंने छिपा रखी थी, हे अर्जुन, उसे आस्थापूर्वक बाहर निकालने वाले तुम आज दूसरे गौतम हुए हो। ठीक तरह से मेरा शुद्ध स्वरूप दिखलाने के लिए, हे अर्जुन, आज तुम मेरे सामने रखे हुए दर्पण के समान ही हो रहे हो। अथवा जिस प्रकार चन्द्रमा और नक्षत्रों से भरा हुआ आकाश, सागर अपने जल में प्रतिबिम्ब रूप से ले आता है, ठीक उसी प्रकार आज तुमने गीता के सहित मुझे भी अपने अन्तःकरण मे प्रतिबिम्बित कर लिया है। हे अर्जुन, तुममें तीनों गुणों का जो मल था, वह दूर हो गया है और तुम गीता के सहित मेरे निवास-स्थान बन गये हो। परन्तु इस गीता का मैं क्या वर्णन करूं ! जो मेरी इस ज्ञान-रूपी लता को

जानता है, वह समस्त मोहों से मुक्त हो जाता है। हे अर्जुन, जिस प्रकार अमृत-रूपी नदी का सेवन करने से वह समस्त रोगों का परिहार करके अमरता प्रदान करती है और मनुष्य को सब प्रकार से सुखी करती है, ठीक उसी प्रकार इस गीता का ज्ञान हो जाने पर यदि मोह नष्ट हो जाता हो तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है ? इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि यह गीता जो आत्मज्ञान करा देता है, उससे मनुष्य को आत्मस्थिति भी प्राप्त होती है। और जब मनुष्य को वह आत्मज्ञान हो जाता है, तब उसके कर्म भी यह समझकर बड़े आनन्द से लय को प्राप्त हो जाते हैं कि अब इस ज्ञान के कारण हमारी आयु भी पूरी हो गई। जिस प्रकार खोई हुई वस्तु मिल जाने पर उसे ढूंढ़ने का कार्य भी समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार जब कर्म-रूपी मन्दिर पर ज्ञान का कलस चढ़ता है, तब कर्म भी आपसे आप बन्द हो जाते हैं। इसीलिए ज्ञानी मनुष्य के करने को और कोई कर्म बाकी नहीं रह जाता।' बस यही सब बातें अनाथों के पृष्ठ-पोषक भगवान् श्रीकृष्ण ने कही। श्रीकृष्ण के इस वचनामृत से अर्जुन का अन्तःकरण पूरी तरह से भर गया और वह अमृत उस अन्तःकरण से बाहर निकलकर प्रवाहित होने लगा; और वही अमृत व्यासदेव के प्रसाद से संजय को प्राप्त हुआ था। संजय ने वही अमृत राजा धृतराष्ट्र के सामने प्राशन के लिए उपस्थित किया था और इसी अमृत की कृपा से मरण समय में धृतराष्ट्र का परिणाम अच्छा हुआ था। यदि साधारणतः गीता के श्रवण के समय कभी-कभी यह जान पड़े कि कोई श्रोता अनधिकारी या अपात्र है, तो भी अन्त में उसके लिए भी यह गीता उपयोगी ही होती है। यदि द्राक्षा की बेलों की जड़ में दूध डाला जाय तो साधारणतः यही जान पड़ता है कि वह दूध व्यर्थ गया। परन्तु जब उन बेलों में द्राक्षा-फल लगते हैं, तब उनकी जड़ों में डाले हुए दूध से दूनी प्राप्ति या लाभ होता है। बस इसी न्याय से भगवान् के मुख से निकले हुए वचन संजय ने बहुत उत्साह से अन्धे धृतराष्ट्र को सुनाये थे; और आगे चलकर उसी वचनामृत की कृपा से वह अन्धा मरने के समय सुखी हुआ था। श्रीकृष्ण का वही वचनामृत मैंने देशी भाषा में उलटी-सीधी रीति से और अपनी बुद्धि तथा सामर्थ्य के अनुसार यहां सब लोगों के सामने रखा है। यदि सेवती के फूल का रूप देखा जाय तो उसमें कोई ऐसी बात नहीं दिखाई देती जो अ-रसिकों के लिए विशेष रूप से मोहक हो। परन्तु जो लोग भ्रमरों के समान रसज्ञ होते हैं, वे उन फूलों के रसों का आस्वादन करना जानते हैं और मनमानी तरह से उन्हें लूटते हैं। इसीलिए जो सिद्धान्त प्रमाण की कसौटी पर ठीक उतरते हों, उन्हें तो आप लोग स्वीकृत कर लें और जिनमें किसी प्रकार की त्रुटि या न्यूनता हो, उन्हें मेरे ही पास रहने दें, क्योंकि ठीक-ठीक समय न होना मुझ सरीखे बालकों का स्वभाव ही है। बालक चाहे अज्ञान ही क्यों न हो, परन्तु उसे देखते ही माता-पिता को इतना अधिक आनन्द होता है जो उनके अन्तःकरण में नहीं समा सकता और वे उस बालक का लाड़ करके बहुत ही सुखी होते हैं। ठीक इसी प्रकार आप सब सन्तजन मेरे मायके के समान हैं। आप लोगों से भेंट होने पर मैं बहुत लाड़ की बातें करता हूं और इस गीता-ग्रन्थ का व्याख्यान भी उन्हीं लाड़ों का एक उदाहरण है। अब इस ज्ञानदेव की यही प्रार्थना है कि हे विश्व-स्वरूप मेरे गुरुराज श्रीनिवृत्तनाथजी, आप मेरी यह वाणी-रूपी सेवा स्वीकृत करें।



सोलहवा अध्याय



दैवासुरसम्पद्विभागयोग

जगत्-रूपी भास को नष्ट करके अद्वैत-रूपी कमल को विकसित करने वाला यह श्री सद्गुरु-रूपी अद्भुत सूर्य उदित हुआ है और अब मैं इसकी वन्दना करता हूं। जो सूर्य अज्ञान-रूपी रात्रि का अन्त करके और ज्ञान तथा अज्ञान-रूपी प्रकाश को नष्ट करके ज्ञानी पुरुषों को आत्मबोध का शुभ दिवस दिखलाता है, जिस सूर्य के प्रभाव से प्रभात होते ही जीव-रूपी पक्षियों को आत्मज्ञान की दृष्टि प्राप्त होती है और वे शरीर रूपी घोंसला छोड़कर बाहर निकल जाते हैं, जिस सूर्य का उदय होने के कारण वासनात्मक शरीर-रूपी कमल के कोष में बन्द पड़ा हुआ चैतन्य-रूपी भ्रमर एकदम से बन्धनमुक्त हो जाता है, भेद-भावना की नदी के दोनों तटों पर शब्दों के वखेडे मे फसकर और पारस्परिक वियोग के कारण पागल होकर आक्रोश करने वाले बुद्धि-रूपी चक्रवाक पक्षियों के जोडे को पूर्ण एकता का लाभ करा देता है, जो सूर्य चैतन्य-रूपी आकाश को उसी प्रकार प्रकाशित करता है, जिस प्रकार दीपक घर को प्रकाशित करता है, जिस सूर्य के उदित होते ही भेद-बुद्धि का अन्धकारपूर्ण चोरी का समय समाप्त हो जाता है और योग-मार्ग के यात्री आत्मप्रत्यय के मार्ग पर चलने लगते हैं, जिस सूर्य की विवेक-रूपी किरणों का स्पर्श होते ही ज्ञान-रूपी सूर्यकान्त मणि से तेज की चिनगारियां बाहर निकलकर संसार-रूपी वन को भस्म कर देती हैं, जिस सूर्य के किरण जाल के कठोर होकर आत्मस्वरूप की भूमि पर स्थिर होते ही महासिद्धि के मृगजल की बाढ़ आ जाती है, परन्तु इसके उपरान्त जो सूर्य आत्मबोध के मस्तक पर पहुंचकर ब्रह्मभाव के मध्याह्न में तपने लगता है और जिसके इस प्रकार तपने से आत्मा की भ्रान्ति-रूपी छाया उसी के नीचे दबकर छिप जाती है और उस समय वहां माया की रात्रि ही न होने के कारण विश्व के भास और विपरीत ज्ञान की निद्रा का कोई ठिकाना या आश्रय ही नहीं मिलता और इसलिए अद्वैत ज्ञान-रूपी नगर में चारों ओर आनन्द-ही-आनन्द भर जाता है और

सुखानुभव के लेन देन की मन्दी हो जाती है तात्पर्य यह कि जिस सूर्य के प्रकाश से इस प्रकार के कैवल्य मुक्ति के शुभ दिवस का निरन्तर लाभ होता है, जो सूर्य आत्मभाव रूपी आकाश का स्वामी है और जो सूर्य उदित होते ही पूर्व आदि दसों दिशाओं के सहित उदय और अस्त का भी नाम-निशान मिटा देता है, जो ज्ञान और अज्ञान दोनों को नष्ट करके उनमें छिपा हुआ आत्मतत्त्व अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रकट कर देता है, और अधिक क्या कहा जाय, इस प्रकार जो सूर्य एक विलक्षण और नया प्रातःकाल ला उपस्थित करता है, दिन और रात के प्रान्तो के उस पार रहने वाले उस ज्ञान-सूर्य की ओर देखने में भला कौन समर्थ हो सकता है ? जो प्रकाशित होने के योग्य वस्तुओं के बिना ही प्रकाश का गोला है, उन ज्ञान-मार्त्तंड श्रीनिवृत्तिनाथ की मैं बार-बार वन्दना करता हूं, क्योंकि यदि मैं शब्दों के द्वारा उनकी स्तुति करने लगूं तो मुझे अपनी वाणी की दुर्बलता का ही पता चलना है। देव की स्तुति तो तभी अच्छी तरह से की जा सकती है, जब देव की महिमा अन्तःकरण में भलीभांति अंकित हो और जिस वस्तु की स्तुति की जाय, वह वस्तु और बुद्धि दोनों मिलकर एक जीव हो जाय। जिसका ज्ञान उसी समय होता है, जबकि नाम-रूपात्मक वस्तुओं का ज्ञान समूल नष्ट हो जाय, जिसका वर्णन मौन के आलिंगन में ही हो सकता है और जिसका पता स्वयं लय को प्राप्त होने वाले जीव को ही अनुभव से चलता है, जिन गुरुराज के लक्षण कहते-कहते परा वाणी के सहित वैखरी वाणी भी पश्यन्ती और मध्यमा वाणियों के गर्भ में घुसकर वहीं लय को प्राप्त हो जाती हैं, उन आप गुरुराज को मैं अपने मन में अपने लिए सेवक भाव की कल्पना करके शाब्दिक स्तोत्र के साज से सज्जित कर रहा हूं। यदि मैं कहूं कि आप इस सज्जा को सदय होकर ग्रहण करें तो इस प्रकार का कथन भी अद्वैत-आनन्द में न्यूनता लाने के समान ही होगा। परन्तु जिस प्रकार अमृत-सागर के दर्शन होने पर कोई दरिद्र भिखारी भौंचक्का हो जाता है और अपनी योग्यता तथा अयोग्यता का विचार भूलकर उस अमृत-सागर का स्वागत करने के लिए शाक-भाजी का आतिथ्य करने का उपक्रम करने लग जाता है और ऐसे अवसर पर जिस प्रकार उस शाक-भाजी का ही स्वागत करके उस अमृत-सागर के लिए उस दरिद्र के आनन्द और उल्लास का ही ध्यान रखना उचित होता है, ठीक उसी प्रकार यदि आप ही अपना दिव्य तेज छिपाकर मेरी भक्ति की इस सामान्य आरती की ही ओर ध्यान दें, तो मेरा सारा काम हो जायगा। यदि छोटा बालक ही यह समझ ले कि उचित क्या है और अनुचित क्या है, तो फिर उसका लड़कपन ही कहां रह जाय ? परन्तु फिर भी उसकी माता उसकी अटपटी बातों से सन्तुष्ट होती है या नहीं ? जब किसी नाले का पानी आकर गंगा के पीछे लग जाता है, तब क्या गंगा कभी यह कहकर उसे पीछे लौटा देती है कि चल, दूर हट ? हे महाराज, भृगु ऋषि ने भगवान् को लात मारकर कितना बड़ा अत्याचार किया था ! परन्तु उसी पदचिह्न को भूषण मानकर उसकी महत्ता से शार्गधर नारायण सन्तोष ही मानते हैं न ? अथवा जब कालिमा या अन्धकार से भरा हुआ आकाश सूर्य के सामने आता है, तब क्या सूर्य कभी यह कहकर उसका तिरस्कार करता है कि चल, दूर हट ! ठीक उसी प्रकार यदि किसी अवसर पर भेद-बुद्धि के फेर में पड़कर और सूर्य के रूपक का तराजू खड़ा करके मैंने सूर्य के साथ आपकी तुलना की हो, तो हे गुरुराज, आप कृपाकर एक बार उस तुलना को भी सहन कर लें। जिन्होंने ध्यान और समाधि के द्वारा आपके दर्शन किये हैं और जिस वेद-वाणी ने आपका वर्णन किया है, उनके ये सब कृत्य आपने जिस प्रकार सहन किये है, यदि उसी प्रकार इसे भी आप सहन कर लें और उसी न्याय का मेरे लिए भी प्रयोग करें तो काम हो जायगा। हे महाराज, आज मैं आपके गुणों का वर्णन करने लग गया हूं, परन्तु आप कृपाकर इसे मेरा अपराध न मानें। आप जो चाहे सो करें, परन्तु फिर भी जब तक इस काम से मेरा जी न भर जायगा और मेरा हौसला पूरा न हो जायगा, तब तक मैं किसी तरह यह भाटपन का काम बन्द न करूंगा। ज्यों ही मैं गीता नाम के आपके इस प्रसादामृत का बडे उत्साह से वर्णन करने लगा हूं, त्यों ही मेरे परम सौभाग्य से मुझे दूना बल प्राप्त हो गया है। मेरी वाणी ने अनेक

कल्पों तक सत्य बोलने के तप का आचरण किया था; और हे गुरु महाराज, उसी तपस्या का अनन्त फल आज वह प्राप्त कर रही है। आज तक मैंने कोई बहुत ही अलौकिक पुण्य सम्पादित किया था और उसी पुण्य ने आज आपका गुणगान करने की बुद्धि देकर मुझे इस कार्य में उत्तीर्ण किया है। मैं इस जीवावस्था के वन में प्रविष्ट होकर मृत्यु के गांव में फंस गया था, परन्तु वह दुर्दशा का फेर आज बिलकुल दूर हो गया है। कारण यह है कि आपकी जो कीर्ति गीता के नाम से प्रसिद्ध है और जो इस उद्दंड विश्व के भास को पूर्ण रूप से नष्ट कर देती है, आपकी उसी कीर्ति का वर्णन मेरे हिस्से में आया है। जिसके घर में महालक्ष्मी स्वयं ही आकर आनन्दपूर्वक बैठ जाय, क्या उसे कभी दरिद्र कहा जा सकता है ? अथवा यदि अन्धकार के घर में सौभाग्य से सूर्य अतिथि के रूप में आ पहुंचे तो क्या वह अन्धकार ही इस संसार में प्रकाश नहीं बन जायगा ? जिस देव के पासंग में यह अनन्त विश्व परमाणु के बराबर भी नहीं ठहरता, वही देव यदि भक्ति की लहरों में आ पड़ें तो फिर वे भक्त के लिए भला कौन-सा रूप नहीं धारण करते ? ठीक इसी प्रकार गीता पर मेरा व्याख्यान देना भी आकाश-कुसुम की सुगन्ध लेने के समान ही असम्भव है; परन्तु आप समर्थ हैं और इसलिए आपने अपनी सामर्थ्य से मेरी वह वासना भी पूरी कर दी है। इसीलिए आपका यह शिष्य ज्ञानदेव भी कहता है कि हे महाराज, आपकी कृपा से मैं गीता के गम्भीर श्लोकों का अर्थ भी बहुत ही स्पष्ट और सुगम करके निवेदन करूंगा। पिछले (अर्थात् पन्द्रहवें) अध्याय में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समस्त शास्त्रीय सिद्धांत स्पष्ट करके समझाये थे। जिस प्रकार कोई चतुर वैद्य किसी रोगी के अंगों में घुसे हुए रोगों का निदान करता है, उसी प्रकार वृक्ष के रूपक के द्वारा श्रीकृष्ण ने आलंकारिक भाषा में उपाधि-रूपी सम्पूर्ण विश्व का विवेचन किया था। और विश्व का जीवात्मा जो अक्षर पुरुष है, उसके भी लक्षण बतलाये थे। उसी की उपाधि से चैतन्य साकार हुआ है। अन्त में उत्तम पुरुष का विवेचन करते समय निर्मल आत्मतत्त्व भी दिखलाया गया है। इसके उपरान्त श्रीकृष्ण ने यह कहा था कि आत्मप्राप्ति का अन्तस्थ और प्रबल साधन ज्ञान ही है। इसलिए अब इस सोलहवें अध्याय में प्रतिपादन करने के योग्य कोई विशेष बात बाकी नहीं रह गई। अब केवल गुरु और शिष्य का स्नेह-सम्बन्ध रह गया है। इस प्रकरण में ज्ञानियों का तो पूर्ण रूप से सन्तोष हो चुका है और वे सब बातें अच्छी तरह समझ चुके हैं, परन्तु उनके अतिरिक्त आत्मप्राप्ति की इच्छा रखने वाले जो और मुमुक्षुजन हैं, वही संशय में पड़े हुए हैं। विश्वाधिपति श्रीकृष्ण ने कहा है कि जो भाग्यवान् पुरुष ज्ञान के द्वारा मुझे अर्थात् पुरुषोत्तम को प्राप्त करता है, वही सर्वज्ञ है और वही भक्ति के शिखर तक पहुंचा है। और उक्त अध्याय के अन्तिम श्लोक में इसी ज्ञान के महत्त्व का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। शुद्ध ज्ञान के अधिपति भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं ही कहा है कि ज्ञान के सिवा कोई और ऐसा प्रभावशाली साधन नहीं है जो प्रपंचों को निगलकर देखने वाले को दृष्ट वस्तु के साथ मिलाकर एक रूप कर दे, उसी दृष्ट वस्तु में उसे लीन कर दे, जीव को आनन्द साम्राज्य का धनी या मालिक बना दे और इस प्रकार के दूसरे चमत्कार दिखला सके। इसलिए जो लोग आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्सुक थे, उनके चित्त को तो सन्तोष हो गया और इसलिए उन लोगों ने बहुत ही आदरपूर्वक उस ज्ञान पर से अपना जीवन निछावर कर दिया। जिस विषय के प्रति मन में अनुराग होता है, उस विषय का अन्तःकरण में बराबर अधिकाधिक संचार होने लगता है और इसी को प्रेम कहते हैं। इसीलिए जिज्ञासुओं में से जिन लोगों को ज्ञान के सम्बन्ध का यह प्रेमानुभव नहीं हुआ है, उन लोगों के मन में इस बात की चिन्ता उत्पन्न होना बहुत ही स्वाभाविक है कि हमें यह ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होगा और प्राप्त हो जाने पर वह हममें किस प्रकार स्थायी हो सकेगा। इसलिए पहले इस प्रकार के प्रश्नों पर विचार करना चाहिए कि वह शुद्ध ज्ञान किस तरह प्राप्त होगा ! प्राप्त होने पर वह ज्ञान किस प्रकार बढ़ेगा ! अथवा वह ज्ञान हमें क्यों नहीं प्राप्त हो रहा है ! अथवा ज्ञान के मार्ग में अवरोध करने वाली ऐसी कौन-सी प्रबल बात है जो ज्ञान उत्पन्न नहीं होने देती अथवा प्राप्त ज्ञान को

टेढ़े-तिरछे मार्ग में लगाती है ! फिर जो बातें ज्ञान के लिए विरोधक हों, उन्हें तो अलग कर दिया जाय और जिन बातों से ज्ञान की वृद्धि हो, उनका मन लगाकर विचार किया जाय। ज्ञान के जिज्ञासु जिन श्रोताओं के मन में इस प्रकार की इच्छा हो, उनकी यह इच्छा पूरी करने के लिए अब भगवान् श्रीकृष्ण भाषण करेंगे। उस दैवी सम्पत्ति के वैभव का गुण-गान होगा जो ज्ञान को जन्म देती है और साथ ही शान्ति की भी वृद्धि करती है। साथ ही उस आसुरी सम्पत्ति के भयंकर स्वरूप का भी वर्णन किया जायगा जो विषय-वासना और राग-द्वेष आदि दुष्ट विकारों को आश्रय देती है। यही दोनों सम्पत्तियां इष्ट और अनिष्ट कार्य करती हैं और इस विषय की प्रस्तावना पहले नौवें अध्याय में की जा चुकी है। उसी अवसर पर इस विषय का प्रत्यक्ष और उचित विचार होने को था; परन्तु बीच में एक दूसरा ही विषय सामने आ गया और वह प्रकरण वहीं रह गया। इसलिए अब भगवान् वही प्रकारण इस अध्याय में स्पष्ट करेंगे। इसलिए इस सोलहवें अध्याय को पिछले भाग का पूरक समझना चाहिए। परन्तु यह प्रस्तावना अब बहुत हो चुकी। प्रस्तुत विषय यह है कि इन्हीं दोनों सम्पत्तियों की सामर्थ्य के कारण ज्ञान का इष्ट अथवा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। अब पहले उस दैवी सम्पत्ति के लक्षण सुनिए जो मुमुक्षुओं के लिए मार्ग-दर्शक होती है और दीपक की ज्योति की भांति मोह-रात्रि का अन्धकार दूर करके उसे प्रकाशित करती है। जो अनेक पदार्थ एक-दूसरे के लिए पोषक होते हैं, उन सबको एकत्र करने को ही लोक में 'सम्पत्ति' कहते हैं। दैवी सम्पत्ति सुख उत्पन्न करने वाली होती है। वह दैवयोग से ही किसी-किसी को प्राप्त होती है और इसीलिए उसे 'दैवी' कहा जाता है।

श्रीभगवानुवाच—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

"अब इस दैवी सम्पत्ति के गुणों में, जिसे सबसे पहला स्थान मिलता है, वह 'अभय' है। जो बहुत बड़ी बाढ़ में नहीं कूदता, उसे डूबने का भय छू भी नहीं जाता। अथवा जो पथ्य से रहता है, उसके सामने रोग का ज्यादा जोर नहीं चलता। ठीक इसी प्रकार कर्म और अकर्म के मार्गों में अहंकार को नहीं घुसने देना चाहिए और संसार का भय छोड़ देना चाहिए। अब यदि अद्वैत की भावना बढ़ जाय तो उसे छोड़कर सब विषयों में आत्मभाव रखना चाहिए और भय की बात मन से दूर हटा देनी चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि अद्वैत-बुद्धि आ जाने के कारण सब कुछ उसी प्रकार आत्ममय जान पड़ने लगता है, जिस प्रकार जल यदि नमक को डुबाने के लिए आवे तो नमक स्वयं ही जल बन जाता है; और इससे भय का नाश होता है। हे अर्जुन, जिसे 'अभय' कहते हैं, वह यही है। अर्थात् सच्चे ज्ञान के मार्ग की यह बात है। अब जिसे 'सत्त्व-शुद्धि' कहते हैं, उसे आगे बतलाये हुए लक्षणों से पहचानना चाहिए। जिस प्रकार राख का ढेर न तो जलता ही है और न बुझता ही है अथवा जिस प्रकार मध्यम अवस्था का चन्द्रमा सूक्ष्म रूप से अविकृत रहता है और उसमें न तो प्रतिपदा की बढ़ने वाली कला ही होती है और न अमावस्या का क्षय ही होता है, अथवा जिस प्रकार वह नदी मध्यम अवस्था में शान्त होकर बहती रहती है, जिसमें न तो वर्षा-ऋतु की बाढ़ ही होती है और न ग्रीष्म-ऋतु वाला जल का अभाव ही होता है, ठीक उसी प्रकार रजोगुण तथा तमोगुण से भरे हुए अनेक प्रकार के मनोरथों का ध्यान छोड़कर बुद्धि केवल स्वधर्म के विषयों में ही अनुराग रखती है और इन्द्रियों को अच्छे चाहे बुरे, किसी प्रकार के विषय दिखाये जायं, परन्तु मन तनिक भी विचलित नहीं होता। प्रिय पति के विदेश जाने पर जिस प्रकार पतिव्रता पत्नी का विरह से व्याकुल मन किसी प्रकार की हानि या लाभ की ओर नहीं रहता, बल्कि केवल उदासीन रहता है, उसी प्रकार केवल आत्मस्वरूप की लगन लगने के कारण बुद्धि जो इस प्रकार तन्मय हो जाती है, उसी को केशिमर्दन श्रीकृष्ण 'सत्त्व-शुद्धि' कहते हैं। अब

आत्मप्राप्ति के लिए ज्ञानयोग में अपनी सामर्थ्य से स्थिर रहने और उस स्थिति में चित्तवृत्ति को पूर्ण रूप से त्याग देने को ही ज्ञानयोग की व्यवस्थिति कहते हैं। जिस प्रकार यज्ञ की अग्नि में बिना किसी प्रकार की कामना मन में रखे ही पूर्णाहुति डाली जानी चाहिए अथवा जिस प्रकार कुलीन के लिए यह उचित है कि वह कुलीन को ही अपनी कन्या दे अथवा जिस प्रकार लक्ष्मी केवल मुकुन्द में ही निश्चल भाव से रमण करती है, ठीक उसी प्रकार समस्त संकल्प-विकल्प छोड़कर निश्चित रूप से योग और ज्ञान में ही जीवन-वृत्ति लगाने को श्रीकृष्णजी तीसरा गुण अर्थात् ज्ञानयोग-व्यवस्थिति कहते हैं। यदि अपना परम शत्रु भी दुःख में पड़ा हो तो उसे देखकर शरीर, वाणी, मन और धन से सहायता किये बिना न रहना और हे अर्जुन, यदि कोई दुःखी या पीड़ित हमारे पास आवे तो उसकी सहायता में अपना धन-धान्य आदि सब कुछ उसी प्रकार अन्तःकरणपूर्वक लगा देना, जिस प्रकार मार्ग में लगा हुआ वृक्ष यात्रियों को अपने पत्ते, फूल, छाया, फल और मूल आदि देने में तनिक भी संकोच नहीं करता; 'दान' कहलाता है। इस प्रकार के दान को मोक्ष का गुप्त धन दिखलाने वाला दिव्य अंजन ही समझना चाहिए। अच्छा अब 'दम' के लक्षण सुनो। जिस प्रकार कोई तलवार चलाने वाला वीर अपने शत्रु का सिर तुरन्त काट डालता है, उसी प्रकार विषयों और इन्द्रियों के संयोग को बिलकुल जड़ से काट डालना 'दम' कहलाता है। इन्द्रियों को विषयों के मेवों के अन्धकार से रोकने के लिए उन्हें अच्छी तरह बांधकर प्रत्याहार के अधीन कर दिया जाता है। उस समय चित्त की शक्ति से घबराकर 'प्रवृत्ति' अन्दर से बाहर निकलती है और तब उन्हीं इन्द्रियों के दसों दरवाजों से वैराग्य शरीर के अन्दर प्रवेश करता है। जो पुरुष इस प्रकार के कठोर व्रतों का श्वास और उच्छ्वास की अपेक्षा भी अखंड चलने वाला आचरण करता है और बिना कुछ भी विश्राम किये रात-दिन उन व्रतों का पालन करता है, उसके इस प्रकार के आचरण को ही 'दम' कहते हैं। इसके लक्षण अच्छी तरह समझ लो। अब मैं तुम्हें संक्षेप में यज्ञ या याग का अर्थ बतलाता हूं। एक ओर तो सबसे पहले गिने जाने वाले ब्राह्मण होते हैं और दूसरी ओर सबके अन्त में गिनी जाने वाली स्त्रियां आदि होती हैं। और इन दोनों के मध्य में जो अनेक अधिकारी आदि होते हैं, उनमें से प्रत्येक अपने लिए अत्यन्त उचित तथा देवधर्म के मार्ग का अनुसरण करता है। इनमें से वेदों और शास्त्रों में कही हुई प्रणाली से षट्कर्म करने वाले ब्राह्मण और उन ब्राह्मणों को नमस्कार करने वाले शूद्र दोनों ही समान रूप से अपने-अपने आचारों का पालन करते हैं और इस प्रकार वे लोग याग का सम्पादन करते हैं और उन यागों का उन्हें समान रूप से फल प्राप्त होता है। इस प्रकार अपने अधिकारों के अनुरूप यज्ञ करना सभी का कर्तव्य है। परन्तु हां, यह करते समय उन यज्ञों को फल की आशा के विष से विषाक्त नहीं करना चाहिए; और देहाभिमान से अपने मन में इस प्रकार की अहंभावना नहीं उत्पन्न होने देनी चाहिए कि 'हम कर्ता हैं'। साथ ही सब लोगों को वेदों की आज्ञा का भी पालन करना चाहिए। हे अर्जुन, इस प्रकार 'यज्ञ' शब्द का सब जगह यही आशय रहता है। इस प्रकार का यज्ञ मोक्ष के मार्ग में एक जानकार साथी ही होता है। गेंद जो जमीन पर फेंका जाता है, वह जमीन को मारने के लिए नहीं फेंका जाता बल्कि इसलिए फेंका जाता है कि वह फिर लौटकर हमारे हाथ में आ जाय। खेत में जो बीज बोये जाते हैं, वह इसीलिए कि उनसे फसल तैयार हो। जिस प्रकार गुप्त और अन्धकारपूर्ण स्थान में गाड़े हुए धन को देखने के लिए दीपक को आदरपूर्वक स्वीकार किया जाता है अथवा जिस प्रकार वृक्ष की शाखाओं पर फल लाने के लिए उसकी जड़ में सिंचाई की जाती है अथवा यदि संक्षेप में कहा जाय तो जिस प्रकार स्वयं ही अपना मुख देखने के लिए दर्पण को अच्छी तरह रगड़ और पोंछकर स्वच्छ किया जाता है, ठीक उसी प्रकार वेदों के प्रतिपाद्य विषय ईश्वर के स्वरूप का ठीक तरह से ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रुति-ग्रन्थों का निरन्तर अभ्यास या अध्ययन करना आवश्यक होता है। ब्राह्मणों के लिए वेदों में के ब्रह्मसूत्र और दूसरे वर्णों के लोगों के लिए अपने-अपने अधिकार के अनुसार स्तोत्र आदि पढ़ना या नाम-रूपी मन्त्र का उच्चारण करना ही शुद्ध चैतन्य की

प्राप्ति के लिए यथेष्ट है। हे अर्जुन, जिसे 'स्वाध्याय' कहते हैं, वह यही है। अब मैं तुमको 'तप' शब्द का मर्म बतलाता हूं, सुनो। दान-धर्म में अपना सर्वस्व दे डालना ही अपने सर्वस्व को सार्थक करना है। (गन्ध-द्रव्य) जिस प्रकार अग्नि में लय को प्राप्त हो जाता है अथवा जिस प्रकार मिलावट का नाश होने पर सोना तौल में कम हो जाता है अथवा चन्द्रमा जिस प्रकार पितरों को अमृत का आहार देता-देता स्वयं क्षीण हो जाता है, ठीक उसी प्रकार आत्मरूप का अनुभव करने के लिए अपने प्राण, इन्द्रियों और शरीर को सुखा डालना ही, हे अर्जुन, 'तप' कहलाता है। अब तप के और भी अनेक प्रकार बतलाये जाते हैं। परन्तु जिस प्रकार हंस पानी को अलग करके अपनी चोंच को दूध निकाल लेने के काम में लगाता है, ठीक उसी प्रकार शरीर और जीव का संयोग होने पर उनमें से देहभाव को दूर हटाकर और जीवभाव को चुनकर अलग कर लेने का काम जिस विवेक के द्वारा होता है, उस विवेक को सदा अपने अन्तःकरण में जाग्रत रखना चाहिए। आत्मविचार करते समय बुद्धि चक्कर में पड़ जाती है। उस समय जिस प्रकार जाग्रति होने पर निद्रा का भी और साथ-ही-साथ स्वप्न का भी लोप हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जो पुरुष आत्मदर्शन के लिए विवेकपूर्वक आचरण या व्यवहार करता है, हे अर्जुन, उसी से इस 'तप' का साधन होता है। अब जिस प्रकार शिशु के हित के लिए ही माता के स्तन में दूध होता है अथवा भूतमात्र के नाना प्रकार के होने पर भी जिस प्रकार चैतन्य का सबमें समान रूप से निवास होता है, उसी प्रकार प्राणीमात्र के साथ मधुर और सौजन्यपूर्ण व्यवहार करना ही 'आर्जव' है।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥२॥

"ठीक इसी प्रकार जगत् को सुखी करने के उद्देश्य से ही शारीरिक, वाचिक और मानसिक व्यवहार करना 'अहिंसा' कहलाता है। मोगरे की कली जैसे बहुत ही छोटी होने पर भी कोमल होती है अथवा चन्द्रमा का प्रकाश जैसे तेजस्वी होने पर भी शीतल होता है, ठीक उसी प्रकार जो भाषण सूक्ष्म और तेजस्वी होने पर भी कोमल तथा शीतल होता है, वही सत्य है। जब ऐसी औषधि कहीं न मिलती हो जिसके देखने से ही रोग नष्ट हो जाता हो और जो खाने में कड़ुवी भी न लगे, तो फिर ऐसी वस्तु भला कहां से मिल सकती है जिसके साथ सत्य की ठीक-ठीक और उपयुक्त उपमा दी जा सके ! परन्तु यदि पानी का छींटा आंख पर डाला जाय, तो वह अपनी कोमलता के कारण आंख को तनिक भी कष्ट या हानि नहीं पहुंचाता; परन्तु वही पानी कठिन-से-कठिन पत्थरों को भी तोड़कर अपना मार्ग निकाल ही लेता है। ठीक इसी प्रकार भ्रम और मोह को तोड़ने के लिए जो लोहे की तरह कड़ा होता है, परन्तु कानों को माधुर्य से भी मधुर लगता है, जिसे सुनने के समय ऐसा जान पड़ता है कि कान मानों घटाघट उसका प्राशन करते चले जा रहे हैं, परन्तु जो अपनी सत्यता की सामर्थ्य से ब्रह्मतत्त्व का भी स्पष्टीकरण करता है, तात्पर्य यह कि जो प्रिय और मधुर होने पर भी किसी को धोखे मे नहीं डालता और सत्य होने पर भी किसी को बुरा नहीं लगता—और नहीं तो पारधी का गाना कानों को तो मधुर लगता है, पर हरिणी के लिए वह प्राण-घातक होता है अथवा अग्नि अपना शुद्धीकरण का काम तो बहुत अच्छी तरह करती है, परन्तु ऐसा करते समय वह जलाकर राख भी कर देती है—ठीक इसी प्रकार जो वाणी कानों को तो मधुर लगती है, परन्तु अपने अर्थ से कलेजे को दो टुकड़े कर देती है, उसे कभी सुन्दर नहीं कहा जा सकता। उसे तो दुष्टा राक्षसी कहना ही ठीक है। परन्तु बालक के कोई अनिष्ट और लज्जाजनक आचरण करने पर जो ऊपर से कठोर क्रोध दिखलाती है, परन्तु उसका लालन-पालन करने में जो फूलों से भी बढ़कर कोमल होती है, उस माता के स्वरूप की तरह जो वचन कानों के लिए अत्यन्त सुखद न होने पर भी अन्त में ठीक और अच्छा सिद्ध होता है और जो दुष्ट विकारों से अलिप्त होता है, उस वचन को ही इस प्रकरण में 'सत्य' समझना चाहिए। पत्थर में चाहे कितना ही पानी क्यों

न सीचा जाय परन्तु उसमे कभी अकुर नही निकलता अथवा मक्खन को चाहे कितना ही क्यो न मथा जाय पर उसमे से कभी माड नही निकलती अथवा यदि साप की केचुली पर लात मारी जाय तो भी वह केचुली जिस प्रकार कभी काटने के लिए फन नही उठाती अथवा वसन्त ऋतु की पूरी बहार होने पर भी आकाश मे जिस प्रकार कभी फल नही फलते अथवा रम्भा के स्वरूप और लावण्य से शुकदेवजी के अन्त करण मे जिस प्रकार कभी काम विकार का संचार नहीं हुआ था अथवा जो अग्नि बिलकुल बुझ जाती है, वह जिस प्रकार घी डालने से भी फिर नहीं जलती, ठीक उसी प्रकार यदि कितनी ही ऐसी बातें क्यों न कहें, जिन्हें सुनते ही अनजान बालक को भी क्रोध चढ़ आवे, तो भी, हे अर्जुन, जिस प्रकार स्वयं ब्रह्मा के पैरों पर पड़ने से भी मरा हुआ जीव उठकर खड़ा नहीं हो सकता, ठीक उसी प्रकार की मन की जो अवस्था होती है और जिसमें राग कभी उत्पन्न ही नहीं होता, उसी को 'अक्रोध' कहते है।'' यही सब बातें भगवान् लक्ष्मीपति ने उस समय कही थीं। इसके उपरान्त यज्ञ-भोक्ता भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—''अब यदि मिट्टी का त्याग किया जाय तो घट का, तन्तुओं का त्याग किया जाय तो वस्त्र का, बीज का त्याग किया जाय तो वटवृक्ष का, भीत का त्याग किया जाय सो सारे चित्र का, निद्रा का त्याग किया जाय तो उसमे दिखाई देने वाली सभी बातों का, जल का त्याग किया जाय तो तरंगों का, वर्षा-ऋतु का त्याग किया जाय तो मेघो का और धन का त्याग किया जाय तो विषयों के उपभोग का आपसे आप त्याग हो जाता है। ठीक इसी प्रकार बुद्धिमान् लोग देहाभिमान को छोड़कर प्रपंच के समस्त विषयों को दूर हटा देने को ही त्याग कहते है।'' यह सब बात समझकर भाग्यवान् अर्जुन ने पूछा—''हे महाराज, अब आप मुझे शान्ति के लक्षण स्पष्ट रूप से बतलावे।'' इस पर देव ने कहा—''बहुत उत्तम बात है। अब तुम अच्छी तरह ध्यान देकर सुनो। ज्ञेय को नष्ट करके जब ज्ञाता और ज्ञान भी लय को प्राप्त हो जाते हैं, तब जो स्थिति उत्पन्न होती है, उसी को 'शान्ति' कहना चाहिए। जिस प्रकार प्रलयकाल के जल की बाढ़ सारे विश्व का नाम-निशान भी मिटा देती है और चारों ओर केवल वही जल पूरी तरह से भरा रहता है और इस प्रकार का भेददर्शक भाषा-व्यवहार हो ही नहीं सकता कि यह नदी का उद्गम है, यह प्रवाह है और यह समुद्र है और जिधर देखो, उधर एक-सा पानी ही फैला हुआ दिखाई देता है, परन्तु उस समय भी क्या उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए उससे भिन्न कोई रहता है ? कोई नहीं रहता। ठीक इसी प्रकार जब ज्ञेय के साथ आलिंगन होने पर तन्मयता हो जाती है, तब ज्ञातृत्व का भी नाश हो जाता है। फिर उस समय, हे अर्जुन, जो कुछ बाकी बच जाता है, वही शान्ति का लक्षण है। अब यह सुनो कि अपैशुन्य किसे कहते हैं। जिस समय रोगी किसी रोग से बहुत अधिक कष्ट पाता है, उस समय उसे अच्छा करने की चिन्ता में सुविज्ञ वैद्य यह नहीं देखता कि यह रोगी मेरा शत्रु है। अथवा जब कीचड़ में फंसी हुई गाय दिखाई देती है तब देखने वाला इस बात का विचार नहीं करता कि यह दूध देती है या नहीं, और वह उस गाय का क्लेश देखकर ही विकल हो जाता है। अथवा जब कभी कोई मनुष्य जल में डूबने लगता है, तब विज्ञ मनुष्य इस बात का विचार करने नहीं बैठता कि यह ब्राह्मण है या अन्त्यज है और यही समझता है कि इसके प्राण बचाना ही मेरा कर्तव्य है। अथवा जब कभी कोई चांडाल दैवयोग से जंगल में मिलने वाली स्त्री को वस्त्रहीन करके और उसके कपड़े छीनकर उसे छोड़ देता है, तब सभ्य मनुष्य तब तक उस स्त्री पर दृष्टि नहीं डालता, जब तक वह उसे फिर से वस्त्र नहीं पहना लेता। ठीक इसी प्रकार जो लोग अज्ञान और भ्रम आदि के कारण अथवा पूर्व जन्मों के कठोर संचित कर्मो के कारण सब प्रकार के निन्दनीय कार्यो में लगे रहते हैं, उन्हें ये अपना शारीरिक बल देकर उन्हें सालने वाले दुःखों को विस्मृत करा देते हैं। हे अर्जुन, दूसरे के दोषों को पहले अपनी दृष्टि या कटाक्ष से दूर करके तब ये उन्हें अच्छी तरह देखने लगते हैं। जिस प्रकार पहले देवता की पूजा करके तब उनका ध्यान किया जाता है अथवा पहले खेत जोतकर और उसमें बीज बोकर तब उसकी रखवाली करने जाते हैं, अथवा अतिथि को पहले आदर-सत्कार से

सन्तुष्ट करके तब उसका आशीर्वाद लिया जाता है, ठीक उसी प्रकार पहले अपने गुणों से दूसरों की त्रुटियां पूरी करनी चाहिए और तब उसकी ओर सूक्ष्म दृष्टि से देखना चाहिए। केवल इतना ही नहीं; वे कभी किसी के मर्म पर आघात नहीं करते, कभी किसी को कुकर्मों में प्रवृत्त नहीं करते और कभी किसी को दोष नहीं लगाते। बस उनका आचरण या व्यवहार इसी प्रकार का होता है। इसके अतिरिक्त उनका व्यवहार ऐसा होता है कि यदि कोई गिर पड़ता हो या यदि किसी का पतन हो गया हो, तो वे किसी-न-किसी उपाय से उसे संभाल लेते और उठाकर खड़ा कर देते हैं, परन्तु किसी का मर्म-भेद करने का विचार कभी उनके मन में आता ही नहीं। तात्पर्य यह कि हे अर्जुन, बड़ों के लिए वे कभी दूसरों को तुच्छ मानने या बनाने के लिए तैयार नहीं होते और न उनकी दृष्टि कभी दूसरों के दोष ही ढूंढ़ने बैठती है। हे अर्जुन, बस इसी प्रकार के व्यवहार को 'अपैशुन्य' कहते हैं। और इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि मोक्ष के मार्ग पर यह एक विश्रान्ति का मुख्य स्थल है। अब मैं तुमको यह बतलाता हूं कि 'दया' किसे कहते हैं। जिस प्रकार पूर्णिमा के चन्द्रमा की प्रभा सारे विश्व को समान रूप से शीतलता प्रदान करती है और इस प्रकार का पंक्ति-भेद कभी नहीं करती कि यह बडा है और वह छोटा है, उसी प्रकार जिनमें दया होती है, वे दुःखितों के कष्टों का दयालुतापूर्वक परिहार करते समय कभी इस बात का विचार अपने मन में नहीं आने देते कि यह उत्तम है और वह अधम है। देखो, संसार में पानी सरीखा पदार्थ भी स्वयं नष्ट हो जाता है, परन्तु मरती हुई वनस्पतियों को वह हरा-भरा कर देता है। ठीक इसी प्रकार दयालु पुरुष के मन में दूसरों के दुःख देखकर करुणा का इतना प्रबल आविर्भाव होता है कि उनके दुखों का शमन करने के लिए यदि वे अपना सर्वस्व भी त्याग दें तो वह उन्हें थोड़ा ही जान पड़ता है। जब बहते हुए जल को मार्ग में कोई गड्ढा आदि मिलता है, तब वह उसे बिना भरे एक कदम भी आगे नहीं बढ़ता। ठीक इसी प्रकार दयालु पुरुष भी अपने सामने आने वाले दीन पुरुष को सन्तुष्ट करके ही आगे पैर बढ़ाता है। जिस प्रकार पैर में कांटा चुभने पर भी उसकी पीड़ा के चिह्न चेहरे पर प्रकट होते हैं, उसी प्रकार दूसरों के दुःख देखकर वह भी अपने शरीर में कष्ट बोध करता है। जिस प्रकार पैरों में ठंडक पहुंचने पर उसकी तरावट आंखों तक में जान पड़ती है, उसी प्रकार वह भी दूसरों को सुखी देखकर स्वयं सुखी होता है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार प्यासे को सुखी करने के लिए संसार में जल की सृष्टि हुई है, उसी प्रकार दुःखितों के कल्याण के लिए ही जिसका जीवन होता है, हे अर्जुन, वह पुरुष मूर्तिमान दया ही होता है। मैं जन्म से ही उसका ऋणी होता हूं। अब भूतेष्वलोलुप्त्वं के गुण की व्याख्या सुनो। कमल चाहे कितना ही हृदय से सूर्य की ओर अनुरक्त क्यों न हो, परन्तु फिर भी सूर्य कभी उसकी सुगन्ध को स्पर्श नहीं करता। अथवा बसन्त के मार्ग में चाहे कितनी ही अधिक वन-श्री क्यों न हो, तो भी वह उस वन-श्री को स्वीकार नहीं करता और बराबर आगे बढ़ता जाता है। और फिर इतनी सब बातें किसलिए कहीं जायं ? यदि समस्त महा-सिद्धियों के साथ स्वयं लक्ष्मी ही क्यों न पास आ जायं, परन्तु फिर भी महा-विष्णु के लिए वह किसी गिनती में नहीं होती। ठीक इसी प्रकार लौकिक अथवा स्वर्गीय विषय-सुख चाहे उसकी इच्छा के दास ही क्यों न बन जायं, परन्तु फिर भी जो अलोलुप होता है, वह कभी उन सुखों को भोगने का विचार भी अपने मन में नहीं करता। और अधिक क्या कहा जाय, जिस अवस्था में जीव को किसी प्रकार के विषयों की अभिलाषा नहीं रह जाती, उसी अवस्था को 'अलोलुप्त्व' नामक गुण का लक्षण समझना चाहिए। अब मैं 'मार्दव' का वर्णन करता हूं, सुनो। मधुमक्खियों के लिए जैसे शहद का छत्ता अथवा जलचरों के लिए जल अथवा पक्षियों के लिए यह खुला आकाश अथवा बालक के लिए माता का प्रेम अथवा बसन्त के स्पर्श से कोमल होने वाली मलय वायु अथवा आंखों के लिए प्रियजनों के दर्शन अथवा अपने बच्चों के लिए जिस प्रकार कछुई की दृष्टि होती है, उसी प्रकार मार्दव गुणवाले पुरुष का भूतमात्र के साथ ही मृदु तथा प्रेमपूर्ण व्यवहार होता है। जो कपूर स्पर्श में अत्यन्त कोमल, चखने में अत्यन्त स्वादिष्ट, नाक के लिए अत्यन्त

सुगन्धित ओर देखने में अत्यन्त निर्मल होता है, वह जितना चाहो, उतना मिल जाता है। वह यदि विषाक्त न होता और उसकी विषाक्तता बीच में बाधक न होती, तो वह अपनी मधुरता और निर्मलता के कारण मार्दव गुण से युक्त पुरुष की कोमलता की बराबरी कर सकता। आकाश जिस प्रकार महाभूतों को भी अपने उदर में रखता है और अणु-परमाणुओं में भी समाया रहता है, और विश्व के अनुरूप ही अपना आकार भी बना लेता है, हे अर्जुन मैं ओर अधिक क्या कहूं, ठीक उसी आकाश की भाँति सारे विश्व के जीवन से सारी सृष्टि के प्राणों से जीवित रहने को ही मैं मार्दव कहता हूं। अब मैं इस गुण की व्याख्या करता हूं। जिस प्रकार पराजय होने पर कोई राजा मारे लज्जा के मुंह नहीं दिखला सकता अथवा अपमान के कारण जिस प्रकार मानी पुरुष निस्तेज हो जाता है अथवा जिस प्रकार भूल से किसी चांडाल के घर में जा पहुंचने पर किसी श्रेष्ठ संन्यासी को बहुत अधिक लज्जा जान पड़ती है अथवा रणभूमि से क्षत्रिय का भाग निकलना जिस प्रकार लज्जाजनक होता है और उसे कोई सहन नहीं कर सकता अथवा महापतिव्रता के लिए जिस प्रकार वैधव्य का आमन्त्रण परम दुःखकारक और असह्य होता है अथवा जिस प्रकार किसी सुंदर पुरुष के शरीर में कोढ़ होने पर अथवा किसी प्रतिष्ठित पुरुष पर व्यर्थ ही कोई लांछन लगने पर मारे लज्जा के उसके प्राणों पर संकट आ बनता है, उसी प्रकार इस साढ़े तीन हाथ के शरीर में बन्दी होकर बार-बार जन्म लेना और मरना और गर्भाशय के विवर के सांचे में रक्त, मूत्र और रस का पुतला बनकर रहना उसके लिए अत्यन्त लज्जाजनक होता है। सारांश यह कि देह के बन्धन में पड़कर नाम-रूपात्मक होने से बढ़कर लज्जाजनक और कोई बात उसके लिए हो ही नहीं सकती। इस प्रकार इस घृणित शरीर के प्रति जो घृणा उत्पन्न होती है, उसी को 'लज्जा' समझना चाहिए। परन्तु यह लज्जा केवल निर्मल पुरुषों को ही जान पड़ती है, दूसरे निर्लज्ज लोगों को तो यह शरीर बहुत ही अच्छा लगता है। अब 'अचापल्य' गुण के लक्षण सुनो। जिस प्रकार कठपुतलियों को नचाने वाली डोरी के टूट जाने से उन कठपुतलियों का चलना-फिरना आदि बन्द हो जाता है, उसी प्रकार योग का साधन करने से कर्मेन्द्रियों की गति कुंठित हो जाती है। अथवा जिस प्रकार सूर्य अस्त होने पर उसकी किरणों का जाल भी छिप जाता है, उसी प्रकार मन का निग्रह करने से इन्द्रियां भी पूरी तरह से दब जाती हैं। इस प्रकार मन का नियमन करने और योग का साधन करने से दसों इन्द्रियां दुर्बल हो जाती हैं; और इसी अवस्था को 'अचापल्य' कहते हैं।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहोनातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

"यदि ईश्वर-प्राप्ति के लिए ज्ञान के मार्ग में पैर रखते समय मन में दृढ़ निश्चय हो गया हो तो फिर बल की कमी नहीं होती। एक तो मरना यों ही भयंकर होता है, तिस पर अग्नि में जलकर मरना तो और भी अधिक भयंकर होता है। लेकिन इतना होने पर भी पतिव्रता उस जलकर मरने की भी परवाह नहीं करती। ठीक इसी प्रकार आत्मप्राप्ति की अग्नि से विषय-रूपी विष को जीव जलाकर निकाल डालता है और तब शून्य की ओर जाने वाले योग-साधन के विकट मार्ग पर जल्दी-जल्दी आगे बढ़ने लगता है। फिर किसी प्रकार का निषेध उसके मार्ग में बाधक नहीं होता। न तो वह विधि को ही मानता है और न महा-सिद्धियों के मोह में ही पड़ता है। इस प्रकार स्वयं ही अपनी आन्तरिक प्रेरणा से ईश्वर की ओर बढ़ने को 'आध्यात्मिक तेज' कहते हैं। यदि मनुष्य में इस प्रकार का गर्व न हो कि समस्त सहनशीलों से एक मैं ही श्रेष्ठ हूं तो इसी को 'क्षमा' समझना चाहिए। शरीर पर हजारों रोम होते हैं, पर उनका भार सहन करने पर भी शरीर को कभी उनका भान भी नहीं होता। यदि इन्द्रियां वश में न रहकर कुमार्ग में लग जायं अथवा शरीर में छिपा हुआ कोई पुराना रोग एकदम से उभर पड़े अथवा प्रियजनों को अचानक वियोग हो जाय और अप्रिय के साथ काम पड़े अथवा इसी प्रकार के और किसी अनिष्ट प्रसंग की कोई बहुत बड़ी लहर अपने ऊपर आ

पड़े तो भी अगस्त्य ऋषि के समान छाती ठोककर उसके सामने निश्चल भाव से खड़े रहना और हे अर्जुन, यदि अधिदैव अधिभूत और अध्यात्म तीनों प्रकार के ताप आकर उपस्थित हों तो उन सबको उसी प्रकार तुच्छ समझकर अपने सामने से हटा देना, जिस प्रकार आकाश में उठने वाली धूम्र की बहुत बड़ी रेखा को हवा एक ही झोंके में उड़ा देती है और चित्त को विचलित कर देने वाले ऐसे विकट प्रसंग के आ पड़ने पर भी धैर्य न छोड़कर अच्छी तरह उसके मुकाबले में डटे रहना ही 'धृति' कहलाता है। हे अर्जुन, यह बात तुम अच्छी तरह अपने ध्यान में रखो। अब 'शौच' सोने का मुलम्मा चढ़ा-चढ़ाकर स्वच्छ किये हुए और गंगामृत से भरे हुए कलश के समान है, क्योंकि शरीर के द्वारा निष्काम कर्मों का होना और जीव का विवेक के अनुसार आचरण करना सब शुचित्व के ही ऊपर से दिखाई देने वाले लक्षण हैं। अथवा जिस प्रकार गंगा का जल प्राणीमात्र के पाप और ताप का शमन करता है और अपने तट पर के वृक्षों का पोषण करता हुआ समुद्र की ओर जाता है अथवा जिस प्रकार सूर्य संसार का अंधकार दूर करता हुआ और सम्पत्ति के मन्दिरों के द्वार खोलता और उन्हें प्रकट करता हुआ आकाश की प्रदक्षिणा के लिए निकलता है, उसी प्रकार वह भी बन्धन में पड़े हुए लोगों को मुक्त करता है, डूबते हुए लोगों को बाहर निकालता है और दुःखितों के संकट का निवारण करता है। बल्कि यह कहना चाहिए कि वह दिन-रात दूसरों का सुख अधिकाधिक बढ़ाता हुआ प्रकारान्तर से अपने ही स्वार्थ का साधन करता है। केवल यही नहीं, अपना कार्य सिद्ध करने के लिए किसी प्राणी की बुराई करने की कल्पना भी कभी उसके मन में उत्पन्न होकर उसके मार्ग में बाधक नहीं होती। हे अर्जुन, अभी जो यह सब तुमने सुना है, वह सब 'अद्रोह' के लक्षण हैं; और जिस प्रकार मैंने ये लक्षण तुम्हें बतलाये हैं, उसी प्रकार ये तुम्हें उस मनुष्य में दिखाई देंगे जिसमें अद्रोह होगा। हे अर्जुन, जिस समय शंकर ने गंगा को अपने जटा-जूट में धारण कर लिया था, उस समय वह जिस प्रकार लज्जित हुई थीं, उसी प्रकार मान की प्राप्ति होने पर जो लज्जित होता है, उसी के सम्बन्ध में यह समझना चाहिए कि उसमें 'अमानित्व' नामक गुण है। हे अर्जुन, यह बात तुम बराबर अपने ध्यान में रखो। ये सब बातें पहले भी एक बार बतलाई जा चुकी हैं, इसलिए अब वही बातें फिर दोबारा क्यों कही जायं ! इस प्रकार दैवी सम्पत्ति के ये छब्बीस गुण हैं। ये मानों मोक्ष-साम्राज्य के चक्रवर्ती राजा के ताम्रपट के अनुसार दी हुई जागीरें ही हैं। अथवा यह समझना चाहिए कि यह दैवी सम्पत्ति मानों गुण रूपी जल से सदा भरपूर रहने वाली गंगा ही वैराग्य रूपी सगर-पुत्रों के शरीर पर पड़ी हुई है। अथवा यह दैवी सम्पत्ति मानों सद्गुण रूपी फूलों की माला है और ऐसा जान पड़ता है कि मुक्ति रूपी वधू वही माला विरक्तों के गले में डाल रही है। अथवा इन छब्बीस गुणों की बत्ती जलाकर यह गीता नामक पत्नी अपने आत्माराम नामक पति की आरती कर रही है। ये गुण मानों गीता रूपी सागर से निकली हुई दैवी सम्पत्ति रूपी सीपियों में के निर्मल और सच्चे मोतियों के दाने ही हैं। ऐसी अवस्था में भला इसका यथातत्त्व वर्णन कैसे किया जा सकता है ? इनका तो आप-ही-आप अनुभव होता रहता है। इस प्रकार गुणों के भांडार इस दैवी सम्पत्ति का वर्णन हुआ। अब आसुरी सम्पत्ति यद्यपि दुःखों के दोष रूपी कांटों से भरी हुई बेल के ही समान है, तो भी कथा के प्रसंग में उसका भी वर्णन कर दिया जाता है। यदि निन्दनीय वस्तु का त्याग करना हो तो यह जानना भी आवश्यक होता है कि वह निन्दनीय वस्तु कौन-सी है। इसलिए यद्यपि यह आसुरी सम्पत्ति अनिष्ट है, तो भी इसका स्वरूप ध्यान देकर सुनना बहुत ही उचित है। हे अर्जुन, भयंकर अधोगति के दुःख अपने पल्ले में बांधने के लिए घोर पातकों ने मिलकर जो संग्रह किया है, वही यह आसुरी सम्पत्ति है। अथवा जिस प्रकार समस्त विषों को एक साथ मिलाने पर उस मिश्रण को कालकूट कहते हैं, उसी प्रकार समस्त पापों के एकत्र किए हुए समूह को 'आसुरी सम्पत्ति' कहते हैं।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४॥

…और हे अर्जुन, इन आसुरी दोषों में जिसकी शक्ति का ढिंढोरा खूब जोरों से पीटा जाता है, उस दम्भ का स्वरूप मैं तुमको बतलाता हूं। हे अर्जुन, यह ठीक है कि अपनी माता केवल तीर्थ स्वरूपिणी ही होती है; परन्तु यदि हम उसे नग्न अवस्था में सब लोगों के सामने लावें तो वह हमारे अधःपतन का ही कारण होती है। अथवा जिन विद्याओं का गुरु उपदेश देता है, वे सब विद्याएं यद्यपि इष्ट फल देने वाली ही होती हैं, परन्तु यदि किसी चौराहे पर खड़े होकर उनका घोष किया जाय तो वे भी अनिष्टकारक ही होती हैं। अथवा यह देखो कि जिस समय हम डूबने लगते हैं, उस समय जो नाव हमें बचाकर किनारे तक पहुंचाने का साधन होती है, उसी नाव को यदि हम अपने सिर से बांध लें तो वह हमें डुबाने का ही कारण होती है। यह बात प्रसिद्ध है कि जीवन का आधार अन्न ही है। परन्तु यदि हम उसे उत्तम समझकर उचित से अधिक खा जायं तो वही अन्न हमारे लिए विष हो जाता है। इसी प्रकार जो धर्म इस लोक में भी और परलोक में भी हमारा स्नेहपूर्ण साथी होता है, यदि उसी धर्म का आचरण करके हम अभिमानपूर्वक इस बात की घोषणा करने लग जायं कि हम धर्म का आचरण करते हैं, तो वह तारक धर्म भी हमारे लिए दोष का साधन बन जाता है। इसलिए हे अर्जुन, यदि हम अपने किये हुए धार्मिक कृत्यों का शाब्दिक आडम्बर चारों दिशाओं में फैलाने लगें तो वह धर्म भी अधर्म हो जाता है। और इसी प्रकार की करनी को 'दम्भ' कहते हैं। अब दर्प के लक्षण सुनो। जिस प्रकार मूर्ख की जिह्वा पर अक्षरों का थोड़ा-बहुत संस्कार होते ही (अर्थात् उसके कुछ पढ़ लेने पर) वह ब्राह्मणों की सभा की भी निन्दा करने लगता है अथवा जिस घोड़े पर चाबुक-सवार चढ़ चुका होता है, वह घोड़ा जिस प्रकार ऐरावत को भी तुच्छ समझने लगता है अथवा जैसे किसी कंटीली झाड़ी के शिखर पर चढ़ा हुआ गिरगिट स्वर्ग को भी तुच्छ समझने लगता है अथवा यदि ईंधन के साथ घास-फूस भी आ जाय तो अग्नि की लपटें जिस प्रकार आकाश की ओर उठने लगती हैं अथवा किसी छोटे-से ताल या गड्ढे का आश्रय पाकर मछली समुद्र को भी तुच्छ समझने लगती है, उसी प्रकार स्त्री, धन, विद्या, स्तुति और मान प्राप्त करके मनुष्य भी मद से अन्धा हो जाता है। मानों एक दिन के लिए पराया अन्न पाकर ही वह दरिद्र भिखारी अपने आपको धन्य समझने लगता है। अथवा जिस प्रकार बादलों की छाया प्राप्त होने पर कोई अभागा मनुष्य अपना घर गिरा देता है, अथवा मृगजल की बाढ़ देखकर कोई मूर्ख अपना पानी का घड़ा फोड़ डालता है, उसी प्रकार प्राप्त होने वाली सम्पत्ति के कारण मत्त हो जाना ही 'दर्प' कहलाता है। हे अर्जुन, इस सिद्धान्त में कहीं नाम को भी अपवाद नहीं है। अब यह सुनो कि अभिमान किसे कहते हैं। वेदों पर जगत् की श्रद्धा है और इस श्रद्धा में ईश्वर परम पूज्य माना गया है। और सारे विश्व को प्रकाशित करने वाला सूर्य ईश्वर ही है। सारे जगत् को सार्वभौम वैभव की अभिलाषा रहती है और जगत् को इस बात का बहुत ध्यान रहता है कि हमारी मृत्यु न आवे। और यदि इन्हीं बातों के लिए सारा जगत् ईश्वर की भक्ति और स्तुति करने लगे तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है ? परन्तु ईश्वर की यह स्तुति सुनते ही आसुरी मनुष्यों के मन में मत्सर उत्पन्न होता है और उस मत्सर की बेल बढ़ने लगती है। आसुरी मनुष्य कहता है—'मैं तुम्हारे ईश्वर को निगल जाऊंगा, तुम्हारे वेदों को विष दे दूंगा और अपने महत्त्व से उनकी सत्ता का नाश कर डालूंगा।' दीपक की ज्योति देखते ही जिस प्रकार पतंगा व्याकुल हो जाता है, जुगनूं को जिस प्रकार सूर्य अच्छा नहीं लगता और टिटिहरी ने जिस प्रकार महासागर के साथ वैर ठाना था, उसी प्रकार आसुरी मनुष्य अपने गर्व के फेर में पड़कर ईश्वर का नाम भी सहन नहीं कर सकता। वह स्वयं अपने पिता के साथ भी सौतेलेपन का ही भाव रखता है, क्योंकि उसे इस बात का डर रहता है कि यह मेरी सम्पत्ति में हिस्सेदार होगा। इस प्रकार जो मनुष्य अहंमन्यता से फूला हुआ, उन्मत्त और अभिमानी होता है, उसे अधोगति या नरक का चलता हुआ मार्ग ही समझना चाहिए। अब मैं क्रोध के लक्षणों की व्याख्या करता हूं। दूसरे लोगों का सुख आसुरी मनुष्यों के मन को विषय के समान कड़ुआ लगता है और दूसरों का सुख देखकर वह

क्रुद्ध होता है। जिस प्रकार खौलते हुए तेल में पानी की बूंद पड़ते ही वह तेल भभककर जल उठता है अथवा जिस प्रकार चन्द्रमा के दर्शन से शृगाल व्याकुल होकर मन में जलने लगता है अथवा विश्व के जीवन-स्वरूप और उसे उज्ज्वल करने वाले सूर्य के प्रातःकाल उदय होते ही पापी उल्लू की आंखें फूट जाती हैं अथवा जगत् को आनन्द देने वाला प्रातःकाल जिस प्रकार चोरों के लिए मृत्यु से भी बढ़कर दुःखदायक होता है अथवा जिस प्रकार सांप के पेट में पहुंचकर दूध भी कालकूट विष बन जाता है अथवा जिस प्रकार समुद्र के अपरम्पार जल से बड़वाग्नि और भी अधिक प्रज्वलित होती है और चाहे कितने ही उपाय क्यों न किये जायं, परन्तु फिर भी वह किसी प्रकार शान्त नहीं होती, ठीक उसी प्रकार दूसरों की विद्या और सुख आदि ऐश्वर्य देखकर यदि किसी का क्रोध भड़क उठे तो इसी मनोवृत्ति को क्रोध कहते हैं। अब मैं यह बतलाता हूं कि पारुष्य किसे कहते हैं। जिसका मन मानों सांप की बिल हो, आंखें मानों बाणों की सनसनाहट के समान हों और बातें बिच्छुओं की वर्षा के समान हों और बाकी जो क्रियाएं हैं, वे मानों फौलाद के आरे के समान हों, तात्पर्य यह कि अन्दर और बाहर का स्वरूप इस प्रकार प्रखर होता है, उस मनुष्य को मानव जाति में अधम समझना चाहिए। यह तो पारुष्य का विचार हुआ। अब अज्ञान के लक्षण सुनो। पत्थर को जिस प्रकार ठंडे स्पर्श और गरम स्पर्श का भेद नहीं जान पड़ता अथवा जिस प्रकार जन्मान्ध को दिन और रात के अन्तर का पता नहीं चलता अथवा आग जब एक बार भड़ककर खाने लगती है, तब वह खाद्य और अखाद्य और विधि या निषेध का कुछ भी विचार नहीं करती अथवा पारस पत्थर जिस प्रकार लोहे और सोने में कोई भेदभाव नहीं करता अथवा भिन्न-भिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थों में संचार करने पर भी कलछी जिस प्रकार उनमें से किसी का रसास्वादन नहीं कर सकती अथवा वायु जिस प्रकार सीधे और टेढ़े-तिरछे मार्गों का अन्तर नहीं जानती, ठीक उसी प्रकार जिस अवस्था में पुरुष कर्तव्य और अकर्तव्य के विषय में अन्धा रहता है, स्वच्छ और घृणित का भेद नहीं जानता, पाप और पुण्य सबको मिलाकर उसी प्रकार खा जाता है, जिस प्रकार बालक हाथ में आई हुई अच्छी और बुरी सभी तरह की चीजें मुंह में डाल लेता है, और जो ऐसी घृणाहीन अवस्था होती है कि उसमें बुद्धि को इस बात का पता नहीं चलता कि मधुर क्या है और कटु कैसा होता है, उसी अवस्था को अज्ञान कहते हैं। इस विषय में शंका के लिए कुछ भी स्थान नहीं है। इस प्रकार छहों दोषों का यह विवरण किया गया है। जिस प्रकार सांप का शरीर चाहे छोटा ही क्यों न हो, परन्तु फिर भी उसमें भयंकर विष रहता है अथवा यदि अग्नियों की श्रेणी देखी जाय तो प्रलयाग्नि, विद्युदग्नि और बड़वाग्नि इन तीन की संख्या बहुत ही थोड़ी जान पड़ती है, परन्तु ये अग्नियां यदि भड़क उठें तो इनकी आहुति के लिए सारा विश्व भी पूरा नहीं होता, उसी प्रकार ये दोष भी गिनती में तो केवल छह ही हैं, परन्तु इनके योग से आसुरी सम्पत्ति को बहुत अधिक बल प्राप्त होता है। यदि मनुष्य के शरीर में तीनों दोष एकत्र हो जायं तो फिर चाहे स्वयं ब्रह्मा के ही पैर क्यों न जाकर पकड़े जायं, परन्तु फिर भी मृत्यु से किसी प्रकार रक्षा नहीं हो सकती। परन्तु ये दोष तो छह अर्थात् उस तीन से दूने हैं। इन्हीं छह दोषों की नींव पर आसुरी सम्पत्ति की इमारत खड़ी हुई है; इसीलिए वह कभी कमजोर होती ही नहीं। इसके विपरीत, जिस प्रकार कभी-कभी सब पापग्रह एक ही राशि पर आकर एकत्र होते हैं अथवा निन्दा करने वाले के संग्रह में सभी पाप आकर पहुंच जाते हैं अथवा जिसका मरणकाल समीप होता है, उस पर जिस प्रकार सभी रोग एकदम से आकर आक्रमण कर बैठते हैं अथवा जिस प्रकार अशुभ दिन में सभी दुष्टयोग आकर एकत्र हो जाते हैं अथवा जिस प्रकार विश्वास रखने वाले और निश्चिन्त रहने वाले मनुष्य को चोर के हाथ में दे दिया जाता है अथवा जिस प्रकार कोई बहुत थका हुआ आदमी बहुत बड़ी बाढ़ में ढकेल दिया जाता है, ठीक उसी प्रकार के अघोर कृत्य ये छहों दोष करते हैं। अथवा जिस प्रकार बकरी की आयु समाप्त होने पर उसे सात डंकों वाला बिच्छू काटता है, उसी प्रकार छहों दोष भी मनुष्य को डसते हैं। मोक्ष-मार्ग की ओर थोड़ी-सी प्रवृत्ति होने पर भी जो यह

कहकर ससार के झगडो मे डूब जाना ह कि मै इस मार्ग पर नही चलूगा जो हीन योनियो की सीढिया उतरत उतरता अन्त मे स्थावरा से भी नीचे वाले स्थान पर जा बैठता है उसी मे य छहो दोष एकत्र होकर आसुरी सम्पत्ति को बलवान बनाते है इस प्रकार मैने इन दोनो ही सम्पत्तियो के सब लक्षण अलग अलग और स्पष्ट करके बतल दिये है

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

"इन दोनों में से जो पहली दैवी सम्पत्ति है, उसे मोक्ष रूपी सूर्य का उदय किया हुआ प्रभातकाल ही समझना चाहिए। और दूसरी जो आसुरी सम्पत्ति है, वह जीवों को जकड़ने वाला मोह-रूपी लोहे की शृंखला ही है। कदाचित् तुम यह सुनकर अपने मन में डर जाओ। परन्तु हे अर्जुन, भला दिन को रात से डरने की क्या आवश्यकता है ? जो लोग ऊपर बतलाये हुए छहों दोषों को अपने आपमें आश्रय देते हैं, केवल उन्हीं को यह आसुरी सम्पत्ति बाध सकती है। परन्तु हे अर्जुन, तुम यह दैवी सम्पत्ति के गुणों के साक्षात् पुतले ही हो, जिसका मैंने अभी वर्णन किया है। इसलिए हे पार्थ, तुम इस दैवी सम्पत्ति के धनी होकर कैवल्य वाली अवस्था का सुख प्राप्त कर लो।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

"दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति वाले मनुष्यों के व्यवहार का प्रवाह अनादिकाल से चला आ रहा है। जिस प्रकार रात के समय निशाचर लोग विचरण करते हैं और दिन के समय मनुष्य व्यवहार करते हैं, ठीक उसी प्रकार ये दैवी और आसुरी सृष्टियां भी अपनी-अपनी रीति के अनुसार व्यवहार करती रहती हैं। उनमें से इस ग्रन्थ मे पहले ज्ञानकथा का और तब दूसरे प्रकरणों में दैवी सम्पत्ति का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। अब मैं आसुरी सृष्टि के सम्बन्ध में तुम्हें सब बातें बतलाता हूं। तुम अच्छी तरह इन बातों की ओर ध्यान दो। जिस प्रकार वाद्य के बिना कभी किसी को नाद नहीं सुनाई देता, अथवा बिना फूल के शहद नहीं मिलता, ठीक उसी प्रकार जब तक कोई मनुष्य इस आसुरी प्रकृति के वश में नहीं होता, तब तक यह सृष्टि अकेली कभी दिखाई नहीं देती। परन्तु जब कभी कोई मनुष्य इसके चंगुल में फंस जाता है, तब वह भी उसके शरीर पर उसी तरह मनमाना राज्य करती हुई दिखाई देती है, जिस प्रकार अग्नि लकड़ी को व्याप्त कर लेती है। ऐसी अवस्था में जिस प्रकार ऊख के बढ़ने से उसके अन्दर का रस भी बढ़ता है, उसी प्रकार यह भी समझ लेना चाहिए कि उस प्राणी के शरीर के बढने से इस आसुरी सृष्टि की भी वृद्धि होती है। अब हे अर्जुन, मैं तुमको उस प्राणी के लक्षण बतलाता हूं जिस पर इस आसुरी दोष-मंडली का आक्रमण होता है।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

"इस प्रकार के विचार के सम्बन्ध में कि 'पुण्य कृत्यों की ओर प्रवृत्ति होनी चाहिए और पाप कृत्यों की ओर से निवृत्ति होनी चाहिए', उसके मन में घोर अन्धकार भरा रहता है। जिस प्रकार कोए के अन्दर पड़ा हुआ रेशम का कीड़ा न तो उसके बाहर निकलने का ही विचार करता है और न कहीं अन्दर जाने का ही, बल्कि जहां-का-तहा बन्द पड़ा रहना चाहता है, अथवा जिस प्रकार कोई मूर्ख अपनी सारी पूंजी किसी चोर को सौंप देता है और इस बात का कुछ भी विचार नहीं करता कि अगर इसके हाथ में अपनी सारी सम्पत्ति दे दूंगा तो सम्पत्ति मुझे वापस मिलेगी या नहीं, उसी प्रकार आसुरी लोग प्रवृत्ति और निवृत्ति का कुछ भी विचार नहीं करते; और शौच अर्थात् शुद्धता तो उनमें नाम को या स्वप्न में भी नहीं होती। सम्भव है कि कोयला भी अपना कालापन छोड़ दे, कौआ

भी कदाचित सफेद हो जाय ओर राक्षस का मन भी मांस की ओर से कभी हट जाय, परन्तु ये आसुरी प्राणी कभी शौच या शुद्धता को स्वीकार नहीं करते। शराब रखने का बर्तन जैसे कभी पवित्र नहीं हो सकता, उसी प्रकार हे अर्जुन, ऐसे लोग भी कभी पवित्र नहीं हो सकते। शास्त्रोक्त विधि-विधानों के प्रति अनुराग अथवा बड़ों का अनुकरण करने की इच्छा अथवा शुद्ध आचार की बात कभी उनके यहां हो ही नहीं सकती। जिस प्रकार बकरी चारों ओर मनमाना चरती रहती है अथवा वायु स्वेच्छाचारपूर्वक इधर-उधर बहती रहती है अथवा अग्नि जो कुछ पाती है, वह सब जला डालती है, उसी प्रकार ये आसुरी प्रकृति के लोग भी कुमार्ग में बाहर आगे ही बढ़ते जाते हैं और बराबर नंगे होकर नाचते हैं और सत्य के साथ सदा वैर ठानते रहते हैं। यदि बिच्छू कभी अपने डंक से केवल गुदगुदा सकता हो, तभी ये आसुरी लोग भी सत्य बात कह सकते हैं। अथवा यदि अपान वायु में से कभी सुगन्ध निकल सकती हो, तभी इन आसुरी लोगों में सत्य भी दिखाई दे सकता है। और फिर वे आसुरी लोग चाहे इस प्रकार कोई काम न भी करें, तो भी वे स्वभावतः बहुत ही नष्ट होते हैं। उनकी बातों की कुछ विलक्षणता मैं तुमको बतलाता हूं। यदि सच पूछो तो ऊंट का ऐसा कौन-सा अवयव है जो अच्छा कहा जा सके ! ठीक वही बात इन आसुरी पुरुषों के संबंध में भी है। परन्तु फिर भी प्रसंग के अनुसार मैं तुम्हें इनकी कुछ बातें बतला देता हूं। ध्यान पूर्वक सुनो। जिस प्रकार धुआं निकालने वाली चिमनी के मुंह से बराबर धुएं के भभके ही निकलते रहते हैं, उसी प्रकार इन लोगों के मुंह से जिस प्रकार की बातें निकलती हैं, वह मैं तुम्हें बतलाता हूं।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥८॥

''यह विश्व अनादि है और ईश्वर इसका नियम करने वाला सत्ताधीश है और इस सिद्धान्त का निर्णय वेदों ने खुलेआम कर दिया है। वेद जिन्हें दोषी बतलाते हैं, उन्हें नरक-भोग का दंड मिलता है; और वे जिन्हें न्यायी ठहराते हैं, वे स्वर्ग में जाकर सुखपूर्वक रहते हैं। हे अर्जुन, इस प्रकार की इस विश्व की जो अनादि-सिद्ध व्यवस्था है, उसे ये आसुरी लोग बिलकुल नहीं मानते। वे कहते हैं कि ये सब बातें बिलकुल झूठ हैं। साथ ही वे लोग यह भी कहते हैं कि मूर्ख याज्ञिक लोग यज्ञों के फेर में पड़े रहते हैं, देवताओं के फेर में पड़े हुए लोग प्रतिमाओं का पूजन आदि करते रहते हैं और भगवे वस्त्र पहनने वाले जोगड़े समाधि की कल्पनाओं में गोते खाते रहते हैं। परन्तु इस संसार में जो कुछ मनुष्य के हाथ में आ जाय, उसका उसे स्वयं अपने साहस के आधार पर भोग करना चाहिए। इसके सिवा दूसरा और कौन-सा पुण्य कृत्य हो सकता है ? अथवा यदि अपनी अशक्तता के कारण हम भिन्न-भिन्न विषयों का अपने सुख-भोग के लिए संग्रह न कर सकें और इसी कारण यदि हम विषय-सुखों के लिए विकल रहते हों तो यही वास्तविक पाप है। यह ठीक है कि धनवानों की हत्या करना पाप है; परन्तु उनकी हत्या करने से उनकी सारी सम्पत्ति, जो हमारे हाथ लगती है, वह क्या पुण्य का फल नहीं है ? यदि यह कहा जाय कि बलवानों का दुर्बलों को खाना निषिद्ध है, तो देखो कि सभी बड़ी-बड़ी मछलियां छोटी मछलियों को निगल जाती हैं। परन्तु फिर भी वे बड़ी मछलियां निस्सन्तान क्यों नहीं होतीं ? इसी प्रकार लोग कुछ और गोत्र की खूब अच्छी तरह छान-बीन करके शुभ मुहूर्त में छोटे-छोटे लड़कों और लड़कियों का विवाह करते हैं। परन्तु यदि विवाह का उद्देश्य केवल प्रजा की उत्पत्ति करना ही हो तो पशु-पक्षी आदि जो प्राणी-वर्ग हैं और जिनकी सन्तान की गणना ही नहीं हो सकती, वे किस शास्त्रोक्त विधि से विवाह करते हैं ? चाहे बिलकुल चोरी का ही द्रव्य क्यों न हो, परन्तु फिर भी क्या वह किसी के लिए विष सिद्ध होता है ? कुछ यह बात तो है ही नहीं कि यदि प्रीतिपूर्वक पराई स्त्री के साथ सम्भोग किया जाय तो मनुष्य को कुष्ठ रोग हो जाता हो। लोग प्रायः कहा करते हैं कि ईश्वर सबका नियन्ता है, वही जीवों को धर्म और अधर्म के फलों का भोग कराता है और इस लोक में जिस प्रकार का आचार

किया जाता है उसी प्रकार का भोग परलोक में प्राप्त होता है परन्तु यदि ये सब सिद्धान्त ठीक मान लिये जाय तो परलोक तो कहीं दिखाई ही नहीं देता और न कहीं देवता ही दिखाई देते हैं इसलिए ये सभी बातें मिथ्या हैं और फिर जब शुभ और अशुभ कर्म करने वाले कर्ता का ही कहीं अस्तित्व नहीं रह जाता तो फिर कर्मों के फल का भोग कहां रह जाता है ? स्वर्गलोक में जिस प्रकार इन्द्र उर्वशी के सहवास में अपने आपको धन्य मानता है उसी प्रकार मोरी में पड़ा हुआ कीड़ा भी अपने आपको धन्य समझता है। इसलिए यह कहना युक्तिसंगत नहीं है कि स्वर्ग और नरक पुण्य तथा पाप से प्राप्त होते हैं, क्योंकि दोनों ही स्थानों में काम-वासना समान रूप से सन्तुष्ट होती है। काम-वासना से जब स्त्री और पुरुष अथवा नर और मादा की संगति होती है, तब सब जीवों का जन्म होता है। और पारस्परिक लोभ के कारण स्वार्थ बुद्धि से काम-वासना जिन-जिन का पोषण करती है, उन्हीं का अन्त में, पारस्परिक द्वेष के कारण स्वार्थी काम-वासना ही नाश भी करती है। और इस प्रकार काम-वासना के सिवा इस संसार का और कोई मूल आधार ही नहीं है। बस इसी प्रकार की बकवाद ये आसुरी लोग किया करते हैं। परन्तु ये बातें यथेष्ट हो चुकी। इस प्रकार की निन्दनीय और घृणित बातें उलटी-सीधी रीति से उच्चारण करने के कारण वाणी को अकारण कष्ट ही होता है।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

"इस प्रकार ईश्वर के साथ द्वेष होने के कारण ये आसुरी लोग व्यर्थ ही जबानी बकवाद करते हैं; परन्तु फिर भी यह पता नहीं चलता कि उनके मन में कोई एक बात निश्चित रूप से बैठी है या उनका कोई एक सिद्धान्त है। ये लोग खुल्लम-खुल्ला पाखंड करके जीवों के शरीर में नास्तिकता की हड्डी चुभाकर एक निन्दनीय बस्ती खड़ी कर देते हैं। ऐसी अवस्था में स्वर्ग के प्रति आदर-भाव और नरक के भयवाली मनोवृत्ति का अंकुर ही जलकर भस्म हो गया है। और फिर हे सखे अर्जुन, वे आसुरी लोग इस गन्दे पानी के गड्ढे के समान शरीर में फंसकर विषयों के कीचड में फंसे हुए दिखाई देते हैं। जिस प्रकार किसी जलाशय के जल के सूख जाने पर और उसमें रहने वाली मछलियो की मृत्यु समीप देखकर धीवर आदि उस जलाशय के पास आकर एकत्र हो जाते हैं अथवा शरीरपात का समय आने पर अनेक प्रकार के रोग सिर उठाकर खड़े हो जाते हैं अथवा जिस प्रकार विश्व का विनाश करने के लिए धूमकेतु का उदय होता है, उसी प्रकार लोगों का संहार करने के लिए ये आसुरी लोग जन्म ग्रहण करते हैं। जब अमंगल का बीज बोया जाता है, तब उसमें से ये आसुरी मनुष्य रूपी अंकुर उत्पन्न होते हैं; बल्कि इन्हें पाप के चलते-फिरते स्तम्भ ही समझना चाहिए। जिस प्रकार आग जब एक बार अपना जलाने का काम आरम्भ कर देती है, तब आगे-पीछे कुछ भी नहीं देखती, उसी प्रकार ये लोग भी मनमाना और नीति-विरुद्ध आचरण करने के समय किसी बात का कुछ भी विचार नहीं करते। पर अब यह भी सुन लो कि अपने उसी निन्दनीय आचरण का वे लोग कितने अभिमान के साथ अभिनन्दन और उसकी प्रशंसा करते हैं।" बस यही बातें भगवान् लक्ष्मी-पति ने अर्जुन से कही थीं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

इसके आगे श्रीकृष्ण कहते हैं—"हे अर्जुन, चाहे कितना ही पानी क्यों न हो, पर उससे जाल कभी भरा नहीं जा सकता; और आग में चाहे कितना ही अधिक ईंधन क्यों न डाला जाय, परन्तु उसको जलाने के लिए कुछ भी यथेष्ट नहीं होता। इस प्रकार जिनका कभी पेट नहीं भरता, उनमें जो सबसे बढ़कर माना जा सकता है, उस काम को, हे अर्जुन, ऐसे लोग अपने कलेजे से लगाये रखते हैं और अपने चारों ओर ढोंग तथा अहंमन्यता की राशि एकत्र करते चलते हैं। फिर मस्त हाथी को शराब पिलाने से उसकी जो अवस्था हो जाती है, ठीक वही अवस्था ऐसे लोगो

की भी होता है। ज्यों ज्यों उनकी अवस्था [illegible] है और वे वृद्ध होते जाते हैं, त्यों त्यों उनका अभिमान भी बढ़ता जाता है। ऐसे लोगों में एक तो पहले से ही दुराग्रह रहता है, तिस पर उस दुराग्रह की सहायता के लिए मूर्खता भी आ पहुंचती है। फिर भला उनकी हठवादिता की लीला का कहां तक वर्णन हो सकता है ! जिन कामों से दूसरों को पीड़ा होती है और जिनमें दूसरे जीवों की धज्जियां उड़ जाती हैं, उन कामों से ऐसे लोग जन्म से ही बहुत अधिक पटु होते हैं। फिर अपने ऐसे पराक्रम का वे लोग स्वयं ही अपने मुंह से चारों ओर ढिंढोरा फेरते रहते हैं और सारे संसार को तुच्छ समझते हैं। वे दसों दिशाओं में अपनी वासनाओं के खूब लम्बे-चौड़े जाल फैलाते हैं। जिस प्रकार कोई खुली हुई गौ चारों ओर घूम-घूमकर जो कुछ सामने आता है, वही खाती फिरती है, उसी प्रकार ये आसुरी लोग भी अपने स्वेच्छाचार और अभिमान के कारण चारों ओर पापों की समान रूप से वृद्धि करते रहते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

"ऐसे लोगों के समस्त व्यवहार बस एक इसी नीति के अनुसार होते हैं। पर साथ ही उन्हें इस बात की भी चिन्ता लगी रहती है कि मरने के उपरान्त क्या होगा। ये आसुरी प्रकृति वाले लोग उस अघोर चिन्ता को निरन्तर बढ़ाते रहते हैं जो पाताल से भी बढ़कर गहरी और आकाश से भी बढ़कर ऊंची होती है, जिसके साथ तुलना करते समय विश्व भी परमाणु के समान जान पड़ता है, जो भोग-रूपी वस्त्र के तारों को नापकर जीव को अपरिमित कष्ट देती है और जो अपने जीव रूपी प्रेमी को मरण-काल तक भी छोड़ने का विचार अपने मन में नहीं आने देती। और वे आसुरी लोग निस्सार विषयोपभोग का शौक अपने मन में लगा लेते हैं। वे लोग स्त्रियों के गीत सुनना चाहते हैं, उनका सौंदर्य अपने नेत्रों से देखना चाहते हैं, उन्हें गाढ़ आलिंगन करना चाहते हैं और अमृत को भी उनके ऊपर से निछावर कर देना चाहते हैं। तात्पर्य यह कि ये अपने मन में यह सिद्धान्त स्थिर कर लेते हैं कि स्त्रियों से बढ़कर और किसी पदार्थ में वास्तविक सुख नहीं है; और तब उसी स्त्रीभोग के लिए वे संसार-भर के उलटे-सीधे व्यापार करते हैं और दिगन्त, पाताल तथा स्वर्ग सभी की सीमाओं के बाहर दौड़ते फिरते हैं।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥

"जिस प्रकार मछली केवल लालच के कारण बिना आगा-पीछा विचारे कांटे में लगा हुआ मांस निगल जाती है, ठीक उसी प्रकार ये आसुरी लोग भी बिना विचारे सदा विषय-वासनाओं के फेर में पड़े रहते हैं। जब इन्हें वांछित विषय नहीं मिलता तब ये लोग कोए के अन्दर बन्द रहने वाले रेशम के कीड़े की तरह बैठे हुए कोरी आशाओ के ही ताने तानते रहते हैं—मन में तरह-तरह के बांधनू बांधते रहते हैं। और जब वासना की तृप्ति नहीं होती, तब वही वासना द्वेष का रूप धारण कर लेती है। सारांश यह कि ऐसे लोगों के लिए काम और क्रोध आदि के अतिरिक्त जीवन का और कोई कर्तव्य ही बाकी नहीं रह जाता। हे अर्जुन, जिस प्रकार थाने या चौकी का पहरेदार दिन-भर तो फेरे लगाता रहता है और रात के समय जागकर रखवाली करता है और दिन या रात में किसी समय वह यह जानता ही नहीं कि आराम से और निश्चिन्त होकर बैठना कैसा होता है, उसी प्रकार ये आसुरी लोग भी जब काम-वासना के कारण एक बार ऊंचाई पर से नीचे गिरा दिये जाते हैं, तब वे क्रोध की पहाड़ी पर आ पड़ते है, और तब उनमें राग-द्वेष आदि विषयों के संबंध में जो प्रेम होता है, वह इतना बढ़ जाता है कि सारे विश्व मे भी नहीं समा सकता। और फिर मन की हाही के कारण यदि अनेक प्रकार की विषय-वासनाओं के मनसूबे बाधे जायं तो भी विषयों का प्रत्यक्ष उपभोग करने के लिए द्रव्य चाहिए या नहीं ? इसीलिए विषयों का उपभोग करने के लिए जिस धन की आवश्यकता होती है, वह धन प्राप्त करने के लिए आसुरी लोग संसार में अनेक प्रकार के

उपद्रव और उत्पात करने लगते हैं। वे लोग किसी को धोखा देकर उसकी जान ले लेते हैं, किसी का सर्वस्व लूट लेते हैं और किसी का अपकार करने के लिए अनेक प्रकार के यंत्र-तंत्रों की रचना करते हैं। जिस प्रकार वन मे शिकार करने के लिए जाने के समय पारधी लोग अपने साथ जाल, फन्दे, कुत्ते, बाज, बांस की कमचियां और खोंचे आदि सब सामान ले जाते हैं, उसी प्रकार ये आसुरी लोग भी दूसरों को फंसाने के लिए अपने साथ इसी तरह का साज-सामान लेकर निकलते हैं। जिस तरह पारधी लोग अपना पेट भरने के लिए अनेक प्रकार के अघोर पाप-कर्म करते हैं, उसी तरह ये लोग दूसरों के प्राणों का घात करके धन कमाते हैं; और इस प्रकार मिले हुए धन से इन्हे कितना अधिक आनन्द होता है !

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

"आसुरी पुरुष कहता है–'मैंने बहुतों की सम्पत्ति अपने हाथ में कर ली है, इसलिए मैं धन्य हूं या नहीं ?' इस प्रकार वह ज्यों-ज्यों आत्मश्लाघा के क्षेत्र में प्रवेश करता है, त्यों-त्यों उसका मन उस आत्मश्लाघा के मार्ग मे और भी अधिक बढ़ने लगता है, और तब वह कहने लगता है–'अब देखना है कि और कौन मेरे फन्दे में फंसता है और किसका माल मुझे मिलता है ! अब तक जो कुछ मिला है, वह सब तो मेरा हो ही चुका है। अब ऐसा उपाय करना चाहिए कि इसी पूंजी के सहारे सारे चराचर का मुझे लाभ हो। इस नीति के द्वारा मैं सारे विश्व की सम्पत्ति का स्वामी बन जाऊंगा। और तब जो कुछ मेरी दृष्टि में आवेगा, उसे बिना अपने पंजे में लाये मैं न मानूंगा।"

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

"मैंने अभी तक जितने वैरियों की हत्या की है, वह तो कुछ भी नहीं है। मैं अभी इससे भी बहुत अधिक वैरियों को मारूंगा। और तब इसे सारे संसार में केवल मेरी ही कीर्ति का राज्य रहेगा। फिर जो लोग मेरी आज्ञा में रहकर मेरा काम करेंगे, उन्हें छोड़कर बाकी और सब लोगों की मैं हत्या कर डालूंगा। जिसे लोग चराचर का ईश्वर कहते हैं, वह मैं ही हूं। इस सुख-भोग रूपी पृथ्वी का चक्रवर्ती राजा मैं ही हूं और सब सुखों का आगर भी मैं ही हूं। मेरे सामने इन्द्र भी कोई चीज नहीं है। मैं मन, वाणी अथवा शरीर से जो काम करने के लिए उद्यत हो जाऊंगा, फिर भला यह कभी हो सकता है कि वह काम पूरा न उतरे ! भला मेरे सिवा और ऐसा कौन है जिसमें आज्ञा करने की शक्ति हो ? जब तक मुझसे काम नहीं पड़ता, तब तक काल भी भले ही अपने बल का अभिमान किया करे। यदि कोई सुख की राशि है तो वह मैं ही हूं।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

" 'यह ठीक है कि कुबेर बहुल सम्पन्न है, परन्तु फिर भी वह कभी मेरी बराबरी नहीं कर सकता है। जितनी सम्पत्ति मेरे पास है, उतनी स्वयं लक्ष्मी-पति के पास भी नहीं है। यदि मेरे कुल के महत्त्व और मेरे नाते-रिश्ते के विस्तार का विचार किया जाय तो प्रजापति ब्रह्मा भी मेरे सामने तुच्छ ही सिद्ध होंगे। इसीलिए ईश्वर आदि नामों के महत्त्व का बखान करने वाले सब लोग वाहियात हैं। उनमें से किसी में भी मेरे समान योग्यता नहीं है। आजकल जारण, मारण आदि घातक मन्त्र-तन्त्रों का लोप हो गया है, इसलिए उनका उद्धार करके मैं जीवों को पीड़ा देने वाले यज्ञ-याग आदि करूंगा। जो लोग मेरी प्रशंसा के गीत गावेंगे और नाचकर मेरा मनोरंजन करेंगे, वे जो कुछ मांगेंगे, वही मैं उन्हें दूंगा। मैं अनेक प्रकार के मादक खाद्य तथा पेय पदार्थों का सेवन करूंगा और स्त्रियों के साथ गाढ़ आलिंगन में मग्न होकर तीनों लोकों में आनन्दपूर्वक विलास करूंगा।' हे अर्जुन, ऐसे लोगों की इस प्रकार की

बाते कहा तक बतलाई जायं ! आसुरी वृत्तियों के फेर में पड़े हुए ये पिशाच अपने मन में बड़ी-बड़ी आशाएं रखकर काल्पनिक आकाश-पुष्पों की सुगन्ध लेना चाहते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

"जिस प्रकार ज्वर के वेग के कारण रोगी यों ही बहुत-सी बातें बड़बड़ाया करता है, उसी प्रकार ये लोग भी संकल्प-विकल्प की लहरों में पड़े हुए कुछ-न-कुछ बकते रहते हैं। ऐसे लोगों पर अज्ञान की बहुत अधिक धूल पड़ी रहती है और ये आशा की आंधी में पड़कर वासना के आकाश में खूब चक्कर लगाते रहते हैं। परन्तु जिस प्रकार आषाढ़ मास के मेघों की कोई गिनती नहीं होती अथवा जिस प्रकार समुद्र की लहरें कभी खंडित नहीं होतीं, उसी प्रकार ये आसुरी पुरुष भी अपने मन में असंख्य कामनाओं के किले बनाते रहते हैं। फिर ऐसे जीवों में कामनाओं की बेलों से बहुत-से समूह बन जाते हैं; और जिस प्रकार कांटों पर पड़कर कमल के दल क्षत-विक्षत हो जाते है अथवा, हे अर्जुन, जिस प्रकार पत्थर पर पटककर कोई घड़ा तोड़ा जाता है, उसी प्रकार ये जीव काननाओं के फेर में पड़कर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में जिस प्रकार चढ़ती हुई रात में अन्धकार बराबर बढ़ता ही जाता है, उसी प्रकार इन असुरों के अन्तःकरण में मोह भी बराबर बढ़ता जाता है। और ज्यों-ज्यों उनमें मोह बढ़ता है, त्यों-त्यों विषयों के प्रति उनका अनुराग भी बढ़ता जाता है; और जहां विषयों के प्रति अनुराग हुआ, वहां पातक आपसे आप आकर एकत्र हो जाते हैं। और जब पातक बलवान हो जाते हैं, और उनकी बहुत अधिकता हो जाती है, तब मनुष्य को इसी जीवन में नरकवास का अनुभव होने लगता है। इसलिए हे अर्जुन, जो दुष्ट वासनाओं का लालन-पालन करके उनकी वृद्धि करते हैं, वे आसुरी पुरुष अन्त में कहां रहने के लिए जाते हैं ? वे लोग अन्त में ऐसे स्थान में जाकर निवास करते हैं, जहां ऐसे वृक्ष होते हैं जिनके पत्ते तलवार की तरह तेज धारों वाले होते हैं, जहां खैर के अंगारों के पर्वत दिखाई देते हैं और जहां खौलते हुए तेल के समुद्र लहराते रहते हैं। ऐसे आसुरी लोग उस भयंकर नरकलोक में जाकर निवास करते हैं, जहां सदा यातनाओं की परम्परा लगी रहती है, जहां यमराज लोगों को नित्य नये-नये दंड देते रहते हैं। परन्तु ऐसे नरक के बिलकुल मुख्य भाग में जो लोग जन्म लेते हैं, हे अर्जुन, वे लोग भी अपनी भ्रान्तिपूर्ण अवस्था में यज्ञ-याग आदि करते हुए दिखाई देते हैं। यदि वास्तव में देखा जाय तो, हे अर्जुन, यज्ञ-याग आदि समस्त विधि-विधान जिस प्रकार होने चाहिए, उसी प्रकार होते हैं, परन्तु ये आसुरी लोग नाटकों की तरह ढोंग रचकर उन विधि-विधानों को भी नष्ट कर देते हैं।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

"जिस प्रकार कोई वेश्या किसी यार के आश्रय में रहकर व्यर्थ ही अपने आपको सौभाग्यवती समझकर संतोष करती है, उसी प्रकार ये आसुरी लोग भी स्वयं ही अपने महत्त्व की स्थापना करके मारे अभिमान के विलक्षण रूप से फूल उठते हैं। फिर ढाले हुए लोहे के खम्भे या आकाश में उठे हुए पर्वत के समान वे कभी नीचे की ओर झुकना जानते ही नहीं। अपनी सज्जनता उन्हें ऐसी अच्छी जान पड़ती है कि वे सारे संसार को तृण से भी बढ़कर तुच्छ समझते हैं। इसके सिवा, हे अर्जुन, उन्हें धन का इतना अधिक लोभ ग्रस लेता है कि वे कभी भूलकर भी इस बात का विचार नहीं करते कि उचित क्या है और अनुचित क्या है। और जिसमें इस प्रकार की वृत्ति बलवती हो, वह भला यज्ञ क्यों करने लगा ! परन्तु इस बात का कोई नियम ही नहीं होता कि ये आसुरी पिशाच क्या करेंगे और क्या नहीं करेंगे। इसीलिए कभी-कभी मूर्खता के फेर में पड़कर ये लोग यज्ञों का स्वांग रचने का भी विचार करते हैं। परन्तु इनके यज्ञ के लिए न तो कुंड की ही, न मंडप की ही और न वेदी की ही आवश्यकता होती है।

उन्हें यज्ञ के लिए उपयुक्त साधनों की भी आवश्यकता नहीं होती और शास्त्रोक्त विधि-विधानों से तो मानों उनका सदा का ही वैर रहता है। यदि कहीं इनके कानों में देवताओं या ब्राह्मणों के नाम की भनक भी पड़ जाय तो उसे भी ये लोग सहन नहीं कर सकते। फिर भला ऐसी अवस्था में इनके यज्ञों के फेर में कोई देवता या ब्राह्मण कहां से आ सकता है ? तो भी जिस प्रकार मरे हुए बछड़े की खाल में भूसा भरकर और उसे गौ के सामने खड़ा करके चतुर लोग उसका दूध दुहते हैं, उसी प्रकार ये आसुरी पुरुष भी लोगों को निमन्त्रण देकर बलपूर्वक अपने यज्ञों में ले आते हैं और उनसे भेंट या उपहार लेकर उन्हें व्यर्थ ही खर्च में डालते हैं। इस प्रकार ऐसे आसुरी लोग कभी-कभी अपने लोभीपन के कारण होम करते हैं और उसमें अनेक जीवों का सत्यानाश करने की वासना करते हैं।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

"फिर ये आसुरी लोग अपने आगे बाजे-गाजे लेकर चलते हैं और व्यर्थ ही चारों तरफ यह पुकार मचाते फिरते हैं कि 'हम दीक्षित हुए हैं'। उस समय इन दुष्टों का अपने महत्त्व का अभिमान शिखर पर जा पहुंचता है। जिस प्रकार अन्धकार को कालिमा के पुट दिये जाने पर वह कालिमा और भी अधिक उग्र हो जाती है, उसी प्रकार उनकी मूर्खता और अधिक घनीभूत हो जाती है, उनकी उद्धतता शिखर पर जा पहुंचती है, अहंकार दूना हो जाता है और अविवेक की भी इसी प्रकार वृद्धि होती है। फिर मानों दूसरे किसी का नाम भी बाकी न रहने देने के लिए उनकी बलिष्ठता को एक नवीन बल प्राप्त होता है। जब इस प्रकार अहंकार और बल का संयोग हो जाता है, तब उनके अभिमान का समुद्र मर्यादा को पार करके उसके बाहर निकल जाता है। जब इस प्रकार गर्व की बहुत अधिक वृद्धि होने लगती है, तब काम का पित्त भी खूब प्रबल होता है और उसके कारण क्रोधाग्नि एकदम से भड़क उठती है। फिर जिस प्रकार बहुत कड़ी गरमी के दिनों में घी और तेल के भांडार में भीषण आग लगे और उसी समय खूब जोरों की हवा भी चलने लगे, ठीक उसी प्रकार जब इन आसुरी लोगों का बल बहुत बढ़ जाता है और उनका अहंकार काम तथा क्रोध से युक्त हो जाता है और इस प्रकार इन सबका संयोग हो जाता है, तब भला वे लोग मनमानी हिंसा करने में आगा-पीछा क्यों करने लगे ? हे अर्जुन, फिर ऐसे यज्ञकर्ता आसुरी लोग सबसे पहले जारण, मारण आदि प्रयोग सिद्ध करने के लिए स्वयं अपने ही रक्त और मांस का व्यय करने लगते हैं। फिर वे जीवित शरीर जलाते हैं और इस कृत्य से इस शरीर में रहने वाला जो मैं हूं, उस मुझ आत्मतत्त्व को विलक्षण ताप पहुंचाते हैं। और ये जारण, मारण करने वाले अभिचारक जिनको पीड़ा पहुंचाते हैं, उन सबमें मैं ही चैतन्य रूप से रहता हूं, इसलिए उन सब उपद्रवों का कष्ट मुझको ही होता है। और जो लोग दैवयोग से उनके अभिचारों के जाल से बच जाते हैं, वे उनकी दुष्ट निन्दा के पत्थरों की वर्षा से विकल होते हैं (अर्थात् वे लोग उनकी निन्दा करके उन्हें कष्ट पहुंचाते हैं)। सती, पतिव्रता, साधु, सन्त, दाता, याज्ञिक, लोकोत्तर तपस्वी, संन्यासी, महात्मा, भक्त आदि मेरे परम प्रिय विषय हैं; और इन्हीं लोगों के आचरण करने से समस्त श्रौत, स्मार्त्त आदि क्रियानुष्ठान पवित्र होते हैं। परन्तु ये आसुरी लोग उन सज्जनों पर भी द्वेष के भयंकर विष से बुझे और तीक्ष्ण किये दुःशब्द रूपी तीव्र बाणों का प्रहार करते हैं।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

"अच्छा, अब यह सुनो कि इस प्रकार सभी तरह से जो लोग मेरे साथ वैर करते हैं, उनकी मैं किस प्रकार व्यवस्था करता हूं। ये लोग मानव शरीर के धागे का आश्रय लेकर सारे संसार के साथ लापरवाही के साथ व्यवहार करते हैं, इसलिए मैं उनकी ऐसी गति करता हूं कि क्लेश रूपी गांव का सारा कूड़ा-करकट जहां इकट्ठा होता है, और संसार रूपी नगर का सारा गन्दा जल जहां बहकर जाता है, उसी स्थान की तामस योनियों में मैं इन मूढ़ों को

रखता हूं। फिर जिस स्थान पर आहार के लिए तृण तक नहीं उगता, उस उजाड़ वन में मैं उन्हें बाघ अथवा बिच्छू की योनि में उत्पन्न करता हूं। उस समय भूख से व्याकुल होकर ये लोग स्वयं अपने ही शरीर का मांस नोच-नोचकर खाते रहते हैं और बार-बार मरकर वही जन्म फिर से धारण करते रहते हैं। अथवा मैं उन्हें उस सांप का जन्म देता हूं जो स्वयं अपने ही विष की आंच से स्वयं अपने ही शरीर की त्वचा जलाता है और उन्हें बिलों में बन्द कर रखता हूं। अन्दर खींचा हुआ श्वास बाहर निकालने में जितना समय लगता है, उतना समय भी मैं कभी इन दुष्टों को विश्राम करने के लिए नहीं देता। और उनने अनन्तकाल तक में इन क्लेशों से उन्हें छुटकारा नहीं देता, जिसकी तुलना में करोड़ों कल्पों की संख्या भी कम ही होती है। और फिर इन आसुरी लोगों को अन्त में जिस स्थिति में जाना पड़ता है, उसका यह पहला ही पड़ाव होता है। फिर भला इस पड़ाव से आगे बढ़ने पर उन्हें इनसे भी बढ़कर भयंकर दुःख क्यों न भोगने पड़ेंगे ?

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

"इस आसुरी सम्पत्ति के कारण ऐसे लोग इतनी भीषण दुःखमय स्थिति तक पहुंचते हैं। परन्तु इसके उपरान्त व्याघ्र आदि की तामस योनियों में भी विश्राम करने के लिए शरीर का जो थोड़ा-सा आधार रहता है, उनका वह आधार भी मैं उनसे छीन लेता हूं और तब वे लोग शुद्ध तम का ही रूप बन जाते हैं और ऐसे घोर तम हो जाते हैं कि यदि वे कालिख के साथ भी लग जायं तो वह भी और अधिक काली हो जाय। फिर वे ऐसे घृणित हो जाते हैं कि पाप को भी उनसे घृणा होने लगती है, नरक भी उनसे डरता है, स्वयं कष्ट भी उनके कष्ट देखकर मूर्च्छित हो जाता है, मल भी उनके सम्बन्ध में मलीन हो जाता है, ताप भी उनसे तप्त हो जाता है, महा-भय भी उनसे थरथर कांपने लगता है, पाप भी उनसे घृणा करता है, अमंगल भी उन्हें अमंगल का रूप समझता है और छुआछूत भी उनके संसर्ग-दोष से डरती है। इस प्रकार ये सारे संसार के अधमों से भी बढ़कर अधम आसुरी लोग भिन्न-भिन्न तामस योनियों में जाकर अन्त में, हे अर्जुन, प्रत्यक्ष तम ही बन जाते हैं। इन मूर्खों ने भी कैसे नरकों का साधन किया है ! इसका वर्णन करने में वाणी भी विकल हो जाती है और मन डरकर पीछे हट जाता है। जिसके कारण ऐसी भयंकर अधोगति होती है, समझ में नहीं आता कि वही दुष्ट आसुरी सम्पत्ति ये लोग क्यों अपने पास एकत्र करते हैं ! इसीलिए, हे अर्जुन, तुम कभी उस आसुरी सम्पत्ति के रास्ते भी न लगो। जहां आसुरी सम्पत्ति के स्वामी रहते हों और जहां ऊपर बतलाये हुए दम्भ आदि छहों दोष दिखाई देते हों, वहां अपने पैर भी न रखना ही उचित है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

"जहां काम, क्रोध और लोभ के त्रिकूट की प्रबलता हो, वहां समझना चाहिए कि अमंगल की ही उपज होती है। हे अर्जुन, समस्त दुःखों ने इन तीनों का एक ऐसा मार्ग बना रखा है, जिससे चलकर जो चाहे, वही उन दुःखों के दर्शन कर सकता है—वे दुःख प्राप्त कर सकता है। अथवा पापियों को नरक-भोग में ढकेलने के लिए ही पातकों की यह एक बहुत बड़ी सभा स्थापित हुई है। जब तक अन्तःकरण में इन तीनों का संचार नहीं होता, तब तक रौरव नरक की ख्याति पुराणों में ही जहां-की-तहां पड़ी रहती है। परन्तु ज्यों ही इन तीनों दोषों का संचार होता है, त्यों ही समस्त अपाय या बुराइयां आकर मनुष्य में लग जाती हैं; और कष्ट तो मानों एकदम से सस्ते हो जाते हैं और बहुत सहज में प्राप्त होते हैं। संसार में लोग जिसे हानि कहते हैं, वास्तव में वह हानि नहीं है। वास्तविक हानि के रूप तो यही तीनों हैं। हे वीर अर्जुन, अब मैं तुमसे और अधिक क्या कहूं। समस्त नरकों में जो सबसे अधिक भयंकर नरक है, उसका प्रवेश-द्वार इन्हीं तीनों दोषों का त्रिशूल है। इस त्रिशुंक अर्थात् तीनों मुखवाले प्रवेश-द्वार पर जो जीव खड़ा रहे, वही नरक-रूपी नगरी के मुख्य

सभा गृह मे प्रवेश करता है इसलिए हे अर्जुन मै बार बार तुमसे खूब अच्छी तरह कहता हू कि काम क्रोध और लोभ के दुष्ट त्रिकूट का सभी अवसरो पर पूण रूप से परित्याग ही करना चाहिए आर उन्हे सदा दूर भगाना चाहिए .

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

"जीव को केवल उसी अवस्था में धर्म आदि चारों पुरुषार्थों की बातें मुंह से निकालनी चाहिए, जबकि वह इन सब दोषों की मंडली को अपने से बिलकुल दूर कर दे। जब तक ये तीनों दोष जीव में जाग्रत रहते हैं, तब तक हमारे कान यह बात नहीं सुन सकते कि उसे सच्चे कल्याण की प्राप्ति होगी।" बस यही सब बातें श्रीकृष्णदेव ने उस समय कही थी। उसके उपरान्त वे फिर कहते हैं—"जिसके मन में आत्म के प्रति प्रेम हो और जिसे आत्मनाश का भय हो, उसे इस मार्ग मे कभी नहीं जाना चाहिए। उसे निरन्तर जाग्रत ही रहना चाहिए। जिस प्रकार कोई अपने पेट के साथ पत्थर बांधकर केवल अपनी भुजाओं के बल से ही समुद्र को तैरकर पार करना चाहता हो अथवा जीवित रहने के उद्देश्य से कालकूट विष पीता हो, उसी प्रकार का वह मनुष्य भी होता है, जो काम, क्रोध और लोभ को अपने साथ रखकर अपना कार्य सिद्ध करना चाहता है। इसलिए इन सबका नाम-निशान तक मिटा डालना चाहिए। जब यह तीन कड़ियों वाली शृंखला टूटती है, तभी जीव आत्महित के मार्ग पर सुखपूर्वक जा सकता है। जिस प्रकार कफ, पित्त और वात के तीनों दोषों से मुक्त शरीर अथवा चुगली, चोरी और छिनाली के त्रिकूट से अलिप्त रहने वाला नगर अथवा आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों तापों से मुक्त अन्तःकरण सुखी होता है, उसी प्रकार इन तीनों कामादिकों से मुक्त जीव भी संसार मे सुखी होता है। और वह मोक्ष के मार्ग पर लगकर साधु-सन्तों की संगति प्राप्त करता है। फिर सत्संग के प्रभाव से और शुद्ध शास्त्रों की सहायता से वह जन्म और मृत्यु के पथरीले और उजाड़ जंगल से बाहर निकल जाता है। फिर उस समय गुरु की कृपा से उसे वह नगर प्राप्त होता है, जिसमें निरन्तर आत्मानन्द का ही राज्य रहता है। वहां वह उस आत्मस्थिति रूपी माता के गले लगता है, जो समस्त प्रियजनों की पराकाष्ठा है और उस माता के साथ भेंट होते ही संसार का बजता हुआ नगाड़ा बन्द हो जाता है। इस प्रकार जो पुरुष काम, क्रोध और लोभ को अपने से बिलकुल दूर और अलग करके और स्वतन्त्र होकर खड़ा होता है, वही इस प्रकार के लाभ का स्वामी होता है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

"परन्तु जो आत्मघातकी पुरुष इन सब बातों पर ध्यान नहीं देता और काम आदि दोषों में स्वयं ही अपना सिर डालता है, जो उन महाभाग वेदों का तिरस्कार करता है, जो सब पर समान रूप से कृपादृष्टि रखने वाले है और सबका हित तथा अहित स्पष्ट रूप से दिखलाने वाले दीपक के ही समान हैं, जो विधि और निषेध का ध्यान नहीं रखता, जिसे आत्मप्राप्ति का अनुराग नहीं होता, जो केवल इन्द्रियों का ही लालन-पालन करता रहता है, जो सदा काम आदि के ही फेर में पड़ा रहता है और उनका कहना कभी नहीं टालता और जो स्वेच्छापूर्ण आचरण के वन में अन्धा होकर प्रवेश करता है, उसे मुक्ति रूपी नदी का जल कभी चखने को नहीं मिलता। सारा श्रम दूर करने वाली यह मुक्ति रूपी नदी उसे कभी स्वप्न में भी नहीं दिखाई देती। ऐसे मनुष्य के पारलौकिक कल्याण की तो बात ही मुंह से नहीं निकालनी चाहिए, परन्तु उसे केवल लौकिक भोग भी भोगने के लिए नहीं मिलते। जैसे कोई ब्राह्मण मछली के लोभ में पड़कर उसे पकड़ने की आशा से पानी में गोता लगाता है, पर वहां भी उसके हाथ कुछ नहीं लगता और स्वयं उसी के प्राण जाने की नौबत आ जाती है, वैसे ही जो मनुष्य केवल विषयभोग के लोभ से परलोक साधन का प्रयत्न करता है, उस पर उस प्रयत्न के होते रहने की ही अवस्था में मृत्यु अचानक आकर छापा मारती है और उसे खींचकर दूसरी ओर ले जाती है। उसे न तो परलोक के स्वर्ग भोग की ही प्राप्ति होती

है और न इस लोक का विषय-भोग ही प्राप्त होता है। फिर भला उसे मोक्ष प्राप्त होने की बात कहां रह जाती है ! इसलिए जो पुरुष विषय-भोग की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है, वह ऐहिक विषयों से भी और स्वर्ग-सुख से भी वंचित हो जाता है और उसका उद्धार कभी नहीं होता।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

"इसलिए भाई अर्जुन, जिन लोगों के मन में स्वयं अपने ऊपर दया उत्पन्न हो और जिन लोगों के अन्तःकरण में यह बात लग गई हो कि हमें आत्महित का साधन करना चाहिए, उन्हें वेदों के वचनों का कभी अनादर नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार अपने पति की इच्छा के अनुसार आचरण करने वाली पतिव्रता स्त्री आपसे आप अपने कल्याण का साधन करती है अथवा जिस प्रकार कोई शिष्य अपने गुरु के वचनों का अच्छी तरह ध्यान रखकर आत्मस्वरूप में स्थान प्राप्त करता है अथवा जिस प्रकार अंधेरे स्थान में छिपाकर रखा हुआ अपना धन फिर से प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला पुरुष प्रकाश करने के लिए बहुत तत्परतापूर्वक दीपक लाकर सामने रखता है, उसी प्रकार जो लोग चारों पुरुषार्थों के धनी होना चाहते हों, उन्हें श्रुतियों और स्मृतियों को शिरसा वन्द्य मानना चाहिए। शास्त्रों ने जिसे निषिद्ध बतलाया है, फिर वह चाहे बहुत बड़े राज्य के समान ही क्यों न हो, परन्तु फिर भी उसे तृण के समान तुच्छ समझकर दूर फेंक देना चाहिए; और शास्त्र जिसे ग्राह्य बतलाते हों, वह चाहे विष के समान ही क्यों न हो, परन्तु फिर भी उसे विरुद्ध या घातक नहीं समझना चाहिए। हे वीर अर्जुन, यदि वेदों और शास्त्रों पर इस प्रकार की अचल निष्ठा हो तो क्या कभी अनिष्ट की प्राप्ति हो सकती है ? इन श्रुतियों को छोड़कर आज तक संसार को कभी कोई ऐसी माता मिली ही नहीं जो अ-कल्याण से उसका छुटकारा कराती हो और उसके कल्याण का साधन करके उसकी वृद्धि करती हो। इसलिए जीव को ब्रह्मस्वरूप में पहुंचाने वाली इस श्रुति-रूपी माता को कभी किसी को छोड़ना नहीं चाहिए; और हे भाई अर्जुन, तुम विशेष रूप से सदा इसी की सेवा किया करो। क्योंकि, हे अर्जुन, तुमने इस संसार में धर्मनिष्ठा के बल से और सद्शास्त्रों की सहायता से अपना जीवन सार्थक या धन्य करने के लिए ही जन्म धारण किया है। और तुम्हें वह 'धर्मानुज' नाम भी आपसे आप प्राप्त हुआ है, जिसका अर्थ होता है—धर्म का छोटा भाई। इसलिए तुम्हें इसके विपरीत आचरण नहीं करना चाहिए। कार्य और अकार्य का विचार करते समय शास्त्रों के आधार से ही निर्णय करना चाहिए। जो बातें शास्त्रों में बुरी और अकृत्य कहीं गई हों, उन्हें बिलकुल छोड़ देना चाहिए। और तब जो वास्तविक कर्तव्य निश्चित हो, उसका अपनी सारी शक्ति से और शुद्ध हृदय से अच्छी तरह पालन करके उसकी सिद्धि करनी चाहिए। सारे विश्व को आधार देने वाली मुद्रा अर्थात् प्रामाणिकता की मोहर आज तुम्हारे हाथ में ही है; और भाई चतुर अर्जुन, लोक-संग्रह करने की शक्ति भी तुममें निस्सन्देह रूप से वर्तमान है।"

इस प्रकार आसुरी सम्पत्ति के लक्षण बतलाकर उनसे सूचित होने वाला निर्णय भी भगवान् ने अर्जुन को निरूपण करके बतला दिया। इसके उपरान्त वह पांडु-सुत अर्जुन भगवान् से अन्तःकरण के सद्भाव के सम्बन्ध में जो प्रश्न करेगा, वह भी आप लोग चैतन्य के कानों से सुनें। संजय ने व्यास ऋषि की कृपा से धृतराष्ट्र को वह प्रसंग सुनाया था। उसी प्रकार मैं भी श्रीनिवृत्तिनाथ की कृपा से वह प्रसंग आप लोगों से निवेदन करूंगा। यदि आप सन्तजन मुझ पर अपने कृपा-कटाक्ष की वर्षा करेंगे, तो महाराज, मैं भी आप ही लोगों के समान बड़ा बन जाऊंगा। इसलिए मुझे आप लोगों का केवल इतना ही प्रसाद मिलना चाहिए, आप लोगों की मुझ पर इतनी ही कृपा होनी चाहिए कि आप लोगों का ध्यान मेरी ओर रहे। फिर मैं ज्ञानदेव सचमुच धन्य तथा समर्थ हो जाऊंगा।



सत्रहवा अध्याय



श्रद्धात्रयविभागयोग

माधि के द्वारा इस नाम-रूपात्मक विश्व का वन्धन टूट जाता है और इससे छुटकारा
ज-रूपी गणेश को नमस्कार करता हूं। जिस समय त्रिपुरों ने शम्भु को दुर्ग के अन्द
स समय राम-नाम के स्मरण से ही शम्भु उस बन्धन से मुक्त हुए थे। इसी प्रकार वि
त्मा भी इस जीव दशा के बन्धन में पड़ी हुई है और वह आपके ही स्मरण से मुक्त होत
ाथ आपकी तुलना की जाय तो आपका ही महत्त्व अधिक सिद्ध होता है, परन्तु सा
ागर से पार करने के लिए नौका के समान जिस हलकेपन की आवश्यकता होती है,
जिन्हें आपके विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं है, उन्हीं को आप वक्रतुंड जान पड़ते
उन्हें आप सदा सरल ही दिखाई देते हैं। यदि आपकी दिव्य दृष्टि देखी जाय तो वह ब
पड़ती है; परन्तु उसी दृष्टि को खोल और बन्द करके आप सहज में ही उत्पत्ति और !
। आप अपना प्रवृत्ति-रूपी कान फड़काते हैं तब मद और रस से भरी हुई जो सुगन्धित
। जीवरूपी काले भ्रमर आपके गंड-स्थल पर आकर बैठते हैं। उस समय यही जान पड़
की पूजा की गई है। परन्तु जब इसके उपरान्त आप निवृत्ति-रूपी दूसरा कान हिलाते
ान्त हो जाता है और आप अपने खुले हुए सुन्दर आत्मरूप में भासमान् होते हैं। ला
। के कारण यह जो नामरूपात्मक जगत्-रूपी मोहक भास उत्पन्न होता है, व
ा ही प्रदर्शन है। केवल यही नहीं बल्कि बहुत अधिक आश्चर्य की बात यह है कि हे
नसका सगेपन का सम्बन्ध हो जाता है, वह तुरन्त ही सगेपन के लिए परकीय हो

सगेपन या आपसदारी के व्यवहार से वंचित हो जाता है। ज्यों ही आप समस्त बन्धनों का नाश करते हैं, त्यों ही मनुष्य के मन में यह भाव उत्पन्न होता है कि आप जगत् के बन्धु हैं और भक्त की आनंदवृत्ति आपमें लीन होने लगती है। फिर हे महाराज, दुजायगी के भाव का पूर्ण रूप से लोप हो जाता है और उसे अपने शरीर का भी भान नहीं रह जाता। परन्तु जो लोग आपको अपने से अलग समझते हैं, और जो आपको अपनी दृष्टि के सामने रखकर आपको प्राप्त करने के लिए नाना प्रकार के योग आदि मार्गों पर दौड़ लगाते है, उनके आप बहुत पीछे ही रहते हैं। जो लोग बैठकर मन में आपका ध्यान करते हैं, उनके ग्राम या नगर में भी आप नहीं रहते। परन्तु जो लोग आत्मैक्य के भाव से ध्यान को भी भूल जाते हैं, उन पर अवश्य ही आपका परम प्रेम होता है। जो लोग यह नहीं जानते कि आप स्वयं-सिद्ध हैं और केवल अपनी सर्वज्ञता का ही अभिमान करते हैं, उनकी बातें भला आप कहा से सुन सकते हैं ? क्योंकि जो वेद इतना अधिक वक्तृत्व करते हैं, उनकी ओर आपका कान ही नहीं होता। आरम्भ से ही और आपकी जन्म-राशि के कारण ही आपका नाम 'मौन' पड़ा है। तो फिर आपकी स्तुति करने का क्यों साहस किया जाय ? दृष्टि को जो कुछ दिखलाई देता है, वह सब यदि माया-जनित ही है, तो फिर आपकी भक्ति के लिए साधन ही कहां बच रहता है ? देवता के रूप में आपकी कल्पना करके आपकी सेवा करने का विचार मन में उत्पन्न होता है, परन्तु यदि आपमें और अपने में भेदभाव माना जाय, तो मानों आत्मद्रोह ही होता है। इसलिए अब आपके विषय में कुछ न कहना ही उचित है। जब सारा भेदभाव पूर्ण रूप से छोड़ दिया जाता है, तभी आपके अद्वितीय स्वरूप की प्राप्ति होती है। हे आराध्य-मूर्ति गुरुराज महाराज, आपका यह रहस्य अब अच्छी तरह मेरी समझ में आ गया है। इसलिए जिस प्रकार बिना कोई भेदभाव रखे अन्नरस के द्वारा नमक स्वीकृत किया जाता है, उसी प्रकार आप भी मेरा नमस्कार स्वीकृत करें। इससे अधिक अब मैं और क्या कहूं ! जिस प्रकार यदि खाली लोटा समुद्र में डाला जाय और तब फिर ऊपर निकाला जाय, तब वह जिस प्रकार भरा हुआ निकलता है अथवा दीपक के संसर्ग से जिस प्रकार रूई की बत्ती भी दीपक का रूप प्राप्त कर लेती है, उसी प्रकार, हे श्रीनिवृत्तिनाथजी महाराज, मैं भी आपको नमस्कार करके परिपूर्ण हो गया हूं। इसलिए अब मैं गीता का अर्थ स्पष्ट करने के काम में प्रवृत्त होता हूं। सोलहवें अध्याय की समाप्ति पर अन्तिम श्लोक में भगवान् ने निस्सन्देह रूप से यह निर्णय किया है कि—हे अर्जुन, जिस समय यह निश्चय करने की आवश्यकता हो कि करने योग्य काम कौन-सा है और न करने के योग्य काम कौन-सा है, तब तुम एकमात्र शास्त्रों को ही प्रमाण मानो। यह सुनकर अर्जुन के मन में यह विचार आया कि यह बात क्यों है कि बिना शास्त्रों की सहायता के कर्म के प्रश्न का निर्णय ही न हो ! तक्षक के फन पर पैर रखकर उसके मस्तक की मणि किस प्रकार प्राप्त की जाय ? और सिंह की नाक के बाल किस प्रकार उखाड़े जायं ? और तब यह कहा जाता है कि तक्षक की वही मणि सिंह की नाक के बाल में पिरोकर और उसकी कंठी बनाकर गले में पहनी जाय। परन्तु यदि यह असम्भव कार्य मनुष्य न कर सके तो क्या वह अपना गला यों ही नंगा रखे ? ठीक उसी प्रकार मत और अ-मत की गड़बड़ी मचाने वाले भिन्न-भिन्न शास्त्रों की गठरी भला कैसे और कौन बांधे ? और फिर उनकी एक-वाक्यता वाला फल ही किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है ? और फिर यदि यह भी मान लिया जाय कि किसी प्रकार भिन्न-भिन्न शास्त्रों का मेल बैठाकर किसी कार्य के सम्बन्ध में कोई निर्णय कर भी लिया, तो भी उसके आचरण के लिए यथेष्ट समय भी किसी के पास है ? इस जीव को इतना अधिक प्रसार भला कैसे अच्छा लगेगा ? और फिर सब लोग ऐसा उपाय कैसे कर सकते हैं, जिससे शास्त्र, अर्थ, देश और काल सबका एक ही कार्य में उचित योग हो सके ? इसीलिए इस शास्त्रोक्त प्रकरण का साधन प्रायः कठिन ही है। फिर जो लोग अज्ञान हों, पर साथ ही मोक्ष प्राप्त करने की भी इच्छा रखते हों, उनके लिए कौन-सा मार्ग खुला रहता है ? बस इसी सम्बन्ध में प्रश्न करने का विचार अर्जुन अपने मन में कर रहा है और इसी विषय का इस

सत्रहव अध्याय में विवेचन किया गया है। जो समस्त विषयों से विरक्त है, जो समस्त कलाओं में पारंगत है, जो स्वयं कृष्ण के लिए भी अर्जुन के रूप में दूसरा कृष्ण (अर्थात् आकर्षण करने वाला) ही है, शौर्य का आश्रय है, चन्द्रवंश का अलंकार है, सुखोपभोग जिसके लिए केवल खेलवाड़ है, जो बुद्धि का वल्लभ और आत्मविद्या का मायका है, जो श्रीकृष्ण के पास सदा रहने वाला मानों मनोधर्म ही है, वह अर्जुन कहने लगा—

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

'हे तमाल-पत्र-श्याम भगवान्, यद्यपि आप इन्द्रिय-गोचर होने वाले प्रत्यक्ष ब्रह्म ही हैं, तो भी आपका भाषण मुझे संशयात्मक ही जान पड़ता है। आपने यह बात क्यों कही है कि जीव के लिए मोक्ष का साधन करने वाला शास्त्रों के सिवा और कोई नहीं है ? शास्त्रों का अभ्यास करने के लिए उपयुक्त स्थल, काल और अध्यापक की आवश्यकता होती है; परन्तु जिसे इन सबकी प्राप्ति न हो और शास्त्रों का अभ्यास या अध्ययन करने के लिए जो और अनेक प्रकार की सामग्री आवश्यक होती है, उसकी भी जिसके पास कमी हो, साथ ही जिसे पूर्व काल की पुण्याई का बल भी प्राप्त न हो और इसीलिए जिसमें बुद्धि का भी बल न हो, उसके लिए शास्त्रों का अध्ययन हो चुका। और इस प्रकार जो शास्त्रों का अध्ययन न कर सकते हों और यहां तक कि शास्त्रों के साथ जिनका कुछ भी सम्पर्क न हो और इसीलिए जिन्होंने शास्त्रीय ऊहापोह करने का सारा झगड़ा ही छोड़ दिया हो, परन्तु फिर भी जिन लोगों के मन में इस बात की बहुत बड़ी अभिलाषा होती हो कि हम भी उन्हीं लोगों के समान हों जो शास्त्रोक्त कर्मों का अनुष्ठान करके वास्तव में पारलौकिक सुख सम्पादित करते हैं और इसी विचार से जो शास्त्रोक्त कर्मों का अनुष्ठान करने वाले पुरुषों का अनुकरण करने का प्रयत्न करते हों और, हे उदार भगवान्, किसी अच्छे लेखक के लिखे हुए अक्षरों के नीचे जिस प्रकार कोई छोटा बालक उन अक्षरों को देख-देखकर उन्हीं के अनुरूप स्वयं भी वही अक्षर लिखता है अथवा किसी आधार या मार्ग-दर्शक को अपने सामने रखकर जिस प्रकार कोई अन्धा या पंगुल उसके पीछे-पीछे चलता है, उसी प्रकार जो उन्हीं लोगों के समान आचरण करते हों, जो समस्त शास्त्रों में निष्णात हों और जो बहुत ही श्रद्धापूर्वक ऐसे ही लोगों के मार्ग पर उनका अनुकरण करते हुए चलते हों और फिर जो बहुत ही भावुकता और श्रद्धापूर्वक शिव आदि देवताओं की पूजा, भूमि आदि के बड़े-बड़े दान, अग्निहोत्र आदि यज्ञ-विधियां तथा इसी प्रकार के और-और कर्मों का आचरण करते हों, हे भगवान्, आप मुझे यह बतलावें कि उन पुरुषों को सत्त्व, रज और तम में से कौन-सी गति प्राप्त होती है ?" इस पर जो वैकुण्ठ-पीठ के स्वामी हैं, जो देह-रूपी कमल की सुगन्धित रेणु हैं, जिनकी छाया से इस सारे विश्व का जीवन चलता है और जो काल स्वभावतः बलवान्, अलौकिक तथा भव्य है और जो मेघ अगम्य तथा आनन्दमय है, उस काल और मेघ को भी जिस सामर्थ्य से महत्त्व प्राप्त होता है, वह सामर्थ्य जिसमें ओत-प्रोत भरी हुई है, स्वयं वे भगवान् अब कहने लगे।

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

भगवान् ने कहा—"पार्थ, तुम्हारे मन की प्रवृत्ति हम जानते हैं। तुम्हें शास्त्रों के अध्ययन का बन्धन बहुत ही कष्टदायक जान पड़ता है। क्यों, यही बात है न ? तुम अपने मन में यह बात सोचते हो कि केवल श्रद्धा के द्वारा ही परम पद हस्तगत कर लिया जाय। परन्तु अरे पागल, यह काम इतना सहज नहीं है। अर्जुन, केवल यह

कहना कि हमारी अपनी श्रद्धा है और उसी पर आश्रित रहना ठीक नहीं है। यदि ब्राह्मण किसी अन्त्यज के साथ सम्बन्ध और मेल-जोल रखे तो क्या वह भी अन्त्यज ही नहीं हो जाता ? मद्य के घड़े में भरकर चाहे गंगाजल ही क्यों न लाया जाय, पर फिर भी उसको कभी स्वीकार न करना चाहिए। तुम स्वयं ही इस बात का विचार करो कि जो कुछ मैं चाहता हूं, वह ठीक है या गलत। यह ठीक है कि चन्दन वास्तव में ठंडा होता है। परन्तु फिर भी यदि अग्नि के साथ उसको संयोग हो जाय तो उस अवस्था में यदि उसे हाथ में उठाया जाय तो क्या वह कभी बिना जलाये रह सकता है ? हे अर्जुन, यदि घटिया सोने में थोड़ा-सा खरा सोना मिला दिया जाय और तब यदि उसे खरा सोना मानकर ग्रहण किया जाय, तो क्या उसमें हानि न होगी ? ठीक इसी प्रकार श्रद्धा का सत्त्व भी वास्तव में खरा ही है। परन्तु वह सत्त्व जिन प्राणियों के हिस्से में आता है, वे प्राणी तो स्वभावतः अनादि माया से उत्पन्न होने वाले तीनों गुणों के ही बने हुए होते हैं। इन तीनों गुणों में से दो गुण तो दबे रहते हैं और एक गुण बलवान होता है। और तब प्राणियों की वृत्ति उसी गुण के अनुरोध से चलने लगती है। फिर वृत्ति के अनुसार ही मन होता है, मन के अनुसार ही कर्मों का आचरण होता है और तब मरने के उपरान्त प्राणी अपने उन्हीं कर्मो के अनुसार नवीन शरीर धारण करता है। जब बीज नष्ट हो जाता है, तब उससे वृक्ष बनता है; और फिर जब वृक्ष नष्ट होता है, तब वह बीज में समाया रहता है। यह क्रम करोड़ों कल्पों तक चलता रहता है, परन्तु फिर भी जाति का कभी नाश नहीं होता। ठीक इसी प्रकार असंख्य जन्म होते रहते हैं, परन्तु प्राणियों के साथ जो त्रिगुणत्व लगा रहता है, वह कभी नहीं छूटता। इसीलिए तुम यह बात ध्यान में रखो कि प्राणियों के हिस्से में जो श्रद्धा आती है, वह भी उनके गुणों के ही अनुसार होती है। यदि कभी किसी प्रकार शुद्ध सत्त्व गुण की वृद्धि हो जाय तो उस श्रद्धा से कुछ ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है। परन्तु उस एक सत्त्व के मारक दो और गुण भी तो वहां उपस्थित रहते हैं। सत्त्व की सहायता से श्रद्धा मोक्ष रूपी फल की ओर प्रवृत्त होती है; परन्तु ऐसे अवसर पर रजोगुण और तमोगुण चुपचाप क्यों बैठे रहें ? अतः जब सत्त्व का बल तोड़कर रजोगुण स्वतन्त्र रूप से बढ़ने लगता है, तब वही श्रद्धा कर्मों का बेगार करने वाली खरीदी हुई दासी बन जाती है। और फिर जब तम की प्रबलता होती है, तब उसी श्रद्धा की ऐसी अवस्था हो जाती है कि वही आपसे आप विषयों के उपभोग में फंस जाती है।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

"हे सुविज्ञ अर्जुन, सारांश यही है कि इस जीव-संघ को ऐसी निर्दोष श्रद्धा कभी प्राप्त ही नहीं हो सकती जो सत्त्व, रज और तम से अलिप्त हो। श्रद्धा स्वभावतः तत्त्व ही है, परन्तु वह तीनों गुणों से घिरी हुई रहती है और इसीलिए उसके राजस, तामस और सात्त्विक ये तीन भेद होते हैं। यों तो जीवन तत्त्व जल ही है, पर वही जल विष में मारक होता है, मिर्च में तीक्ष्ण होता है और ऊख में मीठा होता है। इसी प्रकार जो सदा घनघोर तम से युक्त होकर बार-बार जन्म लेता और मरता है, उसकी श्रद्धा भी तमोरूप ही होती है। फिर जिस तरह काजल और स्याही में किसी प्रकार का भेद नहीं किया जा सकता, उसी तरह श्रद्धा भी तामसी ही होती है और उसमें तम से भिन्न और कुछ भी नहीं होता। ठीक इसी प्रकार यह भी समझना चाहिए कि रजोगुण से युक्त जीव की श्रद्धा राजसी और सात्त्विक जीव की श्रद्धा सदा पूर्ण रूप से सात्त्विक ही होती है। इस प्रकार यह सारा जगत् केवल श्रद्धा से ही भरा हुआ है। परन्तु इन तीनों गुणों की सामर्थ्य से श्रद्धा पर जो तीन प्रकार की छाप बैठती है, उसका तुम ध्यान रखो। जिस प्रकार फूल को देखकर उसी की सहायता से वृक्ष पहचाना जाता है अथवा बातों से मनुष्य के मन का विचार समझा जाता है अथवा जैसे इस जन्म के भोग को देखकर पूर्व जन्मों के कर्म जाने जाते हैं, उसी प्रकार जिन चिह्नों के द्वारा श्रद्धा के ये तीनों रूप पहचाने जा सकते हैं, वे चिह्न अब मैं तुम्हें बतलाता हूं, सुनो।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसा
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

"जिसकी शारीरिक गठन सात्त्विक श्रद्धा की होती है, उसका प्रायः स्वर्ग-सुख की ओर अनुराग रहता है। वह सब विद्याएं सीखता है, यज्ञ आदि विधान करता है और केवल यही नहीं, बल्कि देवलोक में उसका प्रवेश भी हो जाता है। और हे अर्जुन, जो लोग राजस श्रद्धा की मूर्ति होते हैं, वे राक्षसों और पिशाचों की भक्ति करते हैं। और जो लोग तामसी श्रद्धा वाले होते हैं, अब मैं उनके भी लक्षण बतलाता हूं। जो जीव केवल पाप की राशि ही होते हैं, जो अत्यन्त कठोर और निष्ठुर होते हैं, जो हत्याएं करके सन्ध्या के समय घृणित श्मशान में भूत-प्रेत के मंडलो की पूजा करते हैं, उन जीवों के सम्बन्ध में यही समझना चाहिए कि वे तमोगुण के अंग का रस निकालकर ही बनाये गये हैं। ऐसे लोग तामसी श्रद्धा का मानों जन्म-स्थान ही होते हैं। इस प्रकार तीन चिह्नों से युक्त ये तीनों प्रकार की श्रद्धाएं संसार में दिखाई देती हैं। परन्तु ये सब बातें कहने का मेरा अभिप्राय यही है कि, हे सुविज्ञ अर्जुन, तुम भी अपने मन में सात्त्विक श्रद्धा ही रक्षापूर्वक रखो और बाकी जो दोनों घातक श्रद्धाएं हैं, उन्हें अपने से बिलकुल अलग कर दो। हे अर्जुन, यह सात्त्विक श्रद्धा जिसकी संरक्षक हो जाती है, उसे कैवल्य का बिलकुल डर नहीं जान पड़ता, फिर चाहे वह ब्रह्मसूत्र न पढ़ा हो अथवा शास्त्रों में पारंगत न हुआ हो अथवा उसे महासिद्धान्तों की प्राप्ति न हुई हो। जो बड़े लोग केवल श्रुतियां और स्मृतियों के अर्थों के मूर्तिमान अवतार होकर संसार को सदाचरण का उदाहरण दिखलाते हैं, उनके आचरण का ढंग देखकर और उसी के अनुरोध से वे लोग भी सात्त्विक श्रद्धा से आचरण करते हैं और इसीलिए शास्त्रों आदि के अध्ययन से प्राप्त होने वाला फल उन्हें अनायास ही मिल जाता है। एक आदमी तो बहुत अधिक प्रयत्न करके दीपक जलाता है और दूसरा आदमी सहज में ही उस दीपक की सहायता से अपना दीपक भी जला लेता है। परन्तु क्या उस दूसरे दीपक जलाने वाले को प्रकाश नहीं मिलता ? या कुछ कम मिलता है ? एक मनुष्य बहुत अधिक द्रव्य व्यय करके बहुत बड़ा और पक्का मकान तैयार करता है। परन्तु जो और लोग उस मकान में रहते हैं, क्या उन्हें उस मकान का वह सुख भोगने को नहीं मिलता ? क्या तालाब केवल उसी की प्यास बुझाता हे जो उसे बनवाता है और दूसरों की प्यास नहीं बुझाता ? अथवा क्या कभी ऐसा भी होता है कि घर में भोजन केवल उसी को मिले जो उसे पकाता हो और बाकी दूसरे लोगों को न मिले ? हे अर्जुन, मैं इस विषय की बहुत बातें नहीं कहता। केवल यही कहता हूं कि गौतम ऋषि बहुत अधिक प्रयत्न करके गंगा (गोदावरी) नदी को इस पृथ्वी पर लाये थे। परन्तु क्या कभी किसी को इस बात का भी अनुभव हुआ है कि वह केवल गौतम के लिए ही पवित्र गंगा के रूप में सिद्ध हुई थी और दूसरों के लिए वह केवल साधारण नाले के समान सिद्ध हुई हो ? इसलिए जो मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार शास्त्रों का मार्ग जानता है, उसका अनुकरण जो कोई श्रद्धापूर्वक करता है, वह यदि मूर्ख भी हो तो भी तर जाता है।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥

"अब जो लोग शास्त्रों का नाम उच्चारण करने के लिए अपना गला साफ करने का भी विचार नहीं करते, केवल यही नहीं, जिन्हें शास्त्रज्ञों का सम्पर्क भी सहन नहीं होता, जो बड़े लोगों का आचरण और व्यवहार देखकर बन्दरों की तरह उनकी नकल उतारते और चुटकियां बजा-बजाकर उनकी हंसी उड़ाते हैं और अपने ही बड़प्पन के अभिमान में तथा सम्पत्ति के मद से धर्मभ्रष्ट क्रियाओं का आचरण करते हैं, जो लोग अपने तथा दूसरों के अंगों में लकड़ी काटने के औजार से घाव करके रक्त और मांस से यज्ञपात्र भरपूर भरते हैं और फिर उन्हें जलते हुए यज्ञकुंड में डालते हैं और कुछ विशिष्ट देवताओं के मुंह में लगाते हैं, जो अपनी मन्नत पूरी करने के लिए बालकों

का बलिदान करते हैं, जो क्षुद्र देवताओं का वर प्राप्त करने के लिए आग्रहपूर्वक सात-सात दिन तक उपवास करते हैं, भाई सुविज्ञ अर्जुन, वे लोग तमोगुण के क्षेत्र में आत्मक्लेश और परपीड़ा के बीज बोते हैं; और फिर वही बीज अंकुरित होकर अपनी जाति की फसल तैयार करते हैं। फिर ऐसे मनुष्यों की वैसी ही अवस्था होती है जैसी उस मनुष्य की होती है जिसके न तो हाथ ही होते हैं और न जो नाव का ही आश्रय ग्रहण करता है, परन्तु फिर भी जो समुद्र में पड़ जाता है; अथवा जिस प्रकार वह रोगी स्वयं ही पीड़ा से व्याकुल होता है जो वैद्यों से भी विरोध करता है और औषध को भी लात मारकर दूर करता है। अथवा आश्रय देने वाले मनुष्य के साथ झगड़ा करके स्वयं ही अपनी आंखें फोड़ लेने वाले अन्धे की अपने घर में जो दुर्दशा होती है, बस ठीक उसी तरह की दुर्दशा उन लोगों की भी होती है, जो शास्त्रों का आश्रय तिरस्कारपूर्वक छोड़ देते हैं और मोह के कारण भीषण वनों में इधर-उधर भटकते फिरते हैं। ऐसे लोग वही काम करते हैं जो काम करने के लिए विषय-वासनाएं उनसे कहती हैं। क्रोध जिसे मारने को कहता है, उसी को वे मारते हैं; और केवल इतना ही नहीं, बल्कि सबके हृदय में रहने वाला जो 'मैं' हूं, उस 'मुझे' को भी वे दुःख रूपी पत्थरों के नीचे दबा देते हैं।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

"ऐसे लोग अपने तथा दूसरों के शरीरों को जो-जो दुःख देते हैं, उन सबकी सारी पीड़ा मुझ आत्मा को ही होती है। यदि वास्तव में देखा जाय तो वाणी से भी ऐसे पापियों का सम्पर्क नहीं होने देना चाहिए। परन्तु ये सब बातें इसलिए कहना आवश्यक हुआ है कि सबको इस बात का बोध हो जाय कि ऐसे पापियों से सदा दूर रहना चाहिए; और इसलिए इस अवसर पर उनका उल्लेख किये बिना काम ही नहीं चल सकता। देखो, मृत शरीर को हाथों से उठाकर घर से बाहर निकालना पड़ता है, अन्त्यज को रास्ता बतलाने के लिए उसके साथ एक-दो बातें करनी पड़ती हैं और केवल यही नहीं, बल्कि मल हाथों से धोना पड़ता है। परन्तु यह आशा रहती है कि ये सब कृत्य करके हम शुद्ध हो जायंगे; और इसीलिए जिस प्रकार हम इस तरह की बातों में कोई अमंगल नहीं मानते, उसी प्रकार आसुरी वृत्ति को दूर करने के लिए ही यहां उसका वर्णन किया गया है। इसलिए हे अर्जुन, यदि कभी ऐसे असुरों का तुम्हें दर्शन हो जाय तो उस समय तुम हमारा स्मरण करो, क्योंकि यह पाप और किसी प्रायश्चित से दूर नहीं हो सकता। और इसीलिए जिस सात्त्विक श्रद्धा का मैं अभी वर्णन करना चाहता हूं, उसका सब प्रकार से अच्छी तरह संग्रह और रक्षा करनी चाहिए। इसके लिए ऐसे ही लोगों का संग करना चाहिए जिनसे सत्त्व गुण के सम्बन्ध को बल प्राप्त हो और ऐसे ही आहार का सेवन करना चाहिए जिससे सत्त्व गुण की वृद्धि हो। साधारणतः स्वभाव की वृद्धि को बल देने वाला अन्न के सिवा और कोई साधन नहीं है। हे वीर अर्जुन, जिसका होश-हवास ठिकाने हो, वह जब मद्य पी लेता है, तब तुरन्त ही वह आपे से बाहर हो जाता है। यह बात हम लोग प्रत्यक्ष देखा ही करते हैं। जो सदा अन्नरस का सेवन करता है, उसे सहज ही वात और कफ आदि के विकार होते हैं। यदि किसी मनुष्य को ज्वर आवे तो क्या वह ज्वर कभी दूध आदि पीने से कम होता है ? जिस प्रकार अमृत का सेवन करने से मनुष्य मृत्यु के मुंह में जाने से बचता है अथवा विष जिस प्रकार सब अंगों में पहुंचकर उन्हें विषाक्त कर देता है, ठीक उसी प्रकार जिस तरह के आहार का सेवन किया जाय, उसी तरह का देहगत धातुरस बनता है और धातुरस के अनुसार ही मनुष्य के मन में भावनाओं का पोषण होता है। जिस प्रकार बरतन के गरम होने पर उसमें रखा हुआ पानी भी गरम हो जाता है, ठीक उसी प्रकार धातु-रस का चित्त की वृत्तियों पर संस्कार होता है। इसलिए जब सात्त्विक अन्न खाया जाय, तभी सत्त्वगुण की वृद्धि होती है। अन्य प्रकार के अन्न खाने से चित्त की वृत्ति राजस अथवा तामस होती है। इसलिए अब मैं तुमको यह बतलाता हूं कि सात्त्विक आहार कौन-से

आहार करने वालों की ऐसी ही प्रवृत्ति होती है और, हे वीर अर्जुन, इस प्रकार के आहार करने वालों की ऐसी ही प्रवृत्ति होती है और, हे वीर अर्जुन, इस प्रकार के आहार का फल प्राप्त करने के लिए उसे दूसरे क्षण तक भी नहीं ठहरना पड़ता—उसका फल उसे तत्काल ही मिल जाता है। क्योंकि उसका मुख जिस समय ऐसे अपवित्र पेय अथवा खाद्य पदार्थ का स्पर्श करता है, उस समय वह पाप का भागी हो जाता है। इसके उपरान्त वह जो खाता है, उसे खाने का कोई प्रकार नहीं समझना चाहिए, बल्कि पेट भरने वाली एक यातना ही समझना चाहिए। उसे इस प्रकार का कुछ अनुभव तो होता है कि शिरच्छेद होने के समय क्या वेदना होती है और आग में प्रवेश करने पर कैसा जान पड़ता है, पर वह ये सारी यातनाएं भी सहता ही चलता है। इसीलिए यह नहीं कहा जा सकता कि तामस अन्न का परिणाम तामस वृत्ति से भिन्न होता है।" बस यही बातें उस समय भगवान् ने कही थीं। इसके उपरान्त वे फिर कहने लगे—"आहार की भांति यज्ञ भी तीन प्रकार के होते हैं। अब तुम इस विषय की ओर ध्यान दो। हे लोकविख्यात अर्जुन, विविध यज्ञों में जो पहला सात्त्विक यज्ञ है, उसके लक्षण सुनो।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

"जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री का यह मनोधर्म रहता है कि अपने एक प्रिय पति को छोड़कर दूसरे पुरुषों के सम्बन्ध में उसके अन्तःकरण में कभी कोई वासना उत्पन्न ही नहीं होती, अथवा जिस प्रकार समुद्र में मिल जाने पर नदी फिर आगे की ओर नहीं बहती अथवा जिस प्रकार आत्मदर्शन हो जाने पर वेद और आगे कुछ भी नहीं कहते, उसी प्रकार जो पुरुष अपनी मनोवृत्ति आत्महित में लगा देता है और कर्म के फलों के सम्बन्ध में अपने मन में तनिक भी अहंभाव नहीं रखता और जो तन-मन से यज्ञ-कर्मों में उसी प्रकार दृढ़ भावना रखकर उनमें तल्लीन हो जाता है, जिस प्रकार वृक्ष की जड़ में आने वाला पानी फिर कभी पीछे नहीं हटता और केवल उस वृक्ष के अंगों में ही समा जाता है और जो पुरुष किसी प्रकार की वासना अपने मन में नहीं रखता, वह फल की इच्छा छोड़कर और एक स्वधर्म-साधन के सिवा दूसरी समस्त वस्तुओं तथा विषयों से विरक्त रहकर जो यज्ञ करता है, वही यज्ञ वास्तव में सब प्रकार से उत्तम और यथा-सांग होता है। परन्तु जिस प्रकार दर्पण के द्वारा आंखें स्वयं अपना ही रूप देखती हैं अथवा जिस प्रकार दीपक के प्रकाश में हम अपनी हथेली पर रखा हुआ रत्न देखते हैं अथवा सूर्य के उदय होने पर जिस प्रकार हमें अपना उद्दिष्ट मार्ग दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार जब एकनिष्ठा के भाव में वेदों और शास्त्रों को देखकर यज्ञ के लिए कुंड, मंडप और वेदियां आदि प्रस्तुत की जाती हैं और यज्ञकर्म के समस्त साधन तथा सामग्री एकत्र करके सारी व्यवस्था ऐसे अच्छे ढंग से की जाती है कि देखने में जान पड़े कि मानों वह सारी व्यवस्था स्वयं वेद-वक्ता ब्रह्मा ने ही की है और जिस प्रकार शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में उन्हीं के अनुरूप अलंकार आदि पहने जाते हैं, उसी प्रकार जब सारे पदार्थ उपयुक्त रूप से यथा-स्थान रखे जाते हैं और तब जो यज्ञ किया जाता है, उसके विधान के महत्त्व का भला मैं कहां तक वर्णन करूं ! उस समय वह यज्ञ देखने पर ऐसा जान पड़ता है कि यजमान के रूप में मानों स्वयं यज्ञ-विद्या ही सब तरह से अलंकृत होकर अवतरित हुई है। इस प्रकार जो यज्ञ समस्त अंगों से परिपूर्ण होता है और जो फल के महत्त्व की इच्छा मन में नाम को भी अंकुरित नहीं करता और जो यज्ञ उसी प्रकार निःस्वार्थ भाव से किया जाता है, जिस प्रकार तुलसी के वृक्ष में जल सींचकर उसका पालन किया जाता है और उससे फल, फूल अथवा छाया आदि की कुछ भी अपेक्षा नहीं की जाती, हे अर्जुन, वास्तव में उसी यज्ञ को सात्त्विक समझना चाहिए।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

"अब हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, जो यज्ञ इसी प्रकार यथा-सांग किया जाता है, परन्तु जिस प्रकार श्राद्ध में राजा

को इस हेतु से निमन्त्रण दिया जाता है कि यदि राजा के चरण हमारे घर में आ गये तो उसका बहुत कुछ उपयोग होगा, लोक में हमारी कीर्ति भी हो जायगी और श्राद्ध की क्रिया में भी कोई न्यूनता नहीं आवेगी और इसी प्रकार का उद्देश्य रखकर तथा इसी तरह की नीति से जब यज्ञ करने वाला अपने मन में यह कहता है कि इस यज्ञ से मुझे स्वर्ग की प्राप्ति होगी, यज्ञ में दीक्षित हो जाने के कारण जनता में मेरा बोल-बाला होगा और मेरे हाथों यज्ञ भी हो जायगा; तात्पर्य यह कि हे अर्जुन, जो यज्ञ केवल इस अभिप्राय से, फल की वासना से और संसार में अपना महत्त्व स्थापित करने के उद्देश्य से किया जाता है, उस यज्ञ को राजस समझना चाहिए।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

"और हे अर्जुन, जिस प्रकार पशु-पक्षियों के विवाह के लिए काम-वासना के अतिरिक्त और किसी के पौरोहित्य की कोई आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार तामस यज्ञ का मूल कारण भी एकमात्र आग्रह ही होता है। हे अर्जुन, यदि कभी ऐसी अवस्था आ जाय कि वायु को ढूंढ़ने पर भी मार्ग न मिले अथवा मृत्यु को मुहूर्त देखने की आवश्यकता आ पड़े अथवा निषिद्ध पदार्थ को देखकर भड़की हुई आग भय से पीछे हट जाय, तभी तामस पुरुष के व्यवहार में भी किसी प्रकार की बाधा हो सकती है (अर्थात् तामस पुरुष अपने व्यवहार में किसी प्रकार की बाधा देखना पसन्द नहीं करता)। हे अर्जुन, तामस पुरुष सदा पूरा स्वेच्छाचारी ही होता है। उसे न तो विधि और निषेध की ही कोई परवाह होती है और न मन्त्र आदि की ही उसके लिए कोई बाधा होती है। अन्न देखते ही मक्खी कितनी जल्दी आकर उस पर बैठ जाती और उसे खाने लगती है। तामस पुरुषों को भी विधि और निषेध का उतना ही विचार होता है, जितना मक्खी को होता है (अर्थात् बिलकुल विचार नहीं होता)। ब्राह्मण तो विरक्त होते हैं। फिर लोलुपतापूर्वक दक्षिणा के लिए उनके यज्ञ में भला कौन ब्राह्मण घुस सकता है ? जिस प्रकार आग तेज हवा में पड़कर खूब भड़क उठती है, उसी प्रकार वह भी अपने अभिमान के कारण अपना सर्वस्व व्यर्थ ही उड़ाने लगता है। जिस प्रकार किसी निस्संतान का लावारिस घर आने-जाने वाले सभी लोग लूटने लगते हैं, उसी प्रकार ऐसे लोभी लोग, जिनमें कुछ श्रद्धा नहीं होती, आ-आकर उसका द्रव्य लूटने लगते हैं। इस प्रकार की बातें जिस यज्ञ में होती हैं वह मिथ्या और भ्रामक यज्ञ होता है और उसी को तामस यज्ञ समझना चाहिए।" यही लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण ने उस समय कहा था। इसके उपरान्त वे कहने लगे—"हे अर्जुन, नदी का पानी सदा एकरूप ही रहता है, परन्तु भिन्न-भिन्न स्थानों में बहने के कारण कहीं तो वह अपने साथ गन्दगी बहा ले जाता है और इसलिए बिलकुल गंदला हो जाता है और कहीं बिलकुल स्वच्छ रहता है। ठीक इसी प्रकार तप भी तीन गुणों के योग से तीन प्रकार का होता है। एक प्रकार का तप पाप का कारण होता है, तो दूसरे प्रकार का तप उद्धार करता है। हे सुविज्ञ अर्जुन, यदि तुम्हारे मन में यह जानने की उत्कंठा हो कि तप के ये तीनों भेद किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, तो तुम पहले तप का ही स्वरूप समझ लो। पहले मैं तुमको यह बतलाता हूं कि 'तप' किसे कहते हैं, और तब यह बतलाऊंगा कि गुणों के योग से उसके भिन्न-भिन्न स्वरूप किस प्रकार होते हैं। जिसे 'तप' कहते हैं, वह मूलतः तीन प्रकार का होता है—एक शारीर, दूसरा मानसिक और तीसरा शाब्द।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

इस तीनों तपों में से जो पहला शारीर-तप है, अब उसका स्वरूप सुनो। श्रीशंकर या श्रीहरि दोनों में से जिन देवता के प्रति भक्ति और अनुराग हो, उस देवता के मन्दिर की ओर वहां की यात्रा करने और वहां आने-जाने वालों को पंखा आदि झलने के लिए पैर आठों पहर चलते रहते हैं। उस देवता के प्रांगण में शृंगार करने, देवता के लिए

पूजा के गन्ध पुष्प आदि उपचार एकत्र करने और देवता का जो काम कोई कह दे वही काम करने में हाथ सदा सिद्ध रहते हैं देवता के लिंग अथवा मूर्ति पर दृष्टि पड़ते ही शरीर पृथ्वी पर लोटकर दंडवत करता है और ऐसे ब्राह्मणों की मन भर के सेवा की जाती है जो अपने सदाचार आदि गुणों के कारण लोक में यथेष्ट महत्त्व प्राप्त कर चुके होते हैं अथवा जो लोग प्रवास के कारण या रोग आदि पीड़ाओं के कारण या संकटों आदि के कारण दुःखी और पीड़ित होते हैं, उन जीवों को सुखी किया जाता है। सब तीर्थों से श्रेष्ठ जो माता-पिता हैं, उनकी सेवा के लिए अपना शरीर निछावर कर दिया जाता है। ज्ञानदान करने में अत्यन्त सदय उन गुरुदेव का भजन करना चाहिए जिनके इस संसार सरीखी अवस्था में भी मिलते ही सब मल बिलकुल दूर हो जाते हैं। और हे वीर पार्थ, स्वधर्म रूपी अंगीठी में अभ्यास योग के पुट देकर देहाभिमान के सब दोष जलाकर भस्म कर दिये जाते हैं। ऐसा तप करने वाले को यह मानकर कि भूतमात्र में आत्मवस्तु है, उन्हें नमस्कार करना चाहिए, सदा परोपकार करते रहना चाहिए और विषय-भोगों का दृढ़ निश्चयपूर्वक संयम करना चाहिए। जन्म धारण करने के लिए तो स्त्री के शरीर का स्पर्श करना ही पड़ता है, परन्तु उस प्रसंग के उपरान्त फिर जन्म-भर उस स्पर्श से अपने आपको दूर और मुक्त रखना चाहिए। यह समझकर कि भूतमात्र में प्राण हैं, एक तृण भी नहीं तोड़ना चाहिए और यहां तक कि उसका छेदन या भेदन भी नहीं करना चाहिए। जब इस प्रकार शरीर की रहन-सहन शुद्ध और सरल हो जाय, तब यह समझना चाहिए कि शारीर तप अपनी पूर्णता को पहुंच गया है। हे अर्जुन, इन सब व्यवहारों में शरीर ही मुख्य साधन होता है, इसीलिए मैं इसे शारीर-तप कहता हूं। इस प्रकार यह शारीर-तप का विवेचन हुआ। अब तुम निष्पाप वाङ्मय तप का वर्णन सुनो।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

"पारस पत्थर जिस प्रकार लोहे को बिना तोड़े-फोड़े और बिना उसका स्वरूप बिगाड़े उसे सोना बना देता है, उसी प्रकार जिसकी वाणी में ऐसा सौजन्य होता है कि वह स्वाभाविक रूप से बिना किसी को कष्ट पहुंचाये आसपास के सभी लोगों के लिए मधुर और सुखकर होती है, जिसका भाषण होता तो किसी एक व्यक्ति के उद्देश्य से है, परन्तु फिर भी सबके लिए उसी प्रकार हितकारक होता है, जिस प्रकार जल जाता तो वृक्ष का पोषण करने के लिए है, पर वह जाते-जाते सहज में तृणों को भी जीवन प्रदान करता है, जो भाषण अमृत की उस दिव्य गंगा के समान होता है जो प्राप्त होने पर प्राणियों को अमर तो करती ही है, पर साथ ही स्नान करने वालों के पाप और तापँ भी दूर करती है और जिह्वा को भी मधुर स्वाद प्रदान करती है और इसीलिए जिस भाषण से अविचार दूर हो जाता है, अपना अनादि तथा शाश्वत आत्मस्वरूप प्रकट होता है, जो सुनने में अमृतरस के समान प्रिय जान पड़ता है और जिसके सुनने से जी नहीं उकताता और जिसका यह नियम होता है कि जब कोई कुछ पूछे, तभी वह बोलता है और नहीं तो चुपचाप वेदों और संहिताओं आदि का ही आवर्त्तन करता है, जो ऋग्वेद आदि तीनों वेदों का अपने वाग्-भवन में प्रतिष्ठापन करके अपनी वाणी को मानों वेदशाला ही बना लेता है और जिसमें शिव का, विष्णु का अथवा इसी प्रकार किसी और देवता का नाम दिन-रात समान रूप से उच्चारण किया जाता है, उसी को वाचिक तप कहना चाहिए। अब मैं मानसिक तप का वर्णन करता हूं, सुनो।" बस यही लोकपालों के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण ने उस समय कहा था।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—"जिस प्रकार तरंगों के न रह जाने पर सरोवर, मेघों के न रह जाने पर आकाश, सांपों के न रह जाने पर चन्दन का वन, कलाओं की चल-विचलता न रह जाने पर चन्द्रमा, चिन्ताओं के न रह जाने पर राजा अथवा मथने वाले मन्दर पर्वत के न रह जाने पर क्षीर-सागर की अवस्था होती है, उसी प्रकार तरह-तरह के

सकल्प विकल्पो के झगडो क न रह जान पर जो मन क्रेवल आत्मरूप मे स्थिर हा जाता है सन्तापरहित प्रकाश जडता से रहित रस अथवा पोलेपन से रहित अवकाश की भांति होकर जब मन अपने कल्याण का साधन करके आनन्दमय स्वरूप देखता है और अपने स्वभाव का उसी प्रकार परित्याग कर देता है, जिस प्रकार सरदी से सुन्न हो जाने वाला अवयव स्पर्श-ज्ञान से रहित हो जाता है और फिर सरदी की बाधा का अनुभव नहीं करता, उस समय मन को निश्चल, कलंकहीन तथा परिपूर्ण चंद्र-मंडल के समान जो उत्तम सौन्दर्य प्राप्त होता है, मन की उस अवस्था में वैराग्य के कष्ट नहीं के समान हो जाते हैं, मन की चंचलता का अन्त हो जाता है और केवल आत्मबोध की पूर्णता ही बच रहती है। इसीलिए शास्त्रों का उपदेश करते समय जो मुंह हिलाना पडता है, वह बन्द हो जाता है ओर वह प्रयत्न ही वाणी का सूत्र हाथ में न लेकर केवल मौन स्वीकृत करता है। आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो जाने पर मन का मनत्व भी नष्ट हो जाता है; और नमक जिस प्रकार पानी में अच्छी तरह घुलकर लीन हो जाता है, उसी प्रकार मन भी आत्मतत्त्व में लीन हो जाता है। फिर ऐसी अवस्था में मन के वे भाव भला उत्पन्न ही कहा से हो सकते हैं जो इन्द्रियों के मार्ग से दौड़कर विषयों के ग्राम में पहुंचते हैं ! फिर जिस प्रकार हाथ की हथेली मे बाल नहीं होते, उसी प्रकार मन में विषय भावनाओं का भी कहीं नाम नहीं होता है। हे अर्जुन, मैं और अधिक क्या कहूं, जिस समय मन की यह अवस्था होती है, उस समय यह समझना चाहिए कि वह मन मानसिक तप का पात्र होता है। परन्तु यह विवरण वहुत हो चुका। मैंने इस प्रकार तुम्हें मानस तप के सम्पूर्ण लक्षण वतला दिये है।" बस यही भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा था। इसके उपरान्त वे फिर कहने लगे—"इस प्रकार शरीर, वाणी और मन के सम्बन्ध में तप के जो तीन प्रकार होते हैं, वे मैंने तुम्हें बतला दिये हैं। अव तीनों गुणों के कारण इन तीनों प्रकार के सामान्य तपों के जो तीन भेद होते हैं, वह भी खूब अच्छी तरह और सचेत होकर सुनो।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

"हे सुविज्ञ अर्जुन, ये जो तीनों प्रकार के तप मैंने तुम्हें बतलाये हैं, जब उनका आचरण फल-प्राप्ति की सारी आशा का परित्याग करके किया जाता है और जब ये तप शुद्ध सात्त्विक वृत्ति से और आस्तिक्य भाव से किये जाते हे, तब बुद्धिमान् लोग उसे सात्त्विक तप कहते हैं।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

"और नहीं तो तप के निमित्त से भेदभाव उत्पन्न करके, बड़प्पन के शिखर पर बैठने के लिए यह सोचकर कि त्रिभुवन में मेरे सिवा और किसी को मान प्राप्त न हो, सभा और भोजन आदि के अवसर पर स्वयं ही सबसे अधिक और पहले सम्मान प्राप्त करने के लिए, स्वयं ही सारे विश्व की स्तुति का पात्र बनने के लिए और इस उद्देश्य से कि सब लोग दौड़-दौड़कर मेरे घर आया करें और लोगों से अनेक प्रकार के जो सम्मान प्राप्त होते हैं, वे और किसी को न प्राप्त हों, बडप्पन की सब बातों का स्वयं ही अनुभव प्राप्त करने के लिए जिस प्रकार कोई भद्दा और कुरूप व्यक्ति अपना महत्त्व बढाने के लिए बढ़िया कपड़े पहनता और अपने आपको सजाता है, उसी प्रकार शरीर और वाणी पर तप का मुलम्मा चढाने के लिए और इस प्रकार अपना महत्त्व बढ़ाने के लिए, सारांश यह कि धन और मान की वासनाओं को पराकाष्ठा तक पहुंचाकर जिस तप का कष्ट किया जाता है, वह 'तप' राजस गिना जाता है। जो गौ ठांठ हो जाती है और जिसे ऐसा रोग हो जाता है कि वह बच्चा होने पर भी दूध नहीं देती, उस गौ की तरह अथवा उस खेत की तरह जो तैयार तो हो जाता है, परन्तु फिर भी जिसे जानवर चर जाते हैं और फिर जिससे अन्न की प्राप्ति नहीं होती, वह तप भी केवल निष्फल होता और व्यर्थ जाता है, जो खूब शोर मचाकर और बहुत आडम्बरपूर्वक किया जाता है। इसके अतिरिक्त, हे अर्जुन, ऐसा तप

करने वाले को जब यह दिखाई देता है कि मेरा तप निष्फल होता जा रहा है, तब वह उसे बीच में ही अधूरा छोड़ देता है और इसीलिए इस प्रकार के तप में स्थिरता या स्थायित्व भी नहीं हो सकता। साधारणतः जो मेघ असमय में ही आकाश में आ जाता है और खूब जोर से गरजकर सारे ब्रह्मांड को गुंजा देता है, वह क्या कभी घड़ी-भर भी ठहरता है ? इसी प्रकार जो तप राजस होता है, वह केवल निष्फल होकर बांझ के समान ही सिद्ध होता है और साथ ही आचरण में भी वह पूरा नहीं उतरता। अब वही तप यदि तामस प्रकार का हो तो उसका आचरण करने पर मनुष्य स्वर्ग-लाभ से भी और इस लोक में होने वाली कीर्ति से भी वंचित हो जाता है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

"हे अर्जुन, जिस तप में कोरी मूर्खता का आश्रय लेकर अपना शरीर शत्रु समझा जाता है, शरीर को पंचाग्नि का ताप पहुंचाया जाता है अथवा अन्दर से ऐसी आग जलाई जाती है जिसमें शरीर सांप की तरह जले, जिसमें सिर पर गुग्गुल जलाते हैं, पीठ में कांटे गड़ाये जाते हैं अथवा आस-पास जलने वाली आग में शरीर अंगारों की तरह जलाया जाता है अथवा श्वास और उच्छ्वास बन्द करके व्यर्थ ही उपवास किया जाता है अथवा अपने शरीर को उलटा टांगकर और धूनी पर मुंह लटकाकर धूम्रपान किया जाता है, नदी में बरफ की तरह ठंडे पानी में गले तक खड़े होकर साधना की जाती है अथवा अपने शरीर के जीवित मांस के टुकड़े काटे जाते हैं और हे अर्जुन, जब इस तरह अपने शरीर को अनेक प्रकार की यातनाएं पहुंचाई जाती हैं, तब जो तप होता है और जिसका हेतु केवल दूसरों का नाश करना होता है, उस तप का आचरण करके जो अपने शरीर को कष्ट पहुंचाता है, उसकी अवस्था उसी पत्थर के समान होती है जो स्वयं अपने ही भार के कारण नीचे की ओर बराबर लुढ़कता जाता है और इस प्रकार स्वयं अपने आपको भी चूर-चूर कर डालता है और जो कुछ उसके मार्ग में पड़ता है, उसे भी चूर-चूर कर डालता है। ऐसा मनुष्य सुख से रहने वाले अपने जीव को क्लेश देकर विजय-प्राप्ति की दुष्ट वासना से तप का आचरण करता है। सारांश यह कि इस प्रकार शारीरिक यातना के भयंकर कृत्यों से जो तप निष्पन्न होता है, उसी को तामस समझना चाहिए। इस प्रकार का सत्त्व आदि गुणों के योग से तप के जो तीन प्रकार होते हैं, वे मैंने तुम्हें स्पष्ट करके बतला दिये हैं। अब प्रसंग आ गया है, इसलिए दान के तीनों प्रकारों के लक्षण भी तुम्हें बतला देता हूं। इस प्रकरण में गुणों के योग से दान के भी तीन वर्ग होते हैं। उनमें से पहले सात्त्विक दान के लक्षण सुनो।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

"अपने धर्म के अनुसार आचरण करने में जो द्रव्य आदि प्राप्त हों, वे बहुत आदरपूर्वक दूसरों को देने चाहिए। कभी-कभी ऐसा होता है कि उत्तम बीज तो मिल जाते हैं, परन्तु बोने के लिए अच्छा और दमदार खेत नहीं मिलता। प्रायः दान के सम्बन्ध में भी ठीक इसी तरह की बात दिखाई देती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि अनमोल हीरा तो हाथ आ जाता है, परन्तु ऐसा सोना नहीं मिलता जिसमें वह जड़ा जा सके। अथवा यदि हीरा और सोना दोनों मिल जायं तो फिर उन दोनों के योग से बना हुआ आभूषण पहनने के लिए अंग ही नहीं होता। बस इसी तरह की बात दान के सम्बन्ध में भी दिखाई देती है। परन्तु जब मनुष्य का भाग्य सचमुच उदय होता है, तब जिस प्रकार शुभ समय या त्योहार, जीवन-सखा और धन-सम्पत्ति तीनों का योग हो जाता है, उसी प्रकार दान की सहायता के लिए जब सत्त्व गुण आता है, तब दान के योग्य स्थल, पात्र, काल और द्रव्य के चारों साधन भी आकर एकत्र हो जाते हैं। अतः उचित दान करने के लिए पहले कुरुक्षेत्र, काशीक्षेत्र अथवा इन्हीं के समान किसी और पवित्र भूप्रदेश तक प्रयत्नपूर्वक पहुंचना चाहिए। फिर उस स्थान पर पहुंचकर पूर्णिमा अथवा अमावास्या का पुण्य पर्वकाल अथवा इसी

प्रकार का और कोई शुद्ध काल देखना चाहिए। फिर ऐसे स्थल और ऐसे काल में दान के योग्य कोई उपयुक्त पुरुष ढूंढ़ना चाहिए। वह पुरुष मूर्तिमान् शुद्धता ही होना चाहिए। वह ऐसा अत्यन्त पवित्र ब्राह्मण-श्रेष्ट होना चाहिए जो सदाचार का जन्म-स्थान या मायका और वेद-ज्ञान का संग्रहालय हो। जब ऐसा उत्तम पात्र मिल जाय, तब अपने वित्त या सम्पत्ति पर से अपना स्वत्व हटाकर वह वित्त उसे अर्पण करना चाहिए। परन्तु यह काम करना किस प्रकार चाहिए ! ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार पत्नी अपने पति के सामने मर्यादापूर्वक जाती है, जिस प्रकार कोई सज्जन अपने पास रखी हुई किसी की धरोहर उसे वापस करके भार से मुक्त होता है अथवा कोई सेवक बहुत ही नम्रतापूर्वक किसी राजा को ताम्बूल देता है। बस ठीक इसी प्रकार निष्काम मन से उस ब्राह्मण-श्रेष्ठ को भूमि आदि दान देनी चाहिए। तात्पर्य यही है कि दान देते समय किसी प्रकार के फल की आकांक्षा अपने मन में नहीं उत्पन्न होने देनी चाहिए। इसके अतिरिक्त दान देने के लिए जो मनुष्य ढूंढ़ा जाय, वह ऐसा ही होना चाहिए जो लिये हुए दान का बदला कभी किसी प्रकार से न चुका सकता हो। जिस प्रकार आकाश को पुकारने पर उससे कोई प्रत्युत्तर नहीं मिलता अथवा दर्पण को छोड़कर किसी दूसरी ओर देखने से उस दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता अथवा जलपूर्ण स्थान पर फेंका हुआ गेंद जिस प्रकार फिर लौटकर हमारे हाथ नहीं आता अथवा जिस प्रकार उत्सर्ग किये हुए सांड़ को दिया हुआ चारा अथवा कृतघ्न के साथ किया हुआ उपकार कभी किसी रूप में फलप्रद नहीं होता, ठीक उसी प्रकार दाता को भी उचित है कि ऐसे ही पुरुष को दान दे जिससे फिर उस दान का कोई अंश या उसके बदले में और कोई उपकार आदि प्राप्त न हो सकता हो। और दान देते समय कभी इस प्रकार का भेदभाव भी अपने मन में नहीं आने देना चाहिए कि मैं दाता हूं और वह गृहीता है। हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, जब इन सब बातों का योग होने पर दान दिया जाता हो, तब उसी दान को सर्वोत्तम और सात्त्विक समझना चाहिए। और देश, काल तथा सत्पात्र ब्राह्मण का ध्यान रखकर जो दान दिया जाता है, वही दान निर्दोष तथा शास्त्रोक्त होता है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

''परन्तु जिस प्रकार दूध पर दृष्टि रखकर गौ को चारा दिया जाता है अथवा अनाज से अपनी खत्ती भरने के उद्देश्य से खेत में बीज बोये जाते हैं अथवा व्यवहार या न्योते में मिलने वाली रकम पर ध्यान रखकर अपने सम्बन्धियों आदि को मंगलकार्य का निमन्त्रण दिया जाता है अथवा जिस प्रकार किसी ऐसे व्रतस्थ मनुष्य के यहां कुछ खाने-पीने का सामान या पत्तल आदि भेजी जाती है जिसके सम्बन्ध में यह निश्चय रहता है कि वह किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही लौटा देगा अथवा जिस प्रकार पुरस्कार-रूप में मिला हुआ धन पहले अपनी गांठ में बांध लिया जाता है और तब पुरस्कार देने वाले का कार्य किया जाता है अथवा जिस प्रकार वेतन या धन लेकर रोगी की चिकित्सा की जाती है, उसी प्रकार जो दान इस उद्देश्य से दिया जाता है कि उस दान के द्वारा आगे चलकर हमारा कुछ उपकार या निर्वाह होगा अथवा रास्ते में चलते समय किसी ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मण के मिल जाने पर, जिसे दिया हुआ दान कभी किसी रूप में वापस नहीं मिल सकता, उसे दान में एक कौड़ी दे दी जाती है और अपने समस्त गोत्रजों के प्रायश्चित के संकल्प का जल उसके हाथ पर रख दिया जाता है, ठीक उसी प्रकार तरह-तरह के परलोक-सम्बन्धी सुखपूर्ण फलों का ध्यान रखकर इतना अल्प दान दिया जाता है जो किसी की एक बार की क्षुधा की निवृत्ति के लिए भी यथेष्ट न हो; और वह अल्प दान भी जिस समय ब्राह्मण लेकर चलने लगता है, उस समय यजमान को मानों ऐसा जान पड़ता है कि हमारे घर डाका पड़ा है और हमारा सर्वस्व ही लुट गया है; और इसीलिए वह अपने मन में बहुत विकल होने लगता है। हे सुविज्ञ अर्जुन, अब मैं अधिक विस्तार न करके केवल इतना ही कहता हूं कि मन में इस प्रकार के भाव रखकर जो दान दिया जाता है, उसे पूर्ण रूप से राजस दान समझना चाहिए।

करने वाले का जब यह दिखाई देता है कि मेरा तप निष्फल होता जा रहा है, तब वह उसे बीच में ही अधूरा छोड़ देता है और इसीलिए इस प्रकार के तप में स्थिरता या स्थायित्व भी नहीं हो सकता। साधारणतः जो मेघ असमय में ही आकाश में आ जाता है और खूब जोर से गरजकर सारे ब्रह्मांड को गुंजा देता है, वह क्या कभी घड़ी-भर भी ठहरता है ? इसी प्रकार जो तप राजस होता है, वह केवल निष्फल होकर बांझ के समान ही सिद्ध होता है और साथ ही आचरण में भी वह पूरा नहीं उतरता। अब वही तप यदि तामस प्रकार का हो तो उसका आचरण करने पर मनुष्य स्वर्ग-लाभ से भी और इस लोक में होने वाली कीर्ति से भी वंचित हो जाता है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

''हे अर्जुन, जिस तप में कोरी मूर्खता का आश्रय लेकर अपना शरीर शत्रु समझा जाता है, शरीर को पंचाग्नि का ताप पहुंचाया जाता है अथवा अन्दर से ऐसी आग जलाई जाती है जिसमें शरीर सांप की तरह जले, जिसमें सिर पर गुग्गुल जलाते हैं, पीठ में कांटे गड़ाये जाते हैं अथवा आस-पास जलने वाली आग में शरीर अंगारों की तरह जलाया जाता है अथवा श्वास और उच्छ्वास बन्द करके व्यर्थ ही उपवास किया जाता है अथवा अपने शरीर को उलटा टांगकर और धूनी पर मुंह लटकाकर धूम्रपान किया जाता है, नदी में बरफ की तरह ठंडे पानी में गले तक खड़े होकर साधना की जाती है अथवा अपने शरीर के जीवित मांस के टुकड़े काटे जाते हैं और हे अर्जुन, जब इस तरह अपने शरीर को अनेक प्रकार की यातनाएं पहुंचाई जाती हैं, तब जो तप होता है और जिसका हेतु केवल दूसरों का नाश करना होता है, उस तप का आचरण करके जो अपने शरीर को कष्ट पहुंचाता है, उसकी अवस्था उसी पत्थर के समान होती है जो स्वयं अपने ही भार के कारण नीचे की ओर बराबर लुढ़कता जाता है और इस प्रकार स्वयं अपने आपको भी चूर-चूर कर डालता है और जो कुछ उसके मार्ग में पड़ता है, उसे भी चूर-चूर कर डालता है। ऐसा मनुष्य सुख से रहने वाले अपने जीव को क्लेश देकर विजय-प्राप्ति की दुष्ट वासना से तप का आचरण करता है। सारांश यह कि इस प्रकार शारीरिक यातना के भयंकर कृत्यों से जो तप निष्पन्न होता है, उसी को तामस समझना चाहिए। इस प्रकार का सत्त्व आदि गुणों के योग से तप के जो तीन प्रकार होते हैं, वे मैंने तुम्हें स्पष्ट करके बतला दिये हैं। अब प्रसंग आ गया है, इसलिए दान के तीनों प्रकारों के लक्षण भी तुम्हें बतला देता हूं। इस प्रकरण में गुणों के योग से दान के भी तीन वर्ग होते हैं। उनमें से पहले सात्त्विक दान के लक्षण सुनो।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

''अपने धर्म के अनुसार आचरण करने में जो द्रव्य आदि प्राप्त हों, वे बहुत आदरपूर्वक दूसरों को देने चाहिए। कभी-कभी ऐसा होता है कि उत्तम बीज तो मिल जाते हैं, परन्तु बोने के लिए अच्छा और दमदार खेत नहीं मिलता। प्रायः दान के सम्बन्ध में भी ठीक इसी तरह की बात दिखाई देती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि अनमोल हीरा तो हाथ आ जाता है, परन्तु ऐसा सोना नहीं मिलता जिसमें वह जड़ा जा सके। अथवा यदि हीरा और सोना दोनों मिल जायं तो फिर उन दोनों के योग से बना हुआ आभूषण पहनने के लिए अंग ही नहीं होता। बस इसी तरह की बात दान के सम्बन्ध में भी दिखाई देती है। परन्तु जब मनुष्य का भाग्य सचमुच उदय होता है, तब जिस प्रकार शुभ समय या त्योहार, जीवन-सखा और धन-सम्पत्ति तीनों का योग हो जाता है, उसी प्रकार दान की सहायता के लिए जब सत्त्व गुण आता है, तब दान के योग्य स्थल, पात्र, काल और द्रव्य के चारों साधन भी आकर एकत्र हो जाते है। अतः उचित दान करने के लिए पहले कुरुक्षेत्र, काशीक्षेत्र अथवा इन्हीं के समान किसी और पवित्र भूप्रदेश तक प्रयत्नपूर्वक पहुंचना चाहिए। फिर उस स्थान पर पहुंचकर पूर्णिमा अथवा अमावास्या का पुण्य पर्वकाल अथवा इसी

प्रकार का और कोई शुद्ध काल देखना चाहिए फिर ऐसे स्थल और इस काल में दान के योग्य कोई उपयुक्त पुरुष ढूंढना चाहिए। वह पुरुष मूर्तिमान् शुद्धता ही होना चाहिए। वह ऐसा अत्यन्त पवित्र ब्राह्मण-श्रेष्ठ होना चाहिए जो सदाचार का जन्म-स्थान या मायका और वेद-ज्ञान का संग्रहालय हो। जब ऐसा उत्तम पात्र मिल जाय, तब अपने वित्त या सम्पत्ति पर से अपना स्वत्व हटाकर वह वित्त उसे अर्पण करना चाहिए। परन्तु यह काम करना किस प्रकार चाहिए ! ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार पत्नी अपने पति के सामने मर्यादापूर्वक जाती है, जिस प्रकार कोई सज्जन अपने पास रखी हुई किसी की धरोहर उसे वापस करके भार से मुक्त होता है अथवा कोई सेवक बहुत ही नम्रतापूर्वक किसी राजा को ताम्बूल देता है। बस ठीक इसी प्रकार निष्काम मन से उस ब्राह्मण-श्रेष्ठ को भूमि आदि दान देनी चाहिए। तात्पर्य यही है कि दान देते समय किसी प्रकार के फल की आकांक्षा अपने मन में नहीं उत्पन्न होने देनी चाहिए। इसके अतिरिक्त दान देने के लिए जो मनुष्य ढूंढ़ा जाय, वह ऐसा ही होना चाहिए जो लिये हुए दान का बदला कभी किसी प्रकार से न चुका सकता हो। जिस प्रकार आकाश को पुकारने पर उससे कोई प्रत्युत्तर नहीं मिलता अथवा दर्पण को छोड़कर किसी दूसरी ओर देखने से उस दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता अथवा जलपूर्ण स्थान पर फेंका हुआ गेंद जिस प्रकार फिर लौटकर हमारे हाथ नहीं आता अथवा जिस प्रकार उत्सर्ग किये हुए सांड को दिया हुआ चारा अथवा कृतघ्न के साथ किया हुआ उपकार कभी किसी रूप में फलप्रद नहीं होता, ठीक उसी प्रकार दाता को भी उचित है कि ऐसे ही पुरुष को दान दे जिससे फिर उस दान का कोई अंश या उसके बदले में और कोई उपकार आदि प्राप्त न हो सकता हो। और दान देते समय कभी इस प्रकार का भेदभाव भी अपने मन में नहीं आने देना चाहिए कि मैं दाता हूं और वह गृहीता है। हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, जब इन सब बातों का योग होने पर दान दिया जाता हो, तब उसी दान को सर्वोत्तम और सात्त्विक समझना चाहिए। और देश, काल तथा सत्पात्र ब्राह्मण का ध्यान रखकर जो दान दिया जाता है, वही दान निर्दोष तथा शास्त्रोक्त होता है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

"परन्तु जिस प्रकार दूध पर दृष्टि रखकर गौ को चारा दिया जाता है अथवा अनाज से अपनी खत्ती भरने के उद्देश्य से खेत में बीज बोये जाते हैं अथवा व्यवहार या न्योते में मिलने वाली रकम पर ध्यान रखकर अपने सम्बन्धियों आदि को मंगलकार्य का निमन्त्रण दिया जाता है अथवा जिस प्रकार किसी ऐसे व्रतस्थ मनुष्य के यहां कुछ खाने-पीने का सामान या पत्तल आदि भेजी जाती है जिसके सम्बन्ध में यह निश्चय रहता है कि वह किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही लौटा देगा अथवा जिस प्रकार पुरस्कार-रूप में मिला हुआ धन पहले अपनी गांठ में बांध लिया जाता है और तब पुरस्कार देने वाले का कार्य किया जाता है अथवा जिस प्रकार वेतन या धन लेकर रोगी की चिकित्सा की जाती है, उसी प्रकार जो दान इस उद्देश्य से दिया जाता है कि उस दान के द्वारा आगे चलकर हमारा कुछ उपकार या निर्वाह होगा अथवा रास्ते में चलते समय किसी ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मण के मिल जाने पर, जिसे दिया हुआ दान कभी किसी रूप में वापस नहीं मिल सकता, उसे दान में एक कौड़ी दे दी जाती है और अपने समस्त गोत्रजों के प्रायश्चित के संकल्प का जल उसके हाथ पर रख दिया जाता है, ठीक उसी प्रकार तरह-तरह के परलोक-सम्बन्धी सुखपूर्ण फलों का ध्यान रखकर इतना अल्प दान दिया जाता है जो किसी की एक बार की क्षुधा की निवृत्ति के लिए भी यथेष्ट न हो; और वह अल्प दान भी जिस समय ब्राह्मण लेकर चलने लगता है, उस समय यजमान को मानों ऐसा जान पड़ता है कि हमारे घर डाका पड़ा है और हमारा सर्वस्व ही लुट गया है; और इसीलिए वह अपने मन में बहुत विकल होने लगता है। हे सुविज्ञ अर्जुन, अब मैं अधिक विस्तार न करके केवल इतना ही कहता हूं कि मन में इस प्रकार के भाव रखकर जो दान दिया जाता है, उसे पूर्ण रूप से राजस दान समझना चाहिए।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

"और हे अर्जुन, यवनों की बस्ती में, जंगल में, अपवित्र देश-विभाग में, छावनी में अथवा नगर के चौरास्ते पर ठीक सन्ध्या समय अथवा रात को चोरी का धन दान करना; और वह दान भी किसे करना ! भाट, बाजीगर, वेश्या या जुआरी सरीखे ऐसे लोगों को जो नितान्त भ्रम में पड़े हों और दूसरों को ठगते हों; तिस पर सामने रूपवती और लावण्यवती स्त्रियों का नाच हो, आंखों में चरबी छाई हो और खुशामदी लोगों की की हुई स्तुतियां बराबर कान में सुनाई पड़ती हों, तिस पर ऐसे समय में जबकि फूलों और दूसरे सुगन्धित द्रव्यों की कोमल सुगन्धों के कारण अंगों में मानों विषय-लोभ के वेताल का ही संचार हो रहा हो, सारे संसार को लूटकर इकट्ठा की हुई सम्पत्ति इस प्रकार दान करना कि मानों नीचों और दुष्टों के लिए अन्न-सत्र ही खोल दिया गया हो, उस दान को तथा इस प्रकार के और भी दानों को मैं तामस कहता हूं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी दैवयोग से एक और प्रकार भी हो जाता है। वह भी सुन लो। जिस प्रकार कीड़ों की खाई हुई लकड़ी पर रेखाओं के योग से कभी-कभी कुछ अक्षर बन जाते हैं अथवा दोनों हाथों से ताली बजाते समय आपसे आप कोई कौआ दोनों हथेलियों के बीच में आ जाता है, ठीक उसी प्रकार कभी-कभी तामस पुरुष के लिए भी शुभकाल तथा पवित्र स्थल का योग प्राप्त हो जाय और ऐसे योग पर कोई ऐसा पुरुष भी उसके पास दान मांगने के लिए आ जाय जो दान लेने का उपयुक्त पात्र हो और द्रव्य की आवश्यकता के कारण वह याचना कर बैठे, तो उस तामस पुरुष के मन में श्रद्धा का कहीं नाम भी नहीं होता, इसलिए वह उस अतिथि को नमस्कार भी नहीं करता और स्वय ही अर्घ्य, पाद्य आदि उसे अर्पित करके उसका आदर-सत्कार करता है और न किसी दूसरे से ही इस प्रकार उसका आदर-सत्कार कराता है, यहां तक कि अभ्यागत के बैठने के लिए उसे आसन तक नहीं देता। ऐसी अवस्था में गन्ध और अक्षत आदि के द्वारा उसकी पूजा करने का कोई जिक्र ही नहीं हो सकता ! हे अर्जुन, तामसी पुरुषों के हाथों इसी प्रकार का अशास्त्रीय तथा अपमानकारक व्यवहार होता है। यदि उसने उस याचक का बहुत सत्कार किया तो उसी प्रकार उसके हाथ पर बहुत ही थोड़ा-सा द्रव्य रख देता है, जिस प्रकार कोई कर्जदार तगादा करने वाले के हाथ पर कुछ रखकर अपना पीछा छुड़ाता है। और इस प्रकार दान देते समय भी उसके मुंह से अबे-तबे आदि की तरह की अपमानकारक बातें बराबर निकलती रहती हैं। और हे अर्जुन, इस प्रकार जो दान वह किसी को देता है, उसका वह तामसी दानकर्ता उस गृहीता से बार-बार उल्लेख भी करता जाता है और भली-बुरी बातें कहकर उसका अपमान भी करता चलता है। परन्तु इस विषय का यथेष्ट विस्तार हो चुका। हे अर्जुन, इस प्रकार जो द्रव्य दान किया जाता है, उसे सर्वत्र तामस दान ही कहते हैं। इस प्रकार मैंने तुम्हें राजस, तामस आदि तीनों प्रकार के दान ऐसे लक्षणों सहित बतला दिये हैं जिनसे वे सहज में पहचाने जा सकते हैं। परन्तु हे सुविज्ञ अर्जुन, मुझे ऐसा जान पड़ता है कि कदाचित् तुम्हारे मन में इस प्रकार की कल्पना हो सकती है कि यदि संसार से मोक्ष दिलाने वाला एकमात्र सात्त्विक कर्म ही है, तो फिर दूसरे बन्धनकारक दुष्ट कर्मों का वर्णन क्यों होता है ? तो इसका उत्तर यही है कि जब तक भूत नहीं भगाया जाता, तब तक जमीन में गड़ा हुआ धन नहीं मिलता और न धुएं का कष्ट सहे बिना दीपक की बत्ती ही जलती है। इसीलिए शुद्ध सत्त्व को छिपाने वाले जो-जो रज और तम के आवरण हैं, उन आवरणों को फाड़कर दूर करने का कृत्य भला कैसे बुरा कहा जा सकता है ? मैंने जो अभी (अर्थात् दूसरे श्लोक से लेकर बाईसवें श्लोक तक) यह बतलाया है कि श्रद्धा से लेकर दान तक समस्त कर्म-समूह तीनों गुणों से व्याप्त रहते हैं, उनमें से मैं केवल तीन ही प्रकार का वर्णन करना चाहता था; परन्तु सत्त्व का ठीक-ठीक स्वरूप स्पष्ट करने के लिए ही मैंने और प्रकारों का भी वर्णन किया है। जो वस्तु दूसरी दो वस्तुओं के ठीक मध्य में दबी हुई रहती है, उसका ठीक-ठीक स्वरूप

तभी स्पष्ट होता है, जब उस वस्तु को दबाने या छिपाने वाली बाकी दोनों वस्तुओं का स्वरूप स्पष्ट कर दिया जाय। जब दिन और रात दोनों का त्याग कर दिया जाय, तब सन्ध्याकाल का ठीक-ठीक प्रत्यय हो जाता है। ठीक इसी न्याय से जब रज और तम का नाश हो जाता है, तब जो सत्त्व बाकी रह जाता है, वह आपसे आप मूर्तिमान होकर सामने आ जाता है। इसी विचार से और सत्त्व का पूरा-पूरा ज्ञान तुम्हें कराने के लिए ही मैंने इस समय रज और तम का भी निरूपण किया है। तुम रज और तम को छोड़कर सत्त्व गुण की सहायता से अपने कर्तव्य का पालन करो। तुम निर्मल सत्त्व गुण से युक्त होकर ही यज्ञ आदि कर्मों का आचरण करो; बस फिर तुम्हें अपना आत्म स्वरूप प्राप्त हो जायगा। जब स्वयं सूर्य ही दिखलाने वाला बन जाय तो फिर भला ऐसी कौन-सी चीज हो सकती है जो दिखाई न दे ? ठीक इसी प्रकार यदि सत्त्व की सहायता से कार्य किया जाय तो ऐसा कौन-सा फल है जो प्राप्त न हो सकता हो ? तात्पर्य यह कि इस बात में कुछ भी सन्देह नहीं कि जितने प्रकार की शक्तियों की आवश्यकता होती है, वे सब सत्त्व गुण में पाई जाती हैं। परन्तु मोक्ष प्राप्त करके आत्मस्वरूप में समरस हो जाना कुछ और ही बात है। जिस समय उसकी सहायता प्राप्त होती है, उस समय मोक्ष के प्रान्त में भी आपसे आप प्रवेश हो जाता है। सोना चाहे पन्द्रह रुपये तोले का (यह ज्ञानेश्वर महाराज के समय का भाव है।—अनु.) और बिलकुल चोखा ही क्यों न हो, परन्तु फिर भी वह व्यवहार के लिए तभी उपयुक्त होता है, जब उस पर राजा के नाम का ठप्पा होता है। यह ठीक है कि निर्मल, ठंडा और सुगन्धित जल बहुत सुखकर होता है, परन्तु फिर भी उसे पवित्रता तभी प्राप्त होती है, जब उसका सम्बन्ध किसी तीर्थ से होता है। यों साधारण नदी चाहे कितनी ही बड़ी क्यों न हो परन्तु जब किसी महानदी के साथ उसका संगम होता है, तभी समुद्र में भी उसका प्रवेश हो सकता है। ठीक इसी प्रकार हे अर्जुन, जो लोग सात्त्विक कर्म करने वाले होते हैं उनके लिए मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग में किसी प्रकार की अड़चन नहीं रह जाती। परन्तु यह प्रश्न कुछ अलग ही है।" यह सुनकर अर्जुन की उत्सुकता इतनी अधिक बढ़ी कि वह उसके अन्तरंग में समा न सकी। उसने श्रीकृष्ण से कहा—"हे देव, आप कृपाकर उस प्रश्न के सम्बन्ध की भी कुछ बातें मुझे बतलावें।" उस समय दयालु-श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ने उससे कहा—"अच्छा, अब मैं तुम्हें स्पष्ट करके यह बतलाता हूं कि सात्त्विक पुरुष किस प्रकार मोक्ष रूपी रत्न के दर्शन प्राप्त करता है। सुनो।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

"सारे विश्व का मूल कारण और विश्रान्ति का स्थल जो अनादि परब्रह्म है; उसका नाम तो एक ही है, परन्तु यह तेहरा या तीन प्रकार का है। यदि वास्तव में देखा जाय तो परब्रह्म का न तो कोई नाम ही है और न कोई जाति ही है। परन्तु इस मायाजनित मोह के अन्धकार में परब्रह्म की कुछ कल्पना कराने के लिए उसका यह नाम केवल पहचान के लिए रख दिया है। जब कोई बालक जन्म लेता है, तब वह अपने साथ नाम लेकर नहीं आता। परन्तु आगे चलकर उसका जो नाम रखा जाता है, उस नाम से पुकारते ही वह तुरन्त बोल उठता है। जब संसार के दुःख से पीड़ित जीव अपने कष्टों की बातें कहने लगते हैं, तब उनके जिस नाम के पुकारने पर ब्रह्मतत्त्व बोल उठता और उसका उत्तर देता है, वही यह सांकेतिक अर्थात् पहचान का नाम है। वेदों ने जगत् पर कृपा करके अपनी दिव्यदृष्टि से एक ऐसा मन्त्र ढूंढ़ निकाला है जिसकी सहायता से ब्रह्मतत्त्व वाचा के प्रान्त में आ सकता है और उसके अद्वैत स्वरूप का व्यक्त रूप से अनुभव किया जा सकता है। जब उस एक मन्त्र का उच्चारण करके ब्रह्म को पुकारा जाता है, तब वह पीछे होने पर भी सामने आ जाता है। परन्तु इस मन्त्र का ज्ञान उन्हीं लोगों को होता है जो वेदरूपी पर्वत के ऊपर उपनिषद्-रूपी नगर में ब्रह्म की पंक्ति में बैठे रहते हैं। केवल यही नहीं, बल्कि स्वयं ब्रह्मा में विश्व को उत्पन्न करने की जो शक्ति है, वह जिस नाम की एक ही आवृत्ति से उसे प्राप्त हुई है, वह भी यही नाम है। हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन,

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

"और हे अर्जुन, यवनों की बस्ती में, जंगल में, अपवित्र देश-विभाग में, छावनी में अथवा नगर के चौरास्ते पर ठीक सन्ध्या समय अथवा रात को चोरी का धन दान करना; और वह दान भी किसे करना ! भाट, बाजीगर, वेश्या या जुआरी सरीखे ऐसे लोगों को जो नितान्त भ्रम में पड़े हों और दूसरों को ठगते हों; तिस पर सामने रूपवती और लावण्यवती स्त्रियों का नाच हो, आंखों में चरबी छाई हो और खुशामदी लोगों की की हुई स्तुतियां बराबर कान में सुनाई पड़ती हों, तिस पर ऐसे समय में जबकि फूलों और दूसरे सुगन्धित द्रव्यों की कोमल सुगन्धों के कारण अंगों में मानों विषय-लोभ के वेताल का ही संचार हो रहा हो, सारे संसार को लूटकर इकट्ठा की हुई सम्पत्ति इस प्रकार दान करना कि मानों नीचों और दुष्टों के लिए अन्न-सत्र ही खोल दिया गया हो, उस दान को तथा इस प्रकार के और भी दानों को मैं तामस कहता हूं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी दैवयोग से एक और प्रकार भी हो जाता है। वह भी सुन लो। जिस प्रकार कीड़ों की खाई हुई लकड़ी पर रेखाओं के योग से कभी-कभी कुछ अक्षर बन जाते हैं अथवा दोनों हाथों से ताली बजाते समय आपसे आप कोई कौआ दोनों हथेलियों के बीच मे आ जाता है, ठीक उसी प्रकार कभी-कभी तामस पुरुष के लिए भी शुभकाल तथा पवित्र स्थल का योग प्राप्त हो जाय और ऐसे योग पर कोई ऐसा पुरुष भी उसके पास दान मांगने के लिए आ जाय जो दान लेने का उपयुक्त पात्र हो और द्रव्य की आवश्यकता के कारण वह याचना कर बैठे, तो उस तामस पुरुष के मन में श्रद्धा का कहीं नाम भी नहीं होता, इसलिए वह उस अतिथि को नमस्कार भी नहीं करता और स्वयं ही अर्घ्य, पाद्य आदि उसे अर्पित करके उसका आदर-सत्कार करता है और न किसी दूसरे से ही इस प्रकार उसका आदर-सत्कार कराता है, यहां तक कि अभ्यागत के बैठने के लिए उसे आसन तक नहीं देता। ऐसी अवस्था में गन्ध और अक्षत आदि के द्वारा उसकी पूजा करने का कोई जिक्र ही नहीं हो सकता ! हे अर्जुन, तामसी पुरुषों के हाथों इसी प्रकार का अशास्त्रीय तथा अपमानकारक व्यवहार होता है। यदि उसने उस याचक का बहुत सत्कार किया तो उसी प्रकार उसके हाथ पर बहुत ही थोड़ा-सा द्रव्य रख देता है, जिस प्रकार कोई कर्जदार तगादा करने वाले के हाथ पर कुछ रखकर अपना पीछा छुड़ाता है। और इस प्रकार दान देते समय भी उसके मुंह से अबे-तबे आदि की तरह की अपमानकारक बातें बराबर निकलती रहती हैं। और हे अर्जुन, इस प्रकार जो दान वह किसी को देता है, उसका वह तामसी दानकर्ता उस गृहीता से बार-बार उल्लेख भी करता जाता है और भली-बुरी बातें कहकर उसका अपमान भी करता चलता है। परन्तु इस विषय का यथेष्ट विस्तार हो चुका। हे अर्जुन, इस प्रकार जो द्रव्य दान किया जाता है, उसे सर्वत्र तामस दान ही कहते हैं। इस प्रकार मैंने तुम्हें राजस, तामस आदि तीनों प्रकार के दान ऐसे लक्षणों सहित बतला दिये हैं जिनसे वे सहज में पहचाने जा सकते हैं। परन्तु हे सुविज्ञ अर्जुन, मुझे ऐसा जान पड़ता है कि कदाचित् तुम्हारे मन में इस प्रकार की कल्पना हो सकती है कि यदि संसार से मोक्ष दिलाने वाला एकमात्र सात्त्विक कर्म ही है, तो फिर दूसरे बन्धनकारक दुष्ट कर्मों का वर्णन क्यों होता है ? तो इसका उत्तर यही है कि जब तक भूत नहीं भगाया जाता, तब तक जमीन में गड़ा हुआ धन नहीं मिलता और न धुएं का कष्ट सहे बिना दीपक की बत्ती ही जलती है। इसीलिए शुद्ध सत्त्व को छिपाने वाले जो-जो रज और तम के आवरण हैं, उन आवरणों को फाड़कर दूर करने का कृत्य भला कैसे बुरा कहा जा सकता है ? मैंने जो अभी (अर्थात् दूसरे श्लोक से लेकर बाईसवें श्लोक तक) यह बतलाया है कि श्रद्धा से लेकर दान तक समस्त कर्म-समूह तीनों गुणों से व्याप्त रहते हैं, उनमें से मैं केवल तीन ही प्रकार का वर्णन करना चाहता था; परन्तु सत्त्व का ठीक-ठीक स्वरूप स्पष्ट करने के लिए ही मैंने और प्रकारों का भी वर्णन किया है। जो वस्तु दूसरी दो वस्तुओं के ठीक मध्य में दबी हुई रहती है, उसका ठीक-ठीक स्वरूप

तभी स्पष्ट होता है, जब उस वस्तु को दबाने या छिपाने वाली बाकी दोनों वस्तुओं का स्वरूप स्पष्ट कर दिया जाय। जब दिन और रात दोनों का त्याग कर दिया जाय, तब सन्ध्याकाल का ठीक-ठीक प्रत्यय हो जाता है। ठीक इसी न्याय से जब रज और तम का नाश हो जाता है, तब जो सत्त्व बाकी रह जाता है, वह आपसे आप मूर्तिमान होकर सामने आ जाता है। इसी विचार से और सत्त्व का पूरा-पूरा ज्ञान तुम्हें कराने के लिए ही मैंने इस समय रज और तम का भी निरूपण किया है। तुम रज और तम को छोड़कर सत्त्व गुण की सहायता से अपने कर्त्तव्य का पालन करो। तुम निर्मल सत्त्व गुण से युक्त होकर ही यज्ञ आदि कर्मों का आचरण करो; बस फिर तुम्हें अपना आत्म स्वरूप प्राप्त हो जायगा। जब स्वयं सूर्य ही दिखलाने वाला बन जाय तो फिर भला ऐसी कौन-सी चीज हो सकती है जो दिखाई न दे ? ठीक इसी प्रकार यदि सत्त्व की सहायता से कार्य किया जाय तो ऐसा कौन-सा फल है जो प्राप्त न हो सकता हो ? तात्पर्य यह कि इस बात में कुछ भी सन्देह नहीं कि जितने प्रकार की शक्तियों की आवश्यकता होती है, वे सब सत्त्व गुण में पाई जाती हैं। परन्तु मोक्ष प्राप्त करके आत्मस्वरूप में समरस हो जाना कुछ और ही बात है। जिस समय उसकी सहायता प्राप्त होती है, उस समय मोक्ष के प्रान्त में भी आपसे आप प्रवेश हो जाता है। सोना चाहे पन्द्रह रुपये तोले का (यह ज्ञानेश्वर महाराज के समय का भाव है।—अनु.) और बिलकुल चोखा ही क्यों न हो, परन्तु फिर भी वह व्यवहार के लिए तभी उपयुक्त होता है, जब उस पर राजा के नाम का ठप्पा होता है। यह ठीक है कि निर्मल, ठंडा और सुगन्धित जल बहुत सुखकर होता है, परन्तु फिर भी उसे पवित्रता तभी प्राप्त होती है, जब उसका सम्बन्ध किसी तीर्थ से होता है। यों साधारण नदी चाहे कितनी ही बड़ी क्यों न हो परन्तु जब किसी महानदी के साथ उसका संगम होता है, तभी समुद्र में भी उसका प्रवेश हो सकता है। ठीक इसी प्रकार हे अर्जुन, जो लोग सात्त्विक कर्म करने वाले होते हैं उनके लिए मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग में किसी प्रकार की अड़चन नहीं रह जाती। परन्तु यह प्रश्न कुछ अलग ही है।" यह सुनकर अर्जुन की उत्सुकता इतनी अधिक बढ़ी कि वह उसके अन्तरंग में समा न सकी। उसने श्रीकृष्ण से कहा—"हे देव, आप कृपाकर उस प्रश्न के सम्बन्ध की भी कुछ बातें मुझे बतलावें।" उस समय दयालु-श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ने उससे कहा—"अच्छा, अब मैं तुम्हें स्पष्ट करके यह बतलाता हूं कि सात्त्विक पुरुष किस प्रकार मोक्ष रूपी रत्न के दर्शन प्राप्त करता है। सुनो।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

"सारे विश्व का मूल कारण और विश्रान्ति का स्थल जो अनादि परब्रह्म है; उसका नाम तो एक ही है, परन्तु यह तेहरा या तीन प्रकार का है। यदि वास्तव में देखा जाय तो परब्रह्म का न तो कोई नाम ही है और न कोई जाति ही है। परन्तु इस मायाजनित मोह के अन्धकार में परब्रह्म की कुछ कल्पना कराने के लिए उसका यह नाम केवल पहचान के लिए रख दिया है। जब कोई बालक जन्म लेता है, तब वह अपने साथ नाम लेकर नहीं आता। परन्तु आगे चलकर उसका जो नाम रखा जाता है, उस नाम से पुकारते ही वह तुरन्त बोल उठता है। जब संसार के दुःख से पीड़ित जीव अपने कष्टों की बातें कहने लगते हैं, तब उनके जिस नाम के पुकारने पर ब्रह्मतत्त्व बोल उठता और उसका उत्तर देता है, वही यह सांकेतिक अर्थात् पहचान का नाम है। वेदों ने जगत् पर कृपा करके अपनी दिव्यदृष्टि से एक ऐसा मन्त्र ढूंढ निकाला है जिसकी सहायता से ब्रह्मतत्त्व वाचा के प्रान्त में आ सकता है और उसके अद्वैत स्वरूप का व्यक्त रूप से अनुभव किया जा सकता है। जब उस एक मन्त्र का उच्चारण करके ब्रह्म को पुकारा जाता है, तब वह पीछे होने पर भी सामने आ जाता है। परन्तु इस मन्त्र का ज्ञान उन्हीं लोगों को होता है जो वेदरूपी पर्वत के ऊपर उपनिषद्-रूपी नगर में ब्रह्म की पंक्ति में बैठे रहते हैं। केवल यही नहीं, बल्कि स्वयं ब्रह्मा में विश्व को उत्पन्न करने की जो शक्ति है, वह जिस नाम की एक ही आवृत्ति से उसे प्राप्त हुई है, वह भी यही नाम है। हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन,

[illegible] ब्रह्मा इतने घबरा गये थे कि वे मुझे (अर्थात् ईश्वर को) ही भूल गये थे; और इसीलिए [illegible] नहीं कर सकते थे। परन्तु जिस नाम की सहायता से उनमें सृष्टि उत्पन्न करने की सामर्थ्य आई [illegible] मनन करने के कारण और जिन तीन अक्षरों का जप करने के कारण ब्रह्मा को सृष्टि उत्पन्न [illegible] शक्ति प्राप्त हुई थी वह यही मन्त्र है। फिर उन्होंने ब्राह्मण उत्पन्न किये, उन्हें वेदों का अनुसरण करने का [illegible] दिया और यज्ञकर्म को उनके निर्वाह का साधन बना दिया। इसके उपरान्त उन्होंने इतने अपरम्पार मनुष्य [illegible] किये कि उनकी गिनती ही नहीं हो सकती। उन सबके निर्वाह के लिए ब्रह्मा ने तीनों भुवनों का मानों दानपत्र [illegible] दिया। जिस नाम मन्त्र के प्रभाव से प्रजापति ब्रह्मा ऐसा अद्भुत कार्य कर सके थे, अब तुम उसका स्वरूप सुनो।'' [illegible] यही बात अर्जुन से भगवान् ने कही थी। इसके उपरान्त उन्होंने फिर कहा—''समस्त मन्त्रों का अधिपति जो प्रणव (अर्थात् ओंकार) है, उसे इस नाम का पहला वर्ण समझना चाहिए। उसका दूसरा वर्ण तत् है और तीसरा वर्ण सत् है। इस प्रकार यही ओंतत्सत् उस ब्रह्म का तेहरा नाम है। उपनिषदों के अर्थ या सार रूपी इस सुन्दर पुष्प की सुगन्धि का तुम उपभोग करो। जब इस नाम के साथ एकरूप होकर सात्त्विक कर्मों का आचरण किया जाता है तभी मनुष्य कैवल्य को अपने घर का दास बना लेता है। हे अर्जुन, यदि दैव अनुकूल हो तो सम्भव है कि हमें कपूर के अलंकार भी प्राप्त हो जायं। परन्तु यह समझना बहुत ही कठिन है कि वे अलंकार शरीर पर धारण किस प्रकार किये जायंगे ! ठीक इसी प्रकार यदि सत्कर्मों का आचरण भी किया जाय और ब्रह्म के नाम का उच्चारण भी किया जाय तो भी यदि विनियोग (अर्थात् व्यवस्था या शास्त्रोक्त विधियों) का ज्ञान न हो तो जिस प्रकार असंख्य साधुजनों के घर आने पर भी उनका उपयुक्त आदर-सत्कार न हो सकने के कारण अपने पास की पुण्याई भी नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार अथवा जिस प्रकार गहने पहनने की कामना से कुछ नग और सोने के डले आदि कहीं से इकट्ठा करके यों ही बांधकर गले में लटका लिये जाते हैं, यदि मुख ब्रह्म के नाम का उच्चारण करता हो और हाथों से सात्त्विक कर्म भी होते हों, परन्तु यदि उसके विनियोग का ज्ञान न हो तो ये सब कृत्य व्यर्थ हो जाते हैं। अन्न और भूख दोनों पास ही रहते हैं। परन्तु यदि बालक को भोजन करना न आता हो तो फिर उसे उपवास ही करना पड़ेगा। अथवा हे वीर अर्जुन, यदि तेल, बत्ती और अग्नि तीनों ही पास हों, परन्तु यह ज्ञान न हो कि उन सबकी योजना किस प्रकार की जाती है, तो प्रकाश किसी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार यदि उपयुक्त समय पर कर्म भी होता हो और उसका मन्त्र भी स्मरण हो, परन्तु उसके विनियोग का ज्ञान न हो तो सभी बातें निष्फल हो जाती है। इसीलिए इन तीनों वर्णों के योग से बना हुआ परब्रह्म का जो एक नाम है, उसका विनियोग तुम सुनो।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

''इस नाम के तीनों अक्षरों की कर्म के आरम्भ, मध्य और अन्त तीनों स्थानों में योजना करनी चाहिए। हे अर्जुन, इसी व्यवस्था से ब्रह्मवेत्ताओं ने ब्रह्मस्वरूप प्राप्त किया है। जो लोग शास्त्रों के ज्ञान के कारण कर्मनिष्ठ हो जाते हैं, वे ब्रह्म के साथ एकता प्राप्त करने के लिए बिना यज्ञ आदि कर्म किये नहीं रहते। परन्तु आरम्भ में वे लोग ओंकार को अपने ध्यान में रखते हैं और तब वाचा से भी उसका उच्चारण करते हैं। ओंकार के ध्यान और उसके स्पष्ट उच्चारण के साथ वे लोग कर्म-मार्ग में प्रवृत्त होते हैं। जिस प्रकार अंधेरे में जाते समय जलता हुआ दीपक अथवा जंगल में जाते समय बलवान् मनुष्य अपने साथ रखना चाहिए, उसी प्रकार कर्म का आरम्भ करते समय प्रणव का आधार लेना चाहिए। ब्रह्मवेत्ता लोग अपने इष्ट देवता के उद्देश्य से धर्म द्वारा अर्जित अनेक प्रकार के द्रव्य ब्राह्मण के हाथों अग्नि में आहुति के रूप में डलवाते हैं। वे लोग शास्त्रोक्त विधियों के अनुसार दक्षतापूर्वक आहवनीय आदि तीनों अग्नियों में तीनों समय आहुति देकर यज्ञकर्म का आचरण करते हैं। वे अनेक प्रकार के

पचकर एकदम से बिलकुल सद्रूप हो जाते हैं। इस प्रकार इस सत् शब्द का अन्तःस्थ उपयोग तुम ध्यान में रखो।" यही भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं। ये सब बातें मैं अपनी ओर से नहीं कह रहा हूं। परन्तु यदि इस प्रकार यह बात कही जाय तो भगवान् के सम्बन्ध में द्वैतभाव का दोष उत्पन्न होता है। अतः यही निश्चय करना चाहिए कि यह सब कथन भी भगवान् का ही है। (अर्थात् भगवान् की कही हुई ये बातें मैं नहीं कह रहा हूं, बल्कि स्वयं भगवान् ही मेरे अन्दर से कह रहे हैं।) भगवान् कहते हैं—"अब इस सत् शब्द का सात्त्विक कर्मों के लिए एक और भी उपकारक प्रयोग होता है। वह भी सुन लो। सब लोग अपने-अपने अधिकार के अनुसार अच्छी तरह सत्कर्म करते रहते हैं। परन्तु जब कुछ कारणों से वे कर्म किसी अंग से हीन होते हैं, तब जिस प्रकार कोई अवयव खंडित या पीड़ित होने के कारण शरीर ठीक तरह से नहीं चलता अथवा जिस प्रकार वह गाड़ी नहीं चल सकती जिसमें पहिया नहीं होता, उसी प्रकार किसी वैगुण्य या न्यूनता के कारण 'सत्' कर्म भी 'असत्' हो जाते हैं। फिर ओंकार तथा तत्कार की सहायता के लिए यह सत्कार आ पहुंचता है और इससे उन हीन कर्मों की हीनता भी दूर हो जाती है—वे कर्म भी ऊंचे होकर सर्वांगपूर्ण हो जाते हैं। यह सत् उन कर्मों का असत्पन दूर करके और उन्हें अच्छी तरह रूढ़ करके अपने सत्त्व की सामर्थ्य से उसी प्रकार हीन कर्मों को सर्वांगपूर्ण कर देते हैं, जिस प्रकार कोई दिव्य औषधि रोगग्रस्त पुरुष को रोगों से मुक्त कर देती है अथवा पीड़ित मनुष्य को पीड़ारहित कर देती है। कभी-कभी किसी भूल के कारण कुछ कर्म विधि-नियमों का उल्लंघन करके निषिद्ध मार्ग में जा लगते हैं, क्योंकि चलने वाले ही मार्ग भूलते हैं और पारखी को ही भ्रम होता है। भला यह बात निश्चयपूर्वक कौन कह सकता है कि व्यवहार में क्या-क्या नहीं हो जाता ? इसीलिए जब इस प्रकार अविचार के कारण कर्म की मर्यादा नष्ट हो जाती है, और जब वे कर्म दुष्कर्म होने के मार्ग में लग जाते हैं, तब, हे भाई अर्जुन, यदि इस 'सत्' शब्द का प्रयोग ओंकार और तत्कार के प्रयोग से भी अधिक सावधानतापूर्वक किया जाय तो यह उस कर्म को निर्मल कर देता है। जिस प्रकार लोहे के लिए पारस पत्थर की रगड़ या किसी नाले के लिए गंगा का संगम या मृतक के लिए अमृत की वर्षा होती है, उसी प्रकार, हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, स-दोष कर्म के लिए सत् शब्द का प्रयोग भी कल्याणकारक होता है। इस शब्द का इतना अधिक महत्त्व है। इस स्पष्टीकरण के रहस्य का ध्यान रखकर तुम जब इस नाम का विचार करोगे, तब यह बात तुम्हारे अनुभव में आ जायगी कि यह केवल परब्रह्म ही है। जिस स्थान से इस नाम रूपात्मक वस्तुमात्र की उत्पत्ति होती है, उसी स्थान पर जीव इस ओं-तत्सत् का उच्चारण करने से पहुंच जाता है। वह स्थान केवल अखंड शुद्ध परब्रह्म ही है और यह नाम उसमें रहने वाली सामर्थ्य का दर्शक है। परन्तु आकाश के लिए जिस प्रकार स्वयं आकाश का ही आधार रहता है, उसी प्रकार इस नाम के लिए भी इस नाम का ही अखंड आधार है। आकाश में उदित होने वाला सूर्य जिस प्रकार स्वयं ही अपने आपको प्रकट करता है, उसी प्रकार यह नाम भी अपने ब्रह्मस्वरूप को स्वयं ही प्रकट करता है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

"इसलिए तुम यह न समझ लो कि यह नाम केवल तीन वर्णों का समूह ही है; बल्कि इसे तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म ही समझो। इसीलिए जो-जो कर्म किये जायं, फिर चाहे वे यजन हों, चाहे दान हों और चाहे तप आदि हों, वे चाहे यथा-विधि पूरे उतर जायं अथवा न्यून होकर अधूरे ही रह जायं, परन्तु जिस प्रकार पारस की कसौटी पर रगड़े जाने के कारण खरे और खोटे सोने का भेद कभी रह ही नहीं सकता (क्योंकि पारस का स्पर्श ही सबको शुद्ध सोना बना देगा), उसी प्रकार समस्त कर्म ब्रह्मार्पण होने पर ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं। जिस प्रकार समुद्र में मिल जाने पर नदियां अलग-अलग नहीं की जा सकतीं, उसी प्रकार ब्रह्मार्पण किये हुए कर्मों में न्यून और पूर्ण का कोई भेद रह ही नहीं जाता। इस प्रकार, हे सुविज्ञ अर्जुन, मैंने तुम्हें ब्रह्म के नाम की सामर्थ्य बतला दी है। और हे वीर पार्थ,

इस नाम के भिन्न भिन्न वर्णों का प्रयोग भी मैने तुम्हें सुन्दर भाषा में बतला दिया है। इस प्रकार इस नाम का बहुत अधिक महत्त्व है और इसीलिए यह ब्रह्म नाम है। अब तुम इसका रहस्य समझ गये न ? इसलिए अब मैं यही चाहता हूं कि आज से तुममें इस नाम की श्रद्धा बराबर बढ़ती रहे, क्योंकि इस नाम का जब उदय होता है, तब यह जन्म-बन्धन का कहीं ठौर-ठिकाना भी नहीं रहने देता। जिस कर्म में इस सत् शब्द की व्यवस्था का प्रयोग किया जायगा, वह कर्म मानों सांग-वेद के अनुष्ठान के ही समान हो जायगा।

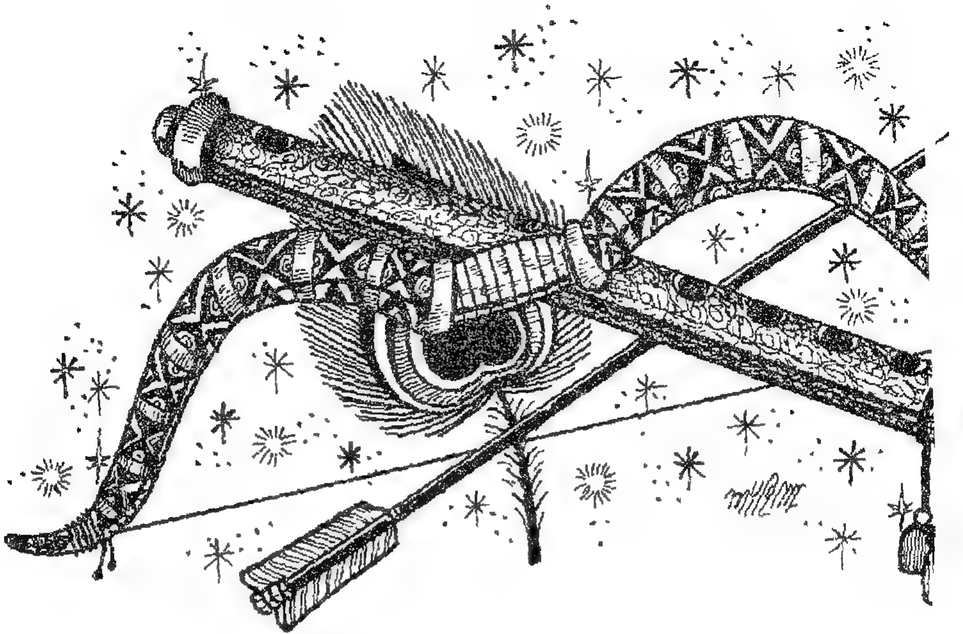
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

"परन्तु यदि इस व्यवस्था को दूर करके, श्रद्धा को छोड़कर और दुराग्रहपूर्वक करोड़ों अश्वमेध यज्ञ भी किये जाय, रत्नों से भरकर सारी पृथ्वी दान कर दी जाय, एक अंगूठे पर खड़े रहकर सहस्रों तप किये जायं, इतने बड़े बड़े तालाब और कुएं आदि बनवाये जायं कि मानों दूसरे समुद्र ही हों, परन्तु ये सब बातें बिलकुल निष्फल होती हैं। जिस प्रकार पत्थर पर बरसा हुआ जल, राख में दी हुई आहुति, छाया के साथ किया हुआ आलिंगन अथवा आकाश को मारा हुआ थप्पड़ व्यर्थ होता है, उसी प्रकार, हे अर्जुन, ये समस्त कर्म-समारम्भ भी बिलकुल व्यर्थ ही हो जाते हैं। अगर कोल्हू की घानी में पत्थर के टुकड़े डाले जायं तो न उनमें से तेल ही निकलता है और न खली ही निकलती है। ठीक इसी प्रकार इस कर्म-समारम्भ से भी किसी तरह का लाभ नहीं होता; हां उलटे दारिद्र्य आकर साथ लग जाता है। अपने पास केवल भीख मांगने का खप्पर रखकर चाहे कोई अपने देश में घूमे और चाहे किसी दूसरे देश में चला जाय, परन्तु उसका कहीं कुछ भी मूल्य नहीं मिलता और उसे ले जाने वाले के लिए भूखों मरने की ही नौबत आती है। ठीक इसी प्रकार इस तरह के कर्मों के आचरण से पारलौकिक लाभ की बात तो दूर रही, कोई ऐहिक लाभ नहीं होता। तात्पर्य यह कि यदि ब्रह्म के नाम के प्रति श्रद्धा न हो तो जो काम किया जाता है, वह इस लोक में भी और परलोक में भी निरर्थक ही सिद्ध होता है।" पाप रूपी हाथी का संहार करने वाले सिंह और त्रिताप रूपी अन्धकार को दूर करने वाले सूर्य जो लक्ष्मीकान्त वीर नरश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण हैं, उन्होंने यही सब बातें कही थीं। जिस प्रकार चांदनी में स्वयं चन्द्रमा भी छिप जाता है, उसी प्रकार उस समय अर्जुन भी अपरम्पार आत्मानन्द में पूर्ण रूप से निमग्न हो गया था। संग्राम भी एक प्रकार का व्यापार ही है। उसमें बाणों के अग्रभाग को मापने का साधन बनाकर उसके द्वारा मांस काट-काटकर जीवित मनुष्य ही नापे जाते हैं। ऐसे भयंकर प्रसंग में अर्जुन को स्वानन्द-साम्राज्य का सुख भोगना भला कैसे शोभा देता था ? परन्तु वास्तव में अर्जुन के समान भाग्य इस संसार में और किसी का नहीं है। संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—"हे कौरवराज, अपने पुत्र (अर्थात् अर्जुन) का यह गुण देखकर सचमुच उसके सम्बन्ध में प्रेमपूर्ण आदर का भाव ही उत्पन्न होता है। और हम लोगों को सुख के मन्त्र उपदेश करने के लिए यह हमारा गुरु हुआ है। यदि इस अर्जुन ने प्रश्न ही न किया होता तो भगवान् ने अपने हृदय का रहस्य क्यों खोला होता ! और तब हम लोगों को भी परमार्थ के दर्शन किस प्रकार होते ! हम लोग अज्ञान के अन्धकार में जैसे-तैसे जन्म बिता रहे थे; परन्तु उसने हम लोगों को आत्मज्ञान के प्रकाश-मन्दिर में ला पहुंचाया है। हम लोगों पर उसने यह कितना बड़ा उपकार किया है ! वास्तव में गुरु के नाते से उसे श्री व्यासदेव का सगा भाई ही समझना चाहिए।" ऊपर से यह बात कहकर संजय अपने मन में सोचने लगा—"मैं जो अर्जुन की बहुत अधिक स्तुति कर रहा हूं, यह धृतराष्ट्र के अन्तःकरण में खटकेगी, इसलिए अब इस सम्बन्ध में और कुछ न कहना ही अच्छा है।" यही विचार करके वह उस समय चुप रहा। फिर उसने वह प्रसंग छेड़ दिया जो अर्जुन ने उस समय श्रीकृष्ण से स्पष्ट करने के लिए कहा था। जो कुछ संजय ने किया था, वही अब मैं भी करूंगा। श्री निवृत्तिनाथ के शिष्य ज्ञानदेव की प्रार्थना है कि श्रोता लोग इधर ध्यान दें।





अठारहवा अध्याय



मोक्षसंन्यासयोग

हे निर्दोष परमेश्वर, मैं आपका जय-जयकार करता हूं। आप अपने भक्तों का सब प्रकार से
आप ही जन्म तथा जरा रूपी मेघ मंडल का नाश करने वाले प्रभंजन प्रचंड वायु हैं। दल
अमंगलों का नाश करते हैं और वेदशास्त्र-रूपी वृक्ष के जो फल हैं, वे फल भी आप ही
विरक्तों पर आपका प्रेम रहता है, आप काल की सामर्थ्य को भी रोकते है और इतना होने
से परे हैं। हे अटल देव, आप चंचल चित्तों का प्राशन करके तोन्दल हुए हैं—चंचल चि
आपका पेट फूला हुआ है। जगत् को विकसित करके उसमें क्रीड़ा करना आपको बहुत अ
देव, आप उत्कट अति आनन्द को स्फूर्ति देने वाले हैं। आप सब प्रकार के दोषों का
हैं। आप विश्व के मूल आधार हैं। हे स्वयं प्रकाश देव, इस जगत्-रूपी मेघ को आश्रय
ही हैं। जिस मूल स्तम्भ पर इस सारे विश्व की रचना हुई है, वह स्तम्भ भी आप ही हैं
रूपी संसार का विध्वंस करते हैं। हे अत्यन्त शुद्ध देव, केवल अज्ञान के ही नहीं, बल्कि
नाश करने वाले हाथी, शम और दम के द्वारा मदन का अभिमान तोड़ने वाले और दय
हैं। हे एक-स्वरूप देव, आप काम-रूपी सर्प का गर्व दूर करने वाले, भक्तों के भक्ति रू
करने वाले दीपक और ताप शान्त करने वाले हैं। हे अद्वितीय परमेश्वर, जिन लोगों की श
को पहुंची हुई होती है, उन्हें आप अत्यन्त प्रिय होते हैं। अपने भक्तों के आप अंकित हो
के द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं, परन्तु माया के लिए आपका स्वरूप अगम्य है। हे श्रीसद
ऐसे अद्भुत फल देने वाले कल्पवृक्ष हैं जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। आप ऐसे

आत्मज्ञान के वृक्ष का बीज लगता है और उसमें से अंकुर निकलते हैं। हे महाराज, मैं आपका जय-जयकार करता हूं। परन्तु आप ऐसे हैं कि आपके विशिष्ट लक्षण मन के द्वारा नहीं जाने जा सकते और न वाचा से उनका उच्चारण ही हो सकता है इसलिए आपके उद्देश्य अनेक प्रकार के शब्दों की योजना करके मैं आपके स्तोत्रों की कहां तक रचना करूं ! आपके विशेष लक्षण बतलाने के लिए जिन-जिन विशेषणों का प्रयोग किया जाय, उनके सम्बन्ध में यही बात मन में आती है कि वे सब विशेषण आपके वास्तविक स्वरूप के बाधक नहीं हो सकते और इसीलिए मैं केवल लज्जित हो रहा हूं। सागर सदा अपनी मर्यादा के अन्दर ही रहता है। परन्तु यह नियम तभी तक देखने में आता है, जब तब चन्द्रमा का उदय नहीं होता है। सोमकान्त मणि स्वयं अपने अंग की आर्द्रता से चन्द्रमा को कभी अर्घ्य प्रदान नहीं करती, परन्तु स्वयं चन्द्रमा ही उससे यह कृत्य कराता है। बसन्त का आगमन होने पर समस्त वृक्षों में नये-नये पत्ते और नये-नये अंकुर निकल आते हैं; परन्तु स्वयं उन वृक्षों को यह पता नहीं चलता कि हममें ये नये पत्ते और नये अंकुर कैसे निकल आये। सूर्य की किरणों का स्पर्श होते ही कमलिनी का संकोच नाम को भी बाकी नहीं रह जाता और जल का संयोग होते ही नमक अपने शरीर की सुध-बुध भूल जाता है। ठीक इसी प्रकार, हे गुरु महाराज, ज्यों ही मुझे आपका स्मरण होता है, त्यों ही मैं स्वयं अपने आपको भूल जाता हूं। भर पेट भोजन करके तृप्त होने वाला पुरुष खूब डकार लेने लगता है। ठीक उसी पुरुष की-सी अवस्था, हे गुरु महाराज, आपने मेरी भी कर दी है। मेरे अहंभाव को आपने मानों देश-निकाला दे दिया है और मेरी वाणी पर ऐसा पागलपन सवार करा दिया है कि वह आपकी स्तुति करने लगी है। परन्तु यदि अपने शरीर का मान रखकर भी आपकी स्तुति की जाय तो भी गुण और गुणी में भेदभाव करना ही पड़ता है। परन्तु आप तो एक-जात और एक ही ब्रह्मानन्द स्वरूप की मूर्ति हैं। फिर जिस प्रकार का भेद गुण और गुणी में होता है, उस प्रकार का भेद भला आपमें कहां से हो सकता है ! और फिर क्या इस प्रकार का भेदभाव करना इष्ट भी है ? ठीक इसी प्रकार माता और पिता के रूप में आपकी कल्पना करके आपकी स्तुति करना ही उचित नहीं है, क्योंकि उस स्तुति में बालक या सन्तान वाली उपाधि का दोष आ जाता है। हे महाराज, यदि मैं यह कल्पना करूं कि मैं आपका सेवक हूं, तो फिर आपमें स्वामी या गुरु के भाव का आपसे आप आरोप हो जाता है। फिर इस प्रकार की उपाधियों से दूषित वर्णन करने का अर्थ ही क्या हो सकता है ? और ऐसी स्तुति से लाभ ही क्या हो सकता है ? यदि मैं यह कहूं कि आप आत्मा हैं तो मानों आप सरीखे ज्ञानदाता को मैं अपने हृदय से निकालकर बाहर कर देता हूं। इसलिए हे गुरुदेव, मुझे तो इस संसार में ऐसा कोई सुभीता नहीं दिखाई देता जिससे मैं आपकी स्तुति कर सकूं। आप मौन के अतिरिक्त और किसी प्रकार के अलंकार से अपने आपको अलंकृत नहीं होने देते। आपकी स्तुति करने का अर्थ है मौन रहना, आपकी पूजा और अर्चना करने का अर्थ है कर्मों का अभाव होना और आपका सान्निध्य प्राप्त करने का अर्थ है आपमें ही लीन होकर शून्यत्व को प्राप्त होना। इसलिए प्रेम-मोह का पागलपन, बकवाद कराने के बहाने से मेरे द्वारा आपकी स्तुति कराता है और इसीलिए मैं बड़बड़ करके आपके गुणों का यह वर्णन करता हूं। परन्तु हे देव, आप करुणामय माता के समान हैं, इसलिए यदि आप जैसे-तैसे मेरी ये सब बातें सहन कर लें तो मेरा काम हो जाय। अब आप मेरी वाणी के विस्तार पर गीता-रहस्य की दृढ़ मुद्रा इस प्रकार अंकित करें कि उससे इन सज्जन श्रोताओं का चित्त प्रसन्न हो जाय। यह सुनकर श्रीनिवृत्तिनाथजी ने कहा—"तुम बार-बार इस प्रकार की बातें क्यों कहते हो ? क्या पारस पर लोहे को बार-बार रगड़ना पड़ता है ? (अर्थात् पारस के एक बार के स्पर्श से ही लोहा तुरन्त सोना हो जाता है।)" इस पर मैं ज्ञानदेव कहता हूं—"महाराज, बस यही आपका प्रसाद हो गया। अच्छा अब महाराज इस ग्रन्थ की ओर ध्यान दें। जो गीता-रूपी रत्नजटित मन्दिर के अर्थ-रूपी चिन्तामणि शिला का बना हुआ कलस है, जो समस्त गीता-रहस्य का बोधक है, वह यही अठारहवां

अध्याय है। व्यवहार में यह देखने में आता है कि जब किसी मन्दिर का कलस दूर से दिखाई देता है, तो यही समझा जाता है कि मानों स्वयं देवता के ही दर्शन हो गये। ठीक वही बात इसके सम्बन्ध में भी है; क्योंकि इस एक अध्याय के द्वारा ही गीता का सारा रहस्य ध्यान में आ जाता है। इसीलिए मैं कहता हूं कि बादरायण व्यास ने इस गीता-रूपी मन्दिर पर यह अठारहवां अध्याय मानों कलस के रूप में चढ़ाया है। और इस अध्याय में गीता की जो समाप्ति होती है, उससे यह बात भी स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाती है कि कलस चढ़ जाने के बाद मन्दिर के निर्माण का और कोई काम बाकी नहीं रह जाता। व्यासदेव स्वभावतः बहुत ही चतुर सूत्रकार थे। उन्हीं ने वेद-रूपी रत्नगिरि पर उसके मध्य भाग में उपनिषदर्थ रूपी जमीन में खुदाई करके उसे साफ किया था। उस खुदाई में धर्म, अर्थ और काम रूपी बहुत-सी मिट्टी और पत्थर आदि निकले थे; उन्हीं से उन्होंने उस जमीन के चारों ओर महाभारत रूपी बहुत बड़ा कोट तैयार किया था। उसी कोट में कृष्णार्जुन-संवाद के कौशल से आत्मज्ञान का मैदान खूब अच्छी तरह से साफ करके सुन्दर और स्वच्छ किया। फिर समाधान रूपी डोरियां तानकर और सब शास्त्रों के अर्थो का मसाला डालकर मोक्ष-रेखा की कुरसी या तल-सीमा निश्चित की गई। इस प्रकार इमारत का काम चलते-चलते पन्द्रह अध्यायों तक मकान की पन्द्रह मंजिलें या खंड पूरे हो गये और अध्यात्म-मन्दिर की रचना सम्पूर्ण हो गई। इसके उपरान्त सोलहवें अध्याय में उस मन्दिर के शिखर का भाग बना और सत्रहवें अध्याय में कलस का आधार बैठाया गया। उसी बैठक पर यह अठारहवां अध्याय मानों कलस के रूप में बैठाया गया है। इसी कलस पर व्यासदेव की गीता नामक ध्वजा फहराती रहती है। इसीलिए पहले के सब अध्याय एक-पर-एक चढ़ने वाली मंजिलों के आकार के हैं और उन सबकी पूर्णता प्रस्तुत अध्याय में दिखाई देती है। भवन का जो काम हुआ रहता है, उसे गुप्त न रखकर कलस उसे सदा प्रकट करता रहता है। ठीक इसी प्रकार यह अठारहवां अध्याय भी गीता को आरम्भ से अन्त तक प्रज्वलित और प्रकट करता है। इस प्रकार श्री व्यासदेव ने इस गीता-मन्दिर को पूर्णता तक पहुंचाकर जीवों का अनेक प्रकार से संरक्षण किया है। कुछ लोग जप के बहाने बाहर से ही इस मन्दिर की प्रदक्षिणा करते हैं। कुछ लोग इसके श्रवण पर श्रद्धा रखकर इसकी छाया में विश्राम पाते हैं। कुछ लोग एकाग्र वृत्ति से दक्षिणा और ताम्बूल लेकर अर्थज्ञान के गर्भगृह में सहज ही प्रवेश करते हैं। इस तीसरे प्रकार के जीव तत्काल ही आत्मस्वरूप श्रीहरि के साथ मिल जाते हैं। तो भी इस मोक्ष-मन्दिर में सभी लोग प्रवेश कर सकते हैं। जिस प्रकार बड़े आदमियों के घर में भोजन करने के लिए ऊपर बैठने वालों को भी और नीचे बैठने वालों को भी समान रूप से सब खाद्य पदार्थ परोसे जाते हैं, उसी प्रकार इस गीता का पाठ करने वाले, श्रवण करने वाले और अर्थ ग्रहण करने वाले सभी लोग समान रूप से मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार यह गीता वैष्णव भक्तों के लिए मन्दिर के रूप में है; और अब बातों का ध्यान रखकर ही मैंने यह कहा है कि यह अठारहवां अध्याय मन्दिर का उज्ज्वल कलस है। अब मैं अपनी बुद्धि के अनुसार यह बात स्पष्ट करके बतलाता हूं कि सत्रहवें अध्याय के उपरान्त इस अठारहवें अध्याय का प्रसंग किस प्रकार उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार गंगा और यमुना दोनों का जल जलत्व के विचार से एकरूप ही होता है, परन्तु धारा के विचार से दोनों ही नदियां अलग-अलग दिखाई देती हैं, अथवा स्त्री-रूप और पुरुष-रूप दोनों के वर्तमान रहते हुए भी अर्द्धनारी-नटेश्वर की मूर्ति में उन दोनों रूपों का एक शरीर बना रहता है, अथवा दिन-पर-दिन चन्द्रबिम्ब की बढ़ती हुई कलाओं का प्रसार होने पर भी जिस प्रकार चन्द्रमा के बिम्ब पर उनका कोई अलग-अलग लेप नहीं दिखाई देता, ठीक उसी प्रकार भिन्न-भिन्न चारों चरणों के कारण श्लोक तो अलग-अलग रहते हैं और अध्यायों के अनुक्रम-अंकों के कारण अध्याय भी अलग-अलग दिखाई देते हैं, परन्तु फिर भी ग्रन्थ के विषय के प्रतिपादन का कहीं कोई अलग स्वरूप नहीं है—विषय का प्रतिपादन सभी अध्यायों में समान रूप से हुआ है। रत्न तो भिन्न-भिन्न होते हैं, परन्तु जिस प्रकार

उन्हें जोड़ने वाली डोरी एक ही होती है अथवा बहुत-से मोतियों को एक में पिरोकर जिस प्रकार एक लड़ वाली माला बनती है और उसका एक ही आकार दिखाई देता है अथवा फूलों और उनसे बनी हुई माला की अलग-अलग गिनती नहीं की जा सकती, परन्तु यदि उनकी सुगन्ध की गिनती की जाय तो उसके लिए एक उंगली उठाने के बाद दूरी उंगली उठाने की नौबत ही नहीं आती (अर्थात् उन सबकी एक ही सुगन्ध होती है), ठीक वही बात इन श्लोकों और अध्यायों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। गीता के श्लोक सात सौ और अध्याय अठारह होते हैं, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण का कथन एक ही है, उसमें किसी प्रकार का भेद या अलगाव नहीं है। और मैंने भी बिना यह मार्ग छोड़े ग्रन्थ का अर्थ स्पष्ट किया है। और इसी प्रकार मैं प्रस्तुत प्रश्न का भी स्पष्टीकरण करता हूं। आप लोग सुनें। सत्रहवें अध्याय की समाप्ति पर अन्तिम श्लोक में भगवान् ने कहा है—"हे अर्जुन, बिना ओं-तत्सत् वाले ब्रह्म-नाम पर श्रद्धा रखे हुए जिन कर्मों का आचरण किया जाता है, वे सब कर्म असत् अर्थात् दुष्ट और असत्य होते हैं।" श्रीकृष्ण का यह वचन सुनकर अर्जुन ने अपने मन में यह समझा कि "ऐसा जान पड़ता है कि श्रीकृष्ण के इस वचन ने कर्मनिष्ठों पर दोष लगाया है। परन्तु कर्म करने वाला बेचारा जीव अज्ञान के कारण अन्धा होता है। उन्हें ईश्वर के स्वरूप का ही पता नहीं चलता। फिर उन्हें ओं-तत्सत् वाले ब्रह्म नाम का भला कैसे ज्ञान हो सकता है ? इसके अतिरिक्त जब तक रज और तम दोनों का क्षय नहीं होता, तब तक मनुष्य की श्रद्धा भी बहुत ही निम्न कोटि की रहती है। फिर वह श्रद्धा ब्रह्म नाम पर कैसे हो सकती है ? ऐसी अवस्था में जिस प्रकार हथियारों को आलिंगन करना, डोरी पर दौड़ना या नागिन को खेलाना, प्राणघातक होता है, वैसे ही सब कर्म भी बहुत ही विकट हैं और अनन्त जन्म-मरण के समान दुर्धर संकट इन कर्मों में ही हैं। यदि दैवयोग से मनुष्य के हाथों अच्छे कर्म हो जायं तो उसमें ज्ञान प्राप्त करने की पात्रता आ जाती है। और नहीं तो उन्हीं कर्मों के द्वारा मनुष्य को अधोगति प्राप्त होती है। कर्म के यथा-सांग पूर्ण होने के मार्ग में न जाने कितनी ही बड़ी-बड़ी झंझटें हैं। ऐसी अवस्था में कर्मनिष्ठों को भला कब मोक्ष प्राप्त हो सकता है ? इसलिए यह कर्माचरण का बन्धन तोड़ डालना चाहिए, समस्त कर्मों का त्याग करना चाहिए, और एकमात्र वही संन्यास ग्रहण करना चाहिए जो सब प्रकार से दोष रहित है। कर्म-बाधा के भय की वार्ता भी जिनमें कहीं सुनाई नहीं देती, जिनमें केवल योग से ही आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है, जो ज्ञान को आवाहन करने के मानों मन्त्र ही हैं, जो ज्ञान की फसल पैदा करने के लिए मानों उत्तम खेत ही हैं अथवा जो ज्ञान को खींच लाने वाली डोरी के मानों तन्तु ही हैं, वे दोनों संन्यास और त्याग हैं। इन्हीं दोनों का आश्रय ग्रहण करने पर संसार का सम्बन्ध टूट जाता है। अतः अब भगवान् से संन्यास और त्याग का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए प्रार्थना करना ठीक है।" अपने मन में यही बात सोचकर जब अर्जुन ने भगवान् से त्याग और संन्यास की व्यवस्था का ज्ञान कराने की प्रार्थना की और इस सम्बन्ध में उनसे प्रश्न किया, तब श्रीकृष्ण ने उसे जो उत्तर दिया, वही इस अठारहवें अध्याय में दिया गया है। इस प्रकार जन्म और जनक भाव से एक अध्याय दूसरे अध्याय को जन्म देता है। अब अर्जुन ने जो कुछ पूछा, वह भी सुनिये। उस पांडुकुमार अर्जुन ने भगवान् के अन्तिम वचन ज्ञातृत्व भाव से सुने। यदि वास्तव में देखा जाय तो अब तक उसे तत्त्व-सिद्धान्त का निश्चित ज्ञान हो चुका था। परन्तु भगवान् की बातें अब समाप्त हो गई थीं और उसका प्रेमपूर्ण मन इसे सहन नहीं कर सकता था। जब बछड़े का पेट मां के दूध से भर जाता है, तब भी उसकी यह इच्छा रहती है कि मेरी माता गौ मुझसे दूर न जाय। एकनिष्ठ प्रेम की यही रीति है। वह प्रेम कोई कारण या अवसर न होने पर भी बराबर बोलता ही रहता है और ऐसा प्रेम करने वाले की यह इच्छा होती है कि जो कुछ मैं एक बार देख चुका हूं, वही बार-बार देखता रहूं। और अपनी प्रिय वस्तु का उपयोग करते समय इस प्रकार एकनिष्ठ प्रेम करने वाले का उस प्रिय वस्तु के प्रति और भी अधिक अनुराग होता जाता है। यही इस प्रेम का लक्षण है।

और अर्जुन तो उस प्रेम की मानों मूर्ति ही था। इसीलिए भगवान् के मौन धारण करने पर उसे बहुत अधिक कष्ट होने लगा। जिस प्रकार दर्पण में स्वयं अपना ही रूप देखा जाता है, उसी प्रकार अर्जुन बातचीत के बहाने से उस वस्तु के दर्शन का अनुभव कर रहा था जो व्यवहार में उसे प्राप्त नहीं हो रही थी। वह सोचता था कि जब यह सम्भाषण बन्द हो जायगा, तब यह अद्भुत सुखानुभव भी बन्द हो जायगा। परन्तु उस परम सुख का अर्जुन को चस्का लग चुका था। फिर भला भगवान् का इस प्रकार चुप हो जाना वह कैसे सहन कर सकता था ! इसीलिए उसने त्याग और संन्यास के विषय को निमित्त बनाकर गीता-रूपी वस्त्र की तह फिर से खुलवाई। यह गीता का अठारहवां अध्याय नहीं है, बल्कि मानों एक अध्याय वाली गीता ही है। जब स्वयं बछड़ा ही गौ का दूध दुहने लगे, तब भला उसमें से दूध की धार निकलने में देर कैसे हो सकती है ? ठीक इसी प्रकार ज्यों ही गीता समाप्ति पर आई, त्यों ही अर्जुन फिर पीछे लौट पड़ा और उसने मानों फिर से गीता की पुनरावृत्ति करा डाली। जो अच्छे और सच्चे स्वामी होते हैं, वे सेवक की बात मानकर उसके अनुसार आचरण करते हैं या नहीं ? परन्तु ये सब बातें बहुत हो चुकीं ! अब अर्जुन प्रश्न करता है। वह कहता है—''हे विश्वेश प्रभो, आप मेरी एक प्रार्थना सुनें।

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

''हे देव, संन्यास और त्याग दोनों शब्दों से एक ही अर्थ निकलता है। जिस प्रकार संघात और संघ दोनों शब्दों से केवल संघात ही सूचित होता है, उसी प्रकार मेरी बुद्धि के अनुसार ऐसा जान पड़ता है कि त्याग और संन्यास दोनों शब्दों से केवल त्याग ही सूचित होता है। हे देव, यदि इन दोनों शब्दों में अर्थ का कोई भेद हो तो वह आप कृपाकर स्पष्ट रूप से बतला दें।'' इस पर श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—''हां, इन दोनों शब्दों के अर्थों में भेद है। तो भी हे अर्जुन, मुझे इस बात में कुछ भी सन्देह नहीं है कि तुम्हें त्याग और संन्यास ये दोनों ही शब्द एकार्थी जान पड़ते हैं। यह बात बिलकुल ठीक है कि इन दोनों शब्दों से केवल त्याग ही सूचित होता है। परन्तु इनके अर्थों में भेद होने का कारण यही है कि जब कर्म सब प्रकार से अपने से अलग या दूर कर दिये जाते हैं, तो उसे संन्यास कहते हैं; और कर्म के फलों की कोई कामना न रखने को त्याग कहते हैं। अब मैं इस बात का स्पष्ट रूप से विवेचन करता हूं कि किन-किन कर्मों के फल का त्याग करना चाहिए और कौन-से कर्म ही बिलकुल छोड़ दिये जाने चाहिए। तुम अच्छी तरह इन बातों की ओर ध्यान दो। वनों में और पर्वतों पर असंख्य वृक्ष आपसे आप उगते और बढ़ते हैं, लेकिन धान के पौधे या बागों में के वृक्ष उस प्रकार आपसे आप नहीं होते। बिना जोताई और बोआई के अनेक प्रकार की घासें और जंगल की वनस्पतियां उगती हैं, परन्तु बिना बीज बोये और रोपाई किये खेतों में धान इस प्रकार आपसे आप नहीं हो सकता। अथवा शरीर यद्यपि आपसे आप उत्पन्न होता है, तो भी आभूषण गढ़वाने के लिए परिश्रम ही करना पड़ता है; अथवा नदी तो आपसे आप मिल जाती है, परन्तु कुआं खोदने के लिए परिश्रम करना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार नित्य तथा नैमित्तिक कर्म तो स्वाभाविक रूप से होते रहते हैं, परन्तु यदि मन में उनके फल की आशा न रखी जाय तो वे कर्म कामिक नहीं होते (अर्थात् वे कामना रहित होते हैं) और इसीलिए बन्धन-कारक नहीं होते।

श्रीभगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

''केवल कामना के विस्तार के कारण ही जिन कर्मों का अनुष्ठान होता है, जिनमें अश्वमेध आदि बड़े-बड़े

यज्ञ याग आदि किये जाते है, तालाब और कुए आदि खोदवाये जाते हैं, बाग लगवाये जाते हैं, भूमिदान और ग्रामदान किये जाते हैं तथा और अनेक प्रकार के व्रत आदि किये जाते हैं, तात्पर्य यह कि इस प्रकार के जितने स-काम और इष्टापूर्त कर्म किये जाते हैं, वे सब कर्ता के लिए बन्धक होते हैं और उन कर्ताओं को अनेक फल भोगवाते हैं। हे अर्जुन, जिस प्रकार शरीर रूपी ग्राम में आकार निवास करने पर जन्म और मृत्यु के झगड़ों का अन्त नहीं किया जा सकता अथवा जिस प्रकार ललाट का लिखा हुआ लेख मिटाया नहीं जा सकता अथवा शरीर की त्वचा का जन्मसिद्ध कालापन और गोरापन धोकर दूर नहीं किया जा सकता, ठीक उसी प्रकार कामिक कर्मों का फल भोगने से भी मनुष्य किसी प्रकार बच नहीं सकता। जिस प्रकार ऋण से मनुष्य का तब तक छुटकारा नहीं हो सकता, जब तक वह चुका न दिया जाय, उसी प्रकार इस तरह के कर्मों के फल भी भोग के लिए मानों धरना देकर बैठ जाते हैं और उन्हें बिना भोगे किसी तरह छुटकारा नहीं हो सकता। अथवा हे अर्जुन, यदि प्रत्यक्ष रूप से कामना न की जाय और यों ही सहज भाव से इस प्रकार के कामिक कर्म किसी के हाथ से हो जायं, तो भी जिस प्रकार भुथरे बाणों के साथ यों ही विनोद में लड़ने पर भी मनुष्य घायल हो जाता है अथवा जिस प्रकार अनजान में मुंह में डाला हुआ गुड़ भी मीठा लगता है अथवा जिस प्रकार राख समझकर मुंह में डाला हुआ अंगारा भी मुंह को जला देता है, उसी प्रकार बन्धकत्व भी काम्य कर्मों की एक स्वाभाविक सामर्थ्य है; और इसीलिए जो लोग मोक्ष प्राप्त करना चाहते हों, उन्हें कभी यों ही विनोद में भी उन कर्मों का आचरण नहीं करना चाहिए। केवल इतना ही नहीं, हे अर्जुन, काम्य कर्मों को विष के समान उगलकर फेंक देना चाहिए। और इसी प्रकार के त्याग को 'संन्यास' कहा जाता है।" यही उस समय सर्वान्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा था। इसके उपरान्त भगवान् ने फिर कहा—"यदि यात्री अपने साथ द्रव्य रखना छोड़ दे तो मानों वह लुटेरों से होने वाले भय का नाश कर डालता है। ठीक इसी प्रकार काम्य कर्मों को छोड़ देना भी मानों कामना का समूल नाश कर डालना है। चन्द्रमा अथवा सूर्य को ग्रहण लगने के समय जो कर्म करने पड़ते हैं अथवा पितरों की श्राद्ध तिथि पर जो कर्म किये जाते हैं अथवा किसी अतिथि के घर आने पर उसके आदर-सत्कार के लिए जो कर्म करने पड़ते हैं, उन सब कर्मों को नैमित्तिक समझना चाहिए। जिस प्रकार वर्षा ऋतु में आकाश मेघों से आच्छन्न और मलिन हो जाता है अथवा बसन्त ऋतु का आगमन होने पर वृक्षों में बहुत-से नये-नये पत्ते निकलते हैं और वन की शोभा दूनी हो जाती है अथवा जिस प्रकार यौवनावस्था में शरीर में एक विशेष प्रकार की मोहकता आ जाती है अथवा चन्द्रमा की किरणों के कारण जिस प्रकार चन्द्रकान्त मणि द्रवित होने लगती है अथवा सूर्य का उदय होने पर जिस प्रकार कमल विकसित होते हैं और इन सब उदाहरणों में जिस प्रकार कारण-विशेष से उसी बात की वृद्धि होती है जो मूल में होती है और मूल बात से भिन्न कोई नई या निराली बात नहीं उत्पन्न होती, उसी प्रकार नित्य कर्म में जब कोई निमित्त आ लगता है, तब उसी कर्म को 'नैमित्तिक' कहने लगते हैं। और जो कर्म प्रतिदिन प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल करने पड़ते हैं, परन्तु जिस प्रकार आंखों में दृष्टि कहीं बाहर से लाकर लगाई हुई नहीं होती अथवा बिना सम्पादन किये ही पैरों में चलने-फिरने की स्वाभाविक सामर्थ्य होती है अथवा दीपक के स्वरूप में जिस प्रकार तेज स्वाभाविक रूप से रहता है अथवा बाहर की सुगन्ध बिना लगाये ही जिस प्रकार चन्दन में अपनी आन्तरिक सुगन्ध रहती है, ठीक उसी प्रकार जिन कर्मों में स्वभावतः अधिकार का रूप होता है और इसीलिए जिन्हें किये बिना मनुष्य का किसी तरह छुटकारा नहीं हो सकता, हे अर्जुन, उन्हीं कर्मों को नित्य कर्म कहते हैं। इस प्रकार मैंने तुम्हें 'नित्य' और 'नैमित्तिक' कर्मों के लक्षण स्पष्ट बतला दिये हैं। ये सब नित्य तथा नैमित्तिक कर्म आवश्यक रूप से करने पड़ते हैं और इसीलिए कुछ लोग इन्हें बांझ अर्थात् निष्फल कहने लगते हैं। परन्तु जिस प्रकार भोजन करने से समाधान होता है और क्षुधा की निवृत्ति होती है, ठीक उसी प्रकार नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों से सभी ओर से फलों

की प्राप्ति होती है। जब मिलावट वाला सोना सुनार की अंगीठी में पड़ता है, तब उसमें का मैल जल जाता है और सोना शुद्ध हो जाता है। ठीक इसी प्रकार कर्मो में फल भी होते हैं। बात यह है कि कर्मों का आचरण करने से सब दोष दूर हो जाते हैं, मनुष्य का अधिकार बढ़ जाता है और उसे बात की बात में सद्‌गति प्राप्त हो जाती है। यद्यपि नित्य तथा नैमित्तिक कर्मो का आचरण करने में इतने बड़े फल की प्राप्ति होती है, तो भी जिस प्रकार मूल नक्षत्र में जन्म लेने वाले बालक का परित्याग करना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार इन फलों का भी परित्याग करना चाहिए। जब बसन्त-ऋतु का आगमन होता है, तब आम में तब तक नये-नये पत्ते निकलते रहते हैं, जब तक उसकी एक-एक शाखा फलों से भर नहीं जाती। परन्तु ज्यों ही उन शाखाओं में फल लगने लगते हैं, त्यों ही वह उन फलों को बिना स्पर्श किये ही अपना सारा वैभव नीचे फेंकने लगता है। ठीक इसी प्रकार कर्म की मर्यादा न छोड़ते हुए नित्य तथा नैमित्तिक कर्मो की ओर ध्यान देना चाहिए और तब उन सबसे उत्पन्न होने वाले फलों को पूर्ण रूप से वमन के समान त्याज्य मानना चाहिए। कर्मफल के इसी त्याग को ज्ञाता लोग 'त्याग' कहते हैं। अब इस प्रकार का त्याग और संन्यास का स्वरूप मैंने तुम्हें बतला दिया है। जब इस प्रकार का संन्यास होता है, तब काम्य कर्म बन्धक नहीं होते। निषिद्ध कर्म तो स्वभावतः ही त्याज्य होते हैं। जिस प्रकार सिर के कट जाने पर बाकी शरीर आपसे आप जमीन पर गिर पड़ता है, उसी प्रकार इन फलों के त्याग से नित्य कर्म भी आपसे आप नष्ट हो जाते हैं। फिर जिस प्रकार फसल के तैयार होने पर पौधों की पत्तियां आदि मर जाती हैं, और पत्तियों के नष्ट होते ही फसल हाथ आती है, उसी प्रकार सब कर्मो के नष्ट होते ही आत्मज्ञान आप ही ढूंढ़ता हुआ जीव के पास आ पहुंचता है। इस युक्ति से जो लोग त्याग और संन्यास दोनों करते हैं, वे आत्मज्ञान प्राप्त करने का साधन सम्पादित करते हैं। परन्तु जिनसे इस युक्ति का साधन नहीं होता और जो लोग केवल अनुमान या विचार में ही त्याग का आचरण करते हैं, उनके हाथों नाम को भी त्याग नहीं होता और वे दिन-पर-दिन बराबर और भी जाल में फंसते जाते हैं। यदि रोग की चिकित्सा के लिए नहीं बल्कि यों ही किसी औषध की योजना कर दी जाय, तो वह खाने पर विष के समान होती है। और इसके विपरीत यदि अन्न ग्रहण न किया जाय तो क्या भूखों मरने की नौबत नहीं आ जाती ? इसीलिए जो वस्तु त्याज्य न हो, उसका कभी त्याग नहीं करना चाहिए और जो त्याज्य हो, उसका कभी लोभ नहीं करना चाहिए। त्याग के इस गुण या विशेषता पर ध्यान न रखकर जो त्याग किया जाता है वह सब बैठे की बेगार होती है। जो लोग सच्चे विरक्त होते हैं, उन्हें निषिद्ध (अर्थात् त्याज्य) कर्मों के साथ सभी जगह झगड़ना पड़ता है।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

"बहुत-से लोग ऐसे होते हैं जिनके मन से फल का लोभ कभी दूर ही नहीं होता। और इसीलिए वे लोग सभी कर्मो को बन्धनकारक कहते हैं। जिस प्रकार कोई मनुष्य स्वयं तो नंगा होकर नाचता है और संसार-भर को लड़ाका कहता है अथवा, हे अर्जुन, जिस प्रकार वह रोगी सभी अन्नों की निन्दा करता है, जिसकी जीभ की चाट कभी तृप्त ही नहीं होती अथवा जिस प्रकार कुष्ट का रोगी स्वयं अपने दोषयुक्त शरीर से न चिढ़कर उस पर भनभनाने वाली मक्खियों पर चिढ़ता है, ठीक उसी प्रकार जो दुर्बल लोग फल के लोभ में फंसे रहते हैं, वे फलों का त्याग करने मे समर्थ न होने के कारण समस्त कर्मो को ही दुष्ट बतलाते हैं और यह निर्णय कर लेते हैं कि समस्त कर्मों का ही पूरा-पूरा त्याग करना चाहिए। कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो यह कहते हैं कि यज्ञ-याग आदि कर्म अवश्य करने चाहिए, क्योंकि इनके सिवा मन की शुद्धि का और कोई साधन ही नहीं है। यदि मन की शुद्धि वाला मार्ग जल्दी-जल्दी अतिक्रमण करने की इच्छा हो तो कर्म-रूपी शस्त्र को चलाने में आलस्य नहीं करना चाहिए। यदि सोने

को चोखा करना हो तो जिस प्रकार अग्नि का कष्ट सहने के लिए तैयार होना चाहिए और जिस प्रकार दर्पण को स्वच्छ करने के लिए उसमें बहुत-सी राख लगानी चाहिए अथवा यदि कपड़ों को निर्मल करना हो तो धोबी की नांद को गन्दा और घृणित नहीं समझना चाहिए, ठीक उसी प्रकार कर्मों की इसलिए अवज्ञा नहीं करनी चाहिए कि वे क्लेश का कारण होते हैं। क्या बिना रसोई बनाये कभी बढ़िया और स्वादिष्ट भोजन मिल सकता है ? हे अर्जुन, कुछ लोग इसी प्रकार की बातें कहकर कर्मों के आचरण की ओर ध्यान देने हैं; और इसी प्रकार के मतभेद के कारण त्याग का विषय संशयित हो गया है। इसलिए मैं ऐसा स्पष्ट विवेचन करता हूं जिससे यह संशय दूर हो जाय और त्याग के सम्बन्ध में निश्चित निर्णय किया जा सके। तुम इस विवेचन की ओर अच्छी तरह ध्यान दो।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥

"हे अर्जुन, त्याग सात्त्विक, राजस और तामस—तीन प्रकार का होता है। अब मैं इन तीनों त्यागों का अलग-अलग लक्षण बतलाता हूं! यद्यपि मैंने तुम्हें बतलाया है कि त्याग तीन प्रकार का होता है, तो भी उन सबका सारांश वही है जो मैंने अभी कहा है। मैं सर्वज्ञ हूं और मेरी बुद्धि को जो तत्त्व निश्चित और अटल जान पड़ता है, पहले वही सुनो ! मोक्ष की इच्छा रखने वाला जो पुरुष अपने मोक्ष के सम्बन्ध में जाग्रत और सचेत रहना चाहता हो, उसे त्याग का यह रहस्य समझकर उसी के अनुसार अपना आचरण रखना चाहिए। बस इतने से ही उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जायगी।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

"प्रवास में जिस प्रकार आगे पैर बढ़ाना बन्द नहीं करना चाहिए, उसी प्रकार मनुष्य को यज्ञ, दान और तप आदि आवश्यक कर्म भी कभी नहीं छोड़ने चाहिए। जिस प्रकार खोई हुई वस्तु को बराबर तब तक ढूंढ़ते रहना चाहिए, जब तक वह मिल न जाय, अन्न की थाली तब तक अपने सामने से हटाकर दूर नहीं करनी चाहिए, जब तक क्षुधा पूरी तरह से शान्त न हो जाय अथवा किनारे पर पहुंचने से पहले कभी नाव नहीं छोड़नी चाहिए, अथवा फल लगने से पहले केले का वृक्ष नहीं काटना चाहिए अथवा जब तक रखी हुई वस्तु न मिल जाय, तब तक दीपक नहीं बुझाना चाहिए, उसी प्रकार जब तक आत्मज्ञान के सम्बन्ध में बुद्धि को पूर्ण रूप से निश्चय न हो जाय, तब तक यज्ञ और दान आदि आवश्यक कर्मों की ओर से उदासीन होना कभी उचित नहीं है। सब लोगों को अपने-अपने अधिकार के अनुसार यज्ञ, दान और तप आदि बहुत तत्परतापूर्वक करने चाहिए। यदि रास्ता चलते समय यात्री जल्दी-जल्दी पैर उठाता है तो इसी से वह जल्दी उद्दिष्ट स्थान तक पहुंचकर विश्राम कर सकता है। ठीक इसी प्रकार कर्मों का पूरी तरह से आचरण करने से मनुष्य सहज में निष्काम हो सकता है। ज्यों-ज्यों औषध खाने में अधिक गम्भीरता दिखाई जाती है, त्यों-त्यों रोग भी नष्ट हो जाता है। ठीक इसी प्रकार ज्यों-ज्यों ये सब कर्म शीघ्रता और तत्परतापूर्वक किये जाते हैं, त्यों-त्यों रज और तम का भी समूल नाश हो जाता है। सोने में जब एक-पर-एक इस प्रकार क्षारों के अनेक पुट दिये जाते हैं, तब उसमें मिला हुआ खोट बराबर जलता जाता है और सोना बिलकुल चोखा हो जाता है। इसी प्रकार जिन कर्मों का निष्ठापूर्वक आचरण किया जाता है, वे रज और तम को बिलकुल दूर कर देते हैं और शुद्ध सत्त्व के मन्दिर को दृष्टि के क्षेत्र में ले आते हैं। इसीलिए, हे अर्जुन कर्म भी उसी योग्यता और पद पर पहुंच गये हैं, जिस योग्यता और पद पर सत्त्व-शुद्धि करने वाले पावन तीर्थ हैं। तीर्थों से तो ऊपरी या बाहरी मल का नाश होता है और कर्म अन्दर का मल धो डालते हैं। इसीलिए यह कहा जाता है कि सत्कर्मों के कारण ही तीर्थों को पावनता प्राप्त होती है। जिस प्रकार किसी प्यासे के लिए निर्जल प्रदेश में

ग्रीष्म-ऋतु में चलने वाली लू ही अमृत की वर्षा करके उसे अमृत-पान करा दे अथवा जिस प्रकार किसी अन्धे के नेत्रों में सूर्य का तेज आ जाय अथवा नदी में डूबते मनुष्य को उबारने के लिए स्वयं नदी ही उठ दौड़े अथवा किसी मरने वाले व्यक्ति को स्वयं मृत्यु ही बड़ी आयु प्रदान करे, उसी प्रकार हे अर्जुन, ये कर्म ही मुमुक्षुओं को कर्म-बन्धन से छुड़ाते हैं। जिस प्रकार रसायन का सेवन मरने वाले को विष से बचाता है, उसी प्रकार, हे अर्जुन, इन कर्मों का भी यह एक विलक्षण हथकंडा है कि अपना बन्धकत्व नष्ट करने के लिए स्वयं ही मुख्य साधन होते हैं। हे अर्जुन, अब मैं तुम्हें वह हथकंडा या मुक्ति स्पष्ट करके बतलाता हूं जिससे कर्मों के द्वारा ही स्वयं कर्मों का नाश होता है।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

"यदि महायज्ञ आदि कर्म बिलकुल ठीक तरह से पूरे उतर जायं, तो भी मनुष्य को अपने मन में कर्तृत्व का अहंकार उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए। जो मनुष्य किसी दूसरे से धन लेकर और उसका साथी बनकर तीर्थयात्रा करने के लिए जाता हो, उसके मन में इस प्रकार का अपने महत्त्व का समाधान नहीं होता कि मैं तीर्थयात्रा कर रहा हूं। इसी प्रकार जो पुरुष किसी समर्थ राजा की आज्ञा से अकेला ही पहुंचकर किसी राजा को पकड़ लेता हो, वह आज्ञाकारी सेवक अपने मन में इस बात का अभिमान नहीं कर सकता कि मैं जेता हूं और मैंने इस राजा को जीतकर पकड़ लिया है। जो किसी दूसरे के आधार पर तैरता है, उसमें इस प्रकार का अभिमान नहीं रह जाता कि मैं तैरता हूं। ठीक इसी प्रकार कर्म करने वाले को भी अपने मन में कर्तृत्व का अहंकार नहीं उत्पन्न होने देना चाहिए और समस्त कर्मों की मोहरें आगे खिसकाते चलना चाहिए। और हे अर्जुन, जिन कर्मों का आचरण किया जाता है, उनका जो फल होता है, उस फल की ओर कभी अपने मनोरथ को प्रवृत्त नहीं होने देना चाहिए। आरम्भ में ही सब फलों की आशा छोड़कर कर्म का आरम्भ करना चाहिए। जिस प्रकार कोई दाई दूसरे के बच्चे को निर्विकार मन से पालती है अथवा जिस प्रकार पीपल को सींचने वाले उससे फल की कोई आशा नहीं रखते, ठीक उसी प्रकार फल की बिना कोई आशा रखे सब कर्म करते रहना चाहिए। जिस प्रकार चरवाहा गांव-भर की सब गौओं को एकत्र करके चराने के लिए ले जाता है और उन गौओं का दूध पाने की कोई आशा नहीं करता, ठीक उसी प्रकार का भाव मनुष्य को कर्म करते समय अपने मन में रखना चाहिए और कर्मफल की बिलकुल आशा नहीं करनी चाहिए। जब इस युक्ति से पुरुष के हाथों कर्म होता है, तब अवश्य ही उसे आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है। इसीलिए फल का लोभ रखने वाला यह देहाभिमान छोड़कर यथा-स्थित सब कर्मों का आचरण करना चाहिए; बस सबके लिए यही मेरा सर्वोत्तम सन्देश है। जिसे जीवन के बन्धन से घृणा जान पड़ती हो और जो मोक्ष प्राप्त करने के लिए विकल रहता हो उसके लिए मैं बार-बार यही कहता हूं कि वह मेरे इस वचन का कभी उल्लंघन न करे।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

"और नहीं तो किस प्रकार कोई व्यक्ति अन्धकार पर क्रोध करके स्वयं अपने ही नाखून अपनी आंखों में चुभा लेता है, उसी प्रकार जो पुरुष कर्मों को बन्धक समझकर और इसीलिए उनसे चिढ़कर उनका आचरण छोड़ देता है, उसके इस कर्म-त्याग को मैं तामस कहता हूं। ऐसा काम भी उसी तरह का है जिस तरह सिर के दर्द के कारण क्रोध करके अपना सिर ही फोड़ डालना होता है। जिस समय रास्ता कठिन हो, उस समय ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिसमें पैर किसी तरह आगे बढ़ते चलें, या रास्ते के दोष के कारण स्वयं अपने पैर ही तोड़ डालने चाहिए ? मान लो कि कोई आदमी भूखा है और उसके सामने खाने के लिए कुछ ऐसा-वैसा अन्न रख दिया जाता है। अब यदि वह इसलिए उस अन्न को पैरों से ठुकरा दे कि वह रुचिकर नहीं है तो उसे अन्त में उपवास ही करना पड़ेगा।

इसी प्रकार भ्रम में पड़े हुए तामस पुरुष की समझ में यह बात नहीं आती कि कर्मों का बन्धकत्व स्वयं कर्मों से ही नष्ट करना चाहिए। स्वभावतः जो कर्म उसके हिस्से में आते हैं, वह उन्हीं को छोड़ बैठता है। इसलिए हे अर्जुन, तुम इस प्रकार के तामस त्याग का कभी स्पर्श न करो।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

"कभी-कभी ऐसी अवस्था भी होती है कि मनुष्य समझता है कि अमुक कार्य करने का मैं अधिकारी हूं और उसका आचरण करना मेरा कर्तव्य है; परन्तु फिर भी उसकी कठिनता देखकर वह डर जाता है। इसका कारण यही है कि कर्म का आरम्भिक अंश कुछ समय तक बहुत ही कठिन जान पड़ता है। जिस प्रकार रास्ते के लिए अपने साथ भोजन बांधकर ले चलना बहुत भारी जान पड़ता है अथवा नीम जिस प्रकार खाने में जीभ को कड़वी लगती है और हर्रे जैसे खाने में कसैली जान पड़ती है, ठीक उसी प्रकार कर्म का आरम्भ बहुत कठिन जान पड़ता है। अथवा जिस प्रकार गौ के सिर में घातक सींग होते हैं अथवा कंटीली सेवती में उसके कंटीले अंग होते हैं अथवा भोजन का सुख अनुभव करने से पहले जिस प्रकार भोजन बनाने का बखेड़ा करना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार बार-बार कर्तव्य कर्मों का आचरण करना आरम्भ में बहुत ही कठिन जान पड़ता है; और इसीलिए उन कर्मों का आचरण कर्ता के लिए बहुत कष्टकारक होता है। परन्तु फिर भी वह यह समझकर वह कर्म करने लगता है कि यह हमारा विहित कर्म है। परन्तु ज्यों ही उसमें जरा-सा भी कष्ट होता है, त्यों ही वह तुरन्त घबरा जाता है और आरम्भ किया हुआ कार्य बीच में ही अधूरा छोड़ देता है। वह कहता है—मुझे बड़े भाग्य से यह शरीर सरीखी अमूल्य वस्तु प्राप्त हुई है। फिर मैं किसी कर्म-दरिद्री पापी की तरह अपनी यह काया कर्म आदि के कष्टों से क्यों सुखाऊं ? भला यह कौन कहता है कि पहले कर्म करो और तब उसके भोग की प्रतीक्षा करो ! सुख का जो उपभोग आज मुझे प्रत्यक्ष प्राप्त हो रहा है, बस उसी को भोगकर सुखी होना चाहिए। इस प्रकार शारीरिक कष्टों से डरकर जो पुरुष कर्मों को छोड़ देता है, हे अर्जुन, उस पुरुष के किये हुए त्याग को राजस समझना चाहिए। यदि वास्तव में देखा जाय तो इसमें भी त्याग ही है, परन्तु इसमें त्याग के फल की प्राप्ति नहीं होती। जो घी उबलकर पृथ्वी पर गिर पड़ता है, वह हवन के काम में नहीं आ सकता; और जो मनुष्य जल में डूबकर मर जाता है, उसके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि उसने जल-समाधि ले ली; बल्कि उसके सम्बन्ध में यही समझना चाहिए कि उसका अपघात के कारण ही मरण हुआ है। ठीक इसी प्रकार जो पुरुष शरीर के लोभ के कारण अपने विहित कर्मों को तिलांजलि देता है, उसको सच्चे कर्मत्याग का फल कभी मिल ही नहीं सकता। तात्पर्य यह कि, हे अर्जुन, जिस प्रकार प्रभातकाल सब नक्षत्रों को निगलकर उनका लोप कर देता है, उसी प्रकार जिस समय आत्मज्ञान उदित होकर अज्ञान के सहित सब क्रियाओं का लोप कर देता है, उस समय मानों सच्चा कर्मत्याग होता है। इसी प्रकार के कर्मत्याग में मोक्ष रूपी फल लगता है। हे अर्जुन, जो पुरुष अज्ञान के कारण कर्मों का त्याग करता है, उसे इस मोक्ष-फल की प्राप्ति नहीं होती। इसीलिए जो त्याग राजस हो, उसे कभी सच्चा कर्मत्याग समझना ही नहीं चाहिए। अब प्रसंग आ पड़ा है, इसलिए मैं तुम्हें स्पष्ट रूप से यह भी बतला देता हूं कि किस प्रकार के त्याग से मोक्ष-फल की प्राप्ति होती है। तुम मेरी बातों की ओर ध्यान दो।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

"अपने अधिकार के स्वरूप के अनुसार स्वभावतः जो कर्म अपने हिस्से में आते हैं, सात्त्विक पुरुष उन्हीं का सांग और स-शास्त्र सम्पादन करते हैं। परन्तु ऐसे पुरुष के मन को इस प्रकार के अहंकार की भावना कभी स्पर्श

तक नहीं करती कि मैं इन कर्मों का कर्ता हूं। और साथ ही वह फल की आशा को भी तिलांजलि दे बैठता है। हे अर्जुन, अपनी माता का तिरस्कार करना और उसके सम्बन्ध में अपने मन में कामवासना लाना ये दोनों ही बातें अधःपात का कारण होती हैं। इसलिए इन दोनों बातों से बचना चाहिए और तब माता की शुद्ध मन से सेवा करनी चाहिए। गौ का मुख अपवित्र होता है, परन्तु क्या इसीलिए समूची गौ को त्याज्य समझना चाहिए ? जो फल हमें बहुत अधिक प्रिय होते हैं, उनके भी छिलके और गुठलियां खाने के योग्य नहीं होतीं। परन्तु क्या उन्हीं छिलको और गुठलियों के कारण कभी कोई उन फलों को ही फेंक देता है ? ठीक इसी प्रकार एक तो इस बात का अभिमान कि मैं कर्ता हूं और दूसरे कर्मफल का लोभ ये दोनों कर्म में बन्धक तत्त्व हैं। अब जिस प्रकार पिता अपनी कन्या के सम्बन्ध में कभी अपने मन में विषय-वासना नहीं उत्पन्न होने देता, उसी प्रकार यदि ये दोनों बातें भी कभी अपने मन में उत्पन्न न होने दी जायं तो फिर योग्य तथा स्वाभाविक कर्म भी कभी मनुष्य के लिए दुःख का कारण नही हो सकते। इस प्रकार के त्याग को मोक्ष-फल प्रसव करने वाला सर्वश्रेष्ठ वृक्षराज ही समझना चाहिए। यही त्याग संसार में 'सात्त्विक' के नाम से प्रसिद्ध है। अब जिस प्रकार बीज को जला डालने से वृक्ष निर्वंश हो जाता है, ठीक उसी प्रकार फल की आशा छोड़ देने के कारण जिसका कर्म-बन्धकत्व नष्ट हो जाता है, जिसके रज और तम दोनों उसी प्रकार नष्ट हो चुके होते हैं जिस प्रकार पारस का स्पर्श होते ही लोहे की अमंगलजनक कालिमा नष्ट हो जाती है और तब निर्मल सत्त्व गुण के कारण जिसके आत्मज्ञान के नेत्र खुल जाते हैं, उस पुरुष की बुद्धि आदि के सामने का यह प्रचंड विश्वभ्रम सन्ध्या समय के मृगजल की भांति आपसे आप नष्ट हो जाता है। ऐसे पुरुष के लिए वह भ्रम आकाश (अर्थात् खोखले अवकाश) की भांति बिलकुल अदृश्य हो जाता है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

''इसीलिए प्रारब्ध के कारण मनुष्य को जो भले और बुरे कर्म प्राप्त होते हैं, वे ज्ञानी पुरुषों के लिए उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार आकाश में मेघ लुप्त हो जाते हैं। इसके सिवा, हे अर्जुन, ऐसे पुरुष की दृष्टि के सामने वर्तमान कर्म भी निर्मल होते हैं और इसीलिए वह सुख और दुःख के झगड़ों में नहीं फंस सकता। उसके लिये यह बात कभी हो ही नहीं सकती कि वह कर्मों को शुभ समझकर आनन्दपूर्वक उनका आचरण करे अथवा यह समझकर कि कर्मों का परिणाम दुःखकारक होता है, उनके साथ द्वेष करे। जिस प्रकार स्वप्न में अनुभव किये जाने वाले सुख और दुःख का हर्ष अथवा शोक कोई पुरुष जाग्रत होने पर कभी नहीं करता, ठीक उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी इस माया-जनित विश्व-मोह में होने वाले कर्मों के इष्ट तथा अनिष्ट परिणामों के विषय में उदासीन रहता है। इसीलिए, हे अर्जुन, जिस त्याग में कर्म और कर्ता वाली द्वैतभावना की गन्ध भी नहीं होती, उसी त्याग को सात्त्विक समझना चाहिए। हे पार्थ, यदि इस प्रकार कर्मों का त्याग किया जाय, तभी वास्तव में उनका त्याग हो सकता है। और नहीं तो यदि किसी दूसरे प्रकार से कर्मों का त्याग किया जाय तो वे और भी अधिक बन्धक हुए बिना नहीं रहते।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

''और हे भाई अर्जुन, जो लोग शरीरधारी होने पर भी कर्मों का तिरस्कार करते हैं, उन्हें अज्ञानी और मूर्ख समझना चाहिए। यदि मटका मिट्टी से घृणा करे तो क्या कभी उसका काम चल सकता है ? जो वस्त्र धागों का तिरस्कार करना चाहे, क्या स्वयं वह बाकी बचा रह सकता है ? इसी प्रकार जिस वस्तु के अंग में ही अग्नि हो, वह क्या उष्णता से दुःखी हो सकती है ? क्या दीपक अपने प्रकाश के साथ द्वेष करता है ? हींग यदि अपने उद्दाम

दर्प से दुःखी हो, तो क्या उसे कभी सुगन्धि प्राप्त हो सकती है ? यदि जल अपना पतलापन छोड़ दे तो फिर भला वह कहां रह सकता है ? ठीक इसी प्रकार जब तक शरीर-भ्रम बना हुआ है, तब तक पूर्ण रूप से कर्मों के त्याग वाले पागलपन का भला क्या अर्थ हो सकता है ? हम लोग अपने मस्तक पर गन्ध का तिलक लगाते हैं और इसीलिए हम जब चाहते हैं, तब वह तिलक पोंछ सकते हैं। परन्तु क्या यह भी कभी सम्भव है कि हम जब चाहे तब अपना मस्तक ही छीलकर फेंक दें और जब चाहें तब उसे फिर से लगा लें ? ठीक इसी प्रकार जो शास्त्रोक्त, कर्म हम स्वयं अपनी इच्छा से करते हैं, वे तो कदाचित् हम छोड़ भी सकते हैं; परन्तु शरीर के जो स्वाभाविक कर्म हैं, वे भला कैसे छूट सकते हैं ? और इसका कारण यही है कि श्वास और उच्छ्वास आदि की जो क्रियाएं हैं, वे निद्रित अवस्था में भी होती रहती हैं। इस शरीर के निमित्त से सभी कर्म मनुष्य के साथ लगे हुए हैं। वे न तो जीते जी ही छूटते हैं और न मरने पर ही छूटते हैं। इन कर्मों के जाल से छूटने वाले केवल एक ही प्रकार के पुरुष हैं। और वे कौन-से हैं ? वही जो कर्मों का आचरण करने पर भी उनके फलों की आशा के जाल में नहीं फंसते। यदि कर्म के फल ईश्वर को अर्पित कर दिये जायं तो वही ईश्वर के प्रसाद से ज्ञान का बोध उज्ज्वल करते हैं। और जब इस प्रकार ज्ञान-बोध उज्ज्वल हो जाता है, तब आत्मज्ञान के कारण अज्ञान के साथ सब कर्मों का भी उसी प्रकार नाश हो जाता है, जिस प्रकार रस्सी का वास्तविक ज्ञान हो जाने पर उसमें होने वाली सर्प वाली भ्रान्ति नष्ट हो जाती है। हे अर्जुन, इस प्रकार का जो त्याग होता है, वही सच्चा कर्म-त्याग है। और इसीलिए जो लोग इस प्रकार का त्याग करते हैं, उन्हीं को मैं सच्चा त्यागी समझता हूं। और नहीं तो जिस प्रकार किसी रोगी को मूर्च्छा आने पर यह कहा जाय कि उसे खूब अच्छी तरह नींद आई है, ठीक उसी प्रकार चाहे कोई एक कर्म से उकताकर दूसरे कर्म में फंसने को भले ही विश्राम कह ले, परन्तु वास्तव में ऐसा करना भी डंडों की मार से बचने के लिए घूंसों की मार सहने के लिए तैयार होने के समान ही है। परन्तु इस विषय का बहुत विस्तार हो चुका। मैं एक बार फिर तुम्हें यह बतला देता हूं कि इस त्रिभुवन में केवल उसी को सच्चा त्यागी समझना चाहिए जो कर्म के फलों का त्याग करके स्वयं उन कर्मों को नाश वाली दशा तक पहुंचा देता है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

"हे अर्जुन, वास्तविक स्थिति यह है कि कर्मफल के तीन प्रकार हैं; और जो कर्मफल की आशा नहीं छोड़ता, उसी को कर्म के फल भोगने पड़ते हैं। पिता कन्या को जन्म देता है और यह कहकर वह कन्या दूसरे को अर्पित कर देता है कि—'यह मेरी नहीं है' और इस प्रकार पिता अपने उत्तरदायित्व से मुक्त होता है और उस कन्या को ग्रहण करने वाला उसका जामाता जंजाल में फंस जाता है। विषाक्त वनस्पतियां बोने और पैदा करने वाले लोग वे वनस्पतियां दूसरों के हाथ बेंच देते हैं और स्वयं उनसे धन उपार्जन करके सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु जो लोग मूल्य देकर उन वनस्पतियों को खरीदते और उनका सेवन करते हैं, वही अपने जीवन से हाथ धोते हैं। ठीक इसी प्रकार कर्ता भले ही सब प्रकार के कर्म करे, परन्तु यदि वह अपने मन में उन कर्मों के फलों की आशा न रखे तो वह अकर्ता ही रहता है; और इन दोनों बातों को कर्म बदल नहीं सकते। रास्ते में लगे हुए वृक्षों के फल उन्हीं लोगों को प्राप्त होते हैं जो उन्हें पाने की इच्छा करते हैं। ठीक इसी प्रकार कर्मों के फल भी उन्हीं लोगों को प्राप्त होते हैं जो उन्हें प्राप्त करना चाहते हैं। परन्तु कर्मों का आचरण करके भी जो उनके फल ग्रहण नहीं करता, वही इस संसार के चक्र में नहीं फंसता; क्योंकि यह सारा त्रिविध संसार कर्मों का ही फल है। देव, मनुष्य और स्थावर का ही नाम संसार है और ये तीनों ही कर्मफल के प्रकार हैं। ये कर्मफल तीन प्रकार के होते है—इष्ट, अनिष्ट और इष्टानिष्ट। जब बुद्धि विषयों से अंकित हो जाती है और जीव अधर्म में प्रवृत्त होकर दुष्ट

कर्म करने लगते हैं, तब वे कीड़े-मकोड़ों और मिट्टी-पत्थर आदि के नीचे शरीर प्राप्त करते हैं। उन्हीं को अनिष्ट कर्मों का फल समझना चाहिए। परन्तु जब स्वधर्म का आदर करते हुए और अपने अधिकार पर दृष्टि रखते हुए वे वेदशास्त्रों के नियमानुसार पुण्य कर्मों का आचरण करते हैं, तब हे अर्जुन, वे इन्द्र आदि देवताओं के उत्तम शरीर प्राप्त करते हैं। यही कर्मों का इष्टफल है। मीठे और खट्टे रसों के मेल से उन दोनों से बढ़कर एक तीसरा निराला और स्वादिष्ट रस उत्पन्न होता है; और योग की साधना में रेचक की सहायता से ही कुम्भक भी होता है (अर्थात् जब मनुष्य श्वास को बाहर निकालने की क्रिया करता है, तभी वह श्वास को अपने अन्दर बन्द रखने में भी समर्थ होता है)। इसी प्रकार जब सत्य और असत्य दोनों मिलकर बिलकुल एक हो जाते हैं, तब सत्य और असत्य दोनों से भिन्न एक और विचित्र पदार्थ की उत्पत्ति होती है। इसीलिए शुभ तथा अशुभ फलों के मिश्रण से जिस कर्मफल की सृष्टि होती है, उसी योग से मनुष्य-देह की प्राप्ति होती है। इसी को कर्मों का इष्टानिष्ट अर्थात् मिश्रफल समझना चाहिए। यही तीन प्रकार के कर्मफल सारे संसार में फैले हुए हैं, और जो जीव आशा के फेर में पड़ते हैं, उनके लिए उन फलों को भोगने के सिवा और कोई उपाय ही नहीं रह जाता। जब जीभ का पानी गिरने लगता है (अर्थात् जीभ की लोलुपता बहुत बढ़ जाती है), तब दुष्ट पदार्थों का सेवन बहुत अच्छा लगता है, परन्तु अन्त में उन्हीं पदार्थों के सेवन के कारण मनुष्य को मृत्यु के मुख में जाना पड़ता है। जब तक आदमी जंगल में नहीं पहुंचता, तभी तक उसे ठगों की मित्रता अच्छी जान पड़ती है; और जब तक वेश्या के साथ अंग-स्पर्श नहीं होता, तभी तक वह देखने में लावण्यवती जान पड़ती है। ठीक इसी प्रकार कर्मों का आचरण करने से अंगों में प्रौढता का संचार होता रहता है। परन्तु अन्त में उन कर्मों के फल एकदम से आक्रमण कर बैठते हैं। जिस प्रकार कोई सत्ताधारी साहूकार किसी कर्जदार के पास उसके वादे पर अपना कर्ज वसूल करने के लिए आता है और उस समय कर्जदार बिना उसे रुपये चुकाये किसी तरह अपना बचाव नहीं कर सकता, उसी प्रकार मनुष्य इन कर्मफलों के भोग से भी किसी प्रकार नहीं बच सकता। जिस प्रकार ज्वार की बाल में से निकलकर जमीन पर गिरे हुए दाने फिर भी ज्वार उत्पन्न करते हैं, और फिर उस ज्वार के जो दाने भूमि पर गिरते हैं, वे भी फिर वही ज्वार उत्पन्न करते हैं; ठीक उसी प्रकार जीव जिस समय एक फल भोगता है, तब वह साथ ही दूसरे अनेक कर्मफल उत्पन्न करता रहता है। जिस प्रकार चलने के समय प्रत्येक पग पिछले पग से आगे ही पड़ता है अथवा नदी को पार करने के लिए हम उसके जिस किनारे पर पहुंचते हैं, वह 'इस पार' होता है और सामने वाला दूसरा किनारा 'उस पार' होता है, और हमें उस पार जाना ही पड़ता है और बराबर इस पार से उस पार करना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार कर्मफल के भोग का भी कहीं अन्त नहीं होता। साध्य और साधन के निमित्त से फलभोग का भी कहीं अन्त नहीं होता। साध्य और साधन के निमित्त से फलभोग का निरन्तर विस्तार ही होता जाता है और इस प्रकार फल की आशा न छोड़ने वाले जीव संसार के जाल में और भी अधिक फंसते जाते हैं। चमेली की कलियां खिलती तो हैं; परन्तु खिलने के साथ-ही-साथ उनका सूखना भी आरम्भ हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जो लोग कर्म के निमित्त बनते हैं, परन्तु अपने आपमें कर्तृत्व का आरोप नहीं करते और जो लोग कर्मफल का त्याग करके कर्मों का उसी प्रकार अन्त कर देते हैं, जिस प्रकार बीज के लिए रखा हुआ धान्य खाने-पीने के काम में लाने से खेती का काम बन्द हो जाता है, वे लोग सत्त्वशुद्धि के बल से गुरु-कृपा के अमृत-तुषार से भरे हुए आत्मबोध से पूर्ण हो जाते हैं और उनकी द्वैतभाव रूपी दरिद्रता नष्ट हो जाती है। फिर जगत्-भ्रम के निमित्त से भासित होने वाले त्रिविध फल नष्ट हो जाते हैं और उस अवस्था में भोक्ता तथा भोग का भी लोप हो जाता है। वीरश्रेष्ठ अर्जुन, इस प्रकार जो लोग ज्ञानप्रधान संन्यास ग्रहण करते हैं, वे ही वास्तव में फलभोग की वासनाओं का अन्त करते हैं। और इस प्रकार के संन्यास के कारण जिस समय आत्मस्वरूप में दृष्टि विस्तृत होती है, उस समय भला यह भास हो ही कैसे सकता

है कि कर्म कोई स्वतन्त्र या भिन्न वस्तु है जब दीवार ही गिर पडती है तब उस पर बने हुए चित्र भी मिट्टी ह जाते है जब रात समाप्त हो जाती है तब अन्धकार का कहीं नाम भी रह जाता है ? जब मूल वस्तु स्वरूप ही नष्ट हा गया तब फिर भला उसकी छाया कहा पड सकनी है ? यदि दर्पण ही न हो तो मुख का प्रतिबिम्ब कैसे और किसमे पड़ सकता है ? जब नीद ही खुल गई तब स्वप्न की उत्पत्ति कहां से हो सकती है ? और जहां स्वप्न ही नहीं है, वहां भला सत्य और मिथ्या का प्रश्न कैसे उत्पन्न हो सकता है ? ठीक इसी प्रकार ऐसे ज्ञान-प्रधान संन्यास से जब मूल अविद्या के ही जीवन का अन्त हो जाता है, तो फिर उसका कार्य जो कर्मफल है, उसका लेन-देन कैसे हो सकता है ? इसीलिए संन्यासी पर कर्म की मात्रा कभी प्रयुक्त हो ही नहीं सकती। परन्तु जब तक मनुष्य के शरीर में अविद्या रहती है, तब तक आत्मा कर्तृत्व के अभिमान से शुभ और अशुभ सभी प्रकार के कर्मो के पीछे लगी रहती है। और जब तक दृष्टि पर भेदभाव की छाया लगी रहती है, तब तक, हे सुविज्ञ अर्जुन, आत्मा और कर्म में भेदभाव बना ही रहेगा। पूर्व दिशा और पश्चिम दिशा में जिस प्रकार का भेदभाव होता है अथवा आकाश और मेघ, सूर्य और मृगजल अथवा पृथ्वीतल और वायु में जिस प्रकार की भिन्नता दिखाई देती है अथवा नदी के जल में पत्थरों और चट्टानों के डूबे रहने पर भी जिस प्रकार उन दोनों में आकाश और पाताल का अन्तर रहता है अथवा पानी को छिपाये और दबाये रहने वाली सेंवार जिस प्रकार पानी से बिलकुल भिन्न होती है अथवा दीपक से सदा उत्पन्न होने वाले काजल को जिस प्रकार कभी दीपक नहीं कहा जा सकता अथवा चन्द्रमा पर दिखाई पड़ने वाला दाग या कलंक जिस प्रकार चन्द्रमा के साथ मिलकर एकरूप नहीं हो सकता अथवा दृष्टि और नेत्रों में जिस प्रकार अपार अन्तर होता है अथवा मार्ग और यात्री या प्रवाह और उसमें बहने वाले पुरुष या दर्पण और उसमें अपने मुख का प्रतिबिम्ब देखने वाले मनुष्य में जितनी अधिक भिन्नता या अन्तर होता है, हे अर्जुन, ठीक उतनी ही भिन्नता या अन्तर आत्मा और कर्म में है। परन्तु यह अन्तर कब दिखाई देता है ? जब यह भिन्नता जानने के लिए अज्ञान अवसर देता है, तब। सरोवर में के कमल खिलकर यह सूचित करते हैं कि सूर्य उदय हो गया और वे कमल भ्रमरों से अपने कमल-मधु की लूट कराते हैं। ठीक इसी प्रकार आत्मा के द्वारा होने वाली क्रियाएं कुछ और ही कारणों से बार-बार उत्पन्न होती हैं। ये कारण पांच हैं। अब मैं इन कारणों का विवेचन करता हूं।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

"कदाचित् वे पांचों कारण तुम्हें मालूम भी होंगे, क्योंकि शास्त्रों ने ऊपर हाथ उठाकर और खूब चिल्ला-चिल्लाकर उनका वर्णन किया है। वेद राजा की राजधानी में, सांख्य वेद के प्रासाद में तत्त्व-विवेचन रूपी डंके के घोष में उसकी गर्जना हो रही है। जिस प्रकार संसार के समस्त कर्मो के होने के मूल हेतु यही कारण होते हैं, उस प्रकार का आत्मा के साथ उनका सम्बन्ध नहीं लगाना चाहिए। हे अर्जुन, इस प्रकार इन पांच कारणों का ढिंढोरा पीटा गया है जिससे ये कारण बहुत प्रसिद्ध हो गये हैं, इसलिए मुझे ऐसा जान पड़ता है कि यदि ये कारण तुम भी सुन लो तो तुम्हारे लिए बहुत अच्छा है। और जब मैं ज्ञान-चिन्तामणि प्रत्यक्ष तुम्हारे हाथों में हूं, तो फिर भला इस बात की क्या आवश्यकता है कि उन कारणों का तुम्हें और किसी के द्वारा ज्ञान हो ! यदि सामने दर्पण रखा हुआ हो तो फिर दूसरों से यह पूछने की क्या आवश्यकता है कि मैं देखने में कैसा हूं; और इस प्रकार दूसरे के नेत्रों को इतना अधिक महत्त्व क्यों दिया जाय ! मेरा भक्त जिस हेतु से जिस ओर देखता है, मैं भी उसी ओर उसके हेतु का रूप धारण करके पहुंच जाता हूं। मैं ऐसा भक्त-वत्सल प्रभु अब तुम्हारे हाथ का खिलौना बन रहा हू।" प्रेम के आवेश में इस प्रकार बातें करते-करते श्रीकृष्णदेव अपने आपे में नहीं रह गये। और उधर अर्जुन तो मानों आनन्द-सागर में डूब ही गया। जैसे चांदनी की वर्षा हो रही हो और उसके कारण सोमकान्त मणि का पर्वत

पसीजकर सरोवर बन जाय ठीक उसी प्रकार सुख और आत्मप्रत्यय के मनोभावों के बीच का परदा नष्ट हो जाने के कारण अर्जुन केवल सुख की मूर्ति ही बन गया था। श्रीकृष्णदेव तो सभी बातों में समर्थ थे, इसलिए ऐसे अवसर पर वे फिर पहले की तरह प्रकृतिस्थ हो गये और सुख-सागर में डूबते हुए अर्जुन को बाहर निकालने के लिए जल्दी से आगे बढ़े। उस समय सुख की इतनी बड़ी लहर आई थी कि उनमें अर्जुन सरीखे बड़े-बड़े धीर-वीर भी अपनी बुद्धि सहित डूब सकते थे। परन्तु भगवान् ने सुख की उस बाढ़ को भी रोक लिया और इस प्रकार कहना आरम्भ किया—"भाई अर्जुन, तुम अपना आत्मस्वरूप मत भूल जाओ।" यह सुनकर अर्जुन ने एक ठंडी सांस ली और अपना सिर नीचे झुका लिया। इसके उपरान्त उसने कहा—"हे देव, आप उदार दाता हैं। और यह बात आप समझ ही गये हैं कि यद्यपि—मैं आपके पास ही रहता हूं, तो भी आपसे अलग रहने के कारण मैं बहुत उकता गया हूं; और इसीलिए अब मैं आपके साथ पूरा एकत्व या समरसता प्राप्त करने के लिए उत्सुक हो रहा हूं। मेरी ऐसी अवस्था होने पर यदि आप प्रेमपूर्वक कुछ विनोद न कर रहे हों, तो फिर आप बार-बार मेरी जीव-दशा का स्मरण क्यों करा देते हैं ?" इस पर श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—"अरे पागल अर्जुन, अभी तक यह विषय तुम्हारी समझ में अच्छी तरह नहीं आया ! क्या चन्द्रमा और उसकी चांदनी में कभी कोई पार्थक्य होता है ? इसके अतिरिक्त मैं तुम्हें अपने मन की एक और बात बतलाता हूं। वह यह कि तुम्हें वह समरसता दिखाने में और तुम्हें उसका अनुभव कराने में मुझे सचमुच बहुत भय हो रहा है। तुम्हारे रूठ जाने पर मुझमें तुम्हारा रूठना सहन करने की जो सामर्थ्य आती है, इसका भी कारण यही है कि तुम्हारे लिए मेरे मन में बहुत अधिक प्रेम है। और जब तक आपस में एक-दूसरे के लिए प्रेम के लक्षण बने हुए हैं, तब तक हम दोनों का व्यक्ति-भेद भी अवश्य ही बना रहेगा। इसीलिए अब इस विषय की अधिक चर्चा की आवश्यकता नहीं है। हे अर्जुन, अब मैं तुमको यह बतलाता हूं कि आत्मा से कर्म किस प्रकार भिन्न होते हैं।" इतने में अर्जुन ने कहा—"हे महाराज, मेरे मन में इस समय जो प्रश्न उत्पन्न हो रहा था, उसकी प्रस्तावना करके आपने बहुत अच्छा किया। समस्त कर्मों के मूल बीज जो कारण-पंचक हैं, उनका स्पष्टीकरण करने का वचन क्या आप मुझे नहीं दे चुके हैं ? और आपने जो यह कहा है कि आत्मा का इन कर्मों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, सो आपके द्वारा उसका स्पष्टीकरण होना भी अभी बाकी है।" यह सुनकर विश्वाधिपति श्रीकृष्ण ने बहुत सन्तोष से कहा—"भला ऐसा श्रोता मिलता ही कहां है जो इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर सुनने के लिए तुम्हारी तरह धरना देकर बैठ जाय ? इसीलिए हे अर्जुन, जो-जो बातें मैंने तुम्हें बतलाने के लिए कही हैं, वे सब अब मैं तुमको बतलाता हूं। परन्तु इन सब बातों के कारण तुम्हारे ऊपर पड़ा हुआ प्रेम का भार पहले से और भी बढ़ जायगा।" इस पर अर्जुन ने कहा—"हे देव, जान पड़ता है कि आप अपनी पहली बात भूल गये। इस प्रेम के लिए ही तो आप 'मैं' और 'तुम' वाला व्यक्ति-भाव रखते हैं।" इस पर श्रीकृष्ण ने कहा—"क्या सचमुच ऐसी बात है ? तो फिर मैंने जो वचन तुम्हें दिया है, वह अब मैं पूरा करता हूं। तुम अच्छी तरह सावधान होकर और खूब ध्यान देकर मेरी बातें सुनो। हे अर्जुन, यह बात बिलकुल ठीक है कि समस्त कर्म उन्हीं पांच कारणों से होते हैं और आत्मा को किसी कर्म के होने पर पता भी नहीं चलता और इन पांच कारणों के योग से कर्मों को जो आकार प्राप्त होता है, उसके हेतु भी स्पष्ट रूप से पांच ही हैं। इन सबसे भिन्न जो आत्मतत्त्व है, वह केवल तटस्थ रहता है। न तो वह हेतु ही है, न निमित्त कारण ही है और न कर्मों की सिद्धि के लिए स्वयं कोई प्रयत्न ही करता है। जिस प्रकार आकाश में रात और दिन होते हैं, ठीक उसी प्रकार आत्मा में भी शुभ और अशुभ कर्म होते रहते हैं। जब जल, तेज और धुएं का वायु के साथ मेल होता है, तब आकाश में मेघ उत्पन्न होते हैं, परन्तु आकाश को उनका पता भी नहीं चलता। लकड़ी से नाव बनती है, उसे जल में नाविक खेता है और हवा उस नाव को चलाती है; परन्तु जल केवल साक्षी रूप से तटस्थ रहता है। मिट्टी कहीं से उठाकर

ले आते है और उस मिट्टी के गोल स बतन बनत हे। डडे के योग से चाक पर वे बर्तन घुमाये जाते हैं और उनव साथ-साथ चाक भी घूमता है। परन्तु इन सबका कर्तृत्व कुम्हार में होता है। इन सबको पृथ्वी का आधार तो अवश् प्राप्त होता है, परन्तु उस आधार के अतिरिक्त क्या कभी पृथ्वी का और भी कुछ व्यय होता है ? अब इन सव बातों का तुम्हीं विचार करो। अब मैं एक और उदाहरण देता हूं। लोग सूर्य के प्रकाश में अनेक प्रकार के काम-धन्धे करते हैं। परन्तु क्या उन काम-धन्धों का सूर्य के साथ भी कभी कोई सम्पर्क होता है ? ठीक इसी प्रकार जब पांच हेतुओं का योग होता है, तब उन पांच कारणों से कर्म रूपी बेल लगती है। परन्तु आत्मा उन सबसे सदा भिन्न ही रहती है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

"अब मैं इन पांचों कारणों के अलग-अलग और स्पष्ट लक्षण बतलाता हूं। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न मोती अलग-अलग परखकर लिये जाते हैं, उसी प्रकार कर्मों के पांच कारण भी उनके अलग-अलग लक्षणों सहित सुनो। इन पांचों में 'देह' पहला कारण है। इसे 'अधिष्ठान कारण' कहते हैं क्योंकि इस देह में भोक्ता अपने भोग्य विषयों के साथ निवास करता है। इन्द्रियां रात-दिन कष्ट करती रहती हैं और उनके द्वारा प्रकृति के बल से जो सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं, उन्हें भोगने के लिए पुरुष के पास इस देह के अतिरिक्त और कोई स्थान ही नहीं होता; और इसीलिए इस देह को 'अधिष्ठान' कहते हैं। यह देह चौबीस तत्त्वों के एक साथ मिलकर रहने का साझे का घर है। बन्ध और मोक्ष के झगड़ों का निपटारा भी इसी में होता है। जाग्रति, स्वप्न और सुषुप्ति वाली तीनों अवस्थाओं का भी यही आधारस्थल है; इसलिए हे अर्जुन, इस देह को 'अधिष्ठान' कहते हैं। कर्म का दूसरा कारण 'कर्ता' है। इसी कर्ता को चैतन्य का प्रतिबिम्ब कहते हैं। आकाश ही जल की वर्षा करता है और उस जल से पृथ्वी पर ताल आदि बनते हैं; और फिर उसी ताल में आकाश प्रतिबिम्बित होता है। अथवा कभी-कभी निद्रा में राजा स्वयं अपने आपको भूल जाता है और तब उसे स्वप्न में यह अनुभव होता है कि मैं रंक हो गया हूं। ठीक इसी प्रकार चैतन्य को भी आत्मस्वरूप विस्मृत हो जाता है और तब उसमें देह का आभास उत्पन्न होता है। फिर जो चैतन्य देह के अभिमान से अनेक प्रकार के अभिनय करता है और जिसे आत्मस्वरूप की विस्मृति हो जाने के कारण जीवन का नाम प्राप्त होता है और जो सभी बातों में देह के साथ रहने की प्रतिज्ञा कर चुका होता है, और जो भ्रम में पड़कर यह कहता है कि प्रकृति के द्वारा होने वाले सब कर्म मैंने ही किये हैं, उस जीवात्मा को ही इस प्रकरण में 'कर्ता' कहा गया है। फिर जिस प्रकार एक स्वरूप रहने वाली दृष्टि बरौनी के बालों के कारण चौरी के समान सब जगह से फटी हुई दिखाई देती है अथवा घर में जलने वाले एक ही दीपक का प्रकाश बाहर से भिन्न-भिन्न खिड़कियों से देखने पर अलग-अलग जान पड़ता है अथवा एक ही मनुष्य शृंगार आदि नौ रसों से क्रम-क्रम से उल्लसित होने पर जिस प्रकार वृत्ति-भेद से नौ प्रकार का भासित होने लगता है, ठीक उसी प्रकार बुद्धि की जानने की शक्ति यद्यपि एक स्वरूप ही है, परन्तु फिर भी वह कान और आंख आदि बाह्य इन्द्रियों के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों से प्रकट होती है। इसी को 'पृथग्विधकरण' कहते हैं। हे अर्जुन, कर्मो का यह तीसरा कारण है। अब पूर्व दिशा और पश्चिम दिशा से बहने वाले प्रवाहों का सम्मेलन होने पर जिस प्रकार एक ही पानी भिन्न-भिन्न नदों और नदियों के रूप में भासमान् होता है, उसी प्रकार वायु में जो अखंड एकस्वरूप क्रियाशक्ति रहती है, वही भिन्न-भिन्न स्थानों मे प्राप्त होने के कारण अलग-अलग स्वरूपों वाली जान पड़ती है। जब वह शक्ति वाचा में आती है, तब मनुष्य बोलने लगता है, जब वह हाथ में आती है, तब उससे लेन-देन होने लगता है; जब वह पैरों में आती है, तब उससे चलना-फिरना होने लगता है; और जब वह गुदा-द्वार में आती है, तब उससे मल निकलने लगता है। फिर वही वायु

जब नाभि से हृदय तक ओंकार को प्रकट करने लगती है तब उसे प्राण वायु कहते है फिर वही शक्ति जब ऊपर वाले भाग मे प्रवेश करने लगती है, तब उसे उदान वायु कहते हे। जब वही शक्ति अधो द्वार से बहने लगती है तब वह 'अपान वायु' बन जाती है; और जब वह सारे शरीर में व्याप्त रहती है, तब उसे 'व्यान वायु' कहते हैं। जो अन्न सेवन किया जाता है, उसका रस यही शक्ति शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में पहुंचाती है और शरीर के अन्दर कोने-कोने में निरन्तर व्याप्त रहती है। इस प्रकार चारों ओर घूमकर वह क्रिया-शक्ति अन्त में नाभि-कमल में स्थिर होती है और उस समय उसे 'समान वायु' कहते हैं। जंभाई, छींक डकार आदि रूपों में होने वाली वायु की क्रियाओ के नाम नाग, कूर्म और कृकर आदि हैं। इस प्रकार हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, यद्यपि वायु की सब क्रियाएं एकरूप ही हे, परन्तु उसके रीति-भेद के अनुसार उसे भिन्न-भिन्न नाम प्राप्त होते हैं। और यही भिन्न-भिन्न रीतियों से भिन्न रूप लेने वाली वायुशक्ति कर्मो का चौथा कारण है। छहों ऋतुओं में शरद्ऋतु सबसे उत्तम होती है और उस शरद्ऋतु का चन्द्रमा तो और भी अधिक मनोहर होता है। और उसमें भी पूर्णिमा के चन्द्रमा की बहार का हाल तो कुछ पूछो ही मत। इसी प्रकार बसन्तऋतु में बाग की बहुत अधिक शोभा होती है। फिर यदि ऐसे बाग में प्रियजनों की संगति प्राप्त हो तो उसकी मधुरता और भी बढ़ जाती है। और यदि ऐसी संगति में उत्तम तथा प्रेमपूर्ण उपचार भी मिले तो फिर उस सुख का पारावार ही नहीं रह जाता। अथवा हे अर्जुन, एक तो कमल हो, दूसरे उसका पूर्ण विकास हो और तिस पर भी सुगन्धित पराग-रेणु की विपुलता हो और इस प्रकार मानों त्रिवेणी का संगम हो गया हो तो फिर शोभा की भला कौन-सी कमी रह सकती है ? एक तो पहले ही मधुर वाणी हो, तिस पर उसमे कवित्व का योग हो और उस कवित्व को रसिकता की संगति प्राप्त हो और उस रसिकता में भी परमार्थ तत्त्व की लालसा हो और इस प्रकार का अप्रतिम योग उपस्थिति हो तो वह कितना उत्तम होता है ! ठीक इसी प्रकार अन्तःकरण की समस्त वृत्तियों में एक बुद्धि ही सबसे श्रेष्ठ है और इन्द्रियों के आवेश से वह और भी अधिक तेजस्वी हो जाती है। और उन इन्द्रियों के आवेश में उनके अधिदेवताओं का मंडल और भी अधिक शोभादायक होता है। नेत्र आदि दसों इन्द्रियों के पीछे उन्हें अपनी कृपा से बल देने वाले सूर्य आदि देवताओं का मंडल होता है। हे अर्जुन, इसी देवता-मंडल को कर्मो का पांचवां कारण समझना चाहिए।" बस यही श्रीकृष्ण देव ने अर्जुन से कहा था। इसके उपरान्त वे फिर कहने लगे—"इस प्रकार मैंने समस्त कर्मो के मूल कारणों का तुम्हारे सामने ऐसे ढंग से निरूपण किया है कि तुम्हारी समझ में सब बातें अच्छी तरह आ जायं। और यह निरूपण तुमने सुन भी लिया है। अब इन्ही मूल कारणों का विस्तार होता है और कर्मों के अपार विस्तार का अस्तित्व होता है। जिन पांच हेतुओं के कारण यह बात होती है, अब मैं उनका स्पष्ट रूप से वर्णन करता हूं।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

"जब पूर्ण रूप से बसन्त का आगमन होता है, तब वह नये पल्लवों की उत्पत्ति का हेतु होता है। फिर वही पल्लव पुष्पों के गुच्छे उत्पन्न करते हैं और उन्हीं फूलों से आगे फल होते हैं। अथवा जब पावस-ऋतु का आगमन होता है, तब वह अपने साथ बहुत-से मेघ लाती है। उन मेघों के कारण वृष्टि होती है और उस वृष्टि के कारण यथेष्ट धान्य उत्पन्न होता है। पूर्व दिशा अरुण का प्रसव करती है; वह अरुण सूर्य का उदय कराता है और सूर्य के कारण दिन निकलता है। ठीक इसी प्रकार, हे अर्जुन, मन भी कर्मो के संकल्प का हेतु होता है। इन्हीं संकल्पो से वाणी का दीपक प्रज्वलित होता है और जब वह दीपक समस्त कर्म समुदाय के मार्ग उज्ज्वल करता है, तभी कर्ता कर्म करने के उद्योग में लगता है। इन्हीं उद्योगों में शरीर आदि समुदाय शरीर आदि के हेतु होते हैं। जिस प्रकार लोहे की चीजें बनाने के सब काम लोहे के ही घन से होते हैं और जिस प्रकार तन्तुओं के ताने में तन्तुओ

के ही बाने पडने से वे तन्तु समुदाय ही वस्त्र बन जात ह ठीक उसी प्रकार मन वाचा ओर शरार क द्वारा जिन कर्मो का आचरण होता है, वे कर्म ही मन, वाचा और शरीर के हेतु होते हैं। रत्नों से ही रत्नजटित आभूषण बनते है। ठीक वही बात इस सम्बन्ध में भी है। अब यदि कोई यह प्रश्न करे कि यदि शरीर आदि ही कारण है तो फिर वही हेतु किस प्रकार बन जाते हैं, तो वे अपने इस आक्षेप का समाधान भी कर लें। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश का हेतु भी सूर्य ही है और कारण भी सूर्य ही है अथवा ऊख के कांड जिस प्रकार ऊख की वृद्धि का हेतु भी होते हैं और कारण भी होते हैं अथवा यदि वाग्देवता की स्तुति करनी हो तो उसके लिए वाणी को ही उस काम मे लगाना पड़ता है अथवा वेदों के महत्त्व का गान जिस प्रकार स्वयं वेदों से ही हो सकता है, ठीक उसी प्रकार यद्यपि हम यह बात निस्सन्देह रूप से जानते हैं कि शरीर आदि ही कर्मो के कारण होते हैं, तो भी यह बात मिथ्या नही है कि वही उन कर्मों के हेतु भी होते हैं। और जब शरीर आदि कारणों का शरीर आदि हेतुओं के साथ मेल होता है, तब जिस कर्म-समुदाय की सृष्टि होती है, वह कर्म-समुदाय यदि उपर्युक्त मार्ग से चलता रहे तो वे सब कर्म न्यायसंगत होते हैं; और फिर वही कर्म न्याय के हेतु भी होते हैं। वर्षा-ऋतु का जल बहकर स्वभावतः धान के खेतो की ओर ही जाता है और उन खेतों में पूरी तरह से समा जाता है। परन्तु उसका कितना अधिक उपयोग होता है। अथवा जिस प्रकार कोई झक्की आदमी मारे क्रोध के अविचार के कारण घर से बाहर निकल पड़े और अनजान मे ही द्वारका के मार्ग पर चल पड़े तो यद्यपि उसे कष्ट होता है, परन्तु उसके चलने वाले पैरो का आगे बढना निष्फल नहीं होता, उसी प्रकार हेतु और कारण के योग से जिन कर्मो की उत्पत्ति होती है, वे बिलकुल अन्धे होते हे। परन्तु यदि उन कर्मों को शास्त्र के नेत्र प्राप्त हो जायं, तो उन्हें न्यायसंगत कर्म कहना चाहिए। और नहीं तो यदि दूध परोसते समय वह पात्र में न पड़े तो बाहर गिर पड़ता है। दूध का इस प्रकार बाहर गिरना भी है तो उसका व्यय ही, परन्तु उसे उचित व्यय नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार शास्त्रों की सम्मति के बिना जो कर्म किये जाते है, वे यदि निष्फल सिद्ध न होते हों तो फिर डाकू हमारा जो धन लूट ले जाते हैं, उसे हम धर्म या दान के खाते मे खर्च के तौर पर क्यों न लिखें ? चाहे कोई मन्त्र लिया जाय, पर वह वर्णमाला के बावन अक्षरों के बाहर का नहीं होता। और क्या ऐसा एक भी मनुष्य है जो उन बावन अक्षरों का कभी-न-कभी उच्चारण न करता हो ? परन्तु हे अर्जुन, जब तक मन्त्र का रहस्य न समझा जाय, तब तक जिस प्रकार केवल बावन अक्षरों के उच्चारण से ही वाणी को मन्त्रोच्चार का फल नहीं मिलता, उसी प्रकार कारण और हेतु का योग होने पर यों ही जो कर्म उत्पन्न होता है, वह जब तक शास्त्रों के अनुकूल और उनके द्वारा अनुमोदित नहीं होता, तब तक वह कर्म तो होता ही रहता है, परन्तु उसे फिर भी वास्तविक कर्म करना नहीं कह सकते। ऐसे कर्म अन्यायपूर्ण कर्म होते हैं और वे अन्याय के ही हेतु होते हैं।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥१६॥

"इस प्रकार, हे कीर्तिमान् अर्जुन, पांच कारणों से उत्पन्न होने वाले कर्मो के पांच हेतु भी होते हैं और इन्ही कर्मो के झमेले में आत्मा पड़ गई है। जिस प्रकार सूर्य बिना किसी तरह का रूप धारण किये नेत्रों को भी और वस्तुओं के रूपों को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आत्मा भी स्वयं तो कर्म नहीं होती परन्तु फिर भी कर्मो को प्रकट करती रहती है। हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, जिस प्रकार दर्पण में अपना रूप देखने वाला स्वयं न तो अपना प्रतिबिम्ब ही होता है और न दर्पण ही होता है, परन्तु फिर भी वह उन दोनों को प्रकाशित करता है अथवा सूर्य जिस प्रकार स्वयं दिन और रात का अनुभव न करने पर भी उन्हें उत्पन्न करता है, ठीक उसी प्रकार, हे अर्जुन, आत्मा कर्मो की कर्ता न होने पर भी उन्हें प्रकट करती है। परन्तु देहाभिमान के भ्रम में पड़े होने के कारण जिस

मनुष्य की बुद्धि सदा देह में ही फंसी रहती है, उसके लिए आत्मज्ञान के सम्बन्ध में केवल मध्य रात्रि का घोर अन्धकार ही रहता है। जो लोग चैतन्य ईश्वर या ब्रह्म को देह की मर्यादा या सीमा में ही बन्द कर रखते हैं, उन्हे यह सिद्धान्त बिलकुल अटल जान पड़ता है कि आत्मा ही कर्ता है। परन्तु यह बात भी नहीं होती। उन्हें इस बात का भी दृढ़ निश्चय नहीं होता कि आत्मा ही कर्म कर्ता है। बल्कि वे वास्तव में यही मानते हैं कि कर्म करने वाला मे शरीर ही हूं। और इसका कारण यही है कि वह कभी इस प्रकार की बातें अपने कानों तक पहुंचने भी नहीं देता कि मैं 'आत्मा' हूं और मैं केवल समस्त कर्मो का साक्षीभूत तटस्थ हूं। और इसीलिए वह असीम-तत्त्व को इस जरा-से देह से नापता है। परन्तु इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है ? उल्लू क्या दिन को ही अंधेरी रात नहीं बना लेता ? जिसने आकाश के वास्तविक सूर्य को कभी न देखा हो, वह गड्ढे में पड़ने वाले सूर्य के प्रतिबिम्ब को ही वास्तविक सूर्य क्यों न मान ले ? उसके लिए तो जब तक पानी का गड्ढा रहता है, तब तक सूर्य भी रहता है। यदि वह गड्ढा नष्ट हो गया तो सूर्य भी नष्ट हो गया। यदि उस गड्ढे का पानी हिलने लगा तो वह समझ लेता है कि सूर्य भी हिल-डुल रहा है। सोया हुआ मनुष्य जब तक नहीं जागता, तब तक उसे स्वप्न ही सच्चा जान पड़ता है। जब तक इस बात का ज्ञान न हो जाय कि यह वास्तव में डोरी है, तब तक यदि उसमें सर्प का आभास होता रहे और मनुष्य को उससे डर लगता रहे तो इसमें आश्चर्य की ही कौन-सी बात है ? जब तक आंखों में कमल रोग रहेगा, तब तक चन्द्रमा अवश्य ही पीला दिखाई देगा। मृग यदि मृगजल के धोखे में आ जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? इसी प्रकार जो मनुष्य शास्त्रों और गुरु के नाम की हवा तक अपने अंग में नहीं लगने देता, जो केवल मूर्खता से ही अपना जीवन व्यतीत करता है, वह अपनी आत्मा पर शरीर का जाल उसी प्रकार लादता है, जिस प्रकार गीदड़ मेघों की गति का आरोप चन्द्रमा पर करते हैं। फिर अपनी इसी पक्की समझ के कारण, हे अर्जुन वह कर्म की मजबूत गांठ से इस शरीर-रूपी बन्दीगृह में अच्छी तरह जकड़कर बन्द हो जाता है। देखो, बेचारा तोता जब नलिका-यन्त्र पर बैठता है, तब यद्यपि उसके पैर मुक्त ही रहते हैं परन्तु फिर भी उसके मन में इस बात का दृढ विश्वास हो जाता है कि मैं इसकी नली के साथ बंध गया हूं; और इसीलिए वह नली पर जमकर बैठा रहता है या नहीं ? इसी प्रकार जो मनुष्य अपने निर्मल आत्मस्वरूप पर माया से किये हुए कर्मो का आरोप करता है, वह असंख्य कोटि मापों से सदा कर्मो को नापता ही रह जाता है। बड़वाग्नि रहती तो समुद्र में ही है, परन्तु समुद्र का जल उसे स्पर्श नहीं करता। इसी प्रकार जो कर्मो से व्याप्त तो रहता है, परन्तु फिर भी जिसके साथ कर्मो का सम्पर्क नहीं होता और इस प्रकार अलिप्त रूप से रहकर जो सब कर्म करता है, उसे पहचानने के लक्षण अब मै तुमको बतलाता हूं। बात यह है कि मुक्तों के लक्षणों का विचार करते ही मनुष्य को मोक्ष प्राप्त हो जाता है। दीपक के प्रकाश में ढूंढ़ने पर जिस प्रकार हमारी खोई हुई वस्तु हमें मिल जाती है अथवा दर्पण ज्यों-ज्यों रगड़कर स्वच्छ किया जाय, त्यों-त्यों जिस प्रकार उसमें हमारा रूप और भी अधिक स्पष्ट दिखाई देता है अथवा जल का संयोग होते ही जिस प्रकार नमक भी जल का ही रूप धारण कर लेता है अथवा प्रतिबिम्ब यदि पीछे लौटकर फिर अपने बिम्ब को देखने के लिए आवे तो वह जिस प्रकार आपसे आप बिम्ब ही हो जाता है, ठीक उसी प्रकार सन्तों की बातों का विचार करते-करते हमें अपना खोया हुआ आत्मस्वरूप फिर से प्राप्त हो जाता है। इसीलिए सदा सन्तो की बातों का वर्णन करना और सुनना चाहिए। जिस प्रकार चर्मचक्षुओं में रहने वाली दृष्टि चक्षुओं के चमड़े से नही बधती, उसी प्रकार जो कर्मो का आचरण करने पर भी कर्मो की समता और विषमता या सुखों और दुःखो से जकड़ा नहीं जाता और इस प्रकार जो बन्ध-मुक्त हो जाता है, अब मैं उसी के लक्षण स्पष्ट करके बतलाता हू।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

भाई सुविज्ञ अर्जुन जो जीव अज्ञान का निद्रा मे पडा पडा तक नाना प्रकार क स्वप्नो क जाल मे फसा रहता है, वह तत्त्वमसि के महासिद्धान्त का श्रवण करते ही और मस्तक पर गुरुकृपा का हाथ पड़ते ही, बल्कि यों कहना चाहिए कि मस्तक पर थपकी लगते ही, तुरन्त विश्व के स्वप्नाभास समेत माया की निद्रा छोड़कर एकाएक अभेदभाव के आनन्द से जाग उठता है। जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणें निकलने पर मृगजल की अलग और स्पष्ट जान पड़ने वाली लहरें लुप्त हो जाती हैं, अथवा जिस प्रकार बाल्यावस्था समाप्त हो जाने पर मन मे हौवे के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता (अर्थात् उसका भय मन से पूरी तरह से निकल जाता है) अथवा जिस प्रकार ईधन जल जाने पर फिर किसी प्रकार ईधन नहीं बन सकता अथवा जाग उठने पर जिस प्रकार स्वप्न आखो के सामने नहीं ठहरते, ठीक उसी प्रकार ऐसे जीव में अहं-भावना कहीं नाम को भी नहीं रह जाती। सूर्य अंधेरे मे रहने के लिए किसी सुरंग या तहखाने में ही क्यों न घुस जाय, परन्तु फिर भी उसे कहीं अन्धकार नहीं मिल सकता (क्योंकि वह जहां जाता है, वहीं पूर्ण प्रकाश हो जाता है)। ठीक इसी प्रकार जो जीव आत्मभाव से आवृत्त हो जाता है, वह जिस दृश्य पदार्थ की ओर देखता है, वही पदार्थ स्वयं उस देखने वाले का ही रूप धारण करने लगता है और इस प्रकार उसके साथ मिलकर एकरूप हो जाता है। अग्नि जिस वस्तु में लगती है, वही वस्तु अग्नि का रूप धारण कर लेती है और दोनों में दाह्य तथा दाहक का भाव आपसे आप नष्ट हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जब कर्म का आकार आत्मा से भिन्न मान लिया जाता है और उस कर्म को आकार प्रदान करने के कर्तृत्व का आत्मा पर होने वाला मिथ्या आरोप नहीं रह जाता, तब फिर जो कुछ बाकी रह जाता है, वही आत्मस्थिति है। इस आत्मस्थिति का स्वामित्व जिसे प्राप्त होता है, वह क्या कभी इस शरीर में बद्ध होकर रह सकता है ? प्रलयकाल का अपार जल क्या कभी किसी दूसरे प्रवाह में सम्मिलित हो सकता है या उसका स्वतन्त्र अस्तित्व मान सकता है ? हे अर्जुन, ठीक इसी प्रकार अभिन्न भाव के कारण स्फुरण प्राप्त करने वाली अहंता (अर्थात् सर्वात्म-भावना) जब पूर्णता को प्राप्त हो जाती है, तब क्या वह इस तुच्छ देहभाव में समा सकती है ? क्या सूर्य का बिम्ब कभी सूर्य को ही दबा सकता है ? यदि दही को मथकर निकाला हुआ मक्खन फिर कभी मठे में डाला जाय तो अपने अलिप्तता वाले गुण के कारण क्या वह मक्खन फिर कभी उस मठे में मिल सकता है ? अथवा हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, यदि काठ में रहने वाली गुप्त अग्नि एक बार काठ में से निकाल ली जाय तो क्या फिर वह कभी काठ में छिपाकर रखी जा सकती हैं ? अथवा रात के गर्भ से जो तेजो-राशि सूर्य बाहर निकालता है, उसके सम्बन्ध में क्या कभी यह बात सुनने में आती है कि वह रात ही के रूप में रहता है ? ठीक इसी प्रकार जो जीव वेद्य और वेदक अर्थात् ज्ञान-विषय और ज्ञाता का भेद ही दूर कर देता है, उसमें भला इस प्रकार की हीन अहंता का किस प्रकार स्फुरण हो सकता है कि 'मैं देह हूं' ? आकाश जिस एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है, उस स्थान पर वह पूरी तरह से भरा हुआ रहता है और इसीलिए वह निरन्तर आपसे आप अपनी सर्वव्यापकता से भरा रहता है। ठीक इसी प्रकार ऐसा जीव जो कुछ करता है, वह सब स्वयं उसी का आत्मरूप होता है। फिर भला वह किस कर्म में अपने कर्तृत्व के अभिमान से लिप्त हो सकता है ? जिस प्रकार आकाश का कोई स्वतन्त्र निवास-स्थान नहीं होता अथवा समुद्र का कोई स्वतन्त्र प्रवाह नहीं होता अथवा ध्रुवतारे में जिस प्रकार कोई गति नहीं होती, ठीक उसी प्रकार ऐसे जीव का कोई कर्म भी नहीं होता। इस प्रकार आत्मबोध के कारण जिसका अहंभाव पूरी तरह से जलकर भस्म हो जाता है, उसके कर्म तब तक होते रहते हैं, जब तक उसका यह शरीर रहता है। जब हवा खूब तेजी के साथ चलने के बाद बन्द हो जाती है, तब भी उसके कारण हिलने वाले वृक्ष बाद में कुछ देर तक हिलते ही रहते हैं। और जब कपूर खत्म हो जाता है, तब भी कुछ देर तक डिबिया में कपूर की गन्ध रहती ही है, जिसमें वह कपूर रखा रहता है। यदि गान समाप्त भी हो जाय तो भी उसके कारण लोगों को जो तन्द्रा आती है, वह तुरन्त ही दूर नहीं हो

जाती। अथवा यदि किसी जमीन के ऊपर से पानी बह जाय तो भी उसकी कुछ सीलन या नमी कुछ समय तक बनी ही रहती है। और जब सूर्य अस्त हो जाता है, तब भी सन्ध्या के चबूतरे पर सूर्य-ज्योति की प्रभा कुछ समय तक खेलती ही रहती है। जिस वस्तु को लक्ष्य बनाकर बाण चलाया जाता है, उस वस्तु को भेद चुकने पर भी वह बाण उतना और आगे निकल जाता है, जितना उसमें जोर रहता है। जब चाक पर बर्तन बनकर तैयार हो जाता है और कुम्हार उसे चाक पर से उतार लेता है, तब भी चाक उस गति के कारण, बर्तन न रहने पर भी, कुछ देर तक घूमता ही रहता है, जो गति उसे पहले बर्तन बनने के समय प्राप्त होती है। ठीक इसी प्रकार देहाभिमान के नष्ट हो जाने पर भी, हे अर्जुन, देह जिस स्वभाव से उत्पन्न हुआ रहता है, वह स्वभाव देह से आपसे आप कर्म कराता ही रहता है। मन में किसी प्रकार का उद्देश्य न होने पर भी स्वप्न दिखाई देता है और बिना रोपे या लगाये भी जंगलों में आपसे आप वृक्ष उत्पन्न होते ही हैं। और बिना किसी के बनाये ही आकाश में मेघों की इमारतें बनती ही रहती हैं। ठीक इसी प्रकार आत्मा के कोई व्यापार न करने पर भी देह के पांच कारणों से समस्त कर्म आपसे आप होते ही रहते हैं। पूर्व कर्मों के संस्कारों के अनुसार पांच हेतुओं और पांच कारणों का मेल अनेक प्रकार के कर्म करता ही रहता है। फिर चाहे उन कर्मों से सारे जगत् का संहार हो और चाहे नवीन जगत् की सृष्टि हो परन्तु जिस प्रकार सूर्य कभी इस बात का विचार नहीं करता कि कुमुद क्यों सूखता है और कमल क्यों विकसित होता है अथवा आकाश से विद्युत् की वर्षा होने के कारण चाहे पृथ्वी-तल के टुकड़े-टुकड़े हो जायं और चाहे शान्त तथा मन्द पर्जन्य वृष्टि के कारण तृण आदि से पृथ्वी-तल हरा-भरा हो जाय, परन्तु जिस प्रकार आकाश को इन दोनों बातों में से एक का भी ज्ञान नहीं होता, ठीक उसी प्रकार जो देह में ही विदेही होकर रहता है, वह भी उसी प्रकार यह नहीं देखता कि देह आदि से होने वाली क्रियाओं से सृष्टि बनती है अथवा नष्ट होती है, जिस प्रकार जागा हुआ मनुष्य स्वप्न नहीं देखता। परन्तु जो लोग केवल चर्मचक्षुओं से देखते हैं और जिनकी दृष्टि देह से आगे जाती ही नहीं, उन्हें यही जान पड़ता है कि ऐसा मुक्त पुरुष भी कर्मों में फंसा हुआ है। पशु-पक्षियों को डराने और भगाने के लिए खेत की मेंड़ पर घास-फूस का जो पुतला बनाकर खड़ा कर दिया जाता है, उसके सम्बन्ध में गीदड़ क्या यह नहीं समझता कि यह सचमुच खेत का रखवाला ही है ? किसी पागल के सम्बन्ध में देखने वाले भले ही इस बात का विचार किया करें कि यह नंगा है या कपड़ा पहने हुए है, परन्तु स्वयं उस पागल को अपनी इन सब बातों से कुछ भी मतलब नहीं होता। जो आदमी युद्ध में घायल होकर मर जाता है, उसके शरीर के घाव और लोग चाहे भले ही गिना करें परन्तु स्वयं उस मरने वाले को इन सब बातों का कुछ भी पता नहीं होता। जब कोई महा पतिव्रता स्त्री सती होने लगती है, तब सारा संसार भले ही इस बात का विचार किया करे कि वह किस प्रकार अपना अंतिम शृंगार करती है, परन्तु स्वयं उस सती स्त्री को आग की लपट अपना कोमल शरीर या अपने चारों ओर का संसार बिलकुल दिखाई नहीं देता। ठीक इसी प्रकार जिसे आत्मस्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है, जिसका द्रष्टत्व दृश्य वस्तु के साथ मिलकर एक रूप हो जाता ओर उसी में लीन हो जाता है उसे इस बात का पता भी नहीं चलता कि इन्द्रियां किन-किन कर्मों का आचरण कर रही हैं। यदि जल के किसी बहुत बड़े प्रवाह में कुछ छोटे-छोटे प्रवाह आकर मिल जायं और उस बड़े प्रवाह के तट पर खड़ा होकर कोई मनुष्य यह समझ ले कि अमुक प्रवाह ने अमुक प्रवाह को निगल लिया, तो इस क्रिया में जिस प्रकार जल के एक प्रवाह को वास्तव में कोई दूसरा प्रवाह नहीं निगलता, ठीक उसी प्रकार जो पुरुष पूर्णावस्था को प्राप्त हो जाता है, उसे मारने के लिए स्वयं अपने से भिन्न कोई और वस्तु बच ही नहीं जाती। सोने की चंडिका सोने के महिषासुर का सोने के शूल से वध करती है और देखने वाले पुरुषों को ये सब बातें बिलकुल सत्य जान पड़ती हैं। परन्तु वास्तव में चंडिका, महिषासुर और शूल तीनों ही सोने के होते हैं। चित्रों में अग्नि और जल दोनों ही बिलकुल ज्यों-के-त्यों दिखलाये जाते हैं, परन्तु

यह सारा दृष्टि का ही खेल होता है। स्वयं चित्रपट में न तो आग ही होती है और न पानी का ही अंश होता है ठीक इसी प्रकार मुक्त या विदेही पुरुषों के शरीर केवल प्राचीन संस्कारों के कारण ही चलते-फिरते रहते हैं। परन्तु अज्ञानियों की समझ में यह रहस्य तो आता ही नहीं और इसलिए वे मुक्त पुरुषों को ही उन क्रियाओं का कर्ता समझते हैं। परन्तु यदि स्वाभाविक क्रियाओं के द्वारा तीनों भुवनों का भी घात हो जाय तो भी कभी यह नहीं समझना चाहिए कि वह घात उन मुक्त या विदेही पुरुषों ने किया है। भला यह कहना कहां की बुद्धिमत्ता है कि हम पहले प्रकाश की सहायता से अन्धकार को देखेंगे और तब उस अन्धकार का नाश कर डालेंगे ? क्योंकि प्रकाश के आते ही अन्धकार तो आप से आप नष्ट हो जायगा। ठीक इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष में ज्ञान के अतिरिक्त और कोई भाव ही नहीं रहता और उसे मारने के लिए स्वयं अपने से भिन्न और कोई वस्तु ही बाकी नहीं रह जाती। इसीलिए उसकी बुद्धि में पाप और पुण्य की गन्ध भी नहीं होती। अगर कोई नदी आकर गंगा में मिल जाय तो भी गंगा उससे कभी गन्दी नहीं होती। ठीक यही बात यहां भी है। हे अर्जुन, यदि अग्नि के साथ अग्नि का झगड़ा हो जाय तो भला उनमें से कौन किसे जलावेगी ? यदि शस्त्र स्वयं अपने आप पर ही प्रहार करे, तो उससे क्या होगा ? इसी प्रकार जो यह जानता ही नहीं कि कर्म मुझसे अलग हैं, वह अपनी बुद्धि पर उन कर्मों को लेप ही कैसे लगा सकता है ? कार्य, कर्ता और क्रिया की त्रिपुटी जिस पुरुष के सम्बन्ध में आत्मरूप ही हो जाती है, उसके लिए शरीर आदि से होने वाले कर्म कभी बन्धक नहीं हो सकते। इसका कारण यही है कि जो जीव स्वयं अपने आपको कर्ता मानता है, वह दस इन्द्रियों के औजारों से पांच प्रकार के हेतुओं को बड़े कौशल से प्रस्तुत करता है। फिर न्याय और अन्याय दोनों प्रकार की कुर्सियां तैयार करके एक ही क्षण में वह कर्म के मन्दिर खड़े कर देता है। इस बहुत बड़े काम में आत्मा कुछ भी सहायता नहीं करती; और यदि तुम यह पूछो कि—"यह आत्मा कर्मों की पूर्व योजना में भी कुछ सहायता करती है या नहीं ?" तो इसका उत्तर यह है कि वह उसमें भी कोई सहायता नहीं करती। जो आत्मा केवल साक्षी-भूत और आत्मस्वरूप है, वह क्या कभी स्वयं ही यह कह सकती है कि कर्म-प्रवृत्ति के संकल्प उत्पन्न हों ? परन्तु जिस कर्म-प्रवृत्ति के फेर में सब लोग पड़े हुए हैं, उस प्रवृत्ति के क्लेश भी कभी आत्मा को स्पर्श नहीं करते। इसलिए जो पुरुष पूर्ण रूप से आत्मस्वरूप हो जाता है, वह कभी कर्मों के वन्दीगृह में रह ही नहीं सकता। परन्तु जब अज्ञान के पट पर ज्ञान का उलटा चित्र अंकित होता है, तभी कार्य, कर्ता और क्रिया की लोक-प्रसिद्ध त्रिपुटी चित्रित होती है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

"ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय की त्रिपुटी जगत् का बीज है; और इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि कर्मों की प्रवृत्ति इसी से होती है। हे अर्जुन, अब मैं इन तीनों का अलग-अलग स्पष्टीकरण करता हूं, सुनो। जीव-रूपी सूर्य-मंडल की पंचेन्द्रिय रूपी किरणें वेगपूर्वक आकर विषय-रूपी कमल की कलियां खिलाती हैं। अथवा जीवरूपी राजा के इन्द्रिय-रूपी घोड़े दौड़कर विषयों के प्रदेश में पहुंच जाते हैं और वहां से सुख और दुःख लूट लाते हैं। परन्तु ये रूपक बहुत हो चुके। इन इन्द्रियों के द्वारा होने वाले व्यापारों से जो ज्ञान सुखों और दुःखों को अपने साथ लेकर जीव को प्राप्त होता है, वह सुषुप्ति वाली अवस्था में जिसमें लीन होता है, उसी जीव को 'ज्ञाता' कहना चाहिए। और अब तक जिसका विवेचन किया गया है, हे अर्जुन, इस अवसर पर उसी को 'ज्ञान' समझना चाहिए। हे पार्थ, अविद्या के पेट में जन्म धारण करते ही जो ज्ञान तीन स्थानों में अपना विधान करता है और जो ज्ञान अपनी दौड़ के रास्ते में सामने ज्ञेय अर्थात् ज्ञान-विषय का गोला फेंककर अपने पीछे की ओर ज्ञातृत्व के अभिमान की सृष्टि करता है और इस प्रकार ज्ञाता तथा ज्ञेय के बीच में सम्बन्ध स्थापित करने का मार्ग प्रस्तुत होने पर जिसकी

सहायता से इस मार्ग पर आना जाना बराबर बना रहता है, जिस ज्ञान की दौड़ ज्ञेय की सीमा तक ही होती है और जो समस्त पदार्थों को भिन्न-भिन्न नाम देता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि वह ज्ञान 'सामान्य ज्ञान' है। अब ज्ञेय के भी लक्षण सुनो। शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध और रस ये सब ज्ञेय के प्रकट होने के मार्ग हैं। जिस प्रकार एक ही आम अपने रस, रंग और गन्ध आदि के द्वारा भिन्न-भिन्न इन्द्रियों को स्पर्श करके अपना भास कराता है, उसी प्रकार ज्ञेय भी होता तो एक ही है, परन्तु ज्ञान उस ज्ञेय का ग्रहण इन्द्रियों के मार्ग से करता है और इसीलिए वह ज्ञेय पांच प्रकार का होता है। और जिस प्रकार जल का प्रवाह अन्त में समुद्र में प्रवेश करते ही समाप्त हो जाता है, अथवा अनाज के पौधों की बाढ उनमें बालें लगते ही समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार इन्द्रियों के प्रवाह के साथ-साथ दौड़ लगाने वाले ज्ञान का जिसमें अन्त होता है, हे अर्जुन, वही ज्ञेय अर्थात् ज्ञान का विषय है। हे पार्थ, इस प्रकार ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का त्रिकूट मैंने तुम्हें स्पष्ट रूप से बतला दिया है। इसी त्रिकूट से समस्त क्रियाओं की उत्पत्ति होती है। जो शब्द आदि विषय हैं, वे तो इन्हीं पांच प्रकारों के हैं; परन्तु जो ज्ञेय है, वह या तो प्रिय होता है और या अप्रिय। ज्ञेय ज्यों ही यह थोड़ा-सा भी ज्ञान सामने लाकर उपस्थित करता है, त्यों ही ज्ञाता उस विषय का या तो स्वीकार या त्याग करना आरम्भ कर देता है। जिस प्रकार किसी मछली को देखते ही बगुला अथवा द्रव्य का भांडार देखकर दरिद्र अथवा किसी स्त्री को देखते ही कामुक पुरुष विचलित हो जाता है और उसे प्राप्त करने की इच्छा करता है अथवा जिस प्रकार ढाल या उतार की तरफ पानी या पुष्प की सुगन्ध की ओर भ्रमर अथवा सन्ध्या को दूध दुहने के समय बछड़ा गौ की ओर दौड़ पड़ता है अथवा स्वर्ग की उर्वशी आदि अप्सराओं के सुख-भोग की मनोहर बातें सुनकर जिस प्रकार लोग स्वर्ग का सुख प्राप्त करने के लिए आकाश में यज्ञ-याग की सीढ़ियां लगाने लगते हैं अथवा, हे अर्जुन, आकाश में उड़ने वाला कबूतर जिस प्रकार कबूतरी को देखते ही लोट-पोट होकर नीचे की तरफ गिरने लगता है अथवा मेघों की गड़गड़ाहट का शब्द कानों में पड़ते ही जिस प्रकार मोर आकाश की ओर देखने लगता है, ठीक उसी प्रकार ज्ञेय के दर्शन होते ही ज्ञाता भी उसकी ओर तुरन्त दौड़ पड़ता है। इसलिए हे पांडु सुत अर्जुन, समस्त कर्मों का आरम्भ ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता के त्रिकूट से ही होता है। अब वही ज्ञेय आदि ज्ञाता को प्रिय जान पडे तो फिर उसका उपयोग करने में उससे एक क्षण का भी विलम्ब नहीं सहा जाता। इसके विपरीत यदि वह ज्ञेय उसे अप्रिय जान पड़ता है तो उसका तिरस्कार करके उसे दूर करने में भी जो थोड़ा-सा समय लगता है, वह भी उसे युग के समान दीर्घ जान पडता है। सर्प और रत्नों के हार के घेरे में जो मनुष्य एकदम से पहुंच जाता है, उसे जिस प्रकार भय और आनन्द दोनों ही एक साथ जान पड़ते हैं, उसी प्रकार की अवस्था उस समय ज्ञाता की भी होती है, जिस समय कुछ प्रिय और कुछ अप्रिय वस्तु दिखाई देती है। और तब वह प्रिय वस्तु का स्वीकार और अप्रिय वस्तु का त्याग करने का प्रयत्न करने लगता है। शत्रुपक्ष के मल्लों में अपने जोड़ का मल्ल देखकर जिस प्रकार किसी सेनापति का उसके साथ लड़ने को जी चाहता है और वह स्वयं ही अपने रथ पर से उतरकर उससे दो हाथ लडने के लिए पैदल ही उसकी ओर चल पड़ता है, ठीक उसी प्रकार जो अब तक अपने ज्ञातृत्व के कारण केवल ज्ञाता ही था, वह अब कार्य आरम्भ करके कर्ता की अवस्था या पद को प्राप्त होता है। जिस प्रकार कोई भोजन करने वाला ही रसोई पकाने के लिए बैठ जाय अथवा भ्रमर ही बाग लगाने लग जाय अथवा सोना परखने वाला सर्राफ स्वयं ही कसौटी का पत्थर बन जाय अथवा स्वयं देवता ही अपने लिए मन्दिर बनाने लगे, ठीक उसी प्रकार, हे अर्जुन, ज्ञेय-विषय के त्याग अथवा स्वीकार के लिए ज्ञाता अपनी इन्द्रियों को काम में लगाता है और उस समय ज्ञाता ही कर्ता बन जाता है। जब इस प्रकार ज्ञाता स्वयं ही कर्ता हो जाता है, तब वह ज्ञान को साधन बनाता है और उससे 'ज्ञेय' आपसे आप 'कार्य' हो जाता है। इस प्रकार, हे सुविज्ञ अर्जुन, ज्ञान की करनी से यह परिवर्तन हो जाता है। रात जिस प्रकार नेत्रों की शोभा बदल देती है अथवा

जिस प्रकार भाग्य बिगड जाने पर धन सम्पन्न पुरुष का वैभव भी नष्ट हो जाता है अथवा पूर्णिमा के उपरान्त जिस प्रकार चन्द्र-बिम्ब में भी परिवर्तन होने लगता है और वह घटने लगता है, उसी प्रकार इन्द्रियों की गति के योग से ज्ञाता के चारों ओर कर्तृत्व का पेंच बैठने लगता है। अब उस अवस्था में उसमें जो-जो लक्षण दिखाई देते हैं, वह भी सुन लो। बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार ये सब अन्तरिन्द्रियां हैं। और बाहर के अंगों की पांच इन्द्रियां त्वचा, कान, आंख, जीभ और नाक हैं। इनमें से अन्तरिन्द्रियों के द्वारा तो कर्ता अपने कर्तव्य का अनुमान करता है; और तब यदि उसे यह निश्चय होता है कि उस कर्तव्य का पालन सुख का कारण होगा तो वह नेत्र आदि बाहरी दसों इन्द्रियों को उस काम में लगा देता है। फिर जब तक उस कर्तव्य की सिद्धि नहीं होती, तब तक वह उन सब इन्द्रियों को उनमें लगाये रहता है। इसके विपरीत यदि उसे इस बात का अनुभव होता है कि वह कर्तव्य दुःख का कारण होगा, तो वह तुरन्त ही अपनी दसों इन्द्रियों से उसका त्याग करने में लग जाता है। और वह तब तक अपनी सब इन्द्रियों को उसके त्याग के काम में लगाये रहता है, जब तक दुःख का नाम-निशान भी मिट नहीं जाता। जिस प्रकार कोई राजा अपना कर वसूल करने के लिए अपने सब नौकर-चाकरों को दिन-रात लगाये रहता है, उसी प्रकार जब सब इन्द्रियां भी किसी काम में लगाई जाती हैं, तब हे अर्जुन, यह बात तुम अपने ध्यान में रखो कि उस ज्ञान को कर्ता कहते हैं। और कर्ता अपने सभी कामों में इन्द्रियों को औजारों की तरह लगाये रहता है, और इसीलिए मै इन इन्द्रियों को करण अर्थात् साधन या औजार कहता हूं। और इन करणों का उपयोग करके कर्ता जो क्रियाए करता है, उन क्रियाओं की व्याप्ति ही इस प्रकरण में 'कर्म' है। सुनार की बुद्धि जिस प्रकार अलंकारों में व्याप्त रहती है अथवा चन्द्रमा की किरणें जिस प्रकार चांदनी में व्याप्त रहती हैं अथवा सुन्दरता से जिस प्रकार बेलें व्याप्त रहती हैं अथवा प्रभा जिस प्रकार प्रकाश में व्याप्त रहती है अथवा मधुरता जिस प्रकार ऊख के रस में व्याप्त रहती है अथवा अवकाश जिस प्रकार आकाश में ओत-प्रोत भरा रहता है, ठीक उसी प्रकार, हे अर्जुन, जो कुछ कर्ता की क्रियाओं से व्याप्त रहता है, वही कर्म है। इसके सिवा कर्म और कोई चीज नहीं है। इस प्रकार, हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ अर्जुन, कर्ता, कर्म और करण की त्रिपुटी के लक्षण मैंने तुमको बतला दिये हैं। यहां ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तो कर्म-प्रवृत्ति के त्रिकूट हैं और कर्ता, करण तथा कार्य ये कर्म के त्रिकूट हैं। जिस प्रकार अग्नि में धुआं अथवा बीज में वृक्ष अथवा मन में वासना भरी रहती है, ठीक उसी प्रकार कर्ता, क्रिया और करण में कर्म का जीवन भरा रहता है। जिस प्रकार सोने की खान में सोना भरा रहता है, उसी प्रकार कर्ता, क्रिया और करण में कर्म भी भरा रहता है। इसीलिए, हे अर्जुन, जहां इस प्रकार की भावना रहती है कि यह कार्य है और मैं कर्ता हूं, वहां उन समस्त क्रियाओं से आत्मा सदा बिलकुल दूर और अलिप्त रहती है। इसलिए, हे सुविज्ञ अर्जुन, मैं बार-बार यही कहता हू कि आत्मा इस कर्म-निवृत्ति से बिलकुल अलग है। परन्तु तुम ये सब बातें जानते ही हो, इसलिए अब मैं यह प्रकरण यहीं समाप्त करता हूं।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

"परन्तु अभी मैंने जो ज्ञान, कर्म और कर्ता का जिक्र किया है, वे तीनों गुणों के कारण तीन प्रकार के होते है। इसलिए हे अर्जुन, ज्ञान, कर्म और कर्ता पर भी भरोसा नहीं रखना चाहिए; क्योंकि तीनों गुणों में से दो गुण तो बन्धक होते हैं और केवल तीसरा सत्त्व गुण ही मोक्ष देने में समर्थ होता है। मैं अब इन तीनों गुणों के लक्षण इस प्रकार अलग-अलग बतलाता हूं जिसमें तुम सत्त्वगुण को अच्छी तरह पहचान लो। यह गुण-भेद सांख्य-शास्त्र में अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है। जो सांख्य-शास्त्र विचार का सागर है, जो आत्मबोध रूपी कुमुदिनी को खिलाने वाला चन्द्रबिम्ब ही है, जो ज्ञान की दृष्टि देने वाले शास्त्रों का सम्राट् है अथवा जो दिन और रात्रि की तरह एक

में मिले हुए प्रकृति और पुरुष को स्पष्ट रूप से अलग-अलग दिखलाने वाला प्रचंड सूर्य ही है, जिस शास्त्र की सहायता से असीम अज्ञान-राशि चौबीस तत्त्वों की नाप-जोख करके परम तत्त्व ब्रह्म का अखंड आनन्द भोगा जा सकता है, हे अर्जुन, उस सांख्य-शास्त्र ने जो कुछ कहा है, वह गुण-भेद का आख्यान मैं तुम्हें सुनाता हूं; सुनो। जिस दृष्टि से अपने अंग की सामर्थ्य से इन तीनों गुणों ने त्रिविधता के रंग से समस्त दृश्य विश्व को रंगा है, उस दृष्टि से सत्त्व-रज और तम का महत्त्व केवल इतना ही है कि ब्रह्मा से लेकर कीड़े-मकोड़ों तक सभी इन गुणों के कारण त्रिविध हो गये हैं। परन्तु मैं सबसे पहले तुमको वह ज्ञान बतलाता हूं जिसने इस समस्त विश्व का भेदन किया है और इसलिए जो स्वयं भी गुण-भेद के फेर में पड़ गया है। बात यह है कि जब नजर साफ होती है, तब हर एक चीज साफ दिखाई देती है। इसी प्रकार जब शुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है, तब सब कुछ शुद्ध हो जाता है। इसलिए जिसे सात्त्विक ज्ञान कहते हैं, अब मैं उसका वर्णन करता हूं। तुम ध्यानपूर्वक सुनो।" बस यही बात कैवल्य-स्वरूप श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कही थी।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

उन्होंने कहा—"हे भाई अर्जुन, सात्त्विक ज्ञान ही वास्तव में निर्मल होता है। इस ज्ञान का उदय होते ही ज्ञाता और ज्ञेय ब्रह्मैक्य में विलीन हो जाते हैं। जिस प्रकार अन्धकार को सूर्य के दर्शन नहीं होते अथवा समुद्र को नदी के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता अथवा प्रयत्न करने पर भी जिस प्रकार अपनी छाया पकड़ी नहीं जाती, उसी प्रकार जिस ज्ञान को शंकर से लेकर तिनके तक कोई नाम-रूपात्मक व्यक्ति कभी स्पर्श ही नहीं कर सकता अथवा जिस प्रकार हाथ से चित्र को दबाकर उसे देखने पर अथवा पानी से नमक को धोने का प्रयत्न करने पर अथवा जाग्रत होने के उपरान्त स्वप्न का अनुभव करने का प्रयत्न करने पर कुछ भी बाकी नहीं रह जाता, उसी प्रकार जिस ज्ञान से ज्ञेय को देखने पर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों में से कुछ भी बाकी नहीं रह जाता अथवा जिस प्रकार सोने को गलाकर उसमें से कोई अपनी इच्छा के अनुसार गहने नहीं निकाल सकता अथवा पानी को छानकर उसमें से कोई तरंगों को अलग नहीं कर सकता, उसी प्रकार यह भी समझ लेना चाहिए कि जिस ज्ञान से किसी दृश्य स्थिति की प्राप्ति नहीं होती (अर्थात् कोई दृश्य वस्तु भिन्न नहीं दिखाई देती), वही ज्ञान पूर्ण रूप से सात्त्विक है। जब कोई मनुष्य बड़े कुतूहल से शीशे को देखने के लिए जाता है, तब उसे सामने स्वयं अपना ही स्वरूप दिखाई देता है। मैं फिर यही बात कहता हूं कि इसी प्रकार ज्ञेय का नाम-निशान तक मिटाकर जो ज्ञान स्वयं ज्ञाता ही बन जाता है और जो ज्ञान मोक्ष-लक्ष्मी का मन्दिर है, यही सात्त्विक ज्ञान है। परन्तु इस विषय का बहुत विस्तार हो चुका। अब तुम राजस ज्ञान के लक्षण सुनो।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

"हे अर्जुन, सुनो, जो ज्ञान भेद के आधार पर पैर आगे बढ़ाता है, उसे राजस समझना चाहिए। स्वयं भेदभाव से भूतमात्र के असंख्य भेद करके और ज्ञाता को ही धोखे में डालकर जो ज्ञान विचित्रता उत्पन्न करता है, जो ज्ञान वास्तविक आत्मज्ञान के क्षेत्र के बाहर मिथ्या मोह की खन्दक में जीव को उसी प्रकार जाग्रति, स्वप्न और सुषुप्ति के खेल दिखलाता है, जिस प्रकार प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाली वस्तु पर विस्मृति का परदा डालकर निद्रा मनुष्य को स्वप्न की व्यर्थ की चिन्ताओं का अनुभव कराती है, जिस ज्ञान के कारण नाम और रूप की आड़ में छिपा हुआ अद्वैत तत्त्व उसी प्रकार दिखाई नहीं देता, जिस प्रकार गहने के रूप की आड़ में छिपा हुआ सोना किसी छोटे बालक को नहीं दिखाई देता, जिस ज्ञान के कारण शुद्ध अद्वैत तत्त्व का उसी प्रकार पता नहीं लगने पाता, जिस प्रकार

मटका और घड़ो के रूप में दिखाई पड़ने वाली मिट्टी अज्ञानियों को दिखाई नहीं देती अथवा दीपक की भावना होने के कारण उसमें रहने वाली अग्नि का ज्ञान नहीं होता अथवा किसी वस्तु का नाम 'वस्त्र' पड़ जाने के कारण मूढ़ो को उसके तन्तुओं का ज्ञान नहीं होता, जिस ज्ञान के कारण भूतमात्र भिन्न-भिन्न दिखाई देने लगते हैं और एकता वाली बुद्धि नष्ट हो जाती है और तब जिस प्रकार ईंधन के कारण अग्नि पर, फूलों के कारण सुगन्ध पर अथवा तरंगों के कारण पूर्ण चन्द्रमा पर भेदभाव का आरोप किया जाता है, ठीक उसी प्रकार जो ज्ञान तरह-तरह के पदार्थो का भेद करके उनके रूपों और आकारों के अनुसार उनके छोटे-बड़े अनेक वर्गीकरण करता है, वह ज्ञान राजस होता है। चांडाल के घर से बचने के लिए ही इस बात का पता लगाना पड़ता है कि वह कहां और कैसा है। ठीक इसी प्रकार तामस ज्ञान के लक्षणों का जानना भी आवश्यक होता है। इसलिए अब तुमको वे लक्षण भी बतलाता हूं। तुम उन्हें अच्छी तरह समझ लो।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

"हे अर्जुन, जो ज्ञान शास्त्र-विधियों का वस्त्र नहीं पहनता (अर्थात् जो ज्ञान शास्त्र-विधियों को कोई चीज नहीं समझता) और इसीलिए जिसके नंगे होने के कारण जिसकी ओर सदाचार की माता श्रुति कभी भूलकर भी नहीं देखती और शास्त्र के बहिष्कार के कारण जिस ज्ञान की निन्दा की भी कोई चिन्ता नहीं होती और इसीलिए जिसे दूसरों ने भी (अर्थात् स्मृति आदि ने भी) म्लेच्छ धर्म के पर्वत की ओर हांक दिया है और हे अर्जुन, जो ज्ञान इस प्रकार तमोगुण-रूपी पिशाच से आविष्ट होने के कारण पागलों की तरह इधर-उधर भटकता रहता है, जो ज्ञान शरीर सम्बन्धी किसी प्रकार की बाधा नहीं मानता, जो किसी पदार्थ को निषिद्ध नहीं समझता, जो ज्ञान उजड़े हुए गांव में छोड़े हुए उस कुत्ते के समान होता है, जो केवल उसी पदार्थ को छोड़ता है जो उसके मुंह में नहीं समा सकता अथवा जिसके खाते ही मुंह जलने लगता है और जो बाकी सभी कुछ खा जाता है, जो ज्ञान उस चूहे की तरह होता है जो सोने की चीज खींचकर अपने बिल में ले जाते समय यह नहीं देखता कि उसका सोना खरा है या खोटा अथवा जो ज्ञान उस मांसाहारी मनुष्य की तरह होता है जो मांस खाने के समय उसके काले और गोरे होने का विचार नहीं करता अथवा जो ज्ञान जंगल में लगने वाली आग की तरह यह नहीं देखता कि यह कौन है और वह कौन है अथवा जो ज्ञान उस मक्खी की तरह होता है, जो किसी शरीर पर बैठते समय यह नहीं देखती कि वह मृत है अथवा जीवित है अथवा जो ज्ञान उस कौए के ज्ञान की तरह का होता है जो इस बात का कुछ भी विचार नहीं करता कि यह अन्न किसी का वमन किया हुआ है अथवा परोसा हुआ है, ताजा है या सड़ा हुआ है, तात्पर्य यह कि जो ज्ञान इस बात का कुछ भी विचार नहीं करता कि अमुक वस्तु या बात निषिद्ध है और उसे छोड़ देना चाहिए तथा अमुक वस्तु या बात उचित और विहित है और उसका स्वीकार या पालन करना चाहिए, जो उन सभी पदार्थो को अपने उपभोग का विषय बना लेता है जो उसके सामने आते हैं और जो ज्ञान प्राप्त होने वाली प्रत्येक स्त्री को शिश्न के सुपुर्द कर देता है और प्रत्येक द्रव्य को उदर के सुपुर्द कर देता है, जो ज्ञान पानी देखने पर इस बात का कुछ भी विचार नहीं करता कि यह शुद्ध है अथवा अशुद्ध है और जो केवल यही समझकर उसे तुरन्त पी जाता है कि इससे मेरी तृषा तो शान्त होगी और जो खाने-पीने के सम्बन्ध में भी अपना यही सिद्धान्त रखता है और खाद्य-अखाद्य तथा निन्द्य-अनिन्द्य आदि का कुछ भी विचार नहीं करता और यही समझता है कि जो कुछ खाने में मीठा लगता है, वही पवित्र है, स्त्री जाति के सम्बन्ध में भी जो केवल अपनी स्पर्शेन्द्रिय को ही प्रधान निर्णायक समझता है और उसके साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करना ही अपना मुख्य सिद्धान्त रखता है और केवल उसी को अपना सगा-सम्बन्धी समझता है जिससे उसका कोई स्वार्थ सिद्ध होता है और रिश्ते-नाते के लिए

में मिले हुए प्रकृति और पुरुष को स्पष्ट रूप से अलग-अलग दिखलाने वाला प्रचंड सूर्य ही है, जिस शास्त्र की सहायता से असीम अज्ञान-राशि चौबीस तत्त्वों की नाप-जोख करके परम तत्त्व ब्रह्म का अखंड आनन्द भोगा जा सकता है, हे अर्जुन, उस सांख्य-शास्त्र ने जो कुछ कहा है, वह गुण-भेद का आख्यान मैं तुम्हें सुनाता हूं; सुनो। जिस दृष्टि से अपने अंग की सामर्थ्य से इन तीनों गुणों ने त्रिविधता के रंग से समस्त दृश्य विश्व को रंगा है, उस दृष्टि से सत्त्व-रज और तम का महत्त्व केवल इतना ही है कि ब्रह्मा से लेकर कीड़े-मकोड़ों तक सभी इन गुणों के कारण त्रिविध हो गये हैं। परन्तु मैं सबसे पहले तुमको वह ज्ञान बतलाता हूं जिसने इस समस्त विश्व का भेदन किया है और इसलिए जो स्वयं भी गुण-भेद के फेर में पड़ गया है। बात यह है कि जब नजर साफ होती है, तब हर एक चीज साफ दिखाई देती है। इसी प्रकार जब शुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है, तब सब कुछ शुद्ध हो जाता है। इसलिए जिसे सात्त्विक ज्ञान कहते हैं, अब मैं उसका वर्णन करता हूं। तुम ध्यानपूर्वक सुनो।" बस यही बात कैवल्य-स्वरूप श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कही थी।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

उन्होंने कहा—"हे भाई अर्जुन, सात्त्विक ज्ञान ही वास्तव में निर्मल होता है। इस ज्ञान का उदय होते ही ज्ञाता और ज्ञेय ब्रह्मैक्य में विलीन हो जाते हैं। जिस प्रकार अन्धकार को सूर्य के दर्शन नहीं होते अथवा समुद्र को नदी के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता अथवा प्रयत्न करने पर भी जिस प्रकार अपनी छाया पकड़ी नहीं जाती, उसी प्रकार जिस ज्ञान को शंकर से लेकर तिनके तक कोई नाम-रूपात्मक व्यक्ति कभी स्पर्श ही नही कर सकता अथवा जिस प्रकार हाथ से चित्र को दबाकर उसे देखने पर अथवा पानी से नमक को धोने का प्रयत्न करने पर अथवा जाग्रत होने के उपरान्त स्वप्न का अनुभव करने का प्रयत्न करने पर कुछ भी बाकी नहीं रह जाता, उसी प्रकार जिस ज्ञान से ज्ञेय को देखने पर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों में से कुछ भी बाकी नहीं रह जाता अथवा जिस प्रकार सोने को गलाकर उसमें से कोई अपनी इच्छा के अनुसार गहने नहीं निकाल सकता अथवा पानी को छानकर उसमें से कोई तरंगों को अलग नहीं कर सकता, उसी प्रकार यह भी समझ लेना चाहिए कि जिस ज्ञान से किसी दृश्य स्थिति की प्राप्ति नहीं होती (अर्थात् कोई दृश्य वस्तु भिन्न नहीं दिखाई देती), वही ज्ञान पूर्ण रूप से सात्त्विक है। जब कोई मनुष्य बड़े कुतूहल से शीशे को देखने के लिए जाता है, तब उसे सामने स्वयं अपना ही स्वरूप दिखाई देता है। मैं फिर यही बात कहता हूं कि इसी प्रकार ज्ञेय का नाम-निशान तक मिटाकर जो ज्ञान स्वयं ज्ञाता ही बन जाता है और जो ज्ञान मोक्ष-लक्ष्मी का मन्दिर है, यही सात्त्विक ज्ञान है। परन्तु इस विषय का बहुत विस्तार हो चुका। अब तुम राजस ज्ञान के लक्षण सुनो।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

"हे अर्जुन, सुनो, जो ज्ञान भेद के आधार पर पैर आगे बढ़ाता है, उसे राजस समझना चाहिए। स्वयं भेदभाव से भूतमात्र के असंख्य भेद करके और ज्ञाता को ही धोखे में डालकर जो ज्ञान विचित्रता उत्पन्न करता है, जो ज्ञान वास्तविक आत्मज्ञान के क्षेत्र के बाहर मिथ्या मोह की खन्दक में जीव को उसी प्रकार जाग्रति, स्वप्न और सुषुप्ति के खेल दिखलाता है, जिस प्रकार प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाली वस्तु पर विस्मृति का परदा डालकर निद्रा मनुष्य को स्वप्न की व्यर्थ की चिन्ताओं का अनुभव कराती है, जिस ज्ञान के कारण नाम और रूप की आड़ में छिपा हुआ अद्वैत तत्त्व उसी प्रकार दिखाई नहीं देता, जिस प्रकार गहने के रूप की आड़ में छिपा हुआ सोना किसी छोटे बालक को नहीं दिखाई देता, जिस ज्ञान के कारण शुद्ध अद्वैत तत्त्व का उसी प्रकार पता नहीं लगने पाता, जिस प्रकार

मटकों और घड़ों के रूप में दिखाई पड़ने वाली मिट्टी अज्ञानियों को दिखाई नहीं देती अथवा दीपक की भावना होने के कारण उसमें रहने वाली अग्नि का ज्ञान नहीं होता अथवा किसी वस्तु का नाम 'वस्त्र' पड़ जाने के कारण मूढ़ों को उसके तन्तुओं का ज्ञान नहीं होता, जिस ज्ञान के कारण भूतमात्र भिन्न-भिन्न दिखाई देने लगते हैं और एकता वाली बुद्धि नष्ट हो जाती है और तब जिस प्रकार ईंधन के कारण अग्नि पर, फूलों के कारण सुगन्ध पर अथवा तरंगों के कारण पूर्ण चन्द्रमा पर भेदभाव का आरोप किया जाता है, ठीक उसी प्रकार जो ज्ञान तरह-तरह के पदार्थों का भेद करके उनके रूपों और आकारों के अनुसार उनके छोटे-बड़े अनेक वर्गीकरण करता है, वह ज्ञान राजस होता है। चांडाल के घर से बचने के लिए ही इस बात का पता लगाना पड़ता है कि वह कहां और कैसा है। ठीक इसी प्रकार तामस ज्ञान के लक्षणों का जानना भी आवश्यक होता है। इसलिए अब तुमको वे लक्षण भी बतलाता हूं। तुम उन्हें अच्छी तरह समझ लो।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

"हे अर्जुन, जो ज्ञान शास्त्र-विधियों का वस्त्र नहीं पहनता (अर्थात् जो ज्ञान शास्त्र-विधियों को कोई चीज नहीं समझता) और इसीलिए जिसके नंगे होने के कारण जिसकी ओर सदाचार की माता श्रुति कभी भूलकर भी नहीं देखती और शास्त्र के बहिष्कार के कारण जिस ज्ञान को निन्दा की भी कोई चिन्ता नहीं होती और इसीलिए जिसे दूसरों ने भी (अर्थात् स्मृति आदि ने भी) म्लेच्छ धर्म के पर्वत की ओर हांक दिया है और हे अर्जुन, जो ज्ञान इस प्रकार तमोगुण-रूपी पिशाच से आविष्ट होने के कारण पागलों की तरह इधर-उधर भटकता रहता है, जो ज्ञान शरीर सम्बन्धी किसी प्रकार की बाधा नहीं मानता, जो किसी पदार्थ को निषिद्ध नहीं समझता, जो ज्ञान उजड़े हुए गांव में छोड़े हुए उस कुत्ते के समान होता है, जो केवल उसी पदार्थ को छोड़ता है जो उसके मुंह में नहीं समा सकता अथवा जिसके खाते ही मुंह जलने लगता है और जो बाकी सभी कुछ खा जाता है, जो ज्ञान उस चूहे की तरह होता है जो सोने की चीज खींचकर अपने बिल में ले जाते समय यह नहीं देखता कि उसका सोना खरा है या खोटा अथवा जो ज्ञान उस मांसाहारी मनुष्य की तरह होता है जो मांस खाने के समय उसके काले और गोरे होने का विचार नहीं करता अथवा जो ज्ञान जंगल में लगने वाली आग की तरह यह नहीं देखता कि यह कौन है और वह कौन है अथवा जो ज्ञान उस मक्खी की तरह होता है, जो किसी शरीर पर बैठते समय यह नहीं देखती कि वह मृत है अथवा जीवित है अथवा जो ज्ञान उस कौए के ज्ञान की तरह का होता है जो इस बात का कुछ भी विचार नहीं करता कि यह अन्न किसी का वमन किया हुआ है अथवा परोसा हुआ है, ताजा है या सड़ा हुआ है, तात्पर्य यह कि जो ज्ञान इस बात का कुछ भी विचार नहीं करता कि अमुक वस्तु या बात निषिद्ध है और उसे छोड़ देना चाहिए तथा अमुक वस्तु या बात उचित और विहित है और उसका स्वीकार या पालन करना चाहिए, जो उन सभी पदार्थों को अपने उपभोग का विषय बना लेता है जो उसके सामने आते हैं और जो ज्ञान प्राप्त होने वाली प्रत्येक स्त्री को शिश्न के सुपुर्द कर देता है और प्रत्येक द्रव्य को उदर के सुपुर्द कर देता है, जो ज्ञान पानी देखने पर इस बात का कुछ भी विचार नहीं करता कि यह शुद्ध है अथवा अशुद्ध है और जो केवल यही समझकर उसे तुरन्त पी जाता है कि इससे मेरी तृषा तो शान्त होगी और जो खाने-पीने के सम्बन्ध में भी अपना यही सिद्धान्त रखता है और खाद्य-अखाद्य तथा निन्द्य-अनिन्द्य आदि का कुछ भी विचार नहीं करता और यही समझता है कि जो कुछ खाने में मीठा लगता है, वही पवित्र है, स्त्री जाति के सम्बन्ध में भी जो केवल अपनी स्पर्शेन्द्रिय को ही प्रधान निर्णायक समझता है और उसके साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करना ही अपना मुख्य सिद्धान्त रखता है और केवल उसी को अपना सगा-सम्बन्धी समझता है जिससे उसका कोई स्वार्थ सिद्ध होता है और रिश्ते-नाते के लिए

शारीरिक सम्बन्ध को कुछ भी महत्त्व नहीं देता, तात्पर्य यह कि इस प्रकार का विचार जिस ज्ञान के कारण होता है, वही ज्ञान तामस है। मृत्यु सबको खा जाती है और अग्नि सब कुछ जला डालती है। इसी प्रकार तामस ज्ञान वाले को भी सदा यही जान पड़ता है कि सारा संसार केवल मेरे ही उपभोग के लिए है। इस प्रकार जो मनुष्य यह मान लेता है कि सारा विश्व केवल मेरे ही उपभोग का विषय है, उसके हिस्से में केवल एक ही फल आता है। और वह फल कौन-सा है ? यही अपने शरीर का पोषण करना। जिस प्रकार आकाश से वर्षा के रूप में गिरने वाले जल का अन्तिम आश्रय-स्थल एकमात्र समुद्र ही होता है, उसी प्रकार तामसी ज्ञान के सब कृत्य भी केवल अपने पेट के लिए, अपने पिंड का पोषण करने के लिए ही होते हैं। केवल इतना ही नहीं, जिस ज्ञान में इस बात का विचार ही नहीं होता कि स्वर्ग और नरक भी कोई चीज है और हमें स्वर्ग प्राप्त करने का तथा नरक से बचने का प्रयत्न करना चाहिए और इन सब विषयों की जानकारी के लिए जिस ज्ञान में केवल अन्धकार-ही-अन्धकार होता है, जिस ज्ञान की पहुंच केवल इसी बात तक होती है कि शरीर का पिंड ही आत्मा है और देवता केवल पत्थर की मूर्ति है, जो ज्ञान यह बतलाता है कि शरीरपात होते ही समस्त कृत्यों के साथ आत्मा भी नष्ट हो जाती है और तब कर्मों का भोग करने के लिए कोई बच ही नहीं जाता अथवा यदि यह मान लिया जाय कि ईश्वर है और वही सबको भोग भोगने में प्रवृत्त करता है, तो जो ज्ञान मनुष्य के मन में यह विचार उत्पन्न करता है कि चलो, उस ईश्वर को ही बेच खाओ जिससे सारे झगड़े ही मिट जायं अथवा यदि यह मान लिया जाय कि हमारे निवास-स्थान के देवालय में पत्थर का जो ईश्वर रखा हुआ है, वही वास्तव में सारे संसार का नियमन करने वाला है, तो जो ज्ञान मनुष्य से यह कहलाता है कि तो फिर ये देश-भर के पहाड़ क्यों चुपचाप पड़े रहते हैं और यही सारे संसार का नियमन क्यों नहीं करते ? तात्पर्य यह कि जिस ज्ञान के कारण मनुष्य के मन में यह विचार उत्पन्न होता है कि यदि क्षण-भर के लिए यह मान भी लिया जाय कि ईश्वर कोई चीज है, तो वह केवल पत्थर ही सिद्ध होता है और आत्मा केवल यह शरीर ही है, पाप-पुण्य आदि जो दूसरी बहुत-सी बातें कही जाती हैं, उन्हें बिलकुल मिथ्या समझकर जो ज्ञान यह निश्चित करता है कि सदा विषयों में ही लिप्त रहना और जंगल की आग की तरह सब कुछ स्वाहा करते चलना ही ठीक है, वही ज्ञान तामस है। जिस ज्ञान के कारण मनुष्य के मन मे यह विश्वास उत्पन्न होता है कि चर्मचक्षुओं को जो कुछ दिखाई देता है और इन्द्रियां जिनके माधुर्य में भूल जाती हैं, वही चीजें सच्ची और ठीक हैं, वही ज्ञान तामस होता है। और यदि संक्षेप में कहा जाय तो, हे अर्जुन, यही विचारधारा बढ़ती-बढ़ती ऐसा रूप धारण कर लेती है कि जिस प्रकार धुएं के बादल आकाश में व्यर्थ ही इधर-उधर चक्कर लगाया करते हैं अथवा जिस प्रकार कुछ जंगली वनस्पतियां न तो हरी रहने पर ही किसी काम आती हैं और न सूखने पर ही कुछ काम देती हैं और आपसे आप बढ़ती-बढ़ती अन्त में नष्ट हो जाती हैं अथवा जिस प्रकार ऊख का ऊपरी भाग, नपुंसक मनुष्य अथवा करील के पेट चाहे कितने ही क्यों न बढ़ें, परन्तु फिर भी निरुपयोगी ही होते हैं अथवा छोटे बच्चे का लक्ष्य, चोर के घर का द्रव्य और बकरी के गले में निकला हुआ स्तन चाहे देखने में कितना ही अच्छा क्यों न हो, परन्तु फिर भी जो बिलकुल निष्फल होता है, ठीक उसी प्रकार जो ज्ञान व्यर्थ और निस्तेज दिखाई देता है, उसी को मैं तामस ज्ञान कहता हूं। वास्तव में तो उसे ज्ञान कहना ही नहीं चाहिए; परन्तु फिर भी जो मैं उसे 'ज्ञान' कहता हूं, उसका कारण केवल यही है कि जिस प्रकार जन्म-जात अन्धे की आंखें देखने में अच्छी जान पड़ती हैं अथवा बहरे के कान देखने में ठीक जान पड़ते हैं, अथवा मद्य को जिस प्रकार लोग 'पान' कहते हैं, उसी प्रकार उस तामस ज्ञान का भी यह 'ज्ञान' केवल संकेत-सूचक नाम है। तात्पर्य यह कि तामसी वृत्ति का जो ज्ञान होता है, वह वास्तव में ज्ञान ही नहीं है। वह तो केवल खुली हुई आंखों का अन्धकार है। हे श्रोतृश्रेष्ठ अर्जुन, इस प्रकार तीनों गुणों के कारण होने वाले ज्ञान के तीनों प्रकार मैंने तुम्हें सब लक्षणों सहित बतला दिये हैं। अब हे

अर्जुन, इसी त्रिविध ज्ञान के प्रकाश से कर्ताओं की सब क्रियाएं चलती हुई दिखाई देती हैं। इसीलिए जिस प्रकार चलते हुए प्रवाह के सामने जो जल आता है, वह उसी में मिलकर उसके साथ बहने लगता है, उसी प्रकार कर्म भी त्रिविध ज्ञान के तीनों मार्गों पर चलते रहते हैं। और एक ही कर्म ज्ञान के तीन भेदों के कारण तीन प्रकार का हो जाता है। अब मैं उनमें से पहले सात्त्विक कर्म के लक्षण बतलाता हूं; सुनो।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री स्वयं ही अपने पति का आलिंगन करती है, उसी प्रकार अपने अधिकार के आधार पर जो कर्तव्य स्वभावतः आकर हमारे गले पड़ते हैं, जो कर्तव्य हमारे अधिकार के कारण हमारे लिए उसी प्रकार भूषण होते हैं, जिस प्रकार सांवले शरीर में चन्दन का लेप अथवा तरुणी स्त्री के नेत्रों में काजल शोभा देता है, वही नित्य कर्म हैं और वे अच्छे ही होते हैं। और यदि उनके साथ नैमित्तिक कर्म भी आकर मिल जायं, तब तो मानों सोने में सुगन्ध ही आ जाती है। अपनी आत्मा और शरीर को अनेक प्रकार के कष्ट देकर भी माता अपने बच्चे का पालन-पोषण करती है; परन्तु फिर भी उसका मन कभी इन बातों से दुःखी नहीं होता। ठीक इसी प्रकार हृदय से सब कर्मों का आचरण करना चाहिए, परन्तु उनके फल की ओर बिलकुल दृष्टि न रखनी चाहिए और सब कर्म ब्रह्मार्पण कर देने चाहिए। जब कोई स्त्री अपने पति, बालकों और प्रियजनों के आगे भोजन परोसने लगती है, तब उसके मन में इस बात का विचार ही नहीं उत्पन्न होता कि यह सारा भोजन समाप्त हो जायगा और मेरे लिए इसमें से कुछ बचेगा भी या नहीं। सत्कर्म करने के समय भी मनुष्य को सदा ठीक इसी प्रकार की मनोवृत्ति रखनी चाहिए। ऐसी अवस्था में यदि काम न पूरा उतरे तो विषाद कभी मनुष्य को दुःखी नहीं करता; अथवा यदि वह पूरा हो जाय तो वह कभी आनन्द से फूलता भी नहीं। हे अर्जुन, इस प्रकार की युक्तियों से जिन कर्मों का आचरण किया जाता है, वे कर्म अपने इसी गुण के कारण सात्त्विक कहे जाते हैं। अब मैं तुम्हें राजस कर्म के लक्षण बतलाता हूं। तुम इन बातों की ओर अपना अवधान कम मत होने दो।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

"जिस प्रकार कोई मूर्ख मनुष्य अपने घर में माता-पिता के साथ तो कभी एक भी मीठी बात नहीं करता, परन्तु बाहर सारे संसार के साथ बहुत आदरपूर्वक व्यवहार करता है अथवा तुलसी के पेड़ में तो कभी दूर से एक छींटा भी जल नहीं डालता, परन्तु दाख की बेल की जड़ दूध से सींचता है, ठीक उसी प्रकार जो नित्य नैमित्तिक कर्मों के लिए तो अपने बैठने की जगह से कभी उठने का मन में विचार भी नहीं करता और कोई अपने मतलब का काम आने पर अपने शरीर को कष्ट देने में भी कोई विशेष हानि नहीं समझता और जिस प्रकार कोई अच्छी फसल पैदा करने के लिए बीज बोते समय कभी यह नहीं कहता कि बीजों की बोआई बहुत हो चुकी, ठीक उसी प्रकार जिसे उस स्थान पर धन व्यय करने में कुछ भी चिन्ता या संकोच नहीं होता, जिस स्थान से उसे यथेष्ट लाभ की आशा होती है अथवा जिस प्रकार पारस पत्थर मिल जाने पर कीमियागर लोहा खरीदने के लिए अपनी सारी सम्पत्ति भी बहुत प्रसन्नता से बेच डालता है, ठीक उसी प्रकार राजस कर्ता भी आगे प्राप्त होने वाले फल पर दृष्टि रखकर बड़े-बड़े कष्ट-साध्य काम्य कर्म करता है; और इस प्रकार के चाहे कितने ही अधिक कर्म वह क्यों न कर डाले, परन्तु फिर भी वह उन सबको थोड़ा ही समझता है। वह फल की आशा में उलझा रहता है और इसीलिए जितने काम्य कर्म हैं, वे सब ठीक तरह से और बहुत ठाट से करता है। और साथ ही जो-जो काम वह करता है, उन सबकी लोक में डुग्गी भी पीटता चलता है और सारे संसार में यह कहकर अपने नाम के महत्त्व का प्रकाश

करता है कि इन सब कार्मो का करने वाला मैं हूं। फिर उसमें कर्तृत्व का अहंकार इतना अधिक भर जाता है कि वह अपने पिता अथवा गुरु का भी कोई महत्त्व नहीं बचने देता। जिस प्रकार प्राणान्त करने वाला ज्वर किसी ओषध को नहीं मानता, उसी प्रकार वह भी किसी को नहीं मानता। इस प्रकार अहंकार के द्वारा पछाड़े हुए ओर फल के फेर में पड़े हुए मनुष्य के हाथों जो-जो कर्म बहुत अनुराग से होते हैं और वह भी अनेक प्रकार के कष्ट सहकर और इस प्रकार होते हैं, जैसे बाजीगर अपना पेट भरने के लिए तरह-तरह के कठिन और कष्ट-साध्य खेल करते हैं, वे सब कर्म 'राजस' होते हैं। जिस प्रकार धान्य के एक कण के लिए भी चूहा पहाड़ खोद डालता है अथवा सेवार के लिए मेंढक सारा समुद्र गन्दा कर डालता है अथवा केवल भिक्षा पाने के लिए मदारी जिस प्रकार साप लेकर घर-घर घूमता है, उसी प्रकार अनेक कष्ट उठाकर अपने लोभ के लिए जो कार्य किए जाते हैं, वे सब राजस होते हैं। परन्तु क्या कहा जाय; कुछ लोगों को इस प्रकार के कष्ट ही बहुत अच्छे लगते हैं। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार धान्य का बहुत ही छोटा-सा कण प्राप्त करने के लिए भी दीमक पाताल तक छेद करता हुआ चला जाता है, ठीक उसी प्रकार स्वर्ग-सुख की प्राप्ति की आशा में जो अनेक कष्टपूर्ण परिश्रम किए जाते हैं, उन्हीं क्लेशकारक कामिक कर्मो को राजस कर्म समझना चाहिए। हे अर्जुन, अब तुम तामस कर्मो के लक्षण सुनो।

अनुबन्धं क्षय हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

"जो कर्म मानों निन्दा का घर ही होते हैं और जिनके कारण मानों निपेध का जन्म सार्थक होता है, वे सब तामस कर्म हैं। पानी पर खींची हुई रेखा की तरह जिन कर्मो का आचरण करने पर पीछे कुछ भी बाकी नहीं रह जाता अथवा जिस प्रकार कांजी को मथना, खाली राख में फूंक मारना अथवा तेल निकालने के लिए कोल्हू में वालू डालकर पेरना अथवा भूसा फटकना, आकाश में कोई चीज भोंकना अथवा वायु को पकड़ने के लिए जाल विछाना आदि सब काम बिलकुल निष्फल होते और व्यर्थ जाते हैं, ठीक उसी प्रकार जो कर्म करने पर बिलकुल ही व्यर्थ जाते हैं और जिनका कुछ भी फल नहीं होता अथवा यदि वे कर्म व्यर्थ न भी जायं तो भी नर-देह सरीखी बहुमूल्य वस्तु को व्यय करके जिन कर्मो का आचरण करने के कारण संसार के सुख का नाश होता है, वे सब कर्म तामस होते हैं। अथवा जिस प्रकार कमलों पर कंटीली जाल फेंकने से उस जाल के कांटे भी टूटते हैं और कमलों के दल भी छिद और फट जाते हैं, अथवा जिस प्रकार दीपक के साथ द्वेष रखने के कारण पतंगे उस पर टूट पड़ते हैं और स्वयं अपना ही अंग जला लेते हैं और दीपक को बुझाकर लोगों के लिए अंधेरा कर देते हैं, ठीक उसी प्रकार चाहे अपना सर्वस्व व्यर्थ ही नष्ट क्यों न हो जाय, यहां तक कि अपने शरीर का भी घात क्यों न हो जाय, परन्तु फिर भी जिन कर्मो के द्वारा जान-बूझकर दूसरों का अ-हित किया जाता है, जिन कर्मो के आचरण से उस मक्खी की दुष्टता का स्मरण हो आता है जो अपने खाने-पीने की सब सामग्री तो मनुष्यों से ही प्राप्त करती है, परन्तु फिर भी अपने आचरण से जो मनुष्य को वमन का कष्ट पहुंचाती है, वे सब तामस कर्म होते हैं। और ये सब कर्म बिना इस वात का विचार किए हुए ही किए जाते हैं कि इन्हें करने की सामर्थ्य हममें है भी या नहीं। यह नहीं सोचा जाता कि हमारी शक्ति कितनी है, यह कार्य करने में कितने बखेड़े करने पड़ेंगे और अन्त में इससे हमारी फल-सिद्धि ही क्या होगी ! इस प्रकार की सभी बातों का विचार अविवेकपूर्वक पैरों तले रौंद डाला जाता है और तब ऐसे कर्म करने का आयोजन किया जाता है। पहले स्वयं अपना ही घर जलाकर आग बाहर निकलती है ओर स्वयं अपनी ही मर्यादा डुबाकर समुद्र ऊपर और बाहर की ओर उछलता है। फिर वह आग अथवा वह समुद्र छोटे और बड़े का कुछ भी विचार नहीं करता, आगे-पीछे कुछ भी नहीं देखता और टेढ़े-सीधे मार्गो को एकाकार करता जाता है; और उसका यह क्रम बराबर चला चलता है। ठीक इसी प्रकार अच्छे और बुरे, दुष्ट और सुष्ट आदि का

।बना काइ।विचार किये और अपने तथा पराए सभी लोगों के धुर्रे उड़ाते हुए जिन कर्मो का आचरण किया जा है उनके सम्बन्ध मे निश्चित रूप से यह समझ रखना चाहिए कि वे तामस कर्म है हे अर्जुन इस प्रकार मैने स्पष्ट रूप से तुम्हे यह बतला दिया है कि तीनो गुणो के कारण कर्म किस प्रकार त्रिविध होते है अब ये सब कर्म कर वाला और इनके कर्तृत्व का अहंकार करने वाला जो जीव होता है वह भी त्रिविधता प्राप्त करता है। जिस प्रका एक ही पुरुष ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों में रहकर अलग-अलग चार प्रकार का दिखाई देता है, उसी प्रकार कर्म की त्रिविधता के कारण कर्ता में भी त्रिविधता आ जाती है। इसलिए इन तीनों प्रकार के कर्ताओं में जो पहल सात्त्विक कर्ता है, उसका मैं विवेचन करता हूं। तुम अच्छी तरह ध्यान देकर सुनो।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

"फल की इच्छा न होने के कारण जिस प्रकार मलयागिरि चन्दन वृक्ष की शाखाएं बिलकुल सीधी और बराबर बढ़ती तथा फैलती रहती हैं अथवा जिस प्रकार फल धारण न करने के कारण ही नागवल्ली का जन्म सार्थक होता है, ठीक उसी प्रकार सात्त्विक कर्ता भी सदा अपने नित्य और नैमित्तिक कर्म करता है। परन्तु इस फलशून्यता के कारण उसके उन कर्मो को विफलता नहीं प्राप्त होती; क्योंकि हे अर्जुन, क्या कभी फल में भी फल लगते हैं ? जो मनुष्य सब काम तो बहुत आदर और अनुरागपूर्वक करता है, परन्तु फिर भी जिसे इस प्रकार का अहंकार कभी छू भी नहीं जाता कि मैं कर्ता हूं, जो वर्षाकाल के मेघों की तरह परमात्मा पर निरन्तर वर्षा करने के योग्य विपुल कर्मों का आचरण करता रहता है, जो उचित समय साधता है, शुद्ध स्थल देखता है, कर्मो की विधियों का निर्णय शास्त्रों के वचनों के आधार पर करता है, अपना मन एकाग्र करता है, चित्त को फल की आशा की ओर नहीं प्रवृत्त होने देता, नियमों का उचित रूप से पालन करता है और इस निर्बन्ध को सहन करने के लिए अपने आप में पूरा-पूरा धैर्य लाने की निरन्तर चिन्ता और प्रयत्न करता है और केवल आत्मस्वरूप के प्रेम के कारण क्रियाएं करते रहने पर भी जो शारीरिक सुखों के जाल में नहीं फंसता, जिसमें आलस्य और निद्रा कहीं नाम को भी नहीं रह जाती, जो कभी क्षुधा से पीड़ित नहीं होता और शरीर का सुख जिसे अच्छा नहीं लगता और इतना सब कुछ होने पर भी कर्मो के प्रति जिसका उत्साह उसी प्रकार बराबर बढ़ता हुआ दिखाई देता है, जिस प्रकार खोट या मिलावट के जल जाने के कारण, वजन कम हो जाने पर भी, सोना चोखा और खरा होता जाता है, वही सात्त्विक कर्ता होता है। यदि सचमुच मन में किसी बात का अनुराग हो तो प्राण केवल तुच्छ जान पड़ते हैं। जब कोई सच्ची पतिव्रता स्त्री अपने पति के प्रेम के कारण सती होने के लिए उद्यत होती है, तब क्या अग्नि में प्रवेश करते समय कभी भय से उसे रोमांच होता है ? ऐसी अवस्था में, हे अर्जुन, जो पुरुष आत्मस्वरूप सरीखे प्रिय पदार्थ को प्राप्त करने के लिए उद्यत होता है, वह क्या कभी इस बात का खेद कर सकता है कि मेरा शरीर क्षीण हो गया ! इसीलिए जिसकी विषय-सम्बन्धी इच्छा नष्ट हो जाती है और ज्यों-ज्यों देह का अभिमान दूर होता है, त्यों-त्यों कर्मो का आचरण करने में जिसे दूना आनन्द मिलता है और इस प्रकार जो बरावर दूर आनन्द से कर्मो का आचरण करता चलता है और यदि कभी कोई आरम्भ किया हुआ कार्य किसी कारण से आधा होकर ही रुक जाय तो भी उस कार्य के बिगड़ने के कारण जिसे उसी प्रकार कोई दुःख या कष्ट नहीं होता, जिस प्रकार पहाड़ पर से नीचे गिर पड़ने वाली गाड़ी कभी अपने लिए कोई दुःख नहीं करती अथवा कोई आरम्भ किया हुआ कार्य सिद्ध हो जाने पर जो चारों ओर उसकी जय-घोषणा नहीं करता फिरता, तात्पर्य यह कि जो उन्हीं सब लक्षणों से युक्त होकर कार्य करता हुआ दिखाई देता है, हे अर्जुन, वास्तव में उसी को सात्त्विक कर्ता कहना चाहिए। और हे पार्थ, राजस कर्ता की पहचान यह है कि वह लौकिक वासनाओं में ही सदा डूबा हुआ रहता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥२७॥

"जिस प्रकार गांव के कूड़ेखाने में सारा कूड़ा-करकट आकर इकट्ठा होता है अथवा श्मशान में ही समस्त अमंगलजनक वस्तुएं आकर एकत्र होती हैं, उसी प्रकार जो पुरुष सारे संसार की वासनाओं के दोषों का पावदान होता है और इसीलिए जो पुरुष केवल ऐसे ही कर्मों का आयोजन करता है, जिनमें फलों की अखंड प्राप्ति होती हुई दिखाई देती है और उन कर्मों से होने वाले लाभ में की एक कौड़ी भी बिना छोड़े जो उनके लिए अपने प्राण तक निछावर करने के लिए सदा उद्यत रहता है, जो स्वयं अपनी वस्तुओं की तो पूर्ण रूप से रक्षा करता ही है, पर साथ ही दूसरों की वस्तु हरण करने के लिए भी सदा उसी प्रकार ध्यान लगाये रहता है, जिस प्रकार मछली को पकड़ने के लिए बगुला बराबर ध्यान लगाये रहता है, जिसकी अवस्था बेर के उस वृक्ष के समान होती है जो अपने पास आने वालों को तो अपने कांटों से पकड़ता है और स्पर्श करने वालों का शरीर छेदता है और इतना होने पर भी जिसके फल अपने खट्टेपन के कारण जीभ को परम दुःखी कर देते हैं, जो बराबर दूसरों को दुःख देता रहता है और अपना मतलब निकालने के लिए दूसरों के हित की कुछ भी परवाह नहीं करता, स्वयं अपना काम करने के लिए दूसरों को कभी कुछ मोहलत या सुभीता नहीं देता और जो भावना अपने आपको पसन्द न हो—वह चाहे कितनी ही उदात्त क्यों न हो, तो भी—उस भावना में जो कभी अपना मन नहीं लगाता, जिसकी अवस्था धतूरे के उस फल की तरह होती है जिसके अन्दर जहर होता है और बाहर कंटीला कवच होता है और इस प्रकार अन्दर और बाहर शुद्धता से बिलकुल खाली रहता है और, हे अर्जुन, अपने किये हुए कर्म का फल प्राप्त होने पर जो मारे आनन्द के सारे संसार को मुंह चिढ़ाने लगता है अथवा यदि आरम्भ किया हुआ कार्य बिगड़कर निष्फल हो जाय तो जो पुरुष शोक से अंकित होकर सारे संसार को गालियां और शाप देने लगता है और, हे अर्जुन, जो इस प्रकार कर्मों में फंसा रहता है, उसके सम्बन्ध में अच्छी तरह से यह समझ रखना चाहिए कि वह राजस कर्ता है। अब मैं उस तामस कर्ता का वर्णन करता हूं जिसे समस्त दुष्कर्मों का केवल फूलने-फलने का मुख्य स्थान ही समझना चाहिए।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥२८॥

"जिस प्रकार अग्नि को इस बात का कुछ भी ज्ञान नहीं होता कि मेरे स्पर्श के कारण दूसरी वस्तुएं किस प्रकार जलती हैं अथवा जिस प्रकार शस्त्र की समझ में यह बात नहीं आती कि मेरी धार की तीक्ष्णता के कारण दूसरों को किस प्रकार का भीषण कष्ट होता है अथवा जिस प्रकार कालकूट-विष को अपने घातक कृत्य का ज्ञान नहीं होता, ठीक उसी प्रकार, हे अर्जुन, जो अपने सामने आने वाले जीवों का घात करके अपने दुष्कर्म जारी रखता है और उन दुष्कर्मों का आचरण करते समय मनमाने तौर पर खूब तेजी के साथ दौड़ने वाले बादलों की तरह इस बात का कुछ भी ध्यान नहीं रखता कि मेरे हाथों क्या हो रहा है और हे अर्जुन, जिसके कार्य और कारण में मेल न होने के कारण पागल मनुष्य भी जिसके सामने पासंग तक नहीं ठहरता और बैल के पेट में लगी हुई किलनी की तरह जो इन्द्रियों के बढ़े हुए विषय-भोग के आधार पर अपना निर्वाह करता है, जिसकी रहन-सहन उस अज्ञान छोटे बालक के समान होती है, जो कभी अपने आप हंस पड़ता है और कभी रोने लग जाता है, प्रकृति या माया से अंकित होने के कारण जिसे इस बात का कुछ भी भान नहीं होता कि कृत्य क्या है और अ-कृत्य क्या है और केवल कूड़े के कारण बढ़ने वाले कूड़ेखाने की तरह जो केवल मिथ्या समाधान से ही फूला रहता है और इसीलिए जो अपनी अहंमन्यता के कारण स्वयं ईश्वर के सामने भी नहीं झुकता और अपनी अकड़ के आगे पर्वत को भी

तुच्छ समझता है और जिसकी मनोवृत्ति मानों पैरों से कुचली हुई चोरों की काली रावटी के समान काली और दृ मानों बाजार में बैठने वाली वेश्याओं से उधार ली हुई होती है, सारांश यह कि जिसका सारा शरीर ही कपट व बना हुआ होता है और जिसका जीवन मानों जुआरियों का अड्डा होता है और जिसके दर्शन को मानों दर्शन नह बल्कि स्वार्थलोलुप भीलों का गांव ही समझना चाहिए और इसीलिए जिसके रास्ते कभी किसी को जाना ही नहं चाहिए, दूसरों के सत्कृत्य जिसके मन में कांटे की तरह खटकते हैं और दूसरों के अच्छे कृत्य भी जिसके फेर मे पड़कर उसी प्रकार विद्रूप हो जाते हैं, जिस प्रकार नमक के योग से दूध पीने के योग्य नहीं रह जाता, अथवा आग में पड़कर ठंडा पदार्थ भी जलकर आग हो जाता है अथवा अच्छे-अच्छे अन्न भी शरीर में प्रविष्ट होकर मल बन जाते हैं, जो गुणों को भी दोषों का स्वरूप देता है और सांप की तरह अमृत को भी विष कर देता है और संयोगवश कोई ऐसा शुभ कर्म उपस्थित होने पर जिससे ऐहिक जीवन भी सार्थक हो सकता हो और परलोक भी सध सकता हो, जिसे इतनी जल्दी नींद आ जाती है कि मानों उसके पास ही रखी हुई हो और दुष्ट व्यवहार आरम्भ करते ही जिसके पास से नींद इस प्रकार भाग जाती है कि मानों उससे परम घृणा करती हो, जो वास्तविक कल्याण के साधन की सन्धि आने पर आलस्य से उसी प्रकार भरा रहता है जिस प्रकार दाख या आम का रस खाने के दिनों में कौओं के मुंह में रोग हो जाता है अथवा दिन के प्रकाश में जिस प्रकार उल्लू की आंखें अन्धी हो जाती हैं और यदि कोई निन्दनीय कृत्य करने के लिए कहा जाय तो मानों आलस्य जिसके हुक्म में रहता है और तुरन्त दूर भाग जाता है, जिसके मन के साथ मत्सर सदा उसी तरह ठीक बंधा रहता है, जिस तरह समुद्र के उदर में सदा बड़वाग्नि धधकती रहती है और जो जन्म-भर उस प्रकार नाक तक मत्सर से भरा रहता है, जिस प्रकार कंडों की आग में धुआं भरा रहता है, अथवा गुदा-द्वार में सदा दुर्गन्धि ही भरी रहती है और, हे वीर अर्जुन, जो ऐसे कामिक व्यापारों का आरम्भ करता है, जिनका सूत्र प्रत्यक्ष कल्पान्त से भी और आगे तक पहुंच जाता है, परन्तु यदि कोई कल्याणकारक काम करना हो तो उससे एक तिनके की भी प्राप्ति नहीं होती, हे अर्जुन, इस लोक में इस प्रकार केवल पाप के मूर्तिमान् समूह के रूप में ही जो पुरुष दिखाई दे, उसके सम्बन्ध में पूरी तरह से समझ लेना चाहिए कि वह तामस कर्ता है। हे सज्जन-शिरोमणि अर्जुन, इस प्रकार मैंने तुम्हें कर्म, कर्ता और ज्ञान के तीन प्रकार के लक्षण बतला दिये हैं।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२६॥

"अब अविद्या के गांव में मोह के वस्त्र पहनकर और अपने शरीर पर संशय वृत्ति के अलंकार धारण करके अंगों और उपांगों सहित आत्मनिश्चय की शोभा जिस दर्पण में देखी जाती है, वह दर्पण बुद्धि है; और इस बुद्धि का प्रवाह भी तीन प्रकार का होता है। इस संसार में ऐसा कौन-सा पदार्थ है जो सत्त्व आदि तीनों गुणों के योग से तीन प्रकार का न हुआ हो ? क्या इस सृष्टि में कहीं कोई ऐसा काठ भी है जिसके गर्भ में अग्नि न हो ? इसी प्रकार इस दृश्य सृष्टि में भला ऐसी कौन-सी वस्तु हो सकती है जो इन तीनों गुणों के कारण तिरंगी न हुई हो ? इसीलिए इन तीनों गुणों के योग से बुद्धि भी तीन प्रकार की हो गई है और धृति की भी वही दशा हुई है। अब इसी बुद्धि और धृति की त्रिविधता उनके भिन्न-भिन्न लक्षणों सहित बतलाई जायगी। परन्तु हे अर्जुन, बुद्धि और धृति में से मैं पहले बुद्धि के तीनों प्रकारों का स्पष्टीकरण करता हूं। हे वीर अर्जुन, इस संसार-क्षेत्र में जितने जीव आते हैं, उन सबके लिए उत्तम, मध्यम और निकृष्ट ये तीनों मार्ग खुले रहते हैं। और तीनों मार्ग नित्य-नैमित्तिक विहित कर्म, कामिक कर्म और निषिद्ध कर्म हैं और ये तीनों ही मार्ग संसार-भय के कारण जीवों के लिए कष्टप्रद होते हैं।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धंमोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

इसीलिए इन सब कर्मों में वह नित्य कर्म ही सबसे अच्छा है, जो मनुष्य के अधिकार को शोभा देता है और केवल स्वाभाविक क्रम से प्राप्त होता है। उन्हीं नित्य कर्मो का केवल आत्मप्राप्ति के फल पर दृष्टि रखकर ठीक उसी प्रकार आचरण करना चाहिए, जिस प्रकार प्यासा आदमी पानी पीता है। बस इतने से ही वे कर्म जन्म-भय का संकट दूर करके मोक्ष की प्राप्ति सुलभ कराते हैं। जो इस प्रकार अपने नित्य कर्मों का आचरण करता है, उसका संसार-सम्बन्धी भय छूट जाता है ओर कर्म करके वह मुमुक्षुओं का अंश (अर्थात् मोक्ष) प्राप्त करता है। और जिस बुद्धि को इस बात का दृढ़ विश्वास हो जाता है कि इस प्रकार के कर्मो के आचरण में ही मोक्ष रखा हुआ है और इसीलिए जो बुद्धि यह कहती है कि निवृत्ति के आधार पर प्रवृत्ति की रचना करके इन नित्य कर्मों में गोता क्यों न लगाया जाय, वही बुद्धि सात्त्विक होती है। प्यासे को जल से जीवन प्राप्त होता है और बाढ़ में पड़ने वाले को तैरना पड़ता है। घोर अन्धकारपूर्ण गड्ढे में सूर्य की किरणों की सहायता से ही मार्ग दिखाई देता है। यदि ठीक तरह से पथ्य और औषध प्राप्त हो तो रोग से अधमरा होने वाला रोगी भी अच्छा हो जाता है अथवा जब मछली को जल का आधार मिल जाता है, तब उसके प्राणों के लिए कोई भय नहीं रह जाता। ठीक इसी प्रकार इन नित्य कर्मो का आचरण करने से मोक्ष ही प्राप्त होता है। जो बुद्धि इस सम्बन्ध में बिलकुल निर्दोष होती है कि इस प्रकार के कर्तव्य कर्म कौन-से हैं और जो बुद्धि यह बात भी बिलकुल ठीक तरह से जानती है कि न करने के योग्य कर्म कौन-से हैं, वही बुद्धि सात्त्विक है। संसार का भय उत्पन्न करने वाले जो काम्य आदि कर्म हैं और जिन पर निषिद्धता की मोहरे लगी हुई हैं, उन निषिद्ध, अकरणीय और जन्म-मरण के भय से भरे हुए कर्मो से जो बुद्धि प्रवृत्ति को पिछले पैरों दूर हटाती है, वही सात्त्विक बुद्धि है। आग में प्रवेश नहीं किया जाता, अथाह दह में कूदा नहीं जाता और जो लोहा तपकर लाल हो जाता है, वह हाथ से पकडा नहीं जाता; अथवा फुफकारने वाले कालसर्प को देखकर उसे हाथ नहीं लगाया जाता और बाघ की मांद में पैर नहीं रखा जाता। ठीक इसी प्रकार अकरणीय कर्मो को अपने सामने देखकर जो बुद्धि निस्सन्देह रूप से बहुत अधिक भयभीत होती है, जो बुद्धि यह जानती है कि जिस प्रकार विष मिलाकर पकाये हुए अन्न में मृत्यु रखी ही रहती है, उसी प्रकार निषिद्ध कर्म करने से मनुष्य को बन्धन में अवश्य पड़ना पड़ता है और फिर बन्धन के भय से भरे हुए उन निषिद्ध कर्मो के सम्बन्ध में जो बुद्धि कर्म-निवृत्ति का प्रयोग करती है और जिस प्रकार खरे और खोटे की परख की जाती है, उसी प्रकार कार्य और अकार्य के विचार से जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति की ठीक तरह से परख करती है और साथ ही जिस बुद्धि के द्वारा कृत्य और अकृत्य का निर्णय भी उत्तम प्रकार से होता है, यह बात तुम अपने ध्यान में रखो कि वही बुद्धि सात्त्विक है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

"बगलों के गांव में जिस प्रकार दूध और पानी का मिश्रण ही किया जाता है (अर्थात् दोनों अलग-अलग नहीं किये जाते) अथवा जिस प्रकार अन्धे को रात और दिन की पहचान नहीं होती अथवा जो भ्रमर फूलों का मकरन्द निकाल सकता है, वह यदि लकड़ी को काटने में प्रवृत्त हो तो भी उसकी भ्रमरता नष्ट नहीं होती, ठीक उसी प्रकार जो बुद्धि धर्म-रूप उचित कर्मो और अधर्म-रूप निषिद्ध कर्मों का विचार न करके व्यवहार करती है, वह बुद्धि राजसी होती है। जो बिना आंखों से देखे मोती लेता है, उसे खरा माल कदाचित् ही कभी मिलता है और उसके हिस्से में चोखे माल का न मिलना ही आता है। ठीक इसी प्रकार यदि दैवयोग से निषिद्ध कर्म न प्राप्त हों, तभी जो बुद्धि उन निषिद्ध कर्मो से बचती है और नहीं तो सामान्यतः जो बुद्धि करने योग्य और न करने योग्य सभी प्रकार के कर्मों को एक-सा समझती और समान रूप से करती चलती है, वह बुद्धि राजसी होती है। जिस प्रकार पात्र और अपात्र का विचार न करके एक सिरे से सारे जन-समाज को निमन्त्रण दे दिया जाता है, उसी प्रकार ऐसी

बुद्धि भी शुद्ध और अशुद्ध का विचार नहीं करती और सभी प्रकार के कर्मों को स्वीकार करती है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

"और जिस प्रकार राजमार्ग चोरों के लिए हितकर नहीं होता और वे जब चलते हैं, तब प्रायः राजमार्ग से बचकर चलते हैं अथवा लोगों के लिए जो दिन होता है, वही राक्षसों के लिए रात होती है अथवा जिस प्रकार किसी अभागे को गड़ा हुआ खजाना कोयलों का ढेर ही जान पड़ता है अथवा सच्चा आत्मस्वरूप जिस प्रकार जीव को नहीं के समान जान पड़ता है, उसी प्रकार समस्त धर्म-कृत्य जिस बुद्धि को पातक ही जान पड़ते हैं, जो बुद्धि खरे को खोटा समझती है, समस्त अर्थों को अनर्थों का रूप देती है और अच्छे गुणों को दोष मानती है, यहां तक कि जो-जो बातें वेदों में उचित और ठीक बतलाई गई हैं, उन्हीं सबको जो बुरा (अर्थात् निषिद्ध और न करने के योग्य) समझती है, उस बुद्धि को, हे अर्जुन, बिना किसी से पूछे ही और निस्सन्देह रूप से तामसी कहना चाहिए। भला काली रात के समान ऐसी बुद्धि धर्म-कार्य के लिए कैसे योग्य कही जा सकती है ? आत्मबोध रूपी कुमुद को विकसित करने वाले चन्द्रमा, भाई अर्जुन, इस प्रकार बुद्धि के तीनों भेद मैंने तुम्हें स्पष्ट करके बतला दिये हैं। अब इसी बुद्धि के आधार पर निश्चय करके जो धृति सब कामों में सहायक होती है, उस धृति के भी तीन प्रकार उनके लक्षणों सहित अब मैं तुमको बतलाता हूं। तुम अच्छी तरह ध्यान देकर सुनो।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

"जब सूर्य निकलता है, तब चोरों के साथ-ही-साथ अन्धकार भी चला जाता है; अथवा जिस प्रकार राजा की आज्ञा से सब प्रकार के अनुचित व्यवहार बन्द हो जाते हैं अथवा जब हवा के झोंके जोरों से चलने लगते हैं, तब आकाश में बादल नहीं रह जाते और उनकी गड़गड़ाहट भी बन्द हो जाती है अथवा अगस्त ऋषि के दर्शन होते ही जिस प्रकार समुद्र भयभीत होकर चुप हो जाता है अथवा चन्द्रमा के निकलते ही जिस प्रकार कमल बन्द हो जाते हैं अथवा जब कोई मदोन्मत्त हाथी आगे बढ़ाने के लिए एक पैर उठाता है और उस समय यदि स्वयं सिंह भी गरजता हुआ उसके सामने आ जाय तो जिस प्रकार वह हाथी अपना पैर उसी तरह ऊपर उठाये रहता है और नीचे जमीन पर नहीं रखता, उसी प्रकार जब मनुष्य में धैर्य (धृति) का संचार होता है, तब मन आदि के समस्त व्यवहार जिस अवस्था में होते हैं, उसी अवस्था में बिलकुल बन्द हो जाते हैं। हे अर्जुन, उस समय इन्द्रियों और उनके विषयों का सम्बन्ध आपसे आप टूट जाता है और दसों इन्द्रियां मनरूपी माता के पेट में घुस जाती हैं। वायु का ऊपर का भी और नीचे का भी दोनों ही मार्ग रोककर और नौ वायुओं की एक में गठरी बांधकर प्राणवायु मध्यमा (अर्थात् सुषुम्ना) में चली जाती है। बुद्धि उस समय मन पर से संकल्प-विकल्प के वस्त्र हटाकर और इस प्रकार उसे नंगा करके पीछे की ओर बिलकुल चुप होकर बैठ जाती है। इस प्रकार जिस श्रेष्ठ धैर्य के आगे मन, प्राण और इन्द्रियों को अपने सब व्यापार छोड़ देने पड़ते हैं, और तब वे सब निर्लेप स्थिति में उसी प्रकार योग की युक्ति से ध्यान के मठ (अर्थात् हृदय-कोश) में बन्द हो जाते हैं। और फिर जब तक उनका सम्राट् परमात्मा उन्हें बन्धन से मुक्त नहीं करता, तब तक जो धैर्य बिना किसी प्रकार के लोभ के फेर में पड़े उन सबको वहीं रोके रहता है, निश्चित रूप से समझ रखना चाहिए कि वही धैर्य, वही धृति सात्त्विक है।" यही बात लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण ने उस समय अर्जुन से कही थी।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

इसके उपरान्त श्रीकृष्ण फिर कहने लगे—"जो जीव शरीर धारण करके स्वर्ग में भी इस संसार में भी धर्म, अर्थ और काम के त्रिवर्ग यथा-स्थित प्राप्त करके वैभवपूर्वक रहता है, वह जीव जिस धैर्य के बल पर संकल्पों और विकल्पों के सागर में धर्म, अर्थ और काम के जहाज भरकर कर्मों का व्यापार करता है और कर्म की पूंजी मानकर वह जीव जिस धैर्य की सहायता से उस पूंजी को चौगुना बढाने के लिए कठोर परिश्रम करता है, हे अर्जुन, वह धैर्य, वह धृति राजस होती है। अब जो तीसरी धृति है, उसके भी लक्षण सुनो।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

"कोयला जिस प्रकार घोर कालिख का बना हुआ होता है, उसी प्रकार निम्न कोटि के समस्त गुणों से जिसका स्वरूप बना हुआ होता है, यदि उस निकृष्ट और नीच तम को भी यदि गुण कहा जाय तो फिर राक्षस को भी साधु पुरुष क्यों न कहा जाय ? परन्तु ग्रहों में जो केवल जलता हुआ अंगारा है, उसे भी जिस प्रकार लोग मंगल कहते हैं, उसी प्रकार तम को भी गुण का ठाटदार नाम मिल जाता है। जिस तम में समस्त दोष भरे हुए हैं, उस तम की कमाई से जिस पुरुष की मूर्ति बनी हुई होती है, वह पुरुष आलस्य को सदा अपने बगल में ही दबाये फिरता है; और जिस प्रकार पापों का पोषण करने से दुःख मनुष्य को कभी छोड़कर नहीं जाते, उसी प्रकार उस आलसी को निद्रा भी कभी नहीं छोड़ती। जिस प्रकार पत्थर की शिला की कठोरता कभी नहीं छूटती, उसी प्रकार शरीर रूपी धन पर प्रेम होने के कारण भय भी उसे कभी नहीं छोड़ता। और जिस प्रकार कृतघ्नता के पल्ले में पाप सदा बंधे ही रहते हैं, उसी प्रकार पदार्थ मात्र पर अनुराग होने के कारण शोक का भी उसमें निरन्तर निवास रहता है। वह असन्तोष को रात-दिन अपने हृदय से लगाये रखता है और इसीलिए वह विषाद के साथ भी मित्रता सम्पादित कर लेता है। जिस प्रकार लहसुन को दुर्गन्ध अथवा अपथ्य करने वाले को व्याधि कभी छोड़कर नहीं जाती, उसी प्रकार विषाद भी उसे अन्त समय तक कभी नहीं छोड़ता। वह तारुण्य, द्रव्य और वासना के प्रति उत्साह और मोह सदा बढ़ाता ही रहता है और इसलिए मद उसे अपने रहने का घर ही बना लेता है। जिस प्रकार उष्णता कभी अग्नि का परित्याग नहीं करती, अथवा अच्छी जाति का सांप बिना अपना बदला चुकाये नहीं मानता, अथवा जिस प्रकार संसार का वैरी भय कभी नष्ट नहीं होता अथवा जिस प्रकार काल किसी समय शरीर को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार तामस जीव में मद भी अपने लिए अटल पद प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार ये निद्रा आदि पांच दोष जिस धैर्य से तामस जीव में अपना अड्डा जमाकर रहते हैं, उसी धैर्य, उसी धृति को तामस समझना चाहिए।" यही बात जगदीश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कही थी। इसके उपरान्त उन्होंने फिर कहना आरम्भ किया—"सूर्य की सहायता से ही मार्ग दिखाई देता है और पैर उस मार्ग से चलते हैं। परन्तु फिर भी चलने का काम चलने वाले के धैर्य से ही होता है। इसी प्रकार बुद्धि की सहायता से कर्म दिखाई देते हैं और इन्द्रियां आदि साधन समूह वे कर्म करते हैं; परन्तु फिर भी उन कर्मों के होने के लिए जिस धैर्य और जिस धृति की आवश्यकता होती है, उसके तीन प्रकार मैंने तुमको बतला दिये हैं। जब इस प्रकार त्रिविध कर्मों की उत्पत्ति होती है, तब उन कर्मों में जो सुख नाम का फल लगता है, वह भी तीन प्रकार का होता है; और इसका कारण यह है कि वे सब फल केवल कर्मों के अनुसार ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए मैं अब तुम्हें निर्दोष शब्दों में यह बतलाता हूं कि ये सुख-रूपी फल किस तरह तीन भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। परन्तु शब्दों के चोखेपन की ही योजना क्यों की जाय ? क्योंकि यदि यह बात शब्दों के द्वारा समझी और समझाई जाय तो शब्दों में कानों के हाथों की मैल लग ही जाती है। इसलिए खूब ध्यानपूर्वक उस अन्तरंग की सहायता से ये बातें सुनो, जिस अन्तरंग का निरोध करने से सुनने वाले कान भी बहरे हो

जाने ह   यह कहकर भगवान् श्रीकृष्ण ने त्रिविध सुखों का विषय आरम्भ किया। अब मैं उसी विवेचन क यहा निरूपण करता हूं।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—मैंने तुम्हें वचन दिया है कि तुम्हें त्रिविध सुख के लक्षण बतलाऊंगा। सो अब मैं वही वचन पूरा करता हूं। भाई सुविज्ञ अर्जुन, तुम सुनो। आत्मा की भेंट होने पर जीव को जो सुख होता है, हे अर्जुन, अब मैं उसी सुख का स्वरूप तुम्हारे सामने रखता हूं। परन्तु जिस प्रकार दिव्य औषध भी केवल मात्रा के अनुसार ली जाती है अथवा जिस प्रकार रसायन की क्रिया से रांगे से चांदी बन जाती है अथवा जिस प्रकार नमक को पानी बनाने के लिए उस पर दो-चार बार पानी छिड़कना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार इस प्रकरण में उसी को आत्मसुख समझना चाहिए, जिसमें जीवों का दुःख उस अवस्था में नष्ट हो जाता है, जिस अवस्था में वह सुख की होने वाली थोड़ी-थोड़ी अनुभूति के साथ-साथ अपना तत्सम्बन्धी अभ्यास भी बढ़ाता चलता है। परन्तु वह भी तीनों गुणों से सिद्ध हुआ है। अब मैं उसके भी अलग प्रकार के लक्षण बतलाता हूं; सुनो।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

''जिस प्रकार सर्पों के लिपटे रहने के कारण चन्दन के वृक्ष का तना अथवा पिशाचों के पहरे के कारण गुप्त भांडार का मुख भयंकर हो जाता है, उसी प्रकार स्वर्गसुख यद्यपि बहुत मधुर होता है, तो भी मध्य में जिस प्रकार यज्ञ-याग आदि विधानों का उपक्रम करना पड़ता है अथवा तरह-तरह के कष्ट पहुंचाने के कारण बालकों की बाल्यावस्था पीड़क होती है अथवा जिस प्रकार दीपक जलाने वाले को पहले धुएं का कष्ट (पहले जब दियासलाइयां नहीं थीं, तब आग सुलगाकर दीपक जलाया जाता था; और आग सुलगाते समय धुआं आंखों को लगता ही है।) सहना पड़ता है अथवा खाने के समय जिस प्रकार पहले-पहल औषध कड़वी जान पड़ती है, उसी प्रकार, हे अर्जुन, उसके प्रवेश-द्वार पर ही यम-दम आदि के संकट सहने पड़ते हैं। समस्त दृश्य वस्तुओं के प्रति मनुष्यों में जो प्रेम होता है, उस प्रेम का नाश करने वाली ऐसी विरक्ति उत्पन्न होती है, जो स्वर्ग और संसार के समस्त बन्धनों को जड़ से उखाड़कर फेंक देती है। तीक्ष्ण विवेक के श्रवण और कठोर व्रतों के आचरण से बुद्धि आदि के धुर्रे उड़ जाते है। प्राण और अपान वायु की लहरों को सुषुम्ना नाड़ी का मुख निगल जाता है। परन्तु ये सब कष्ट केवल आरम्भ में ही होते हैं। यदि चक्रवाक पक्षियों के जोड़े को एक-दूसरे से अलग कर दिया जाय अथवा बछड़े को गौ के सामने से हटा लिया जाय अथवा किसी भिखारी को अन्न की थाली के सामने से उठा दिया जाय अथवा यदि माता का एकलौता बच्चा काल के द्वारा उससे छुड़ा लिया जाय अथवा मछली को जल से बाहर निकाल लिया जाय तो उस समय उनको जो चरम सीमा का दुःख होता है, हे अर्जुन, ठीक उसी प्रकार का दुःख इन्द्रियों को विषयों का घर छोड़ते समय होता है। परन्तु वह दुःख भी पूर्ण विरक्ति से सहन करना पड़ता है। इस प्रकार जिस सुख के आरम्भ में तो बहुत बड़े-बड़े संकट सहने पड़ते हैं, परन्तु अन्त में जिसके द्वारा उसी प्रकार मोक्ष-रूपी अमृत की प्राप्ति होती है, जिस प्रकार क्षीर-सागर के मथने के समय उसमें से अमृत की प्राप्ति हुई थी। पहले ही हल्ले में उत्पन्न होने वाले इस वैराग्य-रूपी हलाहल को यदि धैर्य-रूपी शंकर निगल जाय, तो फिर जिस सुख में ज्ञान-रूपी अमृत की प्राप्ति का उत्सव मनाने की सन्धि मिलती है, वही सात्त्विक सुख होता है। दाख जिस समय कच्ची और हरी रहती है, उस समय उसकी खटास जीभ को बुरी मालूम होती है ! परन्तु वह दाख जब अच्छी तरह पक जाती है, तब उसमें कितना अधिक माधुर्य आ जाता

है ! इसी प्रकार जब ये वैराग्य आदि भाव आत्मज्ञान के प्रकाश से पूर्णता को प्राप्त होते हैं, तब इन्हीं वैराग्य आदि के साथ समस्त माया-जनित नाम-रूपात्मक द्वैत भी नष्ट हो जाता है। उस समय बुद्धि भी उसी प्रकार आत्मा के साथ मिलकर एकरस हो जाती है. जिस प्रकार समुद्र के साथ मिलने पर गंगा हो जाती है और तब अद्वैत के आनन्द की खान आपसे आप खुल जाती है। इस प्रकार के जिस सुख का मूल वैराग्य में है, परन्तु जिसका अन्त आत्मानुभव के आनन्द में होता है, उसी सुख को सात्त्विक कहते हैं।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

"और हे अर्जुन, विषयों तथा इन्द्रियों का संयोग होते ही जिस सुख की धारा अपने दोनों तटों को डुबाकर चारों ओर बहने लगती है, वह राजसी होता है। किसी बड़े अधिकारी के अपने नगर में आने पर लोग जिस प्रकार का उत्सव और समारम्भ करते हैं अथवा ऋण लेकर जिस प्रकार बहुत आनन्दपूर्वक और ठाट-बाट से विवाह किया जाता है अथवा रोगी मनुष्य को जिस प्रकार चीनी और केला वर्जित होने पर भी बहुत अच्छा लगता है अथवा बछनाग जिस प्रकार विष होने पर भी पहले-पहल खाने में मीठा जान पड़ता है अथवा जिस प्रकार आरम्भ में ठगों की मित्रता या बाजार में बैठने वाली वेश्या का व्यवहार अथवा बहुरूपिये का विनोद अच्छा लगता है, परन्तु अन्त में जिस प्रकार सभी बातें घातक सिद्ध होती हैं, ठीक उसी प्रकार विषयों और इन्द्रियों के संयोग के द्वारा जो सुख पहले तो जीव को पुष्ट तथा प्रसन्न करता है, परन्तु बाद में जो जीव के सुख की सारी सम्पत्ति उसी प्रकार हरण कर लेता है, जिस प्रकार पाला हुआ हंस चट्टान पर पटका जाने पर अपने प्राण गंवा बैठता है और जिस सुख के कारण अन्त में मनुष्य के प्राणों का भी नाश होता है और उसके पास की पुण्य की पूंजी भी समाप्त हो जाती है और तब वे सब सुख स्वप्न के समान नष्ट हो जाते हैं, जिन्हें वह पहले से भोगता आता था और तब उसे अपना सर्वस्व गंवाकर केवल कष्ट ही भोगने पड़ते हैं। तात्पर्य यह कि इस प्रकार का जो सुख अन्त में इस लोक में भी मनुष्य पर विपत्ति लाता है और परलोक में भी जो विष के समान सिद्ध होता है, वह सुख राजसी होता है। और इसका कारण यह है कि जहां केवल इंद्रियों का लालन-पालन करके और धर्म के क्षेत्र का विध्वंस करके केवल विषयों का सुख भोगा जाता है, वहां पातक बहुत बलवान् हो जाते हैं। और फिर वही पातक जीव की दुर्गति कराते हैं। इस प्रकार जिस सुख से परलोक में इतनी हानि होती है और जो उसी विष के समान होता है, जो माहुर (मधुर) कहलाने पर भी अन्त में प्राणों का घात करके विष ही सिद्ध होता है और इस प्रकार जो सुख आरम्भ में तो मधुर जान पड़ता है, परन्तु अन्त में बहुत ही कटु सिद्ध होता है, हे अर्जुन, उसके सुख के सम्बन्ध में निश्चित रूप से यह समझ लेना चाहिए कि वह रजोगुण का ही बना हुआ है; और इसीलिए उस सुख का कभी अपने साथ स्पर्श भी नहीं होने देना चाहिए।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

"निषिद्ध पेय वस्तुओं का पान करने से, निषिद्ध खाद्य पदार्थ खाने से और स्वेच्छाचारिणी स्त्रियों की संगति करने से जो सुख प्राप्त होता है अथवा दूसरों की हत्या करके, दूसरों का धन हरण करके और ओछे आदमियों की की हुई स्तुति सुनकर जो सुख प्राप्त होता है, जिस सुख का आलस्य से पोषण होता है, जो सुख ऊंघने या सोने में जान पड़ता है और जिस सुख के आरम्भ तथा अन्त में जीव को अपने सच्चे मार्ग के सम्बन्ध में भ्रम हो जाता है और वह अनुचित मार्ग में लग जाता है, हे भाई अर्जुन, उस सुख को पूर्ण रूप से तामस समझना चाहिए। परन्तु मैं इस विषय का अधिक विस्तार नहीं करता, क्योंकि इसकी कहानी बिलकुल असभ्य और निन्दनीय है। इस प्रकार

मूल का एक स्वरूप कर्मफल जो सुख है वह भी कर्मभेद के अनुसार त्रिविध हो गया है और उसका विवेचन मैंने तुम्हारे सामने शास्त्रीय रीति से कर दिया है। अब इस विश्व में छोटी और बड़ी सभी वस्तुओं में कर्ता, कर्म और कर्मफल की त्रिपुटी के सिवा और कुछ भी नहीं है। और हे अर्जुन, जिस प्रकार वस्त्र में तन्तु बुने होते हैं, उसी प्रकार इस त्रिपुटी में तीनों गुण ओत-प्रोत रहते हैं।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

"इसीलिए इस मृत्युलोक में भी और स्वर्गलोक में भी ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो माया के क्षेत्र में होने पर भी इन सत्त्व आदि गुणों से युक्त न हो। क्या कभी ऊन के बिना कम्बल, मिट्टी के बिना ढेला और पानी के बिना लहर भी उत्पन्न हो सकती है ? ठीक इसी प्रकार प्राणियों का ऐसा स्वरूप ही नहीं है कि बिना गुणों का कोई अंश हुए सृष्टि की रचना हो सके। इसलिए तुम यह बात निश्चित रूप से समझ रखो कि यह सारा विश्व इन तीनों गुणों से ही बना है। इन्हीं गुणों ने देवताओं में ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये तीन वर्ग किये हैं। इन्हीं ने स्वर्ग, मर्त्य और नरक इन तीनों लोकों का निर्माण किया है और इन्हीं ने चारों वर्णों के पीछे भिन्न-भिन्न कर्मों का बखेड़ा लगा दिया है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

"अब यदि तुम यह पूछो कि ये चारों वर्ण कौन-से हैं, तो मैं तुम्हें बतलाता हूं, सुनो। इनमें ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं। इनके उपरान्त जो क्षत्रिय और वैश्य हैं, उन्हें भी महत्त्व के विचार से ब्राह्मणों के समान ही समझना चाहिए, क्योंकि उन्हें भी वैदिक धर्मकृत्यों का अधिकार है। हे अर्जुन, चौथा वर्ण शूद्र है। शूद्रों को वेदों का अधिकार नहीं है और इसीलिए इनका जीवन उक्त तीनों वर्णों पर अवलम्बित है। परन्तु इन शूद्रों की जीवन-वृत्ति का ब्राह्मण आदि त्रैवर्णिकों के साथ बहुत ही निकट सम्बन्ध रहता है और इसीलिए इनका भी वर्ण-विभाग में समावेश हुआ है, जिससे यह चौथा वर्ण हुआ है। जिस प्रकार फूलों के साथ-साथ श्रीमान् लोग उस धागे को भी अपने गले में धारण करते हैं, जिसमें वे फूल गूंथे हुए होते हैं, ठीक उसी प्रकार त्रैवर्णिक द्विजों के साथ शूद्रों का भी व्यवहार-सम्बन्ध होने के कारण श्रुतियों के लिए वर्ण-संस्था में शूद्रों का भी समावेश करना आवश्यक हुआ है। हे अर्जुन, चातुर्वर्ण्य की संस्था का यही स्वरूप है। अब मैं इन सबके विहित कर्मों का स्पष्टीकरण करता हूं। इन्हीं कर्मों के गुणों से ये चारों वर्ण जन्म और मरण के झगड़ों से छूटकर आत्मस्वरूप प्राप्त करते हैं। प्रकृति के तीनों गुणों से ये कर्म चारों वर्णों को चार प्रकार से बांट दिये हैं। जिस प्रकार पिता का एकत्र किया हुआ धन उसके पुत्रों में बंट जाता है अथवा सूर्य के प्रकाश में दिखाई पड़ने वाले मार्ग भिन्न-भिन्न दिशाओं में जाने वाले यात्रियों में बंट जाते हैं अथवा जिस प्रकार कोई धनवान् पुरुष अपने सब काम अपने नौकरों में बांट देता है, ठीक उसी प्रकार प्रकृति के इन गुणों ने भी इन कर्मों के अलग-अलग विभाग करके चारों वर्णों में बांट दिये हैं। इनमें से सत्त्व गुण ने अपने आधे-आधे भाग से ब्राह्मणों और क्षत्रियों को अंकित किया है। सत्त्वमिश्रित रजोगुण वैश्यों में रहता है और तम से भरा हुआ रजोगुण शूद्रों के हिस्से में पड़ा है। हे ज्ञानी अर्जुन, इस प्रकार आरम्भ में जो मानव संघ बिलकुल एक ही स्वरूप वाला था, उसमें इन गुणों ने यह चातुर्वर्णात्मक भेद उत्पन्न किया है। बस यह बात तुम अपने ध्यान में रखो। फिर जिस प्रकार अंधेरे में पड़ी हुई वस्तु हमें दीपक दिखलाता है, उसी प्रकार अपने गुणों से ढंके हुए कर्म हमें शास्त्र दिखलाता है। भाई भाग्यवान् अर्जुन, अब मैं तुमको यह बतलाता हूं कि भिन्न-भिन्न वर्णों के लिए स्वाभाविक और उपयुक्त कर्म कौन-से हैं; सुनो।

शमो दमस्तप शौच च
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

''बुद्धि की जो इस प्रकार की शान्त स्थिति होती है कि वह समस्त इन्द्रियों के व्यवहारों को अपने हाथ में रखकर एकान्त भाव से और धर्मपत्नी की भांति आत्मतत्त्व के साथ मिली रहती है, उसको 'शम' कहना चाहिए। जितने अच्छे और ठीक कर्म होते हैं, उन सबका आरम्भ इसी शम से होना है। ऐसे कर्मो में 'दम' नाम का वह दूसरा गुण उस शम का सहायक होता है जिसके कारण स्वधर्म के आचरणपूर्वक समस्त व्यवहार होते हैं। ऐसे कर्मो मे 'तप' नाम का वह तीसरा गुण भी दिखाई देता है जिसके द्वारा चित्त में ईश्वर के विषय में एकनिष्ठ श्रद्धा उसी प्रकार निरन्तर जाग्रत रहती है, जिस प्रकार छठी वाली रात को इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है कि प्रसविणी के कमरे का दीपक न बुझने पावे। इसी प्रकार ऐसे कर्मो मे दोनों तरह का 'शौच' अर्थात् निर्मलता भी रहती है। और हे अर्जुन, यह शौच उस गुण का नाम है जिसके कारण मन शुद्ध भक्ति से भरा रहता है और शरीर निर्मल आचरण से शृंगारित रहता है और इस प्रकार सारा जीवन-क्रम अन्दर और बाहर सुन्दर बना रहता है। यह चौथा गुण भी उन कर्मों में रहता है। पृथ्वी की भांति पूर्ण रूप से सब कुछ सहन करने का जो गुण है, हे पार्थ, उसी को 'क्षमा' कहते हैं। यह क्षमा वाला पांचवां गुण उन कर्मो में उसी प्रकार रहता है, जिस प्रकार संगीत में पंचम स्वर रहता है। यदि प्रवाह टेढ़ा-तिरछा भी हो तो भी नदी सदा सीधी समुद्र की ओर बहती रहती है और ऊख चाहे अपनी बाढ़ के कारण टेढ़ा-तिरछा भी हो तो भी उसमें सब जगह समान रूप से मिठास भरी रहती है। ठीक इसी प्रकार जीव की वृत्ति टेढ़ी-तिरछी होने पर भी उसमे पूरी-पूरी सरलता रखने के गुण को 'आर्जव' कहते हैं; और यह आर्जव नाम का छठा गुण भी उन कर्मो में होता है। माली बहुत अधिक परिश्रम करके वृक्षों की जड़ में पानी सींचता है; परन्तु फिर भी जिस प्रकार वह यह बात बहुत अच्छी तरह जानता है कि मुझे इन वृक्षों से फल की प्राप्ति होगी और मेरा सारा परिश्रम सार्थक होगा, उसी प्रकार इस प्रकरण में यह तथ्य अच्छी तरह समझ लेना ही 'ज्ञान' कहलाता है कि शास्त्रों के अनुसार कर्मो का आचरण करके ईश्वर की प्राप्ति करना आवश्यक है और ईश्वर की वह प्राप्ति इस प्रकार हमें अवश्य हो जायगी। और यही ज्ञान उन कर्मो का सातवां गुण होता है। आठवें गुण 'विज्ञान' का स्वरूप यह है कि मनुष्य शुद्ध सत्त्व होकर शास्त्र के ज्ञान की सहायता से अथवा अपने ध्यान के बल से ईश्वर-तत्त्व के साथ निस्सन्देह बुद्धि से समरस हो जाय। और यह विज्ञान नाम का आठवां सुन्दर गुण भी उन कर्मो में रहता है। नौवें गुण 'आस्तिक्य' का लक्षण यह है कि शास्त्रों ने जितने मार्गों को योग्य और ठीक बतलाया है, उनमें से प्रत्येक मार्ग को उसी प्रकार ठीक समझा जाय और आदरपूर्वक मान्य किया जाय, जिस प्रकार प्रजा उस प्रत्येक पदार्थ को, जिस पर राजा का नाम अंकित होता है, चलनसार सिक्के के रूप में सन्तोषपूर्वक स्वीकृत कर लेती है। और यह नौवां गुण आस्तिक्य भी उन कर्मो में होता है। तात्पर्य यह कि ये नौ गुण जिन कर्मो मे होते हैं, वही कर्म अच्छे और ठीक होते हैं। इस प्रकार शम आदि नौ गुणों के रहने के कारण जो कर्म स्वभावत निर्दोष होते हैं, उन्हीं को ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्म समझना चाहिए। जिसे इन नौ रत्नों का हार मिल जाता है, वह नौ गुणों का रत्नाकर ही हो जाता है। जिस प्रकार अपने शरीर में से बिना कुछ भी निकाले या अलग किये हुए सूर्य प्रकाश धारण करता है अथवा चम्पा का वृक्ष जिस प्रकार स्वयं अपनी कलियों से ही सुशोभित रहता है अथवा चन्द्रमा जिस प्रकार अपनी चांदनी से ही प्रकाशमान तथा उज्ज्वल रहता है अथवा चन्दन जिस प्रकार स्वयं अपनी सुगन्ध से ही सुवासित रहता है, उसी प्रकार नौ रत्नों से जड़ा हुआ यह नग ब्राह्मणों का निर्मल भूषण है, और यह आभूषण उतारकर नग्न होने का कृत्य ब्राह्मणों का शरीर कभी नहीं करता। हे अर्जुन, अब मैं तुमको यह बतलाता हूं कि क्षत्रियों के उचित कर्म कौन-से हैं। तुम अपनी सारी बुद्धि और ध्यान लगाकर सुनो।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।४३।

जिस प्रकार अपना तेज प्रकट करने के समय सूर्य किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं करता अथवा सिंह को शिकार करने में किसी सहायक की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार स्वयं अपने ही साहस से और बिना किसी की सहायता के पराक्रम कर दिखलाने का 'शौर्य' नाम का जो गुण है, वह गुण जिस कर्म-वृत्ति का सबसे पहला और सर्वश्रेष्ठ गुण है, वही स्वाभाविक क्षात्र-वृत्ति होती है। जिस प्रकार सूर्य के उज्ज्वल प्रकाश के सामने करोड़ों नक्षत्र छिप जाते हैं, परन्तु यदि चन्द्रमा के सहित समस्त नक्षत्र एकत्र हों तो भी उनके द्वारा सूर्य का कभी लोप नहीं होता, ठीक उसी प्रकार जिस अलौकिक सामर्थ्य के कारण मनुष्य अपने तेजस्वी गुणों से सारे संसार को आश्चर्यचकित कर देता है, परन्तु स्वयं कभी किसी बात से भ्रान्त नहीं होता उसी सामर्थ्य को 'तेज' कहते हैं। यही दूसरा तेजोगुण उस वृत्ति में दिखाई देता है। इसी प्रकार उसमें तीसरा गुण 'धैर्य' होता है। चाहे आकाश ही क्यों न टूट पड़े, परन्तु फिर भी जिस धैर्य-गुण के कारण बुद्धि की आंखें भय से कभी नहीं झपकतीं और मन कभी विचलित नहीं होता, वह धैर्य गुण उस वृत्ति में दिखाई देता है। और चाहे कितना ही अधिक असीम और विस्तृत जल क्यों न हो, परन्तु फिर भी जिस प्रकार उसे दबाकर कमल के पत्ते फैलते हैं और चाहे कोई कितनी ही ऊंचाई पर क्यों न जा पहुंचे, तो भी जिस प्रकार आकाश सदा उसके ऊपर ही रहता है, ठीक उसी प्रकार चाहे कैसा ही प्रसंग क्यों न आ पड़े, तो भी, हे अर्जुन, इष्टफल देने वाले कार्य में बहुत दक्षतापूर्वक और अचूक प्रवेश करने को 'दक्षत्व' कहते हैं। और यह चौथा गुण दक्षत्व भी उस वृत्ति में पूर्ण रूप से दिखाई देता है। खूब डटकर युद्ध करना उस वृत्ति का पांचवां गुण है। जिस प्रकार सूरजमुखी का वृक्ष सदा सूर्य की ओर ही रहता है, ठीक उसी प्रकार शत्रु के सामने साहसपूर्वक छाती ठोककर खड़े रहना और जिस प्रकार गर्भवती स्त्री सब तरह से प्रयत्न करके अपने पति की शैया पर पीठ नहीं लगने देती और उस शैया से अपनी पीठ का लगना बचाती है, ठीक उसी प्रकार समर-भूमि में शत्रु का सामना होने पर उसे पीठ न दिखलाना उस क्षात्रवृत्ति का पांचवां गुण है; और यह बात, हे भाई गुणश्रेष्ठ अर्जुन, तुम अच्छी तरह अपने ध्यान में रखो। जिस प्रकार भक्ति चारों पुरुषार्थों से बहुत बढ़-चढ़कर और श्रेष्ठ है, ठीक उसी प्रकार यह गुण भी पहले बतलाए हुए चारों गुणों से बढ़-चढ़कर और श्रेष्ठ है। जिस प्रकार अधिक फल-फूल आदि आने पर वृक्ष नीचे की ओर झुक जाता है अथवा जिस प्रकार पद्म-वन अपनी सुगन्ध चारों तरफ खूब अच्छी तरह फैला देता है अथवा जिस प्रकार चन्द्रमा की चांदनी जो चाहे वह जितनी चाहे, उतनी ले सकता है, ठीक उसी प्रकार लेने वाले को उसकी इच्छा के अनुसार दान देना 'दान' कहलाता है; और इस छठे गुण-रत्न से भी वह वृत्ति भूषित रहती है। इसी प्रकार अपनी ही आज्ञा सारे संसार में मान्य कराने और जिस प्रकार अपने अवयवों का पोषण करके उन्हें अपने काम के योग्य बनाया जाता है, उसी प्रकार प्रजा का पालन करके और उनके सन्तोष के द्वारा संसार का उपभोग करने को 'ईश्वरभाव' कहते हैं। यह समस्त सामर्थ्यों का समूह और गुणों का सम्राट् उस वृत्ति का सातवां गुण है। इन शौर्य आदि सातों गुणों से जो वृत्ति उसी प्रकार पवित्र होती है, जिस प्रकार सप्तर्षियों से आकाश शृंगारित होता है, वही स्वाभाविक क्षात्रवृत्ति होती है। यही क्षत्रियों के वास्तविक सहज गुण हैं। इन सब गुणों से युक्त जो क्षत्रिय होता है, वह मनुष्य नहीं होता, बल्कि सत्त्व रूपी सोने का मेरु पर्वत ही होता है और इसीलिए वह सातों गुणों के स्वर्ग को संभाल रखता है। अथवा यह समझना चाहिए कि इन सातों गुणों से घिरी हुई यह क्रिया-वृत्ति नहीं है, बल्कि सातों समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वी ही है और वह वीर उसका उपभोग करता है। अथवा इन सातों गुणों के प्रवाहों से यह क्रियारूपी गंगा इस क्षत्रिय रूपी महासागर के अंगों पर मानों विलास करती है। परन्तु इस विषय का बहुत अधिक विस्तार हो चुका। तात्पर्य केवल यही है कि जो कर्म इन शौर्य आदि

गुणों से अंकित होते हैं, वही क्षत्रिय जाति के स्वाभाविक कर्म हैं। अब हे बुद्धिमान् अर्जुन, मैं तुम्हें स्पष्ट रूप से यह बतलाता हूं कि वैश्य जाति के उचित कर्म कौन-से हैं।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

"भूमि, बीज, हल और पूंजी के आधार पर यथेष्ट लाभ या प्राप्ति करना, साराश यह कि खेती-वारी पर निर्वाह करना, गौएं और भैंसें पालना अथवा सस्ती खरीदी हुई चीज महंगे भाव से बेचना आदि कार्य, हे पार्थ, वैश्यो की वृत्ति हैं। तुम यह समझ रखो कि ये सब कर्म वैश्य जाति की स्वाभाविक कक्षा में आते हैं। और वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण इन तीनों द्विज वर्णो की सेवा करना शूद्रों का कर्म है। ओर यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो द्विजों की इस सेवा के और आगे शूद्रों के लिए पैर रखना भी ठीक नहीं है। इस प्रकार चारों वर्णो के विहित कर्म मैंने तुम्हें बतला दिये हैं।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

"अब हे अर्जुन, जिस प्रकार श्रवण आदि भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के लिए शब्द आदि भिन्न-भिन्न गुण उपयुक्त होते हैं अथवा मेघों से बरसने वाले वर्षा के जल के लिए जिस प्रकार नदी उपयुक्त पात्र है अथवा नदी के लिए जिस प्रकार समुद्र उपयुक्त है, उसी प्रकार इन चारों वर्णों के लिए ये सब भिन्न-भिन्न कर्म भी उपयुक्त हैं। इसीलिए वर्ण और आश्रम के धर्म के अनुसार जो-जो कर्म प्राप्त होते हैं, वे सब गोरे मनुष्य के गोरेपन की तरह शोभादायक होते हैं। इसीलिए हे अर्जुन, उन स्वाभाविक विहित कर्मो को शास्त्र की आज्ञा के अनुसार करने में प्रवृत्त होने के लिए अपनी बुद्धि अचल रखनी चाहिए। जिस प्रकार स्वयं अपने ही रत्न की भी रत्न परखने वाले से परख करानी पड़ती है, उसी प्रकार अपने कर्म भी शास्त्रों से निश्चित कराने पड़ते हैं। दृष्टि तो अपने स्थान पर सदा ठीक तरह से रहती ही है, परन्तु फिर बिना दीपक के उसका कोई उपयोग नहीं होता। अथवा यदि रास्ता ही न मिले तो पैर रहकर भी क्या कर सकते हैं ? इसीलिए जाति-धर्म के अनुसार जो हमारा उचित अधिकार हो, वह हमें शास्त्रों को देखकर निश्चित करना चाहिए। अब हे पार्थ, यदि अपने घर में अंधेरे में रखा हुआ खजाना दीपक हमें दिखला दे तो उसे लेने में कौन-सी बाधा है ? इस प्रकार जो बातें स्वाभाविक रूप से हमारे हिस्से में आई हैं और शास्त्रों ने भी जिनका विधान किया है, अपने उन विहित कर्मो का जो पुरुष आचरण करता है, जो आलस्य छोड़कर और फल की इच्छा को दूर हटाकर तन और मन से उन कर्मो के आचरण मे लीन हो जाता है, जो अपने कर्माचरण के साथ व्यवस्थित रूप से ठीक उसी प्रकार चलता है, जिस प्रकार प्रवाह मे मिला हुआ जल बिना और किसी तरह मुड़े उस प्रवाह के साथ-ही-साथ बहता चलता है, हे अर्जुन, इस प्रकार जो अपने विहित कर्मो का आचरण करता है, वह मोक्ष के इस पार वाले तट तक आ पहुंचता है। न करने के योग्य और निषिद्ध कर्मो के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं होता और इसीलिए संसार का अपाय उसकी कभी कोई हानि नहीं कर सकता (अर्थात् सांसारिक झगड़े उसके मोक्ष के मार्ग में बाधक नहीं होते)। वह कभी कुतूहल से भी कामिक कर्मो की ओर मुड़कर नहीं देखता; और फिर चाहे चन्दन की ही बेड़ी क्यों न हो, तो भी वह उसमें अपने पैर नहीं फंसाता; क्योंकि चन्दन की बेड़ी होने से ही क्या होता है ! आखिर है तो वह बेड़ी ही ! वह जो नित्य कर्म करता है, वह भी फल की सारी इच्छा छोड़कर करता है और वे सब कर्म भी वह ईश्वर के अर्पण करता रहता है और इसीलिए वह मोक्ष की सीमा तक पहुंच सकता है। इस प्रकार वह इस संसार के शुभ और अशुभ झगड़ों से छूट जाने के कारण वैराग्य के मार्ग से मोक्ष के द्वार पर जा खड़ा होता है। जो समस्त सौभाग्य की परिपूर्णता है, जिसमें मोक्ष की प्राप्ति निश्चित है,

कर्मकांड का जिसमें बिलकुल अन्त हो जाता है, जो मोक्षफल देने की जिम्मेदारी लेता है और जो पुण्यकर्म रूपी वृक्ष का फल है. उस वैराग्य पर साधक पुरुष भ्रमर की भांति अनायास ही और सहज भाव से पैर रखता है। हे अर्जुन, तुम यह बात अपने ध्यान में रखो कि यह वैराग्य भाव ऐसा अरुणोदय है जो इस बात की सूचना देता है कि बहुत जल्दी आत्मज्ञान के सूर्य का उदय होने वाला है; और यही वैराग्य भाव उस साधक को प्राप्त होता है। अथवा यह वैराग्य एक ऐसा अलौकिक अंजन है जिसके लगाने से आत्मज्ञान का गुप्त भांडार अच्छी तरह दिखाई देने लगता और मिल जाता है; और साधक यह अंजन स्वयं ही अपनी आंखों में लगा लेता है। इस प्रकार, हे पार्थ, इन विहित कर्मों का आचरण करने से साधक में मोक्षप्राप्ति की पात्रता आती है। हे अर्जुन, ये विहित कर्म ही जीव को आश्रय देने वाले हैं और इन कर्मों का आचरण करना ही मेरे परमात्म-स्वरूप की सच्ची सेवा है। जिस प्रकार पतिव्रता अपने पति के साथ सब प्रकार के सुख भोगती है, बल्कि यों कहना चाहिए कि जिस प्रकार उसकी सारी तपश्चर्या ही पति के लिए होती है अथवा जिस प्रकार बालक के लिए माता के सिवा जीवन का और कोई आधार ही नहीं होता और इसलिए उसका सबसे बढ़कर कर्तव्य यही होता है कि वह माता की ही सेवा करे अथवा जिस प्रकार मछली यद्यपि केवल जल के ही विचार से गंगा में रहती है, तो भी वह गंगा के मार्ग से सागर में पहुंच जाती है और उसे आपसे आप समस्त तीर्थों के निवास का फल मिल जाता है, उसी प्रकार यदि इस विचार से विहित कर्मों का आचरण किया जाय कि इन कर्मों का आचरण करने के सिवा हमारे लिए और कोई गति ही नहीं है, तो हमारा सारा भार आपसे आप ईश्वर पर जा पड़ता है। हे अर्जुन, जिसके लिए जो योग्य कर्तव्य हैं, वे ईश्वर को ही इष्ट होते हैं और इसीलिए उन कर्मों का आचरण करने से ईश्वर आपसे आप प्राप्त हो जाता है। जो स्त्री किसी के अन्तःकरण की कसौटी पर ठीक उतरने के कारण उसकी प्रिय हो जाती है, वह चाहे पहले की दासी ही क्यों न रही हो, परन्तु फिर भी वह उसकी स्वामिनी हो जाती है। इसी प्रकार जो पुरुष अपने सिर की भी परवाह नहीं करता और हर तरह से अपने स्वामी की सेवा करता है, उसे स्वामी अपने मस्तक पर उठा लेता है (अर्थात् उसका बहुत अधिक आदर करता है)। जिस सेवा में स्वामी के सब मनोरथ पूरे किये जाते हैं, उसी को सच्ची और उत्कृष्ट सेवा कहते हैं। हे अर्जुन, इसके सिवा चाहे और जो सेवा हो, वह केवल बाजार का सौदा ही है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥४६॥

"इसलिए यह केवल विहित कर्मों का आचरण ही नहीं है, बल्कि इसे परमात्मा की मनोगत इच्छा का पालन ही समझना चाहिए। जिससे इस भूत सृष्टि ने आकार प्राप्त किया है, जो माया-रूपी धज्जियां जोड़कर यह जीव-रूपी गुड़िया बनाता है और तीनों गुणों की बटी हुई अहंकार रूपी डोरी से उसे नचाता है, जिसने यह सारा विश्व अपने प्रकाश से दीपक की ज्योति की भांति अन्दर और बाहर व्याप्त कर रखा है, यदि उस सर्वान्तर्यामी ईश्वर की विहित कर्माचरण के फूलों से पूजा की जाय तो उसे अपरम्पार सन्तोष होता है। जब इस प्रकार की पूजा से वह परमात्मा सन्तुष्ट हो जाता है, तब वह उस विहित आचरण करने वाले भक्त को वैराग्य-लाभ का प्रसाद देता है। फिर जब उस वैराग्य की अवस्था में मन में केवल उस एक ईश्वर का ध्यान लग जाता है, तब जीव को यह सारा विश्व वमन किये हुए पदार्थ की भांति घृणित जान पड़ता है। पति से वियुक्त होने वाली स्त्री के लिए जिस प्रकार पति की चिन्ता के कारण जीवन ही निरर्थक हो जाता है, उसी प्रकार उस भक्त को भी सुख के सब विषय दुःख-ही-दुःख जान पड़ते हैं। इस परोक्ष ज्ञान का इतना अधिक महत्त्व है कि ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान होने के पहले ही केवल उसके ध्यान से जीव में तन्मयता आ जाती है। इसीलिए जो मनुष्य मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा और प्रयत्न करता हो, उसके लिए उचित है कि वह स्वधर्म का आचरण खूब अच्छी तरह करे।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥४७॥

"हे अर्जुन, यदि अपना धर्म आचरण करने में कठिन भी हो, तो भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके परिणामस्वरूप हमें कैसा अच्छा फल प्राप्त होगा। हे पार्थ, यदि अपने शरीर को नीरोग करने के लिए केवल कड़ई नीम ही औषध हो तो उसके कड़एपन से घबराने से कैसे काम चलेगा ! यदि केले के वृक्ष को फलने से पहले देखा जाय और उस पर उस समय फल न दिखाई दें, तब यदि निराश होकर वह वृक्ष ही काट डाला जाय तो इस कृत्य से भला कौन-सा अच्छा फल प्राप्त हो सकता है ? ठीक इसी प्रकार यदि हम स्वधर्म का केवल इसलिए त्याग और तिरस्कार कर दें कि उसका आचरण करना बहुत ही कठिन होता है, तो फिर क्या हम कभी मोक्ष का सुख प्राप्त कर सकेंगे ? यदि हमारी माता कुछ कुबड़ी हो तो भी उसके जिस प्रेम से हम जीवित रहते हैं, वह प्रेम कभी कुबड़ा नहीं होता। दूसरी स्त्रियां चाहे रम्भा से भी बढकर लावण्यवती क्यों न हों, तो भी—मातृप्रेम के अभाव में—बालक के लिए वे किस काम की ? जल की अपेक्षा घी में बहुत अधिक गुण अवश्य होते हैं लेकिन फिर भी क्या मछलियां कभी घी में रह सकती हैं ? जो पदार्थ सारे संसार के लिए विष होता है, वही पदार्थ उन कीड़ों के लिए अमृत होता है जो उस पदार्थ में उत्पन्न होकर बढ़ते हैं। और सारे संसार को मीठा लगने वाला गुड़ विष के उन कीड़ों के लिए प्राणघातक होता है। इसीलिए जिसके जो विहित कर्म हैं और जिनका आचरण करने में संसार का बन्धन छूटता है, वे कर्म यद्यपि करने में कठिन भी हों तो भी उन कर्मों का अवश्य आचरण करना चाहिए। यदि दूसरों के आचार अच्छे जान पड़ें और इसीलिए हम भी वही आचार करने लगें तो ऐसा करना उसी प्रकार अनिष्टकारक है, जिस प्रकार पैरों के बदले कोई सिर से चलने का प्रयत्न करने लगे। इसीलिए हमारे जन्म और स्वभाव के अनुसार जो कर्म अपने हिस्से में पड़े हों, इन्हीं कर्मों का जो मनुष्य आचरण करता है, उसके सम्बन्ध में यह समझ लेना चाहिए कि उसने कर्मों का बन्धकत्व नष्ट कर डाला। और हे अर्जुन, क्या इसीलिए यह आवश्यक नहीं है कि हमें अपने धर्म का पालन करना चाहिए और दूसरों के धर्म का त्याग करना चाहिए ? तुम्हीं सोचो कि जब तक आत्मदर्शन न हो, तब तक कर्मों का आचरण क्या कभी बन्द हो सकता है ? और चाहे कोई कर्म क्यों न किया जाय, परन्तु उसे करने का कष्ट सबसे पहले रखा ही रहता है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥४८॥

"यदि सभी कर्मों के आचरण में परिश्रम करना ही पड़ता है, तो फिर यदि स्वधर्म के आचरण में भी परिश्रम और कष्ट होता है तो इसके लिए स्वधर्म को दोष क्यों दिया जाय ? यदि सरल मार्ग से आदमी चले तो भी पैर को कष्ट होता है; और यदि बीहड़ जंगलों में से होकर चले, तो भी कष्ट होता ही है। चाहे कंकड़-पत्थरों की गठरी बांधकर उठाओ और चाहे खाने-पीने के सामान की गठरी उठाओ, बोझ तो दोनों का ही होता है। परन्तु जो बोझ ढोने से प्रवास में श्रम और शिथिलता दूर करने में सहायता मिले, वही बोझ अपने साथ ढोकर ले चलना ठीक होता है। और नहीं तो चाहे अनाज हो और चाहे भूसा हो, दोनों को ही कूटने में समान परिश्रम करना पड़ता है। चाहे कुत्ते का मांस पकाया जाय और चाहे यज्ञ के लिए हविष्य अन्न पकाया जाय, दोनों में पकाने की क्रिया एक ही होती है। भाई सुविज्ञ अर्जुन, पानी मथना और दही मथना दोनों एक ही क्रिया हैं। ठीक इसी प्रकार घानी में चाहे वालू डालकर पेरा जाय और चाहे तिल डालकर पेरा जाय, हैं ये दोनों क्रियाएं समान ही। हे पार्थ, चाहे वैश्वदेव के लिए अग्नि प्रज्वलित की जाय और चाहे घर में आग लगाने के लिए, परन्तु धुएं का कष्ट दोनों ही क्रियाओं में समान रूप से होता है। यदि धर्मपत्नी का प्रतिपालन करने में भी और किसी दुराचारिणी वेश्या का प्रतिपालन

करने में भी धन का समान व्यय हो तो फिर वेश्या को अपने पास रखकर बलपूर्वक अपने ऊपर कलंक क्यों लिया जाय? यदि शत्रु को पीठ दिखाकर पीठ पर खाये हुए घावों से भी मृत्यु अवश्य ही होती हो, तो फिर शत्रु के सामने डटकर खड़े रहने और घाव खाने में और कौन-सी विशेष हानि हो सकती है ? यदि कोई अच्छे कुल की स्त्री दूसरे के घर में जाकर आश्रय ले और वहां भी उसे डंडों की ही मार सहनी पड़े, तो फिर यदि घर में स्वयं उसका पति मारता हो, तो केवल इस कारण से पति को छोड़कर घर से बाहर जाने में उसे कौन-सा लाभ हो सकता है ? ठीक इसी प्रकार यदि अपना परम प्रिय कार्य भी बिना कष्ट किये सिद्ध नहीं होता तो फिर हम किस मुंह से यह रोना रो सकते हैं कि विहित कर्म करना बहुत कठिन है ? हे अर्जुन, जिस अमृत के द्वारा हमारा जीवन अक्षय होता है, यदि उसका थोड़ा-सा अंश प्राप्त करने के लिए भी हमें अपना सर्वस्व बेच डालना पड़े, तो भी उसमें क्या बुराई है ? जो विष पीकर हम अपनी हत्या कर सकते हैं और व्यर्थ ही अपने प्राण गंवा सकते हैं, वही विष हम स्वयं दाम देकर क्यों खरीदें और क्यों पिएं ? ठीक इसी प्रकार इन्द्रियों को कष्ट देकर और आयुष्य के दिन व्यर्थ गंवाकर हम पापों का जो संग्रह करते हैं, उसमें दुःख के सिवा और क्या रखा है ? इसीलिए स्वधर्म का आचरण करना चाहिए। वह हमारा सारा श्रम दूर कर देता है और सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ जो मोक्ष है, उसकी हमें प्राप्ति करा देता है। इसीलिए हे अर्जुन, जिस प्रकार संकट के समय सिद्ध मन्त्र नहीं भूलना चाहिए, उसी प्रकार स्वधर्म के आचरण से भी हमें कभी घबराना नहीं चाहिए। जिस प्रकार समुद्र में नौका का परित्याग नहीं करना चाहिए अथवा जिस प्रकार कोई महारोग होने पर दिव्य औषध नहीं छोड़नी चाहिए, उसी प्रकार इस लोक में बुद्धि से स्वकर्म का कभी परित्याग नहीं करना चाहिए। हे अर्जुन, इस स्वधर्माचरण रूपी आराधना से जब परमेश्वर सन्तुष्ट हो जाता है तब वह उस भक्त में से रजोगुण और तमोगुण निकालकर बिलकुल अलग कर देता है और उसे सत्त्व गुण के मार्ग पर लगाता है और उसके मन में एसा वैराग्य उत्पन्न करता है, जिसमें आत्मसाधन की उत्कंठा के कारण उसे ऐहिक और पारलौकिक सुख विष के समान जान पड़ते हैं। जिस वैराग्य के स्पष्ट लक्षण ऊपर (स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः; श्लोक ४५) स्पष्ट शब्दों में बतलाये गये हैं, उसी वैराग्य का पद उस पुरुष को प्राप्त होता है। अब मैं तुमको यह बतलाता हूं कि इस स्थान पर आरूढ़ होने पर वह पुरुष सब अवसरों पर किस प्रकार आचरण करता है और इस प्रकार के आचरण से उसे क्या लाभ होता है।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

"जिस प्रकार जाल में हवा नहीं बंध सकती, उसी प्रकार वह पुरुष भी इस देह आदि में किसी तरह नहीं बंध सकता। जब फलों के पकने का समय आता है, तब न तो फल ही डाल में लगा रह सकता है और न डाल ही उस फल को पकड़े रह सकती है। ठीक इसी प्रकार इस परिपूर्ण अवस्था में उस पुरुष का संसार विषयक प्रेम बिलकुल ढीला पड़ जाता और निर्बल हो जाता है। जिस प्रकार कोई यह नहीं कहता कि यह विष का पात्र मेरा ही है और मैं ही इसे पिऊंगा, उसी प्रकार पुत्र, धन-सम्पत्ति और स्त्री आदि उसके मन से उतर जाते हैं और वह कभी इस प्रकार का आग्रह नहीं करता कि ये सब मेरे हैं। तात्पर्य यह कि उसके मन में विषय मात्र के प्रति घृणा हो जाती है और उसकी बुद्धि सभी विषयों से पीछे हटने और दूर रहने लगती है और हृदय के एकान्त स्थल में प्रवेश करती है। अब यदि ऐसे पुरुष का मन बाहर भी घूमता है तो भी उसकी वैराग्य-युक्त बुद्धि एकनिष्ठ दासी की तरह उससे बिलकुल डरकर सब काम करती है और उसकी आज्ञा का कभी उल्लंघन नहीं करती। इसके सिवा हे अर्जुन, वह मन को ऐक्य भावना की मुट्ठी में बन्द करके उसे आत्मा के अनुसंधान में प्रवृत्त करता है। उस समय ऐहिक और पारलौकिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाली उसकी वासना उसी प्रकार दबकर मर जाती है, जिस प्रकार

धूल या मिट्टी से दबी हुई आग मर जाती है। उस समय मन का नियमन करने के कारण इस प्रकार उसकी सारी वासनाएं आपसे आप नष्ट हो जाती हैं। वह पुरुष इस प्रकार के लक्षणों वाली अवस्था को प्राप्त हो जाता है। हे अर्जुन, वह पुरुष मायाजन्य ज्ञानाभास को छोड़कर उसका अन्त करके सच्चे ज्ञान के क्षेत्र में आकर स्थित हो जाता है। जिस प्रकार इकट्ठा किया हुआ जल काम में लाने से समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार उसके प्राचीन कर्म भी देह-भोग के द्वारा नष्ट हो जाते हैं और नवीन कर्म करने में उसका मन किसी प्रकार की सहायता नहीं करता। हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, ऐसी अवस्था को कर्मसाम्य दशा कहते हैं। फिर इस अवस्था में उस पुरुप को सद्गुरु के दर्शन बहुत सहज में हो जाते हैं। जिस प्रकार रात्रि के चार पहर बीतने पर अन्धकार के शत्रु सूर्य के दर्शन नेत्रों को आपसे आप हो जाते हैं अथवा जिस प्रकार फलों के घौद के आते ही केले के वृक्ष की बाढ़ आपसे आप बन्द हो जाती है, उसी प्रकार इस स्थिति में मुमुक्षु को सद्गुरु के दर्शन आपसे आप हो जाते हैं। फिर हे वीरश्रेष्ट, जिस प्रकार पूर्णिमा के आने पर चन्द्रमा की सारी त्रुटि दूर हो जाती है और वह परिपूर्ण हो जाता है, उसी प्रकार सद्गुरु की कृपा से वह पुरुष भी परिपूर्ण हो जाता है। फिर उसमें अज्ञान का जो थोड़ा-बहुत अंश बाकी रह जाता है, वह सद्गुरु की कृपा से नष्ट हो जाता है फिर जिस प्रकार सूर्योदय होते ही अन्धकार और उसके साथ-ही-साथ रात्रि भी पूरी तरह से निर्मूल हो जाती है अथवा जिस प्रकार किसी गर्भिणी स्त्री-पशु का वध करने से उसके गर्भ में का बच्चा भी तत्काल ही मर जाता है, उसी प्रकार अज्ञान के गर्भ में रहने वाली कर्म, कर्ता और कार्य की त्रिपुटी का भी नाश हो जाता है। इसके उपरान्त अज्ञान का नाश होते ही उसके साथ-ही-साथ समस्त कर्म-समूह भी नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार यह संन्यास बिलकुल मूल तक जा पहुंचता है। इस मूल वाले अज्ञान का नाश होने से इस नाम-रूपात्मक माया की कृतियों का आधार ही नष्ट हो जाता है और वह पुरुप स्वयं ही ज्ञेय-स्वरूप हो जाता है। जो मनुष्य स्वप्न में यह देखता है कि मैं किसी दह में डूब रहा हूं, क्या वह कभी जागने के बाद भी अपने आपको डूबने से बचाने और उस दह में से बाहर निकलने के लिए कोई प्रयत्न करता है ? अब उसके दुःस्वप्न का अन्त हो जाता है, जिसमें वह यह सोचता था कि मेरी समझ में कुछ भी नहीं आता और अब मैं ज्ञान-सम्पादन करूंगा। और वह ज्ञाता तथा ज्ञेय वाली भावनाओं से छूटकर केवल ज्ञान स्वरूप हो जाता है। हे वीरश्रेष्ठ पार्थ, जब दर्पण आड़ में चला जाता है और उसके साथ उसमें दिखाई पड़ने वाला प्रतिबिम्ब भी आंखों से ओझल हो जाता है, तब जिस प्रकार केवल देखने वाला ही बाकी रह जाता है, उसी प्रकार जो अज्ञान नष्ट हो जाता है, उसके साथ-ही-साथ ज्ञातृत्व भी लुप्त हो जाता है और तब केवल क्रियाहीन चैतन्य ही अवशिष्ट रह जाता है। हे अर्जुन, इस चैतन्य में स्वभावतः ही किसी प्रकार की क्रिया नहीं हो सकती और इसीलिए इसे 'नैष्कर्म्य' कहते हैं। हमारा जो मूल स्वरूप है, वही उस समय हमें प्राप्त हो जाता है और हमारा अज्ञानजन्य भेदभाव या भिन्नता नष्ट हो जाती है। जिस प्रकार हवा के बन्द हो जाने पर तरंगें जल में लीन होकर समुद्र बन जाती हैं, उसी प्रकार 'न होना' या 'भिन्नता नष्ट होना' उत्पन्न होता है, और इसी को नैष्कर्म्य की सिद्धि समझना चाहिए। समस्त सिद्धियों में यही सिद्धि सबसे अधिक महत्त्व की और श्रेष्ठ है। मन्दिर के निर्माण में जिस प्रकार क्लेश होता है अथवा नदी जिस प्रकार समुद्र में प्रवेश करती है अथवा सोने का चोखापन जिस प्रकार सोलहवां कस है, ठीक उसी प्रकार अज्ञान और ज्ञान दोनों के नष्ट हो जाने पर इस दशा को पहुंचना है। इस दशा में पहुंचने के उपरांत फिर कुछ भी निष्पन्न करने के लिए बाकी नहीं रह जाता और इसीलिए इसका नाम 'परम सिद्धि' है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

"गुरु की कृपा का उदय होने पर भाग्यवान् को इस आत्मसिद्धि की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार सूर्य

के निकलते ही अंधकार नहीं रह जाता अथवा दीपक के स्पर्श से कपूर भी दीपकस्वरूप हो जाता है अथवा जल का स्पर्श होते ही नमक का डला भी जलस्वरूप हो जाता है अथवा सोये हुए मनुष्य के जाग उठने पर निद्रा और स्वप्न दोनों का ही नाश हो जाता है और वह तत्काल होश में आ जाता है उसी प्रकार गुरु के वचन सुनते ही सौभाग्यवश जिसकी द्वैत बुद्धि का नाश हो जाता है और जिस ऐक्य रूप आत्मप्रतीति में विश्राम प्राप्त होता है, उसके सम्बन्ध में क्या कभी कोई यह कह सकता है कि उस पुरुष के लिए अभी और भी कुछ कर्तव्य बाकी रह गया है ? क्या आकाश भी कभी उत्पन्न हो सकता है अथवा नष्ट हो सकता है ? इसीलिए यह बात भी निस्सन्देह ही है कि ऐसे पुरुष के लिए कुछ भी कर्तव्य बाकी नहीं रह जाता। परन्तु यह बात प्रत्येक पुरुष के सम्बन्ध में तत्काल ही नहीं हो जाती। अपने कान और गुरु के वचन का संयोग होते ही हर कोई वस्तुस्वरूप (अर्थात् आत्मस्वरूप) की एकदम से सिद्धि नहीं कर सकता। क्योंकि सामान्यतः विहित कर्माचरण की अग्नि से यदि काम्य और निषिद्ध कर्मों का ईधन जलाकर उसमें रजोगुण और तमोगुण दोनों ही जलाकर राख कर दिये जायं, पुत्र, द्रव्य और स्वर्ग सुख आदि के सम्बन्ध का लोभ यदि उसी प्रकार पूरी तरह से अपने वश में कर लिया जाय, जिस प्रकार कोई दास वश में किया जाता है, चारों ओर मनमानी दौड़ लगाने वाली और विषयों के मल से मलिन इन्द्रियां यदि निग्रह के तीर्थ में धोकर अच्छी तरह निर्मल कर ली गई हों और स्वधर्म के आचरण का फल यदि ईश्वर को अर्पित करके अटल वैराग्य प्राप्त कर लिया हो और इस प्रकार यदि वह सारी सामग्री एकत्र कर ली गई हो, जिसकी आत्म साक्षात्कार के समय ज्ञान के उत्कर्ष के लिए आवश्यकता होती है और ऐसे ही अवसर पर यदि सद्गुरु से भेंट हो जाय और वे भी बिना किसी प्रकार का संकोच किये स्पष्ट रूप से आत्मबोध का उपदेश करें, तो भी हमें यह सोचना चाहिए कि क्या औषध खाते ही हमारे शरीर के रोग सम्बन्धी विकार तुरन्त ही दूर हो जाते हैं और हमारा शरीर एकदम से स्वस्थ हो जाता है। अथवा क्या दिन निकलते ही कभी मध्याह्न हो सकता है ! यदि उपजाऊ और तर जमीन में अच्छे बीज बोये जायं तो अवश्य ही बहुत अच्छी फसल पैदा होती है, परन्तु वह भी कब ? जब उसका उपयुक्त समय आता है और जब फसल पैदा होने के दिन आते हैं, तब। यदि मार्ग बिलकुल सुगम, सरल और स्वच्छ हो और संग-साथ भी अच्छा मिल जाय, तो हम सहज में ही अपने इष्ट स्थान तक पहुंच जाते हैं। परन्तु फिर भी इष्ट स्थान तक पहुंचने के लिए उक्त दोनों बातों के सिवा समय की भी आवश्यकता होती ही है। ठीक इसी प्रकार जब मन में पूरी तरह से वैराग्य समा जाता है, तिस पर सद्गुरु के भी दर्शन होते हैं और अन्तःकरण में आत्म और अनात्म के विवेक का अंकुर भी जोरों से फूटता है और इस विवेक के कारण जब इस प्रकार का निश्चित अनुभव हो जाता है कि 'एकमात्र ब्रह्म ही सत्य वस्तु है और बाकी जो कुछ है, वह सब माया-जनित मोहजाल है', तभी वह पुरुष कालक्रम से उस ब्रह्मतत्त्व में समरस होकर ब्रह्मत्व वाली स्थिति को पहुंचता है जो ब्रह्मतत्त्व या परब्रह्म सर्वव्यापी और सर्वश्रेष्ठ है, जिसमें मोक्ष का कार्य समाप्त होता है, जो ज्ञाता; ज्ञेय और ज्ञान वाली त्रिपुटी को निगल जाता है, जो अन्त में ज्ञान की सारी क्रियाएं भी बन्द कर देता है, जिसमें ऐक्य की एकता परिपूर्ण होती है, जिसमें आनन्द का अणुरेणु भी विलीन हो जाता है और जो अन्त में केवल ऐसा शून्य स्वरूप बच रहता है, जो कुछ भी नहीं होता। जिस प्रकार भूखे मनुष्य के सामने षट्रस भोजन परोसने पर प्रत्येक ग्रास में उसका समाधान होता है, उसी प्रकार ज्यों ही वैराग्य की सहायता से विवेक का दीपक प्रज्वलित होता है, त्यों ही आत्मस्वरूप का गुप्त भांडार उसके लिए खुल जाता है। तथापि जो मनुष्य इतनी अधिक योग्यता प्राप्त कर लेता है कि आत्मस्वरूप के वैभव का प्रत्यक्ष भोग कर सके, वह उस ब्रह्मप्राप्ति की योग्यता तक जिस क्रम से पहुंचता है, उसके लक्षण अब मैं तुमको बतलाता हूं; सुनो।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥५१॥

"गुरु के दिखलाये हुए मार्ग से चलकर वह विवेक-रूपी तीर्थ पर जा पहुंचता है और वहां अपनी बुद्धि का सारा मल बहुत अच्छी तरह धो डालता है। फिर जिस प्रकार राहु के मुख से छूटी हुई कान्ति आकर चन्द्रमा का आलिंगन करती है, उसी प्रकार उस पुरुष की निर्मल हो जाने वाली बुद्धि आत्मस्वरूप के साथ जाकर मिल जाती है। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री अपनी ससुराल और मायका दोनों ही छोडकर केवल अपने पति का ही अनुसरण करती है, उसी प्रकार उसकी बुद्धि भी सुख-दुःख आदि के द्वन्द्वों को छोडकर केवल आत्मस्वरूप के चिन्तन में लीन हो जाती है। और इन्द्रियां जिन शब्द और स्पर्श आदि पांचों विषयों का महत्त्व बढ़ा रखती हैं, वे पांचों विषय ज्ञान का मूल तत्त्व प्राप्त करने की आशा से किये जाने वाले इन्द्रिय-निरोध के कारण उसी प्रकार विलीन हो जाते हैं, जिस प्रकार सूर्य की किरणों के न रह जाने पर मृगजल का भी लोप हो जाता है। जिस प्रकार अनजान में किसी नीच का खाया हुआ अन्न वमन करके अपने पेट से निकाल देना चाहिए, उसी प्रकार वह पुरुष विषय और विषयवासना को भी इन्द्रियों से वमन करा देता है। फिर उन इन्द्रियों की अन्तर्मुख वृत्ति से पवित्र तट पर लाकर और उनसे उपयुक्त प्रायश्चित्त कराके वह उन्हें निर्मल कर देता है। इसके उपरान्त सत्त्व-सम्पन्न धैर्य से वह उन इन्द्रियों को शुद्ध करता है और योग-साधना के द्वारा उन्हें मन के साथ मिलकर बिलकुल एक कर देता है। अपने प्राचीन कर्मों के अनुसार उसे इस जन्म में जो इष्ट और अनिष्ट भोग भोगने पड़ते हैं, उनमें यदि कुछ खराबी या कष्ट दिखाई देता है, तो भी उसके लिए वह अपने मन में विषाद या राग नहीं करता। अथवा यदि कभी उन भोगों में कोई अच्छी या सुखकर बात भी दिखाई देती है, तो भी वह उनके आनन्द के लोभ में नहीं फसता। इस प्रकार, हे अर्जुन, वह पुरुष अच्छी और बुरी बातों के सम्बन्ध में लोभ और क्षोभ दोनों ही छोड़कर पर्वतों आदि की शीतल गुफाओं में जाकर निवास करने लगता है।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥५२॥

"वह मनुष्य का भीड़-भाड़ वाला स्थान छोड़कर केवल अपने शरीर के अवयवों की संगति में ही जंगल में निवास करता है। उसके सारे खेल शम, दम आदि के ही साथ होते हैं। मौन ही उसका भाषण होता है और सदा गुरु के वचनों के चिन्तन में लगे रहने के कारण उसे समय का भी ध्यान नहीं रह जाता। भोजन करने के समय उसके मन में न तो इसी बात का विचार रहता है कि इससे मेरे अंग पुष्ट होकर बलवान् हों, न वह यही सोचता है कि इससे मेरी भूख शान्त हो और न यही चाहता है कि मेरी जीभ को ही कुछ स्वाद मिले। नपे-तुले और नियमित आहार से उसे जो सन्तोष होता है, उसकी नाप-जोख ही नहीं की जा सकती। वह केवल यही सोचकर बहुत थोड़ा-सा अन्न सेवन करता है कि खोये हुए अन्न की उष्णता से मेरे क्षीण प्राण बचे रहें। जिस प्रकार पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष के इच्छा दिखलाने पर कुलीन स्त्री उसकी ओर टेढ़े मन से भी प्रवृत्त नहीं होती, उसी प्रकार वह भी निद्रा और आलस्य के आसनों को मान नहीं देता (अर्थात् निद्रा और आलस्य के वशीभूत नहीं होता)। दंडवत् या साष्टांग नमस्कार करने के समय तो उसके अंग अवश्य भूमि के साथ लगते हैं, परन्तु उस प्रसंग के अतिरिक्त और कभी वह भूमि पर लेटने का अविचार नहीं करता। वह केवल उतना ही हाथ-पैर चलाता है, जितना शरीर के व्यवहार के लिए परम आवश्यक होता है। तात्पर्य यह कि वह अपने शरीर का अन्दर और बाहर सब कुछ अपने ही अधिकार में रखता है। और हे भाई वीर अर्जुन, वह अपने अन्तःकरण की वृत्ति को मन की देहलीज भी नहीं देखने देता (अर्थात् अन्तःकरण को मन से बहुत दूर रखता है); तो फिर उस देहलीज को लांघकर

उसके मन तक पहुंचने का तो कोई जिक्र ही नहीं है। फिर भला ऐसी अवस्था में मन के विचार शब्दों में उच्चारण करने का अवकाश ही कहा रह जाता है ? इस प्रकार वह शरीर, वाणी और मन आदि आस-पास के इन सब पदार्थ पर विजय प्राप्त करके ध्यान-रूपी आकाश पर हाथ डालता है। सद्गुरु के वाक्यों के कारण उसका जो आत्मबोध जाग्रत हो जाता है, उसके सम्बन्ध का अपना निश्चय वह निरन्तर दर्पण के समान अपने सामने रखकर उसे देखा करता है। यह ठीक है कि वह स्वयं ध्यान करता है और ध्याता होता है, परन्तु उसके अन्तःकरण की वृत्ति में ध्यान भी ध्येय में मिलकर उसके साथ एकरूप हो जाता है। हे अर्जुन, उसके ध्यान करने की यह पद्धति तुम ध्यान में रखो। फिर जब तक ध्येय, ध्यान और ध्याता की त्रिपुटी मिलकर एक नहीं हो जाती, तब तक उसका ध्यान बराबर चलता रहता है। इसीलिए ऐसा मुमुक्षु जीव आत्मज्ञान में पटु हो जाता है; परन्तु उसके द्वारा ये सब बातें इसीलिए होती हैं कि वह योगाभ्यास को अपनी और सब बातों से आगे रखता और महत्त्व देता है। गुदा-द्वार और मूत्र-द्वार के बीच वाली सीवन को पैरों से अच्छी तरह दबाकर वह मूलबन्ध बांधता है। वह नीचे वाले भाग को संकुचित करके और गुदास्थान के मूलबन्ध, नाभिचक्र के उड्डीयान बन्ध और कंठ-स्थान के जालन्धर बन्ध तीनों की साधना करके भिन्न-भिन्न वायुओं को बिलकुल एक समान कर लेता है। फिर कुंडलिनी को जगाकर और मध्यमा अर्थात् सुषुम्ना का मार्ग खुला और विस्तृत करके और आधार चक्र से अग्नि चक्र तक के समस्त चक्रों को भेदकर अन्त वाले सातवें चक्र को भेदता है जिससे ब्रह्मरन्ध्र के सहस्र दल कमलों में से अमृत की वृष्टि होने लगती है और उस अमृत का प्रवाह गुदा-स्थान के मूलबन्ध तक पहुंचा देता है। फिर ब्रह्मरन्ध्र के कैलास पर तांडव करने वाले चैतन्य-रूपी भैरव के खप्पर में मन और प्राणवायु की खिचड़ी भर देता है और इस प्रकार सिद्ध किये हुए योग की अच्छी और बड़ी सेना अपने आगे की ओर रखकर पीछे की ओर वह अपने ध्यान का किला खूब अच्छी तरह मजबूत करता है। ध्यान और योग दोनों को आत्मतत्त्व के ज्ञान में निर्विघ्नतापूर्वक स्थिर रखने के लिए वह पहले से ही वैराग्य सरीखे मित्र के साथ मित्रता कर रखता है। ऊपर जो सब स्थान बतलाये गये हैं, उन स्थानों को पार करने में यह वैराग्य रूपी मित्र उसकी बहुत सहायता करता है और सदा उसके साथ ही रहता है। दृष्टि की जहां तक पहुंच है, वहां तक यदि दृष्टि और दीपक का वियोग न हो (अर्थात् वहां तक दृष्टि के साथ-ही-साथ प्रकाश भी पहुंचता हो) तो फिर अभीष्ट वस्तु के दिखाई देने में भला किस बात का विलम्ब हो सकता है ? ठीक इसी प्रकार जब जीव को मुमुक्षता प्राप्त हो जाती है, तब उसकी अन्तःकरण वृत्ति ब्रह्मतत्त्व में लीन हो जाती है; और यदि उस अवस्था तक उसका वैराग्य बना रहे, तो फिर ब्रह्म के साथ होने वाली उसकी एकता कहां से भंग हो सकती है ? तात्पर्य यह कि जिस भाग्यवान् से वैराग्ययुक्त योगाभ्यास सध जाता है, वही आत्मप्राप्ति का पात्र सिद्ध होता है। वैराग्य का ऐसा अभेद्य कवच अपने अंग पर डालकर वह राजयोग के घोड़े पर सवारी करता है और रास्ते में जो छोटे-बड़े विघ्न उसे दिखाई देते हैं, उनके धड़ाधड़ टुकड़े उड़ाने वाले ध्यान की खूब तेज धारवाली तलवार वह अपने विवेक की मुट्ठी में खूब कसकर पकड़ लेता है। इस प्रकार ठाट से वह संसार के रणक्षेत्र में उसी प्रकार आगे बढ़ता जाता है, जिस प्रकार अंधेरे में सूर्य बढ़ता जाता है; और अन्त में मोक्ष की विजय-लक्ष्मी उसके गले में जयमाला डालती है।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

"इस विजय-यात्रा में जो दुष्ट शत्रु बाधक होते हैं, और जिन्हें यह वीर योद्धा परास्त करता है, उनमें से मुख्य शत्रु देह का 'अहंकार' है। यह अहंकार ऐसा दुष्ट शत्रु है जो न तो मनुष्य को मर जाने पर ही छोड़ता है और न जन्म लेने पर ही सुख से जीने देता है और हड्डियों के इस ढांचे में ही जीव को फंसाकर उसे कष्ट देता रहता है।

उस अहंकार का मुख्य आधार और आश्रय-स्थल यही देह-रूपी दुर्ग है और उसके इसी दुर्ग पर आक्रमण करके वह वीर योद्धा उसे धूल में मिलाता है। उसका दूसरा शत्रु 'बल' होता है और उसके भी वह प्राण ले लेता है। विषयों का नाम आते ही वह शत्रु चौगुने से भी अधिक आवेश से उठ खड़ा होता है और इसके कारण मानों सारे जगत् को ग्रसने के लिए मृत्यु दौड़कर आ पहुंचती है। इसे विषय-रूपी विष की बाढ़ ही समझना चाहिए। समस्त दोषों पर इसी का साम्राज्य रहता है। परन्तु ध्यान-रूपी तलवार का वार भला वह कैसे सहन कर सकता है ? जो-जो विषय मधुर लगते और सुखकर जान पड़ते हैं, उन्हीं का बुरका ओढ़कर जो मनुष्य के शरीर पर आक्रमण करता है, जो मनुष्य को बहकाकर सन्मार्ग से दूर ले जाता है और प्रवासी जीवों को अधर्म के जंगल में ले जाकर नरक रूपी बाघों के मुंह में डाल देता है, वह विश्वसनीय बनकर मारने वाला शत्रु 'दर्प' है और वह वीर योद्धा उस दर्प का नाश करता है। इसी प्रकार बड़े-बड़े तपस्वी भी जिससे भयभीत रहते हैं, क्रोध सरीखा महादोष जिससे उत्पन्न होता है और जिसका यह स्वभाव है कि ज्यों-ज्यों उसकी पूर्ति की जाय, त्यों-त्यों वह खाली होता जाता है और जितना ही उसका पोषण किया जाय, उतना ही वह उग्र रूप धारण करता जाता है, उस 'काम' नामक शत्रु का भी वह वीर सर्वनाश कर डालता है; क्योंकि उसका सर्वनाश करते ही 'क्रोध' नामक शत्रु का सर्वनाश आपसे आप हो जाता है। जिस प्रकार जड़ काटना ही शाखाओं को काटने के समान होता है, उसी प्रकार काम का नाश कर डालने से क्रोध का भी आपसे आप नाश हो जाता है। इसीलिए जहां काम कैद कर दिया जाता है, वहां क्रोध का नाच भी अवश्य ही बन्द हो जाता है। जिस प्रकार कोई सत्ताधारी पुरुष अपना भार दूसरे के सिर पर बलपूर्वक लादने से नहीं चूकता, उसी प्रकार जिस परिग्रह को स्वीकार करने से उसका अत्याचार बराबर बढ़ता ही जाता है, जो सिर पर चढ़कर बैठता है, मनुष्य में अनेक प्रकार के दुर्गुण उत्पन्न करता है और जीव को ममता की लाठी पकड़कर चलने के लिए विवश करता है, जिस परिग्रह ने शिष्यों और शास्त्रों आदि का आडम्बर रचकर और मठ-मुद्रा आदि के ढोंग खड़े करके संन्यासियों तक को अपने जाल में फंसा लिया है, जो घर में कुटुम्ब के रूप में साथ लग जाता है और जंगल में जो वन्य रूप से सदा सामने खड़ा रहता है, जो नंगे शरीरों का भी पीछा नहीं छोड़ता उस परिग्रह नामक अजेय शत्रु का आश्रय-स्थल भी वह वीर नष्ट कर डालता है और संसार पर विजय प्राप्त करने का आनन्द भोगता है। इसीलिए ज्ञान-गुण के अमानित्व आदि जो समूह हैं, वे मानो कैवल्य के प्रदेशों के राजाओं के रूप में आकर उसके सामने उपस्थित होते हैं और तब शुद्ध सत्य ज्ञान का स्वामित्व उसे अर्पित करके वे स्वयं उसके परिवार में एक सामान्य कर्मचारी बनकर रहते हैं। फिर जब प्रवृत्ति के राजमार्ग से होकर उस वीर की सवारी निकलती है, तब जाग्रति, स्वप्न और सुषुप्ति नामक तीनों स्त्रियां पग-पग पर उसके ऊपर से सुख का राई नोन उतारती चलती हैं। उसके आगे ब्रह्म-बोध रूपी चोबदार विवेक समस्त मायिक प्रसार की भीड़-भाड़ दूर हटाता हुआ चलता है और योगावस्था हाथ में पंचआरती लेकर उसकी आरती उतारने के लिए आती है। उस अवसर पर ऋद्धि-सिद्धियों के भी समुदाय आ पहुचते हैं और उनकी की हुई पुष्प-वृष्टि से मानों उस वीर का स्नान होता है। इस प्रकार ब्रह्मैक्य का स्वराज्य बिलकुल समीप आ जाने के कारण उसे तीनों लोक आनन्द से भरे हुए दिखाई देते हैं। फिर हे अर्जुन, एकजात सम अवस्था के कारण उस पुरुष के लिए कोई ऐसी बात रह ही नहीं जाती, जिसके कारण वह यह कह सकता हो कि अमुक व्यक्ति मेरा शत्रु है अथवा अमुक व्यक्ति मेरा मित्र है। केवल यही नहीं, यदि किसी निमित्त से किसी अवसर पर उसके मुंह से 'मेरा' शब्द निकल भी जाय तो भी उसके सामने दुजायगी का भाव रह ही नहीं जाता; क्योंकि वह केवल एक-स्वरूप हो चुका होता है। हे अर्जुन, इस प्रकार वह केवल एक भाव से सारे विश्व को भर देता है और इसीलिये संकुचित वृत्ति की ममता कभी उसे स्पर्श भी नहीं करती और वह उसका पूर्ण रूप से परित्याग कर देता है। जब इस प्रकार यह वीर पुरुष अपने समस्त शत्रुओं का

नाश कर डालता है और समस्त मायिक प्रसार का भी अन्त कर देता है, तब उसका योग-रूपी घोड़ा आपसे आप स्थिर हो जाता है। पहले उसने अपने शरीर पर वैराग्य का जो भारी और दृढ़ कवच खूब कसकर पहन रखा था, उसे भी अब वह कुछ शिथिल कर देता है। वह अपना ध्यान-रूपी शस्त्र भी रख देता है। उस समय उसके सामने आत्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रह जाता और इसीलिए वह वृत्ति का भी हाथ खींच लेता है। रसायन औषध अपना सब काम तो पूरा-पूरा और ठीक तरह से करती है, लेकिन रोगी उसका सेवन करता है, इसलिए वह स्वय भी समाप्त हो जाती है। ठीक वही बात इस सम्बन्ध में भी होती है। जिस प्रकार ठहरने का पड़ाव देखकर तेजी से चलने वाले पैर भी एकदम से रुक जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म का सान्निध्य हो जाने के कारण उसके अभ्यास का वेग भी कम हो जाता है। जिस प्रकार महासागर के साथ मिलने के समय नदी का वेग कम हो जाता है अथवा पति के साथ भेंट होने पर जिस प्रकार कामुक स्त्री शान्त हो जाती है अथवा फल लगने पर केले के वृक्ष की बाढ़ बन्द हो जाती है अथवा रास्ता जिस प्रकार किसी गांव या नगर में पहुंचने पर समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्मसाक्षात्कार का प्रत्यक्ष अनुभव होने पर वह पुरुष साधन के सब हथियार भी धीरे-धीरे निकालकर नीचे रख देता है। हे अर्जुन, ब्रह्म के साथ उसकी एकता हो जाती है और इसीलिए धीरे-धीरे उसके साधन के उपायों का भी अन्त होने लगता है। हे भाई भाग्यशाली अर्जुन, उस समय पुरुष के अंग में उस शान्ति का पूर्ण रूप से संचार हो जाता है जो वैराग्य संस्कार की पूर्ति करने वाला गोधूलि का समय अथवा ज्ञान के अभ्यास का अन्त अथवा योग-फल के परिपाक की अवस्था है; और तब वह पुरुष ब्रह्म होने का पात्र हो जाता है। पूर्णिमा की चन्द्र-कला से शुद्ध चतुर्दशी की चन्द्रकला जितनी कम होती है अथवा सोने के सोलहवें कस की अपेक्षा पन्द्रहवां कस जितना हलका और हीन होता है अथवा समुद्र में नदी का जितना पानी प्रवेश करता है, केवल उतना ही पानी नदी का चंचल रूप दिखलाता है; और बाकी का पानी जिस प्रकार समुद्र का ही शान्त स्वरूप प्रकट करता है, ठीक उसी प्रकार कमी और बेशी वाला सम्बन्ध 'ब्रह्म' और 'ब्रह्मस्वरूप होने वाले सिद्ध' में होता है। और शान्ति वाले गुण से वह थोड़े ही समय में केवल ब्रह्म ही हो जाता है। परन्तु इस प्रकार प्रत्यक्ष ब्रह्म न होने पर भी ब्रह्मत्व का जो अनुभव पुरुष को होता है, उसी अनुभव को 'ब्रह्मस्वरूप होने की पात्रता' कहते हैं।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥५४॥

"फिर हे अर्जुन, जब पुरुष में ब्रह्मस्वरूप होने की यह पात्रता आ जाती है, तब वह पुरुष चित्त की उस प्रसन्नता के आसन पर प्रतिष्ठित होता है, जो ब्रह्मबोध के कारण होती है। जिस उष्णता के कारण अन्न पकता है, वही उष्णता जब पकाये हुए अन्न में से निकल जाती है तब वह अन्न खाने में समाधानकारक होता है। वर्षा-ऋतु में जो बाढ़ आती है, उसके सब बखेड़े दूर करके शरद्-ऋतु में नदी शान्त हो जाती है; अथवा जब गाना खत्म हो जाता है, तब संगीत के पखावज आदि उपांग भी आपसे आप बन्द हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार आत्मबोध की प्राप्ति करने के लिए जो उद्योग होता रहता है, आत्मबोध होते ही उस सारे उद्योग का अन्त हो जाता है। इस शान्त और प्रसन्न अवस्था को 'आत्मबोध-प्रशस्ति' कहते हैं। अब उस पुरुष को यही प्रसन्नता वाली अवस्था प्राप्त होती है। उस समय ब्रह्मसाम्य की भरती हो चुकी होती है, इसलिए यदि उस समय उसकी कोई वस्तु खो जाय, तो उसे कुछ भी दुःख नहीं होता; और यदि उसे कोई वस्तु प्राप्त होने को हो, तो उसके लिए वह कोई प्रयत्न भी नहीं करता। इन दोनों में से एक भी बात उस पुरुष के किये हो ही नहीं सकती। जिस प्रकार सूर्य के उदित होते ही समस्त नक्षत्र अपनी प्रभा गंवा बैठते हैं, उसी प्रकार आत्मस्वरूप के अनुभव का संचार होते ही, हे अर्जुन, वह पुरुष जिस तरफ देखता है, उस तरफ उसके लिए मानों इस भेदभावात्मक भूत सृष्टि का अन्त ही हो जाता है। जिस

प्रकार धूल पर लिखे हुए अक्षर केवल हाथ से पोछकर मिटाये जा सकते है उसी प्रकार उसकी दृष्टि पड़ते ही सारा भेदभाव नष्ट हो जाता है। फिर जाग्रत और स्वप्न दोनो अवस्थाओं में जो विपरीत तथा असत्य ज्ञान उत्पन्न होते है, वे दोनों अव्यक्त में अर्थात् मूल अज्ञान में लुप्त हो जाते हैं। और फिर वह मूल अज्ञान भी ब्रह्मबोध की वृद्धि के कारण घटता-घटता अन्त में पूर्ण बोध में समा जाता है। जिस प्रकार भोजन करने के समय प्रत्येक ग्रास के साथ भूख थोड़ी-थोड़ी कम होनी जाती है और पूर्ण तृप्ति होने पर सारी भूख मिट जाती है अथवा ज्यों-ज्यों आदमी रास्ता चलता है, त्यों-त्यों रास्ते की लम्बाई या दूरी कम होती जाती है, और अन्त में उद्दिष्ट स्थान तक पहुंचने पर रास्ता बिलकुल खत्म हो जाता है अथवा ज्यों-ज्यों जाग्रति बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों निद्रा का नाश होता जाता है और पूरी तरह जाग जाने पर निद्रा बिलकुल रह ही नहीं जाती अथवा जिस प्रकार पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा की कलाएं पूर्ण हो जाने पर उसके बिम्ब की वृद्धि का अन्त हो जाता है और उसी दिन से शुक्लपक्ष का भी अन्त हो जाता है, उसी प्रकार जब जानने के समस्त विषयों का अस्तित्व मिटाकर जानने वाला अपने साथ ज्ञान को लेकर मेरे स्वरूप मे मिलकर समरस हो जाता है; उसी समय अज्ञान की पूर्ण रूप से इतिश्री हो जाती है। फिर जिस प्रकार कल्पान्त के समय नदी और समुद्र आदि सबके आकार नष्ट हो जाते हैं और सारा ब्रह्मांड समान रूप से जलमय हो जाता है अथवा जिस प्रकार घट और मठ आदि आकारों के नष्ट हो जाने पर सब जगह समान रूप से भेदहीन आकाश बचा रह जाता है अथवा जिस प्रकार लकड़ी के जल जाने पर केवल अग्नि बची रहती है अथवा जिस प्रकार सुनार की घरिया में पड़ने पर और अलंकार का आकार नष्ट हो जाने पर सोने के लिए नामरूप आदि वाला भेदभाव प्रयुक्त नहीं हो सकता अथवा यदि और दृष्टान्त देना हो तो जिस प्रकार जाग उठने पर और स्वप्न के न रह जाने पर केवल हमीं हम बाकी रह जाते हैं, ठीक उसी प्रकार वह मेरे सिवा और किसी को नहीं देखता या पहचानता; यहां तक कि स्वयं अपने आपको भी वह नहीं देखता या पहचानता। इसी प्रकार उसके द्वारा मेरी चौथी भक्ति होती है। आर्त्त (अर्थात् दुःखों से पीड़ित), जिज्ञासु (अर्थात् ज्ञानप्राप्ति की इच्छा रखने वाले) और अर्थार्थी (अर्थात् द्रव्य की इच्छा रखने वाले) भक्त जिन मार्गों से मेरी भक्ति करते हैं, वे तीनों मार्ग इससे भिन्न हैं और इसीलिए मैं इस ज्ञानभक्ति को चौथी भक्ति कहता हूं। और नहीं तो यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो न यह भक्ति तीसरी ही है और न चौथी ही है, न पहली है और न अन्तिम ही है। यह भक्ति तो वास्तव में मेरी स्वाभाविक अवस्था है। हे अर्जुन, मेरा जो वह स्वाभाविक प्रकाश है, जो उस अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश करता है, जो लोगों के मन में मेरे सम्बन्ध में होता है, जिसकी सहायता से लोगो को सहज में मेरा वास्तविक स्वरूप दिखाई देने लगता है, जो सब लोगों को सबके भजन में प्रवृत्त करके उन्हें पूरा और वास्तविक ज्ञान करा देता है, और जिस प्रकाश का यह चमत्कार होता है कि जो जहा बैठकर देखता है, वह वहीं श्रद्धापूर्वक बैठा हुआ सब कुछ देखता है, जिस प्रकाश की सहायता से विश्व का भाव अथवा अभाव उसी प्रकार भासमान् होता है, जिस प्रकार स्वप्न दिखाई देना अथवा न दिखाई देना स्वयं देखने वाले के अस्तित्व पर अवलम्बित रहता है, उसी प्रकाश को भक्ति कहते है। इसीलिए जो लोग आर्त्त (अर्थात् पीड़ित) होते हैं, उनमें यह भक्ति आर्त्ति (अर्थात् पीड़ा) के रूप में निवास करती है और उस पीड़ा के निवारण के लिए जो कुछ अपेक्षित होता है, उसी के अनुरूप वह भक्त मेरी कल्पना करता है (अर्थात् वह मुझे ऐसा अपेक्षित वस्तु समझता है, जिससे उसकी पीड़ा का निवारण होता है)। हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, जिज्ञासु अर्थात् ज्ञान की इच्छा रखने वाले पुरुष में यही भक्ति जिज्ञासा अर्थात् ज्ञान की लालसा के रूप में निवास करती है; और यही भक्ति उसे मेरे दर्शन ऐसे रूप में कराती है कि वह मुझको ही अपनी जिज्ञासा का विषय समझता है। मैं उसके लिए जिज्ञासा का विषय बन जाता हूं। अर्थार्थी भक्त में यही भक्ति अर्थ की इच्छा का रूप धारण कर लेती है; और हे अर्जुन, उसकी वह भक्ति मुझे ही अर्थ का रूप देती है जिससे वह मेरा ही नाम 'अर्थ'

रख लेता है इसी प्रकार मेरी जो भक्ति अज्ञान का आश्रय लेकर रहती है वह द्रष्टा अर्थात देखने वाले का इस प्रकार की शक्ति देती है जिससे वह मुझको ही दृश्य (अर्थात देखने का विषय) समझता है। इस बात में कुछ भी सन्देह नहीं कि इस प्रकार मुख को मुख ही दिखाई देता है परन्तु उसमें जो भेदभाव उत्पन्न होता है, उसका कारण दर्पण होता है दृष्टि को यदि एक चन्द्रमा दिखाई दे तो वह ठीक ही है। परन्तु एक के जो दो चन्द्रमा दिखाई देते है, वह तिमिर नामक नेत्र-रोग के कारण होते हैं और वह दूसरा चन्द्रमा कृत्रिम होता है। ठीक इसी प्रकार सब जगह सब भक्त इस भक्ति के कारण मेरा ही ग्रहण करते हैं, परन्तु मुझमें वे लोग जो व्यर्थ के दृश्यत्व की कल्पना करते हैं, वह केवल अज्ञान के कारण करते हैं। जब वह अज्ञान दूर हो जाता है, तब द्रष्टा का द्रष्टत्व उसी प्रकार मद्रूप हो जाता है, जिस प्रकार बिम्ब में ही प्रतिबिम्ब समा जाता है। जिस समय सोने में खोट या मैल मिला रहता है, उस समय भी सोने में सोनापन मौजूद रहता है। परन्तु जब उसमें का खोट या मैल जल अथवा निकल जाता है, तब जिस प्रकार केवल शुद्ध सोना बाकी बचा रह जाता है, उसी प्रकार द्रष्टा के लिए केवल मैं-ही-मैं रह जाता हूं। क्या पूर्णिमा से पहले चन्द्रमा अपने समस्त अंगों से युक्त नहीं होता ? अवश्य होता है। परन्तु उसमें पूर्णता केवल पूर्णिमा के दिन ही आती है। इसी प्रकार ज्ञानमार्गों से भी केवल 'मैं' ही दिखाई देता हूं, परन्तु केवल भिन्न-भिन्न दिशाओं से दिखाई देता हूं। और इस प्रकार दिखाई पड़ने पर 'मैं' को 'मैं' की ही प्राप्ति होती है और इसीलिए द्रष्टा का द्रष्टत्व अर्थात् द्रष्टापन बिलकुल नष्ट हो जाता है। हे अर्जुन, इसीलिए मैंने यह कहा है कि मेरी यह चौथी भक्ति दृश्य मार्ग के उस पार की है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

"इस ज्ञानभक्ति के द्वारा जो भक्त मेरे साथ मिलकर स्वाभाविक रूप से समरस हो जाता है, उसके सम्बन्ध में तुम यह बात सुन ही चुके हो कि वह भक्त नहीं है, बल्कि स्वयं मैं ही हूं। क्योंकि हे अर्जुन, (सातवें अध्याय में) मैं यह बात हाथ उठाकर गम्भीर वाणी से तुमको बतला चुका हूं कि ज्ञानी पुरुष मेरी आत्मा ही होता है। हे अर्जुन, मैंने यही भक्ति कल्प के आरम्भ में भागवत के मिस से ब्रह्मा को सिखलाई थी। ज्ञानी लोग इसे 'स्व-संविती' कहते हैं; शैव इसे 'शक्ति' के नाम से पुकारते हैं; और मैं इसे "अपनी परम भक्ति" कहता हूं। जिस समय कर्मयोगी मेरे साथ मिलकर एक हो जाते हैं, उस समय उन्हें इसका फल प्राप्त होता है और तब फिर सारा विश्व मेरे योग से ओत-प्रोत हो जाता है। उस अवस्था में विवेक के साथ-साथ वैराग्य, मोक्ष के साथ-साथ बन्ध और निवृत्ति के साथ वृत्ति भी पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है। सब कुछ इसी पार चला जाता है और इसीलिए उस पार कुछ भी बाकी नहीं रह जाता। जिस प्रकार पृथ्वी, जल, तेज और वायु चारों भूतों को निगलकर केवल आकाश ही बाकी बच रहता है, उसी प्रकार साध्य और साधन की सीमा के उस पार जो निर्मल और निर्दोष तत्त्व मैं हूं, उसी तत्त्व के साथ मिलकर और एकरूप होकर वह पुरुष आत्मानन्द का अनुभव करता है। जिस प्रकार गंगा समुद्र में प्रवेश करके और उसके साथ मिलकर प्रवाहित होती है, ठीक उसी प्रकार तुम यह बात अपने ध्यान में रखो कि आत्मानन्द के उपभोग का भी स्वरूप होता है। जिस प्रकार दो दर्पण स्वच्छ करके एक-दूसरे के सामने रखने पर उनके रूपों की एक-दूसरे में सुन्दर एकता होती है, उसी प्रकार द्रष्टा भी मुझमें मिलकर और मेरे साथ समरस होकर आत्मानन्द का उपभोग करता है। जिस प्रकार सामने का दर्पण दूर कर देने पर और उसमें दिखाई पड़ने वाला मुख का आभास न रह जाने पर द्रष्टा केवल अपने आप में सुख से रहता है अथवा जिस प्रकार जागने पर स्वप्न का नाश होता है और तब उस जाग्रत अवस्था में स्वयं अपना अकेलापन देखकर कोई पुरुष बिना किसी दूसरे की संगति के अपने उस अकेलेपन का उपभोग करता

है, उसी प्रकार वह भक्त आत्मानन्द का भी उपभोग करता है। कुछ लोग यह कहा करते हैं कि जब कोई व्यक्ति वस्तु के साथ एकरूप हो जाता है तब उसके किये उस वस्तु का उपभोग हो ही नहीं सकता। ऐसे लोगों से मैं यह पूछता हूं कि शब्दों से ही शब्द का उच्चारण कैसे होता है ? क्या ऐसा कहने वाले लोगों के देश मे सूर्य को दीपक जलाकर देखना पडता है अथवा आकाश के नीचे कोई चांड़ लगानी पडती है ? अथवा क्या अन्धकार कभी सूर्य को आलिंगन कर सकता है ? जो आकाश ही नहीं है, तो फिर आकाश का ज्ञान कहा से होगा ? क्या घुंघचियों के गहने के सम्बन्ध में यह अभिमान किया जा सकता है कि जवाहरात का गहना है ? इसी प्रकार जो 'मैं' हो ही नहीं सकता, उसकी दृष्टि में 'मैं' का अस्तित्व ही कहां है ? फिर इस सम्बन्ध में कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि वह उसका उपभोग कर सकेगा या नहीं। इसीलिए मै कहता हूं कि वह कर्मयोगी 'मैं' होकर ही 'मैं' का उपभोग करता है और उसी प्रकार उपभोग करता है, जिस प्रकार तरुण पुरुष अपने तारुण्य का उपभोग करता है। जिस प्रकार तरंगें पूर्ण रूप से जल का चुम्बन करती हैं अथवा प्रभा सूर्य के विम्ब में सब जगह चमकती रहती है अथवा आकाश तत्त्व जिस प्रकार गगन में सब जगह ओत-प्रोत भरा रहता है, उसी प्रकार वह कर्मयोगी भी मेरा स्वरूप देखकर विना किसी प्रकार की क्रिया का आचरण किये मेरा उपभोग करता रहता है। अलंकार जिस प्रकार स्वाभाविक रूप से सोने का उपभोग करता है अथवा सुगन्ध जिस प्रकार चन्दन में बिना कुछ भी किये बनी रहती है अथवा चांदनी जिस प्रकार बिना कोई क्रिया किये चन्द्रविम्ब में विलास करती है, उसी प्रकार अद्वैत में यद्यपि क्रिया के लिए कोई स्थान नहीं होता, परन्तु फिर भी भक्ति के लिए उसमें जगह रहती ही है। परन्तु यह बात प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करने से ही समझ में आती है, केवल शब्दों से इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। फिर इस प्रकार का केवल-स्वरूप पुरुष जब अपने प्राचीन संस्कारों के कारण कुछ भी बोलता है, तब उसका वही बोलना मेरी भक्ति होता है; और तब तुरन्त ही मैं उसका उत्तर देता हूं। और फिर वह बोलने वाला भी मैं ही होता हूं। जब बोलने वाले का केवल अपने आपसे योग होता है, तब उससे कुछ भी बोला ही नहीं जा सकता। और इसीलिए उस अवस्था में मेरा उत्तम भोजन केवल मूक रहकर ही किया जाता है। इसीलिए जब वह भक्त बोलने लगता है, तब मानो मैं ही उसके द्वारा बोलता हूं; और इसीलिए मौन फलित होता है और उसी मौन से वह वास्तव में मेरी स्तुति करता है। इसी प्रकार, हे अर्जुन, अपनी बुद्धि अथवा दृष्टि से वह जो कुछ देखता है, उस देखने में दृश्य वस्तु तो एक ओर हट जाती है और वह देखना उसे स्वयं उसी का स्वरूप दिखलाता है। जिस प्रकार दर्पण में देखने वाले को स्वयं अपना वही स्वरूप दिखाई देता है, जो उस दर्पण में देखने से पहले होता है, उसी प्रकार उस भक्त का देखना भी उसे स्वयं उसी के दर्शन कराता है। इस प्रकार जब दृश्य उड़ जाता है और द्रष्टा को द्रष्टा के रूप में ही उसका अनुभव होता है, तब उस द्रष्टा के सिवा और कुछ भी बाकी नहीं रह जाता और इसीलिए उसके द्रष्टत्व का भी लोप हो जाता है। जब स्वप्न में दिखाई पड़ने वाले वल्लभ को आलिंगन करने के लिए कोई स्त्री आगे बढ़ती है, पर तुरन्त ही जाग उठती है, तब उसे पता चलता है कि न तो वह मेरा वल्लभ ही था और न मैं उसकी स्त्री ही हूं और इसीलिए वह शान्त हो जाती है। अथवा दो लकड़ियों को परस्पर रगड़ने से उनके मध्य में अग्नि उत्पन्न होती है और तब उन दोनों लकड़ियों का अस्तित्व नहीं रह जाता और दोनों मिलकर एक अग्नि के ही रूप में दिखाई देती हैं। अथवा जल में सूर्य का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है उसे पकड़ने के लिए यदि स्वयं सूर्य ही आगे बढ़े तो उसका वह प्रतिविम्ब वहां नहीं रह जाता और ऊपर से स्वयं उसके बिम्बत्व का भी लोप हो जाता है। इसी प्रकार जब भक्त मद्रूप होकर दृश्य को भी अपने आप में लीन कर लेता है, तब उसके वास्तविक दृष्टत्व के साथ-ही-साथ दृश्य का भी लोप हो जाता है। सूर्य जब अन्धकार को

प्रकाशित करता है, तब जिस प्रकार प्रकाशित करने के लिए अन्धकार बाकी ही नहीं रह जाता, उसी प्रकार जब एक बार द्रष्टा को मेरा स्वरूप प्राप्त हो जाता है, तब दृश्य में दृश्यत्व भी बाकी नहीं रह जाता। फिर ऐसी अवस्था में उसी स्थिति को वास्तविक दर्शन कह सकते हैं जिसमें दृश्य दिखाई भी देता है और नहीं भी दिखाइ देता। हे किरीटी, फिर चाहे जिस वस्तु से उसका सामना हो जाय और चाहे जो वस्तु उसे दिखाई दे, हर समय उसे वही दर्शन होते रहते हैं और तब वह उस दृष्टि का उपभोग करता है, जो द्रष्टा और दृश्य दोनों से परे रहती है। और जिस प्रकार आकाश सदा आकाश से ही ठसाठस भरा रहने के कारण कभी हिलता-डुलता नहीं, उसी प्रकार स्वयं आत्मस्वरूप में प्रवेश करने के कारण वह भी कभी अपने स्थान से विचलित नहीं होता। कल्पान्त मे सब जगह पानी-ही-पानी हो जाता है और सारा जल एक जगह जमा हुआ-सा रहता है और इसीलिए उसमें प्रवाह हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार जब आत्मा में ही आत्मा भर जाती है, तब उसमें स्तब्धता आ जाती है। पैर स्वयं ही जितनी दूर आगे जाता है, उससे आगे वह जा ही कैसे सकता है ? आग स्वयं अपने आपको कैसे जला सकती है ? पानी स्वयं अपने ही स्नान के लिए कैसे उपयोगी हो सकता है ? इसीलिए वह भक्त भी जब पूर्ण रूप से मद्रूप हो जाता है, तब उसका आना-जाना आदि सब व्यवहार बन्द हो जाते हैं; और व्यापारों का यह बन्द होना ही मानों मेरी अद्वैतता की यात्रा है। पानी पर तरंगें चाहे कितनी ही दूर क्यों न बढ़ जाय, तो भी यह नहीं माना जा सकता कि उसने जमीन पर की मंजिल पूरी की है। उसमें पुराना स्थान छोड़ने वाला भी जल ही होता है और नया स्थान ग्रहण करने वाला भी जल ही होता है; जो गति देता है, वह भी जल ही होता है, और जिसे गति प्राप्त होती है, वह भी जल ही होता है। तात्पर्य यह कि जो कुछ होता है, वह सब जल-ही-जल होता है। हे अर्जुन, जल की चाहे कितनी ही अधिक बाढ़ क्यों न आवे, परन्तु फिर भी उसका जलत्व सदा अबाधित ही रहता है और इसीलिए तरंगों की एकता भी कभी नष्ट नहीं होती। इसी प्रकार मैं-पन का चाहे कितना ही अधिक विस्तार क्यों न हो, परन्तु फिर भी वह सब मुझमें ही समाता चलता है और इसी यातायात के कारण वह मेरा ही यात्री ठहरता है। और यदि शरीर के स्वभाव-धर्म के कारण वह कोई कर्म करने लगे, तो उस कर्म के निमित्त से भी मैं ही उसे प्राप्त करता हूं। ऐसी स्थिति में, हे अर्जुन, कर्म और कर्ता दोनो के नामों का ही लोप हो जाता है और मुझे आत्मस्वरूप में देखकर वह स्वयं ही 'मैं' हो जाता है। यदि दर्पण-ही-दर्पण को देखे तो वह कोई देखना नहीं कहलाता। सोने पर सोने का ही मुलम्मा कभी नहीं चढ़ सकता। अथवा दीपक से कभी दीपक को प्रकाश नहीं दिखलाया जा सकता। इसी प्रकार 'मैं' जो कर्म हूं, वही कर्म यदि 'मैं' करे, तो उस अवस्था में वह किसी प्रकार कर्म हो ही नहीं सकता। जिस अवस्था में कर्म तो किये जाते हों, परन्तु यह न कहा जा सकता हो कि वह कर्म करता है, तब उसका कर्म करना न करने के ही बराबर होता है। समस्त कर्मों के मद्रूप हो जाने के कारण उसका फल 'कुछ न करना' ही होता है। और इसी को मेरी सच्ची भक्ति कहते हैं। इसीलिए, हे अर्जुन, कर्म करने के मार्ग से भी कर्म न करना ही घटित होता है और इसी महापूजा से वह मेरी अर्चा करता है। तात्पर्य यह कि वह जो कुछ बोलता है, वही मेरा स्तोत्र है, वह जो कुछ देखता है, वही मेरा दर्शन होता है और वह जो कुछ चलता है, वही मेरी अद्वैतता का ही गमन होता है। वह जो कुछ करेगा, वह सब मेरी ही पूजा होगी; वह अपने मन में जिस बात का विचार करेगा, वह मेरा ही जप होगा; और हे अर्जुन, उसका स्वस्थ रहना ही मेरी समाधि है। जिस प्रकार कंकड़ को निरन्तर सोने की ही संगति में रहना पड़ता है, उसी प्रकार वह भक्तियोग से निरन्तर अद्वैत रूप में मेरे साथ और मुझमें रहता है। पानी में लहरें, कपूर में सुगन्ध और रत्नों में तेज बिना किसी द्वैत भाव के ही रहता है। तन्तुओं के साथ पट और मिट्टी के साथ घट सदा एक में मिला रहता है। ठीक इसी प्रकार वह भक्त मेरे साथ समरस होकर

रहता है। मेरा इस अनन्य भक्ति के कारण वह दृश्य पदार्थ मात्र में आत्मभाव से मुझ द्रष्टा को ही देखता है। जाग्रति, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्था के कारण उपाधि अर्थात् क्षेत्र और उपाधियुक्त अर्थात् क्षेत्रज्ञ के कारण भाव अथवा अभाव रूप से जो यह विश्व दृश्य होता है, उसके सम्बन्ध में, हे सुविज्ञ अर्जुन, उसे यही दिखाई देता है कि वह सारा विश्व मैं ही द्रष्टा हूं और इसी प्रकार के बोध के क्षेत्र में वह आत्मानुभव का पुतला नाचने लगता है। जब यह पता लग जाता है कि यह डोरी है, तब यह निश्चय हो जाता है कि उसके सम्बन्ध में होने वाला सर्प का आभास भी डोरी ही है। जब अलंकार गलाया जाता है, तब यह निश्चय हो जाता है कि उसमें नाम को भी कोई ऐसी अलंकारता नहीं थी जो सोने से अलग हो। मनुष्य जब यह जान लेता है कि तरंग वास्तव में जल के सिवा और कुछ भी नहीं है, तब वह उस तरंग के आकार को कभी वास्तविक नहीं समझता। जागने पर स्वप्न विकारों का हिसाब लगाने वाला अपने आपको छोड़कर और कुछ भी नहीं देख सकता। इसी प्रकार वह पुरुष भी भावरूप से अथवा अभावरूप से ज्ञेय के रूप में जान पड़ने वाले समस्त पदार्थों के सम्बन्ध में यही समझता है कि सब कुछ मैं ज्ञाता ही हूं; और यही अनुभव करके वह उन सबका उपभोग करता है। वह जानता है कि मैं अजन्मा, अमर, अक्षय, अक्षर, अपूर्व और अपार आनन्द हूं। मैं अचल और अच्युत, अनन्त और अद्वय, आद्य और निराकार तथा साकार भी हूं। मैं सत्ता के सामने दबने वाला या ईश्य भी हूं और सत्ता का संचालन करने वाला अर्थात् ईश्वर भी हूं। अनादि, अविनाशी, निर्भय, आधार और आधार पर ठहरने वाली आधेय वस्तु भी मैं ही हूं। मैं सत्ताधारी, नित्य, सिद्ध, स्वयंभू, निरन्तर, सर्वरूप सर्वान्तर्यामी और सबसे परे का हूं। मैं नया भी हूं और पुराना भी; शून्य भी हू और सम्पूर्ण भी। बड़ा अथवा छोटा, जो कुछ है, वह सब मैं ही हूं। मैं कर्महीन, द्वैतहीन, संगहीन और शोकहीन हूं। व्याप्त होने वाला और व्याप्त करने वाला पुरुषोत्तम भी मैं ही हूं। मुझमें शब्द, कान, रूप अथवा गोत्र आदि कुछ भी नहीं है। मैं सर्वत्र समान और स्वयंसिद्ध हूं। मैं परब्रह्म हूं। इस प्रकार के अपनेपन के एकत्व के द्वारा वह मुझे इस अद्वय भक्ति की सहायता से सचमुच जानता है; और साथ ही वह यह भी जानता है कि इस आत्मबोध का अनुभव जो ज्ञान है, वह भी मैं ही हूं। जिस प्रकार जागने पर स्वप्नों का आभास नहीं रह जाता और केवल वह पुरुष ही, जो स्वप्न देखता है, रह जाता है और इस बात का पता जिस प्रकार स्वयं उसे ही होता है अथवा जिस प्रकार सूर्य जब प्रकट होता है, तब वही प्रकट करने वाला भी होता है और यह बात भी वही प्रकट करता है कि प्रकट होने वाला और प्रकट करने वाला दोनों अभिन्न हैं, उसी प्रकार ज्ञान विषय का लोप हो जाने के कारण केवल ज्ञाता ही बाकी रह जाता है; और यह बात जिसकी समझ में आती है, वह भी वह स्वयं ही होता है। हे अर्जुन, अपनी उस अद्वैता को जानने की जो ज्ञानशक्ति है, उसके सम्बन्ध में भी उसको यह बात समझ में आ जाती है कि वह शक्ति भी सर्व-समर्थ मैं ही हूं। इसके उपरान्त वह यह भी समझ लेता है कि द्वैत और अद्वैत दोनों से परे रहने वाली जो एकमेवाद्वितीय आत्मा है, वह भी मैं ही हूं और इस विषय में कुछ भी सन्देह नहीं है; और जब उसे इस ज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, तब जिस प्रकार उस अवस्था में, जबकि जाग उठने पर अपने अकेलेपन का जो भान होता है, उसके भी नष्ट हो जाने पर यह नहीं कहा जा सकता कि उसका स्वरूप कैसा होगा, अथवा आंखों से देखते ही जिस प्रकार स्वर्ण में सोनेपन के साथ-साथ अलंकार का भी लोप हो जाता है अथवा नमक के जलस्वरूप हो जाने पर उस नमक की नमकीनी उस पानी मे बनी रहती है, परन्तु उस नमकीनी के भी न रह जाने पर जिस प्रकार नमक का अस्तित्व ही बिलकुल मिट जाता है, उसी प्रकार जब यह भान भी कि 'मैं वही परब्रह्म हूं' स्वानन्द के अनुभव के शान्तरस में विलीन हो जाता है, तब वह मुझमें प्रवेश करता है। उस अवस्था में 'वह' का भी कहीं नाम नहीं रह जाता और 'मैं' के लिए भी कोई ठिकाना नहीं रह जाता।

इस प्रकार उसकी 'मैं' और 'वह' वाली भावना नष्ट हो जाती है और वह मेरे स्वरूप में मिल जाता है। जिस समय कपूर जलने लगता है, उस समय तो उसे अग्नि कहना उपयुक्त होता है; परन्तु जब कपूर का भी लोप हो जाता है और अग्नि का भी लोप हो जाता है, तब जिस प्रकार केवल आकाश-तत्त्व ही बाकी रह जाता है अथवा जिस प्रकार एक में से एक घटाने पर केवल शून्य बाकी रह जाता उसी प्रकार 'है' और 'नहीं है' अथवा भाव और अभाव दोनों को अलग कर देने पर जो कुछ बच रहता है, वही मैं हूं। उस अवस्था में 'ब्रह्म', 'आत्मा' और 'ईश्वर' आदि शब्दों से भी उस स्वानन्द में विघ्न पड़ता है और 'न' अर्थात् 'कुछ नहीं' कहने की भी वहा जगह बाकी नहीं रह जाती। उस समय बिना कुछ भी बोले और बिना मुंह से कोई शब्द निकाले ही, खूब जी भरकर 'न' कहा जाता है और ज्ञान तथा अज्ञान की कोई जानकारी न होने पर भी वह बिलकुल ठीक तरह से जाना जाता है। वहां बोध से ही बोध को समझाया जाता है, आनन्द से ही आनन्द का आलिंगन किया जाता है और केवल सुख से ही सुख का भोग किया जाता है। उस अवस्था में लाभ को ही लाभ होता है, प्रभा में ही प्रभा लगती है और विस्मय मानों विस्मय में ही डूब जाता है। उस अवस्था में शम को भी शान्ति प्राप्त होती है, विश्राम को भी विश्रान्ति मिलती है और अनुभव-पर-अनुभव का पागलपन सवार हो जाता है। तात्पर्य यह कि कर्मयोग की सुन्दर बेल लगाने का उस पुरुष को यही आत्मस्वरूप वाला निर्दोष फल प्राप्त होता है। और हे अर्जुन, इस कर्मयोग के सम्राट् के मुकुट पर चैतन्य-रूपी रत्न मैं ही होता हूं और इसके बदले में वह मेरा मुकुटमणि होता है। अथवा इस कर्मयोग रूपी मन्दिर का मानों मोक्ष ही कलस है और उस कलस के ऊपर रहने वाला आकाश का विस्तार वह कर्मयोगी होता है। अथवा यह समझना चाहिए कि संसार रूपी वन में कर्मयोग ही एक अच्छी सड़क है और वह सड़क सीधी मेरे ऐक्य-रूपी ग्राम तक आ पहुंचती है। अथवा यह समझना चाहिए कि ज्ञानभक्ति के जल के साथ कर्मयोग के प्रवाह-मार्ग से वह बड़े वेग से चलकर 'मैं' नामक आत्मानन्द रूपी सागर में आ मिलता है। हे सुविज्ञ अर्जुन, इस कर्मयोग का माहात्म्य इतना अधिक है और इसीलिए मैं तुम्हें बार-बार इसका उपदेश करता हूं। यह 'मैं' कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे उचित स्थल, काल अथवा पदार्थ का साधन करके प्राप्त किया जा सके; बल्कि यह 'मैं' एक ऐसी वस्तु है जो आपसे आप पूर्ण रूप से सबमें वर्तमान रहती है; और इसी वास्ते मुझे प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार का कष्ट नहीं सहना पड़ता। इस कर्म-प्रयोग के द्वारा ही मैं वास्तव में हाथ में आ जाता हूं। यह व्यवहार सभी जगह प्रचलित है कि एक शिष्य होता है और दूसरा गुरु होता है। परन्तु यह व्यवहार केवल मेरी प्राप्ति का मार्ग जानने भर को ही है। हे अर्जुन, पृथ्वी के गर्भ में सम्पत्ति, काष्ठ के गर्भ में अग्नि और स्तन में दूध सदा स्वभावतः रहता ही है। परन्तु जो पुरुष इन पदार्थों को प्राप्त करने के उपाय करता है, वही इन्हें प्राप्त कर सकता है। ठीक इसी प्रकार मैं भी वास्तव में स्वतः सिद्ध ही हूं, परन्तु उपायों से साध्य होता हूं।" इस अवसर पर कोई प्रश्न कर सकता है कि इतने समय तक फल का विवेचन कर चुकने पर अब कृष्णदेव उपाय की प्रस्तावना क्यों कहते हैं। तो उसका उत्तर यह कि इस प्रस्तावना में यह बतलाया गया है कि इस गीता का मुख्य रहस्य यही है कि प्रत्यक्ष मोक्ष-साधन के सम्बन्ध में सभी दृष्टियों से विवेचन किया जाय। दूसरे अनेक शास्त्रों में भी इसके अनेक उपाय बतलाये गये हैं, परन्तु उनके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वे सब प्रमाण-सिद्ध ही हैं। हवा यदि बहुत करे तो बादलों को उड़ा सकती है, परन्तु वह सूर्य का निर्माण नहीं कर सकती। हाथ से पानी में की सेंवार हटाकर एक ओर की जा सकती है, परन्तु उससे जल नहीं उत्पन्न किया जा सकता। इस प्रकार आत्मदर्शन में बाधा उत्पन्न करने वाला जो अज्ञान का मल होता है, उसे तो शास्त्र दूर कर सकते हैं, परन्तु बाकी 'मैं' सदा स्वयं प्रकाश और निर्मल ही रहता हूं। इसीलिए समस्त शास्त्र केवल अज्ञान का मल धोने के

साधन हैं। इसके अतिरिक्त आत्मबोध कराने की उनमें कोई स्वतन्त्र योग्यता नहीं है। उन अध्यात्म-शास्त्रों में जब सचाई सिद्ध करने का प्रसंग आता है, तब वे जिस स्थान में जाते हैं, वह स्थान यही गीता है। जब सूर्य पूर्व दिशा को मंडित करता है, तब सभी दिशाएं उज्ज्वल हो जाती हैं। इसी प्रकार शास्त्रों को उचित मार्ग पर चलाने वाली यह गीता है और इसी गीता की सहायता से सब शास्त्र समर्थ होते हैं। अस्तु। पहले सर्वज्ञ श्रीकृष्ण ने आत्मप्राप्ति करने के अनेक उपाय बहुत विस्तारपूर्वक बतलाये हैं। परन्तु फिर भी श्रीहरि ने अपने मन में बहुत ही चिन्तित होकर यह सोचा है कि सम्भव है कि यह विषय एक बार सुनने पर तुरन्त ही अर्जुन की समझ में न आया हो अथवा अच्छी तरह से समझ में न आया हो। और इसीलिए अब एक बार बतलाया हुआ सिद्धान्त शिष्य के मन में अटल रूप से प्रतिबिम्बित करने के लिए वही सिद्धान्त फिर से संक्षिप्त रीति से श्रीकृष्ण कह रहे हैं। और साथ ही गीता की समाप्ति निकट आ पहुंचने के कारण यहां भी दिखलाया गया है कि उसके आरम्भ और अन्त में एकसूत्रता है। यह दिखलाने का कारण यह है कि ग्रन्थ के आरम्भ और अन्त के मध्य में अनेक प्रकार के प्रश्न उपस्थित होने के कारण अनेक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया गया है। इसमें के आगे और पीछे के सन्दर्भों पर ठीक तरह से ध्यान देने के कारण कोई यह भी कह सकता है कि वे सब सिद्धान्त ही इस शास्त्र के मुख्य और सारभूत सिद्धान्त हैं। इसीलिए उन सब सिद्धान्तों को एक महा-सिद्धान्त के सांचे में ढालकर गीता के आरम्भ की उसकी समाप्ति के साथ एकवाक्यता की गई है। इस ग्रन्थ का मुख्य और प्रस्तुत विषय अविद्या का नाश है। और मोक्ष का सम्पादन उस अविद्या-नाश का फल है। और इन दोनों का ही साधन ज्ञान है। केवल यही विषय इस विशाल ग्रन्थ में अपने प्रकार से विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया गया है। अब यही विवेचन यहां बहुत थोड़े-से शब्दों में होने को है। इसीलिए फल हाथ में आने पर ही उस फल को प्राप्त करने के उपायों का फिर से विवेचन करने के उद्योग में श्रीकृष्ण प्रवृत्त हुए हैं।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

श्रीकृष्ण ने कहा—"हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, वह कर्मयोगी अपनी स्थिर भक्ति की सहायता से 'मैं' हो जाता है और अटल रूप से मुझमें निवास करता है। वह स्वकर्माचरण के निर्मल पुष्पों से मेरी अर्चा करता है और उस अर्चा से प्राप्त होने वाले प्रसाद से उस ज्ञाननिष्ठा का लाभ होता है। जब यह ज्ञाननिष्ठा प्राप्त हो जाती है, तब मेरी भक्ति का उत्कर्ष होता है और उस भक्ति से प्राप्त होने वाली सम अवस्था की शान्ति से वह सुखी होता है। विश्व को प्रकाशित करने वाला जो 'मैं' हूं, उस 'मैं' को अर्थात् स्वयं अपनी ही आत्मा को जो सब जगह ओत-प्रोत भरा हुआ समझता है और इसके अनुसार आचरण करता है, जो उसी प्रकार बुद्धि, वाचा और शरीर से केवल मेरा ही आश्रय ग्रहण करता है, जिस प्रकार नमक अपना निरालापन छोड़कर जल का आश्रय ग्रहण करता है अथवा वायु जिस प्रकार चक्कर लगाना छोड़कर आकाश में स्तब्ध होकर रहती है, यदि उसके हाथों एकाध बार कोई ऐसा-वैसा काम भी हो जाय, तो भी जिस प्रकार गंगा के साथ सम्बन्ध हो जाने पर रास्ते में का गंदले पानी का प्रवाह और महानदी का प्रवाह दोनों मिलकर एक ही हो जाते हैं, उसी प्रकार मेरा ज्ञान हो जाने पर शुभ और अशुभ कर्म दोनों एकरूप हो जाते हैं। चन्दन और साधारण लकड़ी में तभी तक भेद रहता है, जब तक उनमें आग नहीं लगती। पांच कसवाले और सोलह कसवाले सोने का भेद तभी तक रहता है, जब तक पारस के स्पर्श से वे दोनों एकरूप नहीं हो जाते। ठीक इसी प्रकार जब तक मेरे सर्वव्यापी प्रकाश की प्राप्ति न हो, तभी तक शुभ और अशुभ के भेद का भास होता है। जब तक हम लोग सूर्य के द्वीप में प्रवेश न करें तभी तक रात और दिन के द्वन्द्व का भास होता है। इसीलिए हे अर्जुन, मेरे साथ मेल होते ही उसके समस्त कर्मों का लोप हो जाता है और वह सायुज्य मोक्ष के

आसन पर विराजमान हो जाता है उसे मेरा वह अक्षय पद प्राप्त होता है, जिसका स्थल, काल या स्वभाव से कभी व्यय अथवा क्षय नहीं होता। हे अर्जुन, जहां मेरे अर्थात् प्रत्यक्ष आत्मा के प्रसाद की प्राप्ति होती हो, वहां भला और किस लाभ की कमी रह सकती है ? (अर्थात् वहां और सभी प्रकार के लाभ अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं।)

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

इसलिए हे अर्जुन, तुम अपने समस्त कर्मों का मुझमें ही संन्यास करो। अपने समस्त कर्म मुझको ही अर्पित करो। परन्तु हे वीर अर्जुन, यही नित्य कर्मों का संन्यास है। तुम अपनी मनोवृत्ति सदा आत्मविवेक में लगाओ। तब फिर उसी विवेक की सामर्थ्य से तुम्हें अपना आत्मतत्त्व मेरे स्वरूप में निर्दोष रूप से दिखाई देने लगेगा जो सब प्रकार के कर्मों से अलिप्त रहता है। और उस समय यह बात भी तुम्हारे ध्यान में आ जायगी कि कर्मों की जन्मभूमि जो प्रकृति या माया है, वह भी आत्मा से बहुत दूर है। फिर हे अर्जुन, जिस प्रकार पदार्थ से उसकी छाया अलग नहीं हो सकती, उसी प्रकार यह प्रकृति भी आत्मतत्त्व से अलग नहीं रह सकती। जब इस प्रकार प्रकृति का अन्त हो जायगा, तब समूल कर्म संन्यास आपसे आप हो जायगा। फिर कर्मों का अन्त या नाश हो जाने पर केवल 'मैं' या आत्मतत्त्व ही बाकी रह जायगा और बुद्धि एक पतिव्रता स्त्री की भांति पूर्ण निष्ठा से उसमें रमण करेगी। इस प्रकार जब बुद्धि अनन्य भक्ति से मेरे रंग में रंगी जायगी, तब चित्त भी अपनी सारी चंचलता छोड़कर मेरा ही भजन करने लगेगा। इसलिए तुम सदा ऐसा ही उपाय करते रहो जिसमें तुम्हारा चित्त सारी चंचलता छोड़कर निश्चल रूप से मुझमें ही आकर लग जाय।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

''फिर इस प्रकार भेदभावहीन भक्ति से जब मैं चित्त में पूर्ण रूप से भर जाऊंगा, तब तुम समझ लेना कि मेरा पूरा-पूरा प्रसाद प्राप्त हो गया। जब ऐसी अवस्था प्राप्त हो जायगी, तब वे अनेक प्रकार के दुःखकारक स्थल भी तुम्हें सुखकारक जान पड़ने लगेंगे, जो जन्म और मृत्यु के कारण भोगने पड़ते हैं। यदि सूर्य की सहायता से आंखें बनकर तैयार हुई हों, तो फिर उनके सामने अन्धकार क्या चीज है ? इसी प्रकार मेरी परम कृपा से जिसका जीव-भाव वाला कण पूरी तरह से पिस जाता है, अर्थात् जिसका जीवभाव बिलकुल नष्ट हो जाता है, उसे इस संसार का हौवा भला कैसे पीड़ा दे सकता है ? इसलिए हे अर्जुन, तुम मेरे प्रसाद से इस संसार की दुष्ट झंझट से पार हो जाओगे। परन्तु यदि अभिमान के कारण तुम मेरी इन सब बातों का अपने कान और मन के साथ स्पर्श न होने दोगे, तो तुम नित्यमुक्त और अव्यय होने पर भी व्यर्थ हो जाओगे और तुम पर देहाभिमान के भयंकर आघात होंगे। इस देह-सम्बन्ध के प्रदेश में पग-पग पर आत्मघात का कष्ट सहन करना पड़ता है और उसमें कभी क्षण-भर के लिए भी सांस लेने का अवकाश नहीं मिलता। यदि मेरी बातों पर तुम ध्यान न दोगे तो न मरने पर भी इतने बड़े संकट के कारण मरे हुए के समान ही हो जाओगे।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

''जिस प्रकार पथ्य न करने वाला रोगी ज्वर को अथवा दीपक से द्वेष करने वाला व्यक्ति अन्धकार को प्रबल करता है, उसी प्रकार यदि तुम विवेक को तिरस्कारपूर्वक दूर हटाकर अहंकार का पोषण करोगे और उस अहंकार के कारण अपने शरीर को 'अर्जुन', दूसरों के शरीरों को 'स्वजन' और इस युद्ध को 'दुष्ट पापाचरण' कहोगे और यदि अभिमानपूर्वक यह निश्चय करोगे कि 'मैं युद्ध नहीं करूंगा' तो भी तुम्हारा जन्मजात स्वभाव, तुम्हारा वह

निश्चय बिलकुल निष्फल कर डालेगा। तुम जो अपने मन में इस प्रकार की भावनाएं करते हो कि "मैं अर्जुन हूं, मेरे आत्मजन हैं और इन्हें मारना घोर पातक है", तो तुम्हीं सोचो कि इस प्रकार की भावनाओं में माया के सिवा क्या और कोई वास्तविक तथ्य भी है ? पहले तो तुम युद्ध करने के लिए उद्यत हुए और तब युद्ध करने के लिए तुमने हाथ में शस्त्र भी ग्रहण किये; और इतना सब कुछ करके भी अब तुम यह प्रतिज्ञा करना चाहते हो कि मैं युद्ध नहीं करूंगा। तुम्हारी ये सभी बातें बहुत ही विलक्षण हैं। तुम जो यह कहते हो कि मैं युद्ध नहीं करूंगा, सो ये सब बिलकुल निस्सार बातें हैं। यदि केवल लौकिक व्यवहार की दृष्टि से ही देखा जाय तो भी तुम्हारी इन बातो का कुछ भी अभिप्राय समझ में नहीं आता। तुम जो अपने मन में युद्ध न करने का निश्चय कर रहे हो, सो तुम्हारे इस निश्चय को तुम्हारा स्वभाव ही विचलित कर देगा—स्वभाव ही तुम्हें अपना यह निश्चय तोड़कर युद्ध करने के लिए बाध्य करेगा।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ;
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

"यदि पानी का बहाव पूरब की ओर हो और पश्चिम की ओर तैरकर जाने का प्रयत्न किया जाय तो तैरने वाले के पल्ले कोरा पागलपन वाला आग्रह ही पड़ेगा। ऐसे मनुष्य को पानी का बहाव स्वयं ही अपने कहने में कर लेगा—उसे उसकी अच्छा के विरुद्ध और अपनी इच्छा के अनुसार बहा ले चलेगा। अथवा यदि धान का कण यह कहे कि मैं धान की तरह अंकुरित नहीं होऊंगा और न मैं उसकी तरह बढ़ूंगा तो तुम्हीं सोचो कि क्या वह कभी अपने स्वभाव का उल्लंघन कर सकेगा ? ठीक इसी प्रकार, हे बुद्धिमान् अर्जुन, तुम्हारा स्वभाव और तुम्हारी प्रकृति ही क्षात्र-धर्म के संस्कार से बनी है। इसीलिए यद्यपि इस समय तुम यह कह रहे हो कि—'मैं युद्ध नहीं करूंगा' तो भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुम्हारी प्रकृति ही तुम्हें युद्ध में प्रवृत्त कर देगी। हे अर्जुन, शौर्य, तेज और तत्परता आदि गुण तुम्हारी प्रकृति ने ही तुम्हें दिये हैं। और यदि तुम उन गुणों के अनुरूप कार्य न करोगे तो तुम्हारी वह प्रकृति ही तुम्हें स्वस्थ होकर बैठने नहीं देगी। इसलिए हे धनुर्धारी अर्जुन, तुम इन गुणों से जकड़े हुए हो और इसी लिए इस बात में तिलमात्र भी सन्देह नहीं है कि तुम क्षात्र-कर्म के मार्ग में लगोगे। परन्तु यदि तुम अपने जीवन का यह रहस्य अपने ध्यान में न रखकर केवल अविचारपूर्वक यह निश्चय करके हठपूर्वक बैठे रहोगे कि मैं युद्ध नहीं करूंगा, तो भी मुझे इस बात का पूरा विश्वास है कि तुम भी उसी प्रकार कुछ-न-कुछ अवश्य करोगे, जिस प्रकार वह पुरुष स्वयं न चलने पर भी अपने स्थान से बहुत दूर पहुंच जाता है, जिसे हाथ-पैर बांधकर रथ पर बैठा दिया जाता है। तुम अपने मन में यह सोचते ही रह जाओगे कि मैं कुछ भी न करूंगा और तुम्हारी प्रकृति बलपूर्वक तुमसे बहुत कुछ करा डालेगी। जब विराट देश का राजकुमार उत्तर रणक्षेत्र से भागा जा रहा था, तब तुम्हारे क्षात्र-स्वभाव ने ही तुम्हें युद्ध में प्रवृत्त किया था या नहीं ? तुम्हारा ही क्षात्र-स्वभाव आज भी तुम्हें युद्ध में प्रवृत्त करेगा। बड़े-बड़े वीरों की ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओं को तुमने उत्तर के गो-ग्रहण के समय अकेले ही रणक्षेत्र में लेटा दिया था। जिस क्षात्र-स्वभाव का यह प्रताप था, वही स्वभाव, भाई धनुर्धारी अर्जुन, इस समय भी तुम्हें युद्ध में प्रवृत्त करेगा। क्या रोगी को कभी रोग अच्छा लगता है ? दरिद्र को क्या दरिद्रता कभी अच्छी जान पड़ती है ? नहीं। परन्तु जिस बलिष्ठ दैव के कारण रोगी को रोग अथवा दरिद्र को दरिद्रता भोगनी पड़ती है, वही दैव ईश्वर की सत्ता से बिना अपना कार्य किये न रहेगा और वह ईश्वरीय सत्ता भी तुम्हारे हृदय में निवास कर ही रही है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

"समस्त भूतों के अन्तःकरण में अथवा उनके हृदय-रूपी आकाश में चिद्वृत्ति की हजारों किरणों से जो

ईश्वर रूपी सूर्य उदित होता है वह अवस्थात्रय-रूपी लोकत्रय को प्रकाशित करके माया के फेर में पड़े हुए यात्री जीवों को जाग्रत करता है। दृश्य वस्तु रूपी जल के सरोवर में विषय-रूपी कमलों पर अपना तेज फैलाकर वह ईश्वर रूपी सूर्य उस जीव रूपी भ्रमर को, जिसकी पांचों ज्ञानेन्द्रियां और छठा मन मिलाकर कुल छः पैर है, बराबर चराता रहता है। परन्तु यह रूपक यथेष्ट हो चुका वह हृदयस्थ ईश्वर अहंकार का आवरण ओढ़कर निरन्तर विलास करता रहता है। अपनी ही माया के परदे की आड़ से वह समस्त सूत्रों का संचालन करता रहता है और बाहर जगत् की रंगभूमि पर चौरासी लाख चराचर योनियों के चित्र-विचित्र छायाचित्र नचाता रहता है। वह ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र कीड़े-मकोड़ो तक समस्त भूतों की उनकी योग्यता के अनुसार देहाकृति से सजाकर रखता है। जिसके सामने जो आकार वह सुघड़पन में संवारकर रखता है, उस देह में वह जीव इसी भावना से जकड़ जाता है कि यह देह ही मैं हूं। जिस प्रकार एक सूत किसी दूसरे सूत के साथ लिपटा हुआ रहता है अथवा किसी तृण आदि का डंठल किसी दूसरे डंठल के साथ लिपटा हुआ रहता है अथवा छोटे बच्चे पानी में पड़ने वाला अपना प्रतिबिम्ब देखकर उसे हाथों से हिलोरते हैं, उसी प्रकार देहाकार रूप में स्वयं अपनी ही दूसरी छाया देखकर जीव भी उसमें आत्मबुद्धि की स्थापना कर लेता है—यह समझने लगता है कि यह देह ही मैं हूं। इस प्रकार भूतमात्र की देह-रूपी यन्त्र पर बैठाकर वह हृदयस्थ ईश्वर प्राचीन कर्मों के सूत्र हिलाता रहता है। उनमें से जो प्राचीन सूत्र जिस भूत के साथ स्वतन्त्र रीति से बंधे होते हैं, वे भूत उस सूत्र से प्राप्त होने वाली गति ग्रहण करने लगते हैं। हे अर्जुन, जिस प्रकार वायु तृणों के डंठलों को आकाश में फरफराती रहती है, उसी प्रकार ईश्वर भी भूतमात्र को स्वर्ग और संसार में सदा समान रूप से चलाता रहता है। जिस प्रकार चुम्बक पत्थर के आकर्षण से लोहा चक्कर खाने लगता है, उसी प्रकार ईश्वर की सत्ता से भूतमात्र भी चलते-फिरते रहते हैं। हे अर्जुन, जिस प्रकार केवल चन्द्रमा की निकटता के कारण समुद्र आदि अपनी-अपनी चेष्टा करते हैं; अर्थात् समुद्र में ज्वार-भाटा होता है, सोमकान्त मणि द्रवित होने लगती है, कुमुद और चकोर की उदासीनता दूर हो जाती है और वे उल्लसित होते हैं, उसी प्रकार एकमात्र ईश्वर ही मूल प्रकृति के अनुरोध से समस्त भूतों को भिन्न-भिन्न रीतियों से जंचाता रहता है; और हे अर्जुन, वही ईश्वर तुम्हारे हृदय में भी निवास करता है। हे पांडुपुत्र, अर्जुनत्व को अपने अंगों में लगने न देकर तुम्हारे मन में जो यह भाव उठता है कि मैं हूं, वही मैं-पन अर्थात् अहंकार उस ईश्वर का सच्चा स्वरूप है। इसलिए इस बात में कुछ भी सन्देह नहीं है कि ईश्वर ही प्रकृति की सत्ता चलावेगा। और यदि तुम्हारे मन में लड़ने का विचार न भी होगा, तो भी इस बात में तिलमात्र भी सन्देह नहीं कि वह प्रकृति ही तुम्हें युद्ध में प्रवृत्त करेगी। इसीलिए यह कहा जाता है कि ईश्वर सर्वाधिकारी है और वह प्रकृति का नियन्त्रण करता है; और तब वह प्रकृति अपनी इन्द्रियों को चलाती है। इसलिए तुम इस बात का विचार प्रकृति पर ही छोड़ दो कि तुम्हें युद्ध करना चाहिए या नहीं।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

"अहंभाव से, वाचा से, मन से और शरीर से उस ईश्वर की शरण में जाओ, जिसकी सत्ता में रहकर वह प्रकृति सब काम करती है। जिस प्रकार गंगाजल महासागर में प्रवेश करता है, उसी प्रकार तुम भी ईश्वर में प्रवेश करो। फिर उस ईश्वर के कृपा-प्रसाद से तुम्हारा पूर्ण शान्ति-रूपी तरुणों के साथ समागम होगा और तुम आत्मानन्द से स्व-स्वरूप में रमण करने लगोगे। स्वयं उत्पत्ति भी जिसमें से उत्पन्न होती है, विश्राम को भी जहां विश्राम मिलता है और अनुभव को भी जहां अनुभव प्राप्त होता है, उस आत्मरूपी पीठ के तुम अक्षय राजा बनोगे।" उस समय लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यही बात कही थी।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

"यह गीता समस्त साहित्य का मन्थन करके निकाला हुआ सुप्रसिद्ध सार है। जिससे आत्मा नामक रत्न हाथ आता है, वेदान्त में जिसका वर्णन 'ज्ञान' के प्रौढ़ नाम से हुआ है और इसीलिए जिसकी ख्याति सारे संसार में फैली हुई है, जिसके प्रकाश से बुद्धि आदि शक्तियों में देखने और समझने आदि की योग्यता आती है और जिसके द्वारा मैं सर्वद्रष्टा भी दिखाई देता हूं, वही यह आत्मज्ञान है। मैं तो अव्यक्त हूं ही और मुझ अव्यक्त का भी यह नितान्त गुप्त रखा हुआ धन है। लेकिन तुमसे मैं अपना यह धन भला किस प्रकार छिपाकर रख सकता हूं ! इसीलिए, हे अर्जुन, दया और प्रेम से बिलकुल भर जाने के कारण मैंने अपना यह गुप्त भाण्डार तुम्हारे सामने खोलकर रख दिया है। प्रेम के आवेश में भरी हुई माता जिस तरह अपने बच्चे के साथ खुले मन से बातें करती है, उसी तरह हमारी यह प्रीति भी क्या हमें उसी प्रकार की बातों में प्रवृत्त नहीं करेगी ? जिस प्रकार आकाश को भी गला डाला जाय अथवा अमृत की भी छाल उतार ली जाय अथवा दिव्य को भी दिव्य बनाया जाय अथवा जिसके अंग के प्रकाश से पाताल के अणु और रेणु भी प्रकाशित होते हैं, उस सूर्य के भी नेत्रों में दिव्य अंजन लगाया जाय, उसी प्रकार इस अवसर पर हे अर्जुन, मुझ सर्वज्ञ ने भी सब दृष्टियों से विचार करके तुम्हें वही बात बतलाई है जो निश्चयपूर्वक ठीक है। अब तुम इन सब बातों पर उचित विचार करके वही काम करो, जो तुम्हें बिलकुल ठीक जान पड़े।" भगवान् की ये बातें सुनकर अर्जुन स्तब्ध हो गया। उस समय भगवान् ने कहा—"हे अर्जुन, तुम सचमुच बहुत गम्भीर हो। यदि भूखा मनुष्य परोसने वाले से कुछ संकोचपूर्वक कहे कि बस भइया, अब मेरा पेट भर गया, तो स्वयं उसे ही भूखे रहना पड़ेगा। और साथ ही उसे झूठ बोलने का भी दोष लगता है। ठीक इसी प्रकार सर्वज्ञ सद्गुरु के मिलने पर अपनी लज्जाशीलता के कारण उनसे आत्मनिर्णय के सम्बन्ध में प्रश्न न करना मानों स्वयं अपने आपको ही धोखा देना है। और अपनी इस भूल के कारण उस आत्मवंचना का भी पाप लगता है। परन्तु तुम्हारी इस स्तब्धता के कारण तुम्हारे मन का भाव मुझे यह जान पड़ता है कि एक बार फिर इस ज्ञान की चर्चा हो।" इस पर अर्जुन ने उत्तर दिया—"हे उदार भगवन्, यदि मैं यह कहूं कि आपने मेरे मन की बात बिलकुल ठीक समझ ली है, तो यह भी कुछ ठीक नहीं जंचता। क्योंकि भला ऐसा ज्ञाता भी कहीं मिल सकता है जिसकी आपके साथ तुलना की जा सके ? और स्वभावतः केवल आप ही उसके ज्ञाता हैं। फिर यदि सूर्य का वर्णन यह कहकर किया जाय कि वह सूर्य है, तो इससे कौन-सा विशेष अभिप्राय निकल सकता है ?" इस पर श्रीकृष्ण ने कहा—"हे अर्जुन, तुमने जो मेरा यह स्तुतिपूर्ण वर्णन किया है, उसे क्या तुम कम और सामान्य समझते हो ?"

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

"अब तुम अच्छी तरह ध्यान देकर मेरे निर्दोष शब्द फिर एक बार सुनो। कोई ऐसी बात नहीं है जो कहने लायक होने के कारण ही मैं कह रहा हूं और जो सुनने लायक होने के कारण ही तुम्हें सुननी चाहिए। बल्कि इस भाषण के सम्बन्ध में तुम यही समझ लो कि तुम्हारा भाग्य ही उदय हुआ है। हे अर्जुन, कछुवी की केवल दृष्टि से ही उसके बच्चों को पोषक दूध मिलता है। और चातक के घर में स्वयं आकाश ही पनभरे का काम करता है। इसलिए जहां जो व्यवहार नहीं हो सकता, वहां भी उस व्यवहार का फल भोगने को मिलता है। यदि दैव पूर्ण रूप से अनुकूल हो तो कौन-सा लाभ कहां नहीं प्राप्त हो सकता है ? यदि सामान्यतः देखा जाय तो यह रहस्य-ज्ञान ऐसा है कि द्वैत का झगड़ा छोड़कर अद्वैत अर्थात् एक तत्त्व के घर में ही यह भोगने को मिल सकता है। और हे सखे अर्जुन, जिस प्रेम में कोई औपचारिक (दिखावटी या ऊपरी) बात नहीं होती, उस प्रेम का जो विषय होता है, उसके सम्बन्ध में यह बात

जान रखनी चाहिए कि वह स्वय अपने सिवा और कुछ भी नही होता। हे अर्जुन, जिस दर्पण में हमें अपना मुंह देखना होता है, वह दर्पण हम स्वय ही स्वच्छ करते हैं; परन्तु यह स्वच्छता हम उस दर्पण के लिए नहीं करते, बल्कि स्वय अपने ही लिए करते हैं। इसी प्रकार, हे अर्जुन, तुम्हें निमित्त मात्र बनाकर मैं सब बातें स्वयं अपने ही लिए कह रहा हूं; क्योंकि तुम्हीं बतलाओ कि क्या मुझमें और तुममें किसी प्रकार का भेदभाव है ? और इसीलिए मैं अपने मन का भीतरी रहस्य तुमको बतला रहा हूं, क्योंकि तुम भी मेरे अन्तरंग में रहने वाले हो; और एकनिष्ठ भक्तों के लिए मै पागल रहता हूं। हे अर्जुन, जल को अपना सर्वस्व अर्पण करने के समय नमक इतना भूल जाता है कि सर्वांश में जल रूप होने में वह नाम को भी संकोच नहीं करता। ठीक इस प्रकार जब तुम मुझसे किसी तरह का भेदभाव रखना नही जानते, तब मैं तुमसे कोई बात कैसे छिपाकर रख सकता हूं ? इसीलिए जिस रहस्य के सामने संसार के बाकी सब रहस्य बिलकुल स्पष्ट और खुले हुए सिद्ध होते हैं, वह अपना परम गुप्त रहस्य-वचन तुम्हें बतला रहा हूं। सुनो।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

"भाई वीर अर्जुन, तुम मुझ सर्वव्यापक को अपने आन्तरिक और बाह्य सभी प्रकार के व्यवहारों का विषय करो। जिस प्रकार आकाश के सभी अंगों में वायु मिली हुई रहती है, उसी प्रकार तुम मुझमें मिलकर रहो। सारांश यह कि तुम अपने मन को एकमात्र मेरा ही मन्दिर बनाओ और मेरे ही श्रवण से अपने कान अच्छी तरह भरो। ये सन्तजन जो आत्मज्ञान से निर्मल हो चुके हैं, मेरी ही छोटी-छोटी प्रतिमाएं हैं; इसलिए जिस प्रकार कामुक स्त्री अपने पति की ओर प्रेमपूर्वक देखती है, उसी प्रकार तुम्हारी दृष्टि भी इन सन्तों की ओर प्रेमपूर्वक देखे। मैं वस्तु मात्र का निवास-स्थान हूं, इसीलिए मेरे निर्मल धाम की रट तुम अपनी जिह्वा के साथ लगाकर उसे जीवित रखो। तुम ऐसी व्यवस्था करो जिसमें तुम्हारे हाथों के सब काम और पैरों का चलना-फिरना सब कुछ मेरे ही लिए हो। हे अर्जुन, अपने अथवा पराये लोगों के साथ तुम जो उपकार करोगे, उसी यज्ञ से तुम मेरे सच्चे याजक हो सकोगे। परन्तु इस तरह की एक-एक बात मैं तुमको कहां तक बतलाऊं। भाई, तुम स्वयं अपने आपमें सेवकभाव की स्थापना करो और बाकी सब लोगों को मद्रूप मानकर उन्हें सेव्य समझो। इससे भूतमात्र की ओर से तुम्हारे मन का द्वेष दूर हो जायगा और तुम इसी ज्ञान-भावना से नम्रता ग्रहण कर सकोगे कि सब जगह मैं-ही-मैं हूं; और इससे तुम्हें मेरा परम और पक्का आश्रय प्राप्त होगा। फिर इस भीड़भाड़ से भरे हुए संसार में किसी तीसरे का नाम ही न रह जायगा और हम-तुम सचमुच एकान्त में मिल सकेंगे। फिर चाहे कैसी ही अवस्था क्यों न उत्पन्न हो, तो भी तुम्हारा और मेरा पारस्परिक सहवास उपभोग करने के लिए ही बच जायगा और हम लोगों का सुख आपसे आप बढ़ने लगेगा। और हे अर्जुन, जिस अवस्था में तीसरे-पन का झगड़ा नहीं रह जाता, उसी अवस्था में तुम अन्त में मद्रूप होकर मुझमें मिल जाओगे। जब जल का नाश हो जाता है, जल में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब को अपने बिम्ब के साथ मिलकर एक होने से भला कौन रोक सकता है ? यदि वायु आकाश के साथ अथवा तरंग समुद्र के साथ मिलकर एक होने लगे तो उसमें कौन बाधक हो सकता है ? तुम और हम जो अलग-अलग दिखाई देते हैं, यह इसी देह-धर्म के कारण दिखाई देते हैं। परन्तु जब यह देह ही न रह जायगा, तब यह बात निश्चित है कि तुम भी 'मैं' ही हो जाओगे। मेरे इस वचन के सम्बन्ध में तुम अपने मन में तनिक भी शंका मत उत्पन्न होने दो। यदि इसी विषय में तुम कुछ भी उपेक्षा करो तो तुम्हें अपनी कसम है। तुम्हें स्वयं तुम्हारी ही शपथ देना मानों आत्मस्वरूप की ही शपथ देना है। परन्तु इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है, क्योंकि प्रीति का लक्षण ही यही है कि वह लज्जा का कभी स्मरण ही नहीं होने देती। और नहीं तो जो ज्ञान का विषय है, जो प्रपंच से अलिप्त है, जिसके कारण इस विश्व का वास्तव में भास होता है, जिसकी आज्ञा का प्रताप स्वयं काल को भी हरा देता है, वह मैं देव यदि

सत्य संकल्प हूं और यदि मैं जगत् के कल्याण के लिए सदा सचेष्ट रहता हूं, तो फिर मैं शपथ देने का निरर्थक प्रयत्न ही क्यों करूं ? परन्तु हे अर्जुन, तुम्हारे प्रेम के कारण मैं इतना पागल हो गया हूं कि अपने देवत्व वाले भूषण भी मैंने उसी पागलपन में फेंक दिये हैं। हे अर्जुन, इसीलिए मैं तो मानों आधा ही गया हूं और तुम मद्रूप होने के कारण पूरे या सम्पूर्ण बन गये हो। हे अर्जुन, जिस प्रकार अपना कार्य सिद्ध करने के लिए राजा को स्वयं अपनी ही शपथ करनी पड़ती है, ठीक उसी प्रकार की बात यहां भी है।" यह सुनकर अर्जुन ने कहा—"हे भगवान्, आप इस प्रकार की विलक्षण बातें न कहें; क्योंकि मेरे समस्त कार्य केवल आपके नाम के स्मरण से ही चल रहे हैं। तिस पर आप इस समय मुझे उपदेश देने के लिए बैठे हैं। अब यदि आप ही शपथपूर्वक वचन देने लगें तो फिर मैं यह जानना चाहता हूं कि क्या आपकी इस विनोदपूर्ण लीला की कोई मर्यादा भी है ? सूर्य के प्रकाश का एक अल्प अंश भी कमलों को खिला देता है, परन्तु इसी निमित्त से वह पूरे-का-पूरा प्रकट होता है। मेघ इतना जल बरसाता है कि उससे पृथ्वी का दाह भी शान्त हो जाय और सारा समुद्र भी भर जाय। ऐसी अवस्था में जब वह चातक की तृषा शान्त करता है, तब क्या वह चातक उसका केवल निमित्त नहीं है ? इसलिए हे करुणा-निधि और दाताओ में श्रेष्ठ भगवन्, क्या इस अवसर पर यह नहीं कहना पड़ता कि आपकी इस उदारता का मैं भी निमित्त मात्र ही हूं ?" इतने में श्रीकृष्णदेव ने कहा—"बस बहुत हो चुका। इस विषय का यह प्रसंग ही नहीं है। मैंने अभी तुम्हे जो साधन बतलाये हैं, उन साधनों से तुम निस्सन्देह मेरा स्वरूप प्राप्त करोगे। नमक का डला जिस समय समुद्र में पड़ता है, उसी समय वह गल जाता है। अथवा उसके न गलने के लिए कोई कारण होता है ? इसी प्रकार जब वस्तु मात्र में रहने वाले मेरे स्वरूप की भक्ति उत्पन्न हो जायगी, तब सभी विषयों में तुम्हारे मन में आत्मबुद्धि उत्पन्न हो जायगी, तुम्हारा देहाभिमान बिलकुल नष्ट हो जायगा और तुम भी 'मैं' ही बन जाओगे। इस प्रकार मैंने तुम्हे यह बतला दिया है कि कर्म से सीधी तरह से बढ़ते-बढ़ते साधना की मंजिल मेरी प्राप्ति तक कैसे आकर पहुंचती है। हे अर्जुन, इस बराबर आगे बढ़ने वाली गति का क्रम ऐसा है कि यदि सब कर्म मुझे अर्पित कर दिये जायं तो मेरी भावना से चित्त शान्त और प्रसन्न हो जाता है; फिर उस प्रसन्नता से मेरा ज्ञान प्राप्त होता है और उस ज्ञान के द्वारा मनुष्य मेरे स्वरूप के साथ मिलकर एकरूप हो सकता है। हे अर्जुन, उस अवस्था में साध्य अथवा साधन कुछ भी बाकी नहीं रह जाता। बल्कि यों कहना चाहिए कि उस अवस्था में कुछ भी काम करने के लिए बाकी नहीं रह जाता। तुम अपने समस्त कर्म निरन्तर मुझे अर्पित करते रहे हो और इसीलिए आज तुम्हें मेरी प्रसन्नता प्राप्त हुई है। इसीलिए इस प्रसन्नता की सामर्थ्य से युद्ध करने का प्रतिबन्ध नष्ट हो जायगा। मैं एक बार तुम पर मुग्ध हुआ हूं और इसलिए अब मैं कभी ऐसी अवस्था नहीं आने दूंगा जिसमे तुम्हें गिड़गिड़ाना पड़े। जिसके योग से इस सारे प्रपंच के साथ-साथ अज्ञान का भी नाश होता है और सब जगह केवल मैं-ही-मैं दिखाई देने लगता हूं, उसी ज्ञान का दृष्टान्त आदि की सहायता से स्पष्ट किया हुआ रूप यह गीता है। मैंने तुम्हें अनेक प्रकार से आत्मज्ञान का उपदेश किया है; और धर्माधर्म की भ्रान्ति उत्पन्न करने वाले जो अज्ञान हैं, उन सबको तुम इस ज्ञान की सहायता से हटाकर दूर फेंक दो।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

"जिस प्रकार आशा दुःखों को जन्म देती है अथवा निन्दा से पातक उत्पन्न होते हैं अथवा दुर्दैव जिस प्रकार दीनता का कारण होता है, उसी प्रकार अज्ञान ने स्वर्ग और नरक प्राप्त कराने वाले धर्म और अधर्म की सृष्टि की है। परन्तु अज्ञानजन्य उन समस्त कल्पनाओं को तुम इस ज्ञान से बिलकुल दूर कर दो। स्वयं डोरी को हाथ में ले लेने पर जिस प्रकार हम उस डोरी में होने वाले सर्पाभास का परित्याग कर देते हैं अथवा जिस प्रकार स्वप्न के

साथ-साथ हम उसके समस्त व्यवहारों का भी अन्त कर देते हैं अथवा जिस प्रकार कमल रोग के नष्ट होते ही चन्द्रबिम्ब में दिखाई देने वाला पीलापन भी आपसे आप दूर हो जाता है अथवा जिस प्रकार रोग के दूर होने पर हमारी जबान का कड़आपन भी आपसे आप दूर हो जाता है अथवा जिस प्रकार दिन के डूबने पर मृगजल भी नहीं दिखाई देता अथवा जिस प्रकार लकड़ी के परित्याग के साथ-ही-साथ अग्नि का भी परित्याग हो जाता है, उसी प्रकार जो मूल अज्ञान धर्म और अधर्म की गड़बड़ी उत्पन्न करता है, उस अज्ञान को दूर कर देने पर साथ-ही-साथ धर्म और अधर्म के सब झगड़े भी आपसे आप दूर हो जाते हैं। और जब अज्ञान नष्ट हो जाता है, तब आपसे आप एकमात्र मैं ही बाकी बच रहता हूं। जिस प्रकार निद्रा के साथ-साथ स्वप्न का भी नाश होने पर केवल अपना ही भान बाकी रह जाता है, उसी प्रकार अज्ञान के दूर हो जाने पर मेरे सिवा और कुछ भी बाकी नहीं रह जाता; और मेरे उस केवल स्वरूप में मिलकर जीव बिलकुल एकाकार हो जाता है। स्वयं अपनी भी भिन्नता न रखकर मेरे साथ मिलकर एक हो जाने को ही 'मेरी शरण में आना' कहते हैं। जिस प्रकार घट का नाश होते ही उसमें का गगन गगन में मिल जाता है, उसी प्रकार इस शरणागति से मेरे साथ एकता सिद्ध होती है। जिस प्रकार सोने की मणि सोने में अथवा तरंग पानी में मिल जाती है, उसी प्रकार हे अर्जुन, तुम भी मेरी शरण में आकर मेरे साथ मिल जाओ। हे अर्जुन, और नहीं तो सागर की शरण में बड़वाग्नि आई और उसने स्वयं सागर को ही जला डाला; इस प्रकार की कल्पनाएं तुम बिलकुल छोड़ दो। कोई मेरी शरण में आवे और फिर भी उसमें अपने जीव होने का भाव बना रहे, यह बात बिलकुल हास्यास्पद है। जिस बुद्धि के कारण इस प्रकार की बातें मुंह से निकलें, उस बुद्धि को भला लज्जा क्यों न आवे ? हे पार्थ, यदि किसी राजा के गले कोई सामान्य दासी भी आ पड़े तो वह भी राज-वैभव प्राप्त कर लेती है। फिर यदि कोई यह कहे कि मुझे विश्व के ईश्वर के मिल जाने पर भी जीवत्व की गांठ नहीं टूटती, तो इस प्रकार की दुष्ट बातों की ओर तुम बिलकुल ध्यान मत दो। मद्रूप होकर बहुत सहज में मेरी सेवा की जा सकती है; इसलिए तुम मेरी ऐसी ही सेवा करो, क्योंकि इसी के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसके उपरान्त जिस प्रकार मठे में से निकाला हुआ मक्खन फिर लाख उपाय करने पर उस मठे में नहीं मिल सकता, उसी प्रकार जब तुम एक बार अद्वैत वाली भावना से मेरी शरण में आ जाओगे, तब लाख उपाय करने पर भी धर्म और अधर्म का झगड़ा तुम्हें स्पर्श न कर सकेगा। लोहा यों ही पड़ा-पड़ा मिट्टी हो जाता है। परन्तु जब एक बार पारस के साथ स्पर्श होने पर वह सोना बन जाता है, तब फिर उसमें कभी मल नहीं लगता। अथवा यदि लकड़ी को रगड़कर उसमें की अग्नि प्रकट कर ली जाय, तो फिर वह अग्नि लकड़ी में छिपी नहीं रह सकती। हे अर्जुन, क्या कभी सूर्य को भी अंधेरा दिखाई देता है ? अथवा क्या कभी जागते रहने की अवस्था में भी स्वप्न के भ्रम का अनुभव किया जा सकता है ? ठीक इसी प्रकार एक बार मेरे साथ एकता हो जाने पर मेरे स्वरूप के सिवा क्या और कोई चीज बाकी रहने का कोई कारण हो सकता है ? इसलिए तुम मेरे सिवा और किसी की अपने मन में कल्पना भी मत करो। तुम्हारे सब पाप और पुण्य मैं ही होऊंगा। समस्त बन्धनों का लक्षण जो पाप वास्तव में द्वैत भाव के कारण बना रह जाता है, वह भी मेरे ज्ञान के कारण नष्ट हो जायगा। हे सुविज्ञ अर्जुन, जो नमक पानी में पड़ता है, वह पूरी तरह से पानी ही हो जाता है। इसी प्रकार यदि तुम अनन्य भाव से मेरी शरण में आओगे तो तुम भी मद्रूप ही हो जाओगे। और हे अर्जुन, जब तुम मद्रूप हो जाओगे, तब आपसे आप मुक्त भी हो जाओगे। तुम मेरा स्वीकार करो और मैं अपने प्रकाश से तुम्हारी मुक्ति कर दूंगा। इसीलिए, हे अर्जुन, इस समय तुम्हें इस प्रकार चिन्तित होने की कोई आवश्यता नहीं है। हे बुद्धिमान् पार्थ, तुम इस ज्ञान से युक्त होकर एकमात्र मेरी ही शरण में आ जाओ।" विश्वस्वरूप, सर्वद्रष्टा और सर्व-व्यापी भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यही बातें कही थीं। इसके उपरान्त उन्होंने अपना कंकणयुक्त सांवला दाहिना हाथ पसारकर अपनी शरण में आये हुए उस भक्तश्रेष्ठ

अर्जुन को आलिंगन किया। जहां न पहुंच सकने के कारण बुद्धि को बगल में दबाकर शब्द पीछे लौट आते हैं और जिसका शब्द अथवा बुद्धि से आकलन नहीं हो सकता, वही स्वरूप अर्जुन को प्रदान करने के लिए श्रीकृष्ण ने बहाने से उसको यह आलिंगन किया था। श्रीकृष्ण के हृदय के साथ अर्जुन का हृदय लगते ही श्रीकृष्ण के हृदय का रहस्य अर्जुन के हृदय में प्रविष्ट हो गया और उसके द्वैतभाव का अन्त होते ही श्रीकृष्ण ने उसे आत्मस्वरूप कर लिया। जिस प्रकार एक दीपक से दूसरा दीपक जलाया जाता है, उसी प्रकार का वह गाढ़ आलिंगन भी हुआ था। और द्वैत बनाये रखकर भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आत्मस्वरूप कर लिया था। फिर उस अर्जुन के हृदय में महासुख की जो बाढ़ आई, उसमें इतने बड़े श्रीकृष्ण भी डूब गये। एक सागर जब दूसरे सागर में मिलता है, तब पानी दूना हो जाता है और यथेष्ट स्थान प्राप्त करने के लिए वह पानी ऊपर आकाश में उछलने लगता है। ठीक वही बात श्रीकृष्ण और अर्जुन के मिलन में भी हुई थी। दोनों मारे आनन्द के फूले नहीं समाते थे। कौन कह सकता है कि यह सम्मिलन कैसा हुआ था। उस समय सारा विश्व मानों पूरी तरह से नारायण से भर गया था। इस प्रकार वेदों का मूल-सूत्र बनने वाला यह गीता-शास्त्र समस्त अधिकारों से युक्त और पूर्ण रूप से पवित्र श्रीकृष्ण ने प्रकट किया था। आप लोगों के मन में कदाचित् यह शंका उत्पन्न हो कि यह गीता वेदों का मूल कैसे हुई; तो मैं इसका भी स्पष्टीकरण कर देता हूं। जिनके श्वास से वेदों का जन्म हुआ, स्वयं वही सत्यवादी महाविष्णु अपने मुख से प्रतिज्ञापूर्वक यह बात कहते हैं; और इसीलिए हमारा यह कहना भी बिलकुल ठीक है कि वेदों का मूल गीता है। इस बात का स्पष्टीकरण और रीति से भी किया जा सकता है। यदि किसी वस्तु का नाश न हो और उसका समस्त विस्तार किसी पदार्थ में लय रूप में संग्रहीत हो, तो वह पदार्थ उस वस्तु का बीज ही समझा जाना चाहिए। और जिस प्रकार बीज में वृक्ष रहता है, उसी प्रकार तीन कांडों वाली समस्त वेद-राशि इस गीता के अन्दर भरी हुई है। इसीलिए मुझे तो यही जान पड़ता है कि यह गीता ही वेदों का बीज है; और यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई भी पड़ सकती है। जिस प्रकार हीरे और मानिक आदि के आभूषणों से सारा शरीर अलंकृत होता है, उसी प्रकार वेदों के त्रिकांडात्मक भाग इस गीता में स्पष्ट रूप से सुशोभित हो रहे हैं। अब मैं यह बात स्पष्ट करके बतलाता हूं कि वेदों के कर्मकांड आदि तीनों कांड गीता में कहां-कहां हैं। इसका पहला अध्याय तो केवल शास्त्रीय विचार की आरम्भिक प्रस्तावना है। दूसरे अध्याय में सांख्यशास्त्र का सिद्धान्त प्रकट किया गया है। उसमें केवल यह बतलाया गया है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए सांख्य शास्त्र एकमात्र ज्ञान के अतिरिक्त और किसी बात की अपेक्षा नहीं करता। फिर तीसरे अध्याय में इस विषय का आरम्भ किया गया है कि जो लोग अज्ञान से जकड़े हुए हैं, उनके लिए मोक्ष प्राप्त करने के साधन कौन-से हैं। वह साधन यह है कि जो काम्य तथा निषिद्ध कर्म मनुष्य को देहाभिमान के बन्धन में डालते हैं, उन्हें छोड़कर मनुष्य को सदा ठीक तरह से अपने लिए उपयुक्त नित्य और नैमित्तिक कर्मों का आचरण करना चाहिए। तीसरे अध्याय में भगवान् ने यही सिद्धान्त स्थिर किया है कि इस प्रकार निर्मल वृत्ति से कर्मों का आचरण करना चाहिए। इसी को कर्मकांड समझना चाहिए। अब बद्ध पुरुष के मन में यह विचार उत्पन्न होता है कि इन नित्य तथा नैमित्तिक आदि कर्मों का आचरण अज्ञान का बन्धन किस प्रकार तोड़ता है तब वह मुमुक्षुओं के पद पर आ पहुंचता है। और उस समय के लिए भगवान् ने यह बतलाया है कि मनुष्य को अपने समस्त कर्मों का आचरण, उन्हें ब्रह्मार्पण करते हुए करना चाहिए। श्रीकृष्णदेव का कहना यह है कि शरीर, वाणी और मन के द्वारा जिन विहित कर्मों का जिस प्रकार आचरण हो, वे सब उसी रूप में ईश्वर को अर्पण किए जाने चाहिए। कर्मयोग के द्वारा होने वाली ईश्वर-भक्ति के व्याख्यान का जो यह मधुर खाद्य-पदार्थ चौथे अध्याय के अन्तिम भाग में परोसा गया है, वही 'ईश्वर का भजन कर्मों के आचरण के द्वारा करना चाहिए' वाला तत्त्व बराबर विश्वरूप-दर्शन वाले ग्यारहवें अध्याय के अन्त तक प्रतिपादित किया गया है। इसलिए चौथे

अध्याय से [illegible] अध्याय [illegible] अध्याय है वही देवता कांड है। समस्त प्रतिबन्धों को दूर करके गीताशास्त्र ने [illegible] रूप में [illegible] किया है। और इस ईश्वर-भक्ति के कारण ईश्वर के प्रसाद से श्रीगुरु-सम्प्रदाय के अनुरूप जो सत्य और परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है, उसके सम्बन्ध में मैं यह समझता हूं कि बारहवां अध्याय यह बतलाता है कि उसे अद्वेष्टा और अमानिता आदि गुणों की सहायता से बढ़ाना चाहिए। उस बारहवें अध्याय से पन्द्रहवें अध्याय तक ज्ञान का परिपक्व फल ही निरूपण का विषय है। इसलिए ऊर्ध्वमूल तक के इन चार अध्यायों में ज्ञानकांड का ही विवेचन है। इसलिए यहां कांडत्रय का निरूपण करने वाली श्रुति (अर्थात् ब्रह्म-विद्या) यही गीता पद्य रूपी रत्नखचित अलंकार पहनकर सुशोभित और अलंकृत हुई है। अस्तु ! कांडत्रयात्मक श्रुति जिस मोक्षफल की उच्च स्वर से घोषणा करती है और जिसे अवश्यमेव प्राप्त करने के लिए वह कहती है, उस फल के साधन ज्ञान के साथ दिन-रात वैर करने वाले जो अज्ञान के समुदाय हैं, उनका प्रतिपादन सोलहवें अध्याय में किया गया है। सत्रहवें अध्याय में यह सन्देश है कि शास्त्रों की सहायता से इन शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। इस प्रकार पहले अध्याय से लेकर सत्रहवें अध्याय की समाप्ति तक भगवान् ने वेदों के ही रहस्य का विवेचन किया है और इन सत्रहों अध्यायों के अर्थ का निष्कर्ष जिसमें दिया गया है, वह यह अठारहवां कलशाध्याय है। इस प्रकार समस्त अध्यायों का समूह देखते हुए यह भगवद्गीता नामक ग्रन्थ अपने ज्ञान-दान की अलौकिक उदारता के कारण मानो मूर्तिमान वेद ही है। इसमें सन्देह नहीं कि वेद अपनी जगह पर ज्ञान की सम्पत्ति से भरपूर भरा हुआ है, लेकिन उसके समान दूसरा कंजूस भी और कहीं न मिलेगा। और इसका कारण यह है कि वह केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों जातियों के ही कानों तक पहुच सकता है। इनके अतिरिक्त स्त्री और शूद्र आदि जो दूसरे मानवी जीव हैं, उन्हें वेद अपने ज्ञान-मन्दिर में जरा भी स्थान नहीं होता। इसीलिए मुझे ऐसा जान पड़ता है कि प्राचीनकाल के इस दोष का परिमार्जन करने के लिए ही वेद इस गीताशास्त्र का वेष धारण करके सब लोगों के लिए सुलभ हुआ है। केवल यही नहीं, बल्कि वह गीता के स्वरूप में अर्थरूप से मन में प्रवेश करके श्रवण के द्वारा कानों में [illegible] अथवा जप और पाठ के बहाने मुख में रहकर अब सभी लोगों को प्राप्त होता है। जिन्हें इस गीता का पाठ याद होता है, उन्हें तो वेद इस गीता के रूप में मोक्ष का सुख प्रदान करता ही है; परन्तु उनके साथ-साथ जो लोग गीता को लिखकर और उसे केवल पुस्तक के रूप में अपने पास रखते हैं उन सामान्य बुद्धि वाले लोगों के लिए भी [illegible] ने इस संसार के चौरास्ते पर मोक्ष-सुख का मानो यह अन्न-सत्र ही खोल रखा है। जिस प्रकार [illegible] पृथ्वी पर बैठने अथवा सूर्य के प्रकाश में घूमने के लिए केवल गगन या आकाश ही एक [illegible] सबके लिए समान रूप से खुला हुआ है, और जिसमें किसी के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं है, उसी प्रकार यह गीता भी बिना किसी प्रकार के बन्धन के सबके लिए है। जो कोई इसके पास आता है, उसे बिना उसमें [illegible] यह [illegible] होती है और बिना किसी प्रकार का भेदभाव किये सब लोगों को समान रूप से कैवल्य सुख दान [illegible] और संसार को शान्त करती है। अपनी पुरानी निन्दा से डरकर वेद ने गीता के उदर में प्रवेश किया है। और इसीलिए अब उसकी कीर्ति शुद्ध और उज्ज्वल हो गई है। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जिस भगवद्गीता का उपदेश किया था, वह मानो वेद का ऐसा स्वरूप है जिसका सेवन सभी लोग सहज में कर सकते हैं। परन्तु जिस प्रकार बछड़े के बहाने गौ के स्तन में दूध उतरता है और तब वह दूध घर-भर को पीने को मिलता है, उसी प्रकार इस गीता ने भी पार्थ के बहाने सारे संसार का उद्धार कर दिया है। प्यासे चातक पर दया करके मेघ उसके लिए पानी बरसाता आता है। परन्तु उस पानी से समस्त स्थावर और जंगम का भला होता है। जिस कमल का और कोई आधार नहीं है, उस कमल के लिए सूर्य प्रतिदिन उदय होता है, परन्तु उससे संसार के नेत्रों को सुख होता है। इसी प्रकार अर्जुन के बहाने भगवान् ने गीता को प्रकाशित किया है, परन्तु इसी से सारे

जगत् के सिर पर से संसार सरीखा बहुत बडा बोझ दूर हो गया है। ये भगवान् लक्ष्मी-पति नहीं हैं, बल्कि इन्हे मुख-रूपी आकाश से उदित होकर शास्त्रीय रहस्य के रत्नों की प्रभा से तीनों लोकों को उज्ज्वल करने वाला सूर्य ही कहना चाहिए। जिस कुल में जन्म लेने वाला अर्जुन इस ज्ञान का पात्र हुआ और जिसने सारे जगत् के लिए गीता शास्त्र का यह द्वार खोल दिया, वह धन्य कुल सचमुच पवित्र है। अस्तु। इसके उपरान्त सद्गुरु श्रीकृष्ण स्व-स्वरूप में मिल जाने वाले अर्जुन को फिर द्वैत वाले भान में ले आए। वे कहने लगे—"हे पार्थ, क्या यह शास्त्र तुम्हें अच्छा जान पडा ?" इस पर अर्जुन ने कहा—"जी हां महाराज, आपके कृपा-प्रसाद से मुझे यह शास्त्र बहुत ठीक जंचा।" इस पर भगवान् फिर कहने लगे—"हे अर्जुन, गुप्त भंडार प्राप्त करने के लिए भाग्य के अलौकिक बल की आवश्यकता होती है। परन्तु भाग्य से एकत्र की हुई सम्पत्ति का उपयुक्त उपभोग करने के लिए महद् भाग्य किसी विरले को ही प्राप्त होता है। विना जमाये हुए शुद्ध दूध के क्षीर-सागर जैसे प्रचंड मटके को मथने मे कितना अधिक कष्ट हुआ होगा ! परन्तु वह सारा परिश्रम भी अन्त में सफल ही हुआ, क्योंकि उसे मथने वालो ने स्वयं अपनी आंखों से देख लिया था कि उसमें से अमृत निकला है। परन्तु अन्त में उस अमृत का ठीक तरह से यत्न उन लोगों से न हो सका। इसीलिए जो पदार्थ अमरता प्राप्त करने के लिए सम्पादित किया गया था, वही मरण का कारण हुआ। यदि बिना इस बात का ज्ञान प्राप्त किये कि सम्पत्ति का भोग किस प्रकार करना चाहिए, सम्पत्ति-संग्रह किया जाय तो इसी प्रकार का अनर्थ होता है। राजा नहुष स्वर्ग के स्वामी तो हो गये थे, परन्तु उनका आचरण ठीक नहीं हुआ; और इसीलिए तुम यह बात जानते हो न कि उन्हें सर्प की योनि मे जाना पड़ा था। हे अर्जुन, तुम्हारे संग्रह में अगण्य पुण्य थे, इसीलिए यह सर्वश्रेष्ठ शास्त्र प्राप्त करने के लिए तुम पात्र हुए हो। परन्तु अब तुम इस शास्त्र के अनुसार पूरा-पूरा आचरण करो और अटल निष्ठा से इसका पालन करो। नहीं तो हे अर्जुन, यदि तुम सम्प्रदाय का उचित ध्यान न रखोगे और केवल इसके अनुष्ठान मे लग जाओगे तो उस अनुष्ठान की भी वही अमृत-मन्थन वाली दशा होगी। मान लो कि खूब अच्छी मोटी-ताजी और देखने मे सुन्दर गो मिल गई। लेकिन सन्ध्या समय उसका दूध पीने को हमें उसी दशा में मिल सकेगा, जब हम उनका दूध दुहने की कला जानते होंगे। ठीक इसी प्रकार मान लो कि गुरु प्रसन्न हो गये और शिष्य भी विद्या से सम्पन्न हो गया। परन्तु उस विद्या का ठीक-ठीक फल तभी प्राप्त होता है, जब उस विद्या के सम्प्रदाय का उचित रूप मे पालन किया जाता है। इसीलिए इस शास्त्र का जो सम्प्रदाय है, वह तुम अत्यन्त निष्ठापूर्वक सुन लो।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

"हे अर्जुन, तुमने जो अत्यन्त भक्तिपूर्वक यह गीताशास्त्र प्राप्त किया है, इसकी बातें कभी-कभी तपोहीन से नहीं कहनी चाहिए। अथवा यदि कोई अच्छा तपस्वी भी हो, परन्तु उसके हृदय में गुरु की दृढ़ भक्ति न हो, तो उससे भी यह शास्त्र उसी प्रकार बचाना चाहिए, जिस प्रकार अन्त्यजों से वेद बचाये जाते है। कौआ चाहे बहुत अधिक वृद्ध ही क्यों न हो, परन्तु फिर भी जिस प्रकार उसे यज्ञ की आहुति का शेष भाग नहीं दिया जाता, उसी प्रकार ऐसे तपोवृद्ध को भी यह गीता नहीं देनी चाहिए जो गुरुभक्ति से हीन हो। अथवा यदि कोई ऐसा मनुष्य मिले, जिसने तप भी किया हो और जिसमें गुरुदेव के प्रति भक्ति भी हो, परन्तु फिर भी जिसमें ज्ञान-श्रवण करने का अनुराग न हो, तो वह अपने पहले दोनों गुणों के कारण लोक में पूज्य तो अवश्य होगा, परन्तु गीता श्रवण करने का पात्र वह न हो सकेगा। मोती चाहे कितना ही अधिक आबदार क्यों न हो, परन्तु यदि उसमें मुख या छिद्र न हो तो क्या डोरा कभी उसमें घुस सकेगा ? यह बात भला कौन न मानेगा कि सागर बहुत अधिक गम्भीर है ? परन्तु उस पर जो पावस की वृष्टि होती है, क्या वह व्यर्थ ही नहीं जाती ? जिसका पेट अच्छी तरह भरा हुआ

हो, उसके सामने आग्रहपूर्वक उत्तम पक्वान्न परोसकर उन्हें व्यर्थ नष्ट करने की अपेक्षा वही पक्वान्न उदारतापूर्वक भूखे आदमियों को ही क्यों न दिये जायं ? इसलिए मनुष्य चाहे कितना ही अधिक योग्य क्यों न हो, तो भी यदि उसके हृदय में ज्ञान श्रवण करने का अनुराग न हो, तो उसे हंसी में भी इस शास्त्र की बातें न बतलानी चाहिए। क्यों, यह बात ठीक है या नहीं ? नेत्र तो रूप-सौन्दर्य के पारखी होते हैं, वे भला सुवास का मर्म कैसे समझ सकते हैं ? जहां जो बात उपयुक्त हो, वहीं वह फलवती भी होती है। इसलिए तपस्वी और भक्त पुरुषों का सम्मान तो अवश्य करना चाहिए, परन्तु जो शास्त्र के श्रवण के प्रति श्रद्धा न दिखला सकता हो, उसे इस गीता का उपदेश कभी न देना चाहिए। अब मान लो कि किसी में तप है, भक्ति है और श्रवण का अनुराग भी है और इस प्रकार सारी सामग्री एकत्र है; तो भी इस गीताशास्त्र का निर्माण करने वाले और समस्त लोकों के मुझ प्रभु के सम्बन्ध में जो प्रायः तुच्छतापूर्ण बातें कहा करता हो अथवा जो मेरे भक्तों के सम्बन्ध में भी और स्वयं मेरे सम्बन्ध में भी बहुत-सी निन्दापूर्ण बातें कहा करता हो उसे भी तुम गीताशास्त्र सुनने के लिए उपयुक्त पात्र न समझो। उसमें जो और सब गुणों की सामग्री है, उसे बिना दीप-ज्योति वाली रात की दीयट ही समझना चाहिए। मान लो कि किसी का रंग बहुत गोरा है और वह तरुण भी है और अलंकारों आदि से भली-भांति सुसज्जित भी है, परन्तु उसके शरीर में प्राण नहीं हैं। अथवा खरे सोने का बना हुआ मन्दिर है, परन्तु उसके दरवाजे पर नागिन रास्ता रोककर खड़ी है। अथवा दिव्य अन्न पककर तैयार है, परन्तु उसमें कालकूट विष मिला दिया गया है। अथवा मैत्री तो है, परन्तु उसके अन्दर कपट छिपा है। हे बुद्धिमान् अर्जुन, तुम यह बात अपने ध्यान में रखो कि उन लोगों की भी ठीक इसी प्रकार की दशा होती है, जिनमें तप, भक्ति और बुद्धि तो होती है, परन्तु फिर भी जो मेरे भक्तों की अथवा मेरी निन्दा करते हैं। वे लोग भी उक्त पदार्थों की भांति दुष्ट होते हैं। इसलिए हे पार्थ, मेरे भक्तों की और मेरी निन्दा करने वाला पुरुष चाहे भक्त, बुद्धिमान् और तपस्वी ही क्यों न हो, तो भी उससे कभी इस शास्त्र का स्पर्श भी मत होने दो। हे अर्जुन, अब मैं इससे अधिक और क्या कहूं ! निन्दक चाहे स्वयं ब्रह्मा के समान प्रज्ञावान् ही क्यों न हो, तो भी तुम उसके हाथों में यह गीता कभी हंसी से भी मत दो।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

"इसलिए हे धनुर्धारी पांडव, जो नींव में तप की भरपूर भराई भरकर उसके आधार पर गुरुभक्ति का दृढ़ मन्दिर बन गया है और जिसका ज्ञान-श्रवण की लालसा वाला सदर दरवाजा सदा खुला रहता है और निन्दा के अभाव के रत्नों से जिसका सुन्दर कलश बना है, उस निर्दोष भक्ति-रूपी मन्दिर में इस गीता-रत्न रूपी ईश्वर की स्थापना करो। ऐसा करने से तुम इस संसार में स्वयं मेरी ही योग्यता तक पहुंच जाओगे। अ, उ और मन इन तीनों मात्राओं के गर्भ में 'ॐ' एकाक्षर रूप से बन्द पड़ा हुआ था। वेदों के उस मूल-बीज प्रणव का इस गीता की शाखाओं से विस्तार हुआ है अथवा यह समझना चाहिए कि श्लोकों के फूलों और फलों के द्वारा यह गायत्री ही अवतरित हुई है। जिस माता के लिए एक बालक के सिवा और कोई न हो, उस माता को जिस प्रकार ऐसा बालक प्राप्त करा दिया जाय, जिसके लिए माता के सिवा और कोई गति ही न हो, उसी प्रकार जो व्यक्ति इस महामन्त्र से भरी हुई गीता का मेरे भक्तों के साथ बहुत प्रेमपूर्वक योग करा देता है, वह शरीरपात के उपरान्त अवश्य ही मेरे साथ मिलकर एकरूप हो जायगा।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

"और जब तक ऐसा पुरुष देहाकार-रूपी अलंकार धारण करके देखने में मुझसे अलग रहेगा, तब तक वह

मुझे हृदय स अत्यन्त प्रिय होगा। ज्ञानी, कर्मठ और तपस्वी में से केवल ऐसा पुरुष मुझे जितना अधिक प्रिय होता है, उतना अधिक प्रिय इस भूतल पर मुझे और कोई दिखाई नहीं देता। जो भक्त-मंडली के जमावड़े में गीता का कथन करता है, जो मुझ ऐश्वर्य-सम्पन्न के सम्बन्ध में अपने मन में पूर्ण प्रेम और भक्ति रखकर शान्तिपूर्वक सन्तो की सभा में गीता का पाठ करता है, जो उन भक्तों को उसी प्रकार रोमांचित करता रहता है, जिस प्रकार नये पत्तो के निकलने से वृक्ष हर्ष से रोमांचित होते हैं, जो उन्हें उसी प्रकार हिलाता है, जिस प्रकार मन्द वायु के झोंके वृक्षो को हिलाते हैं, जो उनके नेत्रों को उसी प्रकार रस से आर्द्र करता है, जिस प्रकार उन वृक्षों के फल रस से आर्द्र होते हैं, जो कोकिल के पंचम स्वर में पुकारता है, जो भक्त-मण्डली-रूपी उपवन में वसन्तकाल के समान प्रवेश करता है, जो साधुजनों की सभा में केवल मेरे स्वरूप पर ध्यान रखकर गीता के पद्य रूपी रत्नों की उसी प्रकार लगातार और बहुत अधिक वर्षा करता है, जिस प्रकार चन्द्रमा के आकाश में उदित होते ही चकोर का जन्म सफल होता है अथवा जिस प्रकार मोरों की कूक का उत्तर देता हुआ वर्षा-काल का नवीन सजल मेघ आ पहुंचता है, उसी पुरुष के समान सचमुच मुझे और कोई प्रिय नहीं है; आज तक न तो कोई उसके समान मेरा प्रिय हो सका है और न आगे कोई उतना अधिक प्रिय होता हुआ दिखाई देता है। हे अर्जुन, जो गीता के अर्थ से सन्तों का आतिथ्य-सत्कार करता है, उसे अब तक मैं सदा अपने हृदय के अन्दर ही रखता आया हूं।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

"तुम्हारे और मेरे संवाद में मोक्ष-धर्म को जन्म देने वाली जिस कथा का विस्तार हुआ है, उसके सकल अर्थ का ज्ञान करा देने वाली इस गीता का जो बिना एक अक्षर में भी परिवर्तन किये पाठ करेगा, वह मानों ज्ञान की अग्नि सुलगाकर उसमें अज्ञान की आहुति देगा और शुद्ध-मति होकर मेरा स्वरूप प्राप्त करेगा। गीता के अर्थ का भलीभांति अन्वेषण करके ज्ञानी लोग जो कुछ प्राप्त करते हैं, भाई सुविज्ञ अर्जुन, वही उन लोगों को भी प्राप्त होगा, जो तोते की तरह इस गीता का पाठ करेंगे। गीता का अर्थ जानने वालों को जो फल प्राप्त होता है, वह गीता का केवल पाठ करने वाले को भी प्राप्त होगा। यह गीता-रूपी माता कभी ज्ञानी और अज्ञानी सन्तान में कोई भेद नहीं करती।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

"और जो बिना किसी मार्ग के निन्दा किये शुद्ध बुद्धि से गीता के श्रवण के प्रति श्रद्धा रखता है, उसके कानों में गीता के शब्द ज्यों ही प्रवेश करते हैं; त्यों ही उसके पाप उसे छोड़कर उससे बहुत दूर भाग जाते हैं। जिस प्रकार वन में अग्नि प्रवेश करते ही उसमें रहने वाले प्राणी दसों दिशाओं में भाग जाते हैं अथवा जिस प्रकार पूर्व गिरि के शिखर पर सूर्य का उदय होते ही अन्धकार अन्तराल में जाकर छिप जाता है, उसी प्रकार ज्यों ही कानों के महाद्वार में गीता की झन्कार पहुंचती है, त्यों ही सृष्टि की उत्पत्ति के समय तक के पाप नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार यह जन्म-रूपी बेल निर्दोष होकर पुण्य-रूपी सुन्दर फूलों से फूलती है और अन्त में उसमें अपरम्पार फल आते हैं। कारण यह है कि कानों के द्वारा गीता के जितने अक्षर अन्तःकरण में प्रवेश करते हैं, उतने अश्वमेध यज्ञ करने का फल प्राप्त होता है। इसलिए गीता के श्रवण से पापों का नाश होता है और पास के पुण्य खूब बढ़ते हैं और अन्त में उन पुण्यों के द्वारा इन्द्र का वैभव प्राप्त होता है। मेरे स्वरूप में आकर मिलने के लिए वह जो प्रवास करता है, उसका पहला पड़ाव स्वर्ग में होता है; और वहां वह जितना अधिक सुख भोग करना चाहता है, उतना अधिक सुख भोगकर अन्त में वह आकर मेरे साथ मिल जाता है। हे अर्जुन, गीता सुनने वालों को भी और गीता का पाठ करने वालों को भी इस प्रकार अत्यन्त आनन्ददायी फल प्राप्त होते हैं। अब मैं इन बातों का कहां तक विस्तार

करूं, जो कुछ कहा जा चुका है, वही यथेष्ट है। परन्तु जिस कार्य के लिए मैंने इस शास्त्र का इतना अधिक विस्तार किया है, उस कार्य के सम्बन्ध में मैं अब तुमसे एक बात पूछता हूं।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

"हे पार्थ, तुम एक बात बतलाओ। ये समस्त शास्त्रीय सिद्धान्त तुमने एकाग्रचित्त से सुने हैं न ? जिस प्रकार मैंने यह ज्ञान तुम्हारे कानों तक पहुंचाया है, उसी प्रकार यह ज्ञान तुम्हारे मन में भी भरा है न ? या बीच में कोई ऐसी बात रह गई है जो तुम्हारे ध्यान में आने से छूट गई हो या जो उपेक्षा के कारण यों ही रह गई हो ? मैंने जिस प्रकार इस ज्ञान का तुम्हें उपदेश दिया है, यदि उसी प्रकार यह ज्ञान तुम्हारे अन्तःकरण में भर गया हो, तो फिर मैं जो कुछ पूछता हूं, उसका तुम उत्तर दो। मैं तुमसे यह पूछता हूं कि आत्मा-सम्बन्धी अज्ञान के कारण तुम्हारे मन में जो मोह उत्पन्न हुआ था और जिसने तुम्हें भ्रम में डाल दिया था, तुम्हारा वह मोह अभी तक दूर हुआ या नहीं ? तुम मुझे केवल यह बतलाओ कि कर्म और अकर्म का भेद तुम्हें दिखाई देता है या नहीं।" श्रीकृष्ण ने अर्जुन के सामने यह प्रश्न रखकर उसकी ऐसी अवस्था कर दी थी कि वह आत्मानन्द के अद्वैत रस में निमग्न होने और उसके सम्बन्ध में कुछ पूछने के बदले फिर उसी पुराने द्वैतभाव पर खिंच आया था। अर्जुन पूर्ण ब्रह्मरूप हो गया था; परन्तु उस समय जो कार्य सामने आ पड़ा था, उसे सिद्ध करने के लिए श्रीकृष्ण ने उसे भेदभाव वाली मर्यादा का उल्लंघन नहीं करने दिया था। और नहीं तो सर्वज्ञ श्रीकृष्ण ने अब तक जो कुछ किया और कहा था, उससे क्या वे परिचित नहीं थे ? परन्तु अर्जुन को फिर से द्वैत के भान पर लाने के लिए ही उन्होंने उससे यह प्रश्न किया था। उस समय देव ने अर्जुन से उक्त प्रश्न करके और उसे फिर से अर्जुनत्व के भान पर लाकर उसके मुख से उसका यह अनुभव कहलवाया था कि—'अब मैं पूर्ण हो गया हूं।' फिर जिस प्रकार क्षीर-सागर से निकलने वाला और आकाश में अपनी प्रभा फैलाने वाला पूर्ण चन्द्रमा बिना अलग किये ही, सहज में और स्पष्ट रूप से सबसे अलग और निराला दिखाई देता है, उसी प्रकार उस समय अर्जुन को एक ओर तो यह बात नहीं भूलती थी कि मैं ब्रह्म हूं और दूसरी ओर उसे दिखाई पड़ता था कि सारा जगत् ही ब्रह्म है। एक ओर तो उससे संसार छूट रहा था और दूसरी ओर ब्रह्मत्व भी क्षीण हो रहा था। इस प्रकार वह ब्रह्मत्व के सम्बन्ध में कुछ उलटा-सीधा विचार करता हुआ बड़े कष्ट से एक बार फिर देहाभिमान की सीमा पर पहुंचकर रुक गया और वहीं वह यह सोचकर खड़ा हो गया कि—'मैं अर्जुन हूं।' फिर अपने कांपते हुए हाथों से उसने अपनी उठती हुई रोमावली दबाकर पसीने की बूंदें पोंछकर और तेजी से चलते हुए श्वास के कारण कांपते हुए अंगों को संभालकर शरीर की विचलता बहुत निग्रहपूर्वक रोककर दोनों नेत्रों से अश्रुओं के प्रवाह के रूप में आने वाली आनन्दामृत की बाढ़ को जहां-का-तहां रोककर, नाना प्रकार की उत्कंठाओं के कारण भर आने वाले गले को ठीक करके और उन उत्कंठाओं को अपने मन में ही दबाकर लड़खड़ाती हुई जबान को संभालकर और सांस ठिकाने लगाकर अर्जुन ने कहना आरम्भ किया।

अर्जुन उवाच—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अर्जुन ने कहा—"हे भगवन्, आप यह क्या पूछ रहे हैं कि मोह ने अभी तक मुझे छोड़ा या नहीं ? वह तो अपने गोत्र के सभी भावों को लेकर अपना डेरा-डंडा मेरे मन से उठाकर कभी का मुझे छोड़कर चला गया। भला यह कभी भी सम्भव है कि सूर्य किसी के पास आकर पूछे कि तुम्हें आंखों में अंधेरा दिखाई देता है ? इसी प्रकार आप भगवान् श्रीकृष्ण मुझे इस समय आंखों से प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं; और यही क्या कम है ? फिर जो बात

किसी प्रकार का प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं हो सकती, वही बात आप माता से भी बढ़कर प्रेमपूर्वक मुझे जी भरकर बतला रहे हैं। अब जिस दृष्टि से आपने मुझसे यह प्रश्न किया है कि तुम्हारा मोह अभी तक दूर हुआ या नहीं, उस दृष्टि से मैं कहता हूं कि हे महाराज, आपके प्रसाद से मैं कृतकृत्य हो गया। मैं अभी तक इस भ्रम मे फसा हुआ था कि मैं अर्जुन हूं। परन्तु अब आपके प्रसाद से आपके स्वरूप का ज्ञान होने पर मैं मुक्त हो गया हू। अब न तो प्रश्न करने के लिए ही स्थान रह गया है और न उत्तर देने के लिए ही। हे देव, आपके प्रसाद से मुझे जिस आत्मबोध की प्राप्ति हुई है, वह मोह का कहीं नाम-निशान भी बाकी नहीं रहने देता। अब जिस द्वैतभाव से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अमुक काम करना चाहिए या नहीं करना चाहिए, वह आपको छोड़कर और किसी मे मुझे दिखाई नहीं देता। इस विषय में अब मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है। मैं अब उस अवस्था मे पहुच गया हू जिसमें कर्म बिलकुल बच ही नहीं जाते। आपकी कृपा से आज मैंने 'मैं' अर्थात् आत्मस्वरूप प्राप्त कर लिया है ओर इसीलिए कर्तव्य-कर्मो का बिलकुल नाश हो गया है। अब मेरे लिए आपकी आज्ञा के सिवा और कुछ भी शेष नहीं रह गया है; क्योंकि जिसके दृष्टिगोचर होने पर यह दृश्य विश्व नहीं रह जाता, जो स्वयं दूसरा होने पर भी द्वैत का नाश कर डालता है, जो एक होने पर भी सदा सब स्थानों में निवास करता है, जिसके साथ सम्बन्ध होते ही समस्त बन्धन टूट जाते हैं, जिसकी आशा होते ही और सब आशाओं का अन्त हो जाता है, जिसके साथ भेट होने पर स्वयं अपने ही साथ अपनी भेंट हो जाती है, वह मेरे आराध्य गुरु देवता आप ही हैं जो ऐक्य के सदा साथ रहने वाले हैं, जिनके कारण अद्वैत बोध के प्रान्त मे प्रवेश होता है और स्वयं ब्रह्मरूप होकर कृत्य और अकृत्य का बखेडा दूर करके और एकनिष्ठ होकर जिनकी अपरम्पार सेवा करते रहना चाहिए, जो अपने भक्तों को अपने आपमें उसी प्रकार मिला लेते हैं, जिस प्रकार सागर से भेंट करने वाली नदी आकर स्वयं सागर ही बन जाती है, वे आप मेरे निरुपाधिक सेवा योग्य सद्गुरु हैं। इसलिए अब आप यही समझ लें कि मेरे ऊपर ब्रह्म-स्वरूप के साक्षात्कार का उपकार हुआ है। मेरे और आपके बीच में जो भेदभाव वाली बाधा थी, उसे दूर करके आज आपने मुझ अपनी सेवा का मधुर सुख प्राप्त कराया है। इसलिए हे देवाधिदेवेश्वर श्रीकृष्ण, अब आप मुझे जो कुछ आज्ञा देंगे, मैं उसका बिना पालन किये न रहूंगा।'' अर्जुन की यह बात सुनकर श्रीकृष्ण आनन्द से विभोर हो गये। उन्होने अपने मन में कहा—''समस्त फलो से बढ़कर फल आज मुझे अर्जुन के रूप मे प्राप्त हुआ है। जिस चन्द्रमा की क्षीण कलाएं पूर्ण हो जाती हैं, उस अपने पुत्र पूर्ण चन्द्रमा को देखकर क्या क्षीर-सागर का हृदय उछलने नहीं लगता और वह अपनी मर्यादा भूलकर उसका उल्लंघन नहीं करने लगता ?'' इसी प्रकार रम्भापरण के मंडप में श्रीकृष्ण और अर्जुन का यह संयोग देखकर संजय भी मारे आनन्द के उछल पड़ा। अपनी बहुत अधिक बढ़ी हुई आनन्द-भावना से संजय ने राजा धृतराष्ट्र से कहा—''महर्षि व्यासदेव की यह कितनी अधिक कृपा है कि उन्होने इस युद्धकला में हम दोनों का पूरा-पूरा संरक्षण किया है ! संसार के सामान्य व्यवहार करने के लिए भी आपके पास चर्मचक्षु नहीं रह गये। परन्तु ऐसी अवस्था में भी ज्ञानदृष्टि से व्यवहार करने की शक्ति व्यासदेव की कृपा से आज आपको प्राप्त हुई है। मुझे तो केवल घोड़ों की परीक्षा करने के लिए रथ पर बैठने वाली वीर-मंडली मे प्रवेश करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। सो मेरी समझ में भी ज्ञान की जो ये सब बातें आने लगीं, यह भी महर्षि व्यासदेव का कृपा-प्रसाद ही है। युद्ध इतने प्रचंड और घोर रूप से चल रहा था कि प्रत्येक व्यक्ति यही समझता था कि चाहे जिस पक्ष की हार हो, परन्तु इस युद्ध मे मेरे प्राण अवश्य जायंगे। जिस स्थान पर ऐसा भीषण प्रसग आया था, वहां भी मेरे लिए, ब्रह्मानन्द का गुप्त भांडार खुल गया और मैं उस आनन्द का अनुभव कर सका। व्यासदेव के इस प्रसाद की गहनता का भला मैं कहां तक वर्णन करूं !'' संजय यह सब बातें कह तो गया, परन्तु जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणों से पत्थर कभी नहीं पसीजता, उसी प्रकार धृतराष्ट्र का अन्तःकरण भी इन बातो

से नाम को भी द्रवित न हुआ उसकी यह दशा देखकर संजय ने उसकी ध्यान ही छोड़ दिया परन्तु फिर भी वह मारे आनन्द के होश में नहीं रह गया था और इसीलिए वह फिर बोलने लगा। उस समय केवल हर्ष के आवेग से संजय बोल रहा था; और नहीं तो धृतराष्ट्र में इस प्रकार के लक्षण कहीं नाम को भी नहीं दिखाई देते थे कि उसमें इस बात की उत्कंठा है कि संजय कुछ और कहे।

संजय उवाच—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

संजय ने कहा—"हे कुरुराज, आपके भतीजे अर्जुन ने श्रीकृष्ण से जो कुछ कहा, वह उन्हें बहुत अधिक मधुर जान पड़ा। वास्तव में पूर्व सागर और पश्चिम सागर आदि नाम ही भिन्न हैं। और नहीं तो उन दोनों सागरों का जल बिलकुल एक-सा है। और इसी प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुन का भेद केवल शरीर के कारण ही दिखाई देता है, परन्तु उनके संवाद में यह भेद कहीं नाम को भी बाकी नहीं रह जाता। जिस समय दर्पण से भी बढ़कर स्वच्छ दो पदार्थों के आमने-सामने होने पर उनमें से प्रत्येक पदार्थ दूसरे पदार्थ में अपना स्वरूप देखता है, उसी प्रकार अर्जुन भी अपने आपको कृष्ण सहित कृष्ण की मूर्ति में देखने लगा; और कृष्ण को भी अर्जुन की मूर्ति में उसके सहित स्वयं अपना स्वरूप दिखाई देने लगा। देव जिस अंग में और जिस स्थान पर स्वयं अपने आपको भी और अपने भक्त अर्जुन को भी देखने लगे, उसी अंग में और उसी स्थान पर भक्त अर्जुन को भी देव श्रीकृष्ण दिखाई देने लगे। और अब, जबकि उन दोनों के सिवा कोई तीसरा रह ही नहीं गया था, उन लोगों ने क्या किया ? बस वे दोनों एकरूप हो गये। और जब इस प्रकार द्वैतभाव नष्ट हो गया, तब भला प्रश्नोत्तर का प्रसंग कहां से आ सकता था ! जब कोई भेद ही नहीं रह गया, तब फिर सम्भाषण का सुख कहां से आ सकता था ? इसी प्रकार द्वैतभाव के रहने पर भी सम्भाषण के समय जिनमें द्वैतभाव नहीं रह गया था, उन दोनों का सम्भाषण मैंने सुना। यदि दो दर्पण एक-दूसरे के सामने रख दिये जायं तो क्या कभी इस बात की कल्पना की जा सकती है कि उनमें से कौन किसे देख सकता है ? अथवा यदि किसी जलते हुए दीपक के सामने कोई दूसरा जलता हुआ दीपक रख दिया जाय तो यह कैसे समझा जा सकता है कि उनमें से कौन-सा दीपक किससे प्रकाश की याचना करता है। अथवा यदि सूर्य के सामने कोई दूसरा सूर्य उदित हो तो इस बात का निर्णय भला कैसे किया जा सकता है कि उनमें से कौन-सा सूर्य प्रकाश देने वाला है और कौन-सा प्रकाश प्रकाशित होने वाला है ? यदि कोई इस बात का निर्णय करने लगे तो स्वयं निश्चय ही स्तब्ध हो जाता है। इस प्रकार उस सम्भाषण में कृष्ण और अर्जुन बिलकुल एक-से हो गये थे। यदि जल के दो प्रवाह आकर एक में मिल जायं और ऊपर से नमक भी आकर उनमें मिल जाय तो क्या वह नमक उन दोनों प्रवाहों को रोक सकता है ? अथवा वह भी क्षण-भर में उन दोनों के साथ मिलकर एकरूप हो जायगा ? ठीक इसी प्रकार जब मैं उस संवाद में इस प्रकार एकरूप होने वाले श्रीकृष्ण और अर्जुन का अपने मन में ध्यान करता हूं, तो मेरी अवस्था भी उसी नमक के समान हो जाती है।" ये थोड़ी-सी बातें संजय अभी कह ही रहा था कि इतने में सात्त्विक भाव ने आकर उसकी संजयत्व वाली स्मृति नष्ट कर दी—उसे इस बात का ध्यान भी न रह गया कि मैं संजय हूं। ज्यों-ज्यों उसे रोमांच होता आता था, त्यों-त्यों उसका शरीर भी संकुचित होता जाता था। उसी स्तम्भित अवस्था में उसे जो पसीना हो आया था, उसके कारण उसके शरीर का कम्प भी बहुत अधिक बढ़ गया था। अद्वैत के आनन्द का अनुभव होने के कारण उसकी आंखें भर आइं। उसकी आंखों में वे प्रेमाश्रु नहीं थे बल्कि मानों केवल जल का प्रवाह ही आरम्भ हो गया था। ऐसा जान पड़ता था कि शब्दार्थ उसके पेट में नहीं समा रहे थे और गला रुंध गया था; और इसीलिए श्वास के साथ शब्दार्थ

मेलकर एक हो गये थे। यहां तक कि आठों सात्त्विक भाव प्रकट हो गये और संजय की कुछ ऐसी विलक्षण अवस्था हो गई कि उसके मुंह से शब्द ही नहीं निकलता था। उस समय संजय मानों श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद का चौराहा बन गया था। परन्तु इस सुख का स्वभाव ही ऐसा है कि वह आपसे आप शान्त हो जाता है। इसलिए सजय भी बहुत जल्दी शान्त हो गया और फिर उसके होश ठिकाने हो गये—उसे अपने शरीर का भान हो आया।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

आनन्द का आवेश समाप्त हो जाने पर संजय ने कहा—"जो ज्ञान स्वयं उपनिषदों को भी ज्ञात नहीं है, वही ज्ञान आज मैंने श्री व्यासदेव की कृपा से सुना। उसे सुनते ही मुझमें ब्रह्मत्व आ गया और मेरे लिए 'मैं' और 'तुम' की अर्थात् द्वैत की सृष्टि का अन्त हो गया। इन समस्त योग मार्गों का जिनमें आकर पर्यवसान होता है, उन श्रीकृष्ण के वचन व्यासदेव की कृपा से आज मुझे बहुत सहज में प्राप्त हो गये। अर्जुन को निमित्त बनाकर और अपने आपमें बलपूर्वक द्वैतभाव या भिन्नता की स्थापना करके आत्मविचार के सम्बन्ध में देव ने जो कुछ कहा था, जो भाषण किया था, जब उस भाषण के सर्वोत्कृष्ट पात्र बनने की योग्यता मुझे सरीखे सामान्य पुरुष में आ गई, तो फिर श्री गुरु व्यासदेव की सामर्थ्य का भला मैं कहां तक वर्णन करूं!"

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

इसके उपरान्त संजय ने जब फिर कहना आरम्भ किया और उसके मुंह से ज्यों ही 'राजन्' शब्द निकला, त्यों ही वह बहुत अधिक विस्मित हो गया; और जिस प्रकार किसी रत्न की प्रभा स्वयं उसी पर पड़कर फैलती है, उसी प्रकार वह स्वयं भी अपने विस्मय से पूर्ण रूप से व्याप्त हो गया। जिस प्रकार चन्द्रमा का उदय होने पर हिमालय पर के सरोवर भी स्फटिक शिला के समान दिखाई देने लगते हैं, परन्तु सूर्य के उदित होते ही वे फिर द्रव-रूप जान पड़ते हैं, उसी प्रकार ज्यों ही संजय को अपने शरीर का भान होता था, त्यों ही उसे श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद याद आ जाता था; और ज्यों ही उसे वह संवाद याद आता था, त्यों ही वह फिर विस्मित होकर अपने शरीर का भान भूल जाता था। बस यही क्रम उस समय बराबर चल रहा था।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

फिर संजय ने खड़े होकर धृतराष्ट्र से कहा—"हे राजन्, श्रीहरि का प्रत्यक्ष विश्वस्वरूप देखकर आप इस प्रकार निस्तब्ध होकर क्यों बैठे हुए हैं? जो न देखने पर भी दिखाई देता है, न होने के कारण ही जो अस्तित्व में है और जो विस्मृत होने पर ही याद आता है; उससे यदि कोई बचना चाहे तो भला कैसे बच सकता है? यहां तो इतनी भी गुंजाइश नहीं है कि उसे दूर से देखकर केवल आश्चर्य किया जाय। क्योंकि इस सम्भाषण रूपी ज्ञान-गंगा का प्रवाह इतना अधिक प्रचंड है कि वह अपने साथ-साथ मुझे भी बहाये लिये चला जाता है।" श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद-रूपी इस संगम तीर्थ में स्नान करके उस संजय ने अपने अहंभाव को तिलांजलि दे दी। उस अवस्था में वह चरम सीमा के आनन्द का अनुभव करता हुआ बीच-बीच में विलक्षण रूप से कुछ बड़बड़ा उठता था और बार-बार अत्यन्त रुद्ध कंठ से 'श्रीकृष्ण', 'श्रीकृष्ण' कह उठता था। परन्तु कुरुराज धृतराष्ट्र को उसकी इस अवस्था का कुछ भी पता नहीं चलता था और वह अपने मन में उसके सम्बन्ध में यों ही कुछ उलटी-सीधी कल्पनाएं कर रहा था। उस समय संजय को सुख का जो अनुभव प्राप्त हो रहा था, उसे स्वयं अपने ही आप तक परिमित रखकर संजय ने अपनी वह विभोरता शान्त की। उस प्रसंग के योग्य और पूछने के उपयुक्त बात दूर

रखकर धृतराष्ट्र ने संजय से कहा भाई संजय यह तुम्हारा कौन सा ढंग है व्यास ने तुम्हें मेरे पास किस काम के लिए बैठाया था और तुमने न जाने यह कहां का पचड़ा छेड़ दिया।" यदि किसी जंगली आदमी को कोई राजमहल में ले जाय तो उस जंगली को ऐसा जान पड़ता है कि मेरी कोई चीज खो गई है और उसे दसों दिशाएं सूनी-सूनी जान पड़ती हैं। अथवा जब दिन निकलता है, तब निशाचरों के लिए मानों रात ही हो जाती है। जो जिस विषय की मधुरता नहीं समझता, उसे वह विषय नीरस अथवा विकट जान पड़ता है; और इसीलिए धृतराष्ट्र को संजय की ये सब बातें अच्छी नहीं लगती थीं और निरर्थक जान पड़ती थीं। और यह बात उसके लिए बिलकुल स्वाभाविक ही थी। फिर धृतराष्ट्र ने संजय से कहा—"अच्छा संजय, अब तुम मुझे यह बतलाओ कि यह जो युद्ध उपस्थित हुआ है, इसमें अन्त में विजय किसकी होगी। मेरा तो प्रायः यही पक्का विश्वास है कि दुर्योधन का पराक्रम सदा सफल होता है; और यदि पांडवों की सेना के साथ तुलना की जाय तो दुर्योधन की सेना भी उससे ड्योढ़ी है। इसलिए मैं तो यही समझता हूं कि अन्त में उसी की जीत होगी। क्यों है यह बात ठीक या नहीं ? भाई संजय, मुझे तो ऐसा जान पड़ता है। परन्तु तुम्हारी समझ क्या कहती है, यह मैं नहीं जानता। लेकिन फिर भी तुम चाहे जो कुछ समझते हो, एक बार मुझे बतलाओ तो सही।"

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

इस प्रश्न के उत्तर में संजय ने कहा—"हे राजन्, मेरी समझ में तो यह कुछ भी नहीं आता कि इस युद्ध में दोनों पक्षों में से कौन-सा पक्ष विजयी होगा। परन्तु हां, यह बात बिलकुल ठीक है कि जो आयुष्य हो तो मनुष्य अवश्य जीवित रहता है। जहां चन्द्रमा होता है, वहां चांदनी भी अवश्य होती है; जहां शम्भू होते हैं, वहां पार्वती भी होती हैं; जहां सन्त होते हैं, वहां विवेक भी होता है। जहां राजा होगा, वहां सेना भी होगी; जहां सौजन्य होगा, वहां आपसदारी भी होगी; और जहां आग होगी, वहां दाहक शक्ति भी अवश्य ही रहेगी। जहां दया होगी, वहां धर्म भी अवश्य ही होगा; और जहां धर्म होगा, वहां सुख की प्राप्ति भी अवश्य ही दिखाई देगी। जहां सुख होगा, वहां पुरुषोत्तम भी अवश्य ही रहेंगे। जहां बसन्त होगा, वहां वन भी होगा; और जहां वन होगा, वहां फूल भी अवश्य ही होंगे। और जहां फूल होंगे, वहां भ्रमरों के झुंड भी अवश्य ही आवेंगे। जहां गुरु रहते हैं, वहां ज्ञान होता है, और जहां ज्ञान होता है, वहां आत्मदर्शन भी होता है; और जहां आत्मदर्शन होता है, वहां समाधान भी होता ही है। भाग्य के पास विलास, सुख के पास उल्लास और सूर्य के पास प्रकाश अवश्य ही देखने में आता है। इसी प्रकार जिनके कारण समस्त पुरुषार्थों को सामर्थ्य अथवा शोभा प्राप्त होती है, वे श्रीकृष्ण जिस तरफ होंगे, लक्ष्मी भी उसी तरह रहेगी। और अपने पति सहित वह जगन्माता लक्ष्मी जिसे प्राप्त होगी, क्या अणिमा आदि आठों सिद्धियां उसकी दासी नहीं हो जायंगी ? श्रीकृष्ण स्वयं ही विजय-स्वरूप हैं, इसलिए वे जिस पक्ष में रहेंगे, उसी पक्ष की ओर विजय भी दौड़ी हुई जायगी। फिर अर्जुन तो विजय के नाम से प्रसिद्ध ही है और श्रीकृष्ण स्वयं ही विजयस्वरूप हैं, और इसलिए इस बात में कुछ भी सन्देह नहीं है कि जिस ओर श्रीकृष्ण होंगे, उसी ओर लक्ष्मी के सहित विजय भी अवश्य रहेगी। जिन्हें ऐसे प्रतिष्ठित और माननीय माता-पिता का आधार प्राप्त है, उनके देश के साधारण वृक्ष भी क्या होड़ में कल्पतरु तक को नहीं जीत लेंगे ? वहां के पत्थर भी चिन्तामणि क्यों न हो जायंगे ? और वहां की मिट्टी में भी सोने के गुण क्यों न विलास करेंगे ? यदि उनके गांवों की नदियों में अमृतरस प्रवाहित होने लगे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? हे राजन्, भला आप ही अपने मन में विचार करके देखें। जिनके मुख से निकले हुए उलटे-सीधे शब्द भी आनन्द से वेदों में गिने जाते हैं, भला स्वयं वे देहधारी सच्चिदानन्द क्यों न होंगे ? श्रीकृष्ण और लक्ष्मी जिनके पिता-माता हों, उनके अधिकार में स्वर्ग और मोक्ष दोनों ही रहते हैं। इसीलिए

मैं तो केवल यही जानता हूं कि जिस ओर लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण हैं, उस ओर सब प्रकार की सिद्धियां मानों आपसे आप रखी हुई हैं। इसके सिवा और कुछ भी मेरी समझ में नहीं आता। समुद्र में उत्पन्न होने वाला मेघ स्वयं समुद्र से भी बढ़कर अच्छे उपयोग में आता है। ठीक यही बात अर्जुन और श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में भी है। यह ठीक है कि लोहे को सोने की दीक्षा देने वाला गुरु पारस ही होता है, लेकिन फिर भी संसार के समस्त व्यवहार केवल सोने से ही चलते हैं, पारस से नहीं। इस पर कुछ लोग यह कहेंगे कि इन विचारों के कारण गुरुत्व में कमी होती है। परन्तु यह बात कभी मन में नहीं लानी चाहिए। जिस प्रकार अग्नि स्वयं अपना ही प्रकाश दीपक के द्वारा प्रकट करती है, उसी प्रकार देव की ही शक्ति से अर्जुन उस समय देव से भी बढ़कर दिखाई देने लगा था। परन्तु वह देव से जितना अधिक दिखाई देता था, उतना ही अधिक इस बात में देव का गौरव और प्रशंसा भी होती है। फिर पिता की सदा यही इच्छा होती है कि हमारे लड़के सभी सद्गुणों में हमसे भी खूब बढ़-चढ़कर हों; और शार्ङ्गपाणि श्रीकृष्ण की वही इच्छा सफल हुई थी। "हे राजा धृतराष्ट्र, श्रीकृष्ण की कृपा से अर्जुन जिस पक्ष का सहायक बना है, उसके सम्बन्ध में आपको यह सन्देह क्यों होता है कि उसे विजय न प्राप्त होगी? यदि उस पक्ष को विजय न प्राप्त हुई तो फिर स्वयं विजय ही निरर्थक हो जायगी। इसीलिए मैं कहता हूं कि जहां लक्ष्मी हैं, वहीं श्रीमान् कृष्णदेव हैं, और जहां पांडुपुत्र अर्जुन है, वहीं सारी विजय और सारा उत्कर्ष रहेगा। यदि व्यासदेव के सच्चेपन और सत्यता पर आपका विश्वास हो तो आप यह समझ लें कि मेरा यह वचन अटल है। जहां वे लक्ष्मीपति नारायण हैं, वहीं भक्तश्रेष्ठ अर्जुन भी है और वहीं सुख तथा मंगल के लाभ का निवास भी है। यदि मेरी यह बात झूठ निकले तो समझ लेना कि मैं व्यासदेव का शिष्य ही नहीं।" अभिमानपूर्वक अपनी इस प्रतिज्ञा का घोष करके संजय ने अपने दोनों हाथ ऊपर उठाए। इस प्रकार समस्त महाभारत का सारांश एक ही श्लोक में रखकर वह श्लोक संजय ने धृतराष्ट्र के हाथ में दे दिया। अग्नि का विस्तार अपरम्पार है। परन्तु सूर्य के अस्त हो जाने के कारण जो क्षति होती है, उसकी पूर्ति करने के लिए जिस प्रकार कपास की बत्ती के सिरे पर लगाने में उसका उपयोग करते हैं, उसी प्रकार सबसे पहले वह शब्द ब्रह्म या सवा लाख श्लोकों वाला भारत बना जिसका कहीं अन्त ही नहीं है। इसके उपरान्त सात सौ श्लोकों की यह गीता बनी जिसमें भारत ग्रन्थ का समस्त सार भरा हुआ है। और इन सात सौ श्लोकों में से यह अन्तिम श्लोक, जिसमें व्यास के शिष्य संजय का पूर्ण उद्गार भरा हुआ है, समस्त गीता का एकत्र किया हुआ अर्थ है। इस एक ही श्लोक को जो पुरुष अपने हृदय के साथ लगा रखेगा, वह मानों समस्त अज्ञान को पूर्ण रूप से जीत लेगा। इस प्रकार ये सात सौ श्लोक मानों इस गीता के चलते हुए पैर ही हैं। अथवा इन्हें पैर न समझकर गीता रूपी आकाश का परम अमृत ही समझना चाहिए। अथवा मुझे ऐसा जान पड़ता है कि ये गीता रूपी आत्मराजसभा के स्तम्भ ही हैं। अथवा सप्तशती अर्थात् सात सौ श्लोकों में भगवती के सम्बन्ध में बने हुए ग्रन्थ के द्वारा वर्णित यह गीता मानों भगवती देवी ही समझी जानी चाहिए। यह मोह रूपी महिष को मुक्ति देकर (अर्थात् नष्ट करके) आनन्दित हुई है। इसीलिए जो मन, शरीर और वाणी से इसका भक्त होगा, वह स्वानन्द अथवा आत्मानन्द के साम्राज्य का चक्रवर्ती राजा होगा। अथवा अविद्या रूपी अन्धकार दूर करने में प्रतिज्ञापूर्वक सूर्य को भी मात करने वाले ये विलक्षण तेजस्वी श्लोक प्रभु श्रीकृष्ण ने गीता के रूप में प्रकट किये हैं। अथवा संसार के थके हुए यात्रियों को विश्राम का स्थल देने के लिए यह गीता श्लोकाक्षर-रूपी द्राक्षा-वल्ली का मंडप बन गई है। अथवा इस गीता को श्रीकृष्ण की मुख-रूपी ऐसी पुष्करणी ही समझना चाहिए जो सात सौ श्लोक रूपी कमलों से धन्य हुई है और सन्त-रूपी भ्रमरों से भरी हुई है। अथवा ये सात सौ श्लोक और कोई नहीं, गीता की महिमा गाने वाले भाट ही जान पड़ते हैं। अथवा इन सात सौ श्लोकों के चारों ओर घर बनाकर इस गीता रूपी सुन्दर नगरी में मानों वेद-वृन्द ही निवास करने के लिए आ गये हैं। अथवा अपने पति परमात्मा को प्रेमपूर्वक

आलिंगन करने के लिए गीता प्रिया ने अपने ये बाहु पसारे हैं। इन श्लोकों का रहा बहु समर्थन चाहिए। अथवा ये श्लोक गीता रूपी कमल पर के भृंग हैं। अथवा गीता रूपी समुद्र की तरंगें हैं। अथवा गीता रूपी तीर्थ के घाट ही हैं। अथवा अर्जुन रूपी सिंहस्थ पर्व उपस्थित होने के कारण इस गीता रूपी गंगा में स्नान करने के लिए समस्त तीर्थ ही इन श्लोकों के रूप में आ पहुंचे हैं, और उन तीर्थों का मानों मेला ही लगा हुआ है। अथवा ये श्लोकों की पंक्तियां नहीं हैं, बल्कि ऐसा जान पड़ता है कि विरक्त चित्त को भी लुभाने वाले चिन्तामणियों अथवा कल्पवृक्षों की पंक्तियां लगाई गई हैं। इन सात सौ श्लोकों में से प्रत्येक श्लोक दूसरे प्रत्येक श्लोक की अपेक्षा कहीं बढ़-चढ़कर दिखाई देता है। ऐसी अवस्था में यदि कोई उन सबकी अलग-अलग प्रशंसा करना चाहे तो भला कैसे कर सकता है? कामधेनु के सम्बन्ध में कभी यह कहा नहीं जा सकता कि यह आजकल दूध नहीं देती अथवा वह दूध देने वाली नहीं है। दीपक के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि इसका आगा किधर है और पीछा किधर है। सूर्य को छोटा या बड़ा और अमृत के समुद्र को गहरा या छिछला आदि कैसे कहा जा सकता है और इन पदार्थों के साथ इस प्रकार के विशेषण भला कैसे लगाये जा सकते हैं? ठीक इसी प्रकार के गीता के किसी श्लोक के सम्बन्ध में यह नहीं कहना चाहिए कि यह पहला श्लोक है अथवा अन्तिम श्लोक है। पारिजात के फूलों के सम्बन्ध में क्या कभी यह भी कहा जा सकता है कि ये बासी हैं और ये ताजे हैं? गीता के श्लोकों में भी योग्यता के विचार से कोई कमी-बेशी नहीं है; न उसका कोई श्लोक किसी से बढ़कर है और न घटकर है। और यह बात इतनी निश्चित है कि अब मैं इसका और अधिक समर्थन या पुष्टि क्या करूं। और इसका कारण यह है कि गीता के श्लोक पढ़ते समय वाच्य और वाचक का भी भेद नहीं रह जाता। यह बात सभी लोग जानते हैं कि इस गीताशास्त्र में एकमात्र श्रीकृष्ण ही वाच्य भी हैं और वाचक भी हैं। इस गीता का अर्थ जानने से जो कुछ प्राप्ति होती है, वही इसका केवल पाठ करने से भी होती है; और यह गीताशास्त्र वाच्य और वाचक की एकता इतनी शीघ्रता से करा देता है। अतः अब मेरे समर्थन करने के लिए कोई विषय ही बाकी नहीं रह जाता। इस गीता को प्रभु की सुन्दर वाङ्मय मूर्ति ही समझना चाहिए। चाहे कोई शास्त्र लीजिए, वह पहले तो वाचक को अपना उद्दिष्ट अर्थ बतलाता है और तब स्वयं ही लुप्त हो जाता है। परन्तु गीता के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। यह पूर्ण रूप से अव्यय, अविनाशी और निरन्तर ब्रह्म ही है। देखिए, सारे विश्व पर करुणा करके और अर्जुन को निमित्त बनाकर भगवान् ने यह परम आत्मानन्द सबके लिए कैसा सुगम कर दिया है! जिस प्रकार चकोर को सुखी करने के बहाने चन्द्रमा तीनों भुवनों का दाह शान्त करता है अथवा जिस प्रकार गौतम ऋषि को निमित्त बनाकर कलिकाल के कारण उत्पन्न होने वाला संसार का दाह शान्त करने के लिए शंकर ने गंगा का प्रवाह पृथ्वी पर ला उपस्थित किया था, उसी प्रकार अर्जुन को बछड़ा बनाकर श्रीकृष्ण रूपी गौ ने यह गीता रूपी दूध संसार भर के लिए दिया है। यदि आप गीता में हृदय से मग्न हो जायंगे तो कैवल्य वाली स्थिति में पहुंच जायंगे। यही नहीं, बल्कि यदि केवल पठन के उद्देश्य से भी, जिह्वा के साथ इसका सम्बन्ध कराया जायगा तो जिस प्रकार पारस का एक ही झटका लगने से लोहा आपसे आप सोना हो जाता है, उसी प्रकार यदि पाठ को कटोरा बनाकर किसी श्लोक का एक चरण भी आप अपने होठों से लगावेंगे तो आपके शरीर पर ब्रह्मैक्य की पुष्टता चढ़ेगी। अथवा यदि पठन के कटोरे को मुंह न लगाकर उसे टेढ़ा करके रख देंगे और उसकी ओर पीठ करके बैठेंगे तो यदि गीता के अक्षर भी आपके कानों में पड़ जायंगे, तो भी वही हिसाब होगा। जिस प्रकार कोई अत्यन्त द्रव्य-सम्पन्न और उदार पुरुष कभी किसी से किसी चीज के लिए याचना नहीं करता, उसी प्रकार यदि इस गीता का श्रवण, पठन अथवा अर्थ ग्रहण में से किसी एक का भी अवलम्बन किया जाय तो वह मोक्ष से कम तो कभी किसी को कुछ देती ही नहीं और सबको एक सिरे से मोक्ष ही देती है। इसलिए ज्ञाताओं की संगति में रहकर एकमात्र गीता की ही सेवा करनी चाहिए। दूसरे और शास्त्रों

को लेने से क्या लाभ हो सकता है ? श्रीकृष्ण और अर्जुन ने एकान्त में खुले मन से जो बातचीत की थी, उसे श्रीमद् व्यासदेव ने इस प्रकार सुगम रूप में उपस्थित किया है कि जो चाहे, वही उसका आकलन कर सकता है। माता जिस समय अपने पुत्र को प्रेमपूर्वक खिलाने बैठती है, तब वह उसके मुख में इतने छोटे-छोटे कौर देती है जिन्हें वह सहज में खा और निगल सके। अथवा जिस प्रकार वायु के असीम और अनन्त होने पर भी किफायती आदमी पंखा तैयार करके उससे केवल उतनी ही हवा करता है, जितनी वह स्वयं सह सकता है, उसी प्रकार व्यासदेव ने भी वे सब बातें, जो शब्दों में बतलाई ही नहीं जा सकती थीं, अनुष्टुप छन्दों में ऐसे उत्तम रूप में रख दी है कि स्त्रियों और शूद्रों आदि की बुद्धि भी उन्हें ग्रहण कर सकती है। यदि स्वाती के जल से मोती न बनते तो वे सुन्दर स्त्रियों के शरीर पर पहुंचकर सुशोभित ही कैसे होते ? वाद्य में यदि नाद ही उत्पन्न न हो तो वह कान को सुनाई कहां से पड़े ? यदि वृक्ष में फूल ही न आये हों तो उनकी सुगन्ध कैसे ली जाय ? यदि पक्वान्न में ही मधुरता न हो तो फिर वह जीभ को कहां से प्राप्त हो सकती है ? यदि दर्पण ही न हो तो नेत्र स्वयं अपने आपको कैसे देख सकते हैं। यदि द्रष्टा को गुरु की साकार मूर्ति ही न दिखाई दे तो वह सेवा किसकी करेगा ? ठीक इसी प्रकार यदि उस असंख्यात ब्रह्म-वस्तु के लिए श्लोकों की सात सौ वाली संख्या का प्रयोग न किया गया होता तो उसका आकलन कौन कर सकता ? मेघ सदा सागर का जल सोखा करते हैं, परन्तु संसार को सागर सदा ज्यों-का-त्यों दिखाई देता है; क्योंकि जिसकी कोई नाप-तौल ही नहीं है, उसमें अगर कुछ कमी या ज्यादती हो तो किसी को उसका पता ही कैसे चल सकता है ? जिसका वर्णन वाचा के लिए साध्य नहीं है, वही यदि इन श्लोकों में समाया हुआ न होता तो मुख और कानों को उसका अनुभव कैसे होता ? इसीलिए व्यासदेव ने श्रीकृष्ण की उक्ति जो इस ग्रन्थ में संकलित की है, सो उन्होंने संसार पर बहुत बड़ा उपकार किया है। और महर्षि व्यास के शब्दों पर सदा पूरा-पूरा ध्यान रखकर उनके उसी ग्रन्थ का मैंने मराठी (मूल पुस्तक मराठी भाषा में ओवी नामक विशेष छंद में लिखी हुई है।—अनुवादक) भाषा में अनुवाद करके आप लोगों के कानों में डाला है। जिस विषय में व्यास आदि महर्षियों का ज्ञान भी भटक जाता और धोखे में पड़ जाता है, उसी विषय में इस अल्पमति व्यक्ति ने (मैंने) कोरी वाचालता की है। परन्तु ये गीतेश्वर बहुत भोले-भाले हैं। यदि उन्होंने व्यास के वचनों की पुष्प-माला धारण की है तो मेरे सीधे-सादे दूर्वा-दलों के लिए भी वे 'नहीं' नहीं करते। क्षीर सागर के तट पर अपनी प्यास बुझाने के लिए हाथियों के झुंड-के-झुंड आते हैं; परन्तु क्या इसीलिए मच्छरों को वहां आने की मनाही होती है ? पक्षियों के जिन बच्चों के अभी अच्छी तरह पंख भी नहीं निकले होते, वे थक जाने के कारण आकाश में अच्छी तरह उड़ तो नहीं सकते, परन्तु फिर भी इधर-उधर फुदकते रहते हैं। और उसी आकाश में गरुड़ भी खूब तेजी के साथ उड़ा करता है। भूतल पर राजहंस बहुत ही सुन्दर गति से चला करते हैं; परन्तु क्या इसीलिए और कोई अपनी भद्दी चाल से उस पर चलने ही न पावे ? अपने परिमाण के अनुसार हंडा बहुत अधिक जल अपने पेट में भर लेता है; तो क्या इसीलिए चुल्लू में पानी नहीं लिया जा सकता ? दीयट बहुत बड़ी होती है और इसीलिए उसका प्रकाश भी अधिक होता है; परन्तु छोटी बत्ती में भी उसके अंग के मान के अनुसार प्रकाश होता है या नहीं ? समुद्र में उसके विस्तार के अनुसार ही आकाश प्रतिबिम्बित होता है; परन्तु छोटे से गड्ढे में भी उसके मान के अनुसार आकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता ही है। ठीक इसी प्रकार इस ग्रन्थ के विषय में व्यास सरीखे दिव्य बुद्धिमान् ऋषि विचरण करते हैं। परन्तु केवल इस दृष्टि से यह कहना युक्ति-संगत नहीं है कि उसमें मुझ सरीखे अल्प-मति को पैर नहीं रखना चाहिए। जिस समुद्र में मन्दर पर्वत के समान बड़े-बड़े जलचर संचार करते हैं, क्या छोटी मछलियों को उस समुद्र में झांकना भी नहीं चाहिए ? अरुण सदा सूर्य के रथ पर खूब डटकर बैठा रहता है और इसीलिए वह सदा सूर्य को देखता भी रहता है। परन्तु क्या जमीन पर रेंगने वाली च्यूंटी सूर्य की ओर नहीं

देखती इसीलिए यदि मुझ सरीखे सीधे-सादे आदमी भी देशी भाषा में गीता की रचना करें तो यह कोई अनुचित बात नहीं है। यदि पिता आगे चल रहा हो और पुत्र भी उसके पीछे कदम-पर-कदम रखता हुआ चले, तो क्या वह उस स्थान पर नहीं पहुंच सकता जिस स्थान पर पिता पहुंचता है ? ठीक इसी प्रकार व्यासदेव के पीछे चलकर और गीता के भाष्यकारों से रास्ता पूछ-पूछकर मैं भी आगे बढ़ूं तो यह काम अयोग्य और अनुचित भले ही हो, परन्तु फिर भी मैं उपयुक्त स्थान पर अवश्य पहुंच जाऊंगा। यदि मैं किसी दूसरी जगह जाऊं तो कैसे और कहा जाऊंगा ? इसके सिवा जिनमें पृथ्वी के समान क्षमा-गुण है और इसीलिए जो कभी किसी स्थावर या जंगम से दुःखी नहीं होते, जिनसे अमृत प्राप्त करके चन्द्रमा सारे संसार को शीतल करता है, जिनके शरीर का असल तेज प्राप्त करके सूर्य अन्धकार दूर करता है, जिनसे समुद्र को जल, जल को माधुर्य, माधुर्य को सौन्दर्य, वायु को बल, आकाश को विस्तार, ज्ञान को उज्ज्वल राज्य-वैभव, वेदों को मधुर वाणी, सुख को उत्साह और यहां तक कि समस्त रूप और आकार प्राप्त होते हैं और जो सब पर उपकार करते हैं, वे समर्थ सद्गुरु श्रीनिवृत्तिनाथ मेरे अन्तःकरण में प्रवेश करके उसमें विचरण कर रहे हैं। अब यदि मैं मराठी भाषा में गीता का ठीक-ठीक विवरण करूं तो इसमें आश्चर्य का क्या कारण है ? श्रीगुरु द्रोणाचार्य के नाम से पर्वत पर मिट्टी का ढेर लगाकर जिस एकलव्य ने उसकी सेवा की थी, उस पहाड़ी भील एकलव्य ने भी अपनी धनुर्विद्या की चातुरी से तीनों लोकों को हिला डाला था। चन्दन के आस-पास रहने वाले वृक्ष भी चन्दन के ही समान सुगन्धित हो जाते हैं। वसिष्ठ ने अपने कन्धे पर जो दुपट्टा रखा था, वह सूर्य के साथ भी प्रतिस्पर्धा कर सका था। और मैं तो सचेतन मनुष्य हूं। तिस पर मेरे श्री सद्गुरु इतने अधिक समर्थ हैं कि वे केवल अपनी कृपा-कटाक्ष से ही अपने शिष्य को आत्मपद पर ले जाकर बैठा देते हैं। एक तो पहले से ही नजर तेज हो और तिस पर सूर्य समर्थन और सहायता करे, तो फिर भला ऐसी कौन-सी वस्तु है जो दिखाई न दे सकती हो ? इसीलिए मेरे केवल श्वासोच्छ्‌वास भी नये-नये ग्रन्थ हो सकते हैं। यह ज्ञानदेव स्वयं अपने आपसे पूछता है कि ऐसा कौन-सा काम है जो गुरु की कृपा से नहीं हो सकता ? इसीलिए मैंने मराठी भाषा में गीता का अर्थ ऐसे ढंग से कहा है कि उसे सभी लोग सहज में समझ सकें। मेरे इन मराठी बोलों को यदि कोई कुशलतापूर्वक गावेगा तो उसके गान की मोहिनी में कहीं कोई अपूर्णता न दिखाई देगी। इसीलिए यदि कोई गीता का गान करेगा तो यह गीता उसके गान के लिए भूषण ही होगी और यदि कोई इन शब्दों का सीधे-सादे ढंग से पाठ करेगा तो भी यह गीता उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं रहने देगी। यदि गहना पहना न जाय और यों ही रख दिया जाय तो भी वह सुन्दर जान पड़ता है। फिर यदि वह शरीर पर धारण कर लिया जाय तो क्या वह उपयुक्त न होगा और अधिक सुन्दर न लगेगा ? मोतियों के सम्बन्ध की यह बात है कि यदि वे सोने पर जड़ दिये जायं तो वे सोने की रंगत और भी ज्यादा खिला देते हैं। परन्तु यदि ऐसा संयोग न भी हो, तो भी यह बात नहीं है कि वे अलग लड़ी में पिरोये रहने की दशा में कुछ कम सुन्दर जान पड़ते हों। बसन्त-ऋतु में फूलने वाले मोगरे की कलियां चाहे माला में पिरोई हुई हों और चाहे यों ही खुली रखी हों, परन्तु उनकी सुगन्ध में किसी दशा में भी कोई कमी नहीं होती। ठीक इसी प्रकार मैंने ऐसे छन्दोबद्ध प्रेमपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है जिसमें गाये जाने का गुण भी स्वाभाविक रूप से वर्तमान है और बिना गाये भी जिसका रंग खूब खिलता है। इन पंक्तियों की रचना में मैंने ब्रह्मरस से सुगन्धित किये हुए अक्षर इस प्रकार रखे हैं कि उन्हें छोटे बच्चों से लेकर बड़ों तक सभी लोग बहुत सहज में समझ सकते हैं। जिस प्रकार चन्दन के वृक्ष में सुगन्धि के लिए फूलों की तलाश नहीं करनी पड़ती, उसी प्रकार इस ग्रन्थ की पंक्तियां (छन्द) भी कानों में पड़ते ही सुननेवालों की समाधि लगा देती हैं। फिर यदि इसकी व्याख्या करने वाले व्याख्यान सुने जायं तो क्या वे मन पर मोहिनी न डालेंगे ? इसका सहज रूप से पाठ करने पर भी पांडित्य का ऐसा आनन्द आता है कि यदि पास में अमृत का भी प्रवाह बहता हो तो उसकी ओर

भी ध्यान न जायगा। इस प्रकार सिद्धतापूर्वक इसका कवित्व इतनी अधिक शान्ति उत्पन्न करता है कि यों कहना चाहिए कि इसके श्रवण ने मनन और निदिध्यासन पर भी विजय प्राप्त कर ली है। इसके श्रवण से प्रत्येक व्यक्ति को आत्मानन्द के अनुभव का सर्वोच्च अंश प्राप्त होगा और उसकी समस्त इन्द्रियां पुष्ट होंगी। चकोर अपनी शक्ति से चन्द्रमा का उपभोग करके (अर्थात् प्रत्यक्ष चन्द्रामृत पान करके) सुखी होते हैं; परन्तु उस चन्द्रमा की चादनी क्या और किसी को प्राप्त नहीं हो सकती ? ठीक इसी प्रकार अध्यात्म-शास्त्र के अधिकारी पुरुषों को इसके अन्दर के गम्भीर रहस्य का ज्ञान होता है। किन्तु केवल वाक्-चातुरी से भी बहुत-से लोग सुखी होते ही हैं। परन्तु वास्तव में यह सारा महत्त्व श्रीनिवृत्तिनाथजी का ही है। इस प्रबन्ध को आप लोग ग्रन्थ न कहें, बल्कि यह गुरु-नाथ की कृपा का ही वैभव है। अत्यन्त प्राचीनकाल में क्षीर-सागर के पास शंकरजी ने श्रीपार्वती के कानों में जो रहस्य बतलाया था, वह रहस्य क्षीर-सागर की लहरों से मगर के पेट में रहने वाले मत्स्येन्द्रनाथ को प्राप्त हुआ था। मत्स्येन्द्रनाथ को सप्तशृंगी पर अवयवहीन चौरंगीनाथ मिले। मत्स्येन्द्रनाथ के दर्शनों से चौरंगीनाथ के कटे हुए अवयव फिर पहले की तरह जुड़कर ठीक हो गये। फिर मत्स्येन्द्रनाथ ने अटल समाधि का ठीक तरह से भोग करने का विचार किया और इसीलिए उस रहस्य का संकेत उन्होंने श्री गोरक्षनाथ को बतला दिया। गोरक्षनाथजी योग-रूपी कमलिनी सरोवर और विषयों का नाश करने वाले काल ही थे। मत्स्येन्द्रनाथ ने उन्हें अपना समस्त अधिकार देकर अपनी पीठ पर अधिष्ठित कर लिया। इसके उपरान्त गोरक्षनाथ ने उस अद्वैतानन्द का, जो श्रीशम्भु के समय से परम्परा से चला आ रहा था, श्रीगैनीनाथजी को समूल उपदेश दिया। जब उन गैनीनाथजी ने यह देखा कि कलिकाल भूतमात्र को ग्रस रहा है, तब उन्होंने श्रीनिवृत्तिनाथ को आज्ञा दी कि आदि शंकर से लेकर शिष्य-परम्परा से रहस्य-बोध कराने का जो यह सम्प्रदाय मुझ तक चला आया है, वह सम्प्रदाय तुम स्वीकृत करो और उन जीवों की रक्षा करने के लिए तुम दौड़े हुए जाओ जिन्हें कलिकाल निगल रहा है। निवृत्तिनाथजी स्वभावत अत्यन्त दयालु थे। तिस पर उन्हें ऐसे गुरु की आज्ञा हुई थी। अतः जगत् को शान्ति प्रदान करने वाले श्री निवृत्तिनाथ वर्षाकाल के मेघ के समान उठे। उस समय दुःखितों पर करुणा करके गीतार्थ पिरोने के बहाने उन्होंने शान्तरस की जो वर्षा की थी, वही यह ग्रन्थ है। उस समय मैं चातक की भांति बहुत अनुरागपूर्वक उनके सामने खड़ा हो गया और इसीलिए आज मैं यह यश प्राप्त कर सका हूं। इस प्रकार गुरु-परम्परा से जो आत्मसमाधि रूपी द्रव्य प्राप्त हुआ था, वही इस ग्रन्थ के द्वारा उपदेश करके गुरु महाराज ने मुझे दिया है। यदि यह बात न होती तो फिर मेरे सरीखे ऐसे आदमी में, जो न तो पढ़ता-लिखता ही है, न अध्ययन करता है और न गुरुदेव की अच्छी तरह सेवा करना ही जानता है, इन ग्रन्थ की रचना करने की योग्यता कहां से आती ? वास्तव में, यह बात आप लोग ध्यान में रखें कि गुरुदेव ने मुझे निमित्तमात्र बनाकर इस प्रबन्ध के रचने में जगत् की रक्षा ही की है। इस प्रकार मैं केवल नाम के लिए आगे कर दिया गया हूं। ऐसी अवस्था में यदि मेरी बातों में कहीं कोई त्रुटि या दोष रह गया हो तो हे श्रोतागण, आप लोग माता के समान प्रेमपूर्ण होकर उन सबको अपने उदर में रख लें। (अर्थात् मन-ही-मन समझकर उसके लिए मुझे क्षमा कर दें)। शब्दों की योजना किस प्रकार करनी चाहिए, सिद्धान्त किस प्रकार स्थिर करने चाहिए और अलंकार किसे कहते हैं आदि बातों का मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं है। कठपुतली जिस प्रकार अपने सूत्रधार की इच्छा के अनुसार चलती-फिरती और नाचती-कूदती है, उसी प्रकार मुझे आगे रखकर वास्तव में मेरे गुरुदेव ही ये सब बातें कह रहे हैं। इसीलिए मैं विशेष आग्रहपूर्वक यह नहीं कह रहा हूं कि इस ग्रन्थ के गुण-दोषों के लिए लोग मुझे क्षमा करें क्योंकि गुरुदेव ने केवल ग्रन्थ-वाहक के रूप में मेरी योजना की है। और यदि हीन-गुण ही आप सन्तों की सभा में खड़ा हुआ हो और वह पूर्ण गुणों से युक्त न हुआ हो, तो वह अपने लाडलेपन के कारण उलटे आप ही लोगों पर कोप करेगा। यदि पारस का स्पर्श होने पर भी लोहे की हीन दशा

[illegible] न हो तो इसमें दोष किसका है? नालियां और नाले तो इतना ही कर सकते हैं कि जाकर गंगा में मिल जायं। तब इतने पर भी यदि उन्हें गंगा का रूप प्राप्त न हो तो इसमें उनका क्या दोष है? इसलिए यदि मैं बड़े भाग्य से आप सन्तों के चरणों के पास आ पहुंचा हूं तो फिर इस संसार में मेरे लिए किस बात की कमी हो सकती है? हे गुरुदेव, आपने ही मुझे सन्तों की संगति प्राप्त करा दी है जिससे मेरे समस्त मनोरथ परिपूर्ण हो गये हैं। हे सन्तजन, आप सरीखा मायका मुझे प्राप्त हुआ है और मेरा ग्रन्थ-रचना का लाडलेपन का हठ बहुत अच्छी तरह पूरा हो गया है। सोने का सारा पृथ्वी-तल ढाला जा सकता है, चिन्तामणियों का मेरु के समान प्रचंड पर्वत बनाया जा सकता है, सातों समुद्र अमृत रस से लबालब भरना भी सहज है और छोटे-छोटे नक्षत्रों को चन्द्रमा बनाना भी कठिन नहीं है और न कल्पवृक्ष के बाग लगाना ही बहुत ज्यादा मुश्किल है; परन्तु गीता का रहस्य सहज में स्पष्ट नहीं किया जा सकता। फिर भी मुझ सरीखा गूंगा मनुष्य गीता का अर्थ इतना अधिक स्पष्ट कर सका है, कि जो सब लोगों को प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इस ग्रन्थ-रूपी अपार सागर को पार करके और कीर्ति की पताका हाथ मे लेकर जो मैं आनन्द से खूब फूलकर नाच रहा हूं, मेरु पर्वत के समान प्रचंड दिखाई देने वाला और विशाल कलश वाला गीतार्थ का मन्दिर रचकर और उसमें गुरुदेव की मूर्ति स्थापित करके उनकी जो पूजा-अर्चना कर रहा हूं, यह सब उन्हीं गुरुदेव की कृपा का फल है। गीता सरीखी निर्मल और शुद्ध हृदय वाली माता को भूलकर जो बालक इधर-उधर बिलबिला रहा था, उसकी जो उस माता के साथ पुनः भेंट हो गई है, यह भी उन्हीं गुरुदेव की कृपा का ही फल है। मैं ज्ञानदेव आप सज्जनों से कहता हूं कि हे महाराज, आपके आचार-व्यवहार का विचार करके ही मैंने यह बात कही है। यह स्वयं इस ज्ञानदेव की अटपटी बातें नहीं हैं। अब मैं क्या कहूं ! आप ही लोगों की कृपा से आज इस ग्रन्थ की समाप्ति का उत्सव मैं मना सका हूं और इससे मेरा जन्म सफल हो गया है। मैंने अपने मन में जो-जो आशाएं रखकर आप लोगों का भरोसा किया था, वे सब आशाएं आप लोगों ने अच्छी तरह पूरी कर दी हैं और इसलिए मैं बहुत ही सुखी हुआ हूं। हे महाराज, मुझे सरीखे दीन के लिए आपने इस ग्रन्थ की जिस अद्भुत सृष्टि का निर्माण किया है, उसे देखकर मैं दूसरी सृष्टि उत्पन्न करने वाले विश्वामित्र को भी आज तुच्छ समझ रहा हूं। क्योंकि त्रिशंकु का पक्ष लेकर केवल ब्रह्मा को नीचा दिखलाने के लिए नश्वर सृष्टि उत्पन्न करने में कौन-सा बड़ा पुरुषार्थ है ! श्रीशम्भु ने उपमन्यु पर प्रसन्न होकर उसके लिए क्षीर-सागर उत्पन्न किया था। परन्तु उनका यह कार्य भी यहां उपमा के लिए ठीक नहीं जंचता, क्योंकि उस क्षीर-सागर के गर्भ में हलाहल विष भरा था और समुद्र-मन्थन के समय वह उसमें से निकला भी था। यह ठीक है कि अन्धकार रूपी निशाचर के द्वारा समस्त चराचर के निगले जाने पर उनकी रक्षा के लिए सूर्य दौड़ा आया था और उसने उस अन्धकार का नाश भी किया था; परन्तु चराचर के साथ यह उपकार करके सूर्य ने उन्हें अपनी प्रखर उष्णता का मजा भी अवश्य चखाया। तपे हुए विश्व को शान्त करने के लिए चन्द्रमा ने भी अवश्य ही अपनी भरपूर चांदनी का प्रकाश किया; परन्तु फिर भी वह कलंकित चन्द्रमा इस ग्रन्थराज की बराबरी भला कैसे कर सकता है ? इसीलिए सन्त-जनों ने इस ग्रन्थ के साथ मेरा जो संयोग करा दिया है, उसके सम्बन्ध में मैं फिर यही कहता हूं कि उसकी उपमा और कहीं नहीं मिलती। संक्षेप में मैं यही कहता हूं कि इस ग्रन्थ-रूपी धर्म-कीर्तन की जो सुखपूर्वक समाप्ति हुई है, वह सब आप ही लोगों की कृपा का फल है और इस सम्बन्ध में मेरे लिए केवल सेवकता का तत्त्व ही बच रहता है (अर्थात् यही सिद्ध होता है कि मैंने केवल सेवक के रूप में आप लोगों की सेवा की है)। अब समस्त विश्व की आत्मा वह परमेश्वर इस वाङ्मय यज्ञ से सन्तुष्ट होकर मुझे केवल इतना ही प्रदान करे कि दुष्टों की टेढ़ी नजर सीधी हो जाय, उनके हृदय में सत्कर्मों के प्रति प्रेम उत्पन्न हो और भूतमात्रों पर परस्पर हार्दिक मैत्री हो। पापों का अन्धकार नष्ट हो और आत्मज्ञान के प्रकाश से सारा विश्व उज्ज्वल हो; और तब जो प्राणी जिस बात की इच्छा करे, वह उसे

प्राप्त हो। समस्त मंगलों की वर्षा करने वाले सन्त सज्जनों का जो समुदाय है, उसकी इस भूतल के भूतमात्र के साथ अखंड भेंट हो। ये सन्त सज्जन मानों चलते-फिरते कल्पवृक्षों के अंकुर हैं अथवा इन्हें चैतन्य रूपी चिन्तामणि का ग्राम अथवा अमृत का बोलता हुआ सागर ही समझना चाहिए। ये सन्तजन मानों कलंकहीन चन्द्रमा अथवा तापहीन सूर्य हैं और सभी लोगों के सदा के सगे-सम्बन्धी और अपने हैं। सारांश यही है कि तीनों भुवन अद्वैत-सुख से परिपूर्ण होकर अखंड रूप से उस आदिपुरुष के भजन में लगें। और विशेषतः इस लोक में जो ऐसे जीव हे जिनका जीवन ग्रंथों के अध्ययन पर ही अवलम्बित रहता है, उन्हें ऐहिक तथा पारलौकिक सुखों की प्राप्ति हो। यह सुनते ही विश्वेश्वर प्रभु ने कहा—"यह प्रसाद तुम्हें दिया जाता है।" यह वरदान प्राप्त करके ज्ञानदेव बहुत अधिक प्रसन्न हुआ है। इस कलियुग में महाराष्ट्र देश में गोदावरी नदी के दक्षिण तट पर, जिस स्थान पर संसार के जीवन-सूत्र मोहिनीराज का निवास है, उस स्थान पर अत्यन्त पवित्र और अत्यन्त प्राचीन पंचक्रोश क्षेत्र (जिसका नाम नेवासें है) है। इस क्षेत्र में सोमवंश के शिरोमणि और समस्त कलाओं के जनक राजा श्रीरामचन्द्र न्यायपूर्वक राज्य करते हैं। इसी स्थान पर शांकर परम्परा के श्रीनिवृत्तिनाथ के शिष्य ज्ञानदेव ने गीता पर मराठी भाषा का साज चढ़ाया है। इस प्रकार महाभारत के भीष्मपर्व में श्रीकृष्ण और अर्जुन का जो सुन्दर संवाद दिया गया है, जो उपनिषदों का सारांश और समस्त शास्त्रों का जन्म-स्थान है और परमहंस योगी जिसका उसी प्रकार आश्रय लेते हैं, जिस प्रकार हंस सरोवर का आश्रय लेते हैं, श्रीनिवृत्तिनाथ का शिष्य मैं ज्ञानदेव कहता हूं कि उस गीता नामक संवाद का यह अठारहवां अध्याय पूर्ण कलश है। अब इस ग्रन्थ की पवित्र सम्पति से प्राणीमात्र को उत्तरोत्तर सम्पूर्ण सुखों की प्राप्ति हो। शक संवत् बारह सौ बारह में ज्ञानेश्वर ने गीता की यह टीका की है और सच्चिदानन्द बाबा ने बड़े प्रेम और ध्यान से इसे लिखा है।



श्री एकनाथ महाराज ने ज्ञानेश्वरी का संशोधन करके इस सम्बन्ध में जो कुछ लिखा था, उसका आशय इस प्रकार है—

शालिवाहन के शक संवत् 1506 में तारण नामक संवत्सर में जनार्दन के शिष्य एकनाथ ने अत्यन्त आदरपूर्वक ज्ञानेश्वरी गीता को मूल प्रति के साथ मिलाकर शुद्ध किया। यह ग्रन्थ आरम्भ से ही बहुत अधिक शुद्ध है; परन्तु इधर-उधर के पाठान्तरों के आ जाने के कारण शुद्ध ग्रन्थ में भी कुछ असंगत बातें आ गई थीं। इस प्रकार के पाठों को शुद्ध करके मूल प्रति के अनुसार यह शुद्ध ज्ञानेश्वरी प्रस्तुत की गई है। गीता की की हुई जिनकी टीका पढ़ने से अत्यन्त भावुक ग्रन्थप्रिय लोगों को ज्ञान की प्राप्ति होती है, उस निष्कलंक ज्ञानेश्वर महाराज की मैं वन्दना करता हूं। बहुत दिन बाद आने वाले इस पर्व के शुभ समय में भाद्रपद की कपिला षष्ठी को गोदावरी नदी के तट पर पैठण नामक नगर में लेखन का यह कार्य समाप्त हुआ है। इस ज्ञानेश्वरी के पाठ में यदि कोई अपना लिखा हुआ मराठी पद्य सम्मिलित करे तो समझ लेना चाहिए कि उसने अमृत के थाल में मानों नरेली (नारियल की खाली खोपड़ी) ही रखी है।

ज्ञानेश्वरी भावार्थदीपिका टीका समाप्त।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु।





सन्त ज्ञानेश्वर

प्रस्तुत महान् ग्रन्थ सन्त ज्ञानेश्वर कृत श्रीमद्भगवद्गीता के रचयिता सन्त ज्ञानेश्वर का जन्म ईसा की तेरहवीं शताब्दी (सन् 1275 ई.) में 'आपे' गांव (महाराष्ट्र) में हुआ था। इनके पिता का नाम विट्ठल पन्त और माता का नाम रुक्मिणी बाई था।

श्री ज्ञानेश्वर की जन्म-भूमि को लोग बड़े सम्मान के साथ 'दक्षिण काशी' के नाम से पुकारते हैं। यह स्थान पैठण से दक्षिण की ओर है। औरंगाबाद जिले में पड़ने वाला यह गांव (आपे गांव) गोदावरी के किनारे बसा है। श्री ज्ञानेश्वर के पूर्वज माध्यन्दिन शाखा के यजुर्वेदी ब्राह्मण थे।

प्रस्तुत ग्रन्थ आज से 700 वर्ष पूर्व विक्रमी संवत् 1347 में मराठी भाषा में लिखा गया था। उस समय इस महान् ग्रन्थ के रचनाकार श्री ज्ञानेश्वर की आयु मात्र 15 वर्ष थी। इतनी छोटी अवस्था में इतना बड़ा ज्ञान, ईश्वर द्वारा सौंपा गया कार्य तथा उस द्वारा प्रदत्त चमत्कार ही था।

एक स्वप्न की प्रेरणा से भगवान् की आज्ञानुसार विक्रमी संवत् 1353 में, मार्गशीर्ष कृष्ण 13, गुरुवार के दिन मध्याह्न में (25 अक्टूबर, 1296 ई.) 'आलन्दी' गांव में इन्द्रायणी नदी के तट पर एक गुफा में प्रवेश करके जीवित समाधि ले ली। उस समय इनकी अवस्था 21 वर्ष, 3 मास और 5 दिन मात्र थी।

जो गीता अर्जुन को भी दुबारा सुनने को नहीं मिली, वह हमें प्रतिदिन पढ़ने-सुनने को मिल रही है यह भगवान् की कितनी असीम कृपा है।

उत्तराखण्ड पीठाधीश्वर
जगद्गुरु रामानुजाचार्य स्वामी कृष्णाचार्य जी महाराज

